॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

# श्री सुबोधिनी

## प्रथम स्कन्ध

### प्रथम खण्ड

अध्याय : १ - ९

श्री कृष्णाय नमः

अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद् वल्लभाचार्य महाप्रभु विरचित

श्रीमद्भागवत

प्रथम स्कन्ध

(सुबोधिनी सह हिन्दी अनुवाद)

प्रथम खण्ड

अध्याय १ से ६

# श्री सुबोधिनी

# का

# हिन्दी अनुवाद


**अनुवादक**

गो.वा.पं. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य

शुद्धाद्वैत भूषण

(भू.पू. विद्या विभागाध्यक्ष श्री नाथद्वारा)

**संपादक-संशोधक**

त्रिपाठ पं. नारायणजी शास्त्री-विद्याविभागाध्यक्ष, श्री नाथद्वारा

'कविरत्न' आर. कलाधर भट्ट



संयोजक

'निवेदनम्-प्रकाशन' ट्रस्ट, बम्बई

।। श्री हरिः ।।

# श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

**जोधपुर (राज.)**

**उद्देश्य**—जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों व ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना ।

संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवाकर उनका प्रकाशन करवाना ।

**विशिष्ट सहायक सदस्य**—रु० ५०००) व इससे अधिक चल अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता । इनके शुभ नाम सब ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं ।

**सहायक सदस्य**—रु० १०००) से रु० ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम एक ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं ।

**सम्मानित सदस्य**—रु० ५०१) से रु० ९९९) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जाते हैं ।

सदस्य रु० १७५) से रु० ५००) भेंटकर्त्ता-साधारण सदस्य

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन अर्थात् श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पांच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तकें सदस्यों को भेंट की जायेगी ।

संस्था के स्थापक गो.वा.प.भ. श्री नन्दलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी गो.वा. प.भ. सौभाग्य वतीजी मानधना, जोधपुर — रु० १००००)

**द्वितीय ग्रन्थमाला के विशिष्ट सहायक**

| | | |
|---|---|---|
| (१) | प.भ. द्वारकादासजी श्यामदासजी दलाल की स्मृति में उनके सुपुत्र कृष्णदासजी दलाल, पूना | रु० ८५०२) |
| (२) | श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट, अहमदाबाद | रु० ५०००) |

**सहायक सदस्य**

| | | |
|---|---|---|
| (१) | प. भ. माधोदासजी मूंधड़ा, कलकत्ता | रु० ४००१) |
| (२) | प. भ. लक्ष्मीदेवीजी दलाल, पूना | रु० २५००) |
| (३) | प. भ. कस्तूरी बहन एवं उनके सुपुत्र विठ्ठलदासजी शाह, हैदराबाद | २००१) |
| (४) | प. भ. सेठ नवनीतलालजी साकरलालजी द्वारा सारंगपुर पब्लिक चेरीटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद | २०००) |
| (५) | गो.वा. प.भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में प.भ. बंशीबाई, जतीपुरा | १६०१) |
| (६) | गो.वा. प.भ. हरगोविन्ददासजी एवं चुन्नीबहनजी की स्मृति में उनके पुत्र प.भ. चिमनलालजी, मोहनलालजी, नटवरलालजी के धर्मादा ट्रस्ट द्वारा भेंट बम्बई | रु० १५०१) |
| (७) | प.भ. कृष्णदासजी मून्धड़ा एवं उनकी धर्मपत्नी सहोदराबाई, कलकत्ता | रु० १५०१) |
| (८) | प. भ. लाजवन्ती बाई नन्दलालजी भाटिया, दिल्ली | रु० ११०१) |

# ✖ श्री सुबोधिनी ✖

## ॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरिः ॥

# श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला

## सप्तम् सुमन

## प्रथम स्कन्ध

(सुबोधिनी सह हिन्दी अनुवाद)

## प्रथम खण्ड

## अध्याय १ से ६


मुखपत्र

विषय सूची

| | |
|---|---|
| पं. श्री आनन्दी लाल जी शास्त्री का परिचय | —१ |
| प्रारम्भ—कविरत्न आर. कलाधर जी भट्ट | — |
| श्री तत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण प्रथम स्कन्ध अध्याय १ से ९ | (१) से (३२) |

| अध्याय | शीर्षक | पृष्ठ क्रमांक |
|---|---|---|
| १ | अधिकार लीला | १—७३ |
| २ | भागवत् कथा एवं भागवद्—भक्ति के माहात्म्य का अनुवादात्मक विवेचन | ७५—१३९ |
| ३ | श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवादात्मक विवेचन | १४१—१९६ |
| ४ | श्री शुकदेव जी के वैराग्य का कारण और व्यास जी की चिन्ता | १९७—२२९ |
| ५ | भक्ति की महिमा | २३०—२८१ |
| ६ | नारदजी की भक्ति का स्वरूप | २८२—३१२ |
| ७ | अश्वत्थामा के बाण से रक्षा | ३१३—३६४ |
| ८ | ब्रह्मास्त्र से रक्षा और भगवान् की स्तुति | ३६५—४२५ |
| ९ | भक्तराज भीष्म पितामह को दर्शन और उनकी स्तुति | ४२६—४७४ |
| | अनुक्रमणिका | ४७५—४८० |


## चित्र सूची


| | |
|---|---|
| श्री महाप्रभु जी वल्लभाचार्यजी | —१ |
| श्री सुबोधिनीजी को लिखवाते हुए | |
| श्री सूतजी की कथा | ११ |
| भगवान् के चौबीस अवतार | १४१ |
| श्री शुकदेव मुनि श्री व्यास जी से भागवत पढ रहे है | ३२६ |

॥ श्री हरिः ॥

# संस्था के संरक्षक महानुभाव

| | |
|---|---|
| तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज | नाथद्वारा (राज०) |
| गो. श्री व्रजरत्नलालजी महाराज | सूरत |
| " श्री गोविन्दरायजी महाराज | पोरबन्दर |
| " श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज | कोटा |
| " श्री व्रजरायजी महाराज | राजनगर (अहमदाबाद) |
| " श्री घनश्यामलालजी महाराज | कामवन |
| " श्री व्रजभूषणलालजी महाराज-अध्यक्ष महोदय | चोपासनी (जोधपुर) जामनगर |
| " श्री श्याम मनोहरजो महाराज | बम्बई |

**निम्न प्रत्येक महानुभाव से रु० १००१) की सेवा प्राप्त**

| | |
|---|---|
| प. भ. डा. नटवरलालजी सी. शाह एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवीजी | संखेड़ा |
| " " ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ | पूना |
| " " रामदासजी कृष्णादासजी मांडी वाले | पूना |
| " " श्रीमती प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले | कानपुर |
| " " रुक्मणीबाई बिन्नाणी | कलकत्ता |
| " " मुन्नीबाई (शान्ता देवीजी) शर्मा एवं उनके सुपुत्र अशोककुमारजी सी.ए. | दिल्ली |
| " " अमिता बहनजी पटेल | बडोदरा |
| " " श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी गांधी | बीकानेर |
| " " श्री केदारनाथजी दम्माणी | मद्रास |
| " " श्री विजयकुमारजी दम्माणी | कलकत्ता |
| " " श्रीमती विमलाबाई सिंगी | कलकत्ता |
| " " श्रीमती काशोबाई बिन्नाणी | बम्बई |
| " " श्रीमती सूरजबाई कोठारी | कलकत्ता |
| " " श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्मपत्नी कृष्णाबाई | मुरैना मंडी |
| " " श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा | इलाहाबाद |
| " " श्रीमती चन्द्रकांताजी आनन्दकुमारजी कर्वा | उदयपुर |
| " " श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजी मोहता | आकोला |
| " " श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी | कटक |
| " " श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सुरजबाईजी मूंधड़ा | कलकत्ता |
| " " श्री हीरालालजी एवं उनकी धर्मपत्नी शारदाबाईजी | वाराणसी |
| " " सुमनबाई नथानी एवं कुसुमबाई भट्टड़ | कलकत्ता |
| " " गगुभाईजी खुशहालभाईजी सोनी | राजकोट |
| " " विठ्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी | बम्बई |
| " " नारायणदासजी श्यामदासजी दलाल | पूना |
| " " विठ्ठलदासजी मूंधड़ा | कलकत्ता |
| " " बालकृष्णदासजी मूंधड़ा | " |
| " " मोहनदासजी मूंधड़ा | " |

| | |
|---|---|
| प. भ. जमुनादासजी परीख उनके सुपुत्र रमणलालजी एवं पुत्रवधु गुलाबबाईजी | उदयपुर |
| " " श्रीमती मोहनीबाई ❀ | कलकत्ता |
| " " श्रीमती राधादेवीजी लोहिया | मिरजापुर |
| " " एक भगवदीया वैष्णव बहिन | हैदराबाद |
| " " इन्द्रवदनजी ईश्वरलालजी शाह | अहमदाबाद |
| " " हंसराजजी गोकुलदासजी वेद | कोल्हापुर |
| " " जमुनाबहन पुरुषोत्तमदासजी आसेर | बम्बई |
| " " उर्मिलादेवीजी | कलकत्ता |
| " " उर्मिलाबहनजी विश्वनाथजी अरोड़ा | कानपुर |
| " " रश्मिताबहनजी पद्मनाभजी | अहमदाबाद |
| " " जमुनादासजी मोहता | कोटा |
| " " व्रजमोहनदासजी विजय | शुजालपुर मंडी (म.प्र.) |
| " " सतीशचन्द्रजी एव धर्मपत्नी तुलसीदेवीजी सरदना | अजमेर |

**निम्न प्रत्येक भेंटकर्ता महानुभाव से निज स्वजन महानुभाव की स्मृति में रु० १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त**

| स्मृति में | भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध |
|---|---|
| नि. ली. श्रीमती कृष्णप्रिया बेटीजी महोदया | पूज्य अम्माजी (माताजी) काशी |
| प. भ. शक्तिदेवीजी शर्मा | सुपुत्र प. भ. गोपेशशरणजी एम.ए.बी.एड. एवं पुत्र-वधु उर्मिलादेवीजी बी.ए.बी.एड.भरतपुर |
| प. भ. शिवकुमारजी मोहता-हरदा | पिता श्री छगनलालजी एवं माता रत्नबाई |
| प. भ. पीताम्बरजी एवं नवल बहन शाह | सुपुत्र ❀चन्द्रकान्तजी एवं पुत्र वधु सुशीला बहन हैदराबाद |
| प. भ. किशोरीलालजी चांडक, बेरड़ी | भ्राता श्यामसुन्दरजी दलीपजी प्रदीपजी |
| प. भ. पूरणचन्द्रजी अग्रवाल, लश्कर | धर्मपत्नी धापुबाईजी सुपुत्र गिरराजकिशोरजी |
| प. भ. जानकीदेवीजी धर्मपत्नी श्री शिवचन्दजी | सुपुत्र श्री द्वारिकादासजी लोहिया❀ मिरजापुर |
| प. भ. रामनारायणजी भाटी | सुपुत्र श्री मोहनलालजी भाटी लाडनू |
| प. भ. चन्द्रावली देवीजी भाटी | सुपुत्र पूनमचन्दजी भाटी लाडनू |
| प. भ. त्रीकमदासजी आचार्य | ❀ दौहित्र श्यामसुन्दरजी गज्जा बम्बई |
| प. भ. लालजीभाई नारणजी राजाणी | ❀ सुपुत्र गोकुलदासजी राजाणी जामनगर |
| प. भ. वाडोलालजी पटेल | सुपुत्र श्यामलालजी अहमदाबाद |
| प. भ. करसनदासजी पुरुषोत्तमदासजी | ❀ सुपुत्र नटवरलालजी दावड़ा कोल्हापुर |

❀ इन ने पूर्व में रु. ५०१) की सेवा की थी अब रू. ५००) की और सेवा की।

निम्न प्रत्येक भेंटकर्त्ता महानुभाव से अपने स्वजन गोलोकवासी महोदय की स्मृति में रु० १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है

| स्मृति में | भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध |
|---|---|
| प. भ. प्रेमलताबाई, बलदेवदासजी डागा | पिता उद्धवदासजी एवं माता काशीबाई मूंधड़ा कलकत्ता |
| प. भ. गोकुलदासजी एवं सरस्वती बहन | (सुपुत्र) पुरुषोत्तमदासजी पूना |
| प. भ. दिलसुखरायजी राठी | (धर्मपत्नी) श्यामाबाईजी एवं सुपुत्र लक्ष्मी नारायणजी दिल्ली |
| प. भ. चन्द्रप्रकाशजी | (माता) जमुनाबाईजी (अनुज) आत्मप्रकाशजी दिल्ली |
| प. भ. राधाबाई श्रीरामनारायणजी | (सुपुत्र) नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) पुरुषोत्तम दासजी एवं देवकीनन्दनजी वर्मा - जोधपुर |
| प. भ. पन्नालालजी मूंधड़ा | (धर्मपत्नी) सूरजबाईजी सुपुत्र चुन्नीलालजी कलकत्ता |
| प. भ. घनश्यामदासजी मूंधड़ा | (सुपुत्र) श्रीदासजी एवं (पुत्र वधु) लक्ष्मीदेवीजी मद्रास |
| प.भ. जीवनदासजी मून्धड़ा | (सुपुत्र) ठाकुरदासजी एवं पुत्रवधु व्रजकुंवर कलकत्ता |
| प. भ. पारवती बाईजी जीवनदासजी | (सुपुत्र) चेतनदासजी मूंधड़ा एवं पुत्रवधु गंगाबाई कलकत्ता |
| प. भ. मुकुन्ददासजी एवं काशीबाईजी मूंधड़ा | (सुपुत्र) व्रजगोपालदासजी, बृजमोहनदासजी और गिरधरदासजी हैदराबाद |
| प. भ. धन्नावती बाईजी | (पतिदेव) मूलचन्दजी कुमार इन्दौर |
| प. भ. हरकिशनदासजी हरलोचनदासजी शाह | (सुपुत्र) घनश्यामदासजी एवं पुत्रवधु डाक्टर गोकुलकुमारीजी एम०ए०, पी०एच०डी०बम्बई |
| प. भ. रघुनाथजी श्रीकमदासजी ❋ | प. भ. जेठालालजी जामनगर |
| प. भ. मंगतरायजी चावला मुलतानी | (सुपुत्र) श्री आसकरणदासजी एवं पुत्र वधु रामप्यारीबाईजी बम्बई |
| प. भ. जमुनादासजी एवं शांतिदेवीजी अग्रवाल | (सुपुत्र) गिरधारीलालजी, विठ्ठलदासजी ब्रजरत्न दासजी नागरीदासजी काशी |
| प. भ. प्रहलाददासजी एवं चन्द्रमणिजी | (सुपुत्र) कृष्णगोपालदासजी अग्रवाल काशी |
| प. भ. मदनमोहनदासजी मऊ वाले | (धर्मपत्नी) इन्द्रमणि देवीजी एवं सुपुत्र राधा-कृष्णदासजी अग्रवाल काशी |

❋ इन ने पूर्व में रु. ५०१) की सेवा की थी अब ५००) की और सेवा की।

।। श्री हरिः ।।

# पण्डित श्री आनन्दी लालजी का परिचय

पण्डित श्री आनन्दी लालजी का जन्म विक्रम संवत् १९५९ में जयपुर प्रान्त के राजमहल टोडा ग्राम में हुआ था। गुर्जर गौड़ ब्राह्मण जाति में उत्पन्न श्री जानकी लालजी आपके पिता थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा राजमहल गांव में ही हुई थी यज्ञोपवीत के अनन्तर आपने अमरावती में रहकर सस्वर शुक्लयजुर्वेद संहिता का अध्ययन किया। शाहपुरा निवासी श्री यमुनादत्त जी शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन किया। तदनन्तर श्री पुरुषोत्तम जी चतुर्वेदी की प्रेरणा से अध्ययनार्थ नाथद्वारा आ गये। नाथद्वारा में गोवर्द्धन संस्कृत पाठशाला में प्रविष्ठ होकर श्री सदानन्दजी झा तथा मार्कण्डेयजी मिश्र से व्याकरणादि की उच्च शिक्षा प्राप्त की आपने वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय व्याकरणाचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की आपको शीघ्र ही कवि नन्दकिशोरजी शास्त्री से विद्या विभागाध्यक्ष ने विद्यार्थी व्यवस्था में हो साम्प्रदायिक ग्रन्थों के शोधन का कार्य सौंपा उस कार्य को इन्होंने बड़ी सफलता से पूर्ण किया इन्हीं के समय में श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी आदि ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ।

नाथद्वारा से प्रकाशित होने वाली टिप्पणी के उत्कर्ष को सहन न करने वाले लोगों ने रामनवमी के विषय में विवाद उपस्थित किया। उस समय विद्या विभागाध्यक्ष श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री से पूछे गये प्रश्नों के समाधान में इन्हीं आनन्दीलाल जी ने 'श्री रामनवमी विवेक विचार' तथा 'रामनवमी विचार' ऐसे लेख प्रकाशित कराये इन लेखों को सूरत से प्रकाशित 'उत्सव निर्णय ग्रन्थ समुच्चय' ने भी प्रकाशित किया है। 'वैष्णव चिह्न निरूपण' 'पुष्टिमार्ग में अन्नकूटोत्सव' आदि सांप्रदायिक ग्रन्थ भी इन्होंने प्रकाशित कराये।

गोवर्द्धन संस्कृत पाठशाला में उच्च शिक्षा प्राप्त कर इसी पाठशाला में ये अध्यापक हो गये थे। कुछ वर्षों के अनन्तर इनको पूज्यपाद गोस्वामि तिलकायत श्री १०८ श्री गोविन्दलाल जी महाराज श्री ने अपने पास ही रख लिया तथा विक्रम संवत् २००८में आपको विद्याविभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया। आपने पूज्यपाद तिलकायत महाराज श्री की आज्ञा से श्री मद्भागवत प्रथमस्कन्ध की सुबोधिनी का अनुवाद करना प्रारम्भ किया वह अनुवाद समाप्त प्रायः था कि आप श्री हृद्रोग आदि अनेक व्याधि से पीड़ित हो गये लगभग पांच वर्ष तक बराबर अस्वस्थ रहे। उनकी कृति उनकी विद्यमानता में प्रकाशित न हो सकी उन्होंने विक्रम संवत् २०३७ पौष कृष्ण ३ बुधवार तदनुसार तारीख २४ १२-१९८० में ही अपने नश्वर पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग कर दिया।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल,मानधना भवन चौपासनी मार्ग जोधपुर के मंत्री श्री नन्ददास जी ने इस अनुवाद को अपनी संस्था से प्रकाशित करने की प्रार्थना की तिलकायत महाराज श्री ने कृपा कर उक्त मण्डल को इसके प्रकाशन का आदेश दे दिया। यह प्रथम खण्ड आपके सामने प्रस्तुत हो रहा है। यद्यपि भौतिक शरीर से पण्डित जी श्री आनन्दी लाल जी **व्याकरणाचार्य शुद्धाद्वैत भूषण** हमारे सामने विद्यमान नहीं है किन्तु उनकी प्रतिभा विद्वत्ता इस अनुवाद में आपको दृष्टिगोचर होगी।

पण्डित आनन्दी लालजी जैसे प्रतिभाशाली तलस्पर्शी विद्वान् सम्प्रदाय में न रहे इसका खेद है।

आपके उत्तराधिकारी पांच पुत्र तथा तीन कन्यायें हैं। उनमें सबसे बड़े श्री तिलकेशजी उच्चतर माध्यमिक शाला में प्रधानाध्यापक है तथा द्वितीय पुत्र श्री जयदेव जी भी उच्च माध्यमिक शाला के प्रधानाध्यापक के तृतीय पुत्र श्री चन्द्रशेखर जी भी प्रधानाध्यापक हैं आपके पञ्चम पुत्र श्री राजेन्द्रजी मन्दिर मण्डल के चिकित्सालय में डाक्टर के पद पर है। इस तरह पण्डित जी जिस तरह योग्य थे उन्होंने अपने पुत्रों को भी योग्य बनाया। आपकी पुत्रियां एम. ए तथा बी. ए. परीक्षा पास हैं वे भी विद्यालयों में अध्यापिका पद पर नियुक्त है। एक ही विद्यालय में अध्ययन के कारण तथा पञ्चांग टिप्पणी के निर्माण प्रकाशन में साथ साथ रहने से जितना भी परिचय मिल सका उसे प्रकाशित किया है।

त्रिपाठी नारायण शर्मा
विद्या विभागाध्यक्ष
श्री नाथद्वारा

- श्री हरि -

# - प्रारम्भ -

ब्रह्मसूत्र के महान् भाष्यकारों में से एकमात्र श्री वल्लभाचार्य ने ही प्रस्थान-त्रयी के अतिरिक्त श्रीमद् भागवत को भी अर्थात् श्री व्यास की समाधि-भाषा को भी प्रामाण्य-कोटि में परिगणित किया है। भागवत् वेद-रूपी कल्प-वृक्ष का अमृत-रस से परिपूर्ण मधुर-फल है- 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्'। इसी के अनुमोदन में श्री आचार्य-चरण का कथन है कि गायत्री बीज है, वेद वृक्ष है और भागवत उसका रसमय फल। वेद के अर्थ में यदि शंका हो तो उसका निराकरण गीता से करना चाहिये, गीतार्थ की शंका का ब्रह्म-सूत्र से तथा ब्रह्म-सूत्र गत शका का समाधान भागवत से करना चाहिये-'उत्तरं पूर्व संदेहवारकं परिकीर्तितम्'। इस तरह श्रीमद् भागवत,वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इस प्रस्थान-त्रयी के समुचित अर्थ तथा अभिप्राय को सर्वशः सुस्पष्ट करके सर्वगम्य बनाने वाला एक विशिष्ट तथा अपूर्व ग्रन्थ-रत्न है।

वेद के चार विभाग-पूर्वक, उनको पुनः शतशः शाखाओं में पल्लवित करके, वेदार्थ का पुराणों में उपबृंहण करके, तथा भगवच्चरित से युक्त महाभारत जैसे इतिहास का आलेखन कर लेने पर भी वेद व्यास की आत्मा को शांति प्राप्त नहीं हुई थी, क्योंकि वेद-धर्म, अमुक वर्ग के लिये ही सीमित था और वही इसके अर्थ को समझकर पुरुषार्थ सम्पादन कर सकता था। जाति आदि के भेद से रहित मानव-मात्र के निःश्रेयसार्थ पुराणों की रचना की गई थी,किन्तु सात्विक, राजस तथा तामस-इन त्रिविध पुराणों में से किस पुराण में प्रतिपादित किस धर्म-विशेष के आचरण से पुरुषार्थ की उपलब्धि संभव है? यह इस प्रकार का संदेह यहां भी रह जाता है। महाभारत प्रधानतया ऐतिहासिक ग्रन्थ है, एकान्ततः भगवन्नामात्मक नहीं। इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना भी वास्तव में उन व्यक्तियों के लिये की गयी थी जो वेद के अध्ययन से वंचित थे तथा अल्प बुद्धि के कारण उसके निगूढ अर्थ को समझने में असमर्थ थे। स्त्री शूद्रादि के प्रति सविशेष सहानुभूति रखने वाले श्री व्यास ने 'स्त्री शूद्राणां हितेरत.' यद्यपि सर्व प्राणियों के धर्म निर्णयार्थ उनके अभ्युदयार्थ महाभारत की रचना की थी, "सर्व निर्धारणार्थाय व्यासो भारत मुक्तवान्"- तथापि, इसके आलेखन से भी उनको आत्म-संतोष नहीं हुआ था, वे पूर्ववत् शोक और मोह से आक्रांत ही रहे।

कहते हैं, एक दिवस श्री नारद उनके पास गये, उनके हृदय की व्यथा के गूढ हेतु को स्पष्ट समझकर उन्होंने श्री व्यास से कहा 'आपने सब कुछ किया किन्तु कभी भी, कहीं भी अनन्यतया श्री हरि के विमल तथा उदार चरित का संकीर्तन नहीं किया!!!'। श्री व्यास ने श्री नारद के इस कल्याणमय उद्बोधन को अक्षरशः चरितार्थ करने के लिये, शोक और मोह का प्रशमन करने वाली भगवद्-लीलाओं का गुणानुवाद प्रारम्भ कर दिया। समाधि में भगवान् की दिव्य एवं अनन्त लीलाओं का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके यथावत् निरूपण में श्री व्यास ने जिस

अलौकिक ग्रन्थ-रत्न का प्रणयन किया वही यह श्रीमद् भागवत संहिता, सात्वत संहिता कहलायी। श्री वेद व्यास कृतकृत्य हो गये।

श्रीमद् भागवत संहिता वस्तुत: 'वैष्णव वेद है"- 'एषा सात्वती श्रुति: वैष्णवो वेद:'- क्योंकि, भगन्नामात्मक इस भागवत-शास्त्र के द्वारा ही- स्त्रीशूद्रादि सहित, जाति आदि के भेद से रहित प्राणी मात्र का समुद्धार सुगमतया संभव है। भगवद्-भक्ति में सर्व का अधिकार है, उनकी पुरुषार्थ सिद्धि का-तापत्रयोन्मूलन का एक मात्र सरल तथा सहज साधन यह भागवत ही है। वास्तव में देखा जाये तो अपने पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले जीव ही 'पुरुष' कहलाते हैं-शेष, सभी जीव 'स्त्री' जीव ही हैं- 'पारमार्थिक साधन शून्यत्वं स्त्री जीवत्वम्'। जो प्राणी प्रकृति परवश होकर संसार में आसक्त हैं उनको ही 'स्त्री' जीव समझना चाहिये, फिर भले ही वे जीव 'पुरुष' देह धारी हों अथवा 'स्त्री' देह धारी- 'विषय सक्ति हेतु प्रकृति परवशत्वं स्त्रीत्वम्'-(सुबो.) श्रीमद् भागवत संहिता का आविर्भाव विशेषतया स्त्री जीवों के समुद्धारार्थ ही किया गया है- 'तेषामुद्धारक: कृष्ण: स्त्रीणामत्र विशेषत:'

आनन्दमय श्री हरि की आनंदमयी लीलाओं से परिपूर्ण उभराता हुआ यह भागवत वस्तुत: भगवद्-स्वरूप श्री पुरुषोत्तम-स्वरूप है। भगवान् इस विराट्-विश्व में नाम और रूप के विभेद से क्रीड़ा करते हैं। भगवान् अवतार दशा में स्व-स्वरूप से क्रीड़ा करते हुए प्राणियों को पुरुषार्थ सिद्धि से सम्पन्न करते रहते हैं; अवतार दशा में स्वनाम से नामात्मक रूप भागवत से वही सिद्धि संपादित कराते रहते हैं। भगवद्-भजन द्वारा ही, भागवतार्थ का बोध हो सकता है अन्यथा नहीं। भागवतार्थ का बोध ही, भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान है-भगवद् लीलाओं के, उनके गुण, कर्म, शक्ति तथा अलौकिक सामर्थ्य के ज्ञान से ही उनके माहात्म्य का ज्ञान होता है- तथा "भगवान् सर्व के आत्म रूप हैं"- इस ज्ञान से उनके प्रति सर्व से अधिक सुदृढ़ स्नेह उत्पन्न होता है। भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान तथा उनके प्रति सर्वतोधिक सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति सिद्ध कराने के लिये ही श्रीमद् भागवत का प्रणयन हुआ है।

अनन्य भक्ति से ही भगवान् प्रकट होते हैं तथा अपने आपको भक्त के लिये सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं। भगवत् प्राप्ति में मुख्य साधन प्रेम ही है और प्रेमोत्पत्ति में मुख्य साधन भगवान्। यहां भगवान् ही साधन है, भगवान् ही फल। ज्ञान और कर्म भी, भगवद् प्राप्ति में साधन अवश्य हैं, किन्तु तृषा लगने पर, कूप-खनन-पूर्वक उसमें से जल निकाल कर पीने जैसा साधन "कर्म" है। तथा, तृषा को सहन करने जैसा साधन 'ज्ञान' है। गंगा के तट के निकट निवास करने जैसा साधन भक्ति किंवा प्रेम है, जहां तृषा लगने पर स्वयं गंगा माता जल की झारी लेकर अपने भक्त की तृषा का शमन करती है। श्रीमद् भागवत का पुन: पुन; श्रवण, श्री कृष्ण के प्रति इसी प्रकार की भक्ति का हृदय में समुदय करता है। 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम् पूरुषे-भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोक मोहभयापहा' (भा. १.७.८.)- 'तस्मात् भारत! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर: श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्' (भा. २.१.६)

भागवत की यह एक अचिंत्य महिमा है कि इसके श्रवण की इच्छा वाला महा भाग्यशाली जीव, इसके श्रवण मात्र से. अपने हृदय में, तत्क्षण सर्व समर्थ श्री हरि को, अवरुद्ध निरन्तर स्थापित कर लेने में समर्थ हो जाता है, 'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्रकृतिभि: शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'।

श्रीमद् भागवत, साक्षात् भगवद् स्वरूप है। पारायण-पूर्वक इसको धारण करने से, भागवत स्वरूप से स्वयं भगवान् ही धारण कर लिये जाते हैं। शब्द से तथा अर्थ से समग्र भागवत भगवान् श्री कृष्ण ही है- अर्थ के परिज्ञान से साक्षात् भक्ति की उपलब्धि कराता है- 'एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः' 'अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्ति प्रयच्छति'। भागवत का स्पर्श ही तो पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के ही सुमधुर-सुकुमार अंगों का स्पर्श है, क्योंकि, पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम द्वादश अंग वाले हैं। भागवत के द्वादश स्कंध वस्तुतः श्री कृष्ण के ही द्वादश (बारह) अंग हैं। भागवत का प्रथम तथा द्वितीय स्कंध, भगवान् के यथाक्रम दक्षिण तथा वाम चरण हैं। इसी तरह तृतीय तथा चतुर्थ स्कंध, दक्षिण तथा वाम बाहु हैं। षष्ठ तथा सप्तम स्कंध दक्षिण तथा वाम जंघा हैं। सप्तम स्कंध दक्षिण-हस्त है। अष्टम तथा नवम स्कंध दक्षिण तथा वाम स्तन है। दशम स्कंध हृदय है- एकादश स्कंध मस्तक है तथा द्वादश स्कंध वाम हस्त है- "पादौ-हस्तौ-सक्थौ-बाहू-स्तनौं-हृदय-शिरः" इति पुरुषोत्तमस्य द्वादशोगानि; अगी श्री पुरुषोत्तमश्च-(गो. श्री पुरुषोत्तमजी)

श्रीमद् भागवत श्री कृष्ण की लीलाओं का प्रतिपादन करता है। इस सम्पूर्ण शास्त्र का एक मात्र अविकल अर्थ है- 'स्वतः पुरुषार्थ साधक श्री कृष्ण की लीलायें'। श्रीमद् भागवत के इसी अर्थ तथा अभिप्राय को सर्वथा हृदयारूढ कराने के लिये श्री आचार्य चरण ने इसके सात प्रकार से अर्थ किये हैं- शास्त्र से, स्कंध से, प्रकरण से, अध्याय से, वाक्य से, पद से तथा अक्षर से। अविरुद्धतया इन सप्त विध अर्थों द्वारा भागवत के उपर्युक्त प्रतिपाद्य एक ही अर्थ का निरूपण किया गया है। इन सप्त विध अर्थों में से शास्त्र-स्कंध-प्रकरण तथा अध्याय का अर्थ, भागवतार्थ प्रकरण में तथा शेष तीन के- वाक्य-पद तथा अक्षर के अर्थ श्री सुबोधिनी में दिये गये हैं। अविरुद्धतया इन सप्त विध अर्थों से भागवतान्तर्गत एक ही अर्थ तथा अभिप्राय को जानने वाला 'मुक्त' हो जाता है अपने अन्यथा रूप का त्याग करके स्व स्वरूप से स्थिति कर लेता है- 'शास्त्रे-स्कंधे-प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे-एकार्थ,सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते'।

आनन्द रूप भगवान् की आनन्द-रूप लीलायें दस प्रकार की हैं— सर्ग-विसर्ग, स्थान-पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय—इन दस प्रकार की लीलाओं का निरूपण यथाक्रम तृतीय स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त—एक-एक स्कन्ध में यथाक्रम एक-एक लीला का—किया गया है। इन दस प्रकार की लीलाओं के श्रवण तथा कीर्तन के लिए अधिकार तथा साधन की आवश्यकता होती है - तदनुसार प्रथम स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता के अधिकार का—उनकी योग्यता का एवं द्वितीय स्कन्ध में साधन का विवेचन किया गया है। अधिकार तथा साधन, सर्ग-विसर्ग आदि पूर्वोक्त मुख्य लीलाओं के ही अङ्ग हैं, अतः उनका समावेश प्रथम तथा द्वितीय स्कन्ध में किया गया है।

भगवद् लीलाओं का प्रतिपादक यह भागवत-शास्त्र सभी का उद्धारक तथा निर्वाहक है। भगवद्-लीला के श्रवण से ही उद्धार सम्भव है। तदनुसार श्रवण की इच्छा रखने वाले प्राणी-मात्र का भागवत पर अधिकार है, और यही प्रथम स्कन्ध का अर्थ है। श्रवणेच्छा के अभाव में अधिकार का अभाव है; क्योंकि श्रवणेच्छा के अभाव में श्रवण, कीर्तन आदि के हृदय में समुदय की सम्भावना ही कहाँ ? अधिकार के अभाव में स्वरूप-ज्ञान, अर्थ-ज्ञान तथा अभिप्राय-ज्ञान के प्रति प्रवृत्ति होना ही असम्भव है। किसी भी वर्ण का, जाति का अथवा योनि का जीव हो, उसे

यदि भागवत के श्रवण की इच्छा है, तो वह भागवत का अधिकारी है। श्रवणेच्छुक सभी प्राणियों को भगवन्मार्ग में साधिकार सिद्धि-अर्पण करने वाला भागवत का यह प्रथम स्कन्ध चरण-रूप है, "गति-साधन"-रूप है और इसीलिये यह स्कन्ध श्रीहरि का—भगवान् श्रीकृष्ण का दक्षिण-चरण माना गया है। भगवद्-लीलाओं का श्रद्धा तथा अनन्यतया श्रवण करने वाले जिज्ञासु जीव को श्रीकृष्ण सर्व अधिकार की संप्राप्ति करा देते हैं, तदनुसार श्रोता की गति श्रीकृष्णोन्मुख हो जाती है और सर्व प्रकार की गति-अर्पण करने वाला भगवद्-चरणारविंद ही तो है।

श्रवणेच्छा की संपूर्ति तभी सम्भव है, जब तदनुरूप वक्ता भी हो। तदनुसार प्रथम स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता इन दोनों के ही—यथाश्रोता-तथावक्ता के न्याय से—अधिकार का वर्णन किया गया है। "जिसे भागवत-ज्ञान की इच्छा है, उसे भागवत-श्रवण करने का और जिसने भागवत का श्रवण किया है, उसे भागवत कहने का अधिकार है (भागवतार्थ-प्रकरण प्र. स्कन्ध अधिकार लीला. प्र.अ. श्लो. ४२-४६)—प्रथमाध्याये जिज्ञासुः प्रथमाधिकारी निरूपितः, वक्ताचश्रुतभागवत इति"।

यदि स्थूल दृष्टि से विचार किया जाए, तो वक्ता तथा श्रोता का यह अधिकार तीन प्रकार का है। और इसके निरूपणार्थ प्रथम स्कन्ध तीन प्रकरणों में विभक्त किया गया है—यथा—१. साधारण, २. असाधारण, ३. गुणातीत अथवा निर्गुण और यदि सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाए, तो अधिकार उन्नीस प्रकार का है और यही बोध कराने के लिए इस स्कन्ध के अध्याय भी उन्नीस ही है—जैसे साधारण अधिकार नौ प्रकार का है, जिसका निरूपण भी नौ अध्यायों में, प्रथम अध्याय से नवम अध्याय पर्यन्त किया गया है। असाधारण अधिकार भी नौ प्रकार का है, जिसका निरूपण भी नौ अध्यायों में—दशम अध्याय से अष्टादश अध्याय पर्यन्त—किया गया है। गुणातीत अथवा निर्गुण अधिकार एक ही है—तदनुसार इसका निवेश भी एक ही अन्तिम उन्नीसवें अध्याय में किया गया है। प्रथम स्कन्ध के प्रकरण तथा अध्यायों के विभाजनपूर्वक उनकी—अध्यायों और प्रकरणों की—संख्या के औचित्य का, उनके गूढ अभिप्राय तथा विशद अर्थ का सयुक्तिक-विवेचन श्रीमद्-आचार्य-चरण ने अपने 'तत्वार्थ-दीप-निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण' में किया है। भागवत-शास्त्र के सभी स्कन्धों का—प्रकरणों का तथा अध्यायों का—इस प्रकार से यह सूक्ष्म विभाजन आपश्री की विलक्षण-प्रतिभा का परिचायक है।

अधिकार की तरह अधिकारी के भी तीन भेद हैं। अब यदि अधिकारी के भेद से विचार किया जाए, तो इसके अनुसार भी प्रथम स्कन्ध तीन प्रकरणों तथा उन्नीस अध्यायों में विभाजित किया जा सकता है—यथा— १. हीनाधिकारी प्रकरण, २. मध्यमाधिकारी प्रकरण, ३. उत्तमाधिकारी प्रकरण।

हीनाधिकारी प्रकरण के तीन अध्याय हैं— प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय। हीनाधिकारी श्रोता के तथा वक्ता के प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं—यथा— श्रोता के तीन गुण— १. जिज्ञासा, २, मात्सर्य दोष का अभाव, ३. भागवत श्रवण में प्रीति। वक्ता के तीन गुण— १. गुरुमुख से भागवत सुना हो, २. वाग्मी हो, ३. गुह्य ज्ञान से सम्पन्न हो। श्रोता तथा वक्ता प्रत्येक के इन तीन-तीन गुणों का निरूपण यथाक्रम प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में हुआ है।

मध्यमाधिकारी प्रकरण के भी तीन अध्याय है—चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ । मध्यमाधिकारी श्रोता के तथा वक्ता के प्रत्येक के तीन-तीन गुण हैं— १. श्रोता तथा वक्ता दोनों ही भगवत्कृपा से सम्पन्न हों, २. दोनों ही भगवदीय हों, ३. दोनों ही भगवदेकत्व से समुपेत हों । दोनों के इन तीनों गुणों का उल्लेख यथाक्रम चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्याय मे किया गया है ।

उत्तमाधिकारी प्रकरण के त्रयोदश अध्याय हैं- सप्तम अध्याय से उन्नीसवें अध्याय पर्यन्त । उत्तमाधिकारी श्रोता तथा वक्ता के गुणों का कथन इन त्रयोदश अध्यायों में किया गया है । उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता दोनों दृढ़ वैराग्य की उत्कट अभिलाषा से सम्पन्न होते हैं और भगवान् में एकान्त आसक्ति से युक्त को ही वैराग्य सिद्ध होता है । द्वादश अङ्गों से युक्त अङ्गी श्री पूर्ण पुरुषोत्तम त्रयोदशात्मक है । इस तरह द्वादश अङ्गों सहित अङ्गी श्री पूर्ण पुरुषोत्तम-रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अनन्य-भाव से सम्पन्न उत्तमाधिकारी श्रोता-वक्ता के गुण-निरूपणार्थ त्रयोदश अध्याय कहे गये हैं ।

अत्यन्त संक्षेप में, श्रीमद्-भागवत-शास्त्र के तात्पर्यार्थ सहित प्रथम स्कन्ध का तथा उसके प्रकरण एवं अध्यायों का यह आलेखन मैंने अपनी अल्प तथा सर्वथा-सीमित-स्मृति से ही किया है और यह भी परम पू. चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री के सतत् प्रोत्साहन तथा आशीर्वाद के फलस्वरूप । महानुभावों का सत्सङ्ग जीवन को वस्तुतः प्रतिक्षण नूतनता ही समर्पण करता रहता है । यह एकांत सत्य मैं अपने जीवन में नित्य चरितार्थ होते हुये देख रहा हूँ ।

प्रथम स्कन्धान्तर्गत वाक्य, पद तथा अक्षर के अर्थ श्री सुबोधिनी में दिये गये हैं । उसका अनुवाद इसी सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् तथा नाथद्वारा विद्या विभागाध्यक्ष गोलोकवासी पं. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने किया । वस्तुत: यह हिन्दी अनुवाद श्री शास्त्रीजी ने अपने ही परमप्रिय अन्तेवासी अखण्डभूमण्डलाचार्य पू. चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री की निरन्तर प्रेरणा से ही किया था । पू. चरण श्री महाराज श्री की कृपा से ही मुझे इस महानुभाव भगवदीय की सत्सङ्गति का महर्घ लाभ प्राप्त हुआ था —

**निर्ममोनिरहंकारः सर्वसद्गुणमंडितः ।**
**सदानन्दमयः श्रीमान् आनंदीलालपंडितः ।।**

—शास्त्रीजी अक्षरशः ऐसे ही थे ।

एक दिवस जब मैं नाथद्वारा में था, तब पू. चरण श्री महाराज श्री ने मुझे शास्त्रीजी की अस्वस्थता के समाचार कहे और आज्ञा दी कि मैं उनको अवश्य मिलूं । मैं मिला—श्री शास्त्रीजी ने प्रस्तुत अनुवाद मुझे सुपुर्द कर दिया और इस ग्रन्थ को अपने उत्सङ्ग में स्थापित करते हुए मैंने जब उनको इसके प्रकाशन का वचन दिया, तो उनके नेत्र हर्षाश्रुओं से छलक रहे थे । उनके गोलोक प्रस्थान करने के १५ दिवस पूर्व की यह घटना है ।

आज यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है—उनकी ही प्रगाढ़ अभिलाषा के अनुसार यह ग्रन्थ-रत्न पू. आचार्य-चरण गो. तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री को उनके ही कथनपूर्वक समर्पित कर रहा हूँ।

**'त्वदीय-वस्तु गोविंद ! तुभ्यमेव समर्प्यते'—श्रीशास्त्रीआनंदीलालजी**

निवेदक—

२२-११-८४ **आर० कलाधर भट्ट**

॥ श्री हरिः ॥

# श्रीमद्भागवत महापुराण

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित तत्वार्थ दीप निबन्ध

का

# ✽ भागवतार्थ प्रकरण ✽

### प्रथम स्कन्ध—अध्याय १ से ६

श्रीमदाचार्य चरण श्रीमद्भागवत की व्याख्या करने की इच्छा से प्रतिपाद्यरूप भगवान की वस्तु सकोर्त्तनरूप मङ्गल के रूप में स्तुति करते हैं-

कारिका—श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा ।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः ॥१॥

सम्पूर्ण भक्तों के हृदय में भासित होने वाले सर्वदा दस लीला से युक्त परमानन्द श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं ।

यहां कृष्णपद से परम उत्कृष्ट वस्तु को कहा है । उन्हीं कृष्ण ने विचार किया कि मैं अपना सौन्दर्य प्रकट करूँ इसलिये साकार रूप से प्रादुर्भूत हुए उन्हें ही श्रीकृष्ण कहते हैं इससे कृष्ण विभूति रूप नहीं है तथा परमानन्द होने से फलस्वरूप है । उनका साधन श्रवण है । श्रवण का विषय क्या है तो उसके लिए उनकी दस लीलाओं का निर्देश किया । भगवान् के अवतार का प्रयोजन तो सकल भक्तों का उद्धार करना ही है । यदि कोई कहे कि उनसे अन्य भी कोई उद्धारक होगा । इस पर कहा है कि वे ही पर (सर्वोत्कृष्ट) हैं । अवतार को स्तुति अच्छी लगती है इसलिए यहाँ उनको नमन किया ॥१॥

शंका होती है कि जब भागवत विद्यमान है तो फिर आपको उसके लिये अब क्या करना है इस शंका का उत्तर देने के लिये अपने ग्रंथ के विषय को कहते हैं—

कारिका—शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते ॥२॥

शास्त्र स्कन्ध-प्रकरण-अध्याय-वाक्य-पद और अक्षर इन सातों में निर्विरोध एक ही अर्थ को जानता हुआ मुक्त होता है । अर्थात् भागवत का अर्थ इस तरह से कहना चाहिए कि जो अर्थ

बारहों स्कन्धों में अनुस्यूत हो सबका एक ही अर्थ हो अलग अलग अर्थ न हो। यदि यह शंका हो कि अक्षरों का अर्थ क्या होगा तो उसका उत्तर यह है कि जो प्रत्यय रूप अक्षर हैं उनका अर्थ होता ही है। यह पहले कह चुके हैं। एक ही अर्थ होना चाहिए का तात्पर्य है कि शास्त्र स्कन्ध आदि का यदि अलग अलग अर्थ होगा तो वह कृत्रिम (बनावटी) हो जायेगा।

जिस तरह ऐश्वर्य आदि छः धर्मों से युक्त धर्मी (भगवान्) सात प्रकार के हैं। उसी तरह यह भागवतार्थ भी स्कन्ध आदि अर्थो से युक्त है। संसार से मुक्त हो जाना यह ज्ञान का अवान्तर फल है। भक्ति के लिए ऐसी मुक्ति अपेक्षित है ।।२।।

शास्त्र-स्कन्ध आदि में भागवत का अर्थ क्या है इसे 'आनन्दस्य हरेर्लीला' इत्यादि कारिकाओं से कहते हैं–

कारिका–**आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा ।**
**"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूत यः ।।३।।**
**मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः" ।।**
**अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि ।।४।।**
**निरूप्य संख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा ।**
**तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता ।।५।।**
**श्रोतुर्वक्तुश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वङ्गनिर्णयः ।**
**इतीदं द्वादशस्कन्धं पुराणं हरिरेव सः ।।६।।**

आनन्द रूप भगवान् की आनन्दमयी दस प्रकार की लीला ही शास्त्रार्थ है। ये लीलाएं हरि की है इसलिए लीलाएं भी सब प्रकार के दुःखों को दूर करने वाली है। अतः दुखाभाव सुखरूप होने से ये लीला स्वतः पुरुषार्थ रूप है ये ही भागवत का अर्थ है। स्कन्ध आदि के अर्थ का निरूपण करने के लिये उनका दस प्रकार से विभाग किया है। इस प्रकार से लीलाओं के विभाग में 'अत्रसर्गो विसर्गश्च' ये भागवत का वचन ही प्रमाण है। भागवत में जिन लीलाओं का वर्णन है वे तो दस ही हैं और भागवत में स्कन्ध तो बारह है उनका अर्थ करते हैं-प्रथमस्कन्ध अधिकार लीला स्कन्ध है और द्वितीयस्कन्ध साधनलीला स्कन्ध है। अधिकार भी लीला है क्योंकि अधिकार का उत्कृष्ट रूप से लीला में उपयोग होता है। ज्ञान के सभी प्रकार अङ्गरूप है इसको बताने के लिये साधनानि ऐसा बहुवचन दिया है। इसलिये श्रवणादि रूपा भक्ति के सभी ज्ञान अङ्ग है।

शंका हो सकती है कि भागवत के बारह स्कन्ध हैं इसलिये जब बारह भेद हैं तो एकता कैसे होगी शास्त्रार्थता उसमें कैसे होगी। इस पर कहते हैं कि पुराण शब्द से और अर्थ से भगवद् रूप है यह 'निम्नगानां यथा गङ्गा' यहां कहा जायेगा। भागवत के हरिरूप होने पर भी द्वादशता कैसे है ।।२।।

कारिका–**पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम् ।**
**हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः ।।७।।**

सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः ।
उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत ॥८॥
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशाङ्गतनुर्हरिः ।
पादौ सक्थौ कटिर्गुह्यं उदरं हृदयं करौ ॥९॥
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः ।
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः॥१०॥
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्तिं प्रयच्छति ।

'द्वादशो वै पुरुषः' इस श्रुति के अनुसार अवयवों को गिनाते हैं-२ जांघे २ भुजाएं १ सिर १ मध्य भाग २ हाथ २ पैर २ स्तन इस तरह पुरुष (भगवान्) के बारह अङ्ग है । अब भागवत के स्कन्धों का इन अवयवों में सन्निवेश किस तरह हैं उसे बताते हैं । अधिकार स्कन्ध और ज्ञान स्कन्ध ये दो भगवान् के चरण हैं । सर्ग और विसर्ग ये दोनों बाहु है । स्थान और पोषण ये दोनों जांघें है पूर्व में जो कर शब्द आया है और कर का अर्थ बाहू है । सप्तम स्कन्ध एक हाथ है और द्वादश स्कन्ध दूसरा हाथ है । इस तरह से तो भागवत का रूप विकृत सा हो जायेगा इस आशंका पर दृष्टान्त से प्रकृतोपयोगी रूप का 'उत्क्षिप्त हस्तः' से कहा है । अष्टम और नवम ये दोनों स्तन हैं । इसके अनन्तर दशम मध्य भाग है । एकादश सिर है । द्वादश का वर्णन तो पहले आ ही चुका है । भगवान् जिस तरह भागवत रूप हुए उसी तरह से यहां वर्णन किया । यहां कुछ उपासकों का ऐसा कथन है कि क्रमानुसार ही उपासना करनी चाहिए वही सफल है अतः वे यहां क्रम भेद कहते हैं । वे पञ्चम स्कन्ध को कटि (कमर) बताते हैं । मलद्वार स्थानीय नरक गुह्य स्थान षष्ठ स्कन्ध है । सप्तम उदर । अष्टम हृदय । दोनों कर नवम । मुख दशम ललाट एकादश । मस्तक द्वादश । उपासना में ऐसा भी उचित है । इस तरह निरूपण का अन्य प्रयोजन भी है । इस तरह की धारणा से अर्थात् पाठतः धारणा से भागवत के भगवद्रूप होने से उस रूप से वो भगवान् का ही धारण है हृदय में स्थित भगवान् जिस काम को करेंगे वही कार्य भागवत भी करेगा । केवल पाठमात्र से भगवान् धारण किये जाते हैं तो यदि अर्थतः परितः ज्ञान हो जाये तो फिर इदमित्थं रूप से ज्ञान जिसका है वह ज्ञान भक्ति का अङ्ग हो जायगा और वह ज्ञान भक्ति को देगा ।।८-९-१० ॥

ज्ञान के लिये इस भागवत के स्वरूप को कहते हैं ।

कारिका–एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामिततेजसः ॥११॥
लौकिकी चान्यभाषा च समाधेः पौषिक तु ते ।
ते प्रमाणअभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि ॥१२॥
न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके ।

यह भागवत अमित तेजस्वी व्यासजी की समाधि भाषा है । लौकिकी भाषा एवं परमत भाषा दोनों ही समाधि भाषा का पोषण करती है । उन दोनों भाषाओं का प्रामाण्य तो वक्ता के अभिप्राय से है समाधि भाषा की तरह प्रामाण्य नहीं है अतःयदि उनमें परस्पर विरोध आता है तो दोषजनक नहीं है । अर्थात लौकिक और परमत भाषा का निरूपण जहां जहां अवसर आयेगा किया जायेगा ।

व्यास जी ने समाधि में जिसे देखा उसे कहा उसे समाधिभाषा कहते हैं। भागवत में कहीं तो ज्ञान की प्रशंसा की है और कहीं कथाओं में पूर्वोत्तर विरोध है तो कहीं पुनरुक्ति आदि दोष भी है उनके समाधान के लिए ही स्वयं व्यासजी ने ही कहा है कि इसमें तीन तरह की भाषा है 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ता:'।

समाधि भाषा के विरुद्ध अर्थ जिसमें है वह मतान्तर भाषा है और जो लोकसिद्ध भाषा है वह लौकिकी है। परमत भाषा तो जिसने उसे कहा है उसके अभिप्राय के विषय में प्रमाण है स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं है। जिस तरह समाधि भाषा प्रमाणभूत है उस तरह नहीं अतः यदि समाधिभाषा के साथ उन दोनो भाषाओं का कहीं विरोध हो तो वहां ये प्रमाण नहीं मानी जाएगी। जहां शुकदेवजी मैं दूसरे की बात कह रहा हूँ ऐसा कहते हैं वह परमत भाषा है। और जहां लौकिक रीति से निरूपण किया है वह लौकिक भाषा है जैसे-'स्तनैस्तनान् कुङ्कुमपङ्कस्वाषितान्' यह लौकिक भाषा है इनका विरोध व्यासजी ने समझ बूझकर रखा है अतः दोषकारक नहीं है। निष्कर्ष यह निकला कि तीनों ही भाषाओं के प्रकार से स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप श्री कृष्ण लीला भागवत का अर्थ है ।।११-१२।।

उनमें श्रोता तथा वक्ता का अधिकार प्रथम स्कन्ध का अर्थ है और वह स्वरूप निर्वाहक है अधिकार के अभाव में स्वरूप ज्ञान, अर्थ ज्ञान और अभिप्राय ज्ञान नहीं होगा।

वह अधिकार मोटे तौर पर तीन तरह का है और सूक्ष्म रूप से उन्नीस प्रकार का है। इसमें तीन भेद हैं साधारण-असाधारण और गुणातीत। साधारण नौ प्रकार का है और असाधारण भी नौ प्रकार का तथा निर्गुण एक प्रकार का। इस तरह अधिकार अध्यायों का अर्थ जानना चाहिए और सुनने की इच्छा रखने वाले सभी अधिकारी हैं यह स्कन्ध का अर्थ है।

अब प्रकरणार्थ के तीन भेद बताते हैं।

**कारिका—भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमध्योत्तमत्वतः ।।१३।।**
**तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहार्हति ।**
**आद्येऽध्यायत्रयं मध्य तथा चान्ते त्रयोदश।।१४।।**
**एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः ।।१४½ ।।**

प्रथम स्कन्ध में हीन मध्यम और उत्तम इस तरह तीन भेद हैं उन्हीं लक्षणों वाला अधिकारी वक्ता और श्रोता यहां कहने तथा सुनने के योग्य है। हीनाधिकार के प्रथम तीन अध्याय (१ से ३) उसी तरह मध्यमाधिकार के तीन अध्याय (४ से ६) शेष तेरह (७ से १९) उत्तमाधिकार के हैं इस तरह उन्नीस अध्याय का प्रथम स्कन्ध कहा गया।

अन्य निबन्धों में ऐसे ही अर्थ का निरूपण है अतः यहां भी ऐसा ही निरूपण किया गया है इसमें अस्वारस्य का बीज यह है कि अन्य निबन्धकार देश और काल की अपेक्षा करके प्रकरण का इस तरह विभाग करते है तो प्रकरण देश काल की अपेक्षा रखने वाला होने से असमर्थ हो जाता है इस समय तो देश और काल दोनों ही अशुद्ध है अतः श्रवण की ही सिद्धि नहीं होगी

इसलिए प्रकरण का ऐसा लक्षण आचार्य चरण को सम्मत नहीं है । श्रवण के अभाव में तो पुराण का प्रणयन (निर्माण) तथा प्रचार दोनों ही व्यर्थ हो जायेंगे अतः अध्याय के अर्थ विचार से ही प्रकरण विभाग उचित है ।।१३-१४।।

जब भागवत की समाप्ति हुई उस समय 'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलोज्ञानप्रदीपःपुरा,' इस श्लोक में जो अयम् आया है उससे पूरे बारह स्कन्ध का परामर्श होता है शुकदेवजी ने व्यास जी से पूरे भागवत का अध्ययन किया था यह जाना जाता है । उस समय सूत और शौनक की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी । अतः उनका संवाद भी नहीं हुआ था तब नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे' इत्यादि से जो प्रथम स्कन्ध में जो सूत और शौनक के संवाद रूप में भागवत की प्रवृति हुई यह संगति असंगत है इस पर कहते हैं-

कारिका—कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै ।।१५।।
तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तत् श्रुत्वा सूत आह यत् ।
शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत्सर्वं भावि हृद्गतम् ।।१६।।
अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः ।
व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मङ्गलादिपुरःसरम् ।।१७।।
प्रसङ्गपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि ।

शुकदेवजी राजा परीक्षित के लिये कथामात्र ही कहेंगे उसमें जो प्रश्न और उत्तर हुए उनको सुनकर जो सूतजी ने शौनकादिकों को कहा यह सब पहले से ही व्यास के रूप में अवतरित भगवान् ने मङ्गलाचरणपूर्वक एवं प्रसङ्गपूर्वक सब बातों को समाधि में जान ली थी और उन हृद्गत अनागत सबको श्लोक रूप से व्यासजी ने कहा । अतः सङ्गति भी असंगत नहीं है वह भी व्यासोक्त ही है ।

यहां एक शंका होती है कि समाधि भाषा होने से भागवत में प्रामाण्य है तो फिर परम्परा और उपदेश तो व्यर्थ ही हैं इस आशंका को मिटाने के लिये परम्परा और उपदेश ये दोनों ही सार्थक हैं इसके लिये समाधि का निरूपण करते हुए परम्परा और उपदेश का निरूपण करते हैं-

कारिका—साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा ।।१८।।
तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका ।
इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः ।।१९।।

ब्रह्म शुद्ध एवं साकार है और माया उनकी उत्तम शक्ति है । उस माया से ही सर्वत्र सम्मोह होता है और भक्ति माया के उस सम्मोह से मुक्त कराने वाली है । इसको भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा और ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा तथा नारदजी ने व्यासजी से कहा ।

अर्थात् समाधि अशेष विशेष रूप होने से प्रमाणभूत है और परम्परा सब विशेषों की ज्ञायिका न होने से गौण है ।।१८-१९।।

समाधि की मुख्यता में और भी हेतु है उसे कहते हैं-

कारिका—कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम् ।
व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा ॥२०॥
अभिमानान्नारदोक्तं न सम्यगवभाति हि ।
अतस्तदुक्तमेवार्थं समाधावुपलभ्य हि ॥२१॥
वैलक्षण्यं समस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ ।

व्यासजी धर्म को ही परम कल्याणकारी जानते हैं उन्होंने वेद का विभाग भी किया परम शास्त्रज्ञ भी थे महाभारत जैसे पञ्चम वेद का भी निर्माण किया इसलिये व्यासजी को साधनों पर पूर्ण विश्वास था किन्तु स्वयं भगवान् कृष्ण ने उनके हृदय में मोह उत्पन्न किया और फिर उनके लिये जो वचन कहे वे सर्वत्र प्रमाण है । व्यासजी ने अभिमान के कारण नारदजी की बात को ठीक नहीं समझी इसलिये नारदजी से कही हुई बात के परीक्षणार्थ समाधि लगाई और समाधि में सबसे विलक्षणता इसकी जानकर पीछे इस (भागवत) को कहा ।

व्यासजी को अभिमान हो गया इसलिये परम्परा दुर्बल हो गई और समाधि मुख्य रही ॥२०-२१½॥

शंका करते हैं कि ऐसा होने से तो मध्यमाधिकारार्थ ही होगा इस पर कहते हैं—

कारिका—रीत्या यदन्यया प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः ॥२२॥
प्रसङ्गसाधनफलान्याह प्रकरणे त्रये ।
अन्ते मध्ये तथा चादौ . . . . . .

श्रीमद्भागवत को भगवान् ने कहा ब्रह्माजी ने भी कहा किन्तु वैसा सूतजी ने तथा नारदजी ने नहीं कहा उन्होंने जैसा समझा वैसा कहा अतः भागवत का अर्थ अपने अधिकार के अनुसार समझ मे आता है । भागवत का यदि सर्वार्थ ज्ञान करना है तो उसके लिये मुख्यतया अधिकार की आवश्यकता है उसके लिये प्रथम स्कन्ध को देखना चाहिये ।

इन प्रकरणत्रय का अन्य प्रयोजन भी है वे हैं प्रसङ्ग साधन और फल । भागवत प्रसङ्ग जैसे तैसे या जहां कहीं नहीं करना चाहिये किन्तु अनेक महापुरुष हों वे भी शुद्ध तथा तीर्थ निवासी हों वे भी यदि भागवत के सुनने की प्रार्थना करें तब भागवत का प्रसङ्ग करना चाहिये । उनकी सम्भावना को अपने ज्ञान के ज्ञापन से दृढ करके तत्पश्चात् प्रसंग करना चाहिये । नहीं तो प्रसंग सफल नहीं होगा जो ज्ञानाभिमानी होते हैं वे सिद्धान्त को बिना ही जाने अपने को ज्ञानी मान लेते ऐसे को नहीं समझाना । ऐसे लोग बिना समझ के उस पदार्थ को उलटा समझ लेते हैं जिससे महापुरुषों के ज्ञान को भी अपने ज्ञान से मिला देते हैं । इसलिये ऐसे को कभी ज्ञान न देना । व्यास और नारदजी के संवाद में साधनों का निरूपण है ।

साक्षात् भगवान् में प्रवेश, सब प्रकार के सन्देहों से रहित होना, भगवान् की कृपा प्राप्त

करना, सर्वत्र निर्भय होना और परम प्रेम का होना ये सब भागवत के फल परीक्षित् और शुकदेव जी के समागम में निरूपित हुए हैं ।

अतः भागवत का प्रसङ्ग प्रथमस्कन्ध के अन्त में और साधन कथन तथा इतर निराकरण मध्य में तथा तृतीय प्रकरण में प्रथम ही भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति एवं भक्ति ये कहे गये हैं ।

अब प्रथमाधिकार में श्रोता कैसा होना चाहिये इस आकांक्षा में उसके विशेषण कहते हैं-

कारिका—. . . . . . तीर्थयज्ञैर्महान् शुचिः ।।२३।।
कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्सङ्गसम्भवे ।

जो तीर्थ भ्रमणादि से तथा यज्ञादि से महान् पवित्र है और भगवान् की कृपा से सत्सङ्ग हो जाने पर प्रयत्न करके भगवान् कृष्ण की कथा पूछता है वह प्रथमाधिकारी है ।।२३½।।

भले ही ऐसा श्रोता मिल जाय परन्तु उसे सहसा भागवत नहीं कहनी चाहिए । पहले उसके हृदय को टटोलना चाहिए इसके लिये व्यासजी ने वक्ता को शिक्षा देने के लिये जिस रीति का निर्देश किया है उसे स्पष्ट करते हैं ।

कारिका—सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम् ।।२४।।
उत्कण्ठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः ।
ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा ।।२५।।

वक्ता को चाहिए कि यदि किसी श्रोता की सामान्य रूप से जिज्ञासा हो तो उसे जैसे सूतजी ने प्रथम स्कन्ध के द्वितीय तृतीय अध्याय में निवृत्त को उसी रीति से उसकी जिज्ञासा का वारण कर दे परन्तु यदि उसकी उत्कण्ठा और अधिक सुनने की हो तो फिर कथा का प्रक्षेप (प्रारम्भ) करे यदि उससे भी विशेष जिज्ञासा हो और कथा के विषय में प्रश्न भी करे तब उसे सदा कथा कहनी चाहिये यह रीति है ।।२४-२५।।

अब वक्ता का प्रथमाधिकार कहते हैं–

कारिका—वक्ताधिकारी सर्वज्ञः सम्प्रदायेन सन्मुखात् ।
श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथाद्विमः ।।२६।।

जो सर्वज्ञ हो और जिसने सम्प्रदाय पुरःसर सन्त के मुख से कथा सुनी है और जो भक्त हो तथा जो अविरक्त हो इस तरह गुण चतुष्टय युक्त वक्ता प्रथमाधिकारी होता है ।

यहां यह शंका हो सकती है कि वक्ता के अधिकार का उपयोग कहाँ होगा केवल श्रोता के अधिकार से ही कार्य सिद्धि हो जायेगी इस आशंका का समाधान यह है कि वक्ता का अधिकार ही मुख्य है वक्ता यदि महान् है तो श्रोता भले ही कैसा ही हो महान् हो जाता है ।।२६।।

यदि ऐसी बात है तो सूत ने तो श्री शुकदेवजी से भागवत सुनी थी तो फिर सूत को फलसिद्धि क्यों नहीं हुई इस पर कहते हैं—

कारिका—सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा ।
यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा ॥२७॥

यद्यपि सूतजी ने श्री शुकदेवजी से कथा सुनी किन्तु सूत लोगों की कथा सुनाने की वृत्ति है इसलिये सूतजी में उत्तमता नहीं आई। इसमें वक्ता के अधिकार में कोई हीनता नहीं हुई। यह भागवत नामात्मक भगवान् का रूप है उसे जो बेचता है उसे विक्रय से अधिक फल नहीं होता अर्थात् उसके बेचने में जितना लाभ होता है उतना ही उसे मिलेगा। उससे अधिक लाभ नहीं मिलेगा। सूतजी इसलिये प्रथमाधिकारी है ॥२७॥

यह तो समझ में आया कि सूतजी ने भागवत का प्रयोग वृत्ति के लिये किया इसलिये वे प्रथमाधिकारी हुए किन्तु ब्रह्माजी से नारदजी ने भागवत सुनी तो फिर नारदजी में उत्तमता क्यों नहीं आई इस पर कहते हैं

कारिका—नारदस्याधिकारित्वात् कार्यवेशात्तु सर्वतः ।
न वैराग्यं दृढं जातं तेन मध्यम ईर्यते ॥२८॥

नारदजी यद्यपि उत्तमाधिकारी थे परन्तु सर्वत्र उनमें कार्य का आवेश रहता था इसलिये वैराग्य दृढ न हो सका इस कारण से उनको मध्यमाधिकारी कहा। यद्यपि ज्ञान तो पूर्ण था किन्तु वैराग्य का अभाव था इसलिए मध्यमाधिकारी हुए।

भागवत के जो तीन वक्ता हैं उनमें सूतजी को तो केवल शब्द ज्ञान था। और नारदजी को भागवत का ज्ञान अर्थतः था तथा श्रीशुकदेवजी को वैराग्य युक्त भागवत का ज्ञान था।

भगवान् का आवेश श्रीशुकदेवजी में हो इसलिये उनमें वैराग्य था अन्यथा यदि वैराग्य न होता तो श्रीशुकदेवजी ज्ञान से विक्षिप्त हो जाते।

प्रमाणबल से प्रमेयबल अधिक होता है इसलिये भगवान् की इच्छा से नारदजी में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ। और भागवत तो अपनी उत्पत्ति में बता गये फल से अधिक फल को सिद्ध नहीं करता। अतः अधिकार में भिन्न रूप से वैराग्य कहा। परीक्षित में वैराग्य की सिद्धि हो इसी के लिये सात से लेकर अठारह तक बारह अध्यायों का निरूपण किया तब ही परीक्षित् अधिकारी हुआ। अतएव नारद आदि का भी प्रवेश श्रोताओं में ही होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वैराग्य का संपादन करके ही भागवत सुननी चाहिये तभी अधिकार सफल होगा। वैराग्य में हेतु जो दोषदर्शन है उसके रहने पर भी नामविक्रय और अधिकार ये दो वैराग्य में रुकावट डालने वाले हैं ॥२८॥

जब नामविक्रय एवं अधिकार ये दो प्रतिबन्धक नहीं होंगे और श्रवण की आवृत्ति भी की

जायगी तो वैराग्य भी हो जायगा इस आशय से कहते हैं–

कारिका–शुके पूर्वोक्तद्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः ।
दृढभक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ।।२९।।

शुकदेवजी में नामविक्रय और अधिकार ये दोनों ही नहीं थे इसलिये वे उत्तम माने गये हैं।

शंका हो कि यदि शुकदेवजी उत्तमाधिकारी थे तो व्यासजी से जब भागवत सुनी उसी के अनन्तर परमभक्ति होने से शीघ्र ही भगवान् में प्रविष्ट क्यों नहीं हो गये ? इस पर कहते हैं कि भक्तों के मरने में भगवान् की कथा ही रुकावट डालने वाली होती है ।।२९।।

भागवत के द्वारा शीघ्र मुक्ति होने में और भी प्रतिबन्धक हैं उनका निरूपण करने के लिये कहते हैं–

कारिका–यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैव सङ्ग्रहात् ।
वक्तुः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ।।३०।।
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तेन मोक्ष्यते ।
स्वतस्तर्क परिज्ञानादवताराच्च मध्यमः ।।३१।।
नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नारदप्रमा ।
शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसंदेहात् फलं भवेत् ।।३२।।
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे ।।३२½।।

भागवत के सुनने के अनन्तर भी शौनकजी को वैराग्यादिक नहीं हुए उसमें तीन कारण हैं शौनकजी की यज्ञों के करने में आसक्ति थी, शिष्यों का संग्रह करते थे शिष्य बनाते थे, तीसरा हेतु यह था कि सूत से मैं अधिक हूं ऐसा ज्ञान था ।

तो फिर शौनकजी का भागवत सुनना व्यर्थ ही रहा ? इस आशंका का उत्तर देते हैं। शास्त्रीय ज्ञान तो उनका दृढ था ही उस ज्ञान से ही भगवान् में परम साध्यरूपा भक्ति हो गई। तदनन्तर भगवान् की कृपा से भक्ति से युक्त कर्म के द्वारा ही मुक्त हो जायँगे ।

शंका होती है कि व्यासजी में वैराग्य तो था नहीं इसी तरह नारदजी में नहीं था तो फिर व्यासजी को प्रथमाधिकारी में क्यों नहीं गिना गया ? इसका उत्तर यह है कि व्यासजी में वैराग्य न होने पर भी प्रथमाधिकारी से दो बात अधिक थी एक तो व्यासजी को तर्क के द्वारा स्वतः परिज्ञान था और मूल में वे भगवान् के ज्ञानावतार थे इसलिये व्यासजी की गणना मध्यम में की गई उत्तम तो वे इसलिये नहीं थे कि उन्हें नाना साधनों का विज्ञान दृढ था और इसीलिये नारदजी का उपदेश उनके लिये दुर्बल था । जब समाधि के द्वारा नारदजी की कही बात ठीक निकली तब उसको प्रमाण माना इससे मध्यमता हुई । परीक्षित में ये कोई दोष नहीं थे केवल शुकदेवजी के उपदेश के सुनने मात्र से ही उनका सन्देह निवृत्त हो गया और भागवत सुनने का फल उन्हें मिल

गया। परीक्षित् का वैराग्यादिक यहां स्पष्ट नहीं हुआ है अतः उसे उत्तमाधिकार के प्रकरण में कहेंगे ॥३०-३१-३२½॥

शंका होती है कि सूत ने तो सम्पूर्ण भागवत को कहा है तो फिर तीन ही अध्याय में प्रकरण समाप्ति कैसे हुई इस पर कहते हैं-

**कारिका—स्वाधिकारनिरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम् ॥३३॥**
**कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम् ॥३३½**

सूतजी ने दो बातें कहीं स्वतन्त्र रूप से दो अध्याय कहे उनमें उन्होंने अपने अधिकार का बोध करा दिया। और बाकी का कथन तो भागवत रूप से उन्होंने कहा। उनमें उन्होंने मुख्य रूप से कथाक्षेप का निरूपण किया। उससे उन्होंने प्रथम प्रकरण को पूर्ण कर दिया। कथा को समाप्त नहीं किया उनका अधिकार तीन अध्यायों में सम्पन्न हुआ।

**कारिका—अधिकारस्तु सम्पन्नः कथा पश्चाद्भविष्यति ॥३४॥**
**निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वमुदीरिते ।**
**सूतेन नाधिकारेण द्विरूपत्वमतस्तयोः ॥३५॥**

सूतजी का अधिकार तो तीन अध्यायों में पूरा हो गया कथा तो पीछे होगी। भागवत की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार को हेतु पूर्वक कहा। सूतजी ने जो कहा वह अधिकार से नहीं कहा अतः उनमें द्विरूपता है।

यहां यह शंका होती है कि सूतजी ने जैसे अपने अधिकार के प्रकरण की कथा कही उसी तरह मध्यम प्रकरण में भी वक्ता सूत ही थे तथा उत्तम में भी वे ही वक्ता थे। अत सूतजी में मध्यमता तथा उत्तमता क्यों नहीं हुई? द्वितीय प्रकरण में निष्पत्ति (हेतु) का निरूपण है और उत्तम में निष्पत्ति और प्रवृत्ति दोनों हो का निरूपण है। सूतजी ने जो इनका निरूपण किया है वह भागवत का अंग होने से ही किया है उन्होंने अपने अधिकार से निरूपण नहीं किया है। अतः सूतजी में मध्यमता तथा उत्तमता नहीं आती। तो फिर यह प्रश्न उठता है कि इस तरह से तो नारदजी में मध्यमता और शुकदेवजी में भी उत्तमता नहीं होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनमें द्विरूपता थी जब दूसरे की बात कहते हैं उस समय वे अनधिकारी हैं और स्वयं जब कहते हैं तब तो उनमें अधिकारिता सिद्ध होती है। इसलिये मध्यम और उत्तम प्रकरण में द्विरूपता है सूत के कथन में और नारदजी के कथन में ॥३४-३५॥

मध्यम प्रकरण में तीन अध्याय क्यों है उस पर कहते हैं-

**कारिका—मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपित्तम् ।**
**अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम् ॥३६॥**

नारदजी व्यासजी को भागवत समझाने के लिये नहीं आये थे वे जानते थे कि व्यासजी

मेरे से उत्तम है किन्तु व्यासजी जिस तरह भागवत को कहें उसके लिये हेतु कहते हैं इसलिए भागवत से उनने जिस अर्थ का निर्धारण किया उसी से उनका अधिकार जाना जाता है। तथापि एक यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि प्रथमाधिकार की तरह इसके भी तीन अध्याय कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि अभी तो भागवत की निष्पत्ति (उत्पत्ति) नहीं हुई है जब भागवत व्यासजी के मुख से होगी तब ही अधिकार का निरूपण हो सकता है अब तक भागवत उत्पन्न नहीं हुई इसलिये पूर्व की तरह ही मध्यम प्रकरण के भी तीन ही अध्याय हैं। इसमें विभाग भी पूर्ववत् हैं इन तीन अध्यायों में प्रश्नोत्तर है एक अध्याय से प्रश्न और दो अध्यायों से उत्तर हैं। परन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि प्रथमाध्याय में प्रश्न का हेतु है और द्वितीय के आरम्भ में प्रश्न है ।।३६।।

शंका करते हैं कि उत्तमाधिकार के प्रथम अध्याय में पूर्ववत् ही उत्तर कहना चाहिये उस पर कहते हैं–

कारिका–**उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्रधिकारकृत् ।**
**स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तुरुक्ताधिकारिता ।।३७।।**
**सामान्यमङ्गकथनमेकोक्त्यैवोक्तवाञ् शुकः ।**
**सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्ये द्विधा मतः ।।३८।।**
**अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम् ।**
**सम्पूर्णेनैव सर्वेषामुत्तरं सम्भाविष्यति ।।३९।।**

उत्तमाधिकार में प्रथमस्कन्ध में प्रश्न श्रोता के अधिकार को करने वाला है। स्पष्ट होने से विशेष रूप से वक्ता का अधिकार नहीं कहा। शुकदेवजी ने एक ही साथ सामान्य अङ्ग का कथन कर दिया। आद्यस्कन्ध में सामान्य और विशेष इस भेद से प्रश्न के दो प्रकार माने गये हैं। सब का उत्तर सम्पूर्ण ही होगा।

उत्तर तो द्वितीय स्कन्ध में ढाई अध्यायों से कहा जायेगा। उसी से अधिकार होता है। अर्थात् शुकदेवजी जब पधारे तो नारदजी और व्यासजी आदि सब उठकर खड़े हो गये। अतः बिना ही उत्तर के कहे वक्ता का उत्तमाधिकार सिद्ध हो गया इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं हुई। अतएव द्वितीय स्कन्ध के चौथे अध्याय में मङ्गलाचरण है। उत्तमवक्ता का अधिकार भी भगवान् के चरित्र के ही अनुरूप है अतः वह भी भागवत के समान है। इसलिये उसका निरूपण प्रथम स्कन्ध में नहीं किया। क्योंकि श्रोता का ही अधिकार मुख्य रूप से अधिकार शब्द से निरूपण करना चाहिये। व्यावहारिक अधिकार तो स्पष्ट ही है अतः उसके निरूपण की आवश्यकता नहीं है। तो फिर विशेषाधिकार की क्या गति होगी? इस आशंका का उत्तर देते हैं कि शुकदेवजी उत्तर रूप से भागवत को कहते हुए सबसे पहले एक स्कन्ध से अङ्गों को कहा उसमें अङ्गता में स्वयं का अधिकार भी आ जाता है अतः उसे दो अध्यायों से कहा। दो अध्यायों में कहने में हेतु तो सामान्य और शेष प्रश्न ही है। शंका होती है कि तब भागवत को यहीं समाप्त कर देना था। उतने ज्ञान से ही उत्तमता सिद्ध हो जायेगी फिर विस्तार की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर यह है कि प्रश्नों के उत्तर में सम्पूर्ण ही भागवत होगी ।।३७-३८-३९।।

यह आपने कैसे जान लिया कि प्रथम स्कन्ध के प्रश्नों का ही उत्तर पूरे भागवत में है इस पर कहते हैं–

कारिका–अत एव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः ।
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ।।४०।।
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनन्दस्तथैव यत् ।
ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्यंशसोः श्रियः ।।४१।।
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वानिहोच्यते ।
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरे ।।४२।।
ऐश्वर्यधर्मयो रूपमन्येषां प्रथमे जगौ ।।४२½।।

इस भागवत में प्रथमाध्याय सर्वत्र प्रश्नाध्याय है और समस्त भागवत उसका उत्तर है । इस भागवत का प्रतिपाद्य भगवान् ही है । भगशब्द के ज्ञान-वैराग्य धर्म तथा ऐश्वर्य-यश और श्री ये छः अर्थ है अर्थात् इन छः का समुदाय भग कहलाता है भगवान् कृष्ण में ये हो छः अर्थ विद्यमान् हैं और भागवत में भी ये ही छः अर्थ है यदि ये न होते तो भागवत की प्रवृति व्यर्थ हो जाती । वे छः प्रश्न प्रथमाध्याय में स्पष्ट है । इसलिए उसका अभिनन्दन किया । चार का प्रथम अध्याय में तथा दो का दूसरे अध्याय में ऐश्वर्य और धर्म का कथन अन्यों के प्रथम अध्याय में ।

सभी प्रश्नों में कृष्ण विषयक ही प्रश्न हैं वह कृष्ण ही लीला रूप से सर्वत्र वर्णित है । इससे ग्रंथ की संगति का निरूपण भी हो गया । यहां भागवत में तो बारह स्कन्ध हैं और ऐश्वर्यादि तो छः हैं अतः दो दो स्कन्धों में एक-एक को कहा गया है ।

प्रथम एवं द्वितीय स्कन्ध में ज्ञान का कथन है सर्ग (तृतीय) एवं विसर्ग (चतुर्थ) स्कन्ध में वैराग्य का कथन है । दो प्रकार के धर्म का स्थान (५) और पोषण भेद से (६) स्कन्ध में कथन है । ऐश्वर्य प्रह्लाद और मनु आदि से सप्तम-अष्टम में सूचित किया है । नवम और दशम स्कन्ध में यश का प्रतिपादन है और श्री का प्रतिपादन ग्यारहवें तथा बारहवें स्कन्ध में है । वहां भगवान् का स्वरूप से रमण सिद्ध होता है । अथवा इन दो दो स्कन्धों में ऐश्वर्य आदि का जो क्रम है 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्योश्चापि षण्णां भग इतीरणा' इस क्रम से उपपादन करना । ऐसा होने पर सूत ने अपने अधिकार की सिद्धि के लिये जैसा उत्तर दिया उस तरह का विभाग बताते हैं ।

सूतजी ने प्रथम अध्याय में चार प्रश्नों का उत्तर दिया । अथवा तीन का समान रूप से । टीका में उसी का कथन है । कृष्ण के सहित दो प्रश्नों का उत्तर द्वितीय अध्याय में दिया । इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रति प्रश्न का तथा सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए यह ज्ञापित हुआ ।।४०-४१-४२।।

अध्याय का अर्थ समूह होता है । सर्वत्र इस बात को बताने के लिए वाक्यार्थों का संग्रह करते हैं-

कारिका—मङ्गलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसङ्गः सूतसंस्तुतिः ।।४३।।
प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः ।
कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ।।४४।।
प्रयोजनक्रियारूपैर्विद्यमानविमोचकः ।
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात्कृताः ।।४५।।
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं च स्वयोग्यताम् ।
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्यायसंग्रह ।।४६।।

प्रथम श्लोक का अर्थ मङ्गल है फिर दो श्लोकों से भागवत का उत्कर्ष तथा प्रसङ्ग तीन श्लोकों से सूत की स्तुति एक श्लोक से प्रथम प्रश्न ढाई श्लोकों से हेतु का प्रश्न पहला प्रश्न धर्मपरक और दूसरा प्रश्न ज्ञानपरक है। फिर कृष्ण के विषय में चार प्रकार के प्रश्न हैं। ऐसा होने से धर्मपरक प्रश्न तथा ज्ञानपरक प्रश्न कृष्ण विषयक नहीं होंगे इसके समर्थन के लिये कहते हैं कि इसमें केवल मार्ग भेद है अर्थभेद नहीं है। कृष्ण के विषय में चार प्रकार से प्रश्न है और वेद के विषय में दो प्रकार से प्रश्न हैं। भगवान् कृष्ण चतुर्मूर्ति है और वेद के काण्डद्वयार्थ रूप भी है। इसलिये दो प्रकार हैं। इसलिये छः भेद ऐश्वर्यादि गुणों के पर्याय हैं वे यहां पूछने योग्य हैं। इनके जान लेने से सब जान लिया जाता है। कृष्ण के विषय में जो चार प्रकार के प्रश्न हैं उनके भी दो रूप हैं प्रयोजन क्रियारूप और विद्यमान विमोचक। कृष्ण के जन्म के प्रयोजन का प्रश्न क्रियाविषक प्रश्न और रूपों का प्रश्न इन तीन का एक ही प्रश्न क्यों किया उसका हेतु बताते हैं विद्यमान विमोचकः भगवान् ने अवतार लेकर योगियों, ज्ञानियों और भक्तों को मुक्त किया। वास्तव में तो भगवान् का अवतार भक्तों को ही मुक्त करने के लिये हैं। इसलिये प्रथम तो सृष्टि आदि क्रिया से तो ज्ञानियों को मुक्त किया, रूप से योगियों को मुक्त किया और उनके अन्दर जो अविहित भक्त है उनकी मुक्ति की।

चतुर्थ, प्रश्न जो 'ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्माणि। स्वाकाष्ठा मधुनोपे ते धर्मः कं शरणं गतः अलग है वह भी तुल्य बल वाला ही है इसलिये कहा कि आगे मुक्ति किससे होगी। उसमें अधिकार कहना चाहिये इसके लिये अपना अधिकार कहते हुए अपनी योग्यता को बताते हुए प्रश्न किया इस तरह यह प्रथम अध्याय का संग्रह है ।।४३ ४४-४५-४६।।

इति प्रथमाध्यायः

अब द्वितीयाध्याय का संग्रह कहते हैं—

कारिका—उत्साहसङ्गतिः प्रह्वःशास्त्रारम्भोपदेशनम् ।
प्रश्नाभिप्रायकथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ।।४७।।
पञ्चभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः ।
एवं वेदार्थनिर्धारे श्लोकाः सप्तदश स्मृताः ।।४८।।

धर्मज्ञानार्थनिर्धाराच्छ्रवणादिभिरादरात् ।
प्रेमोत्पत्तौ हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ॥४९॥
जन्मकारणलीले च सप्तभिः पञ्चभिःव्यधात् ।
भक्ताद्धारो भक्तिसिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ॥५०॥
सत्त्वनिर्धारणे पञ्च गुणातीते द्वयं स्मृतम् ।
विशेषभक्तिसिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ॥५१॥
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनाय विशेषतः ।
नोक्तं स्वरूपाविज्ञानात् फलवाक्यं मृषा भवेत् ॥५२॥
अतस्तदुक्त्वा पश्चातु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति ।
उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे ॥५३॥
पूर्वं पञ्चविधा लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ॥५३½॥

अब प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय का संग्रह कह रहे हैं उसमें पहले श्लोक से सूत का उत्साह तथा कथा के कहने का प्रयोजन कहा है। तदनन्तर दो श्लोकों से शुकदेवजी को नमस्कार, फिर एक श्लोक से शास्त्रारम्भ का उपदेश। इसके अनन्तर अभिनन्दन कहा। इसके अनन्तर स्वयं ही श्लोक विभागों को कहते हैं पांच श्लोकों से पूर्व निर्धार कहा क्योंकि कर्म पांच प्रकार के है। इससे वेद के पूर्वकाण्ड का कथन किया। फिर बारह श्लोकों से वेद के उत्तर काण्ड का कथन है इस तरह श्लोकों के निर्धार से सत्रह श्लोक कहे। वेद में पुरुष को बारह प्रकार का कहा हैं 'पुरुषो द्वादशविधः' अर्थात् तत्त्व विचार में बारह ही प्रकार हैं इतना ही वेद का अर्थ है श्रुति में कहा है 'सप्तदशो वै प्रजापतिः' वेदार्थ में सत्रह श्लोक परिनिष्ठित हैं। वेद में उससे अधिक गति नहीं है यह इससे सूचित होता है। इस तरह वेद के द्वारा जो कर्म (धर्म) का और ज्ञान का निरूपण किया उसका निमित्त यह है कि इनके द्वारा धर्म और ज्ञान का निर्धार हो जाने से प्रजापति मात्रत्व अर्थात् यज्ञात्मकता हो जानी है तभी भगवत् श्रवणादिक होता हैं। भगवान् के श्रवण के लिये ही पहले वेद के उन दोनों काण्डों का निरूपण किया। तब आदर के साथ श्रवणादि करने पर प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर भगवान् प्रसन्न होते हैं तब फिर भगवान् के अवतारादि होते हैं। जन्म कारण निर्धार में सात श्लोक हैं और लीला में पांच श्लोक हैं। इनका प्रयोजन यह है कि जन्म के द्वारा तो भक्तों का उद्धार होता है और लीला से भक्तिसिद्धि होती है। जन्म कारण निर्धारण के सात श्लोकों में दो भेद हैं उनमें पांच श्लोक तो विचारक हैं,विचार का उपयोग है विशेष भक्ति की सिद्धि होना अन्य प्रयोजन भी कहते हैं 'सामान्यतोऽस्य मूलत्व कथनाय विशेषतः' शंका होती है कि शौनकजी ने तो कृष्णावतार में प्रयोजन पूछा था तो फिर सूतजी ने सामान्य अवतार के प्रयोजन से उत्तर क्यों दिया उसके लिये कहा कि विशेष से उत्तर नहीं दिया क्योंकि शौनकजो कृष्ण स्वरूप के अनभिज्ञ थे। जब स्वरूप जाने तभी तो उनके जन्म का हेतु बताना चाहिये। यदि स्वरूप ज्ञानरहित के लिये जन्म का प्रयोजन कहा जाय तो बिना हेतु के जैसे फल व्यर्थ है उसी तरह फलवाक्य भी उसके लिये व्यर्थ है। अतः पहले तो स्वरूप कहा फिर वह स्वरूप समझ में आया या नहीं इसका निश्चय करके फिर श्रद्धा के अति-

शय से उसकी जानकारी प्राप्त की उसके बाद कुन्ती के वाक्य में उसे 'केचिदा हुरजंजातम्' इत्यादि से कहा। लीला पांच प्रकार की है इसे स्पष्ट करते हैं 'उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोगरक्षणे' अवतार के पूर्व स्वरूपस्थित भगवान् की लीला पांच प्रकार की है। १ उत्पादन २ प्रवेश ३ नानात्व ४ भोग और ५ रक्षण। अवतार ग्रहण करने के अनन्तर तो अनेक प्रकार की लीलाएं हैं उन्हें अग्रिमाध्याय में कहेंगे। बस इतना द्वितीयाध्याय का अर्थ है। इससे श्रोता तो मात्सर्य रहित है और वक्ता चतुर है यह सिद्ध होता है।

इति द्वितीयाध्यायः

अब तृतीयाध्याय के अर्थ को कहते हैं-

कारिका—**आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्वशरीरगः ॥५४॥**
**अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि।**
**ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः॥५५॥**
**वराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः।**
**दत्तव्यासादिरूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः॥५६॥**

मध्य में नारद आदि को आवेशावतार बताया इसलिये उसमें और आविर्भाव में कोई अन्तर होगा ऐसा नहीं है अर्थात् आविर्भाव और अवतार समान ही है जैसे महाराज अपने देश में घूमता हुआ अपने लिए बनाये हुए घरों में रहता है कभी अपने घर में भी रहता है अतः जब तक अपने लिये बनाये हुए घर में राजा रहता है तब तक वह घर भी राजगृह कहलाता है इसलिये अपने लिये निर्मित घर में रहने अथवा अपने घर में रहने में कोई अन्तर नहीं होता उसी तरह आवेश और अवतार में कोई अन्तर नहीं है। शरीर चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो उसमें निवास करने वाले निर्गुण कृष्ण ही है। स्पष्ट प्रतीति के लिये विभाग करते हुए अवतार में दो भेद बताते हैं। एक तो ज्ञानशक्ति से अवतार ग्रहण करते हैं और द्वितीय क्रियाशक्ति से। क्रियाशक्ति से ग्रहीत अवतार बाहरी दुःखों को दूर करता है और ज्ञानशक्ति से गृहीत अवतार आन्तर (अन्दर के) दुःखों के निवारणार्थ है। वराह-कूर्म-नसिंह आदि भगवान् के क्रिया स्थान हैं और दतात्रेय-व्यास कपिल आदि ये भगवान् के ज्ञानस्थान हैं। अर्थात् बलकार्य जब करना होता तो वराह-कूर्म नृसिंह रूप में अवतार लेते हैं और ज्ञानकार्य करना होता है तब दत्तात्रेय-व्यास-कपिल आदि रूपों में अवतार ग्रहण करते हैं।

अब अवतारों को साढे तीन श्लोकों से गिनाते हैं-

कारिका—**मत्स्यः कूर्मो वराहश्च सिंहवामनभार्गवाः।**
**मन्वन्तरावताराश्च व्यासबुद्धौ च राघवः॥५७॥**
**कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः।**
**नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च॥५८॥**

महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ।
तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ।।५६।।
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः ।

मत्स्य-कूर्म-वराह-नृसिंह-वामन-परशुराम-मन्वन्तरावतार-व्यास-बुद्ध-रामचन्द्र-कपिल-दत्ता-त्रेय-ऋषभ-शिशुमार-रुचिपुत्रस-हंस-मोहिनी-हयग्रीव वडवावक्त्र-कल्कि धन्वन्तरि इत्यादि केवल अवतार हैं और कृष्ण शुद्धसत्व से केवल अवतार हैं ।

इनमें जो अवतार भागवत में नहीं कहे हैं किन्तु पञ्चरात्र आदि आगमों में कहे हैं उन्हें भी यहां प्रकृतोपयोगी होने से गिनाया है ।।५७-५८-५६।।

अब साढे चार श्लोकों से जिनमें भगवान् का आवेश है उन आवेशियों का निरूपण करते हैं–

कारिका–श्री-ब्रह्म-रुद्र-शेषाश्च वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ।।६०।।
कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।।६१।।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।
कश्यपः सनकाद्याश्च वह्न्याद्याश्चैव देवताः ।।६२।।
भरतः कार्त्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्त्तिनः ।
गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ।।६३।।
प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।
नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।।६४।।

श्री.ब्रह्मा-रुद्र-शेष-गरुड-इन्द्र और काम कामपुत्र अनिरुद्ध-सूर्य-चन्द्र-बृहस्पति-धर्म तथा इनकी भार्या दक्ष आदि मनु-मनुपुत्र-ऋषिनारद-पर्वत-कश्यप-सनकादि-अग्नि आदि देवता-भरत कार्त्तवीर्य-पृथु आदि चक्रवर्ती राजागय-लक्ष्मणआदि तीन-बलभद्र प्रद्युम्न रुक्मिणीपुत्र तथा उसका पुत्र अनिरुद्ध-नर अर्जुन ये भगवान् के विशेष आवेश वाले हैं ।।६०-६१-६२-६३-६४।।

साधारण रूप से निरूपित कृष्ण की विशेषता को कहते हैं भगवान् कृष्ण ज्ञान और क्रिया इन दोनों से युक्त हैं ।

कारिका–ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।

ज्ञान और क्रिया इन दोनों से युक्त कृष्ण तो स्वयं भगवान् है ।

सामान्य प्रयोजनोक्ति से लेकर भागवत की उक्ति के पहले चार अर्थों का निरूपण किया था उसका प्रयोजन कहते हैं–

कारिका—माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ।।६५।।
नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः ।
विवृत्तिस्तस्य पूर्वैर्हि कृता येनादिमध्ययोः ।।६६।।
भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम् ।

उसमें माहात्म्य को बताया है और भागवत के सुनने का माहात्म्य बताया है । मुक्ति के स्वरूप की सिद्धि के लिए बन्ध का निर्णय किया है । भजन की सिद्धि के लिए भगवान् को नित्यता, दुर्ज्ञेयता कही गयी है ।

भगवान् की नित्यता और दुर्ज्ञेयता का विवरण रूप ही भागवत है । जो उत्तम हैं उनके लिए तो भागवत को सक्षेप से कहें तो भी भक्ति हो जायगी । किन्तु आदि और मध्यम को भक्ति नहीं होगी इसलिए विवरण है । तत्क्षेप का अर्थ है उसे हम कहेंगे यह प्रतिज्ञा है ।

गुह्यज्ञान वक्ता का तृतीयाधिकार है । उसमें भी आदर के सहित द्वितीयाधिकार है । यहां अध्याय की और प्रकरण की पूर्ति हो गई ।।६५।।६६।।

अब साढे तेरह कारिकाओं से द्वितीय प्रकरण के अर्थ को कहते हुए पांच कारिकाओं से इस प्रकरण का उपोद्धात है इसे सूत की उक्ति से समर्थित करते हैं । पूर्वपक्ष का कथन द्वितोय प्रकरण का हेतुभूत है अत. विरोधिता के अभाव के लिए हर्ष भी कहना चाहिये उसे कहते हैं—

कारिका—पूर्वं सम्भावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ।।६७।।
ग्रन्थोऽप्यस्तीति तच्छ्रुत्वा शौनको हर्षसंप्लुतः ।
स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां पाठाध्यापनयोरपि ।।६८।।
अयुक्तत्वात्तु सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः ।
श्रोतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ।।६९।।
स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि ।
अतस्तज्जन्मसम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसंगतः ।।७०।।
प्रश्नत्रयेऽथ सम्पन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।
उपोद्धातो हेतुरूपस्त्रयाणां रूपमेव च ।।७१।।
मध्यमोऽयमुपोद्धातः फलपर्यवसानतः ।

जब भगवान् कृष्ण स्वधाम पधार गये तब धर्म का रक्षक कौन रहा ऐसा प्रश्न शौनकजी ने सम्भावना मात्र से ही पूछा था परन्तु इसके लिए भागवत ग्रन्थ है ऐसा जब सुना तो उन्हें हर्ष हुआ जैसे जगत् के लोग अपनी रुचि के अनुसार किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं यदि उसका समर्थक शास्त्र मिल जाय तो उन्हें प्रसन्नता होती है अर्थात् यह मैंने किया तो रुचि के अनुसार था किन्तु यह तो शास्त्रसिद्ध है ऐसा ज्ञान हो जाने पर प्रसन्नता होती है ।

सर्वतः प्रथम तो 'सूत सूत महाभाग' इससे स्वरूपविषयकप्रश्न है एवं 'कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयम्' इससे भागवत की उत्पत्ति के विषय का प्रश्न है और 'केन सञ्चोदितः' इससे हेतु विषयक प्रश्न है इस तरह इन तीन प्रश्नों के अनन्तर फिर तीन प्रश्न हैं।

शुकदेवजी ने भागवत को कैसे पढा और व्यासजी ने उनको कैसे पढाया तथा परीक्षित् के प्रायोपवेश का क्या कारण था। परीक्षित् के विषय में जो पहले जाना था वह है या नहीं ऐसा सन्देह करके परीक्षित् के प्रश्न और कर्म के विषय का प्रश्न इस तरह ये चार प्रश्न हो जाते हैं।

शंका होती है कि भागवत को ही पूछना चाहिये ये अन्य प्रश्न तो अनुपयुक्त हैं। इस पर कहते हैं कि उत्पत्ति तथा प्रवृत्ति में जो युक्तिविरुद्ध होगा तो उसके सुनने पर स्वयं को भी वैसा फल नहीं होगा इसलिये प्रश्न है। यदि ऐसा मानलें कि जैसा फल होने का है वैसी कल्पना कर लीजिये इसके लिये कहते हैं कि यह अर्थ अलौकिक है अतः लौकिक की तरह अपनी इच्छा से इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

भागवत के श्रोता हैं राजा परीक्षित् उनने जब सर्वस्व का परित्याग कर दिया तब उन्हें अब भागवत सुनने की आवश्यकता क्यों रही। क्योंकि वे तो स्वयं ही उत्तम है और उनके ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह है। श्रोता परीक्षित् तो आत्मा को ही फलरूप मानते हैं और उस फल में बाधक हैं विषय, उनका तो उन्होंने पहले ही परित्याग कर दिया वे यह समझते थे कि सब शास्त्रों का कथन यही है कि विषय आत्मज्ञानरूप फल में बाधक हैं। इसी तरह वक्ता श्री शुकदेवजी जो स्वतः ही विषयों से निवृत हैं उनको भागवत के पठन की क्या आवश्यकता है और भागवत के वर्णन को तो सर्वथा ही आवश्यकता नहीं थी यदि कहें कि भागवत के उपदेश करने से उनमें उत्कर्ष होगा वह भी नहीं है शुकदेवजी तो स्वयं ही उत्तम हैं। वे तो जन्मान्तर में भी सर्वोत्तम पूर्णज्ञान थे अतएव उन्हें अपने यज्ञोपवीत संस्कार की भी आवश्यकता नहीं थी। वैसे वक्ता के लिये भागवत से क्या होगा। भगवान् का अनुग्रह भी उनके लिये स्वतः था अर्थात् श्रोता और वक्ता दोनों ही उत्तम कोटि के और भगवदनुग्रह प्राप्त थे।

परीक्षित् के ऊपर भगवान् की कृपा थी इसे स्पष्ट करने के लिये उसके जन्म के विषय में प्रश्न किया। भक्तों के ऊपर तो भगवत्कृपा है यह प्रसिद्ध है।

मुख्य रूप से तो भागवत के विषय में स्वरूप-उत्पत्ति और हेतु ये तीन प्रश्न है अन्य प्रश्न तो उसके जान लेने पर ही जान लिये जायेंगे। अतः तीन ही प्रश्न सिद्ध है।

प्रथम प्रश्न का उत्तर द्वितीय स्कन्ध में होगा। यहां तो 'कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयम्' इसका तथा 'कुतः सञ्चोदित.' इनका उत्तर कहा जाता है। उसमें भी तीसरे का निरूपण अभी किया जायेगा प्रवृत्ति का प्रकरण आगे कहेंगे। इससे एक-एक उत्तर एक एक प्रकरण को ग्रहण करता है।

किसकी प्रेरणा से इसका उत्तर है नारदजी की प्रेरणा से उनने प्रेरणा क्यों की इसका निरूपण एक अध्याय से है। उसके अनन्तर युक्ति उसके बाद प्रेरणा हेतु रूप को उपोद्घात रूप से वर्णन करते हैं। इसलिये हेतु का भी विचार करना है। नारद के बोधन में कौनसा प्रसङ्ग है उसका क्या प्रयोजन है और नारद कौन है इन तीन का स्वरूप कहना चाहिये। शंका करते हैं कि भागवत

में इसका उपयोग परम्परा से होता है अतः यह प्रथमाधिकार ही क्यों नहीं है । उसका उत्तर देते हैं कि यह मध्यमाधिकार का उपोद्घात है ।

इस तरह पांच कारिकाओं से मध्यम प्रकरण के उपोद्घात का समर्थन किया अब डेढ कारिकाओं से अध्यायार्थों को कहते हुए मध्यम प्रकरण के प्रथमाध्याय को यह प्रेरणा का हेतु है इसका उपपादन करते हैं और नारदजी के कथन का प्रसङ्ग बताते हैं ।।६७-६८-६९-७०-७१।।

कारिका—यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ।।७२।।
कलौ फलं तदुक्ते किमित्यनिर्वृतिवर्णनम् ।
उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ।।७३।।

यह चतुर्थ अध्याय प्रश्नाध्याय है और यह मध्यम प्रकरण का अङ्ग है । प्रकरण के आदि में प्रश्न का होना अध्याय के अर्थ का बाधक नहीं है ।

नारदजी के वचन से व्यासजी को पूर्ण विश्वास हो गया कि जो नारदजी ने कहा वह सब मैंने किया फल में तो विपरीतता हुई है । क्या कलियुग में जैसा नारदजी ने कहा उससे फल होता है इसलिये व्यासजी के असंतोष का वर्णन है । उत्तर और कृति ये पञ्चमाध्याय का अर्थ है । साधन सहित नारद का फल छठे अध्याय में हैं । ७२-७३।।

शंका करते हैं कि ऐसा होने पर मध्यम प्रकरण में श्रोता और वक्ता का कौनसा अधिकार सिद्ध हुआ ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं ।

कारिका—तदीयत्वं च तत्त्वं च मध्यमोत्तमयोः फले ।
सत्सङ्गो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ।।७४।।
उक्तस्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि ।
'शब्दब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ।।७५।।
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।
श्रोतुः फलं नावताराद‌वतारफलं फलम् ।।७६।।
तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे ।

मध्यमाधिकार में भगवदीय होना फल हैं और उत्तमाधिकार में तत्व ज्ञान फल है । व्यास जी को जब असन्तोष हुआ तो भगवत्कृपारूप हेतु से व्यासजी में भगवदीयता हुई । व्यास भगवदीय थे यह दूसरे अध्याय में बताया है । उत्तम प्रकरण का फल तो तत्त्व है । शुकदेवजी भगवान् है और राजा परीक्षित् भी वैसे ही हो गये । भगवदीयता दो प्रकार की है । सर्वप्रथम जब भगवान् अपने लिये कुछ करते हैं तो वहां भगवदीय के लिये साधन की अपेक्षा नहीं रहती । जब भगवान् अपने लिये नहीं करते हैं तो साधन के द्वारा भगवदीय होता है । वह भगवदीयता कैसे होती है उसके लिये नारदजी अपना वृतान्त क्रम से कहते हैं । नारदजी कहते है कि सर्वतः प्रथम तो मुझे साधन रूप में सत्संग प्राप्त हुआ उससे मुझे जीव के स्वरूप का और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान

हुआ । तदनन्तर भगवान् का अनुभव हुआ । अनुभव तो सिद्ध है इसके लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं है । अपने अनुभव में अनुभावनामात्र का अनुभव होना मिथ्या है । अपने में भगवदीयता सिद्ध होने पर जैसे नारदजी को पीछे अनुभव हुआ कि मैं नारद हूं । उसके लिए साधन आवश्यक है । कर्मों का समर्पण भगवान् में किया । समाधि में भगवान् का अनुभव हुआ फिर भगवान् के वचन से ही उनको ज्ञान हुआ इन्हीं सब का अनुभव पर्यन्त का नारदजी ने वर्णन किया ।

शंका होती है कि जब ऐसी बात है तो ज्ञान-विज्ञान के उपदेश में फल तो स्वतः ही हो जायगा फिर छठे अध्याय की क्या आवश्यकता है इस आशंका पर कहते हैं कि जो शब्दब्रह्म (वेद) का ज्ञाता होते हुए भी जिसे परब्रह्म का ज्ञान नहीं है उसका श्रम निष्फल है । इसके लिये फलाध्याय का निरूपण है ।

शंका होती है कि व्यासजी तो भगवान् के ज्ञानांश के अवतार हैं तो उनमें तो भगवदीयता स्वतः ही है । तो फिर श्रवण से उनमें भगवदीयता कैसे है उसका उत्तर यह है कि व्यासजी में भगवदीयता तो अवतार मात्र से हो गई किन्तु श्रोता होने का फल तो उन्हें श्रवण के अनन्तर ही मिला । और अवतार का फल भी तभी हुआ ।

शंका करते हैं कि भगवदीयत्व की सिद्धि के लिये भागवत का निर्माण यहीं मध्यम प्रकरण में कहना चाहिये इसके लिये कहते हैं कि भागवत का निर्माण तो उत्तमाधिकारी के लिये है भगवदीयता होना तो उसका आनुषाङ्गिक (प्रासङ्गिक) फल है वह तो हो ही जायगा । इसलिये भागवत का निरूपण मध्यम प्रकरण में नहीं किया ।।७४-७५-७६।।

जब प्रासङ्गिक फल भगवदीयता की भी सिद्धि नहीं होगी तो फिर मध्यमता कैसे सिद्ध होगी उसके लिये कहते हैं—

कारिका—प्रतिबन्धनिवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा ।।७७।।
रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम् ।
दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद् भयाभावाच्च संसृतेः ।।७८।।
फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम् ।

व्यासजी में अन्यासक्ति प्रतिबन्धिका थी नारदजी के कथन से उस प्रतिबन्ध की जब निवृत्ति हुई तब व्यासजी ने नारदजी का पूजनरूप साधन किया । और नारदजी ने पूजन किया साधुओं का । इस तरह व्यासजी में तो आग्रह का अभाव था और नारदजी में राग का अभाव था ।

इस तरह तीन बातों से व्यासजी एवं नारदजी में भगवदीयता थी । व्यासजी ने यह समझ लिया कि भगवान् जैसा चाहते हैं वैसा मैंने नहीं किया इसका खेद, दूसरा कार्य उन्होंने वक्ता (नारदजी) की पूजा की तीसरा आग्रह का परित्याग किया इन तीन से तो श्रोता (व्यासजी) में भगवदीयता हुई ।

और वक्ता नारदजी में तीन कारणों से भगवदीयता हुई वे तीन हैं-भगवदीयों के साथ मित्रता, साधुओं की पूजा और कुटुम्बजोमाता आदि में अनुराग का अभाव इनसे वक्ता नारद में

भगवदीयता सिद्ध हुई थी।

कृष्णवाक्य अर्थात् आकाशवाणी के द्वारा नारदजी को मध्यम फल हुआ। शंका हो सकती है कि नारदजी को जब पुनर्जन्म की सम्भावना थी तो उनमें निकृष्टता क्यों नहीं हुई मध्यमता क्यों हुई उसका उत्तर यह है कि उनमें संसारकृत दुःख का अभाव था तथा परतन्त्रता नहीं थी विषयादिक से भय भी नहीं था इसलिये उनमें नारदता (ज्ञानदेना) फल हुआ और सर्वदा भगवान् की स्फूर्ति होना यह अवान्तर फल भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥७७ ७८॥

आशंका करते हैं कि मध्यमता की सिद्धि के लिये जैसे नारदजी ने साधन किये उस तरह व्यासजी के लिये साधन क्यों नहीं कहे इसके लिये कहते हैं—

कारिका—नात्मवत्करणं युक्तं बोधनं प्रीणनाद्धरेः ॥७९॥
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै।
सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम् ॥८०॥

नारदजी को जैसे सन्यासियों ने ज्ञान दिया था उस तरह ज्ञान देने वाले की भी व्यासजी के लिये आवश्यकता न थी और न निर्लज्जतापूर्वक भगवन्नामोच्चारण नारदजी ने किया वैसा करने की, कारण कि व्यासजी के ऊपर तो भगवान् की स्वतः प्रीति थी प्रीति प्राप्ति के लिये साधनों की आवश्यकता नहीं थी।

शंका करते हैं कि जैसे सूतजी ने परम्परा से भागवत को प्राप्त करके शौनकजी से कहा था उसी तरह नारदजी ने ऐसा क्यों नहीं कहा कि मैंने ब्रह्माजी से भागवत पढ़ा है उसे मैं तुम्हें कहता हूं परम्परा नहीं बताने का कारण यह था कि लोक में परम्परा प्रचलित थी नहीं इसलिये नारदजी के कहने पर भी व्यासजी को विश्वास नहीं होता। इसलिये नारदजी ने कह दिया कि 'समाधिना-ऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्' समाधि द्वारा भगवान् का अनुस्मरण करो। ऐसा सामान्य वचन नारदजी का इसलिये था कि समाधि में इन्हें मेरी बात सच्ची प्रतीत हो जायेगी। परम्परा कथन की आवश्यकता नहीं है। जब व्यासजी ने 'अहो देवर्षिर्धन्यः' ऐसी स्तुति की तो सब को समझ में आ गया कि नारदजी की बात इनके समझ में आ गई है इसी स्तुति से ही मध्यम प्रकरण की पूर्ति की ।.७९-८०॥

तृतीय प्रकरण में पहले शौनक के प्रश्न में प्रयोजन बताते हैं—

कारिका—उपोद्धातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः।
वक्तुश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत् ॥८१॥
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः।
श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासान्न रागिणः ॥८२॥
फलेसिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः।
अत एवैस्यविज्ञानादात्मज्ञापनसूचनम् ॥८३॥

इस तृतीय प्रकरण का द्वितीय प्रकरण हेतुभूत है। यह भागवत की उत्पत्ति का साधन है परन्तु वह साधन तभी हो सकता है जबकि नारदजी गये उसके अनन्तर ही वो भागवत को करते अन्यथा कालान्तर में करने पर पूर्वोक्त हेतु नहीं हो सकता। इसलिये यह उपोद्घात है उसके अर्थ का विचार रूप है अतः ग्रन्थ के स्वरूप मात्र की निष्पत्ति के लिये पहले एक प्रश्न किया। तदनन्तर ग्रन्थ को उत्पत्ति के कहने पर वक्ता शुकदेवजी के विषय में दूसरा प्रश्न है वह प्रश्न तो पहले की तरह अनुवाद रूप है। यह आवश्यक है अतः उसका पुनः स्मरण कराया। मुक्ति रूप फल शुकदेवजी मे सिद्ध था इसलिये वे शुकदेवजी उत्तम वक्ता सिद्ध हुए। इस तरह प्रश्न का अभिप्राय कह कर उसके उत्तर में 'अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा' इसमें युक्ति का बाधन हो इसके लिये साधिका उपपत्ति (युक्ति) के लिये भागवत में भगवान् को माहात्म्य और निःसन्देहता के लिये सर्ववस्तुनिर्धार का कथन है। इसलिये भागवत के सुनने मात्र से ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न हो जाती है।

शंका करते हैं कि तब आजकल के लोगों में भागवत के सुनने पर भक्ति उत्पन्न क्यों नहीं होती? उसका कारण है अविश्वास अतः भागवत में वर्णित बात पर पूर्ण विश्वास होगा तब ही भगवान् में भक्ति उत्पन्न होगी अन्यथा नहीं। व्यासजी के द्वारा कहे हुए भागवत से उत्पन्न होता हुआ भी बोध उसके रोकने वाले राग के कारण नही होता है। इसलिये रागरहित जीवन्मुक्त श्री शुकदेवजी को व्यासजी ने भागवत पढाया। 'शुकमध्यापयामास' अब भक्तिसहित भागवत ग्रन्थ के फल का निर्धारण करने के लिये सूत शौनक का संवाद है।

यद्यपि भागवत का फल मुक्ति है तथापि फल की अपेक्षा भी साधन भागवत ही फलरूप है, इसका अनुभव रागरहित को ही होता है अन्य को नही यह सूत के वचन से निर्धारित है। इस सब का तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्ति में हैं उनमें भी जिस तरह भक्ति हो उसके लिये भागवत का आरम्भ किया है। जो विषयी हैं वे तो विषय के उत्कर्ष में ही प्रवृत्त होते हैं। उत्तम विषय के लिये हीन विषय को छोड़ देते हैं। इसलिये भागवत को मोक्ष का साधन न बताकर मुक्ति की कल्पना को भी दूर करके मुक्त के लिये भी प्रवृत्ति बताते हैं। अतः व्यासजी ने भागवत को प्रवृत्ति परक किया। जिससे लोग विषय के सौन्दर्य से ही इसमें प्रवृत होते हैं और ऐसी कृति को आत्मज्ञापन रूप सूचित किया है।

शंका होती हे कि विषय के सौन्दर्य से लोग प्रवृत्त होंगे इसमें क्या प्रमाण है मूर्ख लोग उत्कृष्ट विषय में भी प्रवृत्त नहीं होते हैं इसका उत्तर देते हैं कि व्यासजी को कृति से ही आगे की बात का ज्ञान था उसे भी यहां सूचित किया। नारदजी के कथन का पालन तभी तो होगा। इस तरह नारदजी के वाक्य से सफल भागवत का प्रणयन व्यासजो ने किया यह अर्थ फलित हुआ ।।८१-८२ ८३।।

इस तरह सप्तम अध्याय के ग्यारह श्लोकों का अर्थ कहा अब आगे श्री शुकदेवजो ने परीक्षित् को भागवत सुनायी इस तरह भागवत के प्रचार को कहने के लिये परीक्षित् के जन्म आदि भी कहने चाहिये वह जन्म की कथा तो बारहवें अध्याय में कहेंगे उसके बीच में अश्वत्थामा को जीतना, कुन्ती की स्तुति, भीष्म-मुक्ति, भगवान् का निर्याण और द्वार का प्रवेश ये पांच अङ्ग कहे हैं। ये पांच अङ्ग श्रोता परीक्षित् के जन्म के अङ्ग कैसे हैं इस संदेह को दूर करने के लिये जो

किन्हीं ने कहा है उसी मत का कारिका में अनुवाद करके दूषित करते हैं-

कारिका—स्वपरप्रतिबन्धोन स्फीतं राज्यं जहौ नृपः।
इति वैराग्यदार्ढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रौणिजयादयः ॥८४॥
इति केचिदिह प्राहुः . . . .

अन्य निबन्धकारों का मत यह है कि परीक्षित् की उत्पत्ति तो बारहवें अध्याय में बताई है किन्तु उसके बीच में जो पञ्चाध्यायी है वह वैराग्य का अङ्ग है। स्व से युधिष्ठिर आदि और पर से भीष्म आदि ये यदि परीक्षित् ने जब प्रायोपवेश किया उस समय तक रहते तो राजा परीक्षित् को राज्य आदि प्राप्त होते ही नहीं अत: उसके वैराग्य का कोई महत्व सिद्ध नहीं होता। परन्तु भगवान् की कृपा से उसको स्फीतत्व स्वत्व और परत्व भी प्राप्त हो गया ऐसे समय में उसने राज्य का परित्याग किया इसलिए उसके वैराग्य की दृढता के लिए अश्वत्थामा का विजय आदि पांच अध्याय पहले कहे। किन्तु ऐसा कथन आचार्यचरण को अभिमत नहीं है अतः आप लिखते हैं-

कारिका—. . . . . . . नैतत्साधुतरं वचः।
द्रौणिजये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता ॥८५॥
न च कृष्णकथा युक्ता स्तुतिर्मोहकथापि वा।
प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा ॥८६॥

इस तरह पञ्चाध्यायी को वैराग्य का अंग बताना ठीक नहीं है। अश्वत्थामा के विजय से वैराग्य का क्या सम्बन्ध है? राज्यदाता युधिष्ठिर भी वैराग्य में प्रतिबन्धक नहीं है। भगवत्कथा का भी उसमें कोई उपयोग नहीं है। भगवान् को कृपा तो त्याग में प्रतिबन्धक है। कुन्तीस्तुति तथा मोहकथा भी वैराग्य में प्रतिबन्धक नहीं है अत: जन्माध्याय को छोड़कर सप्तम से लेकर पन्द्रह अध्याय तक को आठ अध्याय की कथा व्यर्थ हो जाएगी ॥८५-८६॥

इस तरह परमत को दूषित कर स्वमत में इन अध्यायों की पूर्वोत्तराङ्गता है इस अभिप्राय से कहते हैं-

कारिका—पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः।
सर्वत्यागे सतां सङ्गे विश्वासः सर्वथा भवेत् ॥८७॥
इति तस्याधिकारित्वसिद्धयै पाण्डववर्णनम्।
अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम् ॥८८॥

सात से लेकर ग्यारह तक के पांच अध्याय पञ्चाग्निन्याय से परीक्षित् की उत्पत्ति में शुद्धि के कारण भूत है। उत्पन्न होने पर उसकी मुक्ति में किसी तरह की रुकावट न हो इसके लिए अध्याय है। एक अध्याय तो पिता की मुक्ति को बताता है। क्योंकि जब तक पिता की मुक्ति नहीं होती तब तक पुत्र की मुक्ति नहीं हो सकती। उसके अनन्तर दो अध्याय परीक्षित् की मुक्ति में काल बाधक नहीं है इसको बताने वाले है। तदनन्तर अद्भुतकर्मा भगवान् ब्राह्मणपुत्र के द्वारा

शाप दिलाने की कृपा और उसके अनन्तर श्रोतापन इस तरह तीन पुरुष (पीढी) की शुद्धि के लिए अध्याय हैं। इन पांच अध्यायों से तीन पुरुष (पीढी) की शुद्धि होती है उसे बहुत शीघ्र ही कहेंगे। जन्माध्याय (बारहवां) का अर्थ है जन्म समय में स्वत: तथा काल के द्वारा भगवान की कृपा। आगे के पांच अध्यायों में सर्वत्याग की सिद्धि होना अर्थ है। तदनन्तर दो अध्यायों के द्वारा सत्सङ्ग का वर्णन, तब भागवत में विश्वास, भागवत श्रवण का अङ्ग विश्वास ही है।

विश्वास के तीन अङ्ग है १ सज्जनों का सङ्ग, २ सर्वत्याग ३ परमशुद्धि। शुद्धि में छ: अङ्ग है। उनमें मुख्य तो भगवान की कृपा। शरीर का कारण है बीज (रज: शुक्र) उसकी अशुद्धि पांच प्रकार से होती है १ दुष्ट परम्परा से वह दुष्ट परम्परा पुरुष के द्वारा अथवा स्त्री के द्वारा दो ये हुए। इसके लिये सातवें अध्याय में अर्जुन के ऊपर परम कृपा का निरूपण है। आठवें अध्याय में कुन्ती पर भगवत्कृपा। इसके अनन्तर पोषण करने वाले के अन्न की शुद्धि के लिए भीष्मजी का उपदेश। जीव को सत्ता में अन्नदोष अवश्य आता है। इसलिए ज्ञानियों की ही शुद्धि होती है। भीष्मजी की मुक्ति से ज्ञान की शुद्धि है यह तीसरा अङ्ग है। बीज सम्बन्धी सभी साधारण भगवत्परक थे यह चौथी शुद्धि है। वह शुद्धि भगवान् के निर्गम (स्वधाम पधारने पर) होती है अत: उसे कहा। भगवान् के निर्गम (स्वधाम पधारने पर) विरहात्मताप होता है उस ताप से शुद्धि होती है अथवा निर्गम के कारण अत्यन्त भक्ति का प्रादुर्भाव होता है उससे शुद्धि होती है। तदनन्तर आगन्तुक दोषों के अभाव के लिए भगवान् के कार्य की समाप्ति का वर्णन है। इसलिए आचार्य चरण कहते है कि हमारे मत में श्रोता का अधिकार तेरह अध्यायों से सम्पन्न होता है अन्यों के मत में नहीं। इसीलिए शौनकजी के नहीं पूछने पर भी 'संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम' ऐसी सूत की प्रतिज्ञा उचित होती है। 'च' से उन पर भगवत्कृपा का ग्रहण है शुद्धि ही भगवान् की कथा के उदय में कारण है इस बात को बताने के लिए 'कृष्ण कथोदयम्' ऐसा कहा। इसलिए मूल में ही यह अर्थ सूचित कर दिया था अत: हमारे (आचार्य चरणों के) मत में कोई दूषण नहीं है ॥८७-८८॥

शंका होती है कि ऐसा क्या आग्रह है कि परीक्षित् को ही श्रोता बता रहे हैं। जो स्वत: शुद्ध सनकादि विद्यमान है उनको तो कोई चर्चा ही नहीं है इस पर कहते हैं—

कारिका—**विद्यमाने समुद्धारस्तत्रत्यानां स्वयं कृतः।**
**स्वाभावे तु कथैव स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ॥८९॥**
**ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम्।**
**तद्वंशे व्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्य हि ॥९०॥**

यहां केवल अधिकारमात्र का निरूपण करना ही प्रयोजन नहीं है किन्तु भागवत से ही सब का उद्धार होता है इसका प्रतिपादन करना भी प्रयोजन है। अत: सनकादिकों को श्रोता न बताकर राजा परीक्षित को श्रोता बताया है। अवतार रूप से भूमण्डल पर जब तक भगवान् कृष्ण रहे तब तक उनने अपने रूप से ही सबों का उद्धार किया सबको मुक्त किया तदनन्तर मुक्त करने वाला एक भागवत ही है और कोई उपाय नहीं है। इसको बताने के लिए भगवान् के स्वधाम पधारने के अनन्तर ही परीक्षित् उत्पन्न हुआ था। और वह भागवत से ही मुक्त हुआ था ऐसा

निरूपण है तो फिर शुद्धि को ही कहना चाहिए पाण्डवों का और भगवान् का वर्णन क्यों किया इसका उत्तर यह है पाण्डवों के ऐहिक सब काम भगवान् की कृपा से ही हुए। उन्हीं के वंश में राजा परीक्षित् जन्मे थे इसलिए उनकी श्रद्धा भागवत में हुई ॥८९-९०॥

जब ऐसा है तो सम्पूर्ण भागवत को भगवत्परक रूप से ही कहना चाहिए इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते ।
तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा ॥९१॥
अनन्यशरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः ।
पुत्रमारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटा ॥९२॥

यद्यपि अश्वत्थामा को जीतने में पाण्डवों के सामर्थ्य की प्रतीति होती है किन्तु वस्तुतः उस विजय में भगवान् कृष्ण का प्रभाव ही है भगवान् कृष्ण के अनुभाव से हो पाण्डव की विजय है। अतः सौषुप्तिक कथा से लेकर स्वर्गारोहण पर्यन्त की महाभारत की कथा कृष्णपरक ही वर्णित है।

पाण्डवों की कथा के वर्णन का अभिप्राय तो यह है कि पाण्डवों के रक्षक केवल भगवान् कृष्ण ही थे उन पाण्डवों में अपनी रक्षा का सामर्थ्य नहीं था इसका वर्णन पुत्र के मारण से आरंभ कर मुक्तिपर्यन्त से स्पष्ट किया है ॥९१-९२॥

शंका होती है कि पाण्डवों के लिए मोक्ष का उपयोग कहां होगा इस पर कहते हैं—

कारिका—तेषाममुक्तौ भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेतत्कचित् ।
पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्णबान्धवात् ॥९३॥
चन्द्रांशत्वाद्देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते ।

जो मुक्त नहीं होते हैं उनके लिए भोग आवश्यक है। तो फिर अभिमन्यु मुक्त नहीं हुआ था अतः उससे मुक्ति में प्रतिबन्ध होगा इस आशंका का उत्तर देते हैं कि अभिमन्यु पिता के सामने युद्ध में मरा था युद्ध में सामने मरने पर उसकी मुक्ति होती है ऐसा स्मृति में कहा है 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' और दूसरी बात यह थी कि वह भगवान् कृष्ण का कुटुम्बी मानता था तो उसकी मुक्ति क्यों न हो। उस अभिमन्यु में चन्द्रवंश में उत्पन्न होने से एक अंश चन्द्र का था अतः वह तो पीछा देवभाव को प्राप्त हो गया। वह आध्यात्मिक रूप था और भगवत्सम्बन्धी होने से आधिदैविकरूप था। इस तरह आधिभौतिक-आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों ही उस अभिमन्यु की मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं हुए ॥९३-९३½॥

अब यहां से आगे अध्यायार्थों के विभाग के लिए सातवें-आठवें और नवमे अध्याय के अर्थ का निरूपण डेढ कारिका से करते हैं।

कारिका–पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्नाभिन्नविभेदतः ॥९४॥
अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विधा ज्ञानं द्विधा पुनः ।
ब्रह्मजीवविभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्यति ॥९५॥

पाण्डवों को दो प्रकार से दुःख हुआ, शरीर के द्वारा और पुत्र के द्वारा । उसमें भिन्न जो पुत्रादि दुःख है वह तो एक प्रकार का है और अभिन्न दुःख दो प्रकार का है एक तो अज्ञान के कारण और दूसरा शत्रु के कारण से । अज्ञान भी दो प्रकार का है एक तो जीव विषयक और दूसरा ब्रह्मविषयक इस तरह अभिन्न के तीन प्रकार होते हैं । भिन्न दुःख भी अभिन्न दुःख के चले जाने पर चला जाता है ॥९४–९५॥

कारिका–अतोऽध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्टपूरणात् ।
दुःखहानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ॥९६॥
दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा ।
अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्तिवारिका ॥९७॥

पाण्डवों के दुःख को दूर करने के लिए ये सप्तम-अष्टम-नवम तीन अध्याय हैं । उसमें प्रथम (सप्तम) अध्याय का अर्थ है स्वेष्टपूर्ति दुःख की हानि भगवान् हरि से ही होती हैं अतएव भगवान् की स्तुति हैं । शत्रु को जीत लेने पर पर के द्वारा होने वाला दुःख दूर हो जाता है । भगवान् ही इष्ट की पूर्ति कर सकते हैं अतः भगवान् की स्तुति है । सब दुःखों के दूर करने में भगवान् ही कारण है अतः उनकी स्तुति है । इसलिये तीनों ही अध्यायों में भगवान् की स्तुति कही । तदर्थं का अर्थ है सर्वत्र अर्थात् दुःख में, सुख में तथा मुक्ति में सर्वत्र भगवान् की स्तुति है । दुःख जब आया तो अर्जुन ने स्तुति की और इष्टसिद्धि होने पर कुन्ती ने स्तुति की और मुक्ति के लिये भीष्मजी ने स्तुति की । अतः दूसरे (आठवें) अध्याय में ब्रह्मविषवक अज्ञान की निवृत्ति कही । जीव विषयक अज्ञान की निवृत्ति तो तीसरे (नवमें) अध्याय का अर्थ है । इसलिए अन्त में मुक्ति कही । शंका होती है कि जब अर्जुन आदि भगवदीय थे तो उनके दुःख की निवृत्ति तो भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से करते ही फिर स्तुति की आवश्यकता क्या है । इसके लिये कहते हैं 'अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता' ये स्तुति तो उनके अधिकार की सिद्धि के लिये है स्तुति के द्वारा ही उन उनकी आसक्ति हटती है । आधिदैविक प्रेरण की निवृत्ति भगवान् करते हैं इसके लिये स्तुति है ॥९६-९७॥

जब युधिष्ठिर विद्यमान हैं तो अर्जुन ने पहले स्तुति क्यों की इस आशंका पर कहते हैं–

कारिका–अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकटयतो वरा ।
सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः ॥९८॥
सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा ।
सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः ॥९९॥
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका ।

पाण्डवों में नरांश के कारण अर्जुन मुख्य था। और पृथा कुन्ती भगवान् के पिता की बहिन होने से भगवत्सम्बन्ध के कारण उत्कृष्ट थी। भीष्मजी सबमें बड़े थे इसलिए उनमें लौकिक उत्कर्ष था। इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ तो अर्जुन हैं द्वितीय कुन्ती और तृतीय भीष्मजी हैं। स्तुति पाक्षिक नहीं है वह तो आवश्यक है। यदि शंका हो कि भगवदीयों में भगवान् को स्तुति से विशेषता क्या होगी इसका उत्तर देते हैं कि स्तुति से भगवान् अति आसक्ति से रक्षा करते हैं बिना स्तुति के रक्षा तो करते हो हैं किन्तु आसक्ति की निवृत्ति नहीं करते। यदि भगवान् ऐसा करते हैं तो फिर सामान्य व्यक्ति में और भगवान् में विशेषता क्या है? इस आशंका का उत्तर यह है कि आसक्ति से उनकी रक्षा करने से भजन में उत्साह बढता है। जिससे अन्य लोगों में भी भजन की सिद्धि होती है ।९८ ९९॥

द्रौपदी भगवान् की भक्त थी तो पुत्रों के मरने पर वह रोयी क्यों? इस आशंका पर कहते हैं–

कारिका–सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम् ॥१००॥
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम्।
भक्तेष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित् ॥१०१॥
समर्थत्वात् प्रेमसिद्धयै दैत्यांशत्वात्तथा वचः।
भीष्मस्यासन्यावतारात् सहजद्वेषभावतः ॥१०२॥
संहारशक्तेर्द्रौपद्या उभयोः समता हरेः।
उभयात्मकत्वकथनं सर्वप्रियहिताय हि ॥१०३॥
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वान्न चान्यथा।
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्तमारणात् ॥१०४॥

द्रौपदी यद्यपि भगवद् भक्त थी परन्तु पुत्रों के मरने पर उसे रोना इसलिये आया कि ये मेरे पुत्र युद्ध किये बिना ही ब्राह्मण के द्वारा मारे गये हैं इसलिये ये नरक में जाएंगे 'ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवम्' जो ब्राह्मण के हाथ से मरता है वह निश्चित रूप से नरकगामी होता है उस पर भी यदि बिना युद्ध के मरता है वह तो निश्चित ही नारकी होता है। कर्मफल का अतिक्रमण तो भगवान् की अतिकृपा हो तो हो सकता है इसलिये भगवान् की कृपा को उत्पन्न करने के लिये द्रौपदी रोयी। अर्जुन का द्रौपदी के लिये सान्त्वना देना भी अनुचित है इसका उत्तर यह है कि द्रौपदी उसकी प्रिया थी इसलिए वह सान्त्वना झूठी थी क्योंकि कहा है 'स्त्रीषु नर्मः विवाहे च न नृतं स्याज्जुगुप्सितम्' स्त्रियों के सामने असत्य बोलना निन्दित नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को इसलिये नहीं रोका कि भगवान् भक्तों का प्रिय करते हैं अर्थात् भगवान् यदि अर्जुन को रोक देते कि तुम्हें अश्वत्थामा को मारने के लिये नहीं जाना चाहिये तो द्रौपदी का शोक शांत न होता और अर्जुन को भी अच्छा न लगता इसलिए नहीं रोका। इससे यह बात सूचित होती है कि भगवान् के भक्तों को शास्त्र के द्वारा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान करके कर्त्तव्य करना चाहिये। इसीलिये ब्राह्मण के वध में दोष जानते हुए भी भगवान् ने अर्जुन को नहीं रोका। यदि

ऐसा न होता तो संसार के अनर्थ रूप होने से भगवान् सबके भजनीय नहीं होते ।

शंका करते हैं कि भगवान् को भगवदीय को दोष से रोकना चाहिये सो उसे क्यों नहीं रोका ? इस आशंका का समाधान यह है कि भगवान् रक्षा करने में समर्थ हैं अतः यदि अनर्थ हो भी गया तो भगवान् बचा लेंगे । इसलिये रोका नहीं । अनर्थ में प्रेम सिद्ध होता है तथापि अर्जुन ऐसा क्यों बोला कि मैं अश्वत्थामा को मारूंगा । अश्वत्थामा दैत्यांश था अतएव उसके लिये अर्जुन ने ऐसा कहा अथवा भगवान् ने जो यह कहा कि इस अश्वत्थामा को मार डालो ऐसा वचन अश्वत्थामा के दैत्यांश होने के कारण था । अश्वत्थामा के मारने में वेद विरोध नहीं है इसलिये भीम का भी उसके वध के लिये है उद्यम था इसका निरूपण है भीम आसन्य प्राण का अवतार होने से वेदात्मा है अतः प्रमाण रूप भीम के और प्रमेयरूप भगवान् के अभिप्राय को न करने से व्यसन (आपत्ति) हुआ । युद्धशास्त्र को जानने के कारण अर्जुन लौकिक था और स्त्री होने से द्रौपदी लौकिक थी इसलिए लोक से तथा वेद से भी अश्वात्थामा का मरण नहीं हुआ वेद में लिखा है 'तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यात्' इसलिये अर्जुन ने और द्रौपदी ने अश्वत्थामा को मुक्त कर दिया । यद्यपि अर्जुन ने तो वेद का ज्ञान होने से उसे छोड़ा परन्तु द्रौपदी ने उसे कैसे छोड़ दिया ? द्रौपदी संहार शक्ति थी अतः वह जानती थी कि दैत्य संहार शक्ति के अनुगुण है । इसलिये द्रौपदी ने उसे मुक्त कर दिया । भगवान् तो सर्वात्मा है अतः वे तो सबके लिये समान हैं । भगवान् जानते हैं कि भले ही अश्वत्थामा मुक्त हो जाय भक्त (परीक्षित्) की रक्षा तो मैं और प्रकार से भी कर सकता हूँ करूंगा । यह सप्तमाध्याय का अर्थ उचित हो है । अश्वत्थामा के सिर को मूंड देना चाहिये ऐसी भगवान् की इच्छा का ज्ञान अर्जुन को आवेशावतार होने से हो गया । इसलिये पूर्व से विरोध नहीं हुआ । यह सब कार्य भगवान् ने ही अर्जुन में आविष्ट होकर किया । अन्यथा द्रौपदी तो संहार शक्ति थी वह भीम आदि का भी संहार कर देती । ऐसा उपाख्यान भी कहीं रत्नयक्षोपाख्यान में प्रसिद्ध है । जब द्रौपदी का क्रोधावेश चला गया तब वह विलाप करने लगी चला गया तब वह विलाप करने लगी जैसे मैं अपने पुत्रों के लिये विलाप कर रही हूं वैसे ही पति ही जिसके देवता है ऐसी गौतमी अश्वत्थामा की मां विलाप न करे ।।१००-१०१-१०२-१०३-१०४।।

भगवान् ने अश्वात्थामा की ये ऐसी बुद्धि क्यों उत्पन्न की इस आशंका पर कहते हैं—

कारिका—**पुनरस्त्रसमुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः ।**

पहले ब्रह्मास्त्र का वारण कर दिया था इससे अभिमान हो गया था इसलिये अभिमान को दूर करने के लिये फिर ब्रह्मास्त्र चलाया ।

पुनः ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसका समाधान भी पूर्ववत् हो जायगा उस पर कहते हैं—

कारिका—**अनिवर्त्यं निवर्त्यं च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् ।।१०५।।**
**अनिवर्त्यसमुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि ।**
**शास्त्राद्दैवात्तपोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद् भवेत् ।।१०६।।**
**सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः ।**

अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः ।।१०७।।

ब्रह्मास्त्र दो प्रकार का माना गया है एक अनिवर्त्य जिसे लौटाया न जा सके और दूसरा निवर्त्य जो लौटाया जा सके । अनिवर्त्य ब्रह्मास्त्र को तो चलाया नहीं जाता यहां तक कि मरण उपस्थित हो तब भी नहीं चलाते ।

इन दोनों ब्रह्मास्त्र की सिद्धि शास्त्र से और देवता से होती है इसलिए इनका तेज महान् होता है । जब अश्वत्थामा के पास कोई उपाय न रहा और मृत्यु की घड़ी हो आ पहुँची तब गुरुपुत्र अश्वात्थामा ने पिता की अत्यन्त उपासना से प्राप्त ब्रह्मास्त्र को चलाया ।१०५-१०६-१०७।

जिस तरह गर्व का निवारण किया उसी तरह गर्व का कारण जो वंश है उसका विनाश क्यों नहीं किया इस पर कहते हैं-

कारिका—उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत् ।
शरणागमनं कृष्णस्तुतिपूर्वं च दर्शनम् ।।१०८।।
उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा ।
कृष्णदूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम् ।।१०९।।
परीक्षिज्ज्ञानसिद्ध्यर्थं बहुकालस्थितिर्हरेः ।
अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकाराथनं तथा ।।११०।।
आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः ।
प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः ।।१११।।

उत्तरा भगवान् कृष्ण की परम भक्त थी वह सबसे श्रेष्ठ थी भक्त होने के कारण उसमें भौतिक उत्कर्ष था और वह रोहिणी का अंशरूप थी इससे उसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष था तथा हरि की सुहृद् होने से आधिदैविक उत्कर्ष भी था । इस तरह उत्तरा में तीन प्रकार का उत्कर्ष होने से उसका प्रिय करने के लिये भगवान् ने उसके गर्भ की रक्षा की । भक्त होने से वह भगवान् के शरण गई और देवता रूप होने से उसने स्तुति की तथा भगवदीय होने से सर्वप्रथम उसको ब्रह्मास्त्र का दर्शन हुआ । उत्तरा भक्त थी इसको बताने के लिये भगवान् ने उसके उदर में प्रवेश कर गर्भ की रक्षा की ।

यदि यह शंका हो कि उत्तरा भगवान् की भक्त थी तो ब्रह्मास्त्र का उसके उदर में प्रवेश ही कैसे हुआ ? उसके लिये कहते हैं कि 'कृष्णदूरत्वतः' भगवान् कृष्ण के दूर होने से उस ब्रह्मास्त्र ने उत्तरा के उदर में प्रवेश किया तथा जब तक वह ब्रह्मास्त्र गर्भ में प्रविष्ट न हो तब तक रक्षा कैसे हो इसलिये जब वह गर्भ में प्रविष्ट हो गया तभी गर्भ की रक्षा हुई । भगवान् गर्भ में बहुत समय तक तो परीक्षित् को अपना ज्ञान कराने के लिये रहे थे ।

भागवत के मूल में तो यह कहा है कि सुदर्शन और माया के द्वारा गर्भ की रक्षा की ब्रह्मास्त्र के नित्य होने से उसके लय का निरूपण नहीं है 'वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह' इसमें

तो क्रूरता धर्म की निवृत्ति बतायी है धर्मी की निवृत्ति नहीं कहीं। 'अस्त्र तेज: स्वगदया' इसका भी पूर्व के अनुरोध से शमन ही अर्थ करना चाहिए। तब धर्मी अस्त्र का लय किसमें हुआ इस पर कहते हैं 'अन्य तेजो लय:' अन्य ब्रह्मास्त्र के दुर्बल होने से उसका लय भगवान् में ही हो गया; क्योंकि वहीं से वह उत्पन्न हुआ था अत: उसी में लीन हो गया। इसलिये तो उसका कोई प्रकार नहीं बताया। इससे यह सूचित होता है कि जहां जहां विशेष कथन नहीं हो वहां वहां उसका लय कारण में ही समझना।

शंका होती है कि भगवान् के निर्गमन में स्तुति क्यों नहीं की पीछे स्तुति में प्रवृति क्यों हुई? उसका उत्तर यह है कि पहले अभिमान विद्यमान था इसलिये आसक्ति नहीं हुई। जिसको आसक्ति होती है वही उसका भजन करता है। भजन के लिए ही सर्वसन्देहवारिका स्तुति है।

यदि आसक्ति हो भी गई परन्तु ज्ञान और साधन का अभाव होने से स्तुति कैसे होगी? भगवान् में आसक्ति होने पर प्रतिभा उसमें उत्पन्न हो गई जिससे स्तुति की दूसरा हेतु भी हो गया भगवान् ने पहले उनकी रक्षा नहीं की थी इसलिये अन्त:करण में भासमान होते हुए भी अनन्तगुणपूर्ण है। अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इस न्याय से अन्तर की संभावना से नहीं जाना। इस समय तो विशेष रक्षा वश से अन्तरनिवृत्त हो गया इसलिये भगवत्कृति के कारण से भगवान् कृष्ण को विशेष रूप से जाना। १०८-१०९-११०-१११॥

शंका करते हैं कि जब ऐसा है तो युधिष्ठिर को पीछे मोह नहीं होना चाहिये। इस पर कहते हैं–

कारिका–**सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदित:।**
**तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम् ॥११२॥**

प्रतिभात या दर्शन के द्वारा होने वाला ज्ञान मोह का निवारण नहीं करता। शब्द से और दोष के श्रवण से मोह की उत्पत्ति होती है। शास्त्र से प्रतिपन्न भ्रम से उसको मोह होता है वह शास्त्र प्रकार से ही निवृत्ति के योग्य है। अत: जब तक भीष्मजी युधिष्ठिर को नहीं समझायेंगे तब तक मोह की स्थिति रहेगी। इससे यह भीष्माध्याय जीव के स्वरूप ज्ञान के लिए हैं इस नवमाध्याय में वाक्य विभाग इस तरह है चौबीस श्लोकों से भीष्मजी के निकट जाने का वर्णन है और भीष्म के वाक्यों का वर्णन है। सात श्लोकों से वहां के वृत्तान्त का वर्णन है। ग्यारह श्लोकों से भीष्मजी की स्तुति है और तीन श्लोकों से मुक्ति तथा चार श्लोकों से उनके उत्तर वृत्तान्त का वर्णन है ॥११२॥

ऐसा होने पर भीष्मस्तुति असङ्गत है इस आशंका पर कहते हैं–

कारिका–**उक्ते: स्वाचारतो दार्ढ्यज्ञापनायां तत: स्तुति:।**
**मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्वसन्देहवारिका ॥११३॥**

भीष्मजी ने जो पहले तत्व का उपदेश दिया था अर्थात जीव की कृतार्थता भगवद्भजन से ही है उसी को अपने आचार से दृढ करते हैं इसके लिए स्तुति है। साधन और फल इन्हें प्रत्यक्ष दिखाते हैं। स्तुति से साधन के सन्देह को दूर किया और फल के विषय में जो सन्देह है उसे अपनी मुक्ति के द्वारा निवारण किया ॥११३॥

इस तरह तीन अध्यायों का उपपादन करके अब उसका उपसंहार करते हैं–

कारिका–**दु:खहानिस्त्रिभि: प्रोक्ता**

इस तरह तीन सप्तम-अष्टम-नवम् अध्यायों से दु:ख हानि का निरूपण किया।

# प्रथम स्कन्ध

## विनय

**मंगलाचरण** **राग बिलावल**

चरन-कमल बंदौ हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ ॥१॥

**सगुणोपासना** **राग कान्हरौ**

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै ॥२॥

**भक्त वत्सलता** **राग मारू**

बासुदेव की बड़ी बड़ाई।
जगत-पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
भृगु कौ चरन राखि उर ऊपर, बोले बचन सकल-सुखदाई।
सिव-बिरंचि मारन कौं धाए, यह गति काहू देव न पाई।
बिनु बदलैं उपकार करत हैं, स्वारथ बिना करत मित्राई।
रावन अरि कौ अनुज बिभीषन, ताकौं मिले भरत की नाई।
बकी कपट करि मारन आई, सो हरि जू बैकुंठ पठाई।
बिनु दीन्हैं ही देत सूर-प्रभु, ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं ॥३॥

करनी करुना-सिंधु की, मुख कहत न आवै।
कपट हेत परसैं बकी, जननी-गति पावै।
बेद-उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै।
उग्रसेन की आपदा सुनि सुनि बिलखावै।
कंस मारि, राजा करै, आपहु सिर नावै।
जरासंध बंदी कटै नृप-कुल जस गावै।
अस्मय-तन गोतम-तिया कौ साप नसावै।
लच्छा-गृह तैं काढ़ि कैं पांडव गृह ल्यावै।
जैसैं गैया बच्छ कैं सुमिरत उठि धावै।
बरुन-पास तैं ब्रजपतिहिं छन माहिं छुड़ावै।
दुखित गयंदहिं जानि कै आपुन उठि धावै।
कलि मैं नामा प्रगट ताकि छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै ॥४॥

### राग मारू

ऐसो को करी अरु भक्त काजैं।
जैसी जगदीस जिय धरी लाजैं ॥

हिरनकस्यप बढ़यो उदय अरु अस्त लौं, हठी प्रह्लाद चित्त चरन लायौ।
भीर के परे तें धीर सबहिनि तजो, खभ तें प्रगट ह्वै जन छुड़ायौ।
ग्रस्यौ गज ग्राह लै चल्यौ पाताल कौं, काल कैं त्रास मुख नाम आयौ।
छाँड़ि सुखधाम अरु गरुड़ तजि साँवरौ पवन के गवन तें अधिक धायौ।
कोपि कौरव गहे केस जब सभा मैं, पांडु की बधू जस नैंकु गायौ।
लाज के साज मैं हुती ज्यौं द्रौपदी, बढ़यौ तन-चीर नहिं अंत पायौ।
रोर कैं जोर तें सोर घरनी कियौ, चल्यौ द्विज द्वारिका-द्वार ठाढ़ौ।
जोरि अंजलि मिले, छोरि तंदुल लए, इंद्र के बिभव तें अधिक बाढ़ौ।
सक्र कौ दान-बलि-मान ग्वारनि लियौ, गह्यौ गिरि पानि, जस जगत छायौ
यहै जिय जानिकैं अंध भव त्रास तें, सूर कामी-कुटिल सरन आयौ ॥५॥

### राग रामकली

का न कियौ जन-हित जदुराई।
प्रथम कह्यौ जो बचन दयारत, तिहिं बस गोकुल गाइ चराई।
भक्त बछल बपु धरि, नर के हरि, दनुज दह्यौ, उर दरि, सुरसाँई।
बलि भल देखि, अदिति-सुत-कारन, त्रिपद ब्याज तिहुँपुर फिरि आई।
एहि थर बनी क्रीड़ा गज मोचन और अनंत कथा स्रुति गाई।
सूर दीन प्रभु-प्रगट-बिरद सुनि अजहुँ दयाल पतत सिर नाई ॥६॥

### राग रामकली

जहाँ जहाँ सुमिरे हरि जिहिं बिधि, तहँ तैसैं उठि धाए (हो)।
दीन-बंधु हरि, भक्त-कृपानिधि, वेद-पुरानिनि गाए (हो)।
सुत कुबेर के मत्त-मगन भए, बिषै-रस नैननि छाए (हो)।
मुनि सराप ते भए जमलतरु, तिन्ह हित आपु बँधाए (हो)।
पट कुचैल, दुरबल द्विज देखत, ताके तंदुल खाए (हो)।
संपदि दै वाकी पतिनी कौं मन-अभिलाष पुराए (हो)।
जब गज गह्यौ ग्राह जल-भीतर, तब हरि कौं उर ध्याए (हो)।
गरुड़ छाँड़ि, आतुर ह्वै धाए, सो ततकाल छुड़ाए (हो)।
कलानिधान, सकल-गुन-सागर, गुरु धौं कहा पढाए (हो)।
तिहिं उपकार मृतक सुत जाँचे, सो जमपुर तें ल्याए (हो)।
तुम मोसे अपराधी माधव, केतिक स्वर्ग पठाए (हो)।
सूरदास-प्रभु भक्त-बछल तुम, पावन-नाम कहाए (हो) ॥७॥

—सूरसागर से

## ⌘ श्री सुबोधिनी ⌘

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

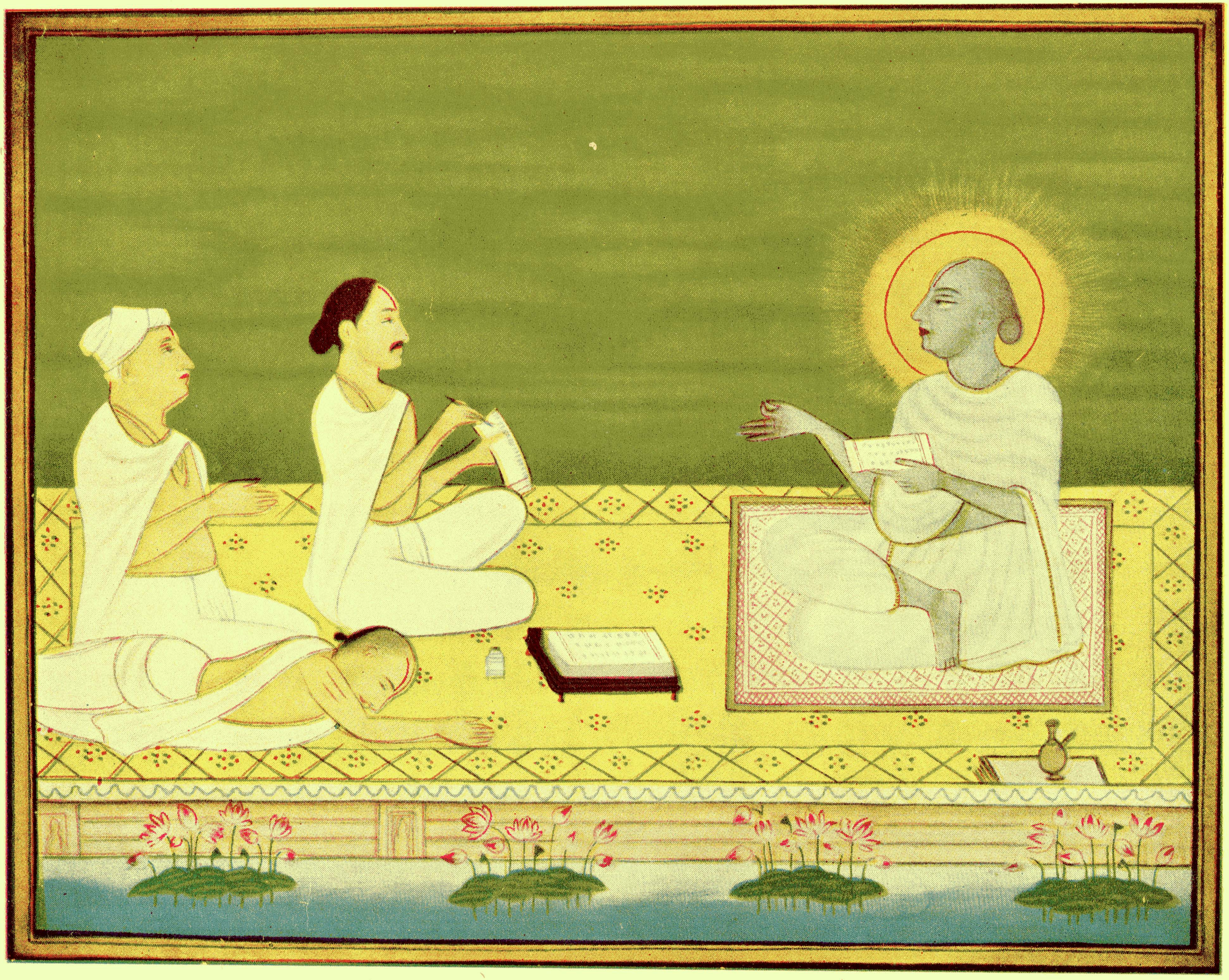

अखण्ड भूमण्डलचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

❀ श्रीकृष्णाय नमः ❀

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

**जगद्-गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण विरचित**

**श्रीमद् भागवत श्रीसुबोधिनी की**

**हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या**

# प्रथम स्कन्ध – अधिकारलीला

[ प्रथम हीनाधिकार – अध्याय १ से ३ ]

## ❀ प्रथम अध्याय ❀

( श्री सुबोधिनी – मंगलाचरण )

**वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यम्**
**लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारः ।**
**यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिवच्च स्वतन्त्रम्**
**शास्त्रं रूपं च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः ।।१।।**

हिन्दी अनुवाद

मंगलाचरण

**दुस्तारे भवकूपारे पारे नयति यत्कृपा ।**
**विभुं वैश्वानरं वन्दे वल्लभं कृष्णवल्लभम् ।।**

**अनुवादः**— मैं प्रभु श्रीकृष्ण देव को वंदन करता हूं, जो विघ्नरूप दोषात्मक मुर तथा नरक असुरों के संहारक हैं तथा जिनका स्वरूप वेद तथा उपनिषदों द्वारा ही जाना जा सकता है। जिसका अन्त ही नहीं, ऐसे अपार श्री हरिप्रभु, लोक में भक्ति को प्रसिद्ध करने के लिये यदुकुलरूपी महासमुद्र में प्रकट हुये, जिनका आनन्दमय स्वरूप ही त्रिभुवन का उद्धार करने के लिये प्रादुर्भूत हुआ है, तथा जो प्रभु भक्ति की तरह ही अपने आनन्दमय स्वरूप से (मोक्ष देने के लिये) स्वकीय स्वतंत्र शास्त्रात्मक-स्वरूप को भी लोक में प्रकट करते हैं, वही श्रीकृष्ण प्रभु, हमारी भागवत की व्याख्यारूप वैभव के उत्कर्ष में कारणरूप बनें अर्थात् भागवत के यथार्थ स्वरूप की अभिव्यक्ति में श्रीकृष्ण प्रभु ही प्रेरक बनें ।१।

**व्याख्या:**— श्रीभागवत के ऊपर व्याख्या करने की इच्छा से श्रीमद्वल्लभाचार्य अभीष्ट प्राप्ति के लिये श्रीभागवत प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करते हैं। 'वन्दे श्रीकृष्णदेवं' यहां 'कृष्ण' पद से 'पर' पदार्थ का निर्देश किया गया है- 'श्री' पद से ब्रह्मानंद रूपा 'चित्' शक्ति और 'देवी' रूपा माया इस शक्ति द्वय का तथा कृष्ण पद से कृष्णावतार रूप का भी ग्रहण किया गया है। 'देवम् पद' से दश–विध लीलायुक्त'–स्वरूप समझना चाहिये।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो 'परपुरुष', ब्रह्मानंदरूपा चित् शक्ति तथा देवीरूपा माया शक्ति से, अर्थात् द्विविध लक्ष्मी से, व्यूह-चतुष्टय से (वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न इन चर्तु व्यूहों से) तथा अनेक अवतारों से क्रीड़ा करता है, उसी का भजन करना चाहिये। भागवत का यही अर्थ है और 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्–इत्यादि उद्धरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

साक्षात् नारायणोक्त पांचरात्रादिक तन्त्रशास्त्र में प्रतिपादित व्यूहों का ही प्रतिपादन यहां श्री भागवत में किया गया है, विभिन्न तंत्रों के उन व्यूहों का नहीं जो भगवान् के रूप में प्रतिपादित किये गये हैं। तदनुसार यहां मुरनरकभिदम् तथा वेदवेदान्तवेद्यं इन दो विशेषणों से प्रथम, अनिष्ट निवारणार्थ संकर्षण व्यूह का, तदनन्तर, अभीष्ट-प्राप्ति के लिये वासुदेव व्यूह का यथाक्रम बोध कराया गया है। संकर्षण प्रभु दैत्यों के संहारक हैं। अतः 'मुरनरकभिदं' इस विशेषण से संकर्षण व्यूह का निर्देश किया गया है। प्रभु की प्राप्ति में मुर और नरक दैत्य, भक्तों का प्रतिबंध करते थे। इनका जब नाश किया गया, तब इनसे रुद्ध कन्याओं को श्रीकृष्ण की प्राप्ति हुई। भक्तों के प्रतिबन्ध की निवृत्ति स्वयं प्रभु ही करते हैं। 'वेदान्त वेद्य'' इस विशेषण से वासुदेव व्यूह का निर्देश किया गया है, क्योंकि वेद तथा वेदान्त से जिसका ज्ञान होता है वह वासुदेव व्यूह रूप ही मोक्ष देता है।

यहां श्रीभागवत में तो प्रादुर्भूत भगवान का ही निरूपण किया गया है, अब यदि संकर्षण तथा वासुदेव व्यूहों से ही अनिष्ट की निवृत्ति तथा अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है तो फिर, पुरुषोत्तम के पूर्ण आविर्भाव का प्रयोजन ही क्या रहा ? उसके निरूपण की आवश्यकता ही कहां रही? इस प्रश्न का उत्तर यह है- लोक में भक्ति की प्रसिद्धि के लिये उसका सर्वत्र मंगलमय आलोक फैलाने के लिये ही यदुकुल उदधि में स्वयं श्री हरिभगवान् पूर्णरूप से प्रादुर्भूत हुये, लोके भक्ति प्रसिद्धयै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीदपारः'। लोके भक्ति प्रसिद्धयै–इस पंक्ति से वंश की वृद्धि करने वाले प्रद्युम्न व्यूह को सूचित किया गया है अर्थात् अनन्त- अपार प्रभु को भी, भक्ति को प्रसिद्ध करने के लिये प्रकट होना पड़ा- जन्म लेना पड़ा। प्रद्युम्न, कामदेव रूप है और उसी से वंश-परंपरा चलती है।

'यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे' इस पद द्वारा धर्म–रक्षा रूप अनिरुद्ध व्यूह का निर्देश किया गया है। प्रवृत्ति रूप तथा निवृत्ति रूप इस तरह धर्म दो प्रकार का है। प्रवृत्ति रूप धर्म का फल त्रिलोकी तथा निवृत्ति धर्म का फल मोक्ष है। 'त्रिभुवन तरण' पद में त्रिभुवन पद से त्रिलोकी रूप प्रवृत्ति-धर्म के फल का तथा 'तरण' पद से मोक्ष रूप निवृत्ति धर्म के फल का सूचन किया गया है। तदनुसार उपर्युक्त पंक्ति का इस प्रकार अर्थ है– प्रवृत्ति मार्गीय तथा निवृत्ति मार्गीय धर्म के ह्रास होने पर धर्म की रक्षा के लिये अनिरुद्ध-व्यूह रूप भगवान् प्रकट हुये 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत......तदात्मानं-सृजाम्यहम्, आदि गीता-वाक्यों से यही स्पष्ट होता है।

इस प्रकार भगवद्-रूप के प्रकट होने का प्रयोजन व्यूह द्वारा कहकर, अब नामात्मक अवतार का प्रयोजन भी 'भक्तिश्च' इस पद द्वारा निरूपित करते हैं जिस तरह भगवान् ने स्वकीय आनन्दस्वरूपात्मक 'स्वतंत्र' भक्ति को प्रकट की है, उसी प्रकार शास्त्रात्मक स्वरूप को अर्थात् नामात्मक स्वरूप को भी अपने आनन्दद्वारा ही प्रकट किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभागवत के प्रकटीकरण में भगवद् आनन्द ही प्रधान है।

उपर्युक्त श्लोक में चतुर्व्यूह सहित भगवान् को प्रणाम किया गया है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त श्लोक में, भागवत की सुबोधिनी रूप व्याख्या में प्रभु प्रेरक बनें, इस प्रकार की अभ्यर्थना की गयी है। किन्तु, यदि प्रभु केवल अनुकूल ही हो जाये तो भी व्याख्या रूप उत्कर्ष प्राप्त हो सकता है– ऐसा होने पर भी, यदि व्याख्या रूप वाणी में भगवान् अपनी स्थिति नहीं करते, तो व्याख्या लौकिकवाणी के समान ही मानी जाने लगेगी। इस प्रकार की लौकिकत्व की निवृत्ति के लिये, अपनी वाणी में उसके पतिरूप से भगवान् को स्थिति के लिये प्रार्थना करते हुये आचार्य-चरण, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों में प्रतिपादित श्रीहरि के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

**कर्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः सर्वस्वरूपोऽपि सन्**
**सर्वस्यापि विधारणो विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः।**
**यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं**
**सोऽयं वाचि ममास्तु पूर्णगुणभूः कृष्णावतारः पतिः ॥२॥**

**अनुवाद :–** जो श्रीहरि समग्र विश्व के कर्ता तथा सर्वज्ञ हैं, जो वेदादि शास्त्रों के कारण रूप हैं, जो सर्व-रूप होते हुए भी सर्व को धारण करने वाले हैं, जो दोष-रहित जीवों के सर्व मनोरथों को सिद्ध करते हुये विराजमान हैं, जो अपनी विभिन्न लीलाओं के अनुरूप अनेक प्रकार के स्वरूप धारण करते हैं, जो पूर्ण गुणयुक्त हैं, जो विशुद्ध होते हुये भी अपना अनेक रूपों में विस्तार करते हैं- ऐसे कृष्णावतार मेरी वाणी में उसके पतिरूप से स्थिति करें।

**व्याख्या :-** उपर्युक्त श्लोक की 'कर्ताज्ञ: सकलस्य यो निगमभू:,-इस पंक्ति से यह बताया गया है कि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते'–जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि श्रुति से तथा 'जन्माद्यस्य यत:, जिस ब्रह्म से इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा प्रलय होता है इत्यादि सूत्रों से प्रतिपादित जो भगवान् हैं, उसी से सर्ववेदादिशास्त्र उत्पन्न हुये हैं 'निगमभू:' । और इसी का प्रतिपादन 'शास्त्रयोनित्वात्, इस ब्रह्म-सूत्र में किया गया है । 'सर्वस्वरूपोऽपि सन्' 'सर्वस्यापि विधारण:' इस पद से यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही सबके उपादान कारण हैं आत्मा है तथा सबके लिये सेतुरूप हैं । तदनुसार, वाणी में भी प्रभु की स्थिति है यह स्वत: सिद्ध है, और इसी लिये वाणी में प्रभु स्थिति करें, यह प्रार्थना की गयी है । अन्तर्यामि ब्राह्मण में 'यो वाचि तिष्ठन्' इत्यादि वाक्यों से 'वाणी में भगवान् की स्थिति' का निर्देश किया गया है । भगवान् स्वकीय निर्दोष भक्त को उससे अभ्यर्थित-अभिलषित वस्तु प्रदान करते ही हैं, अत: जिनको इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं होती वहां, वस्तुत:, जीव-गत उसका दोष ही अर्थात् जीव-धर्म ही कारणभूत है, भगवद् धर्म कारणभूत नहीं है यही बात 'निर्दोष सर्वेष्टद:' इस पद में स्पष्ट की गयी है । 'यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं' 'प्रभु स्वकीय अनेकविध विशुद्ध लीलाओं द्वारा अपने स्वरूप का विस्तार करते हैं' इस पद में, निर्दोष भक्त को उसकी इस वस्तु की जो प्राप्ति कराई जाती है, उसका प्रकार बताया गया है । 'पूर्णगुणभू:' इसी प्रकार के पद से तापनीय श्रुति में मूलस्वरूप का निरूपण किया गया है । तदनुसार इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलरूप तथा अवताररूप श्रीकृष्ण, यह दोनों ही भागवत के प्रतिपाद्य विषय हैं ।।२।।

संप्रति शिष्टाचार के अनुसार श्रीमद् वल्लभाचार्य अपने पिताश्री को नमस्कार करते हैं:-

**श्रीमद्वल्लभविद्वदीशविलसद्वंशाब्धिपूर्णेन्दवे**
**श्रीगोपीपतिवन्दिने सुमनसि ब्रह्मामृतस्यन्दिने ।**
**श्रीमद्लक्ष्मणभट्टसूरिरिति यन्नाऽमाखिलाऽभीष्टदम्**
**तस्मै तातमहाशयाय हरये कुर्मो नमः सिद्धये ।।३।।**

**अनुवाद :** विद्वद् शिरोमणि पितामह श्रीवल्लभ के समृद्ध वंश रूपी समुद्र में से उदित पूर्ण चंद्रमा के समान, गोपीजन–वल्लभ श्रीकृष्ण को वंदन करने वाले, ब्रह्मानन्दरूप पराग से उच्छलित सुन्दर पुष्परूप निर्मल मन वाले हरिस्वरूप पितृचरण श्रीतात महाशय को, जिनका श्रीमद् लक्ष्मण भट्ट सूरि यह पवित्र नाम समस्त अभीष्ट कामना पूर्ण करता है, मैं इष्ट–सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं ।

**व्याख्या :** यहां 'गोपीपनिवन्दिने' पद से ऐसा संकेत मिलता है कि श्रीलक्ष्मरण भट्ट महाशय विष्णु स्वामी मतानुसार 'गोपालोपासना' के उपासक रहे होंगे । अपने पितृचरण के लिये 'हरये' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि जिस तरह श्रीहरि पूर्ण हैं– श्रीलक्ष्मरण भट्टजी भी 'पूर्ण' उपासक थे । 'ब्रह्मामृतस्यन्दिने' विशेषरण से यह सूचित होता है कि श्री लक्ष्मरण भट्ट एक महान् तत्वज्ञानी थे ।

इस प्रकार आचार्य श्री शिष्यशिक्षार्थं मंगलाचरण करके, मुख्य, मध्यम तथा हीन अधिकारियों को उनकी योग्यतानुसार श्रीभागवत फल देता है, इसको आरम्भ में स्पष्ट रूप से नहीं कहा था अतः इसका निरूपण अब यहां से प्रारंभ करते हैं । क्योंकि यदि यह निर्णय अनुक्त ही रहे तो श्रीभागवत के श्रवण में सभी व्यक्तियों की प्रवृत्ति नहीं होगी । अतः प्रत्येक अधिकारी को उसके अधिकार की योग्यता के अनुसार जो जो फल मिलना चाहिये उस उस फल के अनुकूल श्रीभागवत के स्वरूप का निरूपण करते हैं –

**श्रीमद्भागवतागमः सुरतरुर्लोके फलत्वं गतो**
**भाषाभेदविभेदतस्त्रयमपि स्यान्नो विरुद्धं महत् ।**
**भक्त्यंशे फलता प्रमाणसुबले वेदत्वमर्थे पुनः**
**स्कंधैर्द्वादशभिर्युतः सुरतरुःशाखाद्विवह्निद्वयम् ।।४।।**

**अनुवाद :** श्रीमद् भागवत वेदरूप है, कल्पवृक्ष है तथा लोक के उद्धारार्थ फलरूपता को प्राप्त हुआ है । यह महापुराण है, अतः यद्यपि इसमें लौकिकी भाषा, परमत भाषा तथा समाधि भाषा– इस तरह तीन प्रकार की भाषाओं में परस्पर भेद होने के कारण, इसमें तारतम्य अवश्य है तथापि इसकी जो फलरूपता, वेदरूपता तथा कल्प–वृक्षरूपता है, वह परस्पर अविरुद्ध है, इसकी भागवतरूपता से विरुद्ध नहीं है । वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप होता हुआ भी यह भागवत महापुराण है; क्योंकि भक्ति के अंश में यह फलरूप है, प्रमाण के विशिष्ट बल में यह वेदरूप है, और अर्थ में, द्वादश स्कंध–रूप स्थूलकाय शाखाओं सहित कल्प-वृक्ष है । कल्प-वृक्ष-रूप भागवत की छोटी-छोटी ३३२ शाखायें हैं (द्वि = २, वह्निद्वयम् ३३ = ३३२). अर्थात् ३३२ अध्यायरूप शाखायें हैं । अर्थात् भागवत में तीन भाषायें हैं– १- समाधि भाषा, २- परमत भाषा, ३- लौकिक भाषा । इन तीनों भाषाओं के होते हुए भी भागवत की त्रिरूपता में वेदरूपता, कल्पवृक्षरूपता, फलरूपता में कोई विरोध नहीं आता । भागवत महापुराण है । जो लोग भागवत

को वेदों और इतिहास के साररूप में देखते हैं, उनके लिये यह वेदरूप है। ज्ञान-प्राप्ति के साधन--रूप में अध्ययन करने वालों के लिए भागवत कल्पवृक्ष है और भागवत का श्रवण करने के उपरांत जिनमें भक्ति का उदय होता है, उनके लिये यह फलरूप है । दशमस्कंधगतवत्सहरण लीला के ३ अध्याय प्रक्षिप्त हैं। इनको कम करने पर भागवत में कुल ३३२ अध्याय हैं।

**व्याख्या :** यह श्रीभागवत लोक में अर्थात् देवी सृष्टि में वेदरूप, कल्पवृक्षरूप तथा फलरूप है। यहां यदि यह शंका हो कि एक ही श्रीभागवत के तीन रूप कैसे हो सकते हैं, तो उसका यह समाधान है कि 'भाषा-भेदविभेदतः'- श्रीभागवत में तीन प्रकार की भाषायें है- लौकिक, मतान्तर तथा समाधि । इन तीनों प्रकार की भाषाओं के जो अनेकों भेद हैं, उन विभेदों से श्रीभागवत में तारतम्य है, किंतु इस तारतम्य के कारण उपर्युक्त आगमत्वादि तीनों रूप विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि श्रीभागवत एक महापुराण है । यहां यह शंका होती है कि श्रीभागवत के अमुक अंश में त्रिरूपता हो सकती है, किंतु समग्र श्रीभागवत में इस तरह होना संभव नहीं। गौर पुरुष के नख, केश तथा नेत्र में उज्ज्वलत्व, श्यामत्व तथा रक्तत्व आदि अन्य रूप-रंग वर्तमान होते हुये भी, वह गौर रूप ही कहा जायेगा, अनेक रूपवाला नहीं । इसी प्रकार सम्पूर्ण भागवत को त्रिरुपता प्राप्त नहीं हो सकती। इसके समाधान में यह कथन है कि जैसे एक ही पुरुष किसी का पिता तथा किसी का पुत्र आदि रुप में होता है, उसी तरह अधिकारी-भेद से फल में भी भेद होता है। तदनुसार, भागवत में त्रिरुपता हो सकती है, इसी का प्रतिपादन 'भक्त्यंशे फलता'- इस पद से किया गया है। अर्थात् भक्ति के अंश में तो संपूर्ण भागवत ही फलरूप है।

'यस्यां वै श्रूयमायाम्' जिसके श्रवण करते रहने से भक्ति उत्पन्न होती हैं-इत्यादि वाक्यों में भागवत को भक्ति का उत्पादक कहा गया है। भक्ति के होने पर, स्वतंत्र पुरुषार्थ रुप से श्रवण कीर्तन आदि के द्वारा जो इसका रसास्वादन करता है, उसके लिये तो संपूर्ण भागवत निःसंदेह फलरूप ही है।

इस भागवत को भगवान ने प्रकट की है-'इदं भगवता पूर्व, तदुपरांत, 'सर्ववेदेतिहासानाम्' इस वाक्य के अनुसार भागवत, वेद, इतिहास आदि का साररुप है । तदनुसार, प्रमाण-बल के अंश में समग्र भागवत वेदरुप है, अर्थात् वेद के शब्द स्वतः प्रमाण हैं। उसमें किसी अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं। अर्थात् ऐसे अनपेक्षत्व-रूप अंश में स्वतः प्रमाण होने से संपूर्ण भागवत को वेदरुपता है।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अधिकारी-भेद से सम्पूर्ण भागवत को ही त्रिरुपता है- उदाहरणार्थ-'कैवल्यैक प्रयोजनम्' पद में 'एक' पद मुख्य वाची है और कैवल्य पद मोक्ष के

लिये प्रयुक्त होता है। उसी तरह 'लीला' के लिये भी– 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'। अतः इस भागवत में भगवद्-लीला–रस का आस्वादन भी प्राप्त होता है और मोक्ष भी। तदनुसार, भागवत की त्रिरूपता स्पष्ट है। उसमें शंका को कोई स्थान नहीं। प्रक्षिप्त अध्यायों का ग्रहण नहीं हो इसलिये इस कल्प-वृक्ष-रूप भागवत की ३३२ शाखायें ही निर्दिष्ट की गई हैं– 'शाखा द्विवह्निद्वयम्'। श्रीधरी में भी ३३२ शाखाओं का ही उल्लेख है– 'द्वात्रिशंत् त्रिशतं च विलसत् शाखा'।

यद्यपि श्री आचार्य चरण, काव्यों में जिस तरह अलंकार आदि का आदर है, उस तरह भागवत के व्याख्यान में अलंकारों के प्रति सत्कार नहीं करते, तथापि श्रुति सूत्र सम्मत अमुक अलंकारों को ही आपश्री ने मान्यता प्रदान की है, जैसे–'असावादित्यो देव मधु' 'शरीररूपकविन्यस्त गृहीते' – आदि में जो रूपकालंकार है उसे स्वीकार किया है और इसीलिये स्वकीय उपर्युक्त कारिका में भागवत के लिये 'सुरतरु' इस रूपक का प्रयोग भी किया है। वास्तव में देखा जाये तो श्रीव्यासचरण को भी यह रूपक अभिप्रेत है, अन्यथा श्रीभागवत के 'भागों' के लिये 'स्कंध' का प्रयोग आपश्री कदापि नहीं करते ॥४॥

**अर्थं तस्य विवेचितुं न हि विभुर्वैश्वानरात् वाक्पते–**
**रन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच्छ्रीपतिः।**
**दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर्यस्मादतोऽहं मुदा**
**गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥५॥**

**अनुवाद :** अलौकिक सुख से वंचित इस विश्व के उद्धारार्थ भागवत के यथार्थ अर्थ प्रकट करने के लिये, वाणी के पति वैश्वानर श्रीमद् वल्लभाचार्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी समर्थ नहीं है, यह विचार कर श्रीपति भगवान् ने, अपने ही अंशरूप मुझे भी श्रीवेदव्यास की तरह ही मानव देह से संपन्न करके, श्रीभागवत का उत्तम अर्थ प्रकट करने की कृपा-पूर्ण दृष्टिपात पूर्वक, आज्ञा प्रदान की, इसी कारण से श्रीवेदव्यास तथा श्रीविष्णु को ( अथवा विष्णुरूप व्यास को ) जिस तरह अत्यंत प्रिय लगे उस तरह से भागवत के गूढ़ अर्थ को मैं आनंदपूर्वक अनेक प्रकार से प्रकट करता हूं।

**व्याख्याः** इस तरह भिन्न-भिन्न अधिकारी के भिन्न-भिन्न फल के अनुकूल भागवत के स्वरूप का निरूपण करके, अब, प्रस्तुत श्लोक से यह कहते हैं कि इससे पूर्व अनेकों पण्डितों ने श्री भागवत की व्याख्यायें की है तो फिर, श्रीमद् वल्लभाचार्य इसकी व्याख्या में क्यों प्रवृत्त हुये। इसका यह कारण है कि जब से इस भूतल का अलौकिक सुख लुप्त हो गया, तब से इस भागवत

के यथार्थ अर्थ करने की श्रीमद् वल्लभाचार्य के अतिरिक्त किसी में भी सामर्थ्य नहीं रही, क्योंकि आप स्वयं वाणी के पति हैं– वैश्वानर हैं। अग्नि, वाणी के पति हैं, उनका सामर्थ्य अबाधित है। पत्नि अपने स्वरूप को अपने पति के समक्ष ही प्रकट करती है, अतः वाणी अपने अंतरंग स्वरूप को अपने पति अग्नि-स्वरूप श्रीमद् वल्लभाचार्य के समक्ष हो व्यक्त करेगी। 'तस्याग्निरास्यम्'– इस वाक्य के अनुसार अग्नि को मुख कहा है–तद्नुसार, शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ इस प्रकार के सातों अर्थ प्रकट करने का सामर्थ्य श्रीअग्नि-स्वरूप वाक्यपति श्रीमद् वल्लभाचार्य में ही है, अन्य में नहीं।

श्रीपति भगवान् ने जिस तरह श्रीव्यास को भागवत प्रकटनार्थ मनुष्य देह में आविर्भूत किया, उसी तरह अपने ही अंशरूप मुझे (आचार्यचरण को) 'मानुष-तनु' के रूप में प्रकट किया तथा कृपा-पूर्ण नेत्रों से निरखते हुये मुझे भागवत के अर्थ को प्रकट करने की आज्ञा प्रदान की। अतः श्रीभगवान् तथा श्रीव्यास को अतिप्रिय जो भागवत का गूढ़ार्थ है उसको मैं प्रसन्नतापूर्वक बहुत प्रकार से प्रकट करता हूं। भागवत के गूढ़ार्थ को प्रकट करने में, भगवदाज्ञा से उत्पन्न मेरी प्रसन्नता ही कारण है ॥५॥

जिस प्रकार को अपनाते हुये यह व्याख्या की गई है, उसी का निर्देश निम्न श्लोक में किया है :—

**लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम्।**
**आर्थिकं तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनादृते।६।**

**अनुवाद :** मैं भागवत का अर्थ कहीं भी लक्षणा से नहीं करूंगा, उसी तरह 'यहां अर्थ न्यून है' ऐसा कहकर उसकी पूर्ति मैं दूसरों अथवा अधिक अर्थ का संयोजन नहीं करूंगा–परोक्ष कथन के अतिरिक्त, जो वाच्यार्थ है वही कहूंगा–अर्थात् परोक्षरूप में कहे गये अर्थ में लक्ष्यार्थ हो सकता है, किन्तु, अन्यत्र तो वाच्यार्थ ही कहूंगा, अर्थात् जैसा शुद्ध अर्थ निकलता होगा वैसा ही अर्थ करूंगा, तोड़-मरोड़ कर नहीं।

**व्याख्या :** शब्द का अर्थ लक्षणा से भी किया जाता है, जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्य का यथार्थ अर्थ होगा– 'गंगा में गांव' किंतु, यहां 'गंगायां' का अर्थ है 'गंगा के किनारे पर' और यही लक्षणा कहलाती है। इस प्रकार का लक्षणार्थ में नहीं करूंगा। न्यून पद के प्रयोग से, दूसरे पद की पूर्ति नहीं करूंगा। पुरंजनाख्यान आदि परोक्ष-कथन को छोड़कर, शब्द का यथार्थ अभिप्राय ही प्रकट करूंगा। इन नियमों के अन्तर्गत रहते हुये भागवतार्थ करने की इस श्लोक द्वारा श्रीआचार्य-चरण प्रतिज्ञा करते हैं ॥६॥

**अविरोधेन सप्तानामर्थानामिह सङ्गतिः ।**
**उत्तरोत्तरदौर्बल्यं वाच्यं सङ्कोचतः परम् ।।७।।**

**अनुवाद :–** सातों प्रकार के अर्थों में परस्पर विरोध न हो, इस प्रकार से यहां सभी अर्थों की संगति रहेगी । इस प्रकार के सप्तार्थों में, व्यवहार सौकर्य-सुलभ शक्ति संकोच के कारण यथापूर्व अर्थ की अपेक्षा यथोत्तर अर्थ का दौर्बल्य रहेगा ।।७।।

**व्याख्या :** श्रीमद् आचार्य–चरण ने भागवत का सात प्रकार से अर्थ किया है– शास्त्रार्थ, स्कंधार्थ, प्रकरणार्थ, अध्यायार्थ, वाक्यार्थ, पदार्थ तथा अक्षरार्थ । ये सातों प्रकार से अर्थ परस्पर अविरुद्ध हैं तथा एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । सर्व-साधारण, भागवत का अर्थ सहजतया समझ सकें यही इस व्याख्या का प्रयोजन है । किन्तु व्यवहार-प्रयोजन-सुलभ शक्ति संकोच को लेकर उपर्युक्त सप्तधा अर्थों में उत्तरोत्तर अर्थ की दुर्बलता रहेगी । कहने का तात्पर्य यह है– भागवत शास्त्र का मुख्य अर्थ है भगवान श्रीकृष्ण की आनन्दमय लीलायें । भागवतशास्त्र का यह मुख्य अर्थ–शास्त्रार्थ प्रत्येक स्कन्ध के अर्थ में व्याप्त है । अतः शास्त्र का अर्थ, सर्वतोधिक प्रबल माना जायेगा । स्कन्धार्थ, शास्त्रार्थ का अवयव-रूप होने के कारण, शास्त्रार्थ से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं करेगा, प्रत्युत भगवल्लीला के प्रतिपादक शास्त्रार्थ के अनुकूल, भगवल्लीला का ही निरूपण करेगा । इसी तरह, सम्पूर्ण स्कन्ध का अर्थ उस स्कन्ध के उस ही प्रकरण में नहीं आ सकता । इसलिये शास्त्रार्थ से स्कन्धार्थ, स्कन्धार्थ से प्रकरणार्थ दुर्बल रहेगा । इसी तरह सम्पूर्ण प्रकरण के अर्थ से अध्यायार्थ, अध्यायार्थ से वाक्यार्थ, वाक्यार्थ से पदार्थ तथा पदार्थ से अक्षरार्थ-उत्तरोत्तर दुर्बल समझ लेना चाहिये ।।७।।

**भाषात्रयविरोधश्च कल्पभेदात्समाहितः ।**
**भाषात्रयविभेदश्च लक्षणैर्ज्ञाप्यते पुनः ।।८।।**

**अनुवाद :—** भागवत में लौकिकी मतान्तर तथा समाधि-भाषा में जहां जहां विरोध आता हो, वहां वहां उसका समाधान-निराकरण कल्प-भेद से कर लेना चाहिये और इन तीनों भाषाओं के भेद भी उनके लक्षणों से बताये गये हैं, अथवा उनके लक्षणों से जान लेना चाहिये ।।८।।

**व्याख्या :** तात्पर्य यह है कि यहां भागवत में कहीं ज्ञान की प्रशंसा की गयी हैं, और कहीं कथा में भी पूर्वोत्तर भेद है, कहीं पुनरुक्ति आदि दोष है– इन सबके समाधान में तीन प्रकार की भाषा का उल्लेख किया गया है– 'भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः' समाधि-मतान्तर तथा लौकिकी ।

साक्षात् समाधि में, भगवद्-अनुभव पूर्वक जितने भागवतार्थ का श्रीव्यास ने निरूपण किया, वह समाधि भाषा है। जहां इसके विरुद्ध कहा गया है, वहां मतान्तर भाषा समझनी चाहिये, लोक-सिद्ध भाषा लौकिकी हैं, । मतान्तर भाषा तथा लौकिकी भाषा का प्रामाण्य, उस भाषा के वक्ताओं के अभिप्राय तक ही सीमित माना गया है। मतान्तर भाषा तथा लौकिकी भाषा में अभिव्यक्त किये गये अर्थ का प्रामाण्य, समाधि-भाषा के प्रामाण्य की कोटि में कदापि स्वीकृत नहीं किया जाता-समाधि भाषा के अर्थ का अनुमोदन करने पर ही, लौकिक अथवा परमत भाषा प्रमाण-भूत मानी जायेगी, अन्यथा नहीं। सर्वांश में प्रमाण-भूत तो समाधि भाषा ही है। सम्पूर्ण भागवत में सामान्यतया सर्वत्र समाधि भाषा का ही कथन है, तथापि श्रीआचार्यचरण ने अपनी सुबोधिनी में इन तीनों ही भाषाओं का पृथक् पृथक् निर्देश भी किया है। ऐसा कहा गया है कि श्रीशुक ने —जहां जहां यह कहा है कि 'अब मैं अन्य व्यक्तियों से सुनी हुई बात कहूंगा' वहां वहां 'परमत' का उल्लेख किया गया है—तदनुवार इसे मतान्तर भाषा समझनी चाहिये। जहां विषय का लौकिक शैली में निरूपण किया गया हैं, उसे लौकिकी भाषा समझनी चाहिये यथा—,स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान्' ।।८।।

**अर्थत्रयं तु वक्ष्यामि निबन्धेऽस्ति चतुष्टयम् ।**
**अत्र सन्तः स्वन्तोषैराज्ञां यच्छन्तु सिद्धये ।।९।।**

**अनुवाद :** भागवत के सात अर्थों में से प्रथम चार अर्थ तो तत्वार्थदीप निबन्ध में किये जा चुके हैं, अवशिष्ट तीन अर्थ यहां सुबोधिनी व्याख्या में कहूंगा। अतः इस विषय में साधु-पुरुष स्व-सन्तोषपूर्वक सहृदयता सहित अर्थ—सिद्धि के लिये आज्ञा प्रदान करें ।।९।।

**व्याख्या :** 'तत्वार्थ दीप निबन्ध,' के भागवतार्थ प्रकरण में, श्री आचार्यचरण, भागवत के अर्थ - चतुष्टय, शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ कर चुके हैं, सम्प्रति भागवत के अवशिष्ट अर्थ-त्रय, वाक्यार्थ पदार्थ, तथा अक्षरार्थ अपनी सुबोधिनी में उपपत्ति सहित कर रहे हैं—निर्विघ्न रूप से इस अर्थ की सिद्धि के लिये आपश्री सत्पुरुषों से स्व-सन्तोषपूर्वक आज्ञा के लिये प्रार्थना करते हैं ।।९।।

सूतजीकी कथा

।। श्रीहरिः ।।

# श्रीमद्-भागवत-संहिता

## प्रथम-स्कंध

### *श्रीसुबोधिनी व्याख्या*

### *का*

### *अनुवादात्मक विवेचन*

**अथ व्याख्या—**

भगवदाज्ञया भक्तिजनिकां संहितामारभमाणः शिक्षार्थं मङ्गलमाचरन्बीजभावेन प्रथमं गायत्र्यर्थ-मुपनिबबन्ध—

'ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिये'- शिष्य को इस प्रकार की शिक्षा देने के लिये स्वयं श्रीवेदव्यास भगवदाज्ञा से, भक्तिरस को उत्पन्न करने वाली भागवत-संहिता का प्रारम्भ करते हुए प्रथम श्लोक से मंगलाचरण पूर्वक वेद की बीजरूप गायत्री के अर्थ का प्रतिपादन करते हैं—

**जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चाऽर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्**
**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।**
**तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा**
**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।१।।**

**अनुवाद:** समवायी तथा निमित्त कारणरूप जिस ब्रह्म से इस जगत् के जन्म आदि होते हैं, जो ब्रह्म सर्व विषयों को जानता है, अथवा समग्र जीवों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थ सिद्ध करने के विषय को सर्व प्रकार से जानता है 'अर्थेष्वभिज्ञ'; जो ब्रह्म विषयों में रमण

न करके अपने ही स्वरूपानंद में स्वयं ही रमण करता है– 'स्वराट्' – अथवा जो ब्रह्म विराट् के भीतर रहने वाला स्वराट् है, अथवा विराटान्तर्गत रहता हुआ उसकी सभी वस्तुओं को, विषयों को, जानता है– 'अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'; जिस ब्रह्म ने, उत्तम विद्वानों को भी मोहित कर देनेवाले वेदों का, पुराणों सहित, अवबोध, शब्द रस में निपुण ऐसे आदिकवि ब्रह्मा को, हृदयपूर्वक (हृदा) कराया, जिस तरह तेज, जल तथा पृथ्वी इनमें से एक की दूसरे में प्रतीति मिथ्या है उसी तरह जिस ब्रह्म में, तीनों गुणों के– (सत्व-रज-तम के) अर्थात् माया के कार्यरूप–देह, इन्द्रिया तथा अंतःकरणादि धर्मों की तथा उनके अध्यास की कल्पना करना, मिथ्या है, जो ब्रह्म स्व-स्वरूप की स्फूर्ति से ही जीवों की सर्व अविद्या को निवृत्त कर देता है उसी परम सत्यरूप ब्रह्म का ( पूर्ण-पुरुषोत्तम का ) जो त्रिकालाबाधित है– हम ध्यान करते हैं ।

**जन्माद्यस्येति** । अत्र हि श्लोकत्रयस्याऽसङ्गतिः । कथारूपं हि भागवतम् । तत्तु ,'**नैमिष**"-इत्यादिना निरूप्यते । तत्रोच्यते । "**यत्राऽधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः । वृत्रासुरवधोपेतं तद्भागवतमिष्यते**" ।। यथा हि **यज्ञात्मको वृत्रस्तद्वधेन** यज्ञाः प्रवृत्ता **वेदे** निरूपितास्तथाऽत्रापि **भक्त्यात्मको वृत्र**स्तद्वधनिरूपणेनाऽत्र **भक्तिः** प्रवर्तयिष्यते । गायत्री हि वेदमाता, वेदत्रयार्थप्रति–पादिका भवति । तदर्थो भागवते, प्रथमं बीजार्थं निरूप्यते । **यथा वेदस्तथा भागवतमिति** । एक-बीजत्वात् । अतो गायत्र्यर्थनिरूपणेन **वेदविरोधो, वेदाद्दौर्बल्यं** च परिहृतम् । किञ्च। यथा हि वेदे, यज्ञियाः पदार्था योगजधर्मेणाऽनुभूयन्ते फलसाधनसहितास्तथाऽत्रापि योगजधर्मेण व्यासस्त्रयमनुभूत-वान्—**पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकमिति** । "**अपश्यत्पुरुषं पूर्णं**" मित्यादिना । एषा हि समाधिभाषा । तत्र हि पुरुषप्रयत्नो भक्तावेव । "**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचाऽन्यथे**" ति वैष्णवतन्त्रवचनान्माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहो भक्तिः । सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्त्वात्मत्वेन ज्ञाते भवति । माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्या-दिभिः । तत्र द्वयं साधयितुमेषा भागवतसंहिता । यथा हि यज्ञा, ब्रह्माऽऽत्मावगतिश्च, काण्डद्वया-र्थोऽन्योन्यहेतुभूतस्तथाऽत्र द्वयमपि भक्तिहेतुरिति निरूपयितुं **गायत्री** बीजं, वेदो वृक्षः, **भागवतं फल** मिति निरूप्यते । अतः काण्डद्वयार्थनिष्णातोऽप्यफलवृक्ष इव व्यर्थ इति **भागवतारम्भः** । तदत्र श्लोकत्रयेण निरूप्यते । यद्यपि **प्रणवो व्याहृतयश्च** तथा भवन्ति, तथापि तेषामर्थः स्पष्टो नेति, गायत्र्यर्थो निरूप्यते । किञ्च । अग्न्युपस्थाने हि गायत्री नियुक्ता । "**तत्सवितुर्वरेण्यमित्याह प्रसूत्या**" इति । तथा मन्देहादिनिवारणे च—"**गायत्र्याऽभिमन्त्रिता आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ती**"– त्यादिना । तेन निर्विघ्नं वाक्प्रसवार्थं, गायत्र्या भगवदुपस्थानं कुर्वाणो, गायत्र्यर्थमाह । तत्र गायत्र्या जगत्प्रस-वकर्तृत्वेन सर्वकर्तृत्वं, देवत्वेन च सर्वज्ञत्वं, षष्ठीद्वयेन निरूप्यते । **वरेण्यमिति** भक्तिबीजम् ।

**भर्ग** इति संसारनिवृत्तिः । "**भर्जयत्यखिलाऽविद्या**"मिति । अतस्तदेव—**धीमहीति** । आवश्यकत्वं चाऽऽह—"**धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा । प्रेरयेद्यः समस्तानां तद्ध्यानं सर्वथा हित**" मिति । तदत्राऽप्याह—**जन्माद्यस्य यत इति । जन्म आद्यस्य** आकाशस्य **यत** इति वा । "**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत**" इति श्रुतेः । गायत्र्यर्थे हि प्रसवमात्रमुक्तं, न स्थितिप्रलयौ । **वरेण्यभर्ग**शब्दाभ्यां च पश्चात्सूचितौ । तदत्राऽप्युत्तरार्द्धे सूचयिष्यते । अथवा । सूचितमप्यर्थमादायोत्पत्तिस्थितिप्रलया निरूप्यन्ते जन्मादिपदेन । "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्त**" इति श्रुतेः । **जन्म आदिर्यस्य** स्थितिभङ्गस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । उत्पत्तिस्थितिभङ्गस्येति वाऽतद्गुणसंविज्ञानः । वेदार्थप्रतिपादकत्वान्नाऽधिकपुनरुक्ती । **अस्येति** । ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसाऽप्याकलयितुमशक्यस्येति माहात्म्यम् । यत इत्यव्ययनिर्देशोऽविकृतत्वाय, सर्वजगद्बीजमपि ब्रह्म न विकृतमिति निरूपयितुम् । यथा, **कामधेनोः कल्पवृक्षाच्चिन्तामणेर्मन्त्रादेश्च** जायमानाः पदार्था दृश्यन्ते । न हि ते विकृता भवन्ति । अनेन "**कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वे**" ति पूर्वपक्षः परिहृतः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धेऽपि, शब्दन्यूनतादोषपरिहारायाऽध्याहारः कर्तव्यो यद्यपि, तथापि गायत्र्यन्तर्गततच्छब्दव्याख्यानरूपस्य सत्यं परमिति पदद्वयस्य विद्यमानत्वान्नाऽध्याहारः । तत्र ब्रह्मणः समवायित्वं, प्रकृतेर्निमित्तत्वमिति **केचिदाहुः** । विपरीतमित्यन्ये । कर्तृत्वमात्रमित्यपरे । तत्सर्वनिराकरणायाऽऽह **अन्वयादितरतश्चेति** । अन्वेतीत्वन्वयः समवायिकारणम् । इतरन्निमित्तकारणम् । "**यत्र येन यतो यस्ये**" ति श्लोकोक्ता अनुक्ताश्चकारेण परिगृहीताः । अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं जगद्ब्रह्मकारणकमित्युक्तं भवति । स्थितिप्रलयादावपि यथाऽपेक्षं ग्रहणान्न समवायकथनदोषः । अथवा । वैनाशिकप्रक्रियाया अनङ्गीकारान्नाशेऽप्यव्यक्तस्थितेः समवाय्यपेक्षाऽस्त्येव । प्रत्यक्षानुग्राहकान्वयव्यतिरेकाविह न भवतः । न हि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धम् । श्रुतिसिद्धं तु तत् । न वा ब्रह्मणः क्वचिद्व्यतिरेकः सम्भवति । खपुष्पादिकमपि तत्सत्तयैव भासते । "**यदस्ति यन्नास्ती**"ति वाक्याच्च । तस्मात्सर्वप्रकारेणाऽपि, ब्रह्मैव जगत्कारणमित्युक्तम् । जगत्कारणत्वेन तदुपयोगिसर्वज्ञत्वे सिद्धेऽपि, लोकवत्फलाऽज्ञानं सम्भवतीति, तदाह—**अर्थेष्वभिज्ञ इति** । अनतिप्रयोजनाय सप्तमी एकस्याऽपि प्रयोजनस्य बहुप्रयोजनार्थत्वं ज्ञापयितुं बहुवचनम् । ज्ञानशक्तेः प्रयोजनानां च न समासः । तेन न हर्षविषादौ । अर्थशब्दः प्रयोजनवाची । अथवा । **अर्थेषु** निमित्तेषु । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगज्जननमित्यर्थः । सर्वजीवानां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं जगदित्युक्तं भवति । एकस्यापि प्रयोजनस्य प्रयोजनकार्यकारणपरम्पराणां ज्ञानमभिशब्दार्थः । ज्ञानमार्गे केचन स्वार्थमेव सर्वं करोतीत्याहुः । तन्निराकरणायाऽऽह—**स्वराडिति** । यद्यपि जीवा अपि स्वरूपमेव, तथापि प्रकारभेदान्न दोषः । स्वेनैव राजते, न विषयेषु रमत इत्यर्थः । अथवा । विराडन्तर्गतः **स्वराट्** । तेन पूर्वोक्तसर्वज्ञता समर्थिता भवति । अक्लेशार्थं वा स्वरूपानन्दे रमत इत्यर्थः । एतावता **रूपप्रपञ्चे** कारणत्वमुक्तम् ।

नामप्रपञ्चकारणमाह—**तेन इत्यादिना**। यद्यप्यविशेषेण कारणत्वं वक्तुं शक्यं, तथापि रूप-प्रपञ्च आसक्तानां जीवानां निवारणार्थं भेदेनोक्तम्। बन्धमोक्षयोः प्रकारभेदेन निरूपणार्थं वेद जगतोर्भिन्नतया निरूपणम्। त्रिविधाऽप्युत्पत्तिर्वेदे नास्ति। किन्तु प्रलये सूक्ष्मतयाऽवस्थानम्। यथा वर्णानामनेकभाषावितत्वं विस्तारस्तथा श्रुतेरपि वेदशाखाभेदेन विस्तारः। **ब्रह्म** वेदम्। अवि-कृतत्वाय तथा वचः **हृदेति** मनःपूर्वकम्। स्वार्थमेतदिति भावः। पुराणेन सहेति वा। "**पुराणं हृदयं स्मृत**" मिति वचनात्। "**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा**" इति ब्रह्मार्थं वेदविस्तारः। भगवत्तात्पर्यं वेद एव, लोक इति वा **हृदेत्युक्तम्। य इति** गायत्रीतृतीय-पादस्थस्य ग्रहणम्। तेन सर्वप्रेरकत्वमायाति। अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेः। **यत** इत्यस्यैव सर्ववाक्येषु विभक्तिविपर्ययेण योजयितुं शक्यत्वात्। **आदिकवये** ब्रह्मणे। वेदमार्गेण ब्रह्मैवमुच्यत इत्यर्थः। अन्येषां वेदार्थनिष्ठानामपि तद्रूपेणैव मुक्तिरिति भावः। शब्दरसाभिज्ञत्वाय **कवि**पदप्रयोगः। गोप-नार्थमन्यथाकथनसामर्थ्याय वा। नह्यन्यस्तादृशोऽस्तीत्यादिपदम्। कविदोषाऽभावाय वा। नाना-विधस्तोत्रेण वा सन्तुष्टो भगवान् तस्मै वेदं प्रकाशितवानित्**यादिकवि**पदप्रयोगः। अन्येषां वेदानु-पयोगे हेतुमाह—**मुह्यन्तीति**। यस्मिन्वेदे सूरयोऽपि मुह्यन्तीत्यर्थः। वेदार्थे वा। यज्ञांल्लौकिकान् फलसम्बन्धमात्रे वैदिकान्। ब्रह्म च जीवानामात्ममात्रमिति **सांख्या योगिनश्च। न वैदिकाः। पौराणिकाः** परं, सद्वादिनोऽपि पुरुषपर्य्यवसिताः। न तु **पुरुषोत्तमविदः**। अन्ये च तदनुवर्तिनः। मोहे भगवदप्रपत्तिर्हेतुः। तस्माद्भगवानेव, तत्प्रपन्नो वा वेदार्थवित्। वेदस्य सर्वसमर्थत्वात्कामनया क्लिष्टेषु प्राणिषु कामनासिद्धयर्थं वेदप्रचारः। तथैव शाखाप्रणयनम्। तथैव पुरुषश्च हृदि क्वचित्। प्रणवमात्रं वा। "**वेदः प्रणव एवाऽग्र**" इति वचनात्। **सर्वथा** वेदोपयोगो **ब्रह्मण एव** स्थितः। अत एव वेदतात्पर्याऽज्ञानादन्यथा वेदार्थवक्तार उपेक्षणीयाः। प्रपञ्चेन बन्धः। वेदेन मोक्षः। उभाभ्यां हरिः क्रीडतीति माहात्म्यम्। एवं पूर्णगुणविग्रहत्वमुक्त्वा निर्दोषत्वं वदन् भर्ग-श्शब्दार्थमाह—**तेजोवारीति**। वरणीयत्वं वा बोधयति। मायातत्कार्यसम्बन्धलेशाऽभावप्रतिपाद-नात्। दोषाऽभावपक्षे तु दोषो द्विविधः। स्वत एव दुष्टतापादकः सेवकानुद्धारो वा तत्राऽऽद्याऽभाव-माह—**तेजोवारीति**। देहेन्द्रियान्तःकरणधर्मसम्बन्धो दोषः। स च प्रत्येकमिति दृष्टान्तबाहुल्यम्। सात्त्विकादिभेदेन वा। पृथिव्यप्तेजसामन्योन्यस्मिन्नन्योन्याऽवभासो यथा **मृषा** द्रष्टुरेव तथा बुद्धि-जनकः। न तु विषयस्तादृश इत्यर्थः। तेजसि वारिबुद्धिर्मरीचितोये। वारिणि पृथिवीबुद्धिः तमि-स्रायां जलादौ। तथा मण्यादिष्वग्निबुद्धिः। मृदि काचादौ वारिबुद्धिः। मेघेषु चन्द्रबुद्धिः चन्द्र-किरणे वस्त्रबुद्धिः। सजातीया भ्रमाश्च शुक्तिरजतादिषु। ते यथा जीवानां बुद्धिपरिकल्पितास्तथा भगवति देहेन्द्रियान्तःकरणवत्त्वमवतारादिषु मृषैत्याह—**यत्र त्रिसर्गो मृषेति। यत्रेति** निमित्ताधि-करणयोर्ग्रहणम्। ततो गुणत्रयकार्यदेहेन्द्रियमनांसि तद्धर्माः तत्कारणं वा तदधिकरणानि तदर्था

वा अध्यासेन न सन्तीत्यर्थः । केवलमिथ्यात्वप्रतिपादने **यत्रेति** वैयर्थ्यापत्तेः । सर्वाधारत्वाच्च ब्राह्मणः । तेनाऽध्यासेनैवेति वक्तव्यम् । एतदर्थमेव दृष्टान्तानाह लोकदृष्ट्या प्रतीतः । अन्यस्मिन्ब्रह्मण्यन्यधर्माणां देहेन्द्रियादिधर्माणां प्रतीतिर्मिथ्येति । प्रवृत्तिप्रकाशतद्राहित्यवैधर्म्यस्य स्पष्टस्यापि सतो यथाऽन्यस्मिन्नन्याध्यासः । केचिद्भगवति देहेन्द्रियाणि परिकल्प्य, तेषां चिदानन्दत्वं परिकल्पयन्ति । केचिच्चिदानन्दे देहेन्द्रियाणि, केचिज्जले कृष्णे जडजीवसम्बन्धं कल्पयन्ति । जडजीवविशेषे वा सामर्थ्यम् केचिच्छरीरे मायातद्वतोरध्यासं प्रकल्पयन्ति । मायाविशिष्टे स्वेच्छयैव शरीरसम्बन्धं वा । सर्वेषां तेषां बुद्धिरेव भ्रान्ता, न ब्रह्मणि शरीरेन्द्रियसम्बन्धः । यथा पुनर्ब्रह्मणि व्यवहारस्तथोत्तरत्र वक्ष्यते । एवं भगवति जडजीवधर्मा मृषेत्युक्तम् । मायातत्कार्यसम्बन्धलेशाऽभावाद्वरणीयं सुन्दरमिति स्वतो दोषाभाव उक्तः । भजनीयगुणान्वदन्सेवकोद्धारमाह—**धाम्ना स्वनेति** । स्वरूपस्फूर्त्यैव सर्वेषां सर्वाऽविद्यानाशक इत्यर्थः । स्वरूपमेवाऽविद्यानाशकम् । प्रमेयबलमेतत् । **सदेति** । न कलिकालादिः प्रतिबन्धकः । **कुहकं** काण्ट्यं, देहेन्द्रियात्मभाव इति यावत् । **तस्मिन्निराकृते शिष्टं स्वत एव भविष्यति** । एतेन भर्जयत्यखिलाऽविद्यामिति भर्गश्शब्दः सकारान्तो व्याख्यातः । तच्छब्दं व्याचष्टे— **सत्यं परमिति** । कालत्रयाऽबाधितं सर्वलोकप्रसिद्धं **सत्यम्** । **परं** श्रेष्ठं पुरुषोत्तमरूपं सर्ववेदप्रसिद्धम् । **धीमहीति** । ध्यायेम प्रीतिं वा कुर्म इत्यर्थः ।इदमेकमेवोभयत्र पदं, वैदिकत्वबोधनाय । अनेन वेदसम्मितं पुराणमित्युक्तं भवति । एवं बीजभावो निरूपितः ॥१॥

**सुबोधिनीः**— यहां यह यह प्रश्न किया जा सकता है कि भागवत वस्तुतः कथारूप है– और, कथारूप होने के कारण इसका यथार्थ प्रारम्भ "नैमिषे निमिष– क्षेत्रे"– इस चतुर्थ श्लोक से ही होता है– तदनुसार, "जन्माद्यस्य यतः"– यह प्रथम श्लोक तथा "धर्मः प्रोज्झित" तथा "निगमकल्पतरोः" से प्रारम्भ होने वाले यथाक्रम द्वितीय और तृतीय श्लोक– ये तीनों श्लोक असंगत हैं– कथारूप भागवत से इनका कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि इनमें से किसी भी श्लोक में कथा का निरूपण ही नहीं किया गया । इसके प्रत्युत्तर में यह कथन है कि सर्व–प्रथम यह जान लेना चाहिये कि भागवत किसे कहते हैं ? भागवत वही माना जायेगा, "जिसका प्रारम्भ "गायत्री" से हो– जिसमें, धर्म का सविस्तर वर्णन हो, और जो वृत्रासुर के वध की कथा से युक्त हो" । (इसीलिये यहां प्रथम बीजरूप गायत्री के अर्थ निरूपण से भागवत का प्रारम्भ किया गया है ।) यज्ञाहुति से वृत्रासुर की उत्पत्ति हुई थी– "तत्त्वष्टा हवनीयमुपप्रावर्तयत् स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व" इस तरह यज्ञात्मक होने के कारण उससे यज्ञादि प्रवृत्तियां रुद्ध हो गयी थीं । किन्तु, जब इन्द्र ने उसका बध किया तब यज्ञों की प्रवृत्ति हुयी; इसी तरह यहां भागवत में "अहं हरेस्तव पादैकमूलं दासानुदासो भवितास्मिभूयः" इस स्तुति से वृत्रासुर, भक्त्यात्मक कहा गया है, तदनुसार, यहां भक्ति के

प्रतिबन्धक वृत्रासुर-बध के निरूपण से भक्ति कीं निःसन्देह प्रवृत्ति होगी– अर्थात् वध-काल में वृत्रासुर द्वारा भक्ति के निरूपण होने पर ही जगत् में भक्ति प्रवर्तित हुयी तथा होती रहेगी।

भागवत का प्रारम्भ गायत्री से ही किया जाता है। गायत्री वेद-माता है, अतः वेद-त्रयी के अर्थ का प्रतिपादन वही कर सकती है। तदनुसार, गायत्री का अर्थ यहां भागवत का बीजरूप माना गया है। जिस तरह वेद का बीज गायत्री है, उसी तरह भागवत का बोज भी गायत्री ही है। वेदमाता गायत्री के अर्थ का निरूपण यदि भागवत में किया जाये तो, भागतत का वेद से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता। जैसा वेद है वैसा ही भागवत है, क्योंकि दोनों का बीज एक ही हैं– और वह है गायत्री। तदनुसार जिस तरह वेद प्रमाण है, उसी तरह भागवत भी प्रमाण है। अतः भागवत वेद के समान है, वेद से भागवत में न्यूनता नहीं हैं। गायत्री के अर्थ का भागवत में बीजरूप से निरूपण होने के कारण, यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि भागवत, वेद से विरुद्ध अथवा न्यून-दुर्बल है, और इस प्रकार की शंका के समाधान के लिये प्रथम श्लोक में गायत्री का अर्थ प्रपिपादित किया गया है, जो बीजरूप है।

अब, यहां से दूसरे श्लोक की संगति का निरूपण इस तरह किया गया है कि जिस तरह वेद में फल तथा साधन सहित यज्ञ-सम्बन्धित समग्र पदार्थों का योग-बल से योगसिद्धि से अनुभव होता है, उसी तरह यहां भागवत में भी श्रीवेदव्यास ने, पुरुष का, माया से बन्धन की प्राप्ति का, भक्ति से बन्धन की मुक्ति का– इन तीनों का समाधि द्वारा साक्षात् अनुभव किया और इसी तथ्य को– "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं" इस पंक्ति द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसीलिये भागवत श्रीव्यास की समाधि-भाषा कहलाती हैं। पुरुष का प्रयत्न भक्ति की सिद्धि के लिये है और, भागवत का यही विषय है। "भगवान् में उसके माहात्म्य-ज्ञान पूर्वक सुदृढ़ तथा सबसे अधिक स्नेह को भक्ति कहते हैं और ऐसी भक्ति से ही मुक्ति मिलती है, अन्य से नहीं। 'माहात्म्य-ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोधिकः– स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा"– नारद पंचरात्र अर्थात् वैष्णव-तंत्र के अनुसार यही भक्ति का स्वरूप है। अत्यन्तदृढ़ तथा सर्व से अधिक स्नेह तो प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के प्रति ही होता है, अन्य के प्रति नहीं। अतः प्राणी जब भगवान को अपनी आत्मारूप जानने लगता है, तब उसका भगवान् में सर्वतोधिक स्नेह होता है– इसी तरह, कोटि-ब्रह्मांडरूप इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय आदि भगवान् के आधीन है, इस प्रकार के ज्ञान से जीव को प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान होता है। जीवमात्र में, भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान को तथा उनमें सुदृढ़ तथा सर्वतोधिक स्नेह को इन दोनों को सिद्ध करने के लिये यह भागवत–संहिता प्रकट की गयी है– इस प्रकार के स्नेह से ही भक्ति-सिद्ध होती है।

और इसी अभिप्राय को भागवत के द्वितीय श्लोक में व्यक्त किया गया है। यहां से, तृतीय श्लोक की संगति का इस तरह निरूपण किया गया है कि—

जिस तरह वेद का पूर्वकांड, यज्ञरूप परब्रह्म की क्रिया-शक्ति के प्रतिपादन द्वारा तथा जिस तरह वेद का उत्तरकांड परब्रह्म की ज्ञान-शक्ति के (ब्रह्मावगतिश्च) प्रतिपादन द्वारा– एक दूसरे के अर्थ के संपोषक, उपकारक है, उसी तरह, भागवत संहिता में यज्ञ तथा ब्रह्म–क्रिया तथा ज्ञान– ये दोनों ही साक्षात् तथा परंपरा से भक्ति के संवर्धक– हेतुभूत–माने गये हैं– अर्थात् निष्काम यज्ञादि करते रहने से चित्त-शुद्धि होती है, तदनन्तर, चित्त-शुद्धि से ब्रह्म-ज्ञान होता है और, ब्रह्म-ज्ञान से भक्ति होती है। तदनुसार, ज्ञान, भक्ति का साक्षात् कारण है तथा यज्ञादि भक्ति में, परंपरा से कारण है। क्रिया तथा ज्ञान– ये दोनों ही भक्ति में कारण हैं– और इसी के स्पष्टीकरण के लिये गायत्री को बीजरूप, वेद को वृक्षरूप तथा भागवत को फलरूप माना है। अतः यज्ञ तथा ब्रह्मज्ञान से संम्पन्न किंतु भागवत से अपरिचित व्यक्ति उतना ही निरर्थक-अधन्य-माना जायगा जितना फल-हीन एक वृक्ष। इसीलिये फलरूप भागवत का प्रकटीकरण उसका प्रारम्भ अनिवार्य है। तदनुसार, प्रारम्भ के तीनों श्लोकों में से 'जन्माद्यस्य' प्रथम श्लोक से बीजरूप गायत्री के अर्थ का निरूपण किया गया है। 'धर्मप्रोज्झित' इस द्वितीय श्लोक से वेदरूप वृक्ष का प्रतिपादन किया गया है तथा 'निगमकल्पतरोः' इस तृतीय श्लोक से भागवत को फलरूप से निरूपित किया गया है– और यही इन तीनों श्लोकों की संगति है।

यद्यपि प्रणव-ओंकार को सर्व मंत्रों का बीजरूप माना गया है– 'स सर्वोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्'–इसी तरह– भूर्भुवः स्वः– व्याहृतियां भी वेद की बीज–रूप में परिगणित की गयी हैं, किंतु इनका अर्थ स्पष्ट न होने के कारण, यहां, गायत्री के अर्थ का ही निरूपण किया गया है। यहां अक्षरशः गायत्री मंत्र को उद्धृत न करके उसके अर्थ को ही प्रकट किया है। इसका कारण यह है कि अग्नि के उपस्थान में गायत्री का उपयोग होता है- और इसी का निरूपण 'सवितुः' गायत्री मंत्र के इस पद से– ब्राह्मण– भाग में किया गया है। तदुपरान्त मंदेह आदि दैत्यों के निवारणार्थ भी गायत्री से अभिमंत्रित जल को अर्घ्य द्वारा ऊपर उछाला जाता है– 'गायत्र्या भिमंत्रिता आप उर्ध्वं विक्षिपति'। ऐसी गायत्री के प्रत्येक उपयोग को सूचित करने के लिये, तथा गायत्री के अनेकों अर्थ हैं– उनमें से कौन-सा अर्थ शुद्ध है, यह भी स्पष्ट करने के लिये, यहां गायत्री मंत्र को अक्षरशः न कहकर, उसके अर्थ से ही भागवत का प्रारम्भ किया गया है। और, वास्तव में देखा जाये तो अग्नि के उपस्थान में प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान् का ही वर्णन करती है

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'– श्रुति के अनुसार, भगवान् अग्नि के अन्तर्यामी हैं तथा मंदेहादि दैत्यों का निवारण भी भगवत् सामर्थ्य से होता है। अतः अग्नि के उपस्थान में अथवा मंदेहादि के प्रशमन में प्रयुक्त गायत्री केवल भगवान का ही निरूपण करती है– और यही तो गायत्री का अर्थ है। तदनुसार, भागवत के व्याख्यान में वाणी की निर्विघ्न प्रवृत्ति के लिये, गायत्री से भगवद् उपस्थान करते हुये 'जन्माद्यस्य' इस प्रथम श्लोक से गायत्री के अर्थ का निरूपण करते हैं।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि गायत्री मंत्र में 'सवितुः' तथा देवस्य यह दोनों पद षष्ठ्यन्त हैं, तदनुसार; इनका अर्थ यह होता है कि– (तत्) वह भगवान् जगत् का उत्पादक है (सवितुः), अतः कर्त्ता है, तथा देव (देवस्य) होने के कारण सर्वज्ञ है। गायत्री के इन दोनों पदों का अर्थ– अर्थात् 'सवितुः' और 'देवस्य' का अर्थ– यथाक्रम– 'जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरतः'– तथा 'अर्थेष्वभिज्ञः' पदों से किया गया है।

'वरेण्यम्' का अर्थ है– 'श्रेष्ठ'– जो श्रेष्ठ होता है उसी में भक्ति होती है। यहां ब्रह्म ही श्रेष्ठ हैं, अतः ब्रह्म ही भक्ति का विषय है। 'वरेण्यम्'– इस तरह भक्ति का बीज-हेतु है तथा भर्ग शब्द संसार की निवृत्ति का बोधक है– 'भर्जयत्यखिलाऽविद्याम्'– सम्पूर्ण अविद्या को जो भस्म करता है उसे 'भर्गः' कहते हैं। 'तेजोवारिमृदां' तथा 'धाम्ना'– ये दोनों पद, गायत्री के 'वरेण्यं' तथा भर्गः इन पदों के अर्थ रूप हैं।

उपर्युक्त गायत्री मंत्र की पंक्ति का, तदनुसार, यह अर्थ होता है कि जो सब को जन्म देता है– (तत्सवितुः– यहां सविता का अर्थ 'सूर्य' नहीं है, किंतु 'प्रसव' करने वाला– जन्म देने वाला है)– सर्वज्ञ है (देवस्य), श्रेष्ठ है (वरेण्यम्) तथा संसार का निवर्त्तक है (भर्गः), उसी का हम ध्यान करते हैं (धीमहि–सत्यं परं धीमहि)- प्रत्येक श्लोक में 'धीमहि' पद, गायत्री के 'धीमही' पद के ही अनुसंधान में समझना चाहिये। इस प्रकार की विशिष्टता वाले तत्व का पदार्थ का ध्यान अवश्य करना चाहिये, यही शास्त्र की आज्ञा है– 'धियः सर्वेन्द्रियाण्येव मनसा सह सर्वदा प्रेरयेत् यः समस्तानां तत् ध्यानं सर्वथा हितम्' – जो पदार्थ मन सहित समस्त इन्द्रियों और बुद्धि को प्रेरणा देता है उसी का ध्यान सर्वशः कल्याणप्रद होता है। श्री वेदव्यास, 'जन्माद्यस्य यतः' इस पंक्ति से उसी 'परं' पदार्थ के ध्यान का आदेश देते हुये भागवत–संहिता का मंगल–आरम्भ– मंगलाचरण करते हैं।

यहां से भागवत के प्रथम श्लोक की व्याख्या का प्रारंभ होता है–जन्माद्यस्य यतः-यहां यतः का अर्थ है, जिससे'–अर्थात् जिससे ,आद्यस्य' –आकाश का जन्म हुआ और यही अर्थ श्रुति भी करती है-,एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः। गायत्री के अर्थ में तो 'सवितुः' से 'प्रसव' -जन्म-

अर्थ ही लिया गया है, स्थिति तथा प्रलय नहीं। तदनुसार, उपर्युक्त 'जन्माद्यस्य यतः' के अर्थ में केवल 'जन्म'– सविता का ही निर्देश किया गया है।

स्थिति तथा प्रलय का अर्थ तो वरेण्यं तथा भर्गः गायत्री के इन अग्रिम शब्दों से पीछे से सूचित किये जाते हैं और जिसका अर्थ इसी श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा किया जायेगा। अर्थात् 'वरेण्यं' से स्थिति तथा 'भर्गः' से प्रलय' यथाक्रम यह दोनों अर्थ आगे कहे जायेंगे।

अथवा, गायत्री के– उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय– इस सूचितार्थ को लेकर भी इन तीनों ही अवस्थाओं का निरूपण, श्लोक-गत केवल 'जन्मादि' पद द्वारा भी, किया जा सकता है। श्रुति ने भी ब्रह्म से ही जगत् की उत्पति, स्थिति तथा लय का प्रतिपादन किया है– 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'– इत्यादि तदनुसार जन्मादि की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय यह अर्थ द्विविध प्रकार से किया जा सकता है– प्रथम अर्थ इस तरह है– 'जन्म आदिर्यस्य स्थिति भंगस्य'–अर्थात् 'जन्म है आदि में जिसके ऐसा स्थिति–युक्त प्रलय'। यह अर्थ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास के अनुसार है– द्वितीय अर्थ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास के अनुसार इस तरहहै– 'जन्म है आदि में, जिस जन्म-स्थिति तथा लय के'। यहां इस अर्थ में 'जन्म' शब्द को उत्पत्ति, स्थिति तथा लय- इस समुदाय का विशेषण बनाया गया है। इस अर्थ में उत्पत्ति शब्द की पुनरुक्ति अथवा अधिकता नहीं माननी चाहिये। प्रस्तुत 'जन्मादि'- शब्दों से यहां- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'– इत्यादि सम्पूर्ण श्रुति का अर्थ ग्रहण किया गया है– अतः, इस प्रकार का यह अर्थ वेदार्थ का प्रतिपादक होने से, इसमें अधिकता के अर्थ का तथा पुनरुक्ति का दोष नहीं आता। इस तरह यह 'जन्मादि' का अर्थ हुआ। 'अस्य' का अर्थ है 'मन से भी जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती ऐसे कोटि ब्रह्माण्डरूप इस जगत् की' जिससे उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है। यहां–'मन से भी अचिन्त्य- 'कोटि ब्रह्माण्डरूप जगत्' के निर्देश द्वारा भगवान् के माहात्म्य का बोध कराया गया है। 'यतः' इस अव्यय के प्रयोग द्वारा, यह निरूपित किया गया है कि इस जगत् का उत्पादक होता हुआ भी ब्रह्म अविकृत ही रहता है। जिस तरह कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिंतामणि तथा मंत्र आदि से उत्पन्न होते हुये पदार्थ दीख पड़ते हैं, किंतु, कामधेनु आदि अविकृत ही रहते हैं, उनमें कोई विकृति नहीं होती, उसी तरह ब्रह्म अविकृत रहता है। श्रुति के इस कथन द्वारा यह शंका भी निरस्त हो जाती है कि– 'यदि एक ही ब्रह्म अपने आपको ही 'जगत्' रूप बना देता है, तो इस तरह समग्र ब्रह्म के ही कार्यरूप होने पर, मूल कारणरूप ब्रह्म का ही उच्छेद हो जायेगा'। और यदि यह शंका हो कि ब्रह्म, जगत् का अंशी हैतथा जगत् उसका अंश है, तो यहां भी श्रुति से विरोध आयेगा, क्योंकि श्रुति ने ब्रह्म को निरवयव निष्कल तथा निष्क्रिय माना है– '( कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्दकोपो वा' ब्र. सू. २-१-२६' इस–

प्रकार की ब्र.सू. में जो शंका की गयी है)- तो इस शंका का भी निराकरण, श्रुति के इस कथन द्वारा, कि 'जगत् को उत्पन्न करता हुग्रा भी ब्रह्म ग्रविकृत ही रहता है, – हो जाता है।

'य ग्रादिकवये– में 'यत्' शब्द है– ग्रतः ग्रागे 'तत् शब्द भी होना चाहिये, क्योंकि 'यत्–तदोर्नित्यसम्बन्धः'– किंतु श्लोक में 'तत्' शब्द नहीं है– ग्रतः शब्द न्यूनता का दोष ग्राता है ग्रतः श्लोकान्वय में 'तत्' शब्द का ग्रध्याहार करना चाहिये, किंतु, गायत्री मंत्र के ग्रन्तर्गत 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' में जो 'तत्' शब्द ग्राया है, उसी के ग्रर्थ में, यहां– ग्रर्थात् गायत्री के व्याख्यान रूप इस श्लोक में– 'सत्यं परं' ये दो पद विद्यमान हैं– तदनुसार, 'तत्' शब्द के ग्रध्याहार की ग्रावश्यकता नहीं है। इस प्रकार, ब्रह्म, जगत् का कारण है, इसका प्रतिपादन इससे हो जाता है।

यहां यह जान लेना ग्रावश्यक है कि ग्रमुक मत में ब्रह्म को समवायिकारण तथा प्रकृति को निमित्त कारण माना गया है– ग्रौर, ग्रमुक के मत में इससे विपरीत ग्रर्थात् प्रकृति को समवायिकारण ग्रौर ब्रह्म को निमित्त कारण बताया गया है। ग्रमुक के मत में, ब्रह्म केवल कर्त्ता ही कहा गया है–इन प्रत्येक पक्ष के परिहारार्थ ही मूल श्लोक में 'ग्रन्वयात्' तथा 'इतरतः' इन पदों का प्रयोग किया गया है। यहां 'ग्रन्वय' का ग्रर्थ है समवायिकारण–जैसे, 'मृत्तिका' में से 'घट' ग्रादि उसके कार्यरूप ग्राकार बनते हैं यहां इस कार्यरूप 'घट' ग्राकार की समावायि कारण' मृत्तिका है। 'इतरतः' का ग्रर्थ निमित्त कारण है। उपर्युक्त उदाहरण में कार्य रूप घट का कुंभकार, चाक तथा दण्ड ग्रादि निमित्त कारण है। जिस तरह 'घट' ग्रादि कार्य में, समवायि उपादानकारण मृत्तिका तथा निमित्तकारण कुंभकार ग्रादि पृथक्-पृथक् है, उस तरह इस कार्यरूप जगत् के दोनों कारण भिन्न-भिन्न नहीं है-ग्रर्थात् जगत् का ब्रह्म ही उपादान-समयायिकारण है ग्रौर ब्रह्म ही निमित्त कारण है। ग्रभिन्न निमित्तोपादान ब्रह्म, जगत् का कारण है। इस श्लोक पंक्ति में– 'इतरतश्च'– 'च'कार का प्रयोग किया गया है। इसका ग्रभिप्राय यह है कि जितनी भी कर्त्ता, कर्म, तृतीया, चतुर्थी ग्रादि विभक्तियां हैं – 'यत्र येन यतोयस्य'– उन सबका ग्रर्थ 'भगवान्' ही है– भगवान ही कर्त्ता, वही कर्म, वही साधन है– उसके लिये ग्रौर उससे ही यह सब कुछ है ग्रौर जिसका उल्लेख दशम स्कंध, उत्तरार्ध में, श्रीवासुदेवकृत स्तुति प्रसंग में किया गया है। इसी तरह, जगत् की स्थिति भी ब्रह्म में रहती है। जगत् के प्रलय ग्रादि में, तदनुकूल ग्राधार के रूप से, समवाय का ग्रहण किया गया है – ग्रर्थात् तदनुकुल ग्रपेक्षा के रूप से, ब्रह्म का, प्रलय-स्थिति में भी, जगत् से समवाय सम्बन्ध रहता है। इसी कारण ब्रह्म सूत्र द्वितीय ग्रध्याय के द्वितीय पाद में समवाय-सम्बन्ध का जो निषेध किया गया है, वह कणाद मुनि के न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत समवाय-सम्बन्ध का निषेध है, तादात्म्य-रूप सम्बन्ध का निषेध नहीं है। श्रीव्यास ने तो ग्रपने

'तर्क पाद' वैनाशिक आदि से सम्मत समवाय का खंडन किया है, तादात्यरूप समवाय का नहीं यहां यह शंका होती है कि कार्य और कारण में जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध कहलाता है- अतः, प्रलयकाल में कार्य का नाश होने से वहां समवाय सम्बन्ध किसमें, और कैसे हो सकेगा- सम्बन्ध के लिये कार्य तथा कारण दोनों की आवश्यकता है- इसका समाधान यह है कि कार्यरूप जगत् का प्रलय काल में सर्वथा नाश नहीं होता- कार्य का केवल तिरोभाव होता है, नाश की दशा में भी जगत् की स्थिति अक्षर-ब्रह्म में रहेगी ही- इस तरह कार्य कारण के रहने से समवाय सम्बन्ध रहेगा और ब्रह्म समवाय कारण कहलायेगा।

यहां यह शंका होती है कि 'तत्सत्वे तत्सत्वम्'- जैसे जहां जहां वह्नि है वहां वहां धूम है- इस प्रकार के सम्बन्ध को- एक के होंने पर दूसरे का होना- अन्वेय' कहते हैं– तथा तत् अभावे तत् अभावः'- 'यत्र यत्र वह्निर्नास्ति'- तत्र तत्र धूमोनास्ति'- इस प्रकार सम्बन्ध को उसके न होने पर उसका न होना- व्यतिरेक कहा जाता है। तो फिर यहां 'अन्वय' का अर्थ समवायिकारण तथा 'इतर' का अर्थ निमित्त- कारण- कैसे हो सकता है ? इसका ससाधान यह है कि ब्रह्म जगत् का कारण है। किंतु इसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है- यह तो एक वेद-सिद्ध प्रमाण है- और, इसीलिये यहां से प्रत्यक्ष सिद्ध अन्वय- व्यतिरेक नहीं माने जा सकते । अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार करने पर एक दोष यह भी है कि वहां व्यक्तिरेक में ब्रह्म का अभाव भी मानना पडेगा किंतु, ब्रह्म का अभाव तो कहीं भी नहीं देखा गया। जब कि आकाश, पुष्प जैसी बुद्धि-कल्पित वस्तु की सत्ता भी, ब्रह्म से अन्वित होने के कारण ही भासित होती है- अर्थात्- आकाश, पुष्प की बाह्य सत्ता न होते हुये भी बुद्धि में सत्ता अवश्य है। आकाश-पुष्प के उच्चारण करते ही बुद्धि में अमुक पदार्थ उपस्थित होता है और उसकी सत्ता, ब्रह्म से अन्वित- अनुस्यूत- होने से ही है। इसी संदर्भ में यह कहा गया है कि जो कुछ है, जो कुछ नहीं है-' यदस्ति-यन्नोस्ति'- वह सब कुछ ब्रह्म-रूप से, निमित्त रूप से, अधिष्ठान रूप से प्रयोजक रूप से, ब्रह्म ही जगत् का कारण है- और इसी का निर्देश 'अन्वयादितरतश्च' पद द्वारा किया गया है।

ब्रह्म ही जगत् का कारण है और इसीलिए वह सर्वज्ञ कहा गया है। सर्वज्ञ हुये विना, वह जगत् का कारण नहीं बन सकता। लौकिक व्यक्ति की तरह ब्रह्म 'फल' का जानकार नहीं है ऐसा कथन अनुचित है- और इसी का संकेत 'अर्थष्स्वभिज्ञः' इस पद द्वारा किया गया है। इस पद का वास्तव में गूढ़ तात्पर्य यह है कि ब्रह्म, पूर्ण वैराग्य से– निष्काम भाव से युक्त है, तथा उसे कोई पदार्थ ईप्सित नहीं,- और इसो हेतु से 'अर्थानामभिज्ञः'- अर्थो का जानकार- इस प्रकार

की कर्मषष्ठी का प्रयोग न करके– 'अर्थेषु अभिज्ञः'- अर्थो में जानकार- ऐसी विषय सप्तमी कही गई है- अर्थात् ब्रह्म, पदार्थो में अनासक्त रहता हुआ उनके विषय में जानकार अवश्य है। यहां 'अर्थेषु' बहुवनान्त पद है– क्योंकि ब्रह्म के एक प्रयोजन में, अनन्तों प्रयोजन होते हैं– एक प्रयोजन भी अनेकों प्रयोजनों के लिये हो सकता है– और, ब्रह्म उन सबका जानकार है।

ब्रह्म, प्रयोजन अथवा फल का जानकर होता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं है– अर्थात् इस निमित्त से उसे न हर्ष है न विषाद- इसी का सूचन करने के लिये–प्रयोजनवाची 'अर्थेषु' में तथा ज्ञानशक्ति-वाचक 'अभिज्ञः' में- इन दोनों पदों में- 'अर्थाभिज्ञः' इस तरह समास नहीं किया गया। 'अर्थाभिज्ञः' ऐसा समस्त पद न देकर, प्रयोजन-निर्देशक 'अर्थेषु' तथा ज्ञान-शक्ति निर्देशक 'अभिज्ञः' इन दोनों पदों का पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है। यहां 'अर्थ' शब्द प्रयोजनवाची है।

अथवा, 'अर्थेषु' में विषय सप्तमी से अर्थ न लगाकर, निमित्तार्थक सप्तमी से अर्थ किया जाये तो तात्पर्य यह होगा- 'पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये इस जगत् को उत्पन्न किया'। तथा 'अर्थेषु' का यह तात्पर्य होगा- 'एक ही प्रयोजन की प्रयोजन–कार्य-कारण-परंपरा'- और इस प्रयोजन परम्परा का भी उसे अभिज्ञः ज्ञान है। ब्रह्म ने, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये इस जगत् का निर्माण किया है। 'सभी जीवों की, सर्व-विध पुरुषार्थ सिद्धि के लिये, मैं इस जगत् का निर्माण कर रहा हूं'– यह वह ब्रह्म जानता है।

ज्ञान-मार्गीय यह मत कि ब्रह्म अपने लिये इस जगत् का निर्माण करता है, अशुद्ध है। भागवतकार के मत में 'ब्रह्म' स्वराट् है, वह अपने आप में ही रमण करता है– विषयों में नहीं। यद्यपि जीव भी, ब्रह्म के अपने ही रूप है, फिर भी स्वयं ईश्वर-ब्रह्म है तथा ये जीव ही है, ऐसे प्रकार भेद के कारण, ब्रह्म की 'स्वराट्' रूपता में कोई दोष नहीं आता। ब्रह्म अपने ही स्वरूप में स्वयं प्रकाशमान है– तथा विषयों में रमण नहीं करते। अथवा, विराट् के अन्तर्गत स्वराट् है और इसी कारण पूर्वोक्त सर्वसता का इससे समर्थन हो जाता है, अथवा, स्वयं को क्लेश नहीं– इसलिये ब्रह्म अपने ही आनन्द में रमण करते है। 'अन्तारमण' ही प्रलय का प्रयोजन है।

यहां तक उपर्युक्त श्लोक के प्रथम-पद द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस रूपात्मक जगत् का कारण ब्रह्म ही है। अब नामात्मक जगत् का अर्थात् वेद का कारण भी वही ब्रह्म है– इसका निरूपण 'तेने' इत्यादि पद द्वारा कहते हैं। यद्यपि यहां रूप-नामात्मक इस प्रपञ्च-द्वय का एकमात्र ब्रह्म ही कारण है– इसका विवेचन एक साथ ही किया जाता तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, तथापि, रूप-प्रपञ्च में तथा नाम प्रपञ्च में-इन दोनों में आसक्त रहने वाले जीव भिन्न-

भिन्न हैं, इसलिये नाम प्रपञ्च का पृथक् निरूपण किया गया है। बंध तथा मोक्ष दोनों भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं- यह निरूपण करने के लिये वेद का 'तेने ब्रह्म हृदा' पद से तथा जगत् का 'जन्माद्यस्य' पद से, अलग अलग निर्देश किया है- यद्यपि वेद में त्रिविध उत्पत्ति का ही निर्देश है, तथापि प्रलय के समय प्रपञ्च सूक्ष्म-संकुचित रूप से रहता है। जिस प्रकार वर्णों का अनेक भाषाओं के रूप में विस्तार है, उसी तरह श्रुति का भी, वेद की शाखाओं के भेद से विस्तार है।

यहां ब्रह्म पद का अर्थ वेद है, वेद का 'ब्रह्म' शब्द से जो उल्लेख किया गया, वह यह निर्देश करने के लिये कि वेद भी, ब्रह्म की तरह अविकृत है। ऐसे अविकृत वेद का, आदिकवि ब्रह्मा के लिये संकल्प मात्र से विस्तार किया- अर्थात् ब्रह्मा को, भगवान् ने, वेद का ज्ञान, हृदय-पूर्वक, मनःपूर्वक (हृदा) दिया। यहां 'हृदयपूर्वक' इस कथन से यह निर्देश किया गया है कि इस ज्ञान के अनुदान में प्रभु का अपना स्वार्थ भी निहित है। यहां 'हृदा' का अर्थ पुराण भी होता है- 'पुराणं हृदयं स्मृतम्'- तदनुसार, इसका यह अर्थ भी होता है कि भगवान ने पुराण सहित-(हृदा) वेद का ज्ञान आदिकवि ब्रह्मा को दिया। भगवान ने ब्रह्मा को वेद का बोध कराया, इसका प्रमाण श्रुति में मिलता है- 'यथा यो ब्राह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै' वेदांश्च प्रहिणोति- अर्थात् भगवान् ने ब्रह्मा को प्रकट किया तथा उनको वेदों का ज्ञान कराया। जितने भी गूढ़ अभिप्राय होते हैं वे हृदय में ही निगूढ़ रूप से रहते हैं- अतः यहां 'हृदा' का एक अर्थ यह भी है कि भगवान् ने अपने अंतरंग अभिप्राय का ब्रह्मा को बोध किया, और भगवान का अंतरंग अभिप्राय वेद में ही है, लोक में नहीं।

'तेने ब्रह्म हृदा यः'- इस श्लोक में 'यः' पद से गायत्री के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस तृतीय पाद के 'यः' पद का ग्रहण किया गया है– तदनुसार, इस श्लोक पंक्ति का वही अर्थ होगा जो गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ है- अर्थात् गायत्री के 'सर्व प्रेरकत्व' का अर्थ ही उपर्युक्त श्लोक पंक्ति में संगृहीत है- अर्थात्, 'जिससे जन्मादि होते हैं और जिसने ब्रह्मा को वेद का बोध कराया, वही ब्रह्म सबका प्रेरक है'- इस तरह 'यः' पद द्वारा इस श्लोक पंक्ति में, गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ ग्रहण किया गया है। श्लोक पंक्ति द्वारा, गायत्री के तृतीय पाद का अर्थ संगृहीत किया गया है- यह सिद्ध करने के लिये ही श्लोक में 'यः' पद का प्रयोग किया गया है- यदि यह अर्थ अभिप्रेत नहीं होता तो 'यः' पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' पद में प्रयुक्त 'यतः' में सार्वविभक्तिक 'तसि' के प्रयोग से 'यतः' को व्याकरण के नियमानुसार सभी विभक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है- तदनुसार 'तेने ब्रह्म हृदा यः'

इस पंक्ति में 'यः' की जगह 'यतः' का प्रयोग किया जा सकता था- किन्तु यह न करके 'यः' का प्रयोग ही किया- उससे यह स्पष्ट किया गया है कि गायत्री के तृतीय पाद का सम्पूर्ण अर्थ इस श्लोक पंक्ति में संगृहीत है।

आदिकवये– वेदमार्ग के सर्वप्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा ही हैं– इसलिये यहां 'आदिकवि' से ब्रह्मा का ग्रहण किया गया है। वेदों के अर्थ में निष्ठा रखनेवाले अन्य व्यक्तियों को भी, उसी रूप से, ब्रह्मरूप से ही, मुक्ति मिलती है, यह तात्पर्य है। आदिकवये– में ब्रह्मा के लिये कवि– पद के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट किया गया हैं कि वह शब्द–रस के ज्ञाता है। अथवा 'कवि' पद, परोक्ष रूप से ब्रह्मा का बोधक है– क्यों कि, 'परोक्षप्रिया वै देवाः– परोक्षं मम च प्रियम्'– देवताओं को परोक्ष–गुप्त–कथन प्रिय है। अतः परोक्ष कथन के लिये 'कवि'– पद दिया गया हैं– अथवा, कविलोग, अन्यथा कथन का सामर्थ्य भी रखते हैं–इसलिये भी कवि पद का प्रयोग किया गया है।

यदि केवल 'कवि' पद का ही प्रयोग किया जाता अर्थात् आदिकवये– में 'आदि' शब्द का प्रयोग न करते, तो केवल 'कवि'– पद से नवीन कवियों का भी ग्रहण किया जाता– और नवीन कवियों में दोष की संभावना होती है– किन्तु, यहां 'आदि' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट किया गया है– कि ब्रह्मा में कोई दोष नहीं, क्योंकि इनके सदृश दूसरा है नहीं।

अथवा, ब्रह्मा ने अनेक विध स्तोत्रों से भगवान् को संतुष्ट किया, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् ने ब्रह्मा को वेद के ज्ञान से प्रकाशित किया– इसका निर्देश करने के लिये भी, 'आदिकवि' पद का प्रयोग किया गया है।

मुह्यन्ति यत् सूरयः– ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के लिये वेदों की कोई उपयोगिता नहीं– उद्भट पंडित लोग भी वेदों के अर्थ में भ्रांत हैं–'यज्ञ लौकिक हैं, उनमें–यज्ञों में– जो वैदिकता है वह इसलिये कि उनके अनुष्ठान से फल की प्राप्ति होती है– अपनी इस मान्यता के कारण मीमांसक वेदार्थ में भ्रांत ही हैं– इसी तरह 'ब्रह्म, जीवों का केवल आत्मरूप है'– अपने इस मंतव्य के कारण सांख्य तथा योग मार्ग के पंडित भ्रांत हैं। केवल, वैदिक मार्ग वाले भ्रांत नहीं हैं। पौराणिक, यद्यपि सत्–कार्यवाद को मानते हैं, तथापि, उनका निरूपण 'पुरुष' तक ही सीमित है– 'पुरुषोत्तम' को नहीं जानते। अतः ये पौराणिक तथा इनका अनुसरण करने वाले भी, वेदार्थ में भ्रांत ही हैं। अपनो भगवद्–विमुखता के कारण ही इनकी वेदार्थ में भ्रांति रही। इस–लिये, वेद के अर्थ को या तो भगवान् ही जानते हैं या भगवद्–संमुख रहने वाला जीव ही।

यहां यह शंका होती है कि, यदि ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी वेदार्थ नहीं जानता तो फिर मीमांसकादि की पद्धति से किये गये यज्ञादि से पुत्रादि रूप फल की जो प्राप्ति होती है, उसका क्या कारण ? इसका उत्तर यह है कि वेद, भगवद्-स्वरूप होने के कारण सर्व समर्थ है- इसीलिये विविध कामनाओं से आतुर प्राणियों की सर्व कामना की सिद्धि के लिये वेद का प्रचार हुआ है- और, इसी तरह उसकी अनेक शाखाओं का विभाग भी किया गया है-- और इसी तरह इस प्रकार के शास्त्रीय वाक्य--उद्धरण भी मिलते हैं यथा पहिले पुरूरवा की कामना-पूर्ति के लिये वेद--त्रयी उसके हृदय में उत्पन्न हुई, कभी हृदय में पुरुष रूप में वेद उत्पन्न हुये--अथवा, 'वेद, पहिले ओंकार रूप में था'-- (वेद: प्रणव एवाग्रे) -- तत्पश्चात् उसका ऋग्-यजु:-साम इस तरह विभाग किया गया। वास्तव में तो--वेदों का सर्व प्रकार से उपयोग तो ब्रह्मा ने ही किया है। इसलिये, वेद के तात्पर्य को विना समझे ही जो लोग वेद का अन्य प्रकार से ही अर्थ करते हैं, वे सभी उपेक्षणीय हैं।

जीवों को, प्रपंच से बन्धन तथा वेद (ज्ञान) से मोक्ष मिलता है। भगवान् रूप-प्रपंच तथा नाम प्रपंच इन दोनों से ही क्रीड़ा करते हैं, यही भगवान् का माहात्म्य है।

इस तरह, भगवान्, पूर्ण गुण विग्रह से युक्त है-- यह प्रति--पादित करके, भगवान् के 'निर्दोषत्व' को सिद्ध करते हुये, 'भर्ग' शब्द का अर्थ कहते हैं--

'तेजो वारिमृदां यथा विनिमय:'-- भगवान् में माया तथा माया के कार्य का लेशमात्र भी नहीं है-- इसीलिये वह वरणीय--वरेण्य है, अथवा दोषरहित हैं। ('भर्ग शब्द गायत्री में' संसार की निवृत्ति करनेवाला' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है--अथवा, 'भर्ग' शब्द यहां भक्ति के बीज का निर्देश करता है।) दोषों के अभाव पक्ष में-- दो प्रकार के दोष कहे गये हैं- स्वयं ही दुष्टता का संपादन करने का दोष, अथवा, सेवकों का उद्धार नहीं करने का दोष। इनमें से प्रथम दोष का-- स्वत: दुष्टता--संपादक--दोष का भगवान् में अभाव है। देह, इन्द्रिय तथा अंत:करण के धर्मों का अपने में संबन्ध करना, यह स्वत: दुष्टता--संपादक रूप प्रथम दोष है और यह दोष प्रत्येक में होता है। इसलिये इनके दृष्टांत भी अनेकों है। इनके सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से भी अनेकों दृष्टांत हैं। दृष्टांत का आशय यह है कि जिस प्रकार, पृथिवी, जल, तेज, -- इनमें से एक की दूसरे में जो प्रतीति अथवा आभास होता है वह मिथ्या है- केवल देखने वाले की बुद्धि ही उस प्रकार की हो जाती है, किन्तु, वहां उस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार से,भगवान् में अथवा उनके अवतारों में, अथवा जिनको फल की प्राप्ति हो चुकी हैं ऐसे भक्तों में, देह, इन्द्रिय, अन्त:करण के धर्मों का संबन्ध मिथ्या है। अर्थात् तेज में जल की बुद्धि, जिस तरह मृगजल में, होती है-- जल में पृथवी की बुद्धि, जिस तरह

रात्रि के अन्धकार में जलाशय में, होती है, पृथ्वी में तेज की बुद्धि, जिस तरह मणि आदि में होती है, पृथ्वी में जल की बुद्धि, जिस तरह काच आदि में होती है, जल में चन्द्र-रूपी तेज की बुद्धि जैसे बादलों में होती है-और, तेज में वस्त्ररूप पृथ्वी की बुद्धि, जिस तरह चन्द्र-किरणों में, होती है-इसी तरह स्व-समान-सजातीय-पदार्थ में अर्थात् शुक्ति आदि में, रजत की भ्रांति होती है। एक वस्तु की दूसरी वस्तु है जो प्रतीति होती है वह देखने वाले की बुद्धि का भ्रम है, क्योंकि, वहां उस प्रकार की वस्तु का अस्तित्व ही नहीं। जिस तरह ये पदार्थ जीवों की बुद्धि से कल्पित कर लिये जाते हैं, उसी तरह भगवान् में-तथा उनके अवतारादि में, देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्मों का संबन्ध भी जीवों की बुद्धि से परिकल्पित है, इसलिए मिथ्या है।

यत्र त्रिसर्गो मृषा- इस पंक्ति में 'यत्र' पद द्वारा, निमित्त तथा अधिकरण इन दोनों का ग्रहण किया गया है- अर्थात् वहां ब्रह्म में, तीनों गुणों के कार्यरूप जो देह, इन्द्रिय तथा मन हैं, अथवा इन गुणों के धर्म, अथवा इनके कारण (प्रकृति), अथवा इनके अधिकरण अथवा अर्थ-रूप रस, स्पर्श आदि हैं, उन सभी का, अध्यास नहीं है। संक्षेप में, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में प्राकृत गुण-कृत शरीर का तथा इन्द्रियादि का सम्बन्ध अथवा तत्कृत अध्यास नहीं है।

मायावादी की तरह यहां देह, इन्द्रिय आदि के केवल मिथ्यात्व-प्रतिपादन में 'मृषा' का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि, ब्रह्म, मिथ्याभूत देह, इन्द्रिय आदि का आधार है, ऐसा कहीं भी प्रसिद्ध नहीं- श्रुति ने ब्रह्म को सभी सत्य-वस्तुओं का आधार बताया है- 'सदायतना, सत्प्रतिष्ठा'। तदनुसार सर्व का आधार रूप ब्रह्म, सत्य स्वरूप है, इस कारण उसमें- देह तथा इनके धर्म, जीव को अपने अज्ञानादि दोष को लेकर अर्थात् अध्यास से ही प्रतीत होते हैं- और यही सिद्ध करने के लिये कि ब्रह्म में देह इन्द्रिय आदि धर्मों की प्रतीति मिथ्या है, तथापि केवल लोक-दृष्टि से तीनों गुणों के कार्यों की उसमें प्रतीति होती है, दृष्टांतों को उद्धृत किये हैं। (संक्षेप में यह तात्पर्य है कि ब्रह्म में देहादि के धर्म, लोक दृष्टि से प्रतीत होते हैं, अन्य धर्मों की अर्थात् प्राकृत की तरह देह, इन्द्रिय आदि धर्मों की ब्रह्म में प्रतीति होना मिथ्या है।)

तेजोवारि मृदाम्- तेज, जल तथा मृत्तिका इनमें से- जल में प्रवृत्ति है, तेज में प्रकाश है- किंतु मृत्तिका में न प्रवृत्ति है और न प्रकाश- इस प्रकार से वैधर्म्यों के स्पष्ट होते हुये भी जिस प्रकार एक में दूसरे का भ्रम होता है- जैसे जल में प्रकाश का, तेज में प्रवृत्ति का तथा मृत्तिका में प्रकाश (तेज) तथा प्रवृत्ति (जल) इन दोनों का भ्रम होता है, उसी तरह कोई भगवान् में देह, इन्द्रियों की कल्पना करके इनको चिदानन्द रूप बताते हैं। कोई चिदानन्द रूप ब्रह्म में देह-इन्द्रियों

आदि की कल्पना कर लेते हैं। कोई आवेशात्मक कृष्ण में जड़, जीव, का सम्बन्ध मानते हैं। कोई जड और जीव विशेष में ही सामर्थ्य है ऐसा मानते हैं। कोई शरीर में माया तथा माया से युक्त भगवान् के अध्यास की कल्पना करते हैं। कोई, माया-विशिष्ट भगवान में अपनी इच्छा से शरीर का सम्बन्ध होता है, ऐसा मानते हैं। इस प्रकार से मानने वाले इन सब की बुद्धि ही भ्रांत है, ब्रह्म में प्राकृत शरीर एवं इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म में देहादि का व्यवहार जिस प्रकार होता है, वह प्रकार हम अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। इस तरह, भगवान् में जड और जीव के धर्म मिथ्या हैं– यह प्रतिपादित किया गया। ब्रह्म में माया तथा माया के कार्य का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। और, इसीलिये वह वरणीय है– अर्थात् सुन्दर है। तदनुसार भगवान् में स्वतः दोष का अभाव है– इस प्रकार के पूर्वोक्त कथन का यहां प्रतिपादन हो जाता है।

अब, भगवान के भजनीय गुणों के वर्णन पूर्वक, उनके सेवकों द्वारा गुण का निरूपण किया जाता है- 'धाम्ना स्वेन'– भगवान् अपने स्वरूप की स्फूर्ति से ही सभी प्राणियों की सर्वविध अविद्या का नाश कर देते हैं। विना किसी साधन के, भगवान् का स्वरूप ही अविद्या का नाश कर देता है। इसमें कलि-काल आदि भी प्रतिबंध करने में असमर्थ हैं, क्योंकि यहां स्वरूप ही अविद्या का नाश करने वाला है– इसे 'प्रमेय' – बल कहते हैं।

देह, इन्द्रिय आदि में से अविद्या-जन्य-आत्मभाव की निवृत्ति होने पर, अर्थात् देहेन्द्रिय आदि में आत्मभाव रूपी कापट्य निवृत्त होने पर, अपने-अपने अधिकारानुसार, अर्थात् जिस प्राणी का जैसा अधिकार है, उसको उसके अनुरूप, अपने आप ही स्वतः-सिद्धि की प्राप्ति हो जायेगी– 'तस्मिन् निराकृते शिष्टं स्वत एम भविष्यति'। इस प्रकार के निरूपण द्वारा गायत्री के 'स' कारान्त 'भर्गस्' शब्द का अर्थ किया गया है। भर्ग का अर्थ है–'सर्व अविद्या का नाशक'– भर्जयत्यखिलाविद्यां'– (गायत्री मंत्र में 'भर्गस् ऐसा सकारान्त शब्द है– और इसी की यह व्याख्या की गई है।)

अब, गायत्री में– 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'–मे आये हुये 'तत्' शब्द की व्याख्या करते हैं। 'सत्यं परं धीमहि'- जो काल-त्रय से अबाधित, सर्वलोक प्रसिद्ध हो, उसे 'सत्य' कहते हैं– और जो श्रेष्ठ, पुरुषोत्तम– रूप सर्ववेद-प्रसिद्ध हो, वह पर कहा जाता है। धीमहि का अर्थ हैं- 'जो कालत्रयाबाधित सर्वलोक तथा सर्ववेद–प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुषोत्तम है, उसका हम ध्यान करते हैं अथवा उससे प्रीति करते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् दिव्य स्वरूप से युक्त, निर्दोष तथा दिव्य पूर्ण गुण हैं। अतः परम सुन्दर हैं, वरण करने योग्य हैं– अर्थात् अविद्यानाशक तथा अत्यन्त सुन्दर होने के कारण भगवान् ही एकमात्र वरेण्य है।

गायत्री में तथा प्रस्तुत श्लोक में उभय में 'धीमहि' इस एक ही पद का समान पद का जो प्रयोग किया गया है, उससे यह निर्देश किया गया है कि भागवत को भी वैदिकत्व प्राप्त है- इसी हेतु से यह कहा जाता है कि यह भागवत पुराण वेद-सम्मत है। इस तरह यहां तक गायत्री-रूप बीजभाव का निरूपण किया गया है।

अब, वृक्षभाव का निरूपण करने के लिये, 'भागवत कल्पवृक्ष है,– यह प्रतिपादित किया जाता है–

**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां**
**वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।**
**श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः**
**सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥२॥**

श्लोकार्थ : मात्सर्य आदि दोषों से रहित तथा कृपालुत्वादि गुणों से युक्त संत जनों के– भगवद्-भक्तों के- कापट्यादि से मुक्त परम धर्म का यहां भागवत में निरूपण किया गया है। यहां भागवत शास्त्र में, जानने योग्य उस परम वस्तु–तत्व का साक्षात् भगवान् का निरूपण किया गया है जो कल्याणकारी हैं तथा त्रिविध ताप का समूल विनाशक है। महामुनि श्री वेदव्यास ने इस दश-रस–युक्त भागवत का प्रणयन किया है–तो फिर, भगवद् अतिरिक्त अन्य पदार्थ का निरूपण करनेवाले अन्य शास्त्रों से प्रयोजन ही क्या ? इस भागवत शास्त्र का ऐश्वर्य इतना अमाप है कि इसके श्रवण की इच्छा करनेवाले महा भाग्यशाली जीव, तत्क्षण ही श्रवण करते ही ईश्वर को अपने हृदय–कमल के संपुट में अवरुद्ध कर लेते हैं– अपने वश में कर लेते हैं।

**धर्मः प्रोज्झितकैतव इति**। धर्मो ज्ञानं च साधनम् । भगवदाविर्भावः साध्यः। तदनु तत्र प्रवेशः फलम्। एतत्सर्वं भागवतादेव भवतीति विशिष्टकल्पद्रुमत्वम्। विधिसम्बन्धो धर्मलक्षणम् ।

वेदश्च प्रमाणम् । स यज्ञात्मको धर्मः । आचारोऽपि धर्मः पौराणिकः । सत्यादयोऽपि धर्माः । तपःप्रभृतयश्च श्रवणादयश्च । तत्र यज्ञेषु पूर्वोक्तन्यायेनाऽतद्धेतोरपि फलसाधनतयोक्तरूपेण स्वर्गादिपदभ्रमजननाद्वा कापट्यं सम्भवति । आचारेऽपि **"शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुष्वि"** त्यादिन्यायेन प्रवृत्तिसङ्कोचार्थं गुणदोषौ विधीयते इति कापट्यम् । सत्यादिष्वपि व्यवहारस्य सन्निपातत्वात्कापट्यम् । तपःप्रभृतिषु च "कः क्षेमो निजपरयोः कियान्वाऽर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण" । "कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतस" इति वाक्यात्कापट्यम् । सर्वत्र विहितनिषेधात्कापट्यप्रतीतिः । न तथा श्रवणादिषु किञ्चित्कापट्यमस्ति । तद्धर्मकर्तृष्वपि कापट्याऽभावः प्रशब्दार्थः । **प्रकर्षेण उज्झितं कैतवं** यस्मात् । स श्रवणादिधर्मो भागवत एव । परमश्चाऽयम् । भगवद्धर्मत्वात् । परो मीयत इति भगवत्साक्षात्कारहेतुत्वाद्वा **परमः** । कर्तृवैशिष्ट्यादपि धर्मोत्कर्षमाह-**निर्मत्सराणां सतामिति** । परोत्कर्षाऽसहनं **मत्सरो** दोषः । कृपालुत्वादिधर्मसम्बन्धो गुणः । दोषाभावगुणयुक्ता अस्य धर्मस्य सम्बन्धिन इत्युत्कर्षः । अन्यत्र मात्सर्यादयः स्पष्टा एव । ज्ञानमप्यत्रैवेत्याह-**वेद्यमित्यादि** । **अत्र वास्तवं वस्तु वेद्यम्** । यज्ञब्रह्मकालपुरुषा एव सर्वत्र वेद्या उक्ताः । तेषामपि वस्तुस्वरूपो भगवानत्रैव वेद्य उक्तः । तदेव हि वास्तवं रूपं सर्वेषाम् । किञ्च । स्वप्रकाशस्याऽपि वेद्यताऽत्रैव शास्त्रे सिद्धा नाऽन्यत्र । अन्यत्र वेद्यस्याऽवास्तवत्वं, वस्तुनश्चाऽवेद्यत्वमिति स्थितिः । अविद्यावद्विषयत्वं च । भागवते तु मुक्तानामधिकारः । सर्वविद्यस्याऽपि भगवतस्तदिच्छया प्राकट्ये वेद्यत्वम् । अन्यत्र पर्यवसितबुद्धीनामेव तादृशे अवास्तवत्वप्रतीतिः । सर्वेषां वा वास्तवं रूपं वेद्यमिति । यज्ञादिषु कृतेषु च न शान्तपरमानन्दाऽवाप्तिः पारलौकिकत्वाच्च तस्य फलस्य । साम्प्रतं दुःखानुभवश्च । आत्मज्ञानेऽपि शान्तता, परं न परमानन्दः । तस्यैव परमानन्दत्वं शास्त्रविप्रतिषिद्धम् । भगवत्साक्षात्कारे त्वन्ततः सायुज्ये वा शान्तपरमानन्दः । तत्क्षणमेव तापत्रयस्योन्मूलनम् । तस्मादत्रैव फलं साधनं चेति ज्ञानोत्कर्षः । शब्दरसाभिज्ञानामपीदमेवोत्कृष्टमित्याह । **श्रीमति** लक्ष्मीयुक्ते **भागवते**, दशरसयुक्त इति यावत् । काव्येष्वप्येतच्छायारूपमस्ति । तथापि निन्दितत्वम् । कर्तृदोषात् । तदत्र शङ्कितमपि नेत्याह-**महामुनिकृत इति** । वेदव्यासकृत इत्यर्थः । समाधावनुभूय कृतत्वात्समाधिभाषार्थं महामुनिकृतमित्युक्तम् । असाधारणमुपासनाकाण्डोत्कर्षमाह । मन्त्रशास्त्रमुपासनाकाण्डः पञ्चरात्रं च । तत्र मन्त्रशास्त्रे देवता स्वाधीना भवति । परं नेश्वररूपा । पञ्चरात्रेऽपि मन्त्राऽधिष्ठानस्वरूपेणैव स्वाधीनता । तथा स्थानाधिष्ठानेष्वपि । साक्षात्पुराणपुरुषस्त्वत्रैव हृद्यवरुध्यः । अत एव **परै**र्भगवद्व्यतिरिक्तप्रतिपादितैर्भेदेन प्रतिपादितैर्वातैर्वा **किं?** न किञ्चिदित्यर्थः । वाशब्दस्त्वनादरे । अत्र तु **ईश्वरः** कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः अदृष्टकालादिबाधकं परिहृत्य कर्त्तुं, अदृष्टादिकृतं दूरीकर्त्तुं च, भ्रान्तेष्वन्यथाकर्तुं च समर्थ **ईश्वरः सद्य इति** भागवतश्रवणमात्रेण हृदयाऽऽरूढो भवति विचारचिन्तनव्यतिरेकेणाऽपि । अत्र प्रतिपादकानां महापुरुषत्वात्तद्वाक्यं

दुर्बोधमिति बोधनप्रकारमाह– **कृतिभिः शुश्रूषुभिरिति** । बुद्धेः कौशलं कृतित्वमुक्तबोधोपयोगि । शुश्रूषा तु कथनोपयोगिनी । तदुभयसम्पत्तौ तत्क्षणादेवाऽवरुध्यत इत्यर्थः । अथवा । भागवतस्योत्कर्षमाह–**किं वा परैरिति** । भागवतस्योत्कर्षहेतुभिरन्यैरुक्तैरलम् । वेत्यनादरे । अर्थतः शब्दत उत्कर्षप्रकारा बहवः सन्त्येव । तथाप्ययं महानुत्कर्षः । यद्भगवानेव **सद्यो हृद्यवरुध्यते** । कैः ? **अत्र शुश्रूषुभिः** श्रवणेच्छुभिः । सा श्रवणेच्छा महाभाग्यैरेवेत्याह । **कृतिभिः** कुशलैः । भाषात्रयविरोधपरिहारेण पदवाक्ययोर्भगवत्परता हि ज्ञातव्या । अन्यथा श्रुतमप्यश्रुतं भवति । **तत्क्षणादिति** । तदानीमेव भगवदर्थं प्रयत्नदर्शनात् । तस्मात्मात्सर्वोत्कृष्टं भागवतमिति वस्तुनिर्देशः ।।२।।

**सुबोधिनी :** धर्म और ज्ञान साधन है, भगवान् का आविर्भाव साध्य है– अर्थात् धर्म और ज्ञान से भगवान् का आविर्भाव होता है, तदनन्तर, उसमें प्रवेश को प्राप्त करना ही फल है । यह सब भागवत से ही संभव है । अतः भागवत एक विशिष्ट कल्प-वृक्ष है – अर्थात्, भागवत इच्छित से भी अधिक देता है । जिसका 'विधि' से सम्बन्ध हो, अर्थात् जो विधि-बोधित हो, वह धर्म है– और यही धर्म का लक्षण है– अर्थात् किसी भी कार्य को करने में वेद की आज्ञा को धर्म कहते हैं । धर्म में वेद प्रमाण है । वैदिक धर्म यज्ञात्मक है । आचार, पौराणिक धर्म है । सत्य, तप तथा श्रवण आदि भी धर्म हैं । अब, प्रथम श्लोक के कथनानुसार, वेद–विहित यज्ञादि धर्म में महान् पंडितों को भी मोह-भ्रांति होती है । वास्तव में देखा जाये तो स्वर्गादि लोक की प्राप्ति-रूप फल के लिये यज्ञ करने का विधान नहीं है, यज्ञादि का विधान तो श्रीकृष्ण के आनन्द की उपलब्धि के लिये है– ऐसी स्थिति में 'स्वर्ग-कामोयजेत' इस प्रकार के कथन द्वारा यज्ञादि को स्वर्ग का साधन बताते हुये भ्रम उत्पन्न किया जाता है । इसलिये, वैदिक–धर्म में कापट्य की संभावना है ।

आचार धर्म में भी 'शुद्धचशुद्धी विधियेते समानेष्वपि वस्तुषु– इत्यादि कथन द्वारा एक-सामान पदार्थों में भी भिन्न भिन्न प्रकार से शुद्धि और अशुद्धि का विधान माना गया है– गुण तथा दोष का यह विधान, प्राणियों की आचार-धर्म में प्रवृत्ति कराने की एक युक्ति मात्र है- अर्थात् आचार धर्म में मनमानी प्रवृत्ति रोकने के लिये, गुण-दोष का यह विधान किया गया हैं । अतः आचार धर्म में भी कापट्य है । सत्यादि धर्म, व्यवहार-दशा में असत्यादि से मिले रहते हैं । अतः उनमें भी कापट्य है । इसी तरह तप आदि धर्मों में भी कापट्य है । अपने और पराये का उपकार करनेवाले तपो-धर्म द्वारा अपना तथा अन्य का कल्याण अथवा अर्थ किस तरह सिद्ध किया जा सकता है ? अन्यत्र गीता में तो तप आदि धर्म की निंदा की गयी है– शरीर में स्थित पंच महाभूतों को तप आदि से जो कष्ट देते हैं वे मूढ़ हैं । इस तरह सर्वत्र विहित का निषेध किया

जाने के कारण, कापट्य की प्रतीति होती है।

श्रवणादि धर्म में, ऐसा, किसी भी प्रकार का कापट्य नहीं। श्रवणादि करने वाले भक्तों में भी कापट्य का अभाव हैं। यहां कापट्य के एकांत अभाव का निर्देश 'उज्झित' के पूर्व 'प्र' उपसर्ग के प्रयोग द्वारा किया गया है। अर्थात् भागवत में कापट्य धर्म का 'प्रकर्षरूप से' सर्वथा अभाव है। कपट-रहित श्रवणादि धर्म भागवत से ही सिद्ध किया जा सकता है। भगवद्-धर्म होने के कारण, यह परम धर्म है। अथवा, इससे 'परोमीयते' पर श्रीकृष्ण जाने जा सकते हैं– इसलिये, अथवा, यह धर्म भगवत साक्षात्कार में हेतु है, इसलिये भी इस धर्म को 'परम' श्रेष्ठ कहा है। श्री व्यास जैसे विशिष्ट महानुभावों से आचरित होने के कारण भी यही धर्म उत्कृष्ट है, और, इसी का निर्देश, 'निर्मत्सराणांसताम्' इस पंक्ति द्वारा किया गया है।

दूसरों के उत्कर्ष को सहन नहीं करना मत्सर–दोष कहलाता है। कृपालुता आदि धर्म सम्बन्धी विषय गुण कहलाता है। जो व्यक्ति दोष से रहित तथा गुण से युक्त हैं, वे ही इस श्रवणादि धर्म के सम्बन्धी हैं– अधिकारी हैं– अन्य नहीं, और, इसी में भागवत धर्म के उत्कर्ष की सिद्धि है। इससे अन्य धर्मों में ईर्ष्या आदि, मात्सर्य आदि स्पष्ट ही हैं। ज्ञान भी भागवत में ही निरूपित हुवा है, और इसीलिये जानने योग्य वस्तु तो भागवत में ही है– 'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु' इस प्रकार का कथन किया गया है। अन्यत्र तो यज्ञ-ब्रह्म-काल तथा पुरुष ये चार ही विषय जानने योग्य– वेद्य बताये गये हैं। किन्तु यहां भागवत में तो इन चारों का ही वास्तविक रूप ( वस्तु–स्वरूप ) जो साक्षात् भगवान् है, वही जानने योग्य कहे गये हैं, क्योंकि, भगवान् ही सब के 'वास्तविक' रूप हैं। तदुपरांत, अपने आप से ही प्रकाशित भगवान् यहां भागवत शास्त्र में ही जाने जा सकते हैं, अन्यत्र नहीं। क्योंकि, अन्य शास्त्रों में वेद्य-वस्तु ( जानने योग्य पदार्थ ) अवास्तविक हैं ओर जो वास्तविक वस्तु है वह अवेद्य है जानने योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में, अन्य शास्त्रों मैं निरूपित विषय, अविद्या से युक्त व्यक्तियों के लिये हैं– अर्थात् अन्य शास्त्रों में अविद्या-ग्रस्त जीवों को अधिकार है, किन्तु, भागवत में तो केवल मुक्त जीवों को ही अधिकार है।

सब के लिये अवैध होते हुये भी, भगवान्, भागवत धर्म में अपनी इच्छा से प्रकट होते हैं, तथा वेद्य बनते हैं। अन्य शास्त्रों में जिनकी बुद्धि समाप्त हो गयी है, अथवा लगी हुयी है उन्हीं को यहां साक्षात् भगवान् में अवास्तविकता की प्रतीति होती है, अथवा, वास्तव में देखा जाये तो, प्रत्येक व्यक्ति को, वास्तविक स्वरूप की जानकारी– वेद्यत्व– यहां ही प्राप्त हो सकती है।

यज्ञादि करने से, अथवा उनको जान लेने से– शांति तथा परम आनन्द प्राप्त नहीं होते,

क्योंकि यज्ञादि द्वारा प्राप्त होने वाला फल 'पारलौकिक' है– ऐहिक नहीं। अतः जब तक इहलोक में स्थिति है, तब तक तो दुःखानुभव ही करना होता है। आत्म-ज्ञान से भी शान्ति मिलती है, किंतु परम आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञानी के लिये इसी परमानन्द का निषेध शास्त्रों द्वारा किया गया है। भगवत् साक्षात्कार अथवा अन्ततः सायुज्य होने पर ही शान्ति तथा परमानन्द दोनों ही मिल जाते हैं– और प्राप्ति समकाल मे ही– तत्काल ही उसके ताप-त्रय का उन्मूलन हो जाता है। इसलिये, श्रवणादि धर्म वाले को तो साधन और फल यह दोनों यहां भागवत मे ही प्राप्त हो सकते हैं– और इसीलिये, ज्ञान की अपेक्षा श्रवणादि धर्म उत्कृष्ट माना गया है।

शब्द रस को भलीभांति समझने वालों के लिये भी यही भागवत ही उत्कृष्ट है– इसी का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में 'श्रीमद्–भागवते' इस पद द्वारा किया गया है। यह भागवत श्री से युक्त श्रीमद् है, अर्थात् भक्ति-रस सहित दश रस से युक्त है। जितने भी काव्य हैं उनमें यद्यपि इसकी छाया अवश्य है, तथापि काव्य निन्दित है, क्योंकि, उनके रचयिता सदोष हैं। यहां भागवत में कर्तृ-दोष की, अर्थात् उसके प्रणेता में दोष की शंका करना ही व्यर्थ है, क्योंकि यह श्रीमद् भागवत तो महामुनि की रचना है– अर्थात् सम्यक् मनन करने वाले– महामुनि– श्रीवेदव्यास द्वारा प्रणीत है। वेदव्यास ने समाधि में अनुभव करके इसको रचा है। इसी समाधि-भाषा का निर्देश करने के लिये यहां 'महामुनि-कृते' – इस पद का प्रयोग किया गया है– तदुपरांत इस पद से यह भी सूचित किया गया है कि इस भागवत का प्रणयन, समाधि में जैसी वेदव्यास को भगवान ने प्रेरणा दी, उसी के अनुसार मनन पूर्वक यह भागवत आलेखित की गयी है। वेदव्यास का कथन है कि मैंने स्वतन्त्रतया इस भागवत की रचना नहीं की है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इसमें भागवत में–कर्तृ-दोष नहीं है।

मंत्र-शास्त्र तथा पंचरात्र उपासना काण्ड है, इस उपासना काण्ड से भी अधिक असाधारण उत्कर्ष से युक्त यह भागवत है। मंत्र शास्त्र में देवता स्वाधीन होते हैं, किंतु वे ईश्वररूप नहीं है। पंचरात्र में भी देवता, मंत्र के अधिष्ठान रूप से ही स्वाधीन होते हैं, इसी तरह स्थान विशेष में– अर्थात् मथुरा आदि में भी, उसमें आवेश रूप से ही– स्थान-स्वरूप से ही- स्वाधीनता है। अर्थात् पंचरात्र के अनुसार उपासना करने वाले के तथा मथुरा आदि में निवास करने वाले के हृदय में, भगवान अवरुद्ध नहीं होते। साक्षात् पुरुषोत्तम तो यहां भागवत से ही हृदय में अवरुद्ध होते हैं। इसीलिये, भगवान से अतिरिक्त अन्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से, अथवा इससे भिन्न रूप से प्रतिपादित शास्त्रों से कौन-सा

फल सिद्ध किया जा सकता है? कोई भी नहीं। इसी का निर्देश 'किंवा परैः'-पद से किया गया है यहां 'वा' का अर्थ 'अनादर' है- अर्थात् भगवद्-अतिरिक्त अन्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र, अथवा भिन्न रूप में प्रतिपादन करने वाले शास्त्र अनादरणीय हैं। श्रीमद् भागवत में तो ईश्वर ही प्रतिपादित है- यह ईश्वर, करने में, न करने में, तथा अन्यथा करने में समर्थ हैं- अदृष्ट तथा काल आदि के भी बाधक हैं- दूर करनेवाले हैं। इनको दूर करके, जो करना हो वही कर सकते हैं, अदृष्टादि से किये गये प्रतिबंध को दूर करने में समर्थ है। जो भक्त भ्रांत हो गये हैं, उनकी भ्रांति को दूर करके, उनको सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं- यहां 'ईश्वरः' से यही तात्पर्य है। यही ईश्वर, श्रीभागवत के श्रवण मात्र से ही, विचार अथवा चिंतन किये बिना भी, तत्क्षण हृदय में आरूढ़ हो जाते हैं।

श्रीमद्-भागवत का प्रतिपादन करने वाले ब्रह्मा, नारद आदि महापुरुष होने से उनके वाक्य दुर्बोध हैं। उनका आशय यथावत् समझ में नहीं आ सकता- इसलिये उनके सम्यक् बोधन के प्रकार का निर्देश करते हुये कहते हैं कि 'कृतिभिः शुश्रूषुभिः'- जो व्यक्ति कुशल बुद्धि वाला है तथा श्रवण की उत्कट इच्छा से युक्त है, उनको भागवत का ज्ञान होता है- अर्थात् बुद्धि का कौशल भागवत के बोधन में उपयोगी है, तथा श्रवण की इच्छा कथन में उपयोगी है। अतः जिसमें कृतित्व है और जो सुनने की इच्छा रखता है, उसको इस ज्ञान का कथन उपयोगी है। इन दोनों के होने पर भगवान् तत्क्षण ही हृदय में आरूढ़ हो जाते हैं।

अथवा, 'किंवा परैः- इस पंक्ति में भागवत के उत्कर्ष का कथन है- अर्थात् भागवत के उत्कर्ष में अन्य अनेक हेतु हैं। उन सभी का यहां उल्लेख करने से कोई लाभ नहीं। अर्थ से तथा शब्द से, भागवत की उत्कृष्टता के, यद्यपि बहुत से प्रकार हैं- तथापि इनमें सबसे अधिक महान् उत्कर्ष तो यह है कि साक्षात् भगवान् को ही श्रवण की परमोत्कट इच्छा वाले भक्तजन, शीघ्र ही हृदय में पधरा कर रोक लेते हैं- इस प्रकार की यह श्रवणेच्छा परम भाग्य से ही होती है- और इसी का निर्देश यहां 'कृतिभिः' पद से किया गया है। यहां कृति का अर्थ 'कुशलता' है। परमत भाषा लौकिकी भाषा तथा समाधि- भाषा इन तीनों भाषाओं से विरोध न आये, इस तरह पद और वाक्यों की भगवत्परता को जानता हुआ जो कुशल व्यक्ति इस श्रीमद् भागवत को सुनता है, उसी के हृदय में भगवान् तत्क्षण पधार कर, वहां ही निवास करते हैं, अन्यथा सुना हुवा भी, अनसुना जैसा ही हो जाता है। यहां 'तत्क्षणात्' का तात्पर्य यह है कि इस तरह श्रवण करने वाले का, उसी समय, भगवत् प्राप्ति के लिये प्रयत्न देखा गया है।

इस समस्त व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रीमद् भागवत सबसे उत्कृष्ट है। इस प्रकार यहां वस्तु का निर्देश हुआ है।

यहां अनुबंध-चतुष्टय इस प्रकार हैं–

१. विषय- ईश्वर,
२. प्रयोजन-तापत्रय का उन्मूलन,
३. अधिकारी- सत्पुरुष,
४. सम्बन्ध- विषय के साथ ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव ।२।

अब, भागवत की फलरूपता का प्रतिपादन किया जाता है—

**निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।**
**पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।। ३ ।।**

श्लोकार्थ : पृथ्वी पर रहने वाले भावना-चतुर हे, रसिको, वेदरूपी कल्पवृक्ष से परिपक्व होकर स्वतः गिरे हुये शुक मुख को प्राप्त अतएव भक्ति रस से परिपूर्ण, मोक्षानन्द को तिरस्कृत करने वाले तथा प्रपञ्च को निवृत्त करने वाले, भागवत रूप रस का पुनः पुनः पान करो।

**निगमकल्पतरोरिति**। काव्यवद्रूपकनिरूपणे स्पष्टोऽर्थो भवति यद्यपि तथापि भागवते तथा कथनमनुचितम्। सर्ववेदसारोद्धारत्वात्। रूपकादिकं तु बुद्धिपरिकल्पितम्। अतो वाच्यार्थ एव वक्तव्यः। तत्र प्रमेयस्याऽप्रसिद्धावप्येतद्वाक्याऽन्यथानुपपत्या तादृशं प्रमेयमस्तीति बोद्धव्यम्। तत्र व्यापिवैकुण्ठेऽक्षरात्मके प्रणवबीजो वेदतरुरस्ति। ततो व्यासाख्यभगवदवतारे, आदिनारायणावतारे वा, सर्वजनाह्लादनाय मूर्तीभूतं देवतात्मकं तस्य फलमानीतम्। तदत्र निरूप्यते। मध्वादिवत्। तत्र "असौ वा आदित्यो देवमध्वि" ति स्वर्गस्थानां सूर्यो मधु। यथाऽस्माकं सारघम। तथा स्वर्गे कल्पवृक्षवद्वैकुण्ठेऽपि वेदैकसमधिगम्ये शब्दरसात्मकः कल्पवृक्षः। न तु लक्षणा। वेदस्योत्कर्ष आर्थिकः। नितरां गमयति ब्रह्म बोधयतीति परमोपनिषन्**निगमः**। एव **कल्पतरुः** सर्वफलदानसमर्थः। कल्पः स चाऽसौ तरुश्चेति कल्पतरुः। निगम एव कल्पतरुः। अतिपक्वं हि फलं **गलति** स्वत एव पतति। आगमनसमये पतितं शकुनमिव फलं समानीतमिति भावः। शुको व्यासपुत्रो मुक्तःवादत्राऽधिकारी। पिता ह्युत्कृष्टं पुत्रमुखे प्रयच्छति, फलं च विशेषतः। तच्च रसात्मकं, निर्भरैर्जलमिव सर्वेन्द्रियैः सम्बद्धं प्रेमरसं जनयति। तदेकीभूतं हृदये ह्रद इव तिष्ठति। तत्र भागवतं संश्लिष्टं सद्भक्तिरसाऽऽलोडितं मुखान्निस्सरतीति। शुकमुखं प्राप्य **अमृतं** मोक्षमपि **द्रावयति** शिथिलं करोतीति भक्तिरसोऽमृतद्रवः। तेन संयुतम्। अनेनाऽन्यरसादप्यधिकरस उक्तः। यद्यपि वृक्षोत्कर्ष एव तादृशफलजननादायाति, तथाप्युत्कर्षहेतुः फलजननमिति प्रकृतोत्कर्षः। अथवा। शब्दात्मके वृक्षे शब्दात्मकमेव

फलम् । सर्ववेदार्थविचारे भगवद्धृदय एव फलितम् । निर्द्धारितार्थप्रतिपादकशब्दराशिः । **शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नाऽन्य इत्यर्थतः फलम्** । अयमर्थो गोप्योऽपि भक्तचिन्तया परवशस्य भगवतो हृदयादागतमिति गलितम् । अन्ये भगवद्रूपा अवतारा अधिकारिणो वा । अतोऽत्यन्तविरक्ते शुके ग्रन्थार्थः फलितः । अतस्तद्धृदये भक्तिरसः स्थितः । भागवतं च स्थितम् । मुखान्निर्गमनसमये समानाधिकरणभक्त्या सह निर्गच्छतीति तथेत्यर्थः । सम्यग्योगो हि यथाकथञ्चिच्छ्रवणेऽप्यधिकारिहृदये भक्त्यावेशात् । **पिबते**त्युपदेशः । "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति वत् । बहिःस्थितस्येन्द्रियादिद्वारा अन्तः– प्रवेशनं पानम् । तद्द्रवद्रव्यस्येति रसमित्युक्तम् । **भागतमिति** ग्रन्थनाम । **भगवत्सम्बद्ध**मिति वा । शब्दश्रवणेनाऽर्थज्ञानाद्रसास्वादनमतिरिक्तमिव भवति । सीत्कारेण तस्य पानात् । तथा भागवतं पातव्यम् । न तु श्रवणमात्रं कर्तव्यमित्यर्थः । त्वगस्थ्यादिकं तु नास्ति । निर्बीजदाडिमबीज वत् । रसात्मकान्यपि कानिचित्फलानि सन्ति । यथा पृथिव्यादयो रसा उद्गीथान्ताः । तथा रसात्मकस्य भागवतो भागवतं रसः । तत्स्पर्शनमात्रयोग्यं न भवति किन्तु पानयोग्यमित्यर्थः । अस्य रसस्य ब्रह्मतामाह-**आलयमिति** । सर्वाधारभूतं, आ समन्ताल्लयो यस्मादिति सर्वप्रपञ्चलयहेतुभूतं वा **आ** ईषल्लयो मोक्षो यस्मादिति वा । मोक्षेच्छां परित्यज्य तत्यातव्यमिति । **मुहुरिति** व्यासस्य परवशत्वमापादयति । अन्यथा रसिकाः स्वयमेव पास्यन्तीति व्यर्थं वचनं स्यात् । मुहुः पानं वा विधीयते रसज्ञानाय । प्राकृतकर्णैरापाततस्तद्रसास्वादनं न भवतीति । वक्ष्यति च "परस्परं त्वग्दुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा"इति । **अहो रसिका** इत्याश्चर्येण सम्बोधनम् । भवतामेवार्थेऽयं रसः समानीत इति । भूमौ भावुकाः भविष्णवः । भावनाचतुरा वा । विस्मृतेऽपि रसे भावनया रसाभिनिवेशं कुर्वन्तीति मुहुः पानं सम्भवति । भुवि भाग्यवतां च बहुवचनेनैकस्य रसाभिनिवेशो न भवतीति सूचितम् । ३ ।

**सुबोधिनी :** काव्य में जिस प्रकार रूपक अलंकार के सहारे किसी का निरूपण करते हैं, उसी तरह यहां भी 'कल्पतरु' पद से, रूपक का आधार लेने से यद्यपि अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है, फिर भी भागवत सर्व वेद का साररूप है, तथा रूपकालंकार केवल बुद्धि की कल्पना मात्र है, इसलिये यहां रूपक का वर्णन सर्वथा अनुचित है । इसलिये, यहां तो वेद ही कल्पतरु है– 'निगमकल्पतरु'– इस तरह वाच्यार्थ ही कहना होगा ।

यद्यपि वेद, कल्पवृक्ष है, इस तरह कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, तथापि 'निगमकल्पतरु' इस वाक्य के अन्यथा अनुपपन्न होने से, अर्थात् वेद ही कल्पवृक्ष है ऐसा अर्थ न किया जाये तो, निगम कल्पतरु पद का यथार्थ अर्थ नहीं हो सकता । इसलिए वेद ही कल्पवृक्ष है यही मानना चाहिये ।

यहां अक्षरात्मक व्यापिवैकुंठ में प्रणव-बीज से अंकुरित तथा विकसित एक वेद-वृक्ष है तदनन्तर, व्यास रूप में जब भगवान् ने अथवा आदिनारायण ने अवतार लिया, तब सब जनों के हृदय को आनन्द देने के लिये, वह मूर्त्तिमान् आधिदैविक फल यहां लाया गया। उसी का यहां निरूपण किया जाता है।

यहां यह शंका होती है कि शब्द का मूर्त्त रूप तथा रसात्मक रूप तो अप्रयोजक है, फिर यहां ऐसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है—

'सैषा त्रय्येव विद्या तपति'– इस श्रुति से सूर्य का वेदात्मकरूप निश्चित होते हुये भी, मधु-विद्या में सूर्य का मूर्त्त रूप तथा रस रूप सिद्ध है– 'असौ वा आदित्यो देवमधु'- अर्थात् यह सूर्य देवताओं के लिये मधु है, रसात्मक रूप है। जैसे हमारे लिये पुष्प-पराग से एकत्रित किया गया मधु है, उसी तरह स्वर्ग में कल्पवृक्ष है और इसी तरह एकमात्र वेद से ही जाना जा सके, ऐसे वैकुण्ठ में भी शब्द-रसात्मक कल्पवृक्ष है, इसलिये यहां रूपक मानकर लक्षणा से अर्थ नहीं करना चाहिये- यह तो वेदों का आर्थिक उत्कर्ष है- और, इसीलिये- वेद का नाम 'निगम' कहा गया।

जो ब्रह्म का निरन्तर ज्ञान कराता है, उस परमोपनिषद् को निगम कहते हैं। और, यह निगम ही कल्पतरु है, क्योंकि यह सर्व प्रकार के फल-दान करने में समर्थ है। और, ऐसे कल्पवृक्ष का यह श्रीमद्भागवत गलित-फल है, अत्यन्त पक्व फल वृक्ष से अपने आप नीचे गिर जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रीव्यास, इस गिरे हुये फल को एक शुभ शकुन के रूप में यहां आते समय अपने साथ लेते आये। व्यास के पुत्र शुक, मुक्त होने के कारण यहां इस फल के अधिकारी हैं। पिता, अपने पुत्र को उत्कृष्ट वस्तु ही खिलाता है और यदि फल हो तो उसको देने का विशेष आग्रह रहता है। तदनुसार व्यास ने अपने पुत्र शुक को यह भागवत रूप फल दिया और यह फल रसात्मक है, इसका आस्वाद, निर्भर से जल की तरह उत्पन्न सर्व इन्द्रियों से संवर्द्धित प्रेम रसको, प्रवाहित करता है। सर्व-इन्द्रियों से प्रसवित यह प्रेम-रस एकत्र होकर हृदय में, ह्रद की तरह भर जाता है। वहां हृदय में, प्रेमरस से संश्लिष्ट भागवत, भक्ति-रस से आलोड़ित होकर मुख से बाहर निकलता है। शुक मुख से निकला हुआ यह रस, अमृत (अर्थात् मोक्ष) को भी, द्रावित (अर्थात् शिथिल) कर देता है– ऐसा यह भक्ति रस, साक्षात् अमृत–द्रव से युक्त है। इससे यह सिद्ध होता है, कि यह भागवत, अन्य सभी प्रकार के रसों की अपेक्षा अधिक रस-युक्त, उत्कृष्ट रस से परिपूर्ण है।

यद्यपि इस प्रकार के उत्तमोत्तम फल को उत्पन्न करने में वृक्ष का उत्कर्ष सिद्ध होता है,

किंतु वृक्ष के उत्कर्ष का हेतु यहां फलोत्पत्ति है, अतः यहां प्रधानरूप से फल का ही उत्कर्ष माना जायेगा, न कि वृक्ष का वृक्ष का उत्कर्ष, उसके उत्तमोत्तम फल को लेकर है स्वतंत्र नहीं। अथवा, शब्दात्मक वृक्ष का फल भी, शब्दात्मक ही होता है । सर्व वेदों के अर्थ का विचार करते हुये भगवान् के हृदय में ही यह भागवत फलित हुआ है। इसीलिये इसका शब्द-समूह निश्चित अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला है। इसका शब्द राशि से प्रतिपाद्य अर्थ-रूप फल यह है कि शुद्ध प्रसन्न चित्त तथा ब्रह्म-विद्या में कुशल पुरुष ही भगवान् की सेवा करने के योग्य है, अन्य नहीं। भागवत का यह अर्थ 'गोप्य' होते हुये भी भक्त की चिन्ता से परवश भगवान् के हृदय में से निःसरित हुआ है और इसी का निर्देश यहां 'गलितम्' इस पद से किया गया है। इसीलिये भागवत का यह गोप्य गलितार्थ, अन्य भगवद्रुप अवतारों तथा अधिकारियों में फलित न होकर अत्यंत विरक्त श्रीशुक में यह ग्रंथार्थ फलित हुआ है। इसीलिये, उनके हृदय में यह भक्ति-रस तथा भागवत दोनों ही स्थित हैं। श्रीशुक के मुख से जब भागवत निःसरित होती है, तब वह भक्ति-रस को साथ ही में लेकर बाहर निकलती है– अर्थात् भागवत तथा भक्ति रस इन दोनों का परस्पर उत्तमोत्तम योग है और 'संयुतम्' का यहां यही अर्थ है। इस तरह इन दोनों के इस उत्तम योग से, भागवत का जैसे-तैसे श्रवण करने पर भी अधिकारी के हृदय में भक्ति का आवेश होता है। वेद में 'स्वाध्याय का अध्ययन करो'– 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'- ऐसा उपदेश है– इसी तरह 'भागवत-रस का पान करो'- 'पिबत'- यहां भी यह उपदेश है। इन्द्रिय आदि, द्वारा बाहर स्थित रस के अन्तः प्रवेशन को पान कहते हैं, ऐसा पान प्रवाही द्रव्य का ही किया जा सकता है, और, इसीलिये, भागवत को यहां रस-रूप कहा है ।

भागवत– यह ग्रन्थ का नाम है, अथवा, जो भगवान् से सम्बद्ध हो वह भागवत कहलाता है। शब्द को सुनकर, अर्थ का ज्ञान होने पर, उस शब्द के रस का एक लोकोत्तर जैसा आस्वादन होता है- जैसे दूध आदि का सीत्कार पूर्वक पान करने से एक भिन्न प्रकार के ही रस का अनुभव होता है। इसीलिए शब्दार्थ के ज्ञान पूर्वक भागवत का पान करना चाहिये, केवल श्रवण मात्र ही नहीं ।

यह फल छिलके तथा गुठली रहित है । बेदाना-दाड़िम– के दाने जैसा है। अमुक फल केवल रसमय भी होते हैं, जैसे शहतूत गोस्तनी आदि। जैसे पृथ्वी आदि के रस उद्गीथ पर्यन्त हैं, उसी तरह, रसात्मक भगवान का रस यह श्री भागवत है। ऐसा रस केवल स्पर्श करने के योग्य ही नहीं है, किंतु वह पान करने के योग्य है।

यह रसात्मक फल ब्रह्म-रूप है– रसमालयम्–अर्थात् यह रस, सर्व का आधारभूत अथवा आसमन्तात् लयो यस्मात् आलयम्-यह रस, सर्व प्रपंच के लय का हेतु रूप है, अर्थात्,

इसका एक बार पान करने पर, जगत् में पुनः आगमन नहीं होता । अथवा, इस भागवत-रस के समक्ष मोक्षानंद भी तुच्छ है– आ–ईषद्, लयो– मोक्षो, यस्मात्–इसीलिये, मोक्ष की कामना को त्याग करके भी, इसी का- भागवत-रसका- पान करना चाहिये ।

'पुनः पुनः पान कीजिये'- मुहुरहो– इस से श्रीव्यास की परवशता का निर्देश किया गया है । श्रीव्यास इस रस के इतने आधीन हो गये हैं कि श्रोताओं को इस रस का पुनः पुनः पान करने के लिये आग्रह करते हैं । अन्यथा यदि रसिक पुरुष स्वयं ही इस रस का पान करने लग जायेंगे, तो श्रीव्यास का पुनः पुनः पान करने का कथन ही व्यर्थ हो जायेगा । अथवा, रस का पूरा ज्ञान तभी हो सकता, जब वह बार-बार पीया जाये । लौकिक कर्णों से इस रस का आपाततः आस्वादन नहीं हो सकता । इसलिये, कर्णों की लौकिकता को निवृत्त करने के लिये ही इस रस का पुनः पुनः पान करने के लिये कहा गया है । इसी का कथन– 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापित देह धर्माः– इस पंक्ति द्वारा अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा । तात्पर्य यह है कि परस्पर में निरन्तर किये गये भगवद् गुणानुवादरूप अमृत से भगवदीयों की देह के लौकिक धर्मों की निवृत्ति पूर्वक अविद्या नष्ट हो जाती है । इसीलिये यहां इस रस को पुनः पुनः पीने के लिये कहा गया, जिससे कर्णों की लौकिकता निवृत्त हो जाये और साथ में लोकोत्तर आस्वादन का अनुभव भी हो ।

श्लोक में 'अहो रसिकाः' इस प्रकार आश्चर्य की अभिव्यक्ति पूर्वक संबोधन किया गया, इसका आशय यह है कि हे रसिको ! आप लोगों के लिये ही यह अमृत द्रव से सम्पूर्ण भागवत भूतल पर लाया गया है, क्योंकि यहां पृथ्वी पर अपने जीवन को सफल बनाने वाले आप स्वयं ही हैं– अथवा, भावना करने में चतुर हैं– कदाचित् रस का विस्मरण हो जाये, किंतु आप अपनी भावना से भी रस में अभिनिवेश कर सकते हैं– और इस तरह–रस का पुनः पुनः पान करना सम्भव है । भूतल पर जो भाग्यवान् 'भावुकाः' है, उनको भी इस रस के पुनः पुनः पान की प्राप्ति होती है । यहां 'भावुकाः' बहुवचनान्त है । अतः पान करने वाले बहुत से बताये गये हैं, जिससे यह सूचित किया गया है कि एक को रस का अनुभव नहीं होता, परस्पर अनेकों को मिलकर– एकत्रित होकर, इस रस का पान करना चाहिये ।।३।।

इस प्रकार बीज-भाव, मध्य (वृक्ष) भाव तथा फलरूपता का निरूपण करके, सभी श्रोताओं को– अभिमुख–सावधान–करके, शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है :—

**नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।**

**सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ।।४।।**

श्लोकार्थ: (१) जहां ब्रह्मा से छोड़े गये मनोमय-चक्र की नेमियां (आरे) विशीर्ण हुयी थी, ऐसे विष्णक्षेत्र (अनिमिष-क्षेत्र) में, मंत्रदृष्टा शोनकादि ने एक हजार वर्ष में पूर्ण होने वाले 'सहस्र-सम' नाम के यज्ञ को लोकाधिदैविक देवविशेष शरीर की प्राप्ति के लिये सत्रारम्भ किया ।

**नैमिश इति** । अत्र भागवतस्य परम्परागताः सप्ताऽर्थाः कथार्थतोऽतिरिक्ता भवन्ति । अतो नाऽन्यटीकासु ते निरूप्यन्ते । ते हि निबन्धे—"**शास्त्रे, स्कन्धे, प्रकरणेऽध्याये, वाक्ये, पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यत**" इति निरूपिताः । तत्र आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थः । भक्तिजनिका हि संहिता । सृष्टयादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिर्भवति, न कार्यत्वे । कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला । तदा हि महत्वं निर्दुष्टत्त्वं च भवति । सा च लीला मुख्या दशविधा "**अत्र सर्गो विसर्गश्चे" ति** श्लोकेन निरूपिता । सा च तृतीयादिदशस्कन्धैर्निरूप्या । श्रोतृवक्तृलक्षणं प्रथमे । अङ्गनिरूपणं द्वितीये । अतो द्वे गौणलीले । एवं द्वादश । तत्र प्रथमे स्कन्धेऽधिकारिलीला निरूप्यते हीनमध्यमोत्तत्वतो भागवतार्थज्ञाने प्रकारबोधनाय । न हि सर्वैरेकविधं भागवतं बुध्यते । सूतशौनकाभ्यां बुद्धमेकविधम् । तथा नारदव्यासाभ्यामपरविधम् । तथा शुकपरीक्षिद्भ्यामुत्कृष्टम् । एवं त्रैविध्यनिरूपणेन यथाधिकारमर्थावबोधो भविष्यतीति फलिष्यति । तत्र प्रथमं हीनाधिकार उच्यतेऽध्यायत्रयेण प्रश्नोत्तराभ्याम् । प्रश्न एकविधः । उत्तरं द्विविधमिति । तत्र श्लोकद्वयेन प्रश्नसङ्गतिमाह स्वरूपसङ्गति भेदेन । तत्र स्वरूपमाह-**नैमिश इति** । पुण्यतीर्थे पुण्यक्षेत्रे यज्ञादिभि शुद्धाः यज्ञरूपभगवदाविष्टा भगवत्प्रश्ने प्रथमाधिकारिणः स्वरूपतोऽधिकारिणः । नेमिः शीर्यत इति नेमिशम् नेमिशमेव **नैमिशम्** । प्रजापतिसृष्टस्य मनोमयचक्रस्य ऋषीणां तपःस्थानज्ञानार्थं "**यत्राऽस्य नेमिः शीर्यत**" इति पुण्याधिक्यमुक्तम् । **नैमिष** इति पाठे यत्र निमिषमात्रेण दानवबलं निहितमिति नेमिषम् । सर्वदोषनिवारकम् । तस्य क्षेत्रस्य विष्णुर्देवतेत्याह—**अनिमिषक्षेत्र इति** । अनिमिषो विष्णुस्तस्य क्षेत्रे दोषाऽभावगुणावृत्तौ ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः शौनकादय इति प्रसिद्धा ऋषिपरम्परायाम् । **सत्रम्** । **सहस्रसममिति** नाम यस्य । सहस्रवत्सरसाध्यम् ।

---

(१) एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते । यत्रास्य शीर्यते नेमिः सदेशः तपसः शुभः ।।
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् । प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ।।
भ्रमतो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत । कर्मणा तेन विख्यातं नैमिषं मुनिपूजितम् ।।
(वायवीय)

यत्र यजमाना एव सर्वे ऋत्विक्कर्म कुर्वन्ति तत्सत्रम् । तत्र पूर्वं सहस्रसंवत्सरे सत्रे तत्राऽलौकिक-भगवदाविर्भावो दृष्टः । "विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासते" त्यादौ । तथाऽत्रापि सहस्रसम आरब्धे भागवतरूपस्य भगवत आविर्भावो भविष्यतीति ज्ञात्वा ऋषीणां सत्राऽऽरम्भ इत्यर्थः । **स्वर्गाय** । भगवदानन्दांशभूतः स्वर्गः । लोकात्मकस्तु महानंशः । स ह्यत्र फलम् । न तु स्वर्गीयत इति स्वर्गायो विष्णुः । स चाऽसौ लोकश्चेति । "**सुवर्गाय वा एतानि लोका (?) हूयन्त**" इति श्रुतिविरोधात् । सच सुखविशेषशरीरः । देवविशेषो लोकरूपः । "**देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवदि**" त्यत्र तथा निर्णयात् । सत्रे सर्वत्र **आसतिरेव** कृतिवाची । एवं तेषां स्वरूपोत्कर्ष उक्तः ।।४।।

**सुबोधिनी :** यहां भागवत के परंपरागत सात अर्थ, कथा के अर्थ से अतिरिक्त, होते हैं, इसलिये, उनका अन्य टीकाओं में निरूपण नहीं किया गया । किंतु तत्वार्थ दीप निबंध में इनका निरूपण किया गया है– यथा– भागवत का, शास्त्र में, स्कंध में, प्रकरण में, अध्याय में, वाक्य में, पद में अक्षर में– इस तरह सात प्रकार से, परस्पर अविरोधक-पूर्वक एक ही अर्थ जानने वाला संशय से मुक्त हो जाता है । यहां आनन्दरूप भगवान् की लीला ही इस भागवत शास्त्र का अर्थ है । यह भागवतसंहिता भक्ति की जननी है । 'सृष्टि आदि भगवान् की लीला है, ऐसा ज्ञान होने पर भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है, किंतु 'सृष्टि' आदि भगवान् का कार्य है, इस प्रकार का माहात्म्य ज्ञान, भक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता । और, इसीलिये उपनिषद् आदि के प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि, इनमें सृष्टि आदि को भगवान् का कार्य कहा है, लीला-रूप नहीं कहा । भगवान् का, कुतूहलतावश अनायास-विना श्रम के– किया गया कर्म लीला कहलाता है । सृष्टि आदि को भगवान् की लीला मान लेने पर ही, भगवान् की महत्ता एवं निर्दोषता सिद्ध होती है । लीलार्थ कर्म में– खेलमें– दोष नहीं होता । यह लीला मुख्यतया दश प्रकार की है (सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, निरोध, मुक्ति तथा आश्रय), जिसका निरूपण 'अत्र सर्गो विसर्गश्च' इस श्लोक द्वारा किया गया है । यह दश विध लीला, तृतीयादि स्कंध से (द्वादश स्कंध पर्यंत) दश स्कंधो में निरूपित की जायेगी । प्रथम स्कंध में श्रोता तथा वक्ता के लक्षणों का वर्णन है । द्वितीयस्कंध में अंग का निरूपण है । अतः ये दोनों गौण लीलायें हैं । इस तरह कुल बारह लीलायें हैं– द्वादश स्कंध हैं ।

भागवत के अर्थ को समझने में, हीनाधिकारी मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के पृथक्-पृथक् प्रकार भेद बताने के लिये, यहां प्रथम स्कंध में 'अधिकारी लीला' का निरूपण किया गया है, क्योंकि सभी मनुष्य एक ही प्रकार से भागवत का अर्थ नहीं समझ सकते । हीनाधिकारी सूत और शौनक से जाना गया भागवतार्थ एक प्रकार का है– तो, मध्यमाधिकारी नारद और व्यास ने

इस अर्थ को दूसरे ही प्रकार से जाना तथा उत्तमाधिकारी शुक और परीक्षित ने इसी का अर्थ तृतीय उत्तम प्रकार से समझा। इस तरह भागवत में तीन प्रकार के अधिकारियों का निरूपण होने से यही प्रतीत होता है कि इसके अर्थ का बोध यथाधिकार - अधिकारानुसार - फलित होगा। इस संदर्भ में, पहिले, प्रश्न तथा उत्तर पूर्वक, तीन अध्यायों में– हीनाधिकार का कथन किया गया है। अर्थात्. जिसका जैसा अधिकार, उसके अनुसार उसको वैसा ज्ञान होगा। प्रश्न, एक प्रकार का है, उत्तर दो प्रकार के। यहां स्वरूप तथा संगति के भेद से(अर्थात्, प्रश्नकर्त्ता के स्वरूप से तथा वक्ता की संगति से ) दो श्लोकों द्वारा प्रथम, 'प्रश्न' की 'संगति' कहते हैं।

नेमिशे, इत्यादि द्वारा 'स्वरूप' के विषय में कहा गया है– अर्थात् जिस क्षेत्र में यह भागवत सत्र प्रारम्भ हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है, यह कहते हैं। जो व्यक्ति, पुण्य क्षेत्र में यज्ञादि से परिशुद्ध है तथा जिनमें यज्ञ रूप भगवान का आवेश है, वे भगवद्-विषयक प्रश्न में स्वरूपतः अधिकारी अर्थात् ( प्रथम ) हीनाधिकारी हैं।

( नेमिश पुण्यक्षेत्र ही है ) जहां चक्र की नेमियां विशीर्ण हुयी हों, वह नेमिष कहलाता है। नेमिश ही नेमिश है। अर्थात्, ऋषियों के योग्य तपः स्थान बताने के लिये, प्रजापति द्वारा फेंके गये मनोमय धर्म-चक्र की नेमि जिस स्थान पर शिथिल हो गयी, वही स्थान निमिषारण्य कहा गया है, और वहां ही पुण्य-प्रचुरता है। जहां 'नेमिष' ऐसा पाठ है, वहां यह अर्थ करना चाहिये– 'निमिष मात्र में जहां दानव-सेना का संहार कर दिया गया हो वह नेमिषारण्य'। और इसी कारण से यह स्थान सर्व-दोषों का निवारक माना जाता है। इस क्षेत्र के देवता 'विष्णु' हैं– यह निर्देश करने के लिये इसे अनिमिषक्षेत्र' भी कहते हैं– 'अनिमिष'- अलुप्त दृष्टि- विष्णु का नाम है– विष्णु का यह क्षेत्र दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त है। यहां ऋषियों की परम्परा में सुप्रसिद्ध शौनकादिमन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए इन ऋषियों ने सहस्र-सम नामक सत्र को प्रारम्भ किया। यह सत्र हजार वर्ष में पूर्ण होता है, इसलिये, इसे 'सहस्रसम' कहते हैं। जिस यज्ञ में सभी यजमान ऋत्विजों का कर्म करते हों, उसे 'सत्र' कहते हैं। यहां, जैसे बहुत पहले सहस्रसम सत्र में अलौकिक भगवद् आविर्भाव हुआ था, जिसका वर्णन 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्र मासते' में किया गया है, उसी तरह यहां फिर सहस्रसम-सत्र के करने से भागवतरूप भगवान् का आविर्भाव होगा, यह जानकर ऋषियों ने यह सत्र प्रारम्भ किया।

स्वर्ग तो भगवान् के आनन्द का अंशभूत है– और, लोकात्मक स्वर्ग, भगवान् के आनन्द का महान् अंशरूप है, और, उसी की प्राप्ति यहां फलरूप कही गयी है। अन्य टीकाकारों ने यहां

'विष्णु-लोक' की प्राप्ति को फल माना है। उन्होंने श्लोकोक्त 'स्वर्गाय- लोकाय' का अर्थ विष्णु-लोक किया है– स्वर्गीयते इति स्वर्गायो विष्णुः, सचासौ लोकश्च– इति विष्णु-लोक- अर्थात्, जिसकी प्रशस्ति स्वर्ग में की जाती हो उसको– स्वर्गीय– विष्णु कहते हैं। तदनुसार 'स्वर्गाय-लोकाय' का अर्थ विष्णुलोक हुआ। इस अर्थ से सुबोधिनीकार सम्मत नहीं हैं. क्योंकि यह अर्थ किया जाये, तो श्रुति से विरोध आता है– सुवर्गाय वा एतानि लोका हूयन्ते–यहां 'सुवर्गाय–स्वर्गाय' का अर्थ है – भगवद्-आनन्द-रूप नित्य आत्म-सुख'– 'इसी नित्य-आत्म-सुख के लिये 'सुवर्गाय' इन इन्द्रादि लोक-प्राप्ति की कामनाओं का तथा अन्य विसर्जनी द्रव्यों का होम होता है। क्योंकि, इन्द्रादिलोक में 'केवल सुख' नहीं है–यह सुख वहां ईर्ष्या अभिमान आदि दुःखान्त भावों से, युक्त है–तथा क्षयिष्णु अस्थिर है। और यही श्रुति का निर्णय है 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोऽभवत्– देवताओं के लिये स्वर्ग-लोक-अर्थात् 'सुख विशेष शरीर से युक्त देव-विशेष लोकरूप स्वर्ग'– तिरोहित हो गया। इसीलिये, गृह-विमान आदि होते हुए भी उनको– देवताओं– को सुख नहीं मिला।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्रादि पांच नित्य- यज्ञों की आकृति करते हुये, सहस्र वर्ष में संपूर्ण होने वाले दीर्घ सत्र के अनुष्ठान द्वारा, कोई भी व्यक्ति इन्द्रलोकादि- लौकिक-फल की कामना कदापि नहीं करेगा, क्योंकि इस प्रकार का यह फल, क्षयिष्णु अस्थिर है। अतः इस प्रकार के नित्य यज्ञ का कोई अलौकिक फल होना चाहिये– और, रसात्मक भागवत रूप भगवान् के आविर्भाव से अतिरिक्त अन्य और कौन-सा अलौकिक, नित्य तथा अक्षय्य फल हो सकता है? अतः यहां इसी 'नित्य आत्म-सुख रूप' फल की सिद्धि के लिये– अर्थात्, भगवदानन्द के महान् अंशरूप लोकात्मक स्वर्ग-फल के लिये- ऋषियों ने इस सुदीर्घ एवं नित्य सत्र का प्रारम्भ किया है– विष्णु-लोक की प्राप्ति के लिये नहीं।

वेद में जहां-जहां 'यज्ञ किया' ऐसा मंत्र आता है, वहां-वहां 'कृ' करना धातु की जगह 'आस्' धातु का प्रयोग किया जाता है। सत्र में सर्वत्र 'कृति–वाची 'आसति' का ही प्रयोग होता है– तदनुसार, यहां 'आस' धातु का अर्थ है 'करना'। इस प्रयोग के द्वारा ऋषियों का स्वरूपतः उत्कर्ष बताया गया है।४।

अब यहां वक्ता की संगति कहते हैं:—

**त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः।**

**सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्॥५॥**

**अनुवाद** :- एक समय नित्य नैमित्तिक हवन से निवृत्त होकर मुनियों ने, सत्कार-प्राप्त करके आसन पर विराजमान श्रीसूत पौराणिक से आदरपूर्वक, यह पूछा- (यह बात पूछी जिसका वर्णन इससे आगे किया जायेगा)।

**त एकदेति** । उत्सर्गकालोऽयं, दीक्षाकालो वा । नित्यनैमित्तिकसर्वहोमान्कृत्वा, भगवत्कथा-श्रवणार्थे सावकाशा जाता इत्याह—**प्रातर्हुतहुताग्नय इति । एकदेति** हरिगाथोपगायनकाल उक्तः । तदैव सूतादीनामागमनम् । **मुनय** इत्यलौकिकपरिज्ञानमुक्तम् । येन सूतपरिज्ञानं भवति । तत्प्रसङ्गेऽन्येषां प्रश्नव्यावृत्यर्थं **त** इति । **प्रातरेव हुता** एवाऽग्नयः **पुनर्हुता** येषां ते **प्रातर्हुतहुता-ग्नयः** । न च वेदविरोधश्शङ्कनीयः । **तुशब्देन** पक्षान्तरस्वीकारात् । तथाकरणे मननं हेतुः काल गुणविशेषपरिज्ञानात् । अत एवाऽग्रे वक्ष्यति "कर्मण्यस्मिन्ननाश्वास" इति । **सत्कारः** सम्भाषणा-दिना ब्रह्माऽऽसनदानेन वा । सूतः पौराणिक उग्रश्रवाः । ब्राह्मणानां सदस्यन्येषामनुपवेशनात् । उत्थितस्य च पुनर्वैयग्र्यात्कथान्यूनभावाच्च तन्निराकरणाय **आसीन**मित्युक्तम् । भगवत्कथारसाभि-निवेशादहमहमिकया सर्वैः पृष्ट इति बहुवचनम् । **इदमिति** । वक्ष्यमाणम् । सूतस्य **भगवदादरात्**प्र-प्रच्छुरादरेण वा । सर्वत्र भगवत्कथायामान्तरो भावो मुख्यः । न तु वाक्यमात्रम् ।। ५ ।।

**सुबोधिनीअर्थ** :— 'त एकदा' । यह उत्सर्ग अथवा दीक्षा का समय है- इसलिये ऐसे समय में मुनि लोग नित्य-नैमित्तिक सभी प्रकार के होम आदि से निवृत होकर, भगवत्कथा सुनने के लिये सावकाश हो गये थे । इसी का निर्देश 'प्रातर्हुत हुताग्नयः' से किया गया है । यहां 'एकदा' से 'हरिगाथा के उपगायन काल का' सूचन किया गया है- क्योंकि, ऐसे समय में ही सूत आदि का वहां आगमन हुआ था । 'मुनयः' इससे यह संकेत किया गया है कि मननशील होने के कारण ये मुनिगण अलौकिक परिज्ञान से सम्पन्न है- परिणामतः उनको श्रीसूत के स्वरूप का सर्वशः ज्ञान है, अर्थात् 'श्रीसूत हमारे से जिज्ञासित अर्थ को जानते हैं'- यह भी इन मुनियों को ज्ञान है। श्लोकोक्त 'से' पद का अभिप्राय यह है कि उक्त प्रसंग में, शौनकादि ऋषि ने ही श्रीसूत से प्रश्न किया, दूसरों ने नहीं । प्रातर्हुत हुताग्नयः - मुनियों ने प्रातः जिन अग्नियों में हवन किया था, उन्हीं अग्नियों में फिर हवन किया । इस श्लोक- पंक्ति में 'हुत' पद दो बार आया है- प्रथम 'हुत' पद से नित्य किये जाने वाले होम का तथा द्वितीय 'हुत' से नैमित्तिक होम का सूचन किया गया है- अर्थात् मुनियों ने प्रथम, नित्य हवन किया, पीछे नैमित्तिक हवन किया । दूसरी बार होम करने का वेद में निषेध है- इसलिये, वेद से विरोध आयेगा, यहां ऐसी शंका अनुचित है । क्योंकि, श्लोक में 'तु' अव्यय द्वारा, 'पूर्वात्परबलीयस्त्वम्' इस न्यायानुसार यहां पक्षान्तर में वैष्णव-पक्ष का स्वीकार किया गया है । इस पक्षान्तर को स्वीकार करने में, ये मुनिजन 'मनन' कर सकें यही

एकमात्र कारण है। इन शौनकादि मुनियों को काल के गुण का परिज्ञान है– इसीलिये, वैष्णव-पक्ष को लेकर ही यहां प्रातः हवन कहा गया है– और इसी कारण से– 'यह विश्वास से रहित कर्म है' – इस प्रकार अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। यथोचित संभाषण आदि से अथवा ब्रह्मासन देकर यहां सूत पौराणिक का सत्कार किया गया है– 'सत्कृतम्'। श्री सूत पौराणिक है– आपका नाम उग्रश्रवा है। पौराणिक सूत ही ब्राह्मणों की सभा में बैठ सकते हैं, इनके अतिरिक्त अन्य क्षत्र धर्मोपजीवी– वैश्य-वृत्ति करने वाले सूत वहां नहीं बैठ सकते। और, यदि सूत पौराणिक खड़े ही रहें तो तत्सुलभ (श्रम) व्यग्रता आदि होने पर हरि-कथा में न्यूनभाव (अनादर) होगा। इसके निराकरणार्थ भी, वह बैठे हुये हैं– आसीनम्। भगवत्कथा-रस का अभिनिवेश सभी में होने का कारण– मैं पहिले पूछूं, मैं पहिले पूछूं, इस प्रकार की स्पर्धा के कारण सभी ने श्री सूत से प्रश्न किया– और इसीलिये, बहुवचनान्त 'पप्रच्छुः' क्रिया पद का प्रयोग किया गया है। यह प्रश्न पूछा– जो आगे कहेंगे। सूत पौराणिक का भगवान् में आदर है– यह देखकर अथवा भगवान् के स्वरूप को जानने में इन मुनियों को– स्वयं को– आदर है – इसलिये भी मुनियों ने प्रश्न किया सर्वत्र भगवत्कथा में, आंतर-भाव प्रेम ही मुख्य है– वाक्य मात्र नहीं, केवल वाणी द्वारा वर्णन मात्र फलरूप नहीं है। यहां यह आदर हार्दिक है।

अत्र षट् प्रश्ना भगवद्विषयकाः कर्त्तव्याः। षड्गुणत्वाद्भवतः। तदर्थं वक्तारमभिनन्दन्ति त्रिभिस्त्वयेत्यादिभिः—

भगवान् के षड्गुण हैं इसी कारण भगवान् के विषय में यहां छः प्रश्न किये गये हैं। इस प्रकार से प्रश्न करने के लिये प्रथम तीन श्लोकों द्वारा वक्ता का अभिनन्दन किया गया है।

**ऋषय ऊचुः— त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।**
**आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राण्यान्युत।६।**

ऋषयों ने कहा हे निष्पाप सूत! आपने इतिहासों सहित पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया है– तथा अध्ययनोपरांत उसका व्याख्यान भी किया है– आपने इनका पुनः पुनः अध्ययन–अध्यापन–व्याख्यान– किया है।

**खल्विति** स्तुतिव्यावृत्तिः। **पुराणा**न्याकरस्थानि, मूलसंहिताचतुष्टयं वा। **इतिहासो** भारतम् **चकारा**दन्याश्च कथाः प्रगाथादयः। विद्योपजीवनं च न करोतीत्यनघेत्युक्तम्। **आख्यातान्यप्यधीतानि** पूर्वमधीत्य व्याख्याय, पुनः पुनरधीतानीत्यर्थः। तदैवनिस्सन्देहः।

**धर्मशास्त्राणि** चाऽधीतानी। "**धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्। जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि निरूपिताः**" ।। तत्रेश्वरविचारिताश्चत्वारो वेदा एव। जीवविचारितास्तु स्मृतिषुध र्मः, नीतिशास्त्रे अर्थः, वात्स्यायनादिषु कामः, सांख्यायनदिषु मोक्षः। तत्र यावत्सर्वज्ञत्वं भवति, तावद्भगवच्छास्त्राऽपरिज्ञानम्। तदर्थमाह-**धर्मशास्त्राणीति। उत यानि** प्रसिद्धानि अर्थशास्त्रादीनि लौकिकानि वा ।। ६ ।।

**सुबोधिनी :** श्री सूत से ऋषियों ने कहा कि जो कुछ भी हम कह रहे हैं- वह आपको प्रसन्न करने के लिये मिथ्या-स्तुति रूप नहीं है- अपने इसी निश्चय की अभिव्यक्ति रूप यहां 'खलु' शब्द का प्रयोग किया गया है। आपने शतकोटि विस्तार में विस्तृत समग्र पुराणों का आपने अध्ययन किया है। तदुपरांत, सांख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णव-रूप मूल चारों संहिताओं को भी पढ़ा है। इतिहासरूप महाभारत भी आपने पढ़ा है-और (च)-अन्य कथाओं तथा गाथाओं के भी आप ज्ञाता हैं।

यहां 'अनघ' पद से यह अभिप्राय है कि आप उक्त विद्याओं के व्याख्यान आदि करके अपनी आजीविका नहीं चलाते- अतः आप 'निष्पाप हैं।

आख्यातान्यप्यधीतानि- आपने पुराणादिक पर व्याख्यान किये तथा उनको पढ़े भी हैं- अर्थात्, प्रथम अध्ययन करके, पुनः व्याख्यान द्वारा उनको दृढ़ कर लिये हैं। इस तरह पुनः पुनः आवृत्ति से इन विषयों में अब आपको कोई भी संदेह नहीं रहा है। और आपने धर्मशास्त्रों का भी अध्ययन किया है। बुद्धिमान् पुरुषों के लिये धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं- एक जीव-विचारित, दूसरे ईश्वर-विचारित। इनमें ईश्वर-विचारित पुरुषार्थ चारो वेद ही हैं- तथा जीव विचारित पुरुषार्थो में से धर्म का निरूपण स्मृति में है, अर्थ का नीतिशास्त्र में है, काम का वात्स्यायन आदि में है तथा मोक्ष का सांख्यायनादि में है। इन शास्त्रों में जब तक सर्वज्ञता प्राप्त न कर ली जाये, तब तक भगवत् शास्त्र का परिज्ञान नहीं हो सकता- इसके लिये, धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया गया है। 'उत यानि'- तदुपरांत अन्य सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र आदि का तथा लौकिक कथानकों का भी आपने बारम्बार अवगाहन किया है- इसलिये आप सर्वज्ञ हैं- अतः आपको भगवत् शास्त्र का परिज्ञान है ।।६।।

सूतपारम्पर्येण ज्ञातान्येव ज्ञातानि न तु ब्राह्मणैर्ज्ञातानि ज्ञातानीति शङ्कां वारयितुमाह—

यह शंका होती है कि श्री सूत तो सूत-परम्परा से ही जाने गये शास्त्रों को जानते हैं, किंतु ब्राह्मणों ने जिस रूप में इन शास्त्रों को जाना है, श्री सूत को उस रूप से इनका ज्ञान नहीं है,

तो फिर श्री सूत को सर्वज्ञ क्यों मान लिया ? इस शंका के निवारण में कथन है कि—

**यानि वेद विदां श्रेष्ठो भगवान्बादरायणः ।**
**अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥७॥**

**अनुवाद :** हे सूत ! ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान व्यास जो जानते हैं तथा भूत तथा भविष्य के ज्ञाता मुनि लोग जो जानते हैं, वह सब आप जानते हैं–

**यानि वेद विदामिति** । धर्मार्थकामाः सूतपारम्पर्येणाऽपि ज्ञायन्ते । मोक्षशास्त्राणि तु ब्राह्मणैरेव । तत्र सूतस्याऽज्ञानं सम्भवति । तन्निवृत्त्यर्थमाह । **विदां श्रेष्ठो** ज्ञानिनां श्रेष्ठः । **यानि वेदेति** मोक्षशास्त्राणि सर्वाणि गृहीतानि । ननु तानि कथं व्यासस्तस्मै कथयेदित्याशङ्क्याऽऽह **भगवानिति** भगवतः सर्वं सम्भवति । तथाऽप्यनधिकारिणे कथमाहेत्याशङ्क्याऽऽह—**बादरायण इति** । अतितपसा तदधिकारसम्पादनशक्तिरुक्ता । "**न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात्सुपुष्कलमि**"ति वाक्यादसार्वज्ञ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**अन्ये च मुनय इति** । ते च मननशीला ज्ञानिनः । अज्ञानादुपदेश इति न मन्तव्यम् । यतः सूतः प्रसिद्ध इति पुनः सम्बोधनम् । तर्हि कथमुपदेशः ? इत्यत आह— **परावरविदो विदुरिति** । **परे** ब्रह्मादयः **अवरे** अस्मदादयः । भूतभविष्यत्काला वा । ताञ्जानन्तीति ईश्वरेच्छा तथैव, कालश्च तथेति, बोधनार्थं तथा वचनम् ॥७॥

**सुबोधिनी :** धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग का ज्ञान तो, श्री सूत को अपनी वंश-परम्परा से भी प्राप्त हो सकता है– किंतु मोक्ष शास्त्र तो ब्राह्मणों से ही जाना जा सकता है । अतः मोक्ष शास्त्र में श्री सूत का अज्ञान संभव है– इस प्रकार की संभावना के निराकरणार्थ कथन है कि ज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवान् व्यास को जिन सभी मोक्षशास्त्रों का ज्ञान है, उन सब को आप भी (श्री सूत) जानते हैं यदि यह कहो कि ये सब मोक्ष-शास्त्र, व्यास ने सूत को क्यों बता दिये? तो कहते हैं कि व्यासजी भगवान् है, भगवान् सर्व समर्थ हैं । तथापि, अनधिकारी को वैसा ज्ञान क्यों दिया? तो कहते हैं कि व्यासजी, बादरायण हैं– अनधिकारी सूत को, व्यासजी अपने तपोबल से अधिकारी बना सकते हैं— अर्थात् अत्यन्त तप करके उनमें इस प्रकार के अधिकार संपादन की शक्ति है । अर्थात् सूत को, वे मोक्ष शास्त्र का ज्ञाता बना सकते हैं ।

एकादश स्कंध में ऐसा कथन है कि 'एक ही गुरु से प्राप्त किया गया ज्ञान, पर्याप्त नहीं होता'– (नह्येकस्मात् गुरोर्ज्ञानं शिक्षितं स्यात् सुपुष्कलम्) । इसके अनुसार सूतजी में सर्वज्ञता नहीं हो सकती । इस शंका के समाधान में कथन है कि 'अन्ये च मुनयः' वैसे जैसे अन्य मुनि जन

अपने मनन से ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी तरह ज्ञान-प्राप्ति में आप भी समर्थ हैं। यदि यह कहो कि उन मुनियों को यह ज्ञान ही नहीं था कि यह सूत हैं–तो कहते हैं कि मुनियों को इसका ज्ञान था– क्योंकि, सूत सर्वत्र प्रसिद्ध है और आपको सूत जानकर ही उपदेश दिया है– और, इसीलिये यहां पुनः सम्बोधनात्मक 'सूत' पद का प्रयोग किया गया है।

अब, यदि सूतजी इतने प्रसिद्ध हैं, तो फिर मुनियों ने उनको उपदेश क्यों दिया ? इस शंका का समाधान यह है कि– 'परावरविदोविदुः'– ब्रह्मादि (पर) तथा हम ( अवर ) जो जानते हैं वह आप भी जानते हैं– अथवा, भूत और भविष्यत् काल के तथा पदार्थ के ज्ञाता ये मुनिगण जो जानते हैं वह सब आप भी जानते हैं कि अभी ईश्वर की यही इच्छा है– और काल भी ऐसा ही है कि सूत द्वारा उपदेश ग्रहण किया जाये। इसी का बोध करने के लिये यहां इस प्रकार का कथन किया गया है– अथवा 'हमें आप समझाइये' – इस तरह बोधनार्थ यह कहा गया है– अथवा सूत को प्रोत्साहन देने के लिये वचन है।।७।

फलितमाह—

'जिन शास्त्रों को व्यासजी जानते हैं तथा 'जिन शास्त्रों को भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल के ज्ञाता मुनिजन जानते हैं– इस प्रकार से गत श्लोक में जो कहा, उससे जो निष्कर्ष निकला फलित हुआ– वह कहते हैं—

**वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् ।**
**ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।।८।।**

अनुवाद : क्रूरता आदि दोषों से रहित, सेवा आदि गुणों से युक्त हे सूत ! व्यास आदि के अनुग्रह से आप उन सभी विषयों को तत्वतः जानते हैं, क्योंकि, गुरुजन, प्रिय शिष्य को निगूढ़ रहस्य भी कह देते हैं।८।

**वेत्थ त्वमिति**। शिष्यगुणानाह **सौम्येति**। हे शान्त ! सेवादिगुणानां साधारण्येऽप्यसुरत्वाच्छूद्रस्य क्रौर्यादयः सम्भवन्ति। तदभावश्चेत्सिद्धा अन्ये सद्गुणा इति भावः। **सूतेति** सम्बोधनाद्देव्यतिरिक्तमिति ज्ञातव्यम्। आपाततो ज्ञानं वारयति— **तत्वत इति**। उपदेशेऽपि कथमनधिकारिणो ज्ञानमित्याशङ्कयाऽऽह—**तदनुग्रहादिति**। गुरूणामनुग्रहात्सर्वं भवतीत्यर्थः।।८।।

**सुबोधिनी** : **'सौम्य'** – सम्बोधन से शिष्य के गुणों को बताया है। सौम्य का अर्थ है हे शान्त ! सेवा आदि साधारण गुणों से युक्त होते हुये भी शूद्र जाति में– असुरता होने के कारण

क्रूरता आदि दोषों की सम्भावना रहती है। यदि ये दोष न हों, तो अन्य सद्गुण अपने आप सिद्ध हैं। इसके निर्देशार्थ सूत को 'हे सौम्य' इस तरह सम्बोधित किया है। इससे पूर्व श्लोक में- 'हे सूत' इस सम्बोधन से सूचित किया यया है कि शूद्र होने के कारण उनको वेद का ज्ञान नहीं- तदतिरिक्त, आपको सर्व का ज्ञान है और यह ज्ञान भी ऊपर-ऊपर का आपाततः-ज्ञान नहीं है, किन्तु आप उनके तत्वतः ज्ञान से सम्पन्न हैं।

यहां शंका होती है कि व्यासजी ने भले ही सूतजी को उपदेश दिया- किन्तु, अनधिकारी को इस तरह का ज्ञान कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि गुरुजन का अनुग्रह हो जाने पर सब कुछ सम्भव हो जाता है ॥८॥

एवं सार्वज्ञ्यमुक्त्वा, प्रथमतः फलं पृच्छति—

इस तरह सूत की सर्वज्ञता का वर्णन करके, शौनक आदि ऋषिगण, प्रथम, फल के विषय में प्रश्न करते हैं:—

**तत्र तत्राऽञ्जसाऽऽयुष्मन्भवता यद्विनिश्चितम् ।**
**पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥९॥**

**श्लोकार्थः-** हे आयुष्मन् ! जिस-जिस शास्त्र को आप जानते हैं, उन-उन में सरलता से- शीघ्र ही- प्राप्त होने वाला तथा आपसे भी विशेष रूप से निश्चित किया गया, मनुष्यों का जो एकांत कल्याण करने वाला हो, उसे कहें ॥९॥

**तत्र तत्रेति** । फलार्थं हि साधनं मृग्यते । अतः किं फलं किमफलमिति भवति विचारणा । अभ्युदयो निःश्रेयसं वा भवति फलमन्यद्वा ? सर्वत्र दूषणान्यग्रे वक्ष्यन्ते । अतः सन्देहात्प्रश्नः । तथापि प्रमाणबलविचारेण निर्णयः । तदाह । अञ्जसा अन्थाऽऽर्जवेन **आयुष्मन्नि**त्याशीर्भयाऽ-भावो वा सूच्यते । गुरूणामन्योन्यं विप्रतिपत्तावपि बहुगुरुत्वेन बुद्धिवैशद्यात्स्वतो निर्धारणं सम्भव-तीत्याह-**भवता यद्विनिश्चितमिति । पुंसां** स्वतन्त्राणाम् । **एकान्ततः श्रेयः** । कदापि सर्वान् प्रति श्रेयस्त्वं न त्यजतीत्यर्थः । स्वर्गिणां पुत्रादिषु न श्रेयस्त्वम् । तथा मुक्तानां स्वर्गे । भक्तानां मुक्ता-विति किमत्रैकान्ततः श्रेय इत्यर्थः । तदस्मभ्यं शंसितुमर्हसि ॥९,।

**सुबोधिनीः-** फल के लिये ही साधन की खोज की जाती है- परिणामतः- कौन फल है, कौन अफल है यह भी विचार उपस्थित हो जाता है। सर्वत्र अभ्युदय को अथवा कल्याण को फल

कहा जाये, अथवा इनसे अतिरिक्त हो उसे फल मानें। वस्तुतः इन सभी प्रकार के फलों में सर्वत्र दोष हैं– इसका वर्णन अग्रिम प्रसंग में करेंगे। इस प्रकार का सन्देह होने से ही यहां फल विषयक प्रश्न किया गया है। तथापि, यहां फल अथवा अफल का निर्णय, शास्त्रों के प्रमाण–बल से ही किया जाना चाहिये– इसी का कथन यहां 'अंजसा' पद से किया गया है– तात्पर्य यह है कि शास्त्रों से जिसका सरलतापूर्वक निर्णय किया जा सके, वही बताइये।

'आयुष्मन्!'– आशीर्वादात्मक है, अथवा इससे भय के अभाव का निर्देश किया गया है। आप दीर्घायु हैं, आपको किसो प्रकार भय नहीं। गुरुजनों के निर्णय में परस्पर विरोध है, तथापि आपके बहुत–से गुरु हैं, इसलिये (उनके निर्णयों को भी) आप अपने बुद्धि-बल से यथार्थ वस्तु का निश्चय करके कहें– अर्थात्, आप अपना एक ऐसा विशेष निश्चय कहें, जो स्वतंत्र पुरुषों के लिये श्रेयस्कर हो– जो सभी के लिये अपने 'श्रेयस्त्व' का त्याग नहीं करता हो– उसे कहें– एकान्ततः श्रेयः। स्वर्ग में रहने वाले, पुत्र आदि को एकान्त श्रेय रूप नहीं मानते– इसी तरह मुक्ति को प्राप्त जीव, स्वर्ग को तथा भक्तजन, मुक्ति को एकान्ते–श्रेय रूप नहीं समझते।

इसलिये एकान्ततः श्रेय क्या है यह आप हम लोंगो को कहिये–अर्थात् जो सभी के लिये श्रेयरूप है, अथवा जिसे सभी लोग श्रेयरूप मानते हैं–हमें आप वही कहें।९।

द्वितीयं प्रश्नमाह **प्रायेणेति** सार्द्धाभ्याम्—

अब, ढाई श्लोकों से दूसरा प्रश्न कहते हैं—

**प्रायेणाऽल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन्युगे जनाः।**
**मन्दाः सुमन्दतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥१०॥**

**अनुवाद**: हे सभ्य! इस कलियुग में मनुष्य, अधिकतर, अल्पायु, आलसी, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के दोषों से युक्त, मंदभागी तथा व्याधिग्रस्त होते हैं॥१०॥

साधनविषयकोऽयं प्रश्नः। स्वस्य ऋषित्वेन चिरजीवित्वात्त द्व्यतिरेकेणाऽऽह- **प्रायेणेति**। अनेन ऋषिव्यतिरिक्तानामयमुपाय इति गम्यते। आद्यस्तु तेषां पुंसां न इति वा सामानाधिकरण्यम् अल्पमायुर्येषांते **अल्पायुषः**। अनेन सहस्रसमादयो न तेषां साधनमित्युक्तम्। प्रकृताऽनुपयोगाद–कथनमाशङ्क्याऽऽह–**सभ्येति**। सभामर्हतीति सभ्यः। "सभां (?) वा न प्रवेष्टव्य (?) मि"ति

धर्मबोधनाय सम्बोधनम् । अत्यावश्यकमहत्कालसाध्यसाधनत्वे अवक्तव्यत्वमाशङ्क्य कलिदोषेणैवाऽल्पायुष्ट्वं न स्वभावतः । तथाच कलिदोषपरिहारकेण तादृशेन साधनेनाऽल्पायुषोऽपि वृद्धिरित्यभिप्रायेणाऽऽह–**कलावस्मिन्युग इति** । तस्य कलेः कालान्तरत्वे इदानीमुपायस्याऽवक्तव्यत्वमाशङ्क्याऽऽह–**अस्मिन्निति** । युगपदप्रयोगस्तत्रत्यानां पूज्यत्वाय । सहजसंसारित्वाभावाय **जना इति** । प्रादुर्भावादुत्कृष्टत्वम् । एवं सहजदोषमुक्त्वाऽऽगन्तुकदोषमाह—**मन्दा** इत्यादिभिश्चतुर्भिर्विशेषणैः । **मन्दा** अलसाः । आलस्यं चित्तजाड्यम् । सुष्ठु मन्दा मतिर्येषामिति ज्ञानेन्द्रियदोषः । **मन्दभाग्या** इत्यदृष्टस्य कर्मेन्द्रियसाध्यत्वात्तद्दोषः । उपद्रुता रोगादिभिरिति शरीरदोषः एवमागन्तुकदोषा उक्ताः ।: १० ।।

**सुबोधिनीः–** इससे पूर्व श्लोक में फल-विषयक प्रश्न किया गया है, प्रस्तुत श्लोक में इस फल की प्राप्ति जिस साधन से हो सकती है, उस साधन के विषय में प्रश्न है ।

यहां 'प्रायेण'– इस पद से यह निर्देश किया गया है कि सभी अल्पायु नहीं हैं– किन्तु, हमसे- शौनकादि ऋषियों से- अतिरिक्त मानव अल्पायु हैं । क्योंकि, ऋषि होने से शौनकादि स्वयं चिरजीवी हैं । तदनुसार, ऋषियों से अतिरिक्त व्यक्तियों के लिये यह उपाय पूछा गया है । पहिले प्रश्न में 'नः' पद 'पुंसाम्' से सम्बन्धित उसके साथ ही है– नः पुंसाम्– जिसका अभिप्राय ऋषि व्यतिरिक्त व्यक्तियों से है– क्योंकि, जो अल्पायु हैं, उनके लिये सहस्र वर्ष में सिद्ध होनेवाला सत्र उपयोगी नहीं है– अर्थात् हजार वर्ष का सत्र ऐसे व्यक्तियों के लिये साधन नहीं हो सकता– वह तो हमारे जैसे चिरजीवी ऋषियों के लिये है ।

यदि यह शंका हो कि जो साधन अल्पायु वालों के लिये उपयोगी होगा, वह आपलोगो के लिये अर्थात् शौनकादि ऋषियों के लिये अनुपयोगी है, तो इसका समाधान यह है कि आप में (सूत में) सभा के सभी गुण हैं– अतः आप सभ्य हैं– सभा के योग्य है । प्रथम तो सभा में प्रवेश ही नहीं करना चाहिये, यदि प्रवेश किया है तो सभा में जो भी प्रश्न किया जाये, उसका उत्तर देना चाहिये– चाहे वह प्रश्न दीर्घायु के लिये हो अथवा अल्पायु वाले के लिये हो । सभ्य का यही धर्म है और इसी का निर्देश करने के लिये सूत को यहां 'सभ्य' कहा है ।

यदि यह कहो कि जिस साधन के सिद्ध होने में अधिक समय अत्यंत आवश्यक हो, अल्पायु वाले को वह साधन नहीं बताना चाहिये, तो उसका उत्तर यह कि जो अल्पायु हैं, वह कलिदोष के कारण है, स्वभाव से नहीं । और इसीलिये, कलि-दोष को दूर करने वाले इस प्रश्न के साधन से अल्प आयु वाले की आयु में भी अभिवृद्धि होगी, इसी अभिप्राय को लेकर

'कलावस्मिन् युगे'– इस पद का यहां प्रयोग किया गया है– अर्थात्, इस कलियुग में ऐसे मनुष्य हैं- ( अल्पायुवाले )– । यदि यहां केवल 'कलौ युगे' पद का प्रयोग किया जाता तथा इसमें 'अस्मिन्' पद नहीं होता, तो उस अवस्था में कलौयुगे का अर्थ होता 'केवल कलियुग में'– अर्थात् 'केवल कलियुग में ऐसे अल्पायु मनुष्य होते हैं' । इस प्रकार के कथन से तो 'यह कोई कालान्तर कलि के लिये कहा गया है'– ऐसा अर्थ करने से यह शंका होती है कि यदि कालान्तर कलि में ऐसे ( अल्पायु ) व्यक्ति होंगे तो फिर उनके लिये उपाय को, अभी से कहने की कोई आवश्यकता नहीं । इस शंका के निवारणार्थ– 'अस्मिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है– अर्थात् 'इस कलियुग में ऐसे ( अल्पायु ) मनुष्य हैं' । यहां 'युग' पद से, इस कलि में जन्म लेने वाले मनुष्य की पूज्यता का निर्देश किया गया है– इस कलियुग में जन्म लेने वाले भगवान् के भक्त होने के कारण पूज्य हैं । इसलिये, अभी से उनको और उपाय बताया जाना चाहिये ।

जीवों में सहज संसारीपने का अभाव है– यह बताने के लिये यहां 'जनाः' शब्द का प्रयोग किया है । जीवों का प्रादुर्भाव परब्रह्म से उसके अंशरूप में होने के कारण, उनमें उत्तमता है । किन्तु, मानव-देह में उत्पन्न होने के कारण उनमें सहज दोष है । इस तरह सहज दोष को कहकर जब मनुष्य के आगन्तुक दोषों को– चार विशेषणों से– कहते हैं । 'मन्दाः' का अर्थ है आलसी । चित्त की जड़ता से जीव आलसी हो गये हैं । ज्ञानेन्द्रिय के दोषों को लेकर अत्यंत मंद बुद्धि तथा कर्मेन्द्रियों के दोष के कारण मंदभागी बने हुये हैं, क्योंकि– अदृष्ट– भाग्य की सिद्धि दोष रहित कर्मेन्द्रियों से ही सम्भव हैं । इसी तरह जीव रोगों से आक्रांत रहते हैं– यह शरीर का दोष है– 'उपद्रुताः' । इस तरह चार प्रकार के ये आगुन्तुक दोष हैं ।

कार्यान्तरेण च व्यापृता इत्याऽऽह—

और वे मनुष्य कार्यान्तर में लगे हुये हैं– यह उनका बाह्य दोष है, और इसी का वर्णन यहाँ करते हैं–

**भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः ।**
**अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्गृह्य मनीषया ।**
**ब्रूहि भद्रं हि भूतानां येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ॥११॥**

**अनुवादः–** मनुष्यों के लिये विभाग पूर्वक, विवेक सहित श्रवण करने योग्य अनेकों शास्त्र हैं । अतः, परदुःख निवारक हे सहृदय साधु ! उन-उन शास्त्रों के उन-उन प्रकरणों में जो जो

सारूप हो उस उस को आप अपनी बुद्धि से चुन-चुन कर हमको कहैं- जिससे उनका कल्याण हो तथा भगवान् परम प्रसन्न हों ।।११।।

**भूरीणीति** । अयं बाह्यो दोषः । "**न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदि**"ति लौकिककर्मव्यापृताः । ततोऽपि विहितकर्मव्यापृताः । तत्र प्रमाणविचारे प्रकरणशो धर्मादिशास्त्राणि ज्ञातव्यानि । तानि च, भूरीणि कर्माणि येष्विति **भूरिकर्म्माणि** । न च श्रवणमात्रेण कृतार्थता । किन्तु तदुक्तानि कर्माण्यपि कर्तव्यानि । ततो महान्दोषो बाह्यः। एवं त्रिदोषग्रस्तानामुपायं कथयेत्याहुः—**अत इति** ।प्रत्युपकारापेक्षाऽभावाय सम्बोधनम्—**साधो इति** । परदुःखदूरी करणं साधोरावश्यकमिति भावः । अन्यार्थमुक्तस्य, प्रासङ्गिकस्य वा साधनस्य निराकरणायाऽऽह–**अत्रेति** । एतादृशदोषे अत्रापि बहूनि साधनानि चेत् ? यत्सारं तत्समुद्गृह्य वक्तव्यम् । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धान्नाऽध्याहारदोषः । यदिति प्रसिद्धं वा । सारं पारम्पर्यफलव्यभिचारादितुषरहितम् । एकवचनेनाऽसाधारण्यं सुगमत्वं चोक्तम् । "**प्रकरणेन विधयो बद्ध्यन्त**" इति न्यायेन यद्यपि सर्वं प्रकणेषु सुसम्बद्धं, तथापि तत्तत्स्थानादुद्धृत्य वक्तव्यमित्याऽऽह—**समुद्गृह्येति** । प्रकरणेषु तद्धर्मशून्यत्वाभावाय । **मनीषयेति** । बुद्ध्यैवोद्धरणं न कृतितः । मनस ईषा मनीषा । मनश्चाञ्चल्यनिवारिका बुद्धिः । प्रार्थनायां प्राप्तकाले वा लोट्—**ब्रूहीति । भद्रं** कल्याणं, त्रिविधदुःखाऽभावपूर्वकमहासुखाऽवाप्तिः । तद्भगवत्प्रसादादिति चेत् ? तत्राऽऽह—**येनाऽऽत्मा सुप्रसीदतीति । येनैव** हेतुना **आत्मा** भगवान् **सुप्रसीदति** । तर्हि तथैव कथयेत्यर्थः । **भूतानामिति** पिशाचवज्जीवानां परिभ्रमणबोधनेन दया सूचिता ।। ११ ।।

**सुबोधिनीअर्थः**—इस श्लोक में निरूपित दोष, बाह्य दोष हैं- 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'- कोई भी प्राणी एक क्षण भी, कार्य किये विना नहीं रहता । इससे ज्ञात होता है कि कोई लौकिक कर्म में व्यस्त है, तो कोई शास्त्र विहित कर्म में व्यस्त है । इन कर्मों का किस प्रमाण से विधान है, ऐसा विचार करने लगेंगे, तो धर्म आदि का निरूपण करनेवाले शास्त्रों का प्रकरण पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा । उन शास्त्रों में अनेक कर्मों का वर्णन है- यह सब 'भूरिकर्माणि' से कही गयी है । किन्तु, उन कर्मों के श्रवण मात्र से जीव कृतार्थ नहीं हो सकता- किन्तु, उनमें कहे गये कर्म करने ही चाहिये- इस तरह, यह एक महान् बाह्य दोष माना गया है । इस तरह, पूर्व श्लोकोक्त सहज दोष तथा आगन्तुक दोष तथा इस श्लोक में निरूपित बाह्य दोष- इन तीनों दोषों से ग्रस्त प्राणी के लिये- अर्थात् इस प्रकार के त्रिदोषात्मक सन्निपात ग्रस्त जीवों के लिये जो उपाय हो वह कहो । 'अतः' पद से इसी का कथन किया गया है ।

हे साधो- आप साधु हैं- साधु उपकार करता है, किन्तु, प्रत्युपकार- नहीं चाहता–इसलिये

आपको परदु:ख दूर करना ही चाहिये और, यही आपका कर्तव्य है। यहां, हम मुख्य साधन जानना चाहते हैं। अन्य कार्यों के लिये बताया गया अथवा प्रासंगिक रूप से कहा गया साधन, हम सुनना नहीं चाहते। यही 'अत्र' पद का अर्थ है– 'अत्र' का तात्पर्य यह है कि ऐसे उपर्युक्त त्रिदोषज– सन्निपात को मिटाने के लिये कौन-सा उपाय है ?

यदि यह कहो कि इस दोष के शमनार्थ यहां भी बहुत से साधन हैं– तो हमारा यह निवेदन है कि इन साधनों में से जो सबका साररूप साधन हो, उसे निकाल कर कहिये। यत् तथा तत् पद का नित्य सम्बन्ध माना गया है– अत: यहां 'यत्सारं' के संदर्भ में 'तत्' का अध्याहार करने में कोई दोष नहीं। अथवा. 'यत्' को प्रसिद्धार्थक मानकर 'प्रसिद्ध' जो सारं ऐसा अर्थ करने पर 'तत्' के अध्याहार की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'प्र...प्रसिद्धानुभूतार्थ विषयस्तत् शब्दो– यत् शब्दं नोपेक्षते'– यह न्याय यत् शब्द के लिये भी वैसा ही है जैसा तत् शब्द के लिये है। अत:, तत् शब्द का अध्याहार न हो तो भी कोई दोष नही हैं।

'सारम्' में एकवचन से यह निर्देश किया गया है कि जो असाधारण– अर्थात्, जिसकी बराबरी का अन्य न हो– तथा सुगम– जो सरलता से समझ में आ सके– ऐसा एक ही सार कहिये– अर्थात् जो परम्परागत हो और जिससे फल की नि:संदेह प्राप्ति होती हो, ऐसा सार कहिये। 'प्रकरणेन विषयो बद्धयन्ते' इस न्याय से यद्यपि सब कुछ तथ्य प्रकरणों में सुसम्बद्ध है, तथापि, वहां से उद्धृत करके हमें सार वस्तु कहिये– क्योंकि प्रकरणों में वह सार रूप से नहीं जाना जा सकता। इसी से 'समुद्गृह्य' पद का प्रयोग किया है।

मनीषया– मन की ईषा को– मन की चंचलता को मिटाने वाली बुद्धि को मनीषा कहते हैं। आप अपनी बुद्धि से– कृति से नहीं– उस सार को ग्रहण करके हमें कहिये, जो प्रकरणों से नहीं जाना जा सकता और जिससे भिविध–दु:ख के शमन पूर्वक, महासुख की प्राप्ति होती है। अर्थात् जो कल्याणप्रद है– 'ब्रूहि' क्रिया में यहां प्रार्थना के अर्थ मे तथा प्राप्तकाल में लोट् लकार है। भद्र का अर्थ है कल्याणरूप। यदि यह कहो कि इस प्रकार का कल्याण तो भगवान् के प्रसन्न होने पर मिल सकता है तो इसके लिये ही श्लोक में कहा गया है कि 'येनात्मासुप्रसीदति'– जिस उपाय से आत्मा-भगवान् अच्छी तरह प्रसन्न हों, उसे कहिये। श्लोक में 'जीवानाम्' न कहकर 'भूतानाम्' जो कहा है– उससे यह सूचित होता है कि जीव-गण, पिशाचों की तरह घूमते रहते हैं– अत: उनपर दया-भाव रखना उचित है ॥११॥

एवं फलसाधने निरूपिते। तत्राऽऽविर्भूतो भगवानेव फलं साधनं चेत्याशङ्क्य, भगवदव-

तारो लोकानामर्थे स्वार्थे वेति सन्देहादवतारप्रयोजनं पृच्छति—

इस तरह फल और साधन के विषय में दो प्रश्नों का निरूपपण किया। यहां, भूतल ऊपर– आविर्भूत भगवान् ही फल और साधन हैं– ऐसी शंका करके– तथा, भगवान् का अवतार लोगों के लिये है अथवा अपने स्वयं के लिये, ऐसा संदेह होने पर, शौनकादि ऋषि सूत से, भगवद्-अवतार का प्रयोजन जानने के लिये पूछते हैं कि–

**सूत जानासि भद्रं ते भगवान्सात्वतां पतिः ।**
**देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ।। १२ ।।**

**अनुवादः**— हे सूत ! भगवान् सात्वतों के– सत्वैकनिष्ठ देवताओं अथवा मुक्तात्माओं के- पति हैं। तो फिर, यही भगवान्– मुक्तलोक से इस मनुष्य लोक में, वसुदेव की भार्या देवकी में, जिस कार्य करने की इच्छा से प्रकट हुये, वह आप जानते हैं– आपका कल्याण हो ।। १२ ।।

**सूत जानासीति**। इदं त्वतिगूढमिति को वेद। न जानातीति सन्देहात्पृच्छेति—**जानासीति**। मुखप्रसादं दृष्टवा जानातीति ज्ञात्वा हर्षेणाऽऽशीराहुः(?)—**भद्रं त इति**। **अस्त्वि**त्यर्थात्। महति ज्ञानोपदेशे दक्षिणा ह्येषा। श्रुतमस्ति, **देवक्यां जातः** कृष्णो भगवानिति । तत्र सन्देहः। भगवतः षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नस्य ब्रह्मणः कार्यकरणार्थं न देहे सम्बन्धोऽपेक्ष्यते। जीवधर्मास्तु ब्रह्मणि न सन्त्येव। प्रादुर्भावप्रकारस्तु जीवानामिव। अतः सन्देहः। किञ्च। **सात्वतां पतिः**। सत्वैकनिष्ठाः **सात्वन्तः** देवा मुक्ता वा। तत्परित्यज्य मनुष्येषु संसारिषु कथमाविर्भावः। पतित्वात्तेषां परित्यागोऽनुचितः। किञ्च। देवा मुक्ताः सनकादयो वा। तेऽपि ब्रह्मणो देहान्मनसो वा उत्पद्यन्ते, न स्त्रियाम्। तत्रापि कस्यचित्कन्यायां **देवक्यामिति**। देवकस्य कन्या देवकी। तथाच अप्सु नारायणावतारवन्न भवति। तत्रापि विशेषः—**वसुदेवस्येति**। वसुदेवस्य भार्या पराधीना। भगवदवतारे न भार्यादिविशेषसम्बन्धः। किन्तु सम्बन्धमात्रमिति षष्ठीमात्रप्रयोगः। अतस्तादृशस्य तादृशावतारे किं कार्यम्। तर्हि तथा न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह । **जातः**। कंसादिवधस्त्वन्यस्मादपि भवतीत्यभिप्रायः। अतो यस्य चिकीर्षया जातस्तन्नः कथयेति सम्बन्धः। अनेन प्रासङ्गिकं प्रयोजनं निवारितं, कालादिसाध्यता च ।। ।।

**सुबोधिनीअर्थः**–'यह बात मानों अत्यंत गूढ़ होने के कारण, किसे पता कोई जानता है या नहीं'–इस प्रकार के संदेह से, शौनकादि ऋषि, सूत पौराणिक से पूछते हैं कि क्या आप जानते हैं ? 'सूत ! जानासि'-- आपकी प्रसन्न मुख-मुद्रा को देख कर हम समझ गये कि आप इसे जानते हैं।

यह सब समझ कर मुनिगण, सूत को, हर्ष से आशीर्वाद देते हैं– 'भद्रंते'– आपका कल्याण हो– 'अस्त्विवत्यर्थात्'– आपसे इस महान् ज्ञानोपदेश के लिये हमारी ओर से यही दक्षिणा है। हमने सुना है, देवकी से भगवान् श्रीकृष्ण ने जन्म लिया है। हमें यहां सन्देह है। षड् ऐश्वर्य से युक्त भगवान् को केवल ब्रह्मा के कार्य को सिद्ध करने के लिये देह से सम्बन्ध की कोई आवश्यकता– 'अपेक्षा' नहीं। जीव के धर्म अविद्या 'काम क्रोध' आदि भगवान में हैं ही नहीं-- और यहां भगवान् के प्रादुर्भाव का प्रकार तो नितांता जीव के समान है। इसलिये यह सन्देह हो रहा है– भगवान् तो जीवन्मुक्त सत्वैकनिष्ठ नारद सनकादि जैसों के-सात्वतों के-पति हैं। उनको छोडकर, संसारी मनुष्यों के यहाँ साक्षात् परब्रह्म का आविर्भाव कैसे हुआ ? पति होने के कारण भगवान् द्वारा उनका परित्याग अनुचित है। इसलिये, उनको नारद सनकादि से ही आविर्भूत होना था। तदुपरांत, देवता तथा मुक्त नारद सनकादि भी ब्रह्मा की देह से अथवा मन से उत्पन्न होते हैं– न कि स्त्री से। फिर, भगवान् किसी अप्रसिद्ध देवक की कन्या देवकी-गर्भ से कैसे प्रकट हुये ? अर्थात्, जल में से नारायण, भगवान् की तरह उत्पन्न नहीं हुये। और विशेष बात तो यह है जिसमें से आप प्रकट हुए वह देवकी वसुदेव की भार्या होने से पराधीन है। श्लोक में 'वसुदेवस्य' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है, इसलिये, वसुदेव का भगवान् के अवतार में देवकी के साथ भार्यादि रूप से विशेष सम्बन्ध हुआ यह बात नहीं है, किन्तु, वसुदेव का उससे सम्बन्ध मात्र सामान्य सम्बन्ध था। अतः, षड्ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् का पराधीन देवकी में अवतार लेने में क्या प्रयोजन हो सकता है। अब यदि यह कहो कि भगवान् प्रकट ही नहीं हुए– तो वह उचित नहीं– क्योंकि, 'जातः'– यह कहा गया है। अतः प्रकट तो जरूर हुए हैं।

प्रश्न का तात्पर्य यह कि कंसादि वध तो, भगवान् के अन्य अंश अथवा कला अवतार भी कर सकते थे। पूर्ण पुरुषोत्तम का अवतार जिस कार्य के लिये, इस प्रकार हुआ, वही हमें बताइये। भगवान् के अवतार लेने में मुख्य प्रयोजन ही कहें– प्रासंगिक प्रयोजन नहीं। जिस कार्य के लिए भगवान् प्रकट हुए हैं, वह कार्य, काल आदि से भी साध्य नहीं है– इसलिये जिस मुख्य कार्य के लिये वे प्रकट हुये हैं– वह कहिये ॥१२॥

नन्वस्त्येव प्रयोजनं, कारणादर्शनात्। योगेन च तज्जानन्तीत्याशङ्क्याऽऽहुः (?)—

कितने ही कारणों से भगवान् के अवतार में कोई प्रयोजन तो अवश्य है, इस प्रयोजन को योगबल से जाना जा सकता है। तो फिर पूछने की आवश्यकता ही क्या है ? तो कहते हैं कि—

**तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गाऽनुवर्णितुम्।**
**यस्याऽवतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥१३॥**

**अनुवादः–** यहां हम सभी लोग भगवद्-तत्व के श्रवण करने की इच्छा रखते हैं, हे वत्स सूत ! आप हमारे स्वकीय ही हो– हमारी इस श्रवणेच्छा को आप अवश्य पूर्ण करें। तथा भगवान् के अवतरण में जो असाधारण प्रयोजन है, उसे कहें। भगवान् के अवतार का साधारण प्रयोजन तो हम जानते हैं– उनका अवतार, स्थावर-जंगमादि सर्व प्राणिमात्र को ऐहिक सर्व-सुख देने के लिये, उनके सर्व दु:खों की निवृत्ति के लिए, उनको मोक्ष देने के लिए तथा उनकी अविद्या को दूर करने के लिए है।

**तन्नः शुश्रूषमाणानामिति।** बहूनामस्माकं श्रवणेच्छापूरणाय कथनीयम्। न हि श्रवणेच्छा योगेन निवर्तते। न वा योगः सर्वैः कर्तुं शक्यते। न वा योगेन भगवदीयः पदार्थो ज्ञातुं शक्यते भगवद्वाक्यव्यतिरेकेण। अत एव साक्षात्परम्परया वा भगवन्मुखोक्तं गुरुमुखाच्छ्रुतं **अनु** पश्चाद्**वर्णयितुमर्हसि**। पठितस्य हि अनुवचनमावश्यकं मन्त्रादावपि। परमधिकारिविशेषे। तच्छुश्रूषमाणानां वक्तव्यमेव। **अङ्गेति** कोमलसम्बोधनमङ्गत्वेन स्वाधीनत्वाय। असाधारणं तु प्रयोजनं पृच्छ्यते, साधारणं तु ज्ञायत इत्याहुः (?)—**यस्याऽवतार** इत्यादिसार्धैस्त्रिभिः। तत्र प्रथममवतारद्वारा रूपप्रयोजनमाह—**यस्येति। यस्य** सामान्यतोऽप्य**वतरणं** देवतिर्यङ्नरादिष्वलौकिकतेजसः सङ्क्रमणं, **भूतानां** जातमात्राणां स्थावरजङ्गमानां **क्षेमाय** ऐहिकसर्वसुखाय। **चकारा**त्सर्वदुःखनिवृत्तये। **भवाय** मोक्षाय। चकारादविद्यानिवृत्तये। **भू सत्तायामिति** सन्मात्रत्वायेत्यर्थः। "**चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादि**" ति चैतन्येऽनुप्रवेशो वा चकारार्थः ॥१३॥

**सुबोधिनी अर्थः**– हम सभी की श्रवणेच्छा को पूर्ण करने के लिये आपको वह प्रयोजन कहना चाहिये। यह प्रयोजन, योग बल से जाना जा सकता है, किन्तु, उससे श्रवणेच्छा की पूर्ति नहीं होती– और न योग-साधन सभी लोग कर सकते हैं। भगवद्-वाक्यों के विना, केवल योग द्वारा भगवदीय पदार्थ जाना भी नहीं जा सकता। इसीलिये, साक्षात् अथवा परम्परा से, भगवन्मुख से कहे गये तथा गुरु-मुख से सुने गये इस प्रयोजन का, तदनन्तर वर्णन आप ही कर सकते हैं। जो कुछ भी पढ़ा गया हो, उसका दूसरे के समक्ष अनुकथन आवश्यक है– मन्त्रादिक में भी यही प्रक्रिया है। फिर जो इसके अधिकारी विशेष हैं, और जो यहां सुनने की इच्छा से ही आये हैं, उनके लिये तो अवश्य कहना चाहिए। श्लोकोक्त कोमल सम्बोधन 'अंग !' से यह सूचित किया गया है कि आप हमारे अंग हैं- अतः हमारे अधीन हैं। हमारे पूछने पर आपको कहना ही चाहिये। यहां हम प्रभु के अवतरण का– असाधारण प्रयोजन पूछते हैं। साधारण प्रयोजन तो 'यस्यावतारः' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकों में जो कहा गया है, उसे हम जानते ही हैं। यहां पहिले अवतार द्वारा रूप धारण करने का प्रयोजन कहते हैं। यस्य-भगवान्

का साधारण अवतरण भी– अर्थात् देव, पक्षी तथा मनुष्य आदि में अलौकिक तेज का संक्रमण भी– उत्पन्न हुये स्थावरजंगम आदि प्राणीमात्र को ऐहिक सर्व सुख देने के लिये, तथा उनके सर्व दुःखों की निवृत्ति के लिये और मोक्ष के लिये है। यहां 'च' से 'अविद्या-निवृत्ति के लिये' यह अधिक ग्रहण होता हैं। यह सब कुछ भगवान् के साधारण अवतरण से सिद्ध हो जाता है। यद्यपि, यहां भवाय– 'भव' शब्द का अर्थ 'संसार' हैं, किन्तु, अन्य टीकाकारों ने उसका 'संपत्ति' अर्थ किया है, तथापि, यहां प्रकरण के अनुरोध से 'भव'– भवाय– शब्द का अर्थ 'मोक्ष' लिया है। इसमें प्रमाण-युक्ति यह है कि 'भव' शब्द 'भू' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'सत्ता' होता है– अतः 'सत्– मात्र के लिये'– 'मोक्ष के लिये' ऐसा अर्थ– जो किया गया, वह उचित है।

यदि यह कहो कि मोक्ष होने पर अविद्या– निवृत्ति स्वतः हो जाती है– अतः श्लोकोक्त द्वितीय 'च' पद व्यर्थ हो जायेगा– इस आशंका से, 'च' पद से रहीत दूसरा पक्ष कहते हैं कि 'जिसके अवतरण से, चैतन्य में अनुप्रवेश रूप परम मोक्ष प्राप्त होता है'– यहां यह 'च' का द्वितीय अर्थ है– 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात्'– ब्र. सू. ४. ४. ६. अर्थात्, भगवान् के साथ सम्बन्ध होने पर– भगवदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है– जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने से– यह ब्रह्मरूप से सर्वकामों का उपभोग करता है– शरीर धारण करके नहीं। ।।१३।।

एवं सर्वेषामभ्युदयनिःश्रेयसार्थं भगवदवतार इत्युक्तम्। उत्पत्स्यमानानां तु नाम्ना पुरुषार्थसिद्धिरिति तन्माहात्म्यमाह—

इस तरह, सर्व के अभ्युदयार्थ निःश्रेयसार्थ, भगवान् अवतार लेते हैं– अन्य का रूप धारण करते हैं– यह कहा जा चुका है। किन्तु, जब भगवद्-रूप स्वधाम पधार जाते हैं तब अर्थात्, अनवतार दशा में उत्पन्न होने वालों को तो भगवद्-नाम से ही पुरुषार्थ प्राप्त होगा अतः यहः नाम का माहात्म्य कहते हैं।

**आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।**
**ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ।। १४ ।।**

**अनुवादः**—सर्पादि योनि को प्राप्त अथवा महाव्याधि से ग्रस्त कोई भी प्राणी परवश में हो अथवा काल के वश में हो– भगवन्नाम का उच्चारण करते ही शीघ्र इस संसार योनि में से विशेष-रूप से मुक्त हो जाता है– विमुच्येत– क्योंकि, भगवन्नाम के माहात्म्य का प्रभाव ही

ऐसा है कि स्वयं भय भी भयभीत हो जाता है– अर्थात् भगवन्नामोच्चारण से वक्ता तथा श्रोता दोनों ही भय-मुक्त हो जाते हैं। ॥१४॥

**आपन्न इति। घोरां संसृतिं** सर्पादियोनिभूतां, महाव्याध्यादिरूपां वा । **आपन्नः। अस्य** अवतारस्य **नाम विवशः** परवशः, **वेः** कालस्य **वशो** वा, **गृणन्नुच्चरन्नेव, ततः** संसृतेः सद्यो विमुच्यते। तत्र हि अन्तकाले कालस्याऽधिकारी भयनामा कश्चिन्मृत्युपाशेन सर्वानेव गृह्णाति। यश्चतुर्थस्कन्धे वक्ष्यते—"**सैनिका भयनाम्न**" इत्यत्र। सद्यस्तस्य पाशान्मुच्यत इत्यर्थः। ननु कथं स नामकथनमात्रेण पाशान्मुञ्चति ? तत्राऽऽह। **यद्बिभेति** यस्मान्नाम्नो भयं स्वयं बिभेति। स्वरूपनाशेन बिभेति। न तु बहिःपदार्थनाशेन। एवं हि भगवन्नाममाहात्म्यं यच्छ्रोत्तॄन् मुक्तान् करोति। ततो भयमपि मुच्येतेत्यर्थः। अथवा स्वरूपभूतं भयमपि मुच्यत इत्यर्थः। द्वैतदृष्टिर्गच्छति। "**द्वितीयाद्वै भयं भवती**"**ति** श्रुतेः। अतोऽग्रे उत्पत्स्यमानानां नाम्ना मुक्तिः ॥१४॥

**सुबोधिनीअर्थः**—'घोरां संसृत्तिं'– सर्पादि योनि को प्राप्त अथवा महाव्याधि से ग्रस्त व्यक्ति.परवश होकर अथवा 'वेः' काल के अधीन होकर भी– जिस अवतार का नामोच्चारण मात्र करने से– तत्क्षण सर्पादि योनि से तथा महाव्याधि आदि संसार से मुक्त हो जाता है। यहां अन्तकाल में 'भय' नाम वाला 'काल' का अधिकारी सभी को मृत्यु– पाश से जकड लेता है– चतुर्थ स्कंध में 'सैनिकाः भयनाम्नो ये' आदि पंक्ति द्वारा यही कहा गया है। नामोच्चारण करने वाला उस मृत्यु-पाश से तत्क्षण ही मुक्त हो जाता है– 'ततः सद्यो विमुच्येत'।

यहां प्रश्न होता है– नामोच्चारण मात्र से ही यम क्योंकर पाशों को छोड़ देता हैं ? उसका उत्तर है कि 'यद्बिभेति'– अर्थात् भगवन्नाम से कहीं मेरा स्वरूप ही नष्ट न हो जाये, इस भय से स्वयं भय भी भयभीत रहता है– बाहर की वस्तु के नाश से यह भय नहीं खाता। भगवन्नाम का यही माहात्म्य है कि वह नाम का श्रवण करने वालों को मुक्त कर देता है– तब भय भी नहीं रहता है, अथवा स्वरूपभूत भय भी चला जाता है– अर्थात् द्वैत-दृष्टि ही नहीं रहती। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' जब द्वैत-दृष्टि नहीं रहती है तब भय भी नहीं रहता– क्योंकि भय दूसरे से होता है।

इसलिये भगवान् के स्वधाम पधार जाने पर उनके नाम का उच्चारण करने मात्र से ही जीव मुक्त हो जाता है। अतः अब इससे अग्रिम अवतार काल में उत्पन्न होने वालों की मुक्ति नाम से होगी। ॥१४॥

**आभासः**—ननु नामोच्चारणसामर्थ्यरहितानां वृक्षपश्वादीनां का गतिरिति चेत् ? तत्राऽऽह—

यह तो उचित है, परन्तु, यहां प्रश्न होता है कि जिनमें नामोच्चारण का सामर्थ्य ही न हो, ऐसे वृक्ष-पशु आदि कैसे मुक्त हो सकेंगे- इसके उत्तर में कथन है कि—

**श्लोक— यत्पादसंश्रयाः सूत ऋषयः प्रशमायनाः ।**
**सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वधुन्यापोऽनुसेवया ।। १५ ।।**

**अनुवाद श्लोक** - जिस प्रकार गंगाजल अपने स्पर्श से भगवत्सेवकों को पवित्र कर देता है, उसी तरह भगवान् के चरणारविंदों का आश्रय लेने वाले तथा कर्म, ज्ञान एवं भक्ति से युक्ति भक्त-जन अपने स्पर्श से सभी को तत्क्षण पवित्र कर देते हैं। १५

**सुबोधिनी : यत्पादसंश्रया इति ।** भक्तस्पर्शेन तेऽपि मुच्यन्त इत्यर्थः । यस्य भगवतः पादौ संश्रयभूतौ येषाम् । भगवतः समाश्रयणं ज्ञानमार्गेऽपि भवति । यथा च ज्ञानिनां देहाध्यासाभात्त-त्पर्शेन न मुक्तिः किन्तु तदुपदेशेनेति, तद्व्यावृत्यर्थं **पाद**पदप्रयोगः । पादसंश्रयणं भक्तिमार्ग एव । गुरुत्वप्रकारध्व्यावृत्यर्थं **सम्**उपसर्गः । सूतेति सम्बोधनं पावित्र्यानुभवज्ञापनार्थम् । यथा सूतोऽपि सन् महापुरुषकृपया ब्राह्मणैर्यज्ञादिष्वपि संव्यवहारं संभजते । **ऋषयो** मन्त्रद्रष्टारः । **प्रशमायना** ज्ञानिनः प्रकृष्टः शमः अयनं येषामिति । त उभयेऽपि यत्पादसंश्रयाः पुनन्तीति योजना । अथवा । पादसंश्रया ऋषयः प्रशमायनाश्च भूत्वा ज्ञानकर्मणी प्राप्य त्रितयसम्पन्नाः सर्वेषां पावित्र्यहेतवो भवन्ति । स्वयं हि शुद्धाः सन्तः परान् पुनन्ति । अतः स्वशुद्धयर्थं ज्ञानकर्मणी युक्ते । न तु साक्षात्पावनसम्ब-न्धस्तयोः । **उपस्पृष्टाः** समीपे देहसम्बन्धमात्रेण पुनन्तीत्यर्थः । कालव्यवधानेन हि सर्वत्र पावनं दृष्टं— **"त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत त्रिरात्रं वा सावित्रीं संवत्सरादेवाऽऽत्मानं पुनीत"** इत्या-दिभिः । **मुनय** इति पाठेऽपि मननं, कर्मयोगो वा । क्रौर्यादिना स्पर्शव्यावृत्यर्थम्—**उपेति** । अग्रेण वा सम्बन्धः । तेषां तु दृष्टयादिनाऽपि पावनं सम्भवति । **स्वधुन्यापो** गङ्गाजलान्य**नुसेवया पुनन्ति** भगवत्सेवकानेव पुनन्तीत्यर्थः **"प्रायश्चित्तानि चीर्णानी"** ति वाक्यात् । **"सद्यः पुनाति गाङ्गेय"** मित्यपि । नारायणसंमुखीकरणद्वारा पुनन्ति । अथवा । उपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापः सद्यः पुनन्तीति दृष्टान्तः । **नु** इति वितर्के । **भगवद्भक्ता गङ्गा च** पुनन्तोऽपि, भगवत्सेवया पुनन्ति, नाऽन्यथेति वितर्कः । आपाततः पावनं नाऽत्र विवक्षितम् परमपावनं तु मायास्पर्शाभावः ।।१५।।

**सुबोधिनी अर्थः**- भगवन्नामोच्चारण में असमर्थ वृक्ष-पशु आदि भी, भक्त के स्पर्श से ही मुक्त हो जाते हैं- उन भक्तों के स्पर्श से जिनको भगवान् के चरणों का आश्रय है। यद्यपि ज्ञान-मार्ग में भी भगवान् का समाश्रयण होता है, किंतु, ज्ञानियों में देहाध्यास का अभाव होने से

उनके स्पर्श से नहीं, अपितु उनके उपदेश से मुक्ति मिलती है। किंतु, उसका यहां निरूपण नहीं किया गया है– क्योंकि, श्लोक में 'पाद' शब्द दिया है– और, पाद–संश्रयण तो भक्ति-मार्ग में ही है।

यहां 'संश्रया:' में सम्-उपसर्ग से, गुरु का जो आश्रय लिया जाता है, उस प्रकार के आश्रय से यहां अभिप्राय नहीं है– अपितु भगवद्-चरणों में सर्वतोभावेन लिये जाने वाले आश्रय का यहां उल्लेख किया गया है, क्योंकि गुरु का आश्रय विद्याध्ययन अथवा उपदेश-ग्रहण तक ही सीमित है– सर्वदा नहीं। 'हे सूत!' इस संबोधन से यह अभिप्राय है कि भक्ति-मार्ग में पावन कर देने का जो अचिन्त्य प्रभाव है, उसका आपको भी–सूत को भी– अनुभव है– अर्थात् शूद्र होते हुये भी आप अपने में भगवद् नाम से पवित्रता का अनुभव करते हैं। सूत होते हुये भी, महापुरुष की कृपा से, आप ब्राह्मणों के साथ उनके यज्ञ आदि में भी अच्छे प्रकार से व्यवहार में सम्मिलित हैं। मंत्र-दृष्टा ऋषिगण तथा एकांत शांति का समाश्रय करने वाले ज्ञानी जन भी भगवद्चरणारविंदों का ही एकमात्र आश्रय लेकर पवित्र करते हैं– यहां प्रशमायनाः का अर्थ है– उत्तम प्रकार का 'शम' ही है स्थान जिनका ऐसे ज्ञानीजन। अथवा, भगवान् के चरणों का ही आश्रय करने वाले ऋषिगण, ज्ञान से युक्त होकर, तथा इस तरह ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति को प्राप्त करके, सभी को पवित्र करने में हेतु बनते हैं– अर्थात् स्वयं शुद्ध होकर, दूसरों को पवित्र करते हैं। यहां ज्ञान तथा कर्म- अपनी स्वशुद्धि के लिये उपयुक्त है– किंतु, दूसरों को पवित्र करने में ज्ञान और कर्म साक्षात् कारण नहीं हैं। इसलिये, दूसरों को पवित्र करने में भक्ति ही अपेक्षित है। ऐसे भक्त, समीप में, देह के केवल स्पर्श मात्र से सम्बन्ध मात्र से पवित्र कर देते हैं।

'तीन बार वेद का अध्ययन करे अथवा तीन रात्रि सावित्री का अध्ययन करे, तो एक वर्ष में ही व्यक्ति अपने आपको पवित्र कर लेता है'– इस तरह करने से मनुष्य कालान्तर में– विलंब से पवित्र होता है– किंतु भक्तों का सम्बन्ध तत्क्षण ही पवित्र कर देता है।

'ऋषयः' की जगह 'मुनयः' ऐसा पाठ होने पर भी 'मनन' करने वाले अथवा कर्मयोगी ऐसा अर्थ होगा। 'उपस्पृष्टाः' में 'उप' उपसर्ग का तात्पर्य है क्रूरता आदि से स्पर्श नहीं करना चाहिये। अथवा, उपस्पृष्टा का सम्बन्ध गंगा जल के साथ है। अर्थात् गंगा के जल का स्पर्श पवित्र कर देता है। भक्त तो दृष्टि आदि से भी पवित्र कर देता है– अर्थात् भगवत् समाश्रित भक्त लोग तो शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं। किंतु, उपस्पृष्ट– अर्थात् 'स्पर्श किया गया गंगा-जल भगवत्सेवकों को ही पवित्र करता है– भगवद्-विमुखों को नहीं– क्योंकि 'जैसे गंगादि तीर्थों का

जल मदिरा के घट को पवित्र नहीं कर सकता, उसी तरह, भगवान् से विमुख को–अनेक विध प्रायश्चित भी मुक्त नहीं कर सकते'– प्रायश्चित्तानिचीर्णानि...। 'गंगाजल शीघ्र ही पवित्र करता हैं'– (सद्यः पुनाति गांगेयम्)– इसका तात्पर्य यह है कि नारायण के सन्मुख करके, गंगाजल पवित्र बनाता हैं। अथवा भगवत्-सन्निधि में स्पर्श किया गया गंगा जल शीघ्र ही पवित्र करता है– ऐसा भी उदाहरण (१) है। श्लोक में 'आपोनुसेवया' में 'अनुसेवया'– ऐसा पदच्छेद करने से यह अर्थ होता है कि गंगा-जल भगवत्सेवकों को ही पवित्र करता हैं– अब यदि 'आपः नु सेवया'– इस तरह पदच्छेद करते हैं तो 'नु' यहां वितर्क के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है– अर्थात् भगवद् भक्त और गंगा पावन करते हुये भी, भगवत्सेवा के द्वारा ही पवित्र कर सकते हैं– अन्यथा नहीं (२)। अन्य किसी भी कारण से नहीं। यहां ऊपर ऊपर से पवित्र किया जाना अभिप्रेत नहीं है– यहां पवित्रता से, ऊपर ऊपर की सामान्य पवित्रता नहीं समझनी चाहिये– अपितु, यथार्थ पवित्रता से ही यहां अभिप्राय है– और, वह तभी सम्भव है, जब माया के स्पर्श का सर्वथा अभाव हो– परम पावनता तभी सम्भव है। भगवद् भक्तों के सम्बन्ध से जब माया सर्वशः निवृत्त हो जाती है तब परम पावनता आती हैं ॥१५॥

**आभासः–** एवं सार्द्धाभ्यां भगवद्रूपनामसम्बन्धिनां माहात्म्य उक्ते, शङ्का भवति—कथमिदमवगतं भगवच्छास्त्रव्यतिरेकेणेति। अवगते तु पुनः शास्त्रे प्रश्नोऽनुपपन्नः ? इत्यत आह—

**आभासअर्थः**—इस तरह ढाई श्लोक से भगवद्-रूप का तथा भगवद्-नाम का तथा उनके चरणों में आश्रय का सम्बन्ध का माहात्म्य कहा गया। यहां शङ्का होती है कि भगवत्-शास्त्र के ज्ञान के विना ही यह सब कुछ कैसे जान लिया गया– क्योंकि, यदि यह सब कुछ भगवत्-शास्त्र से ज्ञात था, तो फिर यह सब पूछने की आवश्यक्ता ही क्या थी ? इसके समाधान में कहते हैं—

**श्लोक– को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः ।**
**शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥ १६ ॥**

**श्लोक अनुवादः**—शुद्धि की कामना वाला जगत् में ऐसा कौन है, जो, पुण्यशाली– कीर्ति वाले– व्यक्तियों से संस्तुत्य भगवान् के कलिमलनाशक यश को न सुने। ॥१६॥

---

(१) यहां 'अथवा' से पक्षान्तर में यह अर्थ है– आचमन करने से गंगाजल जिस तरह सद्यः पवित्र कर देता है वैसे ही भक्त भी पवित्र कर देते हैं।

(२) यहां सेवा में, गंगा की अपेक्षा विशेष फल हैं।

**सुबोधिनी—को वा भगवत इति** । भगवद्यशःश्रवणेनाऽस्माकं हृदये स्वतः स्फुरितम् । अतः सामान्यतो ज्ञानविशेषार्थं प्रश्नः । यद्यपि भक्त्यभावात्स्वतः पुरुषार्थत्वेन भगद्यशःश्रवणं न भवति, तथापि सन्मार्गवर्तिनां शुद्धिरपेक्ष्यत इति तदर्थं श्रवणम् । विशेषतः कलौ । देशकालद्रव्य-कर्तृमन्त्रकर्मणां षण्णामप्यशुद्धकरणात् । स्वतन्त्रव्यावृत्त्यर्थं—**क इति** । वेत्यनादरे । अश्रोतारो दैत्यांशा न गण्यन्त एवेति । जीवानां स्वत उत्कृष्टाद्ब्रह्मण एव शुद्धिः (?) **भगवत** इत्युक्तम् । **तस्ये**त्यवतीर्णस्य सुलभत्वाय । लौकिकप्रभुस्तोत्रवदन्नादकर्तृकव्यावृत्त्यर्थमाह—**पुण्यश्लोकेड्य-कर्मण इति । पुण्या श्लोका** कीर्तिर्येषाम् । कीर्तनकर्तृणामपि कीर्तिर्यत्र सर्वान् पुनाति, तत्र किं वक्तव्यं कीर्तनस्य सर्वपावकत्वम् । तानपि पुनातीति वा । तेषां पावित्र्यापेक्षा नास्तीति वा । जनेन कीर्तिः पवित्रेस्वेव प्रतिष्ठितेति बोधितम् कर्मसामान्यग्रहणादुत्कर्षाऽऽधायककर्मव्यतिरिक्तान्यपि कर्माणि पावनानीत्युक्तम् । पुण्यश्लोकवचनादेवं ज्ञायते—कीर्तिमद्भिः सह सम्बन्धः प्रायेण सर्वेषां भवति, ते च भगवन्तमेव कीर्तयन्ते, अतो भगवत्कीर्तिश्रवणं सुलभमिति । यत्राऽऽपाततोऽपि शुद्धिः श्रवणेन, तत्र शुद्धिकामः कथं न शृणुयात् । आधारोत्कर्षाऽऽधायकसर्वलोकाऽऽह्लादकविसर्पि गुणः कीर्तिर्यशः । कलौ सर्वेषामपहतपाप्मत्वाभावान्न तैः कलिदोषनिवृत्तिः । भगवतस्तु कालात्प-रत्वात्तत्कीर्तेरपि तत्परत्वम् । अतः कलिदोषनिवर्तकमिति ।। १६ ।।

**सुबोधिनी अर्थः**– हमें यह सब कुछ जो स्फुरित हुआ है, वह भगवान् के यश का श्रवण करते-करते ही हुआ है, शास्त्रों के द्वारा नहीं । किंतु, शास्त्र का सामान्य ज्ञान जरूर है, अतः विशेष ज्ञान के लिये यह प्रश्न किया गया है । यद्यपि, भक्ति के अभाव में भगवद् यश का स्वतः पुरुषार्थ रूप में श्रवण नहीं होता है, तथापि, सन्मार्ग पर चलने वाले को शुद्धि की अपेक्षा होती है, और, इसीलिये वह श्रवण करता है । विशेषतया इस कलि में इस श्रवण की विशेष आवश्यकता है– क्योंकि, कलि ने देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मंत्र और कर्म इन छहों को अशुद्ध कर दिया है । 'कोवा भगवतस्तस्य'– 'क' पद से यह तात्पर्य है कि जिनकी श्रवण में स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, उनको यहां नहीं लिया गया है । किंतु, जिनका स्वभाव तो श्रवण करने का है, फिर भी श्रवण नहीं करते– ऐसे लोगों के लिये यहां 'क' पद दिया गया है । 'वा'– यहां अनादर के अर्थ में है–जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नहीं है– वे अनादरणीय हैं– उनके विषय में कुछ भी कहना उपयुक्त नही है । अर्थात् जिनकी भगवान् के यश को सुनने में प्रवृत्ति नहीं है वे दैत्यांश हैं– अतः उनकी गणना ही नहीं करनी चाहिये । ब्रह्म जो स्वतः उत्कृष्ट है, उससे ही जीवों की शुद्धि है, और इसीलिये यहां 'भगवतः' इस पद का प्रयोग किया गया है । 'तस्य'– का तात्पर्य है जो अवतीर्ण हुये हैं, उनका ही यश सुलभ– अर्थात् अवतार-दशा में सुलभ है, अनवतारदशा में नहीं ।

**पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः**—जिस तरह अपने लौकिक स्वामी की कोई स्तुति करता है, उसी प्रकार सामान्य जन आपकी स्तुति नहीं करते हैं, किन्तु पुण्य-कीर्ति वाले भक्त ही आपकी लीलाओं की स्तुति करते हैं– अतः जहां भगवत्–कीर्तन करने वाले की कीर्त्ति ही जब सभी को पवित्र कर देती है, तो फिर, स्वयं 'भगवत्कीर्तन' सर्व को पावन करता हो उसमें कहना ही क्या ? अथवा, पुण्यश्लोक होने से उन भक्तों को यद्यपि पवित्रता की अपेक्षा नहीं है, तथापि वे भगवत्कीर्तन करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पुण्य-श्लोक पवित्र हैं उनमे ही भगवत् कीर्त्ति रहती है, अर्थात् वे ही भगवान् की कीर्त्ति का गान कर सकते पुर्वोक्त पक्ति में 'कर्मणः' कर्म पद ही दिया गया है जिस से 'सामान्य कर्म' का ही ग्रहण होता है– जिससे यह निर्देश किया गया है– कि जो भगवत्कर्म– उत्कर्ष का आधायक नहीं है– अर्थात् जिन भगवत्कर्मों से भगवान् के उत्कर्ष का ज्ञान नहीं होता, वे कर्म भी पवित्र करने वाले हैं– भगवान् के ऐसे कर्म को श्रवण करने वाला भी पवित्र हो जाता है। श्लोकस्थ 'पुण्यश्लोक'– पद से ऐसा निर्देश किया गया है, उत्तम यशस्वी महानुभावों का सभी से सम्बन्ध होता है– वे भगवान् का ही कीर्तन करते हैं– अतः उनके यहां भगवत्कीर्तन का श्रवण सुलभ है। जहां भगवद्-यश के आपाततः श्रवण से शुद्धि होती हो, तो फिर, यथार्थ शुद्धि की इच्छा वाला उसे क्यों न सुने ?

जिससे व्यक्ति के उत्कर्ष में अभिवृद्धि हो– जो सर्व प्राणियों को आनन्द देने वाला हो, ऐसे सर्वत्र विस्तीर्ण गुण को कीर्ति कहते हैं– और इसी का नाम 'यश' है। कलियुग में सर्व प्राणी पाप रहित नहीं हैं– इसलिये, यह कलि-सुलभ दोष को दूर करने में असमर्थ है– किन्तु, भगवान् काल से भी अतीत हैं और इसी तरह इनकी कीत्त भी है– अतः वह कलियुग के दोष को निवृत्त कर देती है ॥१६॥

**आभासः**–एशं प्रयोजनप्रश्नमुक्त्वा कर्मप्रश्नमाह—

**आभासार्थः**—इस तरह भगवान् के प्राकट्य का प्रयोजन कह कर, अब, उनके लीला-कर्म से सम्बन्धित – लीला – चरित्र के विषय में– प्रश्न करते हैं।

**श्लोक– तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः ।**
**ब्रूहि नः श्रद्धानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥**

**श्लोक अनुवादः**—जो भगवान अपनी लीलाओं के द्वारा प्रतिक्षण नूतन कलायें धारण करते हैं, उन भगवान् के नारदादि सूरियों से संकीर्त्तित उदार चरित्रों को श्रद्धोपंत हमकों कहें ॥१७॥

**सुबोधिनी— तस्य कर्माणीति**। तादृशप्रयोजनस्य श्रुतस्य हृदये समागमनार्थं कर्माण्येव पृच्छन्ति (?)— **तस्य कर्माणीति**। कर्मश्रवणेन यत्फलं तद्भगवता देयमित्यपि नास्ति । अन्यानि च फलानि कर्मैव पात्रापात्रविवेचनव्यतिरेकेणैवाऽल्पेभ्योऽपि बहु प्रयच्छतीत्याह—**उदाराणीति** । उदारादिविशेषणानि न व्यावर्तकानि । किन्तु कर्मोद्देशेनोदारत्वादि विधीयते । प्रथमत एवं विशेष्यनिर्देशात् । अवान्तर-फलप्राप्त्यर्थमुदारत्वनिर्देशः । मुख्यं फलं भगवत एव । तेषामज्ञानाभावमाह– **परिगीतानि सूरिभिरिति । परितो गीतानीति** सर्वतो दूराच्छ्रवणसम्भवः । **सूरिभिरित्य**न्यथाकथनव्यावृत्तिः । तर्हि शौनकादीनामपि सुलभत्वादकथनमित्याशङ्कयाऽऽह—**श्रद्दधानानामिति**। श्रद्धया हि पुनः पुनः श्रवणेच्छा निरूपिता । कदाचिदपि रुच्यभावो नास्तीत्यभिप्रायेणाऽऽहुः (?)—**लीलया दधतः कला इति** अनायासेन हर्षात्क्रियमाणा चेष्टा लीला । तया नूतना एव कलाः प्रतिक्षणं ध्रियन्ते । भगवता यथा तथा तत्कर्मणामपि चन्द्रस्येव नूतनकलासम्बन्धात्कदाचिदपि नाऽरुचिः । इदं हि विशेषणं पूर्वोक्तनिर्वाहकम् ॥१७॥

**सुबोधिनी अर्थ** : भगवान् जिस प्रयोजन को लेकर प्रकट होते हैं, उसको हृदय में उतारने के लिये, उनके चरित्रों को ही पूछते हैं। चरित्र के श्रवण से जो फल होता है, उसे ही भगवान् देते हैं– ऐसा भी नहीं है। भगवत् कृत वे कर्म ही अन्य फलों को भी पात्रापात्र का विचार किये विना ही सामान्य जीव को भी अधिकाधिक मात्रा में प्रदान करते हैं। इसी का निर्देश 'कर्माण्युदाराणि' पंक्ति में किया गया है। जिस तरह उदार व्यक्ति पात्रापात्र का विचार किये विना ही– योग्यता से भी अधिक दान दे देता है, उसी तरह भगवान् के कर्म भी उदार हैं– वे भी पात्रापात्र का विचार किये विना ही प्रचुर मात्रा में दान कर देते हैं।

श्लोकोक्त 'उदाराणि' आदि कर्म के विशेषण हैं– ये विशेषण कर्म के स्वरूप को बताने वाले नहीं हैं, कर्म के उद्देश्य से ही उदारता आदि कहे गये हैं– उसका विधान करते हैं– अर्थात् भगवान् के कर्म उदार हैं, क्योंकि 'कर्माणि'– इस विशेष्य–पद का प्रथम निर्देश किया गया है– और उदाराणि विशेषण का तदनन्तर निर्देश है।

मुख्य फल तो भगवान् से ही मिलता है– किंतु वे कर्म उदार हैं, इसलिये अवान्तर फल (शुद्धि आदि) देते हैं। वे कर्म अज्ञात नहीं हैं, क्योंकि महानुभाव सूरियों ने, नारदादि भगवद् भक्तों ने उनका चारों ओर से संकीर्तन किया है। चारों ओर से गाये जाने के कारण– उनका चारों ओर से संकीर्तन किया है। चारों ओर से गाये जाने के कारण– उनका श्रवण सर्वत्र,

दूर से भी सम्भव है। इन चरित्रों का गान सूरियों ने किया है– अतः वे अन्यथा नहीं हैं– अपने यथार्थ स्वरूप में हैं।

यहां यह प्रश्न होता है कि चारों ओर से संकीर्तित भगवत्-चरित्रों का श्रवण-शौनक आदि ऋषियों को भी सुलभ है– तो फिर उनका यहां क्यों कथन किया जाये– इसके उत्तर में कहते हैं। 'श्रद्दधानानाम्'– अर्थात् हमारी उन कर्मों में श्रद्धा है, जिनमें श्रद्धा होती है उनको सुनने की बारम्बार इच्छा होती है– उनको इन कर्मों से कभी अरुचि नहीं होती– क्योंकि, लीलयादधतः कलाः – अनायास, हर्ष पूर्वक की जा रही चेष्टा को लीला कहते हैं। जिस तरह भगवान् इन लीलाओं से प्रतिक्षण नयी नयी कलायें धारण करते हैं, उसी प्रकार भगवत्कर्म भी चन्द्रमा की तरह, नवीन-नवीन कलाओं से सम्बन्ध करते हैं– इसलिये भगवत्-चरित्र के श्रवण से अरुचि होती ही नहीं। लीलयादधतः कलाः - यह विशेषण पूर्वोक्त चरित्र-कथन को सिद्ध करने वाला है।

एवमेकोपक्रमेण प्रयोजनकर्मणी पृष्टे। अथ भिन्नोपक्रमेणाऽऽवतारकथां पृच्छति—

इस तरह एक उपक्रम-प्रारम्भ से भगवान् के प्रकट होने का प्रयोजन तथा चरित्र पूछा गया है– अब, भिन्न पृथक्-क्रम से अवतार की कथा पूछी जाती है।

**अथाऽऽख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।**
**लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्याऽऽत्ममायया ॥१८॥**

**अनुवादः–** जो भगवान् अपनी सामर्थ्य रूप माया से स्वच्छन्द-लीला करते हैं, सर्वदुःख–निवारक उस भगवान् की शुभ अवतार–कथाओं को कहिये।१८।

**सुबोधिनी : अथाऽऽख्याहीति।** यद्यपि केचन अवतारास्तत्तदुपाख्याने श्रुतास्तथाप्येकोपक्रमेण सर्वेऽवताराः सविशेषा ज्ञातव्याः। अत औत्सुक्यात्पृथक्प्रश्नः। **अथेति** भिन्नोपक्रमे। **हरेरित्त** सामान्यतोऽवतारे परदुःखदूरीकरणं निमित्तमित्युक्तम्। अवतारस्वरूपस्य दुर्ज्ञेयत्वान्न सर्वजनीनं तज्ज्ञान-मिति विशेषसम्बोधनम्—**धीमन्निति**। अवताराणां कथाः—कथमवतारः? कस्याऽवतारः? कुत्राऽवतारः? किमर्थमवतारः? इति। चतुर्धा कथा वक्तृश्रोतृप्रवर्तकानां शुभफलप्रदाः। वस्तुतोऽपि शुभाः। लोके पुत्रजन्मकथावत्। तत्रापि येष्ववतारेषु स्वेच्छया लीला विहारास्ते वक्तव्या इत्याऽऽह— **लीला विदधत इति। स्वैरमिति**। मर्यादातिक्रमेणाऽपि। तत्र हेतुः- **ईश्वरस्येति**। सर्वभवनसामर्थ्यं **माया,** अन्यथाकरणनिर्वाहे दोषाभावे च हेतुत्वेन निर्दिष्टा। **आत्मेति** नाऽन्यैर्ज्ञातुमुल्लङ्घितुं वा शक्या ॥१८॥

**सुबोधिनी अर्थः**– उन उन अवतारों के उपाख्यानों में, यद्यपि कतिपय अवतारों के चरित्र सुने गये हैं– तथापि, एक ही उपक्रम से, सभी अवतारों को उनकी विशेषता सहित जानना है– इसलिये शौनक ने उत्सुकता से पृथक् रूप से प्रश्न किया है। यहां 'अथ'–शब्द, पूर्वोक्त बातों से भिन्न बात कहने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । दूसरों के दुःख दूर करने के लिये भगवान् हरिः– अवतार लेते हैं, और उनके अवतार का यही सामान्य प्रयोजन यहां कहा है ।

अवतार-स्वरूप दुर्ज्ञेय है उसका ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं हो सकता- इसीलिये सूत को यहां विशेष रूप से 'धीमन्' पद से सम्बोधित किया है। अवतार-कथा के विषय में चार रूप से प्रश्न हो सकते– १. अवतार कैसे हुआ ? २. किसका हुआ ? ३. कहां हुआ ? और, ४. किसलिये हुआ ? इस तरह अवतार सम्बन्धी चार प्रकार की कथायें, वक्ता, श्रोता तथा उनके प्रवर्तक को शुभ फल देने वाली होती हैं। वास्तव में भी कथा शुभ है– जैसे लोक में पुत्र-जन्म की बात शुभ होती है ।

'इन अवतारों में भी, भगवान् ने जिन अवतारों में अपनी इच्छा से लीला-विहार की है उन्हें कहें' – इसी का निर्देश यहां 'लीला विदधतः' से किया गया है। 'स्वैरं'- इसका भाव यह है कि जो स्वच्छंदता से– अर्थात् भगवान् ने मर्यादा का अतिक्रमण करके जो लीला की हैं'- उन्हें कहें। मर्यादा के अतिक्रमण पूर्वक लीला करने का कारण यह है कि वह 'ईश्वर' है– 'ईश्वरस्य'। सर्वभवनसामर्थ्य को माया कहते हैं। यह अन्यथा करके भी काम चला सकती है– तथा दोष न हो इसमें कारण मानी गयी है ।

आत्ममायया– आत्मा से यह तात्पर्य है कि वह भगवान् की अपनी माया है– इसलिये यह दूसरों से नहीं जानीं जासकती और उसका उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता ।।१८।।

**आभास**—नन्वेवं विशेषेण सर्वार्थपरिज्ञानवतां किं पुनः श्रवणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासाअर्थ**—इस प्रकार विशेषरूप से सभी विषयों का परिज्ञान रखने वालों को फिर श्रवण से क्या लाभ ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि—

**श्लोक–वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।**
**यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।१६।।**

**श्लोक अनुवाद**—भगवान के चरित्र को सुनते हुये हम तो तृप्त नहीं होते– क्योंकि, सुनने वाले रसज्ञों को इसके पद पद में अधिकाधिक रसास्वाद प्राप्त होता है ।

**वयं त्विति** । ये पुनर्भगवत्कथास्वरूपानभिज्ञास्ते कियत्कालं श्रुत्वा निवर्तन्ते । न ह्यत्र रसज्ञो निवर्तते । तस्माद्ये निवर्तन्ते, तृप्ताः सन्तस्ते निवर्तन्ताम् । वयं तु पुनर्न वितृप्याम एव, कुतो निवृत्ता भविष्यामः । निवृत्तिस्त्रेधा सम्भवति । इतोऽप्युत्कृष्टे रसान्तरे सम्भवति, अस्याऽप्यभावे वा, रसाऽज्ञानाद्वा । तत्राऽऽद्यं निराकरोति—**उत्तमश्लोकविक्रम इति** । उत्तमैर्मुक्तैर्ब्रह्मानन्दानुभवयुक्तैरपि श्लोक्यते भगवान् । तद्यथा तथा "इत्थंभूतगुणो हरि" रित्यत्र वक्ष्यते । तस्मान्न भगवत्कथा-रसादधिको रसः कश्चिदस्ति । ब्रह्मानन्दरसोऽपि न्यून इति । अनेनैव दुर्लभताऽपि निवारिता । तस्य च विशेषेण क्रमः पादविक्षेपो यत्र स पराक्रमो विशेषेण क्रियाशक्त्याविर्भावः । स च पूर्णः सर्वत्र । तस्मान्न दुर्लभता । तृतीयं निराकरोति—**यच्छृण्वतामिति** । रसज्ञानं च श्रवणादेव भवति । यथा हि लोके सूपकारविद्यासु नेच्छानिवृत्तिः । किन्तु मूर्तत्वादुदरपूरणेन निवृत्तिस्तथा श्रवणेऽपि । विशेषोऽप्युक्तः । श्रवणेन गृहीतस्याऽमूर्तत्वात् । किञ्च रसाभिज्ञाः सर्वथाततो न निर्वन्ते । रसस्याऽनिवर्तकत्वात् । अस्य च रसस्य परात्परत्वात् । किञ्च । **स्वादु स्वादु पदे पद इति** । यथाऽधिकारमत्र हि रसाविर्भावः । यथा यथा ह्यज्ञानं निवर्तते, तथा तथा भगवद्रसास्वादो भवति । यथा ज्वरविमोकेऽन्नस्य । प्रथमप्रयोगे ह्यविद्यायाः पूर्णत्वादल्परसास्वादः । ततः प्रथम-श्रवणे काचिदविद्या निवृत्ता चेत्तदा द्वितीयेऽधिको रसः । एवमुत्तरत्राऽपि । परमो रसः सर्वथा मुक्तानाम् । किञ्च । प्रथमं वाक्यसमुदाये भगवान्प्रतीतः पुनः प्रत्येकं वाक्येषु । ततः पदेऽपि । पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदं, प्रकृतिः प्रत्ययश्च । तेन अक्षरार्थत्वेन ज्ञातो भगवानतिरसप्रद इत्यर्थः ॥१९॥

**सुबोधिनी अर्थः**–भगवत्कथा के स्वरूप को जो नहीं जानते, वे कुछ समय तक कथा सुनकर फिर नहीं सुनते किन्तु जो रसज्ञ हैं वे कथा सुनने से निवृत्त ही नहीं होते– अतः जो तृप्त होकर निवृत्त हो गये हैं, उन्हें भले ही निवृत्त होने दीजिये– हम तो तृप्त होते ही नहीं– अतः हमारे लिये विवृत्त होने का अवसर ही कहां ?

भगवत्कथा से निवृत्ति तीन प्रकार से ही सम्भव है– १. यदि किसी में इससे भी अधिक उत्कृष्ट रस हो, २. अथवा ऐसी कथा सुनने को ही न मिले, ३. रस का ज्ञान ही न हो ।

इनमें से प्रथम दो संभावनाओं का निराकरण करते हैं– उत्तम श्लोक भगवत्-चरित्र के श्रवण से हम कभी निवृत्त नहीं होते– क्योंकि ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले मुक्त भीव भी भगवत्-चरित्र का गान करते हैं– इस प्रसंग का निरूपण सविस्तर 'इत्थंभूलगुणो हरिः'– इत्यादि से हम अग्रिम स्थल में करेंगे । इसलिये भगवत्-कथा-रस से अधिक दूसरा कोई रस अन्यत्र नहीं है– ब्रह्मानन्द का रस भी इससे न्यून है । 'विक्रमः' इस पद से इस कथा की दुर्लभता

का भी निवारण हो जाता है। भगवान् का–विक्रम– अर्थात् पाद-विक्षेप जिसमें होता है उसको भगवत्-पराक्रम कहते हैं– इस पराक्रम (विक्रम) में विशेषरूप से, भगवान् की क्रिया-शक्ति आविर्भूत रहती है– इस प्रकार का भगवत्-पराक्रम सर्वत्र पूर्ण है– (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने पद-विक्षेप से भगवान् ने पूर्ण कर दिया था– ऐसी क्रिया-शक्ति उस समय प्रकट की गयी थी)। इस प्रकार के पराक्रम वाली भगवत्-कथा का रस सर्वत्र पूर्ण होने से दुर्लभ नहीं कहा जा सकता यह रस सर्वत्र सुलभ है। वह सुनते को न मिले, ऐसी बात नहीं है। अब, रस की अनभिज्ञता से होने वाली निवृत्ति का निराकरण करते हैं। रस का ज्ञान सुनने से ही होता है– यच्छृण्वताम्– जिस तरह लोक में रसोई–निर्माण करने के ज्ञानोपार्जन में इच्छा की निवृत्ति नहीं होती– भोजन बनाने की विद्या से, भोजनेच्छा की निवृत्ति नहीं होती– क्योंकि भोजन मूर्त पदार्थ है– उससे तो जब पेट भर जायगा तभी निवृत्ति होगी। इसी तरह श्रवणेच्छा की निवृत्ति तो श्रवण से ही होती है। भोज्य पक्ष तथा कथा रस में यह भेद है कि भोज्य–पदार्थ मूर्त है– कथा-रस अमूर्त। इस कथा में एक विशेषता यह भी है कि रस के जानने वाले इससे कभी निवृत्त नहीं होते– रस का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निवृत्त नहीं होने देता। फिर यह रस तो परात्पर है। एक बात यह भी है कि उस रस का आविर्भाव अधिकारी में उसके अधिकारानुसार होता है। जैसे जैसे अज्ञान निवृत्त होता जाता है वैसे वैसे भगवद्-रस का आस्वाद होने लगता है– जैसे जैसे ज्वर उतरता जाता है वैसे वैसे अन्न-स्वादु लगने लगता है।

प्रथम ही प्रथम जब भगवत्कथा रस प्राप्त होता है, तब, अविद्या से व्याप्त होने के कारण जीव को रसास्वाद अल्प प्रमाण में होता है– तदनन्तर, इस तरह प्रथम श्रवण से – अमुक अंश में अविद्या की निवृत्ति होने पर– द्वितीय बार सुनने से पूर्वापेक्षया अधिक रसास्वाद होता है– इस तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक रसास्वाद होता है। जो जीव सर्वतः मुक्त है उसको रस का सर्वोत्तम अनुभव आस्वाद होता है।

भगवत्कथा श्रवण करने वाले को पहिले वाक्य समुदाय में भगवान् की प्रतीति होती है, फिर, प्रत्येक वाक्य में, तदनन्तर, प्रत्येक पद में भी भगवत्प्रतीति होने लगती है। 'पद' शब्द का अर्थ है– 'पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति– पदम् प्रकृति प्रत्ययश्च' – जिससे अर्थ जाना जाय, उसे पद कहते हैं। इसलिये प्रकृति तथा प्रत्यय से भी अर्थ-ज्ञान होता है। अर्थात् प्रकृति तथा प्रत्यय एक अक्षर रूप भी होते हैं– इसलिये, प्रकृति तथा प्रत्यय सहित प्रत्येक अक्षर भगवान् का ही वर्णन करते हैं। प्रत्येक अक्षर की अर्थरूपता ही भगवद्रूपता है– अर्थात् प्रत्येक अक्षर की अर्थरूपता द्वारा भगवान् का ही ज्ञान जब होने लगेगा, तब भगवान 'अतिरस प्रद' हो जायेंगे ॥१९॥

**आभासः**- किञ्च । विशेषाऽऽकारेण कृष्णावतारकथा श्रोतव्येत्यभिप्रायेणाऽऽह—

**आभासार्थः**—हमें विशेषरूप से कृष्णावतार की कथा सुनना है- इस अभिप्राय से कहते हैं कि-

**श्लोक- कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः ।**

**अतिमर्त्यानि भगवान्गूढः कपटमानुषः ॥ २० ॥**

**श्लोक अनुवादः**—गूढ़ कपट से मनुष्य-रूप धारण करने वाले, भगवान् श्रीकृष्ण-केशव- ने बलराम सहित जो यथार्थतः अलौकिक पराक्रम किये हैं- जिनको मनुष्य नहीं कर सकता- उनका आप हमें श्रवण कराइये ॥२०॥

**सुबोधिनीः—कृतवानिति । किलेति** प्रसिद्धे । आश्चर्येणाऽत्र प्रसिद्धिरुक्ता । अवस्थासाधन विरहेऽपि वीर्यकरणात् । अतः कृष्णावतारवीर्याणि किल अलौकिकानि । किञ्च । एकत्रैकदा आवेशेनाऽवतारेण च वीर्याणि न क्रियन्ते । अत्र तु रामेण सहेत्युभयरूपेण करणमुक्तम् । किञ्च । सर्वेष्ववतारेषु ब्रह्मेशयोर्न सुखदानम् । तयोरपि गुणाधिष्ठातृत्वेन स्पर्धादिसम्भवात् । तयोरर्थे हिताकरणात्तद्भक्तवधाच्च । तदत्र किमपि नास्तीत्याह—**केशव इति** । कश्च ईशश्च केशौ । केशयोर्वममृतं यस्मादिति । तयोरप्यानन्ददायी । वीर्याणामुत्कर्षमाह—**अतिमर्त्यानीति** । अतिक्रान्तं मर्त्यमेभ्य इति । वीर्यश्रवणे हि पुनर्न मर्त्यशरीरसम्बन्ध इत्यर्थः । अथवा । मर्त्यमतिक्रान्तानि । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वात् । तत्र हेतुः—**भगवानिति** । न भगवदवतार इत्यर्थः । तर्हि कथं शरीरप्रतीतिस्तत्राऽऽह—**गूढः कपटमानुष इति** । अयं लोके हि गुप्तः स्वसच्चिदानन्दरूपतां न प्रकाशयति । तत्र हेतुभूतं विशेषणम्—**कपटमानुष इति** । कपटेन लोकानां बुद्धिमोहनप्रकारेण मानुषः । तदेव रूपं मानुषरूपवत्प्रतिभासयतीत्यर्थः । तस्मात्वया वक्तव्यमिति सिद्धम् । २०॥

**सुबोधिनी अर्थः**—भगवान् के पराक्रम प्रसिद्ध हैं- इसलिये 'किल' शब्द का प्रयोग किया गया है । अवस्था तथा साधनादि के अभाव में भी, पूतना-हनन आदि पराक्रम करने के कारण, उनकी यहां आश्चर्य-पूर्वक प्रसिद्धि का कथन किया गया है । इसलिये, कृष्णावतार के पराक्रम वस्तुतः अलौकिक हैं । विशेष बात यह है कि एक ही स्थान में एक ही समय में, आवेश तथा अवतार रूप में- एक साथ ही- भगवान् अपने पराक्रम नहीं दिखाते हैं- यहां तो 'रामेण सह'- आवेश तथा अवतार दोनों स्वरूपों में पराक्रम करना कहा है । और, भगवान् ने अपने सभी अवतारों में ब्रह्मा तथा शिव को सुख नहीं दिया है- क्योंकि, ये दोनों ही गुणों के अधिष्ठाता हैं,

इसलिये, उनमें स्पर्धा आदि दोष होना सम्भव है। अन्य अवतारों ने उनके भक्त रावण, हिरण्यकशिपु आदि को मारा है तथा उनका हित नहीं किया है।

इस कृष्णावतार में वैसा नहीं है– इसका निर्देश करने के लिये यहां 'केशव' पद का प्रयोग किया है– अर्थात् जिससे ब्रह्मा तथा शिव को नित्य सुख मिलता हो, उसे केशव कहते हैं– अर्थात् इन दोनों को आनन्द देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं। अब, भगवान् के पराक्रम की उत्कर्षता कहते हैं– अतिमर्त्यानि– भगवान् के इन पराक्रमों को सुनने से मर्त्य शरीर से पुनः सम्बन्ध नहीं होता है। अथवा, भगवान् के ये पराक्रम मर्त्य का अतिक्रमण करने वाले हैं– क्योंकि, भगवान् आनन्द मात्र कर, पाद, मुख और उदर वाले हैं– और इसीलिये साक्षात् भगवान् हैं, भगवद्-अवतार नहीं हैं। यदि ऐसा है– अर्थात् यदि भगवान हैं तो फिर, उनमें यह शरीर की प्रतीति क्यों होती है ? इसका उत्तर यह है कि–गूढः- वे लोक में गुप्त हैं अर्थात् अपने सच्चिदानन्द रूप को प्रकाशित नहीं करते–इसमें कारण यह है कि–'कपट मानुषः'–कपट से अर्थात् लोगों की बुद्धि को मोहित करने के लिये–मनुष्य-शरीर को ग्रहण किया–और अपने स्वरूप की, मनुष्य रूप के समान प्रतीति कराते हैं। इसलिये, यह सिद्ध होता है कि आप, ऐसे भगवान् के पराक्रमों को कहें।

श्रवणे स्वाऽधिकारमाहुर्द्वाभ्याम्—

इस प्रकार की भगवद्-लीलाओं को श्रवण करने का हमें अधिकार है– यह दो श्लोकों से कहते हैं–

**कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन्वैष्णवे वयम् ।**

**आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ।।२१।।**

**अनुवाद :** कलियुग को आया हुआ जानकर हम इस वैष्णव क्षेत्र में दीर्घ सत्रानुष्ठान पूर्वक यहां बैठे हुये हैं, इसलिये हरि भगवान् की कथा श्रवण करने के लिये हमें अवकाश है।

**सुबोधिनी— कलिमागतमिति।** कलौ तु सर्वधर्माणां निवृत्तिरिति सूतके सावकाश इव कलौ सावकाशाः। धर्माधिकारे हि सति धर्मत्यागभयाद्वैयग्र्यं कर्मकरणं वा सम्भवति। मर्यादातिक्रमे पुनः पापबाहुल्याद्भगवत्कथारुचिरेव निवृत्ता भवति। तस्मात्सर्वदोषनिवर्तकः कलिरिति, तस्मिन्नागते कथायां **सक्षणाः। वैष्णव इति।** यत्र क्वचित्कथाश्रवणे दैत्यैर्बुद्धिनाशः सम्भवति। तदा सर्वं नश्येत्। तन्निवृत्त्यर्थं क्षेत्रेऽस्मिन्नित्युक्तम्। किञ्च। सत्रवेदिरप्येषा। ततोऽपि न

दैत्यसम्बन्ध इत्यस्मिन्निति देशनिर्देशः । कलिकालादेः स्मार्तत्वात्कथं वैदिकविचारेणाऽनधिकार इत्याङ्क्याऽऽह— **आसीना दीर्घसत्रेणेति** । तथाच दीक्षितानामन्यकर्मनिवृत्तिः श्रौती । तत्समाप्तौ पुनः कर्मसम्बन्धाद्दीर्घसत्राऽऽरम्भः । तस्मात्सर्वथा सावकाशा इत्याह—**कथायां सक्षणा इति** । यदि कथा समारभ्यते तदा सहस्रसंवत्सरमितः कालः क्षणायत इति क्षणपदप्रयोगः । न सर्वत्र सक्षणाः किन्तु हरेः कथायामेव ।।२१।।

**सुबोधिनीअर्थः**— कलि में सभी धर्मों की निवृत्ति हो जाती है । अतः दूसरा कोई कार्य न होने से, तक में जिस तरह अवकाश रहता है, उसी तरह कलि में भी अन्य धर्मों के अभाव में नित्य अवकाश ही रहता है । जहां तक धर्म करने का अधिकार होता है– वहां तक धर्म-त्याग हो जाने के भय से व्यग्रता रहती है और वेदोक्त कर्म करना संभव है । यदि धर्म मर्यादा का अतिक्रमण होता है तो पाप अधिक होने से, भगवत्कथा में रुचि ही निवृत्त हो जाती है । इसलिये यह कलि, विहित कर्मादि रूप जो प्रतिबन्धक है, उन सबका निवर्तक है, कलि में धर्माधिकार नहीं है, इसलिये विहित कर्म नही किये जा सकते । इसलिये इस कलि के आगमन से हम भगवत्कथा में सावकाश हैं ।

अब, अन्य किसी स्थान में, या जहां कहीं यदि यह कथा सुनी जाती तो दैत्यों द्वारा बुद्धि-नाश की संभावना भी रहती और तब, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' – के अनुसार बुद्धिनाश होने पर सभी नष्ट हो जाता है । यहां ऐसा नहीं है– यह स्थान क्षेत्र विष्णु सम्बन्धी है । इसीलिये यहां 'क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे' पद का प्रयोग किया गया है । यह स्थान 'सत्रवेदि' भी है– अतः यहां दैत्य-सम्बन्ध भी नहीं है– इसी का निर्देश यहां 'अस्मिन्' पद से किया है । कलिकाल में तो स्मार्त धर्म करने का अधिकार है, तो फिर वैदिक कर्म में अधिकार नहीं है यह कहने की क्या आवश्यकता है ? तो कहते हैं कि हम दीर्घसत्र कर ही रहे हैं । वैदिक-प्रक्रिया यह है कि दीक्षितों को अन्य कर्म नहीं करना चाहिये– उसके समाप्त होने पर ही दूसरा कर्म करना चाहिये– इसलिये हमने दीर्घसत्र का प्रारम्भ किया है– तदनुसार, हम अन्य कर्मों से सर्वथा सावकाश हैं यदि भगवत्कथा प्रारम्भ की जाती है तो– यह हजार वर्ष वाला काल भी क्षण भर-सा ज्ञात होने लगेगा– इसी का संकेत 'कथायां सक्षणाः' से तथा 'सक्षणाः' इस क्षण-पद से किया गया है । हम यहां अन्य किसी कार्य के लिये सावकाश नहीं है किंतु, हरिकथा के लिये ही साव-काश हैं ।।२१।।

अत्र ह्येका सामग्री न्यूना । सा भगवता सम्पादितेत्याह—

यहां वक्ता के अभाव में जो न्यूनता थी– वह भी भगवान् ने पूर्ण करदी- यही कहते हैं-

**त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् ।**
**कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवाऽर्णवम् ।।२२।।**

**श्लोकाऽनुवाद** - विवेक, धैर्य एवं ज्ञान को नष्ट करने वाले इस दुस्तर कलि को संपूर्ण रूप से पार करने की इच्छा वाले हमको, निःशेष-समुद्र-संतीर्ण करने वाले को जिस तरह कर्णधार मिल जाता है, उसी तरह भगवान् ने आपकी प्राप्ति करा दी है ।।

**सुबोधिनीः— त्वं नः सन्दर्शित इति** । धात्रा सर्वकर्त्रा भगवता ब्रह्मणा वा कथारसाभिज्ञेन । त्वं च नः अस्मदीयः स्वाधीनश्च । कथाऽभावे दुस्तरः कलिः । दुःखेन तरस्तरणं यस्येति । ननु कथारहिता अपि कलिं तरिष्यन्ति ऋषयः । को भवत्सु विशेष ? इत्यत आहुः— **सत्त्वहरमिति** । विवेकधैर्यज्ञानहरम् । सत्त्वगुणे गते रजस्तमोभ्यां लयविक्षेपावेव । अतस्तेषां सर्वस्वनाशे न कलेस्तरणं भविष्यतीति भावः । अभीष्टकाले अभीष्टदेशसम्बन्धाभावः । कर्णधाररहिते समुद्रे । तथा कथावक्त्रभावे कलौ ।।२२।।

**सुबोधिनीः अर्थ**— कथारस को जाननेवाले सर्वकर्ता भगवान् ने अथवा ब्रह्मा ने हमारे और हमारे अधीन– ऐसे आपको प्राप्त कराया है । कथा के अभाव में यह कलि दुस्तर है । यदि यह कहो कि कथा रहित भी ऋषिगण तो कलि को तीर्ण करने में समर्थ हैं । इसके अभाव में फिर, आप लोगों की विशेषता ही क्या ? इसके उत्तर में कथन है यह कलियुग– 'सत्वहरम्'– विवेक, धैर्य और ज्ञान को हर लेने वाला है । सत्व के नष्ट हो जाने पर, शेष बचे हुये रजोगुण और तमोगुण से लय और विक्षेप ही होते हैं । इसलिये ऋषियों का जो सर्वस्व विवेकादि हैं उसका नाश होने पर कलियुग को पार करना दुष्कर है– उसे कोई पार नहीं कर सकेगा । इच्छित समय में, इच्छित देश का सम्बन्ध नहीं होता, जैसे कि समुद्र पार कराने में नाविक यदि न मिले– वैसे, कलियुग में भगवत्कथा कहने वाला नहीं हो, तब कलियुग कभी तीर्ण नहीं किया जा सकता ।२२।

किञ्च । धर्मेण सह पूर्वं वयं त्वत्र समागताः कथायां नियुक्ताः । धर्मस्य का वार्तेति षष्ठं प्रश्नमाहुः (?)—

एक बात यह कि पहिले हम धर्म करते हुये रहते थे– अब, यहां आकर हम कथा में लग गये– हमें यह समझाइये कि संप्रति धर्म की क्या स्थिति है ? इस तरह यह छठा प्रश्न करते हैं–

**श्लोक– ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि ।**
**स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ।।२३।।**

**श्लोकाऽनुवाद**—योगेश्वर, ब्राह्मणों के रक्षक और धर्म के कवच रूप भगवान् श्रीकृष्ण वैकुंठ पधार गये तब, संप्रति धर्म किसकी शरण में गया ?

**सुबोधिनी—ब्रूहि योगेश्वर इति** । एतच्च ब्रूहि धर्मस्य हि ग्लानौ तद्रक्षार्थं स भगवानवतरति । "**यदा यदा हि धर्मस्ये**"ति वाक्यात् । योगोऽपि धर्मरक्षकः । "**अयं हि परमो धर्म**" इति वाक्यात् । तस्याऽपीश्वरे कृष्णे । ब्राह्मणा अपि धर्मं प्रतिपालयन्ति । तद्योगावतारब्रह्मण्यरूपे भगवति कृष्णे स्वां काष्ठां वैकुण्ठं गते, धर्मस्य सम्भावितशरणाऽभावाद्भगवद्विषयकबुद्धेर्धर्मकार्यरूपाया विद्यमानत्वाद्धर्मोऽस्तीति प्रतीतेर्धर्मः कं शरणं गत इति प्रश्नः ।।२३।।

**सुबोधिनी अर्थः–** जब जब धर्म का ह्रास होता है तब तब धर्म की रक्षा करने भगवान् अवतार लेते हैं– भगवद्गीता में भी यही कहा गया है– 'यदायदा हि धर्मस्य' । तदुपरांत 'योग द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना ही उत्तमोत्तम लाभ है'– इस वाक्य से योग भी धर्म का रक्षक कहा गया है– 'अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' । इस योग के ईश्वर भी श्रीकृष्ण हैं । ब्राह्मण भी धर्म के रक्षक हैं– ब्रह्मण्य-रूप भी श्रीकृष्ण ही हैं । इसलिये योग के अवतार तथा ब्रह्मण्य-रूप श्रीकृष्ण के वैकुंठ-गमन करने पर धर्म के संभावित-शरण जो भगवान् हैं–उनके अभाव में, धर्म का कोई संभावित स्थान ही नहीं रहा– इसी तरह, धर्म के विना भगवद्-विषयकबुद्धि होती ही नहीं, किंतु हमारे में भगवद्-विषयक यह बुद्धि है । इससे ज्ञात होता है कि धर्म है– ऐसी प्रतीति अवश्य होती है, तो फिर वह धर्म किसकी शरण में गया ? ऐसा प्रश्न होता है ।।२३।।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां**
**प्रथमस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ।।१।।**

इस प्रकार श्रीमद्लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्रीवल्लभ दीक्षित विरचित श्रीमद्भागवत सुबोधिनी प्रथमस्कंध का प्रथम अध्याय संपूर्ण हुवा ।

---

।। श्रीहरिः ।।

# श्रीमद्-भागवत-संहिता

## प्रथम–स्कन्ध

*श्रीमद्-वल्लभाचार्य-चरण विरचित श्रीसुबोधिनी व्याख्या*

## द्वितीय अध्याय

### *भागवत कथा एवं भगवद्-भक्ति के माहात्म्य का अनुवादात्मक विवेचन*

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में, दो कारिकाओं द्वारा संगति का तथा अध्याय का निरूपण किया गया है—

**कारिका– कथाश्रवणभावेन मनोरथमहार्णवे ।**
**निमग्नान्सूतदानेन ह्युज्जहार ऋषीन्हरिः ।।१।।**
**फलसाधनरूपाणां निर्णयः कर्मणामपि ।**
**त्रयाणां वक्ष्यतेऽध्याये द्वितीयेऽन्यत्र शेषिणाम् ।।२।।**

**कारिकाऽर्थ**—भगवत्कथा-श्रवण में प्रेम भाव के कारण कथा श्रवण रूप अपने मनोरथ के महासमुन्द्र में डूबे हुये शौनकादि ऋषियों को सूत पौराणिक का वक्ता के रूप में उनको दान देकर भगवान् श्रीहरि ने उद्धार किया– इसका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय में, फल और साधन के प्रकारों का तथा कर्म का भी– इन तीनों का निर्णय किया जायगा। तत्पश्चात् बाकी बचे हुये रामादि अवतारों का उनके प्रयोजन का तथा अवतारी श्रीकृष्ण का निरूपण तीसरे अध्याय में किया जायेगा।

प्रथममुत्तराणि वक्तुं देवतागुरुनमस्कारं मङ्गलमभिनन्दनञ्च सूतः करोतीति व्यास आह—

शौनकादि द्वारा इससे पूर्व में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के पहिले सूत, यहां देवता और गुरु का नमस्कारात्मक मङ्गला-चरण करते हैं- और यही बात श्री व्यास निम्न श्लोक से कहते है-

**व्यास उवाच—**

**श्लोक– इति सम्प्रश्नसम्पृष्टः स विप्रै रौमहर्षणिः ।**
**प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥१॥**

**श्लोकाऽर्थः**—इस प्रकार शौनकादि ब्राह्मणों द्वारा ब्रह्मविषयक प्रश्नों के पूछे जाने पर सूतने, उनके वचनों की प्रशंसा करके कहना प्रारम्भ किया ।

**सुबोधिनी—इति सम्प्रश्नेति** । एवं पुरुषार्थपर्यवसायिभिः सम्प्रश्नैः सम्यग्ब्रह्मविषयकैः प्रश्नैः सम्यगादरपूर्वकं पृष्टः । **विप्रैरिति** । प्रा पूरणे । विशेषेण वक्तारमात्मानं वा भक्त्या पूरयन्तीति विप्राः । अवश्यं तेषां वचने उत्तरं देयमिति **रौमहर्षणिः** । रोमहर्षणस्याऽपत्यं रौमहर्षणि रोमसु सर्वदा हर्षणं यस्य तस्य सर्वदा भक्त्युद्रेकः । तथैवाऽयमिति ज्ञापयति । **प्रतिपूजनमभिनन्दनम्** । सामान्यतस्तद्ग्रन्थाद्बहिरिति ज्ञातव्यम् । क्रमानुरोधात् । अग्रे त्वभिनन्दनं सामान्योत्तरत्वेन ज्ञातव्यम् । **प्रवक्तुमिति** । स्वबुद्ध्या निर्द्धारितार्थं भागवतं च वक्तुमुपचक्रमे ॥१॥

**सुबोधिनी अर्थ**—इस तरह विप्रों ने, सूत से, पुरूषार्थ से सम्बन्धित ब्रह्म विषयक प्रश्नों को पूछा । विप्रैः में प्रा धातु का भी अर्थ है पूर्ण करना- वि उपसर्ग है अर्थात् विशेष करके जो वक्ता को तथा स्वयं को भी भक्ति से परिपूर्ण करता हो उसे विप्र कहते हैं । तदनुसार विप्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना ही चाहिये । रौमहर्षणिः—भक्ति के निरंतर उद्रेक से जिसके रोम रोम मे हर्ष व्याप्त रहता हो । उसको 'रोमहर्ष' कहते हैं- रोम हर्ष के पुत्र सूत पौराणिक उग्रश्रवाभी निरंतर भक्तिउद्रेक वाले है- यही निर्देश करने के लिये इनको यहां रोमहर्ष के पुत्र रौम हर्षणि- ऐसा कहा गया है ऐसे रौमहर्षणि ने शौनकादिकों के वचनों का अभिनंदन किया- अर्थात् उनके वचनों की सामान्यतया प्रशंसा की, और यह प्रशंसा, प्रस्तुत क्रम के अनुरोध से ग्रंथ के बाहर ही कि गयी है, क्योंकि अग्रिम प्रसंग में जो प्रशंसा करेंगे, वह सामान्य रूप से उत्तर देने के उपरांत ही करेंगे- ऐसा समझना चाहिये । प्रवक्तुं- अर्थात् अपनी बुद्धि से निर्धारित किये गये अर्थ को तथा भागवत को कहना प्रारम्भ किया ॥१॥

**आभास :** देवतागुरुनमस्कारं च कृतवान् । तत्राऽऽदौ गुरुनमस्कारमाह द्वाभ्यां वैराग्यज्ञा-

नाभ्याम् । तत्र प्रथमं वैराग्यमाह—

आभासार्थ : भागवत-कथानारम्भ से पहिले–देवता तथा गुरु को नमस्कार किया गया है- तदनुसार प्रथम गुरु को, उनके ज्ञान और वैराग्य के निरूपक दो श्लाकों द्वारा-नमस्कार करते हैं- यहां प्रथम उनके वैराग्य का कथन किया जाता है

**श्लोक- यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।**
**पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।।२।।**

**श्लोकार्थ** : उपनयन संस्कार को प्राप्त किये विना ही जिसके कर्म-मात्र निवृत्त हो गये हैं और इसीलिये दुःसंग के भय से वेग पूर्वक दूर दूर चले जाते हुये श्री शुक को विरह से कातर उनके पिता श्री व्यास ने हे पुत्र ! इस तरह पुकारते हुये जब बुलाया तब स्वयं ब्रह्मरूप होने के कारण ब्रह्म मे अपनी तन्मयता के कारण-श्रीशुक ने उनको उत्तर नहीं दिया । किन्तु श्री शुक की ओर से शुक में अपनी तन्मयता के कारण वृक्षों ने ही श्री व्यास को उत्तर दिया !!! ऐसे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय को प्रेरणा देने वाले ब्रह्म-चिंतन परायण श्री व्यास पुत्र श्री शुकदेव मुनि को मैं सर्वप्त: प्रणाम करता हूं ।।२।।

**सुबोधिनी–यं प्रव्रजन्तमिति** । अत्र हि यथा यथा विरक्तस्तथा तथाऽधिकारी । तत्र शुकस्य पूर्वजन्मन्येव ज्ञानसहितत्वाद्योग्यदेहार्थं विष्णोर्व्यासस्य सकाशाद्देहं प्राप्य उभयसम्पत्तौ सङ्गेन ज्ञाननाशभयात्पूर्वसंस्कारस्य दृढत्वादिदानीमनुपनीत एव प्रव्रजति । व्यासस्याऽधिकारित्वाद्देहादिधर्माः प्रवर्तन्ते । इदं प्रव्रजनं नाऽऽश्रमः । किन्तु सङ्गभयाद्गमनमात्रम् । तदनुचितमिव मत्वा निवर्तनाय व्यासस्य गमनम् । भगवद्धर्मेषु हृदयं प्रविष्टेषु हि भयं निवर्त्तते । बलिष्ठस्य हि भयाभावः । बलं भगवत एवेति कोपादिना गमनं वारयति-**प्रेति** । निवारणे हेतुः-**अनुपेतमिति** । गमने हेतुः—**अपेतकृत्यमिति** । कार्ये विद्यमाने ह्युपनयनम् । विष्णोः सकाशाज्जातस्य देहस्य पुनः संस्कारो नाऽपेक्ष्यते । मोहे हेतुः— **द्वैपायन इति** द्विर्गता आपो यत्र तद्वीपमयनं जन्मस्थानं यस्य । यमुनान्तर्जले तथोत्पन्नत्वात् । पराशरध्यातभगवदवतारात्सर्वं सुस्थम् । नारदोपदेशात्पूर्वं विस्मृतात्मत्वाद्विरहकातरः । विरहेण-कातरो दीनः पुत्रेत्याह्वानं कृतवान् । प्रेम्णा सन्नकण्ठत्वात्प्लुताऽभावः ततः सन्धिः । **"स सर्वमभवदि"** ति ब्रह्मज्ञाने फलस्योक्तत्वात्सर्वभावः स्फुरति । योगेन प्रवेशोऽपि सम्भवति । कर्तुः प्राधान्येऽपि यच्छब्देन कर्मसम्बन्धात्तच्छब्देन कर्मैवोच्यते इति । तन्मयतया शुकमयतया । विष्णोः सकाशादुत्पन्नास्तरवः शुकोऽपि । **"वैष्णवा वै वनस्पतय"** इति श्रुतेरेकोपादानकत्वात्तन्मयत्वम् । अभिनन्दनं प्रतिध्वनिरूपम् । अथवा । **"वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमद्यज्ञायाऽऽतिष्टमाना । सा वनस्पतीन्याविशत्सैषा वाग्वनस्पतिषु वदती"** ति श्रुतेर्वृक्षेभ्य एव शब्दोत्पत्तिः । तेषां कथने हेतुं वदन्

शुकस्य ब्रह्मभावमाह—**सर्वभूतहृदयमिति** । सर्वभूतानां हृत् अतते प्रेरयति, प्रेरणार्थं गच्छतीति वा । सर्वभूतेषु हृदयं यस्येति प्रेरणसामर्थ्यं वा । गतस्य तूष्णीम्भावं निवारयति—**मुनिमिति** । ब्रह्मात्मभावं विचारयन्तम् । आ सर्वतो नतोऽस्मि । सर्वत्र तस्य विद्यमानत्वात् ।।२।।

**सुबोधिनी अनुवादः**—जिसमें जितना जितना विराग उसको भागवत में उतना उतना ही अधिकार वहां श्री शुक तो पूर्व जन्म से हि ज्ञानी थे । अतः उन्होंने योग्य देह के लिये विष्णु रूप व्यास से देह प्राप्त की । और इस तरह, ज्ञान तथा योग्य देह से- दोनों से- सम्पन्न होकर उन्हें यह विचार हुआ कि कहीं संग से ज्ञान नष्ट हो जाय-इस भय से, और क्योंकि उनमे पूर्व जन्म के संस्कार भी दृढ़ थे, इसिलिये वह यज्ञोपवीत- संस्कार प्राप्त किये विना हि सबकुछ छोड़कर चले जा रहे हैं । और क्योंकि व्यास ज्ञान देने के अधिकारी हैं इसलिये वह देहादिधर्मों से युक्त हैं- उन्हें देहादि का अध्यास है अतः उन्होंने सोचा कि शुक का इस तरह चले जाना सन्यासाश्रम के अनुरूप नहीं है- किन्तु, संग भय से गमन मात्र है तो वह भी अनुचित सा है- और यही मानकर व्यासजी शुक को पीछे लिवालाने के लिये उनके पीछे-पीछे जाने लगे- (अर्थात् संग भय से शुक जो चले जा रहे हैं वह उचित तहीं क्योंकि)- हृदय में भगवद् धर्मों के प्रविष्ट होते ही भय निवृत्त हो जाता है । बलिष्ठ को भय नहीं होता । और बल भगवान् का ही है । श्री शुक के हृदय में, भगवद् धर्मो के प्रवेश होने से, संगादि भय को स्थान ही कहां ? यदि यह कहो कि शुक क्रोधादि के वश होकर चले जा रहे हैं- तो यह कथन भी सुसंगत नहीं । श्लोक के 'प्रव्रजन्तम्'- पद में जो 'प्र' उपसर्ग है, उससे यह सूचित किया गया है कि शुक का यह 'गमन' वैराग्य से है- क्रोधादि से नहीं (क्योंकि 'प्रव्रजन' वैराग्य होने पर ही किया जाता है- यदहरेवविरजेत् तदहरेव-प्रव्रजेत्-प्रव्रज्या को वैराग्य कहते हैं ।)

व्यासजी श्रीशुक को जो पीछे लिवालाना चाहते हैं, उसका कारण यह है कि वह अभी यज्ञोपवीत- संस्कार से संस्कृत ही नहीं हुये । श्री शुक के प्रव्रजन में कारण यह है कि वह सभी कार्यो से मुक्त है । कोई कर्तव्य शेष रहा हो तो उसके संपादन के लिये यज्ञोपवीत संस्कार की आवश्यकता होती है । जिसके देह की उत्पत्ति विष्णुरूप व्यास से हुयी है- ऐसे शुकको पुनः संस्कार की अपेक्षा नहीं है । और इसीलिये- वह यज्ञोपवीत संस्कार लिये विना ही चल दिये ।

व्यास को मोह होने का कारण है उनका 'द्वैपायन' होना । व्यास का जन्मस्थान द्वीप है-। जिसके दोनों ओर जल हो उसको द्वीप कहते है । यमुना के मध्य में अर्थात् द्वीप में जन्म होने के कारण व्यास द्वैपायन कहलाते हैं । यदि यह कहो कि व्यास यमुना के मध्य में कैसे उत्पन्न हुये ? तो कहते हैं कि पराशर ने जब भगवान् का ध्यान किया, तब हो भगवान् ही व्यास रूप से

अवतीर्ण हुये। अतः भगवत् अवतार होने के कारण उनकी उत्पत्ति यमुना जल के मध्य में हो सकती है। ऐसे व्यासजी को, नारद का उपदेश प्राप्त होने के पूर्व, अपने स्वरूप की विस्मृति थी– और इसीलिये वह विरह से दीन हो गये थे। अपनी इसी दीनावस्था मे, शुक को, "हे पुत्र! हे पुत्र!" इस तरह से पुकारने लगे। श्री व्यास का कंठ पुत्र स्नेह से रुद्ध हो गया था– इसीलिये 'हे पुत्र! इस संबोधन के अंतमे प्लुत का उच्चारण नहीं कर सके–यदि प्लुत का उच्चारण करते तो व्याकरण के नियमानुसार यहां "पुत्र" तथा "इति" में 'पुत्रेति' ऐसी संधि नहीं होती ( 'दूराद्धूतेच' इस सूत्रानुसार दूरसे बुलाने में 'हे पुत्र' इस तरह यहां प्लुत होता है-और 'प्लुत प्रगृह्यात्रचिनित्यम्' इस सूत्र से प्लुत के करण 'पुत्र इति' मे प्रकृतिभाव रहेगा– 'पुत्रेति' इस तरह संधि नहीं की जा सकती) तदनुसार यहां 'प्लुत' के अभाव में 'पुत्रेति' ऐसी संधि की गई है। श्रीधर स्वामी ने अपने 'भागवत व्याख्यान' मे इस'पुत्रेति'संधि को 'आर्षत्वात् शुद्धः' आर्ष प्रयोग के कारण शुद्ध कहा है किन्तु वह उचित नहीं है क्योंकि 'विरहकातर' इस पद के तात्पर्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

यदि यह शंका की जाय कि 'तरवोऽभिनेदुः' वृक्षों ने प्रतिध्वनि रूप से शुक की और से श्री व्यास को उत्तर दिया– वह सुसंगत नहीं क्योंकि वृक्षों से युक्त प्रदेश में 'प्रतिध्वनि' नहीं होती इसका समाधान यह है कि– 'स सर्वमभवत्'– 'वह सब कुछ हो गया'– इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मज्ञान होने पर उसके फल स्वरूप सर्वभाव की स्फूर्ति होने लगती है श्री शुक ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न थे अतः यदि वे वृक्ष रूप बन गये (वृक्ष भाव को प्राप्त हो गये) तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। तदुपरांत, योग से तो वृक्षो में भी प्रवेश संभव है– अतः वृक्षों से भी उत्तरदान रूप प्रतिध्वनि युक्ति युक्त है।

यहां संदेह होता है– कि ब्रह्मज्ञान तथा योग ये दोनों जैसे शुक में है वैसे ही व्यास में भी विद्यमान हैं तो फिर वृक्षों ने शुकमय होकर प्रत्युत्तर दिया या व्यासमय होकर। इसका स्पष्टीकरण यह है कि 'आजुहाव' में यद्यपि कर्त्ता की अर्थात् व्यास की प्रधानता है तथापि 'यत्' शब्द के कर्म प्रधान होने से 'तत्' शब्द से कर्म का ही अर्थात् शुक का ही ग्रहण किया जायगा तदनुसार तन्मयतया- (तत्–मयतया) का अर्थ है- 'शुकमयतया' अर्थात् वृक्षों के शुकमय होने के कारण। तदुपरांत, विष्णु से शुक तथा 'वृक्षों' की उत्पत्ति मानी गयी है । श्रुतिभी शुक और वृक्ष इन दोनों के एक ही उपादान कारण का विष्णु का समर्थन करती है 'वैष्णवा वै वनस्पतयः वनस्पतियां विष्णु से उत्पन्न हुयी। इस तरह शुक और वृक्षों का उपादान कारण एक ही होने से 'तन्मय' का अर्थ यहां शुकमय होगा। व्यासमय नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि शुक की और से वृक्षों द्वारा किया गया अभिनन्दन प्रतिध्वनि रूप था।

अथवा, 'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रमत्-यज्ञायाऽऽतिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति'- इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि वाणी-शब्द ने वनस्पतियों में प्रवेश किया- वही यह वाणी (शब्द) वनस्पतियों में मुखरित होती है- अर्थात् शब्द की उत्पत्ति वनस्पतियों से हुयी है । वृक्षों द्वारा की गई इस प्रकार की प्रतिध्वनि में, शुक का ब्रह्मभाव ही, कारण है । श्रीशुक, सर्व-प्राणियों के हृदय रूप 'प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है' । सर्व-प्राणियों के हृदय में उनको प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करते है- जाते हैं । हृदय=हृत्+अय- अर्थात् जो प्रेरणा देने के लिये प्रवेश करता है, हृदय में गमन करता है- (अर्थात्)- अथवा- भगवान् ही सर्व प्राणियों का हृदय रूप अर्थात् प्रेरणा-सामर्थ्य रूप है ।

यहां ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये कि श्रीशुक चुपचाप- मौन-धारण किये हुये- चले जारहे थे- श्रीशुक मुनि हैं, ब्रह्मात्म-भाव का मनन- विचार करते हुये चले जा रहे हैं- और इसीलिये श्रीव्यास को उत्तर नहीं दिया ऐसे श्रीशुक को, और क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान हैं- इसलिये- सभी ओर से सर्वतः, नमस्कार करता हूं- नतोऽस्मि ॥२॥

**आभास**—एवं प्रथमं ज्ञानवैराग्ये उक्ते । पश्चाद्भक्तया भगवज्ज्ञाने जाते विशेषमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार ब्रह्म भाव होने से ज्ञान का तथा स्थान को त्याग कर चले जाने से वैराग्य का इन दोनों का निरूपण किया गया । तदनन्तर, श्री शुक को भक्ति द्वारा जो भगवद्-ज्ञान हुआ तथा उससे उनमें गुरुत्व रूप जो विशेषता आई उसका कथन करते हैं ।

**श्लोक- यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।**
**संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥३॥**

**श्लोकार्थ :** मैं, उस व्यास-पुत्र श्री शुक की शरण में जाता हूं जो मुनियों के गुरु है, अपने चिन्तकों को असाधारण प्रभाव से संपन्न करते हैं, श्रुतियों के सार रूप हैं, घोर अंधकार को तीर्ण करने की इच्छा-वालों के लिये ज्ञान के प्रदीप हैं तथा जिसने पुराणों में निगूढ रूपसे निहित श्री भागवत् को- संसारी जीवों पर दया-पूर्वक प्रकट किया है ॥३॥

**सुबोधिनी : यः स्वानुभावमिति** । सङ्कभयं तु निवृत्तम् । चिरकालमननेन भगवदावेशे सति व्याससमीपाऽऽगमनं, भागवतपाठश्चार्थाल्लक्ष्यते । तदनु भागवतरसाभिनिविष्टः सर्वत्र मुनिभ्य उपदिशति । तदाह—**गुरुं मुनीनामिति** । भागवतस्य स्वरूपोत्कर्षाय चत्वारि विशेषणानि प्रमेयरूपतां प्रमाणरूपतामसाधारण्यं साधनोत्तमरूपतां प्रतिपादयन्ति क्रमेण । तत्र **स्वानुभावं**,

भागवतस्य भगवद्रूपत्वाद्यथा भगवतः स्वः असाधारणोऽनुभावः सर्वभक्तेषु तथा भागवतस्याऽपि तच्चिन्तकेषु । किञ्च । **अखिलश्रुतिसारम्** । कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि प्रतिपादितस्य भक्तिशेषत्वकथनात्सर्वश्रुतितात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च सर्वश्रुतिसारम् । अखिलपदेन च देवदैत्यादिषु प्रवृत्तायाः श्रुतेस्तत्तदभिप्रायेणाऽर्थकथने खिलत्वमापद्यते तन्निवार्यते । आकरस्थितानां सर्ववेदानामर्थरसभूतमित्यर्थः । **एकमित्यसाधारणम्** । अन्यथा एतस्याऽपि रसान्तरसम्भावना स्यात् । बहूनां तादृशानां निर्द्धारणात् । **अध्यात्मदीपमिति** । बहिः सन्ति दीपा बोधकाः पुरुषाश्च । आत्मनि पुनर्विरला वाचा बोधयन्त्येव । न हि तादृशो भागवतादन्योऽस्ति गुरूपदेशतपःसाधनविचारव्यतिरेकेण येन सर्वेषामात्मसाक्षात्कारो भवेत् । यथा गृहे दीपे स्थापिते घटादीनां न गुर्वाद्यपेक्षा, तथा भागवते सति न काऽप्यपेक्षेत्यर्थः । अन्धन्तमः अतितर्तुमिच्छतामध्यात्मदीपमिति योजना । आत्मानमधीत्यात्मसम्बन्धिसर्वपदार्थानाम् । न केवलं मुनिभ्य एवाऽऽह । संसारिणामपि करुणया । परीक्षित्सभादिष्वपीत्यर्थः । यथा मलाऽपाकरणे वस्त्रादौ मलनिवृत्तिः शुद्धिश्च भवति । शुभ्राणां तु कर्मयोग्यतैव । तथा संसारिणां मुनीनां च विशेष इति भावः । मायाशुकव्यावृत्यर्थं—**व्याससूनुमिति । उपयामि** शरणं गच्छामि । इदानीमेव समीपे गत्वा तद्वाक्यं श्रुत्वा कथयिष्यामीत्युपशब्दार्थः ॥३॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—श्री शुकका, भगवद्धर्मों के हृदय में प्रविष्ट होने से, संग-भय तो निवृत्त हो गया था । तदुपरांत, चिरकाल तक मनन करने से, भगवद्-आवेश होने पर, श्रीशुक, व्यासजी के पास आये, और, उस समय उनसे यथावत् भागवत् का अध्ययन किया– यह सहज समझा जा सकता है । तदनन्तर, भागवत– रस-में निमग्न श्रीशुक सर्वत्र मुनि महानुभावों को भागवत का उपदेश देने लगे । इसीलिये श्रीशुक मुनियों के गुरु कहे गये है– 'गुरुं-मुनीनाम्'– उपदेष्टा ही गुरु होता है ।

इस श्लोक में, भागवत का स्वरूपतः उत्कर्ष बताने के लिये, यथाक्रम चार विशेषणों द्वारा उसकी प्रमेय रूपता, प्रमाण रूपता, असाधारणता तथा उत्तम साधन रूपता का प्रतिपादन किया गया है । [ इन चारों विशेषणों का निरूपण इस तरह किया गया है । ]

(१) स्वानुभावम्– भागवत, भगवद्-स्वरूप है– इसलिये, जिसतरह, भगवान् का, भक्तों पर उनकी अविद्या निवृत्ति के रूप में– असाधारण-प्रभाव होता है, उसी तरह भागवत का, मनन करने वालों को भी यही असाधारण-प्रभाव प्राप्त होता है– अर्थात् भागवत का भी, उसके चिन्तकों पर, अविद्यानिवृत्ति-रूप असाधारण प्रभाव होता है । 'स्वानुभावम्'– से यहां यही स्पष्ट

किया गया है– । और, भागवत की यही प्रमेय-रूपता है उसका यही स्वरूप-सामर्थ्य है ।

(२) अखिलश्रुतिसारम्– भागवत, सर्वश्रुतियों का साररूप है– कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड में जो कुछ भी कहा गया है वह सब भक्ति का अंग है– भक्ति प्राप्ति के साधन रूप है, तथा सभी श्रुतियों के तात्पर्य-विषय-रूप भगवान् का प्रतिपादन, इस भागवत मे है । देव दैत्य आदि मे प्रवृत्त हुयी श्रुतियों का, उस उस अभि प्राय को लेकर ही यदि अर्थ करेगें तो यह भागवत, सर्व-श्रुतियों का साररूप नहीं माना जायेगा– किन्तु, अवशेष श्रुतियों का ही सार कहा जायेगा इस संभावना को हटाने के लिये ही यहां 'अखिल' शब्द का प्रयोग किया गया है– अर्थात् यह भागवत संपूर्ण श्रुतियों का सार रूप है– अमुक श्रुतियों का ही सार इसमे है– ऐसा नहीं है । संपूर्ण-वेदों का जो विषय है, यह भागवत उसी का निचोड़ है– सर्व-वेदों का अर्थ-रस रूप है । इस विशेषण द्वारा भागवत की प्रमाण-रूपता का प्रतिपादन किया गया है ।

(३) एकम्– यह भागवत अद्वितीय- एक ही है यह भागवत-रस, असाधारण रस है इससे अधिक और कोई रस नहीं है । यदि यहां 'एक' पद का प्रयोग नहीं किया जाता, तो भागवत में भी रसान्तर की संभावना होती– तथा अन्य पुराणों के सदृशही यह भागवत भी माना जाता अन्य पुराणों मे तो रसान्तरों का उल्लेख है– यथा 'सूत ! त्वं पूजितोऽस्माभिः सारात्सारं-वदस्व नः'– किन्तु, भागवत स्वयं सारका भी– वेदों के सार का भी– सार है । इसके द्वारा भागवत की असाधारणता का निरूपण किया गया है ।

(४) अध्यात्मदीपम्– भागवत, अध्यात्म-दीप है– बाहर के पदार्थों का बोध दीपक द्वारा अथवा पुरुषों द्वारा कराया जा सकता है– किन्तु, आत्मा के भीतर, वाणी से बोध कराने वाले विरत्ल ही होते हैं । भागवत के अतिरिक्त ऐसा और कोई भी उपाय नहीं है जो गुरु के उप-देश विना तथा तप रूप साधन के विचार के विना ही सभी को आत्मसाक्षात्कार करा सके । जिस तरह घर में दीपक रहने पर 'घट' आदि का ज्ञान सहज ही हो जाता है, वहां गुरु- एवं अन्य पुरुष-आदि की अपेक्षा नहीं होती– उसी तरह भागवत प्राप्त होने पर, आत्म-साक्षा-त्कार में किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती अहंता ममतारूप अविद्या के घोर अंधकार को तिरने की इच्छा करने वाले के लिये यह भागवत, अध्यात्म-अंतरका-दीप है । आत्म ज्ञान होने पर, आत्मा से सम्बन्धित सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं– क्योंकि यह अध्यात्म-दीप (भागवत) आत्म सम्बन्धी सभी पदार्थों को बोध कराने वाला है । इस चतुर्थ विशेषण द्वारा भागवत की 'साधनोत्तमरूपता' का निरूपण किया गया है ।

भागवत का प्रवचन श्रीशुक ने मुनियों के लिये ही किया हो ऐसा नहीं है– उन्होंने इस

भागवत का उपदेश, दया पूर्वक परीक्षित की सभा में संसारी जीवों को भी दिया है। जैसे मल को दूर करने से, वस्त्र-पात्र आदि मल से निवृत्त होकर शुद्ध होते हैं– शुद्ध होने पर उनका कार्य में उपयोग होता है– किन्तु, जो वस्त्रादि प्रथम से ही शुद्ध हैं– उनकी तो प्रत्येक कर्मो मे योग्यता है ही। यहां संसारी जीव मलिन वस्त्र के समान हैं– इनकी, मल-निवृत्ति-पूर्वक शुद्धि होने के पीछे ही, कर्म में योग्यता प्राप्त होती है– किन्तु– शुद्ध-वस्त्र की तरह मुनियों को शुद्धि की आवश्यकता ही नहीं– भागवत के प्रवचन उपदेश की संसारी तथा मुनि मे यही विशेषता है।

यहां सूत पौराणिक, मायाशुक की शरण में जाने का निर्देश नहीं कररहे– किन्तु व्यास-पुत्र शुकदेव की शरण मे जाने का कह रहे हैं। यदि श्लोक मे केवल- शुक पद का प्रयोग किया जाता तो उससे 'मायाशुक' ग्रहण किया जा सकता था– वह यहां न लिया जाये इसीलिये यहां 'व्याससूनुम्'– इसपद का प्रयोग किया गया है। श्लोकोक्त 'उपयामि' पद में जो 'उप'– उपसर्ग है- उससे यह सूचित किया गया है कि शौनकादि ऋषियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिये- मैं- सूत पौराणिक अभी–भावना से व्यास पुत्र श्रीशुकदेव के समीप आकर उनके वाक्य को सुन कर भागवत कहूंगा ॥३॥

**आभासः**—असाधारणं मङ्गलमुक्त्वा सर्वैः कर्तव्यं साधारणं मङ्गलमाह—

**आभासार्थः**—इस तरह असाधारण मंगल करके, संप्रति, सर्व साधारण के करने योग्य, मंगलाचरण करते है—

**श्लोक– नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।**
**देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥४॥**

**श्लोकार्थं** : नारायण को, नर मे उत्तम ऐसे नरोत्तम को, सरस्वती देवी को तथा श्री व्यास को नमस्कार करके, भगवत्कथादिका- जयका- प्रारंभ करना चाहिये ॥४॥

**नारायणमिति।**

इस श्लोक को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्वल्लभाचार्य आज्ञा करते हैं कि—

**कारिका– जयो नाम पुराणादिः कृष्णद्वैपायनेरितः।**
**अष्टादशपुराणानि भारतं तत्प्रकीर्तितम्॥**

**नारायणो व्यास इति वाच्यवक्तृस्वरूपकः ।**
**एक एव परो ह्यात्मा आदावन्ते निवेशितः ।।**
**उपसाधको नरश्चोक्तश्चकाराद्गुरुताऽपि च ।**
**अवश्यमेवकारेण सूत्रात्मा च नरोत्तमः ।।**
**देवी भाग्यात्मिका नृणां वाक्यरूपा सरस्वती ।**
**सर्वे ते भगवद्रूपास्तस्मान्नम्या हि ते सदा ।।**

कारिकार्थ— यहां व्यासजी द्वारा कहे गये अष्टादश 'पुराण' तथा महाभारत का नाम 'जय' है। यहां वाच्य नारायण ही वक्ता व्यास है– जो सबसे पर है– उसी एक आत्मा को परमात्म रूप नारायण व्यासको इस श्लोक के आदि में और अन्त में स्थापित किया गया है अर्थात् इस मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में नारायण का तथा अन्त में व्यास का निर्देश (स्थापन विस्तार)– है। नर इनका उपसाधक है– साधन करने वाला है– श्लोकस्थ 'चकार' से इसके गौरव-महिमा का निर्देश किया गया है। "सूत्र रूप 'नर' यही 'उत्तम' है—'नरोत्तम है' यहां 'चैव' में 'एव' कारका 'अवश्य'–'यही'–अर्थ किया गया है"। यहां सरस्वती से वाणी रूपा-वाक्यरूपा– सरस्वती का तथा 'देवी' पद से मनुष्यों की भाग्यात्मिका देवी का ग्रहण किया गया है। ये सभी भगवद्-रूप हैं– अतः प्रत्येक सर्वदा नमन करने योग्य है।

सुबोधिनी व्यासेन क्रियमाणे तु नमस्कारे न व्यासपदप्रयोगः। सरस्वतीसमीपे चकारस्त-द्वक्तारं बोध- यति। तस्मात्पाठद्वयमपि लोके व्यवस्थया बोद्धव्यम् ।।४।।

सुबोधिनी अनुवाद–

'नारायणं नमस्कृत्य'– इस श्लोक से यदि स्वयं सूतजी प्रणाम करते हैं तब तो 'देवीं' सरस्वतीं 'व्यासं'– यह पाठ उचित है– और यदि व्यासजी प्रणाम करते हैं तब 'देवीं' सरस्वतीं 'चैव' अथवा 'वापि'– ऐसा पाठ उचित होगा ऐसी स्थिति मे यहां सरस्वती के निकट 'च' कार से इस श्लोक के वक्ता का ग्रहण किया जायेगा। दोनो प्रकार के ही पाठ मिलते हैं अतः लोक व्यव-स्था के अनुसार यहां 'व्यासं' तथा 'चैव'– ये दोनों ही पाठ समुचित समझना चाहिये। अर्थात् यदि व्यासजी द्वारा नमस्कार किया जाता हो तो वहां 'व्यास' पद का प्रयोग नहीं हो सकता और यदि सूतजी वक्ता हों तो फिर इस पाठ से कोई आपत्ति नहीं।

**आभास**—अभिनन्दनं वदन्प्रश्नानां निर्द्धारितार्थमाह—

आभासार्थ– शौनकादिक से पूछ गये प्रश्नों का अभिनंदन करके, अब, सूतजी उन प्रश्नों के निर्धारित अर्थ को कहते हैं—

**सूत उवाच—**

**मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।**
**यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।। ५ ।।**

**श्लोक अर्थः–** सूतजी ने कहा हे मुनिओं ! आपने, मुझसे, लोक के लिये मंगलरूप बहुत अच्छा प्रश्न किया है– क्योंकि आपने तो आनंद रूप कृष्ण–विषयक वह प्रश्न किया है– जिससे आत्मा अत्यन्त प्रसन्न होती है ।५।

**मुनय इति** । फलं कृष्ण एव । सर्वप्राणिनामैहिकाऽऽमुष्मिकफलदाता च स एव । भक्ति-मुक्ती च लीलाः । अवताराश्च । धर्मरक्षकश्च स एव । अतः षण्णां प्रश्नानां स एवाऽर्थः । द्वितीयप्रश्ने द्वितीयं फलमेभ्य एव भवति । हे मुनयः ! निर्द्धारितार्थाः । यद्यपि यदेव पृच्छ्यते तत्रैवोत्तरं देयं, तथापि पृष्टमेव साधु । इदमेव हि लोकानां मङ्गलं, यत्कृष्णः पृच्छ्यते । येन च आत्मा कृष्णः प्रसीदति । अन्तःकरणस्याऽपि भगवतस्तद्धर्माणां वा आवेशे प्रसादः । इदं हि सामान्योत्तरम् । शास्त्रान्तरे श्रवणानन्तरं मनननिदिध्यासनाभ्यां कार्यसिद्धिः अत्र तु सा प्रश्नैरेवेति प्रश्न एव शास्त्रसमाप्तिः ।।५।।

**सुबोधिनी** अर्थ : कृण्ण ही फल है । सर्व प्राणियों को, इस लोक तथा परलोक का फल देने वाले श्रीकृष्ण ही हैं । भक्ति, मुक्ति लीलायें उसीकी है– अवतार रूप तथा धर्म-रक्षक भी वही है अतः पूर्वोक्त छहों प्रश्नों का अर्थ श्रीकृष्ण ही है । दूसरे प्रश्न में, जो अंतःकरण प्रसाद रूप द्वितीय फल है वह मुनियों को ही प्राप्त होता है हे मुनियों ! आप लोगों ने मुनि होने के कारण मनन द्वारा संपूर्ण अर्थों का निधार कर लिया है । यद्यपि जिस विषय में पूछा जाताहै उसी विषय का उत्तर देना चाहिये, तथापि जो कुछ भी पूछा गया है वह सब श्रेष्ठ है– आप द्वारा कृष्ण-विषक प्रश्न पूछा गया है- यह ही लोकों के लिये मंगल रूप है, और इसीसे आत्मरूप कृष्ण प्रसन्न होते हैं। भगवान् तथा उनके धर्मों का आवेश होने पर, अंतःकरण मे भी प्रसन्नता होती है । यह आपके प्रश्नों का सामान्य उत्तर है । अन्य शास्त्रों के अनुसार तो श्रवण के अनन्तर मनन, निदिध्यासन करने पर कार्य-सिद्धि होती है, किंतु यहां भागवत में यह कार्य-सिद्धि तो प्रश्न मात्र से ही हो जाती है– अतः कृष्ण संबंधी प्रश्न में ही सब शास्त्रों की समाप्ति है अर्थात् अन्य शास्त्रों में कहे

गये जो साधन हैं– उनके अनुष्ठान से जो कार्य सिद्धि होती है– वह सब यहां भागवत में कृष्ण सम्बन्धी प्रश्न के पूछने मात्र से सम्पन्न हो जाती है ।५।

आभास : इदानीं फलसाधने एकीकृत्य स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थं निरूपयति सप्तदशभिः । भगवत्साक्षात्कारः फलम् । साधनपारम्पर्ये प्रथमतो धर्मः । अन्तिमो भगवत्प्रसादः । स च खण्डशः सर्वत्र साधनेषु वक्तव्यः । तथा सती परम्परान्तेमहाप्रसादे सति, भगवानात्मानमाविःकरोति ।तत्र भक्तिस्त्रिविधा । ज्ञानञ्च त्रिविधम् । रुचिः श्रवणादिः प्रेम चेति भक्तिस्त्रिविधा । आत्मज्ञानं तत्वज्ञानंभगवज्ज्ञानं चेति त्रिविधम् । धर्मो वैराग्यं च साधनम् । तत्परम्परायां यथायोग्यं निवेशनं निरूप्यते तत्र प्रथममेकां शृङ्खलामाह—

आभासार्थ : प्रथम श्लोक में जो कुछ सामान्य रूप से कहा गया है, उसी को विशेष रूप से अग्रिम सत्रह श्लोकों से कहते हैं । आत्म-प्रसन्नता रूप फल तथा धर्मरूप साधन इन दोनों को एक करके-अपने अधिकारानुसार सत्रह श्लोकों से शास्त्र के अर्थ का निरूपण करते हैं । यहां भगवान् का साक्षात्कार करना फल है । साधनों की परम्परा में प्रथम साधन "धर्म है-तथा अंतिम भगवान् का अनुग्रह है । यह अनुग्रह सभी साधनों में खंडशः कहा गया है प्रत्येक साधन में अल्प अल्प अंश मे कहागया है, अर्थात् प्रत्येक साधन में भगवद्–अनुग्रह की अमुक मात्रा अनिवार्य है । भगवद्– अनुगृह से ही जीव की साधन में प्रवृत्ति होती है । इस तरह साधनों की परम्परा के अन्त में भगवान् का महान् अनुग्रह होने पर, भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं । इस साधन परम्परा में भक्ति तीन प्रकार की है तथा ज्ञान भी तीन प्रकार का है ।रुचि, श्रवण कीर्तनादि तथा प्रेम–इस तरह भक्ति त्रिविध है– आत्म-ज्ञान, तत्वज्ञान तथा भगवद्-ज्ञान । इस तरह ज्ञान भी त्रिविध है– धर्म तथा वैराग्य साधन है । उस साधन परम्परा में धर्म और वैराग्य के, यथायोग्य प्रमाण मे, निवेशन का निरूपण किया गया है । यहां प्रथम, इसी साधन–परम्परा की एक शृंखला का दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

**श्लोक– स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।**

**अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति ।।६।।**

**श्लोकार्थ**—मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिससे अधोक्षज में (इन्द्रियजन्य ज्ञान से जो अतीत है उसमे) ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति उत्पन्न हो जिससे आत्मरूप भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होजायें ।६।

**सुबोधिनी—स वै पुंसामिति** । धर्मः साधनम् । भक्तिः फलम् । तत्र विहितश्रवणादीनां धर्मरूपाणां दृष्टप्रकारेणैव भक्तिसाधकत्वम् । स्नानादीनामदृष्टद्वारा । तत्र साधनान्तराऽनुप्रवेशे व्यभिचारोऽपि सम्भवति । अतः प्रथमं स्नानादिधर्मनिर्द्धारः क्रियते । प्रमाणस्य तुल्यत्वेऽपि फल-बलाद्विशेषः । अतो वै निश्चयेन पुंसां परो धर्मः सः यतो भक्तिः श्रद्धालक्षणा भवति । स्वर्गादि-साधके तु धर्मत्वं सन्दिग्धं परत्वं वा । स चाऽग्रे विचारयिष्यते । धर्मे स्वातत्र्यञ्च सहायः कर्तृ वि-शेषणत्वेनोक्तः—**पुंसामिति** । परत्वं च विधीयते । व्यावर्तकमिति केचित् । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति । इन्द्रियाविषये । इन्द्रियविषये हि कामादिभिरेव रुचिरुत्पद्यते । किं धर्मेण । धर्मो हि पुरुषार्थो बलिष्ठः । स च प्रतिबन्धकानि दूरीकृत्याऽपेक्षितानि साधनानि च सङ्गृह्य पर्यवसायि फलं जनयति । तत्र रुचिश्चेद्भगवति साधनत्वेन तदापि न धर्मत्वम् । उपहता वा दुःसङ्गादिभिस्तदापि न धर्मत्वम् । तदाह—**अहैतुक्यप्रतिहतेति** । हेतुः फलाभिसन्धानम् । प्रतिघातो रोगादिभिः । तस्याऽपि फलमाह । आत्मा अन्तःकरणसाक्षी भगवान् प्रसीदति । स्वपर्यवसानात्सुष्ठु ।।६।।

**सुबोधिनी अनुवाद** : धर्म साधन है, भक्ति उसका फल है । शास्त्र विहित जो श्रवणादि धर्म है–वे साक्षात् भक्ति को उत्पन्न करते हैं, भक्ति के साधक हैं । स्नान आदि धर्म से प्रथम अदृष्ट उत्पन्न होता है और अदृष्ट से भक्तिरूप फल मिलता है । किन्तु, श्रवणादि धर्म से साक्षात् फल-सिद्धि तत्काल प्राप्त होती है और यहां बीच में अदृष्ट जैसी किसी वस्तु के उपस्थित होने की कोई सम्भावना भी नहीं रहती । यदि स्नानादि धर्म में कोई अन्य साधन का प्रवेश हो जाये तो फल में अनियमितता भी (अनिश्चितता) सम्भव है । इसलिये प्रथम स्नानादि धर्मों का निर्णय किया जाता है । श्रवणादि तथा स्नानादि धर्मों में प्रमाण की समानता होने पर भी श्रवण कीर्त्तनादि धर्मों में, फल की सुलभता के कारण अपेक्षाकृत विशेषता है । इसीलिये मनुष्यों का निश्चित रूप से उत्कृष्ट धर्म वही है जिससे भगवान् में श्रद्धारूप भक्ति उत्पन्न हो जाये । स्वर्गादि के साधक जो धर्म बताये गये हैं, उन यज्ञादि धर्मों की धर्मरूपता अथवा उत्तमरूपता संदिग्ध है । इसका विवेचन अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा । धर्म मे स्वतन्त्रता को सहायक माना गया है, इसीलिये धर्म की विशेषता यहां 'पुंसां' पद से स्पष्ट की गयी है । स्वतन्त्र पुरुष ही सहायक होते हैं क्योंकि धर्म का सुचारु संपादन स्वतन्त्र पुरुष ही कर सकता है । यहां 'पर-परत्व' का विधान श्रवणादि धर्म के लिये किया गया है, अर्थात् श्रवणादि धर्म ही सब धर्मों में मुख्य श्रेष्ठ हैं । किसी के मत में यहां 'परः' धर्म का विशेषण है । श्री आचार्यचरण ने 'परः' को विधेय माना है । 'परः' को विधेय मानने पर उसका अर्थ यह होगा– जिससे भगवान् में भक्ति हो वही धर्म 'परः' है ।

भगवान् को यहां अधोक्षज कहा है– क्योंकि भगवान् लौकिक-इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान, प्रभु से नीचे है– अध: अक्षजं ज्ञानं यस्मात् इति। इसलिये इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकता। लौकिक इन्द्रियों से जिन विषयों का ज्ञान होता है उनमें तो काम आदि से ही रुचि उत्पन्न होती है। वहां धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। धर्म तो बलिष्ठ पुरुषार्थ है। वह सभी अड़चनों को प्रतिबन्धों को दूर करके अपेक्षित यथा आवश्यक साधनों को जुटा कर अन्तिम फल की प्राप्ति करा देता है। वहां यदि भगवान् में यह रुचि साधन रूप से अर्थात् फल की आकांक्षा से उत्पन्न हुई हो तो वह धर्मरूप नहीं है। अथवा, यदि यह रुचि रूप भक्ति दु:संगादि से नष्ट हो जाती है तो भी वह धर्मरूप नहीं है। हेतु अर्थात् फलाकांक्षा से रहित अहैतुकी तथा रोगादि से नष्ट न होने वाली अप्रतिहत– ऐसी अहैतुकी तथा अप्रतिहत भक्ति जिससे उत्पन्न होती है वही धर्म 'उत्तम' कहलाता है। ऐसी भक्ति का फल हैं-अंत:करण के साक्षी भगवान् का प्रसन्न होना। भगवान् की अत्यन्त प्रसन्नता मे ही जीव के अन्त:करण की प्रसन्नता है यहां इसी का निर्देश 'सुप्रसीदति के 'सु' उपसर्ग द्वारा किया गया है।

आभास : भक्तेर्विषयं प्रयोजनं चाऽऽह—

**आभासार्थ** : भगवान् के प्रसन्न होने पर जीव का भगवान् मे पर्यवसान होता है। अब भक्ति के विषय का और उसके प्रयोजन का विवेचन करते हैं :—

**श्लोक : वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।**
**जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ।।७।।**

श्लोकार्थ : वासुदेव भगवान् में निरन्तर किया गया भक्तियोग, शीघ्र ही वैराग्य एवं आत्मज्ञान उत्पन्न करता है और वह ज्ञान। अनुमानगम्य न होकर साक्षात्कार रूप होता है।

**सुबोधिनी** : **वासुदेव इति**। शुद्धसत्त्वात्मके अन्त:करणे आविर्भूतो वासुदेव:। **"सत्वं-विशुद्धमि"**ति वाक्यात्। स च ध्यानादिभेदेन देवतान्तरविषयेणाऽन्योऽपि भवति। तद्व्यावृत्त्यर्थ-माह—**भगवतीति**। रुचिमात्रत्वनिराकरणाय परम्परासिद्धये—**योग इति**। भक्तिरेव योग:। प्रकर्षो हि दीर्घकालादरनैरन्तर्यम्। तस्य परमफलं भगवत्प्रसाद: सर्वत्राऽनुवर्तते। अन्यदप्याह—**जनयतीति**। आशु शीघ्रं विषयेषु वैराग्यमात्मनि च ज्ञानं। तच्चाऽहैतुकं नाऽनुमानगम्यं, किन्तु साक्षात्काररूपम् ।।७।।

सुबोधिनी अनुवाद- शुद्ध-सत्व रूप अंतःकरण में जिसका आविर्भाव होता है वह वासुदेव है- 'सत्वं विशुद्ध' श्लोक में इसी बात का निर्देश किया गया है। देवतान्तर विषयक ध्यानादि के भेद से यह वासुदेव मूर्तिरूप अथवा अवताररूप अन्य देवता भी हो सकता है किन्तु उनका यहां ग्रहण न किया जायें, इसीलिये उनको 'भगवति' ऐसा कहा गया है। जिसका तात्पर्य यह है- कि यहां षडैश्वर्य से युक्त भगवान् ही 'भजन' के विषय हैं- अन्य अवताररूप अथवा मूर्तिरूप नहीं। षडैश्वर्य से युक्त भगवान् में ही भक्ति होनी चाहिये। श्लोक में भक्तियोग के 'योग' पद से यह कहा गया है कि 'केवल रुचि उत्पन्न हो जाना ही भक्ति नहीं है- किन्तु रुचि श्रवण तथा प्रेम इन तीनों के योग से 'भक्तियोग' बनता है। 'प्रयोजित' में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है- चिरकाल से निरन्त किया गया (योजित)। रुचि, श्रवणादि तथा प्रेम का उत्तम फल भगवत् प्रसाद कहा गया है। अर्थात् जहां जहां भक्तियोग वहां वहां भगवत्प्रसाद।

इस प्रकार का भक्तियोग, विषयों के प्रति वैराग्य को तथा आत्म-ज्ञान को शीघ्र ही उत्पन्न करता है। यह आत्म-ज्ञान साक्षात्कार रूप होता है। अनुमानगम्य नहीं और इसी का निर्देश श्लोक के 'अहैतुक' पद से किया गया है। साक्षात्कार में 'हेतु' की अपेक्षा नहीं होती। ऐसे भक्तियोग से आनुमानिक ज्ञान से नहीं, स्वयं भगवान् से साक्षात्कार होता है ।।७।।

**आभास** : एवं धर्मादिज्ञानान्ता एका परम्परा निरूपिता। तस्या अपि निर्द्धारिकामन्यां परम्परां वक्तु' धर्मस्य तदजनने बाधकमाह—

आभासार्थ- इस तरह धर्म से प्रारम्भ करके ज्ञान पर्यन्त की एक परम्परा का निरूपण करके- सम्प्रति, इसी परम्परा का भी निर्णय करने वाली द्वितीय परम्परा का विवेचन करने के लिये यहां यह कहते हैं कि जो धर्म, भक्तियोग को उत्पन्न नहीं करता, वह धर्म बाधक है, अन्तराय रूप है।

**श्लोक : धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।**

**नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।।८।।**

**श्लोकार्थ-** जो धर्म भगवत्कथा में मनुष्यों की रति-प्रेम उत्पन्न नहीं करता, वह भलीभांति अनुष्ठित किया गया भी केवल श्रमरूप ही है।८।

**सुबोधिनी— धर्मः स्वनुष्ठित इति**। धर्मः साधनम्। कथारुचिः साध्या। तत्र स्वरूपोप-

कारी धर्मोऽग्रे वक्तव्यः । अदृष्टद्वारोपकारिणां व्यभिचारसम्भावनाया विद्यमानत्वान्निन्दति । सम्यगनुष्ठितोऽपि स्नानादिधर्मः । विष्वक्परितः सेना आज्ञा वा यस्य । अनेन रत्यभावे सर्वमन्यथा भवेदित्यत्र हेतुरुक्तः । प्रासङ्गिकत्वाभावाय सप्तमी । बहुवचनं सामान्यत्वाय । वीर्यत्वाद्यभावाय–**कथेति** । य इति धर्मस्य पूर्वोक्तबलं सूचितम् । रतिं प्रीतिम् । तदा तस्य धर्मस्य स्वरूपमाह—**श्रम एव हि केवलमिति** । यथा मल्लानां गात्रचालनाद्यभ्यासस्तथा स्नानाद्यभ्यासोऽपि । अन्यव्यावृत्त्यर्थमेवकारः । तेन नाऽदृष्टमुत्पद्यत इत्यर्थः । हि युक्तोऽयमर्थः । फलव्यभिचारात् । ननु श्रमे बलवृद्धिर्मल्लादिषु दृष्टा तथाऽत्राऽपि लौकिकं किञ्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**केवलमिति** । फलान्तरस्याऽदर्शनात् । प्रतिष्ठाऽपि न सद्भिर्निरूप्यते । स्वर्गादीनां तु फलत्वमग्रे निराकरिष्यते । एवं साधारणधर्मस्य वैयर्थ्यमुक्तम् । पुत्रादिकामनया क्रियमाणो धर्मो धर्म एव न भवति । फलस्याऽविद्याकार्यत्वेन दुःखरूपत्वात् । किन्तु भित्त्यादिकृतिवन्नैमित्तिकमेव । तत्र यजत्यादेरनुवादः चित्तशुद्ध्यभावेनाऽधिकाराभावादन्यथा करणाद्देवताधिष्ठानाभावात्क्रियाया लौकिकत्वम् । फलं साधनं च सामान्यतः पूर्वमेव प्रतीतम् । तथाचौषधादिवत्तृतीयया करणत्वमात्रं बोध्यते । यजतिस्तु व्यर्थः । तस्मान्न धर्मत्वम् ।।८।।

**सुबोधिनी अनुवाद** : धर्म यहां साधन है और कथा मे रुचि साध्य है । स्वरूप में उपकार करने वाले धर्म का निरूपण आगे करेगें । अदृष्ट द्वारा उपकार करने वाले स्नान, यज्ञ आदि धर्मों का अच्छी तरह अनुष्ठान किया भी जाये तो भी उनके द्वारा कथा में रुचि उत्पन्न हो ही जायेगी, ऐसा कोई नियम नहीं है । ऐसे धर्म की निन्दा ही की गयी है । अच्छी तरह आचरित स्नानादि धर्म भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न नहीं करते, अतः वे निन्द्य ही हैं ।

श्लोकोक्त– 'विष्वक् सेना' का अर्थ है– चारों ओर सेना अथवा आज्ञा है जिसकी ऐसे भगवान् । भगवान् की सेना अथवा आज्ञा सर्वत्र है । भगवान् की कथा में प्रेम उत्पन्न नहीं करने वाले धर्म, अन्यथा माने जाते हैं । कथासु में सप्तमी विभक्ति द्वारा यह सूचित किया गया है कि भगवत्कथा में प्रासंगिक प्रेम न होकर स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये । 'कथासु' में बहुवचन से यह तात्पर्य है कि भगवान् की कोई भी कथा हो, उसमें प्रेम होना चाहिये । भगवत्कथा में वीर्य आदि के अभाव का निर्देश 'कथा' पद से किया गया है । धर्म के रति-उत्पादक फल का संकेत- यः पद से किया गया है । रति का अर्थ है प्रीति । जिस धर्म से भगवत्कथा में प्रीति न हो वह धर्म नहीं किन्तु श्रम मात्र है । मल्लों को दण्ड बैठक आदि कसरत करने के अभ्यास की तरह स्नानादिक धर्म भी एक प्रकार का केवल अभ्यास है– इससे किसी अन्य प्रकार के फल की भी संभावना नहीं और यही निर्देश करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया है । इससे अदृष्ट फल भी

उत्पन्न नहीं होता और यहां यही अर्थ 'हि' युक्त है। क्योंकि इस प्रकार के धर्म में भगवत्कथा में प्रेमोत्पत्ति रूप फल का अभाव है। यहां यह शंका होती है कि व्यायाम आदि श्रम करने से जैसे मल्लादि में बल की वृद्धि देखी जाती है, वैसे ही यहां भी भगवत्कथा में प्रीति उत्पन्न न करने वाले धर्म में भी कोई लौकिक फल तो अवश्य होगा ही– इस शंका के समाधान मे कहते हैं कि यहां तो 'केवल' श्रम ही होता है क्योंकि ऐसे धर्म का कोई अन्य फल नहीं देखा गया। तदुपरान्त, ऐसे धर्म करने वाले की प्रतिष्ठा होती है तो यह भी बात नहीं है । सत्पुरुष ऐसे धर्म की प्रतिष्ठा का निरूपण भी नहीं करते। स्वर्गादि में तो फलरूपता है ही नहीं– इसका निरूपण अग्रिम प्रसंग में किया जायेगा। इस तरह आवश्यक नित्य धर्म यदि भगवत्कथा में प्रीतिजनक न हो तो वह सब व्यर्थ है। पुत्रादिक की कामना से किया जाने वाला धर्म धर्म ही नहीं है। क्योंकि पुत्रादि रूप कोई फल नहीं है। पुत्रादि रूप यह फल अविद्या का कार्य है– अतः दुःखरूप है। किसी कामनासे किया गया धर्म रहने के लिये मकान की भींत आदि निर्माण करने की तरह नैमित्तिक ही है।

ऐसी स्थिति में, यजति-यज्ञ करता है, यजेत्–यज्ञ करना चाहिये । इनमें 'यजेत्' आदि विधि न होकर केवल 'अनुवाद' रूप है– ( यज्ञ करने की जो विधि है उस तरह न करके केवल जो कुछ लिखा है– उसको पढ़ कर क्रिया करने जैसा है ) चित्तशुद्धि के विना यज्ञादि धर्म में अधिकार न होने के कारण विपरीत कर्म करने से उस कर्म में देवता का आगमन नहीं होता । वह अनुपस्थित ही रहता है। ऐसी स्थिति में वह क्रिया और उसका फल एवं उसके साधन सब लौकिक हो होते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य-शुद्धि की तरह आन्तर-शुद्धि भी आवश्यक है और ऐसे नैमित्तिक स्नानादिक कर्मों से अंतःशुद्धि न होने के कारण वेदोक्त कर्म का अधिकार नहीं रहता। तदुपरान्त– वेदोक्त क्रिया में वाक्य के तात्पर्य ज्ञान की भी आवश्यकता है। इन सब के अभाव में विहित कर्म अन्यथा होंगे और देवता का अधिष्ठान भी नहीं होगा। सब क्रिया लौकिक हो जायेगी– अतः वहां विधि का सम्बन्ध जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होगा। अग्निष्टोमेन यजेत में जो तृतीया है, वह औषध की तरह कारणत्व मात्र की बोधिका है अर्थात् लौकिक फलानु–सन्धान पूर्वक जो यज्ञ किये जाते हैं उनमें 'यजेत्' यज्ञ करने का विधि तो निरर्थक ही है । अतः जो कर्म लौकिक फल देता है तथा भगवत्कथाओं में रति उत्पन्न नहीं करता हो वह 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। ८।

**आभासः**—ननु कामितं फलं पुरुषार्थः। तत्साधकस्य कथं न धर्मत्वम्? तत्राऽऽह—

**आभासार्थः**—यहां, यह शंका होती है कि पुत्रादिक इच्छित फल भी पुरुषार्थ रूप है तो

इस फल की सिद्धि कराने वाले यज्ञादि धर्म, धर्म क्यों नही कहे जा सकते ? इसके समाधान में कथन है कि—

**श्लोक– धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नाऽर्थोऽर्थायोपकल्पते ।**
**नाऽर्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।९।।**
**कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।**
**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नाऽर्थो यश्चेह कर्मभिः ।।१०।।**

**श्लोकार्थ**—मोक्ष पर्यन्त फल की प्राप्ति कराने वाले धर्म का फल 'अर्थ' नहीं है, किन्तु मोक्ष है । धर्माचरण रूप फल की सिद्धि देने वाले 'अर्थ' से कामोपभोग लाभ नहीं होता– अर्थ का फल धर्म है, काम नहीं । काम का लाभ इन्द्रियों की प्रीति नहीं हैं– किन्तु जितने 'काम' द्वारा जीवन निर्वाह हो सके उतने काम की प्राप्ति करना ही काम का लाभ फल है । इसी तरह जीवन का लाभ भी कर्मों द्वारा अन्य पुरुषार्थो को सिद्ध करने के लिये नहीं है किन्तु तत्वजिज्ञासा है (तत्व जानने की इच्छा को बनाये रखने का है) ।।९–१०।।

**सुबोधिनी**—**धर्मस्येति** । "**अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वि**" ति कोशादर्थशब्दस्य पञ्चाऽर्थाः । तत्र शब्दप्रकरणान्नाऽभिधेयत्वम् । उपपदस्याऽभावान्न निवृत्तित्वम् । ततो रैवस्तुप्रयोजनान्यवशिष्यन्ते । तत्र धनपशुपुत्रादयो रैरूपाः । ते धर्मकार्या न भवन्ति । धर्मो हि चोदनालक्षणः । तत्र लौकिकत्वेन विधिस्पर्शाभावान्न धर्मत्वम् । अन्यथा भेषजपानादेरपि धर्मत्वं स्यात् । तथा प्रतिग्रहस्य । अपूर्वांशस्तु नास्त्येव । किञ्च । एते हि वस्तुतोऽनर्थाः । आत्मनाशकत्वात् । तथाच यथा श्येनादयो न धर्मास्तथा धनार्थादिसाधका न धर्माः । ये पुनर्धर्मास्ते न धनादिसाधका इत्यर्थः । **तथा न परमार्थरूपाः** । न वा प्रयोजनरूपाः । किञ्च । धर्मविशेषः स भवतु नाम । निवृत्तार्थपुरुषार्थस्य मुमुक्षोर्धर्मकर्तुर्धर्मः कथमर्थाय स्यादित्याह—**आपवर्ग्यस्येति** । अपवर्गसम्बन्धिनः अपवर्गपर्यन्तं वा क्रियामाणस्य । ननु धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पदार्थाः पूर्वपूर्वसाधनरूपाः । तथाच धर्मः कथं नाऽर्थाय ? तत्राऽऽह—**नाऽर्थस्येति** । अदृष्टात् दृष्टं हि बलवत् । अर्थेन हि धर्मो दृश्यते नहि धर्मेणाऽर्थः । धर्म एव एकः अन्तः पर्यवसितं कार्यं यस्येति । तथाच येन केनाऽप्युपायेन अर्थं सम्पाद्य धर्मः कर्तव्यः । न तु धर्मेणाऽर्थसम्पादनम् । ननु तर्ह्यर्थः सर्वसाधकोऽस्तु । कामस्याऽपि तत्कार्यत्वेन दर्शनात् । तत्राऽऽह—**कामो लाभायेति** । कामो विषयसुखम् । इन्द्रियविषयाधीनं हि तत् । तत्र विषयांशेनाऽस्त्यर्थोपयोगः । रूपादीनामेव विषयत्वात् । न च रूपादिसम्पादकः । सिद्धानि रूपाण्यन्यस्य भवन्तीति चेद्विपरीतमायातम् । अर्थे प्राप्ते रूपादि गच्छति गते चाऽर्थे रूपादिप्राप्तिरिति ।

परावृत्तावपि साध्यसाधनता चेत्तत्राऽपि वैपरीत्यमुक्तम् । तथाच वस्तुव्यत्यासवदर्थेनाऽर्थ इव न कामः । न च विषया एवाऽर्थरूपाः कामसाधका इति वाच्यम् । लोकप्रसिद्धयभावात् । अर्थसाधकस्याऽपि धर्मत्वापत्तेश्च । लोके साहचर्यमात्रेण साधनत्वप्रतीतिः । कदर्यस्याऽर्थवतोऽपि कामाभावाच्च । पश्वादीनामर्थाभाववतामपि कामदर्शनाच्च । तथा मस्करिणः । तथा चाऽऽत्मविदः । "**आत्मकामाऽऽप्तकाम**"—इति श्रुतेः । तथाच क्वचित्साहचर्यदर्शनेन साध्यसाधनभाव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन अर्थेन कामः साध्यताम् । स कियान् कामः कीदृशश्च ? जीवनमात्रपर्यवसितश्चेत् ? स च आ ब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं स्वतः सिद्धो नाऽर्थसाध्यः । अर्थेन्द्रियप्रीतिरूपः ? अनलत्वात्तस्य न पूर्त्तिरस्ति । **"न जातु कामः कामानामि"** ति वचनात् । अनुभवाच्च । प्रवृत्तिस्तु भ्रान्त्या । तथाच कामो विषयभोग इन्द्रियप्रीतिहेतुर्न भवति । लाभपदं देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । तस्मात्क्रमः साधनपरम्परारूपः । कामेन जीवनमर्थरूपं जीवने धर्मः ज्ञानञ्च । तेन च मोक्ष इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासेति** । जीवस्य जीवनस्य । तत्त्वजिज्ञासा तत्त्वविचार इच्छापूरकज्ञानसाधकः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा लाभ इति पूर्वेण सम्बन्धः । कर्मभिः साध्यो यः कामो वा अर्थो वा । धर्मस्तु न केवलं कर्मसाध्यः । किन्तु श्रुतिबोधितकर्मसाध्यः । तत्राऽपि इह कर्मभिः साध्यो न पुरुषार्थः संसारविषयकः । यो वा दैवगत्या प्राप्तः सोऽपि न भवतीति चकारार्थः ।। ९ ।। १० ।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— कोश में 'अर्थ' शब्द के पांच अर्थ हैं- वाच्य (अभिधेय)-धन, पुत्र पशु, पुत्र आदि (रैः), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति । यहां श्लोक में शब्द का प्रकरण होने से, अभिधेय अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ नहीं लिया जा सकता । 'मशकार्थोधूमः' की भांति अर्थ शब्द के पूर्व उप पद नहीं होने से 'निवृत्ति' अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । अब, धन, पुत्र, पशु आदि (रैः) तथा प्रयोजन ये दो अर्थ शेष रहते हैं- इनमें (रैः)-धन, पुत्र, पशु आदि धर्म के फल नहीं हो सकते क्योंकि जो विधि-विहित हो उसको ही धर्म कहते हैं। धन, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति के लिये किया गया धर्म लौकिक है वह विधि से सम्बन्धित नहीं है, अतः धनादि, धर्म का कार्य नहीं है । यदि लौकिक में भी विधि का स्पर्श माना जाये तो 'औषध का सेवन करना चाहिये भेषजं पिबेत्–दान लेना चाहिये–प्रतिग्रहं गृह्णीयात् आदि क्रियायें भी धर्म कहलायेंगी । यदि यह कहो कि इस प्रकार कि क्रियाओं में अपूर्व उत्पन्न होता है तो फिर उनमें धर्मत्व क्यों न माना जाये । इसका उत्तर यह है कि भेषजपान से आरोग्य, प्रतिग्रह आदि से धनादि रूप प्रत्यक्ष-दृष्ट फल मिलता है, अतः यहां अदृष्ट अपूर्व की कल्पना करना ही व्यर्थ है । यदि यह कहा जाये कि यज्ञादि से कुछ काल के अनन्तर धन, पशु, पुत्रादि रूप फल मिलते हैं अतः वहां मध्य में–

(जब तक धनादि रूप फल नहीं मिलता तब तक) 'अपूर्व' अदृष्ट ही चाहिये तो फिर, धन पुत्रादि देने वाली क्रियाओं को धर्म परू न मानने में क्या आपत्ति है?

यहां इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि ये धन पुत्रादि अर्थ नहीं, वस्तुतः अनर्थ है क्योंकि इनमें आसक्त पुरुष अपना स्वयं का विनाश कर देता है । धर्म, अर्थ का कारण कहा गया है अनर्थ का नहीं–अतः धन पुत्रादि प्राप्त कराने वाली क्रियाओं में धर्मरूपता नहीं है और जिस प्रकार अन्य के मारणार्थ किये गये श्येनादि यज्ञ धर्मरूप नहीं हैं, उसी प्रकार धनादि अर्थ के साधक कर्म, धर्म नहीं हैं और इसी तरह जो धर्म है वह धनादि के साधक नहीं हैं ।

अब यदि 'अर्थ' शब्द का 'वस्तु' अर्थ लें तो वह भी उचित नहीं । धर्म, परमार्थ रूप, परम वस्तु रूप है, केवल वस्तु रूप नहीं । इसीलिये धन, पुत्र, पशु आदि वस्तुयें कभी परमार्थ रूप नहीं हैं । अर्थ शब्दे का 'प्रयोजन' अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता 'धर्म' का प्रयोजन भगवान् से सम्बन्ध कराने का है जिससे भगवान् का सम्बन्ध हो– वही प्रयोजन कहलाता है । प्रकर्षेण-नयुज्यते अनेन– यहां तो धनादि लौकिक प्रयोजन है, धर्म का प्रयोजन लौकिक उपलब्धि नहीं है ।

यहां शंका होती है कि यदि यह सब कुछ ऐसा ही मान लिया जाये तो 'काम्येष्टि' पशुकांड भी धर्म–परक नहीं माना जायगा । सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' इस कथन से विरोध आयेगा । इसका समाधान यह है कि कहीं कहीं कर्म को धर्मरूप कहा है-किन्तु यह गौण धर्म रूप ही है । लौकिक फल की आसक्ति से किये गये काम्य–कर्म, श्येनादि यज्ञ की तरह अनर्थ रूप होने से धर्म रूप नहीं हो सकते– यही यागादि यदि बहिर्मुख को वैदिक क्रियाओं के सम्मुख करने के लिये किये जाते हों तो गौण धर्म रूप कहलाते हैं । धनादि के लिये आचरित क्रियाएं लोक–संग्रह रूप होने के कारण गौण धर्म रूप भी नहीं है । अतः धनादि लौकिक फल, धर्म की उपलब्धि नहीं । धर्म, अर्थ का साधक नहीं है । यदि धर्म द्रव्यादि के लिये होता तो द्रव्यादि रूप पुरुषार्थ से निवृत्त तथा धर्म परायण मुमुक्षु पुरुष का धर्म भी अर्थ के लिये ही होना चाहिये– लेकिन ऐसा नहीं है । क्योंकि धनादि में उनकी आसक्ति ही नहीं । मोक्ष सम्बन्धी अथवा मोक्ष पर्यन्त किये जाने वाले धर्म का फल अर्थ क्योंकर हो सकता है?

यहां यह शंका होती है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में पूर्व का पुरुषार्थ, उसके पीछे वाले पुरुषार्थ का साधन रूप है– तदनुसार धर्म से अर्थ सिद्ध होता है–अर्थ से काम, और काम से मोक्ष सिद्ध होता है । धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते तथा कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोः इत्यादि उद्धरणों से भी यही प्रतिपादित किया गया है । काम, मोक्ष क

साधन है यथा प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थः । तो फिर, धर्म को अर्थ का साधन मानने में क्या आपत्ति है? इसका समाधान यह है कि 'नार्थस्य'– अदृष्ट से दृष्ट बलवान है–द्रव्यादि अर्थ द्वारा, होम दानादि रूप धर्म होते हैं और वह दिखाई देते हैं प्रत्यक्ष हैं, किन्तु धर्म से जो अर्थ प्राप्ति होती है वह दिखाई नहीं देती, अदृष्ट है । धर्मसे धनादि की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी । इसलिये अर्थ का एकमात्र अन्तिम कार्य धर्म ही माना गया है । अर्थ से ही धर्म सिद्ध होता है तदनुसार किसी भी उपाय से अर्थ की प्राप्ति करके धर्म करना चाहिये किन्तु धर्म से अर्थ का सम्पादन नहीं करना चाहिये । एष उ एव साधुकर्म कारयति इस श्रुति के अनुसार भगवान जिसे उन्नत करना चाहते हैं उससे ही अच्छे धर्म रूप कर्म कराते हैं । इससे इतना सिद्ध है, भगवान् ही सब कार्यों में प्रवृत्ति कराते हैं । अपूर्व द्वारा धर्म, अर्थ का साधक है– इस कथन का दृष्ट से विरोध होने के कारण जैसे मीमांसक धर्म को अर्थ का हेतु नहीं मानते, वैसे मुमुक्षुओं के लिये भी यह पक्ष अनादरणीय है, अर्थात् धर्म से अर्थ का सम्पादन मुमुक्षुओं को अभीष्ट नहीं है ।

यदि अर्थ से ही धर्म संपादन होता है तो फिर यही क्यों न कहा जाये कि अर्थ से ही काम और मोक्ष भी सिद्ध होते हैं ? यह कथन उचित नहीं है । अर्थ से काम सिद्ध नहीं किया जा सकता– 'कामो लाभाय'– विषय सुख का नाम काम है– यह विषय सुख, इन्द्रियों और विषय के अधीन है । विषय सुख तभी मिल सकता है जब इन्द्रियां सशक्त हों और विषय उपस्थित हो । केवल अर्थ से विषय सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता । अतः यह कथन कि अर्थ से ही काम की सिद्धि मिलती है, प्रत्यक्ष से विरुद्ध है ।

इस कथन मे यह शंका होती है कि यद्यपि विषयसुख, इन्द्रियों के और विषय के अधीन अवश्य है तथापि यहां, इन्द्रियांश में भले ही अर्थ का द्रव्यादि का उपयोग न हो किन्तु पुष्प-माला तथा चंदनादि रूप विषयांश में तो अर्था का उपयोग होगा ही ।

इसका उत्तर यह है कि विषय से यहां रूपादि का ग्रहण होता है, माला, चन्दनादि का नहीं । शंका– यह कथन उचित है, भले ही अर्थ को, काम का साक्षात् कारण न माना जाये । किन्तु माला-चन्दन-वसनादि से रूप आदि के उत्कर्ष का संपादन तो होता है अतः रूप के उत्कर्ष का संपादक होने से अर्थ को, काम में परम्परा रूप कारण क्यों न माना जाये ?

समाधान– इसका उत्तर यह है कि रूपादि का संपादन करने वाला अर्थ नहीं है क्योंकि रूपादि तो स्वतः सिद्ध हैं । यहां यह विचार होता हैं कि अर्थ मनुष्य में (अपने में) रहे हुए रूपादि के संपादन से काम–जनक है अथवा माला, चन्दनादि में रहे हुए जो रूपादि हैं उनके सम्पादन से

काम-जनक है ? माला चन्दनादि में अथवा अपने मे रहे हुए रूपादि के सम्पादन से यदि अर्थ को कामजनक मानेगें तो प्रत्यक्ष से विरोध आयेगा– क्योंकि पुष्प, चन्दन, वनितादि में रहा हुआ जो गुण है, उसका उत्कर्ष-साधक अर्थ नहीं देखा गया। यदि अन्य में रहे हुए रूपादि के सम्पादन से अर्थ को कामजनक मानते हैं तो वहां यह विचार करना होगा कि क्या भोक्ता में रहने वाले रूपादि का वह सम्पादक है अथवा भोग्य में रहने वाले रूपादि का ? यदि अर्थ को, भोक्ता के रूपादि का सम्पादन माने तो वह उचित नहीं, क्योंकि अर्थ के प्राप्त होने पर भी रूपादि नहीं रहते। अर्थ प्राप्ति होते हुए युद्ध आदि में बाण आदि के लगने से रूपादि चले जाते हैं। प्रतिग्रह लेने से अर्थ प्राप्ति होने पर भी रूपादि नष्ट हो जाते हैं। यहां अर्थप्राप्ति, रूपादि विषय की विनाशिका होने के कारण, काम का नाश करने वाली मानी जायेगी। यदि यह माने कि भोग्य-निष्ठ रूपादि सम्पादन में अर्थ की आवश्यक्ता है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अपना अर्थ भोग्य के अधीन होने से रूपादि की प्राप्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ-नाश के द्वारा विषय ही कामजनक होता है। अर्थ के नाश होने पर काम मिलता है। वहां अर्थ विषय में उत्कर्ष उत्पन्न करके कामजनक नहीं होता। इसलिये वैपरीत्य हुआ अर्थात् कभी एक जगह काम-नाश है, कभी एक जगह अर्थनाश है।

यहां शंका होती है कि अपने अर्थ के भोग्याधीन होने पर भी अर्थ के द्वारा भोग्य स्त्री आदि रूप जो अर्थ हैं उसको स्वाधीन करने से स्त्री आदि से उत्कृष्ट विषय सुख की सिद्धि मिलती है। अतः अर्थ, कामजनक होता ही है। अर्थात् स्त्री रूप अर्थ में कामजनकता है, इससे अर्थ, काम जनक ही कहा जायेगा।

इसके समाधान में कथन है कि यदि स्त्री आदि रूप अर्थ का साधक होने से, धन को कामजनक माना जाये तो स्त्री को पुत्र रूप अर्थ प्राप्त होने पर स्त्री रूप का नाश होते देखा गया है। इसलिये वहां विषय नाश होने से काम का नाश भी हो जाता है। ऐसी स्थिति में वहाँ अर्थ से, धन से कामसिद्धि न होकर काम का नाश ही समझा जायेगा। इस तरह अर्थ, काम का नाशक है, उसका साधन नहीं। इस वस्तु व्यत्यास से, अर्थ से अर्थ की ही प्राप्ति हुई, काम की नहीं।

यहां शंका होती है कि जिसकी इच्छा की जाती है वह विषय ही अर्थ रूप है 'अर्थ्यते अभीप्स्यते' इति अर्थः– अर्थात् स्त्री आदि विषय ही यहां अर्थ रूप हैं और वह काम के साधक हैं। इसका उत्तर यह है कि अर्थ का यह यौगिक अर्थ है रूढ़ार्थ नहीं। योग मे रूढ़ी

बलवती है । इसलिये अर्थ शब्द स्त्री आदि विषय में प्रसिद्ध नहीं है । द्रव्य को ही अर्थ कहते हैं ।

यदि अर्थ को अर्थात् द्रव्य को 'परंपरया काम-जनक' मानेगें तो फिर इसे धर्मजनक भी मानना होगा । ऐसीस्थिति में अर्थ के साधक कर, दण्ड, चोरी आदि सब धर्मजनक कहे जाने लगेगें । तात्पर्य यह है कि परम्परा से जिस तरह अर्थ, काम का साधक है, उसी तरह परम्परा से कर, दण्ड, चोरी आदि भी अर्थ सम्पादक होने के कारण धर्म के साधक माने जायेगें । यह सब कथन असंगत है । लोक में कहीं कहीं अर्थ और काममे साहचर्य देखा गया है इसलिये अर्थ में काम-साधनता है । ऐसी प्रतीति होती है वस्तुतः अर्थ, कदापि काम का साधक नहीं है । यदि अर्थ ही काम का साधक होता तो अर्थ वाले अतिकृपण में भी काम की प्राप्ति मानी जायेगी किन्तु अर्थ होते हुए भी कृपण उससे वंचित ही रहता है और जिनके पास अर्थ नहीं है ऐसे पशु आदि में काम प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है । अतः यह कथन कि अर्थ काम का साधन है असंगत है । सन्यासी को, आत्मज्ञानी को, आत्मकाम, आप्तकाम कहा गया है, इसलिये भी यह मानना अनुचित है कि जहां अर्थ है वहां काम है । कृपण के पास अर्थ है किन्तु कामोपलब्धि नहीं है । आत्मज्ञानी के पास अर्थ नहीं है फिर भी आप्तकाम है । कृपण में अन्वय-व्यभिचार है, ज्ञानी में व्यतिरेक व्यभिचार है ।

कहीं कहीं अर्थ और काम का साहचर्य देखा गया है । तदनुसार इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव की प्रतीति होती है । इसका संकेत श्लोक के 'हि' पद से किया गया है ।

अब यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्यायसे, अर्थ को काम का साधन मान भी लिया तो भी यह विचार कर लेना चाहिये कि वह काम कितना और कैसा है ? यदि काम पद से जीवन-निर्वाह ही ग्रहण किया जाये तो ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त वह स्वतः सिद्ध है । वहां अर्थ की कोई आवश्यकता नहीं । यदि काम को इन्द्रियप्रीति रूप मानें तो अग्नि रूप होने के कारण– 'नजातु कामः कामानाम्' इस वचन के अनुसार, जैसे घृत से अग्नि तृप्त नहीं होती, उसी तरह काम से इन्द्रियों की तृप्ति कदापि सम्भव नहीं, अनुभव से भी यही सिद्ध है । काम की शान्ति के लिये काम में प्रवृत्त होने वाले भ्रांत हैं । यदि विषयों को, इन्द्रियप्रीति का कारण मानते हैं तो उसकी पूर्ति कभी नहीं होगी । विषय-भोग (काम) इन्द्रिय-प्रीति का हेतु नहीं होता ।

यहां जो लाभ पद है वह देहली दीपक न्याय से श्लोक के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों से अन्वित है । इसलिये चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने का क्रम - यहां साधन परम्परा के अनुसार इस तरह है अर्थात् काम रूप विषयों से (अन्नादि पदार्थों के सेवन से) अर्थ रूप जीवन सिद्ध होता है । जीवन रहने पर धर्म और ज्ञान होते हैं और इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है, तदनुसार काम, अर्थ,

धर्म और मोक्ष– इस तरह पुरुषार्थ का क्रम जानना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'जीवस्यतत्व-जिज्ञासा' यह कहा गया है। जीव से यहां जीवन समझना चाहिये। 'जीवनं जीवः'। अर्थात् जीवनतत्व जिज्ञासा का साधन है, जीवन का लाभ है 'तत्व विचार'। जीवस्य तत्वजिज्ञासा लाभः लाभ पद तत्व जिज्ञासा से अन्वित है। लौकिक कर्मों से साध्य जो काम और अर्थ है वह जीवन का लाभ नहीं है। धर्म केवल कर्म से साध्य नहीं है, किन्तु श्रुति-बोधिक कर्म से साध्य है। अथवा दैवगति से प्राप्त किया गया अर्थ भी जीवन के लाभ के लिये नहीं है। इसका निर्देश यहां 'च' कार से किया गया है ॥९–१०॥

**आभासः**—तत्त्वजिज्ञासेत्यत्र सन्देहः—तत्त्वानां जिज्ञासा तत्त्वस्य वेति ? तत्त्वपदेऽपि सन्देहः—तस्य भावस्तत्त्वमनारोपितं रूपं वा ? तस्य भाव इति पक्षे पूर्वोक्तस्याऽभावान्न किञ्चित्तत्त्वं स्यात् । समुदायपक्षेऽभ्रान्तज्ञानविषयत्वेन सर्वमेव तत्त्वं स्यात् । तत्त्वानां जिज्ञासेति तु साङ्ख्यपरिकल्पितानां मध्ये एकस्याऽपि जिज्ञासा कठिना । तत्त्वस्य जिज्ञासेति तु न सर्वेषामेकतत्त्वमस्ति । शास्त्राणामन्योन्यविरोधात् । तस्मात्कथं तत्त्वजिज्ञासेत्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थः**—यहां संदेह होता है कि तत्त्व-जिज्ञासा इसमें तत्व से बहुत से तत्वों की जिज्ञासा समझना चाहिये अथवा केवल एक तत्व की जिज्ञासा समझना चाहिये ? तत्व पद में भी 'तस्यभावस्तत्वं' उसका भाव यह अर्थ लेना चाहिये। अथवा अनारोपितरूप। यहां यह संदेह हैं। यदि यहां उसका भाव, यह अर्थ लेते हैं तो उसका भाव जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार का कोई तत्व नहीं है। यदि 'तेषांभावः' अनेकों का स्वरूप-भूततत्व ऐसा समुदाय पक्ष माने तो वह सभी अभ्रान्त पुरुषों के ज्ञान का विषय हो जाने के कारण 'समग्र वस्तुए ही तत्व' कहीजाने लगेंगी। अब यदि तत्व-जिज्ञासा में तत्वानां जिज्ञासा इस विग्रह के अनुसार सांख्य-शास्त्र द्वारा परिकल्पित तत्वों का ग्रहण करें तो फिर उनमें से एक तत्व की जिज्ञासा का भी विचार करना कठिन है। फिर अन्य तत्वों की जिज्ञासा का तो प्रश्न ही कहां ? तत्वस्य जिज्ञासा- यदि ऐहा अर्थ करें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि सभी शास्त्रों का एक ही समान तत्व नहीं है। शास्त्रों का उसमें परस्पर विरोध है। इसलिये यहां 'तत्व जिज्ञासा' से क्या समझना चाहिये ? इस संदेह का उत्तर देते हैं।

**श्लोक– वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।**
**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥**

**श्लोकार्थ**—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्– इस तरह शब्द के भेद से, पृथक् पृथक् नामों से व्यवहृत जो एक ही ज्ञान है– उसीको तत्व को जानने वाले तत्व कहते हैं ।११।

**सुबोधिनी— वदन्ति तत्तत्त्वविद इति** । यद्यपि सर्वे स्वस्वशास्त्रे तत्त्वविद इति प्रसिद्धास्तथापि प्रमाणबलविचारेण वेदानां सर्वोपजीवकत्वाद्वेदार्थविदस्तत्त्वविद इति मन्तव्यम् ननु सर्वेऽपि वेदार्थविदः । ऋषित्वात् । सत्यम् । तथाप्यन्योन्यविरोधात्केचनैव तत्त्वविद इति वक्तव्यम् । तत्र येष्वक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधस्ते तत्त्वविद इति मन्तव्यम् । न च ते न सन्त्येवेति मन्तव्यम् । वेदस्य प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । ते किं वदन्तीत्यत आह । यत्त्वद्वितीयं ज्ञानमिति द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वमित्यर्थः । तत्त्वज्ञानं मोक्ष इति सर्वजनीनत्वात् श्रुतिस्मृतिपुराणेषु तस्यैव नामभेद इत्याऽऽह क्रमेण—**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत इति** । शब्दमात्रं भिद्यते नत्वर्थभेदोऽस्तीत्यर्थः ।।११।।

**सुबधिनी अनुवाद**—यद्यपि सभी अपने शास्त्र में 'तत्ववेत्ता' नाम से प्रसिद्ध हैं तथापि प्रमाण-बल के विचार से सभी के लिये एक मात्र योग्य आश्रय 'वेद' ही है– तदनुसार वेद के अर्थ को जानने वाले ही तत्व के ज्ञाता हैं, यही स्वीकार करना चाहिये । तदनुसार यह कथन कि जो ऋषि लोग हैं उनमें से प्रत्येक ऋषि होने के कारण वेदार्थ का ज्ञाता माना जायेगा, यद्यपि यह सत्य है, तथापि परस्पर विरोध होने के कारण इनमें से कतिपय ऋषि लोग ही वेदार्थ के ज्ञाता हैं, सभी नहीं । इन ऋषिओं में से वही तत्व के ज्ञाता कहे जायेंगे जो वेद की श्रुतियों का आदि से अंत तक ऐसा अर्थ करें कि उनसे अविरुद्ध हो । यहां यह नहीं मान लेना चाहिये कि इस प्रकार से अर्थ को जानने वाला है ही नहीं, क्योंकि वेद रूप प्रमाण के विद्यमान होने से उसके जानकार भी होने ही चाहिये, और वे हैं ऋषि । उनका यह कथन है कि द्वैत– निवर्तक जो ज्ञान है वही तत्व है और तत्व-ज्ञान ही मोक्ष है– यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । वेदोक्त इसी अद्वैत-तत्व को श्रुति-स्मृति तथा पुराणों में क्रमशः ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् शब्द से कहा है । ये शब्द भिन्न भिन्न होते हुए भी एक ही हैं ।।११।।

**आभास :** तदेवं तत्त्वपर्यन्तं पदार्थानां स्वरूपं क्रमं चोक्त्वा फलितमाह—

**आभासार्थ :** इस प्रकार तत्व पर्यन्त पदार्थों का स्वरूप एवं क्रम बता कर संप्रति उससे क्या सिद्ध हुआ ? वह कहते हैं ।

**श्लोक– तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।**
**पश्यन्त्यात्मनि चाऽऽत्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ।।१२।।**

**श्लोकार्थ–** उस ब्रह्म-तत्व में श्रद्धा वाले मुनिगण, ज्ञान-वैराग्य युक्त श्रवण से उत्पन्न होने वाली भक्ति द्वारा अपनी आत्मा में भगवान् से साक्षात्कार करते हैं ।१२।

**सुबोधिनी— तच्छ्रद्दधाना इति ।** तत्तस्माद्धेतोः । तद्ब्रह्म वा । तत्रैवं क्रमः । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा फलमुक्तम् । तच्च साक्षात्कार इति पर्यवसितम् । तत्र विचारसहितप्रमाणेन यद्यपि निर्विचिकित्सं शाब्दज्ञानं भवति तथाप्यन्तःकरणदोषान्न साक्षात्कारः सिद्धचति । तदर्थं प्रथमं धर्मः । ततोऽन्तःकरणशुद्धौ वेदादिसत्प्रमाणे श्रद्धा । ततस्तदर्थस्य मननम् । ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कार इव ज्ञानम् । ततो विषयेषु वैराग्यम् । ततः श्रवणादिसाधनभक्तिः । ततः परमभक्तिः । ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपीत्यर्थः । आत्मानं तं भगवन्तमात्मरूपम् । तत्र यावत्साधनं साध्यस्थितिः । तत्र ज्ञानवैराग्ययोः सहभावनिरूपणाद्भक्तिर्मुख्या । तस्याः स्थितिहेतुमाह- **श्रुतिगृहीतयेति** । श्रुत्या हि गृहीता भवति । यथा यथा श्रवणं तथा तथा भक्तिस्थितिः । ततः सर्वमिति ॥ १२ ॥

सुबोधिनी अनुवाद : 'तच्छ्रद्दधाना' में 'तत्' का अर्थ– उस कारण से– अथवा ब्रह्म लिया गया है । वहां इस तरह के क्रम का निर्देश किया गया है कि जीवन का फल तत्व-जिज्ञासा है । उस फल का पर्यवसान भगवत् साक्षात्कार में होता है, अर्थात् जीवन का भगवत्साक्षात्कार अन्तिम फल है । यद्यपि विचारपूर्वक प्रमाण से शब्द के अर्थ का निःसंदिग्ध ज्ञान हो जता है तथापि अन्तःकरण के दोष से भगवत्साक्षात्कार सिद्ध नहीं होता । इसके लिये प्रथम धर्माचरण करना चाहिये । इससे अन्तःकरण के शुद्ध होने पर सत्प्रमाण-रूप वेदादि में श्रद्धा होती है । तदनन्तर वेद के अर्थ का मनन करना चाहिये, तत्पश्चात् निदिध्यासन द्वारा (हृदय में मनन को स्थिर रखने से) साक्षात्कार जैसा ज्ञान होता है । फिर बिषयों में वैराग्य होता है, तदनन्तर श्रवणादि साधन-रूप भक्ति होती है । इसके पश्चात् परम भक्ति का उदय होता है । तत्पश्चात् हृदय में तथा बाहर भी सर्वत्र भगवत्साक्षात्कार होता है । यहां 'आत्मानम्' पद से 'आत्मरूप भगवान् समझना चाहिये । यहां उपर्युक्त क्रमानुसार जब तक साधन रहते हैं तब तक प्रभु का साक्षात्कार होता है । श्लोक के 'ज्ञान' वैराग्ययुक्तया' में ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति कही गई है । अतः यहां ज्ञान वैराग्य अप्रधान है और भक्ति मुख्य है । भक्ति की स्थिति में हेतु का निर्देश करते हैं कि श्रुतिगृहीतया जैसे जैसे भगवद् गुण का श्रवण किया जायेगा वैसे वैसे भक्ति का उदय होता जायेगा । तदनन्तर सब कुछ सम्पन्न हो जाता है ।१२।

**आभास :** एवं द्वितीयप्रकारेण ज्ञानमुक्तम् । तत्र द्वितीये धर्मस्य सम्बन्धमाह—

**आभासार्थ :** इस तरह दूसरे प्रकार से ज्ञान कहा । यहां इस ज्ञान से, धर्म का जो सम्बन्ध है, उसका निरूपण करते हैं—

**श्लोक– अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।**
**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ।।१३।।**

**श्लोकार्थ**—इसलिये हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ शौनकादि ! वर्णाश्रम विभाग के अनुसार मनुष्यों द्वारा अच्छी तरह आचरित जो धर्म है उसकी उत्तम सिद्धि है– भगवान् का प्रसन्न होना ।

**सुबोधिनी—अतः पुम्भिरिति** । धर्मसामान्यस्य प्रथमे साधनता उक्ता । विशेषस्य तु द्वितीये । यतो भगवत्प्रसादव्यतिरेकेण नाऽन्तःकरणशुद्धिर्न वा रुचिरतो धर्मस्य मुख्यं फलं भगवत्प्रसादः । बीजसंस्कारसंस्कृताः कुर्वन्ति । धर्मपोषकभगवदिच्छया वा । "ममैव कामो भूतानामि" ति वाक्यात् । **पुम्भिरिति** कर्मणि प्रयोगेणैतज्ज्ञापितम्—अनुष्ठाने कर्मैवाऽपक्षीणं न कर्तेति । तदैव हि भगवत्प्रसादः । अन्यथा कर्मणैव फलमिति । **द्विजश्रेष्ठा इति** । द्विजेभ्यः श्रेष्ठास्त्रिजन्मानः । अनेन भवद्भिः क्रियमाणेन कर्मणा भगवांस्तुष्यतीति सूचितम् । वर्णधर्माः शमादयः कालद्रव्ययज्ञादिभेदा वा । गुरुशुश्रूषादय आश्रमधर्माः । शस्प्रत्ययेन च परधर्माः निवारितः तेन च "**विधर्मः परधर्मश्चे**" ति दोषो निवारितः । सम्यगनुष्ठानं कालादिभिः षड्भिः शुद्धैर्ज्ञात्वाऽनुष्ठानम् । स एव वा धर्मः । "**अधर्मो ह्यन्यथा भवेदि**" ति वाक्यात् । सम्यक्सिद्धिः फलम् । यद्यपि "**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठे**" त्यादिश्रुत्या बहूनि धर्मस्य फलानि सन्ति तथापि भगवांश्चेत्तेन परितुष्यति तदा सफलो नो चेद्धर्मो व्यर्थः इत्यर्थः । आत्मार्थं हि सर्वम् । सर्वेषामात्मा च भगवान् । "**येषां न तुष्टो भगवानि**" ति वाक्यार्थो हिशब्देन सूचितः ।।१३।।

**सुबोधिनी अनुवाद**—प्रथम प्रकार के ज्ञान में सामान्य धर्म की साधनता का निरूपण किया गया । अब दूसरे– प्रकार के ज्ञान में विशेष धर्म की साधनता का विवेचन करते हैं । क्योंकि भगवत् कृपा के विना न तो अन्तः करण शुद्ध होता है और न रुचि ही उत्पन्न होती है । इसलिये धर्म का मुख्य फल है– 'भगवत्प्रसाद' । इस प्रकार का धर्माचरण वही कर सकते है जिनका शरीर उपनिषदोक्त पञ्चाग्नि-विद्या के संस्कार से सुसंस्कृत हो गया है अथवा भगवान् जब धर्म-पोषण की इच्छा करते हैं, तब भी ऐसा धर्माचरण होता है क्योंकि भगवद्-इच्छा ही प्राणियों को प्रेरित करती है-'ममैव कामो भूतानाम्' इस वाक्य से भी यही कहा गया है । श्लोक में 'पुम्भिः' मनुष्यों द्वारा अनुष्ठित धर्म– इस कर्मणि प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि अनुष्ठान में कर्म ही विकृत होता है, कर्ता नहीं । जैसे– 'देवदत्तेन ओदनं पच्यते'– यहां कर्मणि प्रयोग में तंदुल कर्म को ही क्रिया का, पच्यते का, खिन्नता रूप फल प्राप्त होता है– कर्ता रूप देवदत्त को नहीं । इसी तरह यहां उत्तम रूप से अनुष्ठित किये गये धर्म में ही उत्तम-रूपता का फल होता है । धर्म ही उत्तम बनता

है कर्ता उसकी प्रतिष्ठा का फल नहीं चाहता। इस तरह जब धर्म उत्तमतया अनुष्ठित होने पर उत्तमरूपता से सम्पन्न होता है तब भगवत्कृपा प्रसाद होता है। यदि इस प्रकार से धर्म का अनुष्ठान नहीं करके किसी कामना से धर्म किया जाये तो वहां भगवत्प्रसाद न होकर, जो कर्ता चाहता है वही फल मिलता है। अर्थात् कामना रहित धर्मानुष्ठान से धर्म ही अच्छा उत्तम बनता है। वहां कर्ता को लौकिक फल नहीं मिलता। इस तरह धर्मा-चरण से कर्ता को भगवत्प्रसाद रूप फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि इस प्रकार से कामना रहित धर्माचरण न किया जाये तो कर्म से ही काम्य फल मिलता है भगवत्प्रसाद नहीं।

द्विजश्रेष्ठाः– यहां श्रेष्ठ पद से यह सूचित किया गया है कि आप द्विजों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आपके तीन जन्म हुए हैं, प्रथम ब्राह्मण से, फिर यज्ञोपवित संस्कार से और फिर ज्ञान सहित भक्ति से। इस तरह त्रिप्रकार से संस्कृत होने के कारण आप त्रिजन्मा हैं। इसलिये आप द्वारा समाचरित कर्म से भगवान् प्रसन्न रहेंगे।

शम, दम, तप, शौच आदि वर्ण धर्म हैं अथवा कालयज्ञ ( अग्निहोत्रादि ), द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, आदि गीता में कहे गये भी वर्ण धर्म हैं। गुरु सेवा आदि आश्रम धर्म हैं। यहां श्लोकोक्त 'वर्णाश्रमविभागशः' में जो 'शस्' प्रत्यय है उसका 'मंगल' अर्थ है। इसके द्वारा अन्य धर्म का पर-धर्म का निवारण किया गया है– सप्तमस्कंधोक्त विधर्म परधर्म आभास, उपमा तथा छल– अधर्म की इन पांच शाखाओं के दोष का निवारण किया गया है। अर्थात् स्वधर्म का पालन करें, परधर्म का नहीं। क्योंकि स्वधर्म ही 'मंगलकारक' है– परधर्मो भयावहः विधर्मः परधर्मश्च- परधर्म विधर्म है, अमंगलकर है अतः उसका पालन नहीं करना चाहिये।

स्वनुष्ठितस्य– काल, द्रव्य, कर्ता, मंत्र, देश तथा कर्म– इन छहों की परिशुद्धिपूर्वक समझ कर अनुष्ठान करना चाहिये तभी यह सम्यक् अनुष्ठान कहलायेगा। इस तरह से अनुष्ठित ही धर्म कहलाता है अन्यथा अधर्म होता है। ऐसे धर्म की संसिद्धि– सम्यक्फल– भगवद् परितोष है। 'धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'– धर्म से ही सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है। इस श्रुति के अनुसार यद्यपि धर्म के बहुत से फल हैं तथापि यदि भगवान् उससे परितुष्ट होते हो तभी वह धर्म फल कहा जायेगा–नहीं तो वह धर्म व्यर्थ है। क्योंकि धर्म आदि का सब फलआत्मा के लिये है और सब की आत्मा भगवान् है। तदनुसार 'येषांन तुष्टो भगवान्' जिससे भगवान् प्रसन्न नहीं हुए उसका सब व्यर्थ है। अर्थात् जो आत्मरूप भगवान् को प्रसन्न करने के लिये धर्माचरण नहीं करता वह कृतघ्न है और कृतघ्न द्वारा आचरित धर्म का फल कुछ नहीं होता। यहां 'ह्यातमतोषण' में 'हि' अव्यय इसी आशय का निर्देश करता है।।१३।।

**आभास** : तत्रैवं सन्देहः—बहवो वर्णाश्रमविभागेन धर्मान्कुर्वन्ति । न च तेषु भगवच्छास्त्रानुसारिणी भक्तिरुपलभ्यते अतो ज्ञायते, भगवान्न परितुष्ट इति । तथाच कर्मकरणदशायां व्यभिचारदर्शनात्कथं निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिः ? अतो येषु धर्मेषु न व्यभिचारस्ते विशेषेण कर्तव्या इत्याह—

**आभासार्थ** : यहां यह संदेह होता है कि बहुत से लोग वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्माचरण करते हैं परन्तु उनमें गीता, भागवत आदि भगवद्-शास्त्रोक्त भक्ति नहीं देखी जाती । इससे ज्ञात होता है कि भगवान् उनसे सन्तुष्ट नहीं हुए । यदि भगवान् प्रसन्न होते तो भक्ति भी अवश्य होती । अतः धर्माचरण करते हुए भी जब भक्ति रूप फल नहीं दिखाई देता तो फिर उनकी वर्णाश्रम धर्म में निःसंदिग्ध प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती है ? इस संदेह के निराकरणार्थ यहां जिन धर्मों के करने से भक्ति अवश्य होती है उन धर्मों को विशेष रूप से करना चाहिये, इसी के विवेचनार्थ कहते हैं :—

**श्लोक– तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।**
**श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ।।१४।।**

**श्लोकार्थ**— इसलिये एकाग्र मन से व्यग्रतारहित मन से, भक्तों के पति भगवान् का नित्य श्रवण, कीर्तन, ध्यान तथा पूजन करना चाहिये ।।१४।।

**सुबोधिनी—तस्मादिति** । यस्मादन्यत्र व्यभिचारोऽपि सम्भवत्यतः श्रवणादिकमेव कर्तव्यम् । श्रवणादिकमपि धर्मः । "**शृणुयाच्छ्रावयेदि**" ति विधिस्पर्शात् । **एकेन मनसेति** । वैयग्र्याभावयुक्तेन । श्रवणस्य यथा न व्यभिचारस्तथाऽग्रे वक्ष्यति । अन्यधर्मपरित्यागो वा सूच्यते—**एकेनेति** ।**भगवानिति** । श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद्ब्रह्मणः । तथापि वैष्णवशास्त्रानुसारेणैतदेव सूचयति—**सात्वतां पतिरिति** । शुद्धे सत्वे आविर्भूतः सात्वो भगवान् । स वर्तते येषां ते सात्वन्तः तत्र "**बहुलं छन्दसी**" ति वकारलोपस्तेषामलौकिकत्वाय । तेषां पतिः सर्वनिर्वाहकः । स्वस्याऽपि तथात्वे न काचिच्चिन्तेति भावः । **श्रवणादीनां** सुलभत्वाय वा । यतः स्वपतिः सर्वैरेव श्रूयते कीर्त्यते च । इदं च श्रवणादिकं धर्मरूपम् । प्रकरणात् । द्वितीयस्कन्धे तु भक्तिरूपो वक्ष्यते । भगवद्वाचकैः पदैर्वाक्यैश्च भगवति शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः **श्रवणम्** । शक्तितात्पर्यनिर्धारबोधनं **कीर्तनम्** । तथा ज्ञातानां वा स्वत एवोच्चारणम् । उभयं सङ्गृहीतं चकारेण । अन्योन्यनिर्वाहकत्वं च । तदग्रे वक्ष्यते । इदं द्वयं बाह्येन्द्रियसाध्यम् । आन्तरमाह—**ध्येयः पूज्यश्चेति** । **ध्यानं** भगवति चित्तस्थिरीकरणम् । भगवन्मूर्तेरनुसन्धानं वा । पूजा बाह्यान्तरभेदेन द्विधा चका-

रेण सङ्गृहीता । व्यासङ्गान्तराभावाय—नित्यदेति । तस्मादयमेव मुख्यो धर्मस्सर्वथा कर्तव्य इति ॥१४॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—वर्णाश्रम विभाग के अनुसार धर्म करने पर भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिये जिनसे भगवत् प्रसाद तथा भगवद् भक्ति निःसंदेह प्राप्त होती है, ऐसे श्रवण, कीर्तनादि धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। यदि यह कहा जाये कि विधि-विहित नहीं होने से श्रवणादि धर्म नहीं हैं तो यह उचित नहीं है। क्योंकि श्रृणुयात्-श्रावयेत् इत्यादि वाक्यों से श्रवण-कीर्तन आदि भी विधि-बोधित होने के कारण धर्म हैं।

ऐकेनमनसा– व्यग्रता रहित मन से यदि श्रवणादि किये जायें तो भक्ति अवश्य उत्पन्न होती है। वहां फल का कभी व्यभिचार नहीं होता। यही बात अग्रिम प्रसंग में कहेंगे। अथवा एकेन द्वारा श्रवणादि के अतिरिक्त अन्य धर्म के परित्याग का निर्देश किया गया है। यहां श्रवण, जीव का नहीं, अपितु साक्षात् ब्रह्म का करना चाहिये, इसलिये भगवान् शब्द का यहां प्रयोग किया गया है। वैष्णवशास्त्र के अनुसार भी यही सूचित होता है और इसीलिये श्लोक में 'सात्वतांपतिः' का प्रयोग किया गया है। सात्वतांपतिः– शुद्ध सत्व में आविर्भूत होने वाले भगवान् को सात्व कहते हैं। ऐसे भगवान् जिसमें स्थित हों उसको– उस भक्त को सात्वत् कहते हैं। यद्यपि यहां व्याकरण के नियमानुसार 'मतुप्' प्रत्यय से शुद्ध प्रयोग सात्ववत् बनता है तथा इसकी षष्ठी सात्ववतः बहुवचन में सात्ववतो–होती है परन्तु बहुलंछंदसि–के अनुसार यहां व का लोप, भक्तों की अलौकिकता के निर्देशार्थ किया गया है। जिस प्रकार यह छांदस् प्रयोग व्याकरण के नियमों से ऊपर है उसी प्रकार भक्तगण भी लौकिक से अतीत अलौकिक हैं। वस्तुतः यहां सात्वतां का अर्थ वही है जो सात्ववतां का है। दोनों पदों का अर्थ एक ही है। भक्तों के पति। जो सर्वस्व देकर भी स्वकीय की रक्षा उसका निर्वाह करता है वही पति है। पति परम आनन्द का प्रदाता है। इसी अर्थ में भगवान् भक्तों के पति हैं। और यदि वे हमारे भी पति बन जायें तब किसी भी प्रकार की चिन्ता को अवकाश ही कहां? अथवा अपने पति के गुणों का श्रवण अत्यन्त सुलभ होने के कारण यहां पति शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि अपने पति से सम्बन्धित बातें सभी सुनते हैं और सुनाते भी हैं। यहां धर्म का प्रकरण चल रहा है अतः यह श्रवण-कीर्तन-ध्यान तथा सेवा आदि धर्म रूप हैं तथा द्वितीय स्कन्ध में 'तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्' आदि से कहे गये श्रवण कीर्तनादि भक्ति रूप हैं।

भगवद् वाचक पदों और वाक्यों द्वारा भगवान् में शक्ति– तात्पर्य के निर्णय को श्रवण कहते हैं। शक्ति तात्पर्य के निर्णय को कहना कीर्तन कहलाता है। अथवा जाने हुए भगवद् गुणों

का स्वतः उच्चारण करते रहना कीर्तन है। कीर्तितव्यश्च– यहां चकार से श्रवण तथा कीर्तन दोनों का ग्रहण किया गया है दोनों ही करते रहना चाहिये। विना श्रवण के कीर्तन तथा विना कीर्तन के श्रवण नहीं हो सकता– क्योंकि दोनों एक दूसरे के निर्वाहक पूरक हैं ग्रौर इस विषय में ग्रग्रिम प्रसंग पर हम कहेंगे। श्रवण तथा कीर्तन बाह्य इन्द्रियों से किये जाते हैं– ध्यान तथा पूजन ग्रान्तर इन्द्रियों से साध्य हैं। भगवान् में चित को स्थिर करने का नाम ध्यान है ग्रथवा भगवन्मूर्ति का ग्रनुसंधान भी ध्यान है। 'पूज्यश्च' में चकार से बाह्य तथा ग्राभ्यंतर मानसी भेद से दो प्रकार की पूजा ग्रहण की गई है। 'नित्यदा' ये यह बताया है कि ग्रन्य कोई प्रकार की ग्रासक्ति न रखकर ग्रथवा ग्रन्य किसी भी कार्य में संलग्न न रह कर सदा ध्यान तथा पूजन करते रहना चाहिये ।।१४।।

**ग्राभास** : ननु तथापि रुच्यभावात्कथमेतत्सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

**ग्राभासार्थ** : ऐसा होते हुए भी यदि रुचि ही न हो तो फिर श्रवण कीर्तनादि कैसे होंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

**श्लोक– यदनुध्याऽसिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।**
**छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ।।१५।।**

**श्लोकार्थ**– उस भगवान् की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा, जिसके ध्यान से, जिसके ध्यानरूपी ग्रसि से, खड्ग से सज्ज निपुण पुरुष कर्म तथा कर्मग्रंथि के बन्धन को काट डालते हैं।१५।

**सुबोधिनी—यदनुध्याऽसिनेति** । सर्वत्राऽलौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद्रुचिरुत्पद्यते । तत्र भगवच्छास्त्रस्याऽप्रसिद्धावपि योगादीनां प्रसिद्धत्वाद्भगवद्ध्यानं प्रसिद्धम् । तस्याऽप्येवं माहात्म्यमङ्गभूतस्याऽपीत्यसिपदप्रयोगः । यस्याऽनुध्यानमेवाऽसिः । न चाऽपि तेन भगवत्प्रसादः । किन्तु तेनैव युक्ताः कर्म च्छिन्दन्ति । कर्मसु विद्यमानेषु जन्माऽनुच्छेदात् । तेषां चाऽभुक्तानामक्षयात् । भोगेन वा तत्क्षये तद्धेतुना पुनः कर्मान्तरार्जनात्कर्मविच्छेदः कठिनः । तदपि ध्यानेन भवतीति छिन्दन्तीत्युक्तम् । ननु किं कर्मच्छेदमात्रेण । जीवभावस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—**ग्रन्थिनिबन्धनमिति** । ग्रन्थिरविद्यया चिदचिद्ग्रन्थिः । मोहग्रन्थिश्च । तन्नितरां बध्नातीति ग्रन्थिनिबन्धनम् । पूर्वं वासनारूपेण विद्यमानस्य कर्मणैव दृढीकरणम् । ग्रतस्तदभावे सोऽपि गमिष्यतीति भावः । घुणाक्षरन्यायं वारयति बहुवचनम् । ग्रत्र हि नैपुण्यमपेक्ष्यते । ग्रनुध्यानस्याऽन्यत्र विनियो-

गसम्भवात् । अतो योगसिद्धिमनपेक्ष्य ज्ञानेनाऽविद्यामेव निवर्तयन्ति ते कोविदाः । तत्र ध्यानस्य स्वतो माहात्म्यजनकत्वं नास्ति । विषयध्यानस्य सुतरां बन्धहेतुत्वात् । अतो भगवन्माहात्म्येनैव तस्य तथात्वमित्याह—**तस्येति** । तादृशस्येत्यर्थः । यत्र तद्धर्मेणाऽपि कार्यसिद्धिस्तत्र यदा कथाभिः स एव चित्ते युक्तो भवतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**को न कुर्यादिति** । अकर्त्तॄणां माहात्म्यज्ञानाभावः ।१५।

**सुबोधिनी अनुवाद**— अलौकिक पदार्थो में उनके माहात्म्य-श्रवण से ही, सर्वत्र रुचि उत्पन्न होती है । यद्यपि भगवत् शास्त्र इतना प्रसिद्ध नहीं है- तथापि योग आदि प्रसिद्ध होने के कारण भगवद् ध्यान प्रसिद्ध है । भक्ति के अंगभूत योग के महत्व को बताने के लिये, ध्यान को यहां असि-खड्ग कहा है अर्थात् भगवान् का ध्यान ही खड्ग है । यहां यह नहीं मानना चाहिये कि भगवद् ध्यान रूप तलवार से भगवत्प्रसाद प्राप्त किया जाता है किन्तु इस ध्यान रूप खड्ग से सुसज्ज व्यक्ति कर्मको काट डालने में समर्थ होते हैं । जबतक कर्म है, तबतक जन्म-मरण का उच्छे-दन नहीं किया जा सकता । जब तक कर्मों का भोग नहीं किया जायेगा' तब तक उनका क्षय नहीं होगा । अब कर्मों को भोग कर यदि उनका क्षय करें तो उनका उपभोग करते हुए पुनः दूसरे कर्म एकत्रित हो जाते हैं अतः कर्मों का उच्छेदन अत्यन्त कठिन है फिर भी ध्यान से यह सम्भव है । भगवान् का ध्यान करने से कर्मो का छेदन हो जाता है इसीलिये यहां 'छिन्दन्ति' ऐसा कहा है ।

यहां शंका होती है कि केवल कर्मों के छेदन से क्या होगा ? जब जीव भाव विद्यमान है तब केवल कर्मों के न रहने से क्या फल होगा ? इसका उत्तर यह है कि 'ग्रंथिनिबन्धनम्' भगवान् की अविद्या नामक शक्ति द्वारा चिद्. अचित् ग्रंथि का तथा मोहग्रंथि का निरन्तर निर्माण सम्बन्ध कराने वाले ये कर्म ही हैं । प्रथम से ही वासना रूप से विद्यमान जो चिद्-अचिद् अथवा मोहग्रंथि है उसको कर्म ने ही दृढ़ किया है इसलिये कर्मों के नाश होने पर जीव भाव भी अपने आप निवृत्त हो जाता है ।

यहां यह शंका की जाती है कि 'घुणाक्षर-न्याय' के अनुसार जिस तरह कीट द्वारा कर्तित बांस पर कभी कभी अप्रत्याशित रूप से अक्षर उभर आते हैं ऐसा कभी विरल अवस्था में ही घटित होता है उसीतरह कदाचित् किसी एक व्यक्ति का कर्म-च्छेदन हो गया तो इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इसी प्रकार से सभी के कर्मों की निवृत्ति हो जायेगी । इस शंका के समाधान में यह कथन है कि यहां घुणाक्षर-न्याय जो कादाचित्क है, लागू नहीं पड़ता यहां तो भगवद् ध्यान से सभी व्यक्तियों की कर्म ग्रंथि निवृत हो जाती है और इसीलिये यहां 'कोविदाः' इस बहुवचनान्त-पद का प्रयोग किया गया है ।

'कोविदाः' पद से यह भी सूचित होता है कि यहां ध्यान में निपुणता अपेक्षित है यदि ध्यान में निपुणता न हो तो किसी फल की कामना से किये गये उस ध्यान का योग-सुलभ किसी अणिमा-महिमा जैसी सिद्धि में, विनियोग हो सकता है । तदनुसार योग-सुलभ-सिद्धियों की अपेक्षा न रख कर जो व्यक्ति ज्ञान से अविद्या को ही निवृत्त करते हैं वही कोविद-निपुण कहलाते हैं ।

यहां केवल ध्यान का अपने आप में कोई माहात्म्य नहीं है, क्योंकि विषयों का ध्यान नितांत बन्धनकारक है । ध्यान का महत्व भगवद् माहात्म्य से है अर्थात् भगवद् ध्यान में ही, ध्यान का माहात्म्य है, हर किसी के ध्यान में नहीं । जहां भगवद् ध्यानरूप धर्म से ही कर्म बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं वहां भगवत्कथाओं द्वारा तो वही भगवान् हृदय में निरन्तर निवास करते हैं । ध्यान से भी उत्तम इस प्रकार की कथा में कौन प्रीति नहीं करेगा ? जो कथा में प्रीति नहीं रखते उनको कथा के माहात्म्य का जरा भी ज्ञान नहीं है ।।१५।।

**आभासः**— एवं द्वितीया भक्तिर्निरूपिता । एवं ज्ञानभक्ती मध्यमे निरूप्य, उत्तमे निरूपयति **शुश्रूषोरित्यादिसप्तभिः**—

**आभासार्थः**— इस तरह भतवत्तोष-पर्यन्त भगवत्कथा श्रवणादिरूप धर्म परम्परा द्वारा, द्वितीय प्रकार की भक्ति का निरूपण किया गया । इस प्रकार मध्यम ज्ञान और भक्ति का विवेचन करके संप्रति 'शुश्रूषोः श्रद्धानस्य'– इत्यादि से अग्रिम सात श्लोकों में उत्तम ज्ञान और भक्ति का निरूपण करते हैं—

**श्लोक– शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।**
**स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**— हे विप्रो ! पवित्र तिर्थो का सेवन करने से, तथा भक्तों की परिचर्या पूर्वक उनमें तथा उनके धर्मो में श्रद्धा रखने वाले श्रवच्णेछुकों को वासुदेव की कथा में प्रीति रुचि होती है ।१६।

**सुबोधिनी**— अत्र हि फलमुखानि साधनानि निरूप्यन्ते येषु व्यभिचारशङ्काऽपि नास्ति । वैराग्यं च हेतुः । तत्राऽयं क्रमः । आदौ गृहत्यागेन तीर्थपर्यटनम् । अन्यथा महत्सेवायामुद्वेगः स्यात् । ततो महत्सङ्गः । ततस्तेषां सेवा । ततो भगवत्कथाश्रवणम् । ततः कथारुचिः । ततः कथायान्तेषु च श्रद्धा । ततः शुश्रूषेति । एवमेतादृशधर्मेण स्वरूपोपकारेणाऽव्यभिचारिणी शुश्रूषोत्पद्यते । अत्र

पूर्वपूर्वसाधनानां दृढत्वान्नोत्तरेषां निवृत्तिः तादृशाधिकारो दुर्लभ इति सूचितम् । शुद्धसत्त्वे ह्याविर्भूतस्य श्रवणे सद्यश्चित्तप्रसाद इति **वासुदेवेत्युक्तम्** । अस्याऽङ्गीकाराय महत्पदप्रयोगः पुण्यरूपं तीर्थं पुण्यतीर्थम् । कुरुक्षेत्रं गङ्गा च । तयोर्नितरां सेवनं देववज्जलस्य सेवनम् । नत्ववहेलनं कथञ्चिदपि ॥१६॥

**सुबोधिनी अनुवादः**— इस श्लोक में उन फलोन्मुख साधनों का निरूपण है जिनमें फलाभाव की शंका ही नहीं– जिनसे निश्चय फल सिद्धि होती है । भक्ति में वैराग्य ही कारण है जिसका क्रम इस प्रकार है– प्रथम घर के त्यागपूर्वक तीर्थाटन करना अन्यथा अर्थात् ऐसा न करने से महापुरुषों की सेवामें उद्वेग संभव है । फिर महापुरुषों की संगति होती है, तदनन्तर उनकी सेवा करने का तथा उनसे भगवत्कथाश्रवण का सहज अवसर मिलता है । फिर कथा में रुचि उत्पन्न होती है फिर कथा में तथा उन भगवदीयों में श्रद्धा का उदय होता है । इस तरह भक्ति के स्वरूप में उपकारक ऐसे धर्माचरण से अव्यभिचारिणी-अनन्य केवल भगवत्कथा की ही श्रवणेच्छा जन्म लेती है । इस तरह वैराग्य, महत्संग, सेवा, भगवत्कथाश्रवण आदि पूर्व पूर्व में आचरित साधनोंके दृढ़ होने से आगे आगे के उत्तरोत्तर साधन भी स्थिर होते जाते हैं । उनकी निवृत्ति कभी संभव नहीं है । अर्थात् इस प्रकार के अधिकार की प्राप्ति दुर्लभ है । यहां वासुदेव पद से यह कहा गया है कि चित्त के शुद्ध-सत्व से युक्त होते ही उसमें भगवान् का आविर्भाव होता है तथा इसतरह आविर्भूत भगवान् की कथा के श्रवण से तत्काल चित्त में प्रसन्नता का उदय होता है । श्लोकस्थ 'महत्सेवया' में 'महत्' पद से भगवदाश्रित भक्तों का ग्रहण किया गया है और ऐसे भगवदीयों के आश्रय से अथवा उनकी परिचर्या करने से, किरात, हूण, अन्त्यज आदि का भी अंगीकार हो जाता है ।

पुण्यतीर्थ निषेवणात्– यहां पुण्य तीर्थ पद से पुण्यरूप जो तीर्थ हैं, उनका ग्रहण किया है, जैसे कुरुक्षेत्र, गंगा आदि । इनके जल का देवता की तरह सेवन करने से अथवा कभी भी उनकी अवहेलना न करने से, भगवत्कथा में रुचि उत्पन्न होती है ॥१६॥

**आभास** : ततः किमत आह—

**आभासार्थ** : इसके अनन्तर क्या होता है ? उसको कहते हैं–

**श्लोक– शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**
**हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥**

**श्लोकार्थं**— जिनके श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप हैं तथा जो सत्-पुरुषों के मित्र हैं ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कथा का श्रवण करने वालों के हृदय में रहते हुए उनके (भक्तों के) पापों को विदीर्ण कर देते हैं ॥१७॥

**सुबोधिनी— शृण्वतामिति**। एतादृशसाधनेनोत्पन्नायां शुश्रूषायां न श्रवणादिनिवृत्तिः कदाचिदपीति शृण्वतामित्युक्तम्। **स्वकथा इति**। स्वरूपभूताः कथाः। स्वीयकथात्वे भगवतः स्वतन्त्रत्वान्न कार्यकरणं सम्भवति। कथाया अपि स्वतो माहात्म्ये तु तयैव वशीकृतः सर्वं कुर्यादिति। एतादृशकथाबाहुल्यं कृष्णावतार एवेति **कृष्ण** इत्युक्तम्। भक्तियोगविधानार्थं चाऽवतारः निरन्तरमुत्पन्नानां पापानां निवृत्तौ नाऽन्यदपेक्ष्यते साधनं किन्तु श्रवणकीर्तनाभ्यामेव भवतीति, शुद्धं हृदयं भगवान्प्रविशतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**पुण्यश्रवणकीर्तन इति**। श्रोतृवक्तृदोषैर्न श्रवणकीर्तने सम्बध्येते अपहतपाप्मत्वात्तयोः। ततश्च श्रवणकीर्तने उत्पद्यमाने पापसामानाधिकरण्ये (?) नोत्पद्येते एव। सूर्योदयसम्भावनायामेव तमोनिवृत्तिवच्छ्रवणसम्भावनायामेव पापनिवृत्तिरित्यर्थः। बहिः स्थितस्याऽन्तः कार्यकरणाऽसम्भवादिच्छामात्रेण तत्करणे लोकानां प्रतीत्यभावेनाऽभजनापत्तेर्दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया असम्भवात्सर्वत्र स्थितस्य क्लेशाऽभावाच्च हृद्यन्तःस्थित एव करोति। हृदये हि केचन पदार्था बहिःस्थिता अपि भवन्ति। केचनान्तःस्थिताः तत्र येषु विस्मरणसम्भावना ते बहिःस्थिताः। प्रकृते भगवतो विस्मरणसम्भावनाऽपि नास्तीत्यन्तःस्थित इत्युक्तम्। तादृशस्य तथा करणमुचितमिति भावः। अभद्राणि कामादीनि। पापस्य पूर्वमेव निवृत्तत्वात्। विशेषेण धूननं शिथिलीकरणम्। यथा जलकश्मलवत्पुनर्मेलनं न भवति तथेत्यर्थः। तथाचाऽस्मिन्पक्षे प्रथमशृङ्खला स्वसाध्या द्वितीया भगवत्साध्या। तदैव तृतीया स्वस्मिन्भवतीति क्रमेण बोध्यते। कामादीनामशिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यत इति। ननु भगवत एवं करणे को हेतुस्तत्राऽऽह—**सुहृत्सतामिति**। सुहृत् सहकार्यकर्ता। मित्रमिति यावत्। सुहृद्भिः श्रवणाद्युपदेशेन प्रथमपरम्परायां कृतायां द्वितीयां चेद्भगवान्न कुर्यात्तदा मित्रत्वं भज्येतेति ॥१७॥

**सुबोधिनी अनुवाद**— इस प्रकार के साधनों से भगवत्कथा श्रवण करने की इच्छा के एक बार उत्पन्न हो जाने पर वह कभी निवृत्त नहीं होती और इसीका निर्देश करने के लिये 'शृण्वतां' में वर्तमान काल के सूचक 'शत्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है– क्योंकि यह श्रवणक्रिया निरन्तर वर्तमान ही रहती है। स्वकथा का अर्थ है, भगवत्स्वरूपात्मक कथा स्वरूपभूत कथा। स्वकथा का अर्थ 'भगवान् की कथा' करें तो यहां भगवान् की स्वतंत्रता होने से वे श्रोता के हृदय में प्रवेश करें या न भी करें, ऐसी अनिश्चितता से फल की संभावना नहीं रहती, फल मिले भी, न भी मिले, अनिष्ट की निवृत्ति में संशय ही बना रहेगा। तदुपरान्त भगवान् की कथा इस अर्थ से यह

भी सूचित होता है कि कथा का स्वयं में कोई महत्व नहीं। भगवान् से सम्बन्धित होने के कारण उसका महत्व है। अतः स्वकथा का अर्थ है स्वरूप-भूत-कथा। यहां कथा का अपना स्वतन्त्र माहात्म्य होने से भगवान् उस कथा के अधीन रहते हुए सबके अभद्रों का नाश कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कथा में और भगवान् में कोई भेद नहीं– दोनों एक ही हैं।

भगवान् को वश में करने वाली इस प्रकार की कथाओं का बाहुल्य कृष्णावतार में ही है, तदुपरान्त कृष्णावतार मुख्यतः भक्तियोग के विधानार्थ ही है। यह सूचित करने के लिये यहां कृष्ण पद कहा है। निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाले जिन पापों की निवृत्ति में अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, उन पापों की निवृत्ति भगवत्कथा के केवल श्रवण कीर्तन से ही हो जाती है। शुद्धहृदय मे ही भगवान् प्रवेश करते हैं– 'पुण्यश्रवण कीर्तनः' से यही अभिप्राय है। आशय यह है कि श्रोता तथा वक्ता के दोष युक्त होते हुए भी श्रवण-कीर्तन कभी दोषयुक्त नहीं होते, पुण्य रूप ही रहते हैं। क्योंकि श्रवण-कीर्तन भगवान् की तरह ही अपहत-पाप्मा पुण्यरूप ही हैं। श्रवण कीर्तन के होते हुए पाप रहते ही नहीं। सूर्योदय की संभावना से हो जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार श्रवण कीर्तन की संभावना होते ही पाप की निवृत्ति हो जाती है।

बहिःस्थित भगवान् का हृदय के भीतर कार्य करना असम्भव है। यदि इच्छा मात्र से हृदय में भी भगवान् पापनिवृत्ति कर दें तो भगवान् ने ही यह पाप-निवृत्ति की है, ऐसी प्रतीति न होने के कारण भगवद् भजन में कोई भी प्रवृत्ति नहीं करेगा, जब तक प्रत्यक्ष संभव हो तब तक अप्रत्य की कल्पना करना उचित नहीं। सर्वत्र अन्तस्थित रहने के कारण भगवान् को पाप मिटाने में किसी प्रकार का क्लेश भी नहीं करना पड़ता। इसलिये हृदय में स्थित् भगवान् ही भगवत्कथा श्रवण संभावना मे ही पापों की निवृत्ति कर देते हैं हृदय मे बाहर के भी कितने ही पदार्थ होते हैं। कई पदार्थ अन्तःस्थित ही हैं। इनमें जिन पदार्थों के विस्मरण की संभावना हो उनको बहि– स्थित समझना– यहां तो भगवान् अन्तःस्थित हैं अतः उनके विस्मरण की संभावना ही नहीं और इसलिये यहां हृदय के भीतर स्थित भगवान् 'अन्तःस्थितः' यह पद कहा है। तदनुसार अन्तः स्थित भगवान् पाप का नाश कर देते हैं यह कथन उचित है।

यहां अभद्र पद से काम, अविद्या और कर्म लिये गये हैं, पाप नहीं लिया गया– क्योंकि पाप तो श्रवण कीर्तन की संभावना मे ही निवृत्त हो चुका होता है। हृदय– स्थित भगवान् स्वभक्त के काम, अविद्या, कर्म आदि को विशेष रूप से मंथन करके इतना शिथिल बना देते हैं कि– जल में विष की तरह इनका पुनः मिलन आगमन नहीं हो सकता ( अर्थात् जिस तरह भगवान्

ने समुद्र को मथ कर उसको इतना निर्विष कर दिया कि विषय पुनः समुद्र में नहीं मिल सकता, उसी तरह भगवान् स्वकीय भक्त की अविद्यादि को मथ कर एक बार जब दूर कर देते हैं तब वह फिर कभी भी भक्त में अपनी स्थिति नहीं कर सकते।)

'शुश्रूषो श्रद्दधानस्य' इस सोलहवें श्लोक से कही गई साधन-परंपरा रूप प्रथम शृंखला स्वसाध्य अर्थात् भक्तसाध्य है तथा शृण्वतां स्वकथा श्लोक से कही गई कामादि की निवृत्ति रूप द्वितीय शृंखला भगवत् साध्य है। इन दोनों शृंखलाओं के सिद्ध होने पर नष्टप्रायेष्वभद्रेषु- इस श्लोक से कही गई तृतीय शृंखला का सम्बन्ध भक्त से है- वह भक्त में होती है। इस तरह यहां पूर्वोक्त तीनों श्लोकों से १६, १७, १८ से यथाक्रम तीनों शृंखलायें बतायी गयी हैं। जब तक काम, अविद्या तथा कर्म शिथिल नहीं होते, तब तक भक्ति का उदय नहीं होता।

यहां शंका करते हैं, कामादि को शिथिल करने में भगवान् का क्या हेतु है उसके उत्तर में कहते हैं कि- 'सुहृत्सताम्' भगवान् सत्पुरुषों के सुहृद् हैं, अर्थात् उनके साथ कार्य करते हैं, सुहृत् सहकार्यकर्ता- भगवान् सत् पुरुषों के मित्र हैं। श्रवणादि के उपदेश पूर्वक भगवदीय सुहृदों द्वारा प्रथम परम्परा के सिद्ध किये जाने पर शृण्वतांस्वकथा से कही गई द्वितीय परम्परा को यदि भगवान् सिद्ध पूर्ण नहीं करते तो मैत्री भंग का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।१७।

**आभास :** धुतेषु कामादिषु यत्स्यात्तदाह—

**आभासार्थ-** कामादि के शिथिल होने पर जो फल होता है उसे कहते हैं-

**श्लोक- नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।**
**भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।।१८।।**

**श्लोकार्थ-** कामादि अभद्रों के नष्टप्राय हो जाने पर नित्य ही भगवत्कथा सुनने से भगवद् भक्तों की सेवा एवं उनकी कथा से उत्तम श्लोक भगवान् में स्थिरभक्ति होती है।।१८।।

**सुबोधिनी—नष्टप्रायेष्विति।** धुता एव कामादयो न नाशिता इति क्वचित्क्वचित्तेषां सत्त्वं प्रतीयते। श्रवणे आग्रह इव प्रतिबन्धे क्रोध इव सत्सङ्गे लोभ इवेत्यादि बोधयितुं प्रायग्रहणम्। तथाच तेषां प्रतिबन्धकत्वाभावाद्भगवत्कथाया नित्यं श्रवणम्। भगवद्भक्तानां च सेवनं च नित्यं भवतीत्याह—**नित्यमिति।** पूर्वं कथायाः श्रवणमेव। इदानीं देववत्सम्भावनमिति सेवार्थः। एवं कथयां क्रियमाणायां भगवति परमप्रेमोत्पद्यत इत्याह—**भगवतीति।** अत्र सर्वत्र भगवच्छब्देन शुद्धं

परं ब्रह्मोच्यते । **उत्तमश्लोक इति ।** उत्तमैः श्लोक्यत इति, उत्तमा वा श्लोका यस्येति । सद्भिः कथया च सहिते भक्तिर्भवतीत्यर्थः । ततश्च जातायामपि भक्तौ सन्तः कथाश्च न त्यज (?) न्त इति भावः । महताऽपि बाधकेनाऽचलनं निष्ठा । निष्ठां प्राप्ता नैष्ठिकी । तदा हि कालाद्युपद्रवा न स्फुरिष्यन्तीत्यर्थः ।।१८।।

**सुबोधिनी अनुवाद**—कामादि शिथिल हो जाते हैं किन्तु उनका सर्वथा नाश नहीं होता । कहीं कहीं उनकी सत्ता प्रतीत होती है । जैसे- भगवत्कथा श्रवण में, आग्रह के रूप में,श्रवणादि में विघ्न आने पर, क्रोध के रूप में, सत्संग आदि में, लोभ के रूप में, इस तरह अमुक रूप में कामादि सत्ता की प्रतीति का निर्देश करने के लिये नष्टप्रायेषु में प्रायः शब्द कहा है । यहां ये आग्रह क्रोध लोभ में आदि स्वरूप से लौकिक कामादि रूप नहीं है तथापि उनमें भगवद् सम्बन्धी कामादि की प्रतीति मात्र होती है और उसी का निर्देश सुबो० ने 'इव' शब्द से किया है । यहां 'इव' श्लोकस्थ प्रायः का तात्पर्यार्थ रूप है । इसलिये यहां भगत्सम्बन्धी ये कामादि विघ्नरूप नहीं होने के कारण कथा का श्रवण नित्य होता है और भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का सेवन भी निरन्तर होता रहता है इसी का निर्देश यहां नित्यं पद से किया गया है । इससे पूर्व तो कथा का श्रवण मात्र किया जाता था किन्तु संप्रति श्रोता मात्र श्रवण ही नहीं करता किन्तु भगवत्कथा का भगवद् भक्तों का तथा उनके उपदेश का देवता की तरह समादर भी करता है । यहां सेवा पद का यही तात्पर्य है । इस तरह भगवत्कथा करते रहने से भगवान् के प्रति (उत्तरोत्तर) परम प्रेम उत्पन्न होता है । अर्थात् भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति होती है। यहां सर्वत्र भगवान् शब्द से शुद्ध परब्रह्म लिये गये हैं । भगवान् उत्तम श्लोक हैं उत्तमैःश्लोक्यते, उत्तम पुरुष भगवान् की स्तुति करते हैं । इसलिये उनकी संगति करने से, स्तुति श्रवण का लाभ मिलता है । परिणामतः भक्तिभाव में अभिवृद्धि होती है । भगवान् उत्तम कीर्तिवाले हैं उतमा श्लोका यस्येति- इस प्रकार विग्रह करने से यह अर्थ निकलता है कि केवल भगवान् में ही भक्ति नहीं होती, किन्तु सत्पुरुषों और कथा सहित भगवान् में भक्ति होती है इस तरह भक्ति उत्पन्न होने पर भक्तजन सत्पुरुषों का एवं कथा का त्याग कभी नहीं करते । महान् विघ्न आने पर भी स्थिर रहने का नाम निष्ठा है । इस प्रकार की निष्ठा को प्राप्त नैष्ठिकी भक्ति जब उत्पन्न होती है तब भक्त को काल, कर्म स्वभाव आदि से उत्पन्न उपद्रवों की स्फूर्ति लेश मात्र भी नहीं होती – ऐसा तात्पर्य है ।।१६।।

**आभासः**— एतावत्पर्यन्तं पुरुषप्रयत्नः । अग्रिमं स्वयमेव भवतीत्याहत **देति** त्रिभिः—

**आभासार्थ**- यहां तक इतना प्रयत्न पुरुष को करना पड़ता है इससे आगे जो कुछ घटित होता है वह स्वयं ही हो जाता है और इसी का निरूपण तीन श्लोकों से करते हैं –

**श्लोकः— तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये**
**चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।।१९।।**

**श्लोकार्थ—** तब रजोगुण तथा तमोगुण के धर्म जो काम-लोभ आदि हैं उनसे अनाविद्ध चित्त, सत्व में स्थित होता हुआ प्रसन्न हो जाता है।।१९।।

**सुबोधिनी—** तदा तु चित्तस्य स्वरूपं नश्यति । त्रिगुणात्मकं हि तत् । तथाच स्वस्वकार्यं गुणाः कुर्वन्त्येव । तथाच तद्धृदयं कदाचिदपि भगवदासनं न भवति । यदा पुना रजस्तमसोः कारणभूतयोः सत्त्वता भवति । यथा स्पर्शमणिस्पर्शे ताम्रलोहयोः सुवर्णता भवति । तथाच त्रिभिर्निर्मितं पात्रं सर्वं सुवर्णं भवति । तथा भक्त्या स्पृष्टं चित्तं सर्वं सत्त्वं भवति । रजस्तमोभावाः कामक्रोधादयः कामलोभादयश्च मिश्रसत्त्वभावाश्चकारान्मिश्रा अन्येऽपि भावास्ते तटस्थतया निर्दिष्टाः । ये च प्रसिद्धा मोहादयस्तान्सर्वान्गतगृहानिव निर्दिशति । अत एव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः । ननु ते आगन्तुकत्वं प्राप्ता अपि पूर्वं वासनया कथं चित्तेन न सम्बध्यन्ते ? इत्यत आह—**चेतइति** । एते हि सूत्ररूपा मूलगुणसूचिव्यतिरेकेण न वेधनसमर्थाः । अत एतैरनाविद्धं चित्तं स्थितं भवति । तदा लयावस्थां प्राप्नुवदपि चित्तं निरन्तरोत्पन्नभक्त्यनुरोधेन तस्याः स्थानभूत— सत्वनिमित्तं भगवदावेशेन प्रसीदति । प्रसादो हि तेन कार्यकर्तॄणां सर्वकार्यसिद्धिहेतुः प्रकाश-विशेषः ।। १९ ।।

**सुबोधिनी अनुवाद**—चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । भगवद्भक्ति से चित्त के इस स्व-रूप की निवृत्ति हो जाती है । चित्त का त्रिगुणात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है । जब तक चित्त मे सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं तब तक ये गुण अपना अपना कार्य करते रहते हैं और तब तक हृदय भगवान् के योग्य आसन नहीं बनता । चित्त में स्थित काम, लोभ के कारणभूत रजोगुण तथा तमोगुण जब पुनः सत्त्वरूपता में परिणत हो जाते हैं तब भगवान् हृदय को अपना आसन बनाते हैं, जिस तरह स्पर्शमणि के स्पर्श से ताम्र, लोह तथा स्वर्ण का पात्र, केवल स्वर्णमय बन जाता है उसी तरह भक्ति के स्पर्श मात्र से त्रिगुणात्मक चित्त संपूर्णतया सत्व रूप हो जाता है । चित्त जब भक्ति के स्पर्श से केवल सत्वमय बन जाता है तब रजोगुण के तथा तमोगुण के जो काम-क्रोधादि तथा काम लोभादि भाव हैं तथा जो सत्त्व मिश्रित भाव हैं, इसी तरह यहां चकार से ग्रहण किये गये अन्य प्रकार के भी जो मिश्र भाव हैं और जिनका तटस्थ रूप से निर्देशकिया गया है वे सभी निवृत्त हो जाते हैं । रजोगुण तथा तमोगुण के जो सर्वविदित मोहादिभाव हैं उनकी सत्ता नष्ट हो

जाती है। भक्ति के स्पर्श से रजोगुण तथा तमोगुण रूप गृह के नष्ट हो जाने पर इनके मोह आदि धर्म, घरबार विना के हो जाते हैं मोहादि के निवास स्थान रजोगुण तथा तमोगुण ही जब नहीं रहते तो फिर घर विना ये मोहादि कहा रहेंगे ? अर्थात् " न भवन्ति " नहीं रहेंगे – और इसी से श्लोक के पूर्वार्ध मे भवन्ति क्रिया का सम्बन्ध नहीं है " अतएव न प्रथमार्द्धे क्रियासम्बन्धः ।"

यहां यह शंका होती है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आगन्तुक धर्म होते हुए भी पूर्व की वासना के विद्यमान होने के कारण चित से पुनः सम्बद्ध क्यों नहीं हो सकते ? इसके समाधान में कहते हैं कि "चेत एतैरनाविद्धम्" ये काम क्रोध आदि सूत्र रूप हैं तथा मूलभूत रजोगुण तमोगुण सुई रूप हैं। मूल गुणभूत सूची के विना सूत्र काम क्रोध आदि चित्त वेधन करने में असमर्थ हैं अर्थात् चित्त से पुनः सम्बन्ध नहीं कर सकते। इन भावों से अनाविद्ध चित्त स्थित हो जाता है। तब लयावस्था को प्राप्त होते हुए भी उस चित्त में निरन्तर उत्पन्न होने वाली भक्ति के अनुरोध से भक्ति के स्थानभूत सत्त्व के लिये भगवान् का आवेश होता है और इस आवेश से चित्त प्रसन्न रहता है। ऐसे प्रसाद से सम्पन्न चित्त द्वारा कार्य करने वालों को उनकी कार्यसिद्धि में हेतु भूत प्रकाश विशेष की प्राप्ति होती है। प्रसाद वह प्रकाश विशेष है जो प्रसाद से युक्त जीवों की कार्य सिद्धि में हेतु बनता है ।।१६।। (१)

**आभासः**— तेन यज्जातं तदाह–

**आभासार्थ**– चित्तप्रसाद से जो फल मिलता है उसे कहते है।

**श्लोकः– एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।**
**भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ।। २० ।।**

**श्लोकार्थ**— इस प्रकार प्रसन्न मन वाले मुक्त संग को भगवद् भक्ति के योग से भगवान् का तत्त्व अर्थात् करामलकवत् ज्ञान हो जाता है। ।। २० ।।

**सुबोधिनी— एवमिति**। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थिरसाधनपरम्परया प्रसन्नं मनो यस्य। मनसः सत्त्वात्मकत्वे " **सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि**" ति सर्ववस्तूनां तत्त्वज्ञानं भवति। न तु भगवत्स्वरूपज्ञानम् तस्य गुणातीतत्वेन गुणकार्यगम्यत्वाभावात्। अत आह– **भगवद्भक्तियोगत इति**। अन्तःकरण प्रसादो भक्त्यर्थमेव तु भगवज्ज्ञानम्। " **भक्त्या मामभिजानाती** " ति वाक्यात्।

---

(१) श्री आनन्दीलालजी का अमुक भाग यहां नहीं लिया गया है।

तत्त्वपदे नयावानि त्याद्यर्थः परिगृहीतः । विपदेन करतलामलकज्ञानवज्ज्ञानविशेषो विवक्षितः । अत्र संन्यासोऽप्यङ्गत्वे नाऽपेक्ष्यत इत्याह**मुक्त-सङ्गस्येति** । अन्तर्बहिःसङ्गनिवृत्तिः । "**विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशस्तु दूरत**" इति न्यायेन परित्यागव्यतिरेकेण न भगवदावेशः । अतो न साक्षात्कार इति संन्यासस्य कारणत्वम् ।। २० ।।

**सुबोधिनी अनुवाद—** पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार स्थिर साधनों की परम्परा से प्रसन्न हो गया है मन जिसका - एवं प्रसन्नमनसः - मन जब सत्त्वात्मक बन जाता है तब सर्व वस्तुओं का तत्त्व ज्ञान हो जाता है - सत्त्वात्संजायतेज्ञानम् - किन्तु भगवद् स्वरूप का ज्ञान नहीं होता क्योंकि भगवान् गुणातीत हैं अतः सत्वगुण का कार्य जो ज्ञान है उससे भगवान् गम्य नहीं हैं। इसीलिये यहां भगवद्-भक्ति-योगतः यह कहा गया है। अंतः करण की प्रसन्नता भक्ति से होती है और भक्ति से ही भगवान के स्वरूप का ज्ञान होता है - भक्त्यामामभिजानाति - वाक्यका यही अभिप्राय है कि भगवान् का स्वरूप जैसा है और जितना है उसका ज्ञान भक्ति से ही संभव है। गीता के "यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" से जो बात कही गई है वही प्रस्तुत श्लोक के तत्त्व पद से स्पष्ट की गई है। विज्ञान में वि - पद उस ज्ञान-विशेष के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा "करामलकवत् ज्ञान" के समान ही ज्ञान की निष्पत्ति हो जाये। भगवत्स्वरूप के ज्ञान में संन्यास भी अंश रूप में अपेक्षित है इसी अभिप्राय से श्लोक मे मुक्तसंग ऐसा कहा है। उसे ही यह ज्ञान होता है जो भीतर तथा बाहर "संग" से विषयों से मुक्त है - विषयों से आविष्ट चित्त वाले से भगवान विष्णु का आवेश बहुत दूर रहता है इस न्याय के अनुसार विषयों के परित्याग के विना संन्यास के विना भगवद् आवेश नहीं होता और भगवद् आवेश के विना भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। इसीलिये भगवत्साक्षात्कार में संन्यास कारण माना गया है।

**आभासः—** एवं विज्ञाने जाते यत्फलं तदाह—

**आभासार्थः—** इस प्रकार भगवान् का सर्वथा ज्ञान होने पर जो फल होता है वह कहते हैं

**श्लोकः– भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।**
**क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि दृष्ट एवाऽऽत्मनीश्वरे ।।२१।।**

**श्लोकार्थं—** ईश्वर ही मेरी आत्मा है, ऐसा अनुभव करने वाले के हृदय की ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सभी संशयों का छेदन हो जाता है और उसके कर्मों का भी क्षय हो जाता है।

**सुबोधिनी— भिद्यत इति** । चिदचिद्ग्रन्थिरविद्याकार्यम् । तज्ज्ञानेन निवर्तते । "**यस्मिन्**

**ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती**" ति सर्ववस्तूनां याथार्थ्यज्ञाने सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते । मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ कर्मबीजं प्ररोहति, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायामिति कर्माण्यपि क्षीयन्ते । एतत्सवं न येन केनाऽपि प्रकारेण जातज्ञानकार्यं, किन्तु ब्रह्मात्मैक्यानुभवकार्यमित्याह— **दृष्ट एवेति** । आत्मत्त्वेन भगवदनुभवे । नाऽन्यथेत्त्येवकारार्थः । आत्मनो ह्यनीश्वरत्वेन जाताःपदार्था ईश्वरत्वेन निवर्तन्ते । अन्यस्येश्वरत्वे ज्ञातेऽपि न ह्यन्यस्येश्वरत्वाज्ञानं स्वस्य संसारहेतुर्भवति ॥२१॥

**सुबोधिनी अनुवाद**— चिद् और अचिद् ग्रंथियां अविद्या से होती हैं । इसकी निवृत्ति भगवद् ज्ञान से हो जाती है । यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति - इसके अनुसार भगवान् के जान लेने पर यह सभी वस्तु यथार्थ रूप से ज्ञात हो जाती है । जब सभी पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सर्व संदेह निवृत्त हो जाते हैं और कर्म बीजों का पुनः प्ररोह नहीं होता । मिथ्या ज्ञान रूपी जल से सिंचित आत्म-भूमि । (अंतःकरण) में कर्मबीज अंकुरित होता है, उगता है । अर्थात् कर्मों का नाश नहीं होता । और जब ज्ञान रूपी धूप से जिसका जल निःशेष रूप से सुखा दिया गया है ऐसे ऊषर-भूमि-रूप अंतःकरण में कर्म बीजों का प्ररोहण नहीं होता, कर्म बीज नष्ट हो जाते हैं । यह सब कुछ सामान्य ज्ञान से ऐसे वैसे उपार्जित ज्ञान से, नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्म मेरी आत्मा है इस प्रकार के ऐक्यानुभव से सिद्ध होता है और यही बात " दृष्टएवात्मनीश्वरे " इस पंक्ति से कही गई है । भगनान् हो मेरी आत्मा है । ऐसा अनुभव होने पर ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है अन्यथा नहीं ही - और इसी अभिप्राय से श्लोक में निश्चयात्मक " एव " का प्रयोग किया गया है । यहां यह कहा जा सकता है-जिस तरह विद्या से, अविद्या का उपमर्द होता है, उसी तरह अविद्या से विद्या का भी उपमर्द हो सकता है । ऐसी आशंका में यह कथन है कि ब्रह्म ही मेरी आत्मा है - ऐसा न समझने पर ऐश्वर्य आदि भगवद् धर्म तिरोहित हो जाते हैं, तब अविद्या से बंध और विपरीत ज्ञान होते हैं । " ब्रह्म मेरी आत्मा है " ऐसा अनुभव होने पर ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकट होते हैं तथा बंध और विपरीत ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं । ईश्वर मेरी आत्मा है - ऐसा न मानने पर उत्पन्न हुई चिद्-अचिद् ग्रंथि रहती है तथा भगवान् को आत्मा मानने पर यह ग्रंथि निवृत्त हो जाती है । देहेन्द्रिय आदि को आत्मा मान लेने पर यह भी आत्म-ग्रंथि नहीं मिटती । यदि देहेन्द्रिय आदि में ईश्वरत्व का ज्ञान नहीं होता तो भी उससे आत्मा को संसार की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसे यह ज्ञान हो चुका है कि " आत्मा ही भगवान् " है ।

**आभास**— एवं सर्वप्रकरणार्थं निरूप्य कुत्र पुरुषप्रयत्नः पर्यवसित इति सन्देहे प्रयत्नविषयमाह—

**आभासर्थ**— इस तरह सर्व प्रकरण के अर्थ का निरूपण करके - " पुरुष-प्रयत्न पर्य-

वसान कहां होता है" ? यह संदेह होने पर प्रयत्न विषय में कहते हैं–

**श्लोक– अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा ।**
**वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ।। २२ ।।**

**श्लोकार्थ–** इसलिये शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग परम-हर्ष के साथ अन्तः करण को प्रसन्न करने वाली भगवान् वासुदेव की भक्ति करते हैं ।। २२ ।।

**सुबोधिनी—अतो वै कवय इति ।** शुद्धसत्त्वात्मके अन्तःकरणे आविर्भूते भगवति परमप्रेम कर्तव्यमिति प्रयत्ननिष्कर्षः । तेन भगवत्प्रसादः अन्तःकरणे भगवत्साक्षात्कारो वेति फलम् । वै निश्चयेन । स्वस्यैवं निश्चयः । कवयः शब्दतात्पर्याभिज्ञाः । शब्दबलविवेकादेवमर्थप्रत्यय इति भावः । साधनस्य सुखात्मकत्वादपि सदा भक्तिं कुर्वन्ति । क्षणे क्षणे (?) प्रतिक्षणं भगवदाविर्भावेन परमा मुच्चोत्पद्यते । विषयस्तु सत्त्वगुणाऽऽविर्भूतः । भक्तिश्च ज्ञानजनिका प्रयत्नश्च भक्तौ साधनत्वेनेति शब्दवलविवेकश्चेति प्रथमाधिकारः ।।२२।।

**सुबोधिनी अनुवाद**—शुद्ध सत्वात्मक अंतः करण में आविर्भूत भगवान् में परम प्रेम करना चाहिये और इसी में पुरुष प्रयत्न का पर्यवसान है । इससे भगवत्प्रसाद अथवा अंतःकरण में भगवत्साक्षात्कार रूप फल मिलता है । 'वै' का अर्थ है निश्चयपूर्वक-सूत को इस बात का निश्चय है ।

'कवयः'– अर्थात् शब्द के तात्पर्य को जानने वाले कविलोग जिन्हें शब्द-बल-विचार से ही उपर्युक्त अर्थ का ज्ञान है । शब्द तात्पर्य के ज्ञाता को ही शब्द-बल-विवेक से इस प्रकार के अर्थ का निश्चय होता है । इतना ही नहीं भक्ति के साधन सुखरूप हैं, ज्ञान और कर्म के साधनों की तरह क्लेशप्रद नहीं हैं– इसलिये भी कविलोग सदा भक्ति करते हैं अर्थात् क्षण-क्षण में भक्ति करते हैं और इस तरह प्रतिक्षण भगवान् के आविर्भाव से परम हर्ष उत्पन्न होता है । सत्वगुण से आविर्भूत सत्वमूर्ति भगवान् यहां भक्ति के विषय हैं । भक्ति ज्ञान की जननी है, शब्द बल का विचार तथा पुरुष-प्रयत्न भक्ति में साधन रूप है । इस सब में सम्पन्न व्यक्ति का भक्ति में प्रथमाधिकार माना जाता है ।।२२।।

**आभास** : तत्र विषये यन्देहः—कोऽयं नियमः सत्त्वमूर्ताविव भक्तिः कर्तव्येति । रजस्तमो-मूर्तावपि भक्तिकरणं ब्रह्मत्वाज्ज्ञानसाधकम् । तथाच विष्णुभक्तिवच्छिवादिभक्तिरपि ज्ञानसाधिका । ब्रह्मणस्तुल्यत्वादित्याशङ्क्य तत्र निर्धारमाह पञ्चभिः **सत्त्वमित्यादिभिः**—

**आभासार्थ–** पूर्वश्लोक 'अतो वै कवयोनित्यम' में, सत्वमूर्ति भगवान् को भक्ति का विषय कहा है। यहां संदेह होता है कि सत्वगुण मूर्ति भगवान् की ही भक्ति करनी चाहिये– यह क्या कोई नियम है ? रजोगुण मूर्ति ब्रह्मा में तथा तमोगुण मूर्ति शिव में भी भक्ति करने से - इनकी ब्रह्मरूपता के कारण ज्ञान सिद्ध होता है। तदनुसार विष्ण भक्ति की तरह शिव भक्ति भी ज्ञान की साधिका है। क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इन तीनों में ही ब्रह्म की तुल्य रूपता है। ऐसी आशंका में यहां " सत्त्व रजस्तम " इत्यादि पांच श्लोकों से निर्णय देते हैं।

**श्लोक– सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते।**
**स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ।।२३।।**

**श्लोकार्थ–** सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं। इनसे युक्त एक परब्रह्म - परःपुरुष ही यहां जगत की स्थिति, उत्पत्ति और संहार के लिये हरि ब्रह्मा और शिव नाम संज्ञा-धारण करता है किन्तु उनमें मनुष्यों को शुभ फल सत्त्वगुण मूर्ति विष्णु हरि से ही प्राप्त होता है ।।२३।।

**सुबोधिनी–** ब्रह्मणोऽपि, विशेषत्वाभावेऽप्युपाधिवैशिष्टयेन फलवैशिष्टयम्। न तु चैतन्यस्वरूपं भिद्यते केषाञ्चिद्वैष्णवानां मत इव। तेऽपि गुणा न ब्रह्मणः। तथा सत्युच्चावचगुण-जनकत्वेन स्वरूपमपि विलक्षणं स्यात्। कार्यवशात्तथाऽपेक्षायां न दोषः। एकस्यैव स्नानभोजनान्तःपुरकार्यदर्शनात्। ननु पुरुषस्त्रिगुणः। तस्माद्गुणप्रेरणया तत्तत्कार्यकरणं सम्भवति। प्रकृतेऽपि तथा चेद्गुणान्तरपरम्परया अनवस्था स्यात्। तथाच क्वचित्सहजो गुणसम्बन्धो वक्तव्यः। तथा सति स्वरूपमपि भिद्येतेति चेत् ? अत्र हि बहवो वादिनः पृथक्पृथङ्निरूपयन्ति। साङ्ख्यास्तु नित्यसम्बन्धं प्रकृतेराहुः। अन्ये तु नास्त्येव सम्बन्धः। भ्रमादेव प्रतीयत इत्याहुः। भागवतसिद्धान्ते तु भगवति सहजं कर्तृत्वम्। तत्र किञ्चिद्रूपंप्रकृतिपुरुषविभेदेन द्विरूपत्वमापद्यते। तथा भौतिक-निर्माणे भूतापेक्षा, न भूतनिर्माणे, तथा प्राकृतनिर्माणे करणत्वेन प्रकृत्यपेक्षा। नैतावता स्वरूपे भेदा दोषा वा सम्भवन्तीत्येक एव पुरुषः। अस्य जगतउत्पत्तिस्थितप्रलयार्थं गुणत्रयमाददानः पर एव पुरुषो ब्रह्मभूतः—**हरिविरञ्चिहरेति**—**"सर्वोद्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति"** इति न्यायेन संज्ञात्रयं धत्ते। सुपां सुलुगिति लुग्वा। इतिशब्दो वा द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः सर्वत्राऽपि सम्बध्यते। संज्ञायाः स्वरूपमात्रत्वान्न प्रत्ययोत्पत्तिः। यथा देवदत्तेतिसंज्ञा। इतिशब्दः प्रकारार्थश्च। तेन अन्या अपि संज्ञा एकस्य बह्व्यः सन्तीत्यर्थः। तथाचैते गुणा कार्यार्थं करणत्वेन गृहीता अपि निरन्तरग्रहणा-दुपाधिरूपा जाताः। तेन यद्भजनं तदुपाधावेव पर्यवसितम्भवतीति सत्त्वोपाधिरेव सेव्य इत्यभिप्राये-णाऽऽह —**श्रेयांसीति**। तत्रैवं निर्णयः। सेवकः सेव्यं यादृशरूपं पश्यति, स्वस्याऽपि तादृशं रूपं

सम्पादयति। साधनानि च तानि यद्यप्यपहतपाप्मानं भगवन्तमन्यथाकर्तुं न शक्नुवन्ति, तथापि जीवमन्यथा कुर्वन्त्येव। ततश्च यादृशेन रूपेण साधनेन वा नाऽन्यथाभावस्तादृशरूपवानेवेश्वरः सेव्यः। नाशशङ्काऽभावात्। यदि पुनः सेवकस्य बुद्धिर्नोपाधिपर्यवसायिनी तत्र यत्र क्वचित्सेवायामपि न काचिच्चिन्ता। यथा ब्रह्मविदः। "**तं यथा यथोपासत**" इत्यत्र तथा निर्णयात्। श्रेयांसि शुभफलानि। तत्र भजनीयरूपेषु। खल्विति सम्मतिः। सोपपत्तिका सा निरूपिता। सत्त्वतनोरिति तनुशब्दाद्दृढोपाधित्वमुक्तम्। नृणां साधारणजीवानाम्। नियतानां तु तेन सहोपाधिरिति सर्वं सुस्थम् ॥२३॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—यहां उक्त संदेह उचित नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिये यहां श्री-सुबोधिनी में-"ब्रह्मणोऽपि" में "अपि" शब्द कहा है। ब्रह्म में गुण विशेष का अभाव होने पर भी गुणरूप उपाधि की विशेषता के कारण फल में विशेषता वैशिष्ट्य रहती है। अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और शिव यद्यपि समान रूप से परब्रह्म हैं तथापि सत्त्व, रज तथा तम की उपाधि से युक्त होने के कारण फल में विशेषता है। ये देवता गुणों के अंगभूत नहीं हैं तथापि गुणों से युक्त होने के कारण उन उन गुणों की उपाधि वाले देवताओं की सेवा पूजा से फल में तारतम्य होता है। अमुक माध्व वैष्णवों के मत की तरह यहां चैतन्य-स्वरूप भिन्न नहीं है, (१) अर्थात् माध्व वैष्णव मत में ब्रह्मा तथा शिव में जीवत्व मानते हैं किन्तु यहां जीवत्व नहीं माना गया।

सत्त्व, रज तम ये गुण परब्रह्म के नहीं हैं-यदि ये गुण ब्रह्म के माने जायें तो ऊंचे नीचे गुणों को उत्पन्न करने के कारण ब्रह्म का स्वरूप भी विलक्षण हो जायेगा। यदि कार्यवश वह इन गुणों को धारण करता है तो कोई दोष नहीं-आता जैसे एक ही व्यक्ति स्नान, भोजन, अंतःपुर का कार्य करता है तो भी उसमें भिन्नता नहीं आती, उसी तरह इन गुणों को किसी कार्य के लिये धारण करने से ब्रह्म में कोई वैलक्षण्य नहीं आता। यहां चैतन्यस्वरूप को भिन्न पृथक् मानने वाले शंका करते हैं कि शरीर में रहने वाला पुरुष त्रिगुण से युक्त है, इसलिये इन गुणों की प्रेरणा के अनुसार उन उन कार्यों को करना संभव है। इसके उत्तर में यह कथन है कि यदि यह मान लिया जावे, तो इन गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुण भी मानने पडेंगे और फिर इन अन्य गुणों को प्रेरणा देने वाले अन्य गुणों को मानने पडेंगे ऐसी अवस्था में अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा। इसलिये यह तो कहना ही होगा कि कहीं सहजगुणों का सम्बन्ध है। यदि सहज गुणों का सम्बन्ध मान लें तो फिर स्वरूप भी भिन्न हो जायेगा अर्थात् एक तरफ

---

(१) अमुक वैष्णवाचार्यों के मतानुसार चैतन्य स्वरूप भिन्न है यहां पर भिन्नता नहीं मानी जाती।

सहज गुणों का सम्बन्ध तथा दूसरी तरफ निर्गुणस्वरूप- ये दोनों पृथक् पृथक् हो जायेगे-इस शंका के उत्तर में, यहां यह जान लेना चाहिये कि इस विषय में बहुत से वादियों ने अपने अपने मत का भिन्न भिन्न रूप से प्रतिपादन किया है। सांख्य मतानुयायी प्रकृति का पुरुष से नित्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः पुरुष निर्गुण हो ही नहीं सकता। पुरुष में कर्तव्य आदि धर्म, प्रकृति के सम्बन्ध से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पुरुष में कर्त्तव्य नहीं है इसी पुरुष को सांख्य-मतानुयायी ईश्वर मानते हैं। पांतजल और मायावादी कहते हैं कि प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध है ही नहीं। प्रकृति का सम्बन्ध काम से प्रतीत होता है। इस भ्रांत प्रतीति से ही ब्रह्म में कर्तव्य आदि का आरोप किया जाता है।

भागवत सिद्धांत है कि प्रकृति सम्ब्रन्ध विना ही भगवान् में सहज कर्तव्य है। इसी शुद्ध ब्रह्म से कुछ न्यून, इसी का रूप अक्षर ब्रह्म है और यह अक्षर-ब्रह्म ही प्रकृति पुरुष विभेद से द्विरूपता को प्राप्त होता है। जैसे मौलिक शरीर के निर्माण में पंचमहाभूत अपेक्षित होते हैं, किन्तु पंचमहाभूत के निर्माण में पंचमहाभूत की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्राकृत जगत् के निर्माण में कारण रूप से प्रकृति की अपेक्षा है– किन्तु प्रकृति के निर्माण में स्वयं प्रकृति कभी कारण रूप नहीं होती और इसी से स्वरूप में भेद की तथा दोनों की सम्भावना ही नहीं है। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के लिये तीनों गुणों को ग्रहण करने वाला परपुरुष एक ब्रह्म ही है। जैसे एक ही द्वन्द्व समास, समाहार द्वन्द्व और इतरेतर द्वन्द्व कहा जाता है उसी तरह वह एक परः पुरुष ब्रह्म ही विष्णु-ब्रह्मा तथा शिव तीनों नाम धारण करता है। इसी का निर्देश यहां 'हरिविरं-चिहरेति संज्ञा' से किया गया है। 'हरि-विरंचि-हर' यहां समाहारद्वन्द्व है और 'सुपांसुलुगू इतिलुक्' सूत्र के अनुसार 'सु' का लोप हो गया है अथवा द्वन्द्व समास के अन्त में आने वाले इति शब्द का सर्वत्र सम्बन्ध होता है (हरीति, विरंचीति, हरेति– इस तरह इति शब्द यहां प्रत्येक संज्ञा के साथ सम्बन्धित है।) यहां प्रत्येक संज्ञा (नाम) स्वरूप मात्र का परिचय कराती है इसलिये व्याकरण के नियमानुसार अर्थवत्व न होने से 'हरिविरंचि हरेति' में प्रत्यय नहीं लगाया गया जैसे देवदत्तेति– संज्ञा कही जाती है। यहां इति शब्द प्रकारार्थ भी है इसलिये यहां एक ही ब्रह्म की– इन तीनों संज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी संज्ञायें हैं। यहां इति शब्द से यह भी सूचित किया गया है।

ब्रह्म ने यद्यपि सत्व, रज, तम इन गुणों को घट निर्माण में दण्ड की तरह साधन रूप से करण से ग्रहण किये हैं तथापि निरन्तर ग्रहण करने से ये ही गुण उसके उपाधिरूप हो गये हैं। अर्थात् यही ब्रह्म, सत्व गुणोपाधिक विष्णु, रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा तथा तमोगुणोपाधिक शिव

कहा जाने लगा। तदनुसार जिस उपाधि विशिष्ट देवता का भजन करने में आयेगा उस देवता की उपाधि विशेष में ही भजन का पर्यवसान होगा। इसीलिये सत्वगुणोपाधि विष्णु ही सेव्य हैं, इस तरह यहां कहा गया है– "श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः"।

वहां निर्णय इस प्रकार है कि सेवक के सेव्य जिस रूप को देखता है अपने लिये भी उसी रूप का सम्पादन करता है, अर्थात् विष्णु की भक्ति करने वाले का रूप विष्णु के गुणानुरूप होगा, इसी तरह ब्रह्मा अथवा शिव की भक्ति करने वाले का रूप ब्रह्मा अथवा शिव के गुणानुरूप होगा। भगवान् अपहत–पाप्मा है इसलिये जीव द्वारा आचरित ये भजनादि साधन यद्यपि भगवान् को अन्यथा करने में– समर्थ नहीं हैं फिर भी जीव को तो वे अन्यथा कर ही देते हैं अर्थात् सेवक के रूप को बदल देते हैं। अतः अपने जिस रूप से अथवा उसकी प्रसन्नता के लिये आचरित जिस साधन से अन्यथा भाव न हो, अपना रूप अन्यथा न हो, ऐसे रूप वाले ईश्वर की अथवा सत्वगुणोपाधि युक्त विष्णु की सेवा करना ही उचित है। इस प्रकार की स्थिति में अपने स्वरूप-नाश की शंका नहीं रहती। क्योंकि सत्वगुणोपाधिक विष्णु, स्थिति की रक्षा करेंगे, उसका नाश नहीं होने देंगे।

जहां सेवक की बुद्धि यदि सेव्य देवता की गुण रूप उपाधि में पर्यवसित न होती हो तो वहां कभी की गई सेवा में भी कोई दोष अथवा चिंता नहीं है। आशय यह है कि मैं सत्वगुणोपाधिक विष्णु की अथवा रजोगुणोपाधिक ब्रह्मा की अथवा तमोगुणोपाधिक शिव की उपासना करता हूं– ऐसी भावना से जहां सेवा की जाती हो तो वहां स्वरूप हानि की संभावना हो सकती है, किन्तु सेवक की बुद्धि जहां किसी उपाधि विशिष्ट सेव्य को लेकर सेवा करने की नहीं होती तो वह कहीं भी किसी की भी सेवा कर सकता है। वहां उसके स्वरूप में हानि की सम्भावना नहीं होती। जैसे ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र ब्रह्मज्ञान पूर्वक सेवा करता है किन्तु उसका स्वरूप अन्यथा नहीं होता– जो सेवक देवता की जिस जिस रूप में उपासना करता है उसकी बुद्धि भी उस उस रूप की हो जाती है। 'तं यथायथोपासते'– इस श्रुति का भी यही निर्णय है। कल्याणकारी शुभ फल 'सत्वतनु' विष्णु की– उपासना से सिद्ध होता है। अन्य से नहीं। श्लोकस्थ खलु शब्द सम्मति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह सम्मति युक्तिरहित निरूपित की गई है।

श्लोकस्थ सत्वतनोः में तनु शब्द द्वारा सत्वोपाधि की दृढ़ता स्थिरता बताई गई है। नृणाम यह शुभ फल साधारण जीवों को मिलता है और जो निरन्तर सेवा करने वाले विशिष्ट

जीव हैं वे सत्वोपाधिक देवता में मिल जाते हैं और इस तरह सत्वगुणोपाधि से समन्वित हो जाते हैं और जब उसके सेव्य स्वरूप की उपाधि निवृत्त हो जाती है तब उसमें सायुज्य-भाव से स्थिर उसके भक्त की उपाधि भी निवृत्त हो जाती है। अतः यह सब कुछ सुसंगत है।२३।

**आभास**—अयमर्थो गूढ इति दृष्टान्तमाह—

**आभासार्थ**–ब्रह्मा, विष्णु, महेश– ये तीनों ही स्वरूप से एक हैं, तथापि अपनी अपनी गुणोपाधि से युक्त होने के कारण उनकी सेवा के फल में तारतम्य है यह बात गूढ़ है। अतः दृष्टांत से कहते हैं–

**श्लोक– पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः।**
**तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्म दर्शनम् ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**– जो प्रवृत्ति तथा प्रकाश से रहित है, ऐसे पार्थिव काष्ठ से धूंआ उत्तम है– क्योंकि उसमें प्रवृत्ति है– और धूम से त्रयीमय वैदिक कर्म प्रधान अग्नि श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें प्रवृत्ति और प्रकाश दोनों ही है। उसी तरह तमोगुण से रजोगुण श्रेष्ठ है और उससे भी अग्नि के समान प्रकाशमय सत्वगुण श्रेष्ठ है जिससे ब्रह्म का अनुभव होता है।।२४।।

**सुबोधिनी—पार्थिवादिति**। प्रकाशापेक्षिणो (?) हि तेजो मृग्यते । तत्राऽप्यग्निसाध्येष्वग्निः। स च लोके दारुषु प्रतिष्ठितः। तानि पुनः पृथिवीप्रकृतिकानि। तेषां पूर्वरूपं पृथिवीसम्बन्धः। वृक्षरूपतेति यावत्। तत्र च्छेदनेन शोषेण वा काष्ठता। जलांशेन धूमजनकत्वम्। तेजोंऽशेनाऽग्निजनकत्वमिति । तत्राऽप्यलौकिकाऽऽहवनीयादिदेवतासम्बन्धे वेदप्रतिपाद्यत्वम् तत्र लोके कालान्तराग्नीच्छायां सार्द्रभूसम्बद्धकाष्ठसङ्ग्रहः । तत्पार्थिवशब्देनोक्तम्। तस्माद्धूमः शुष्कः। ततोऽपि ज्वलन्नग्निः। ततोऽपि लोकान्तरे प्रकाशार्थं त्रयीमयः। ततः पूर्वं रूपं मृत्पिण्डसमानकाष्ठता। अन्तिममाहवनीय इति। अथवा। जले ह्याधारमात्रत्वं दारु सम्पादयति। धूमः शोषणम्। पाकमग्निः। एवं घटस्य नानोपकारसम्पादकत्वं तेजस एवोपाधिवैलक्षण्यात्। तथा ब्रह्मणोऽपि तमसा लौकिकभोगसम्पादकत्वम्। रजसा कर्म, सत्त्वेन ज्ञानमिति । यद्ब्रह्मेति पूर्वोक्तरूपतोक्ता यद्ब्रह्म तमः। तस्माद्यद्ब्रह्म रजः। तदुत्तमम्। ततोऽपि सत्त्वम्। तत्तु ज्ञानरूपमेवेति। दर्शनमनुभवः। अदूरविप्रकर्षेणैतदुक्तमित्यर्थः। अनेन सोपहितं कार्यमपि विलक्षणं जनयतीत्युक्तम्। पूर्वश्लोके जीवपुरस्सरेण त्रैविध्यं निरूपितम्। अनेन तु ब्रह्मपुरस्सरेणेति विशेषः।।२४।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— जिसे प्रकाश की अपेक्षा होती है वह तेज को ढूंढता है। वहां भी

अग्निसाध्य कार्यों के लिये अग्नि की अपेक्षा है और लोक में यह अग्नि काष्ठ में मिलती है और ये लकड़ियां पृथिवी-प्रकृति की है– उनका पूर्वरूप पृथिवी से सम्बन्धित अतएव वृक्ष रूपता है। वृक्ष का छेदन और शोषण करने से काष्ट बनता है। काष्ठ में जलांश धूम को उत्पन्न करता है। यदि तेज का अंश होगा तो यह अग्नि उत्पन्न करेगा। अग्नि में भी अलौकिक अग्नि उन्पन्न होती है जिसका उपयोग अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म में होता है, इस अग्नि का सम्बन्ध देवताओं से होने के कारण यह वेद-प्रतिपाद्य है। लोक में भी कालान्तर में जब अग्नि प्राप्त करने की इच्छा होती है तब गीले वृक्षों से काष्ठ संग्रह किया जाता है। वही काष्ठ यहां पार्थिव शब्द से कहा गया है। पार्थिवात्दारुणोधूमः– में अधूमः ऐसी सन्धि भी होती है अतः प्रथम जिसमें धूम न निकले ऐसे शुष्क काष्ठ का संग्रह होता है फिर उससे जलती हुई अग्नि का संग्रह होता है फिर इससे लोकान्तर में प्रकाश करने वाली वैदिक-अग्नि त्रयीमयः बनती है। अग्नि का प्रथम रूप मृत्पिण्ड काष्ठ है और अन्तिम स्वरूप आहवनीय वैदिक अग्नि है।

अथवा कच्चे घट में जलांश होता है उस घट को लकड़ी, अग्नि का आधार बनाती है अर्थात् घट का सम्बन्ध प्रथम लकड़ी से होता हैं फिर धूम उसे सुखाता है और अग्नि उसे पकाती है। इस प्रकार वह अग्नि ही काष्ठ, धूम और अग्नि अपनी इस उपाधियों से उसका घट का अनेक प्रकार से उपकार करती है। उसी प्रकार ब्रह्म भी तमोगुण से लौकिक भोग का, रजोगुण से कर्म का और सत्वगुण से ज्ञान का सम्पादन करता है। यहां 'यद्' ब्रह्म से वृक्षरूपता बताई गई है। तमोरूप ब्रह्म से रजोरूप ब्रह्म उत्तम है और उससे भी उत्तम सत्वरूप ब्रह्म है जो ज्ञान रूप है जिससे ब्रह्म का दर्शन अर्थात् अनुभव होता है। तम से रज, इसलिपे उत्तम है कि वह सत्व अर्थात् ज्ञान रूप कार्य के अधिक निकट है जैसे काष्ठ की अपेक्षा धूम अग्नि के अधिक पास है इसलिए उत्तम है। यह उत्तरोत्तर उत्तमा दूरी और सामीप्य के न्याय से समझी गयी है। इसलिये तमोगुणो-पाधि, रजोगुणोपाधि और सत्वगुणोपाधि से युक्त होने के कारण इनके कार्य में भी विलक्षणता है अर्थात् ये पृथक् पृथक् कार्य करते हैं। पूर्व श्लोक में ब्रह्मादि देवाताओं को त्रैविध्य जीवनरूप से बताया गया था किन्तु प्रस्तुत श्लोक में यही त्रैविध्य ब्रह्म के रूप में निरूपित किया गया है, यहां यह इतनी विशेषता है।।२४।।

**आभास—** अत्र सदाचारं प्रमाणयति।

**आभासार्थ—** सत्ययुग से चली आती हुई सत्वगुणोपाधिक की सेवा में सदाचार का प्रमाण देते हैं।

**श्लोक– भेजिरे मुनयोऽथाऽग्रे भगवन्तमधोक्षजम् ।**
**सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ।।२५।।**

**श्लोकार्थं**— पहले सत्ययुग में ज्ञानी मुनियों ने विशुद्ध सत्वरूप अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत) भगवान् की सेवा की, जिससे उन्होंने तो उत्तम फल प्राप्त किया ही, किन्तु उनके मार्ग पर चलने वाले आज भी इसी जन्म में कल्याण को, जीवानन्द को प्राप्त करते हैं ।।२५।।

**सुबोधिनी– भेजिर इति ।** आत्मार्थं भजनेन भगवन्तमेव भेजिरे इत्यात्मनेपदाद्बहुवचनादाचारदार्ढ्यम् । कर्तृदोषाभावमाह– **मुनय इति ।** मननपर्यन्तं पदार्थानुष्ठानेन सत्त्वमुक्तम् । अथेत्यज्ञानदशायां भजनं निवारितम् । मुनयो भूत्वा पश्चाद्भजन्त इत्यर्थः । अग्रे सत्ययुगे । **"पुरा कृतयुग"** इत्यादिवाक्यात् । ब्रह्मरूपतामलौकिकरूपतां चाऽऽह पदद्वयेन– **भगवन्तमधोक्षजमिति** । उपाधेर्मुख्यताप्रतिपादनार्थं **सत्त्वमिति** सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनम् । **विशुद्धमिति** ब्रह्मादिषु विद्यमानसत्त्वनिवृत्तिः । तेषां किं फलं जातमिति जिज्ञासायां, किं तेषां फलं वक्तव्यं, तत्सेवका अपि मुच्यन्त इत्याह– **कल्पन्त इति** । ताननु ये तत्सेवका ये । तन्मार्गवर्तिनो वा । तेऽपि क्षेमाय स्वरूपानन्दाय कल्पन्त इत्यर्थः । तत्राऽपि इहैव, न भवान्तरे । तस्माच्छीघ्रं शुभफलसाधकत्वात्सत्त्वरूपमेव सेव्यमित्युक्तम् ।।२५।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— पहले के मुनियों ने आत्मा के लिये भजन किया अर्थात् उन्होंने अधोक्षज भगवान की ही सेवा की है । यहां भेजिरे आत्मने पद है और बहुवचन में है इससे ज्ञात होता है कि यह आचरण किसी एक तक ही सीमित नहीं था अपितु बहुतेरों का यही आचरण रहा । तदुपरान्त इस भजन का फल आत्मगामी है अर्थात् जो भगवान सर्व के आत्मरूप हैं उनका भजन किया । यह सेवा (भजन) उन्होने की जिनमें दोष का सर्वथा अभाव था, इसी का निर्देश करने के लिये यहां मुनयः शब्द का प्रयोग किया गया है । पदार्थ का मनन पर्यन्त अनुष्ठान करने से जिसमें सत्व प्रतिष्ठित हो गया है उनको मुनि कहते हैं, अर्थात् सत्वयुक्त, मननशील मुनियों ने ऐसा भजन किया है ।

श्लोकस्थ अथ का यह अभिप्राय है कि अज्ञान अवस्था में उन्होंने भजन नहीं किया है किन्तु ज्ञानी होकर उन्होंने अधोक्षज भगवान् को भजा है । अग्रे का अर्थ है सत्य-युग में– "पुराकृतयुगे" इस वाक्य के अनुसार अग्रे का यहां यही अर्थ ग्रहण किया गया है ।

ब्रह्मरूपता एवं अलौकिकता बताने के लिये यहां भगवान तथा अधोक्षज ऐसे दो पदों का प्रयोग किया गया है अर्थात् प्रभु षड् ऐश्वर्य से युक्त हैं–तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रभु से नीचे ही रहता

है अर्थात् प्रभु इन्द्रियजन्य ज्ञान से अतीत हैं–भगवन्तम्-मधोक्षजम् । विष्णु में सत्वगुणोपाधि की मुख्यता का निर्देश करने के लिये उनको यहां सत्व-रूप कहा है । 'सत्व' अर्थात् यहां सत्व शब्द भगवान् का समानाधिकरण से विशेषण है । यह सत्व गुण ब्रह्मादि में भी विद्यमान है तो क्या वे मुनिगण उनका भजन करते थे ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यहां विशुद्ध पद का प्रयोग हुआ है अर्थात् (विशुद्ध) शुद्ध सत्व वाले भगवान् का ही भजन करते थे । मिश्र सत्व वाले ब्रह्मादिक का नहीं । ऐसे विशुद्ध सत्व वाले की सेवा से किस फल की प्राप्ति होती है । ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं- विशुद्ध सत्वरूप भगवान् की सेवाफल का तो कहना ही क्या ? इनके सेवकों को तो उत्कृष्ट फल मिलता ही है । किन्तु ऐसे सेवकों की सेवा करने वाले भी मुक्त हो जाते हैं-"कल्पन्तेये नु तानिह" अर्थात् सत्व रूप भगवान् की सेवा करने वालों के सेवक अथवा उनके मार्ग पर चलने वाले सभी व्यक्ति कल्याण की, जीव स्वरूपानन्द की प्राप्ति करते हैं और यह फल भी उन्हें इसी जन्म मे मिल जाता है, जन्मान्तर में नहीं । इसलिये शीघ्र ही शुभ फल की साधक होने के कारण सत्व रूप की ही सेवा करनी चाहिये, इस प्रकार से कहा गया है ।।२५।।

**आभासः**— इदानीं रजस्तमसोरपि सेवकभजनफलानां भेदेन स्वरूपं वक्तुं सत्त्वस्य स्वरूपमनुवदति— **मुमुक्षव इति** । अथवा । कालस्य प्राधान्यात्सत्ययुगे सत्त्वस्य भजनमस्तु नाम । कथं त्रेतादिषु तद्भजनमित्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थ**— सम्प्रति रजोरूप तथा तमोरूप ब्रह्म के स्वरूप को उसके सेवक भजन तथा फल के भेद पूर्वक विवेचन करते हुए– "मुमुक्षव" श्लोक से सत्वरूप ब्रह्म का स्वरूप पुनः बताते हैं । अथवा काल की प्रधानता से सत्ययुग में सत्वरूप ब्रह्म की सेवा भले ही की जाती हो, किन्तु त्रेता-द्वापर तथा कलियुग में इसका भजन (सेवा) कैसे हो सकता है । इस आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—

**श्लोक– मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।**
**नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ।।२६।।**

**श्लोकार्थ**– मुक्ति की इच्छा रखने वाले पुरुष घोररूप रुद्रादि देवताओं को छोड़ कर नारायण के जो ज्ञान क्रिया शक्ति रूप जो शांत अवतार हैं उनका असूया रहित होकर भजन करते हैं ।।२६।।

**सुबोधिनी— मुमुक्षव इति** । सत्त्वस्य फलं मोक्षः । स ज्ञानसाध्यः । ज्ञानं च शान्तान्तःकरणसाध्यम् । भजनीयं च रूपं ध्येयम् । तेन घोररूपध्यानेन चित्तमपि तथा भवति । अतोऽभेदेऽपि

सत्त्वमूर्तेरपि घोराणि रूपाणि परित्यज्य । घोररूपांश्च । पूर्वं मोक्षसाधनत्वेन कुलाचारेण श्रद्धया वा प्राप्तं राजसादि भजनं गुणानां स्वरूपज्ञानानन्तरं परित्यज्य । अथ भिन्नक्रमेण । ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वात्पुरुषरूपनारायणस्य । कला धर्मावतारा ज्ञानक्रियाशक्तिरूपाः । मत्स्याद्यवतारान् रामादिरूपं वा रूपान्तरेषु दुष्टबुद्धिरहिता भजन्त इत्यर्थः । नेदं भक्तिमार्गभजनम् । किन्तु जीवानां स्वपुरुषार्थसिद्धये धर्ममार्गेण । तथा सति सर्वथा निःसन्दिग्धमेव भजन्ते न नृसिंहादिरूपम् । भक्तिमार्गे तु विषयस्य प्राधान्यात्प्रयोजनस्य दुर्बलत्वात्सर्वाण्येव रूपाणि भजनीयानि ।।२६।।

**सुबोधिनी अनुवाद**:– सत्व गुण का फल मोक्ष है । मोक्ष ज्ञान से होता है । ज्ञान शांत अंतःकरण से सिद्ध होता है । परन्तु जिसका भजन किया जाता है उसी का ध्यान करना चाहिये । तदनुसार घोर रूप का ध्यान करने में चित्त भी घोर रूप वाला अशांत बन जाता है इसलिये– स्वरूप में अभेद होने पर भी सत्वमूर्ति के घोर रूप को तथा घोर रूप देवताओं को छोड़ कर प्रथम से ही जो व्यक्ति मोक्ष को साधन बनाकर कुलाचार से अथवा श्रद्धा से परम्परागत राजस तामस रूपों का भजन करते हैं वे भी राजसिक तथा तामसिक स्वरूप का ज्ञान होने पर उनके भजन को छोड़ कर ब्रह्मांड के भीतर रहने वाले पुरुषरूप नारायण के धर्मावतार रूप जो ज्ञान शक्ति रूप मत्स्यादि अवतार हैं उनका तथा क्रियाशक्ति रूप रामादि अवतारों का दूसरे अवतारों में दोष बुद्धि न रखते हुए भजन करते हैं परन्तु इनका यह भजन भक्ति मार्गीय भजन नहीं होता है । इन मत्स्यादि रूप और रामादि रूप अवतारों का भजन किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए विहित धर्म मार्ग के अनुसार किया जाता है । जो देवता निःसंदिग्ध शांत स्वरूप वाले हैं उन्हीं का भजन पुरुषार्थ सिद्धि के लिये करते हैं । नृसिंहादि रूप का नहीं करते । किन्तु भक्तिमार्ग में तो प्रयोजन की गौणता के कारण तथा भजनीय विषय की प्रधानता के कारण प्रभु के प्रत्येक रूप, एक ही स्वरुप में, भजन करने योग्य है ।।२६।।

**आभासः**– रूपान्तरे भजनसामग्र्याः स्वरूपमाह—

**आभासार्थ**– अब रजोगुण तथा तमोगुण रूप में भजन सामग्री का स्वरूप बताते हैं—

**श्लोक– रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान्भजन्ति वै ।**
**पितृभूतप्रजेशादीञ्छ्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ।।२७।।**

**श्लोकार्थ**— धन, ऐश्वर्य तथा सन्तति की कामना वाले रजोगुण तमोगुण प्रकृति के जीव अपने समान स्वभाव वाले पितृ, भूत, प्रजेश आदि का भजन करते हैं ।।२७।।

**सुबोधिनी:— रज इति ।** शरीरगुणस्वभावभेदेन गुणास्त्रिविधाः । तत्र स्वाभाविका अनुल्लङ्घनीयाः । शरीररूपा मौढ्यदशायामेव बलिष्ठाः । धर्मरूपास्तु सङ्गशास्त्रैर्वर्धन्ते क्षीयन्ते च । तत्र ये विवेकिनोऽपि सच्छास्त्रं सत्सङ्गं ज्ञात्वाऽपि स्वभावतो राजसास्तामसाश्च तादृशानेव भजन्ते । भजनं हि सख्यपर्यवसायि । तच्च समानरूप एव भवतीति समानशीलानेव भजन्त इति निश्चयार्थः । तयोः परिकरोऽपि तादृश इति ज्ञापयितुं पितरो भूतानि प्रजाश्च तेषामीशाः कालशिवब्रह्मरूपास्ते आदिभूता येषां तान् क्षुद्रदेवान्भजन्ते । तत्र श्राद्धादिना पितृभजने शक्तिभजने च धनप्राप्तिः फलम् । ईश्वरभजने त्वैश्वर्यप्राप्तिः । प्रजेशभजने प्रजायाः । तत्राऽपीप्सितैव प्राप्तिस्तु दुर्लभा । दातृणां तामसत्वात् ।।२७।।

**सुबोधिनी अनुवादः**— शरीर, गुण और स्वभाव के भेद से गुण तीन प्रकार के होते हैं– इन स्वाभाविक गुणों का उल्लंघन कभी नहीं किया जा सकता। शरीर रूप जो गुण हैं वे मूढ दशा में ही बलवान होते हैं । गुण (धर्म) रूप जो गुण है वे संग से तथा शास्त्रों के श्रवणादि से बढ़ते है तथा नष्ट होते हैं इनमें जो विवेकशील होते हैं वे सत्संग तथा सत् शास्त्र को जान कर भी अपने अपने राजस तामस स्वभाग के अनुसार उसी प्रकार के राजस तामस का ही भजन करते हैं । भजन सख्यपर्यन्त माना गया है । अर्थात् समान स्वभाव तथा समान शील का ही भजन किया जाता है । सख्य, स्व समान में ही होता है । "समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" । राजस स्वभाव वाले, राजस देवताओं का और तामस स्वभाव वाले तामस देवताओं का भजन करते हैं । इन तमोगुण रजोगुण वाले देवताओं का परिकर भी वैसा ही है । इस बात का निर्देश करने के लिये यहां पितृ-भूत-प्रजा और उनके स्वामी काल, शिव और ब्रह्मा जिनमें मुख्य हैं ऐसे क्षुद्र देवताओं का उल्लेख किया गया है– ऐसे देवताओं का भजन राजस-तामस जीव करते हैं ।

श्राद्ध आदि से पितरों तथा शक्ति को भजने से फलरूप से धन की प्राप्ति होती है । भूतेश महादेव के भजने से ऐश्वर्य रूप फल की तथा प्रजेश ब्रह्मा के भजन से सन्ततिरूप फल मिलता है । वहां भी ईप्सित फल की प्राप्ति दुर्लभ है क्योंकि ऐसे फल के प्रदाता तामस हैं ।।२७।।

**आभासः**– एवं सत्वमूर्तौ भजनं सोपपत्तिकमुपपाद्य तत्रैव सर्वप्रमाणानां साधनानां च तत्रैव परिसमाप्तिरित्याह–**वासुदेवपरा वेदा** इति श्लोकद्वयेन—

**आभासार्थ**– इस तरह सत्वमूर्ति के भजन का युक्ति-पूर्वक उपपादन करके सत्वमूर्ति में ही प्रमाण और साधनों की समाप्ति होती है अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाण तथा सम्पूर्ण साधन सत्वमूर्ति की प्राप्ति के लिये ही है । सर्व प्रमाणगम्य भी वही है और सर्व साधनों से प्राप्तव्य भी वही है इसी का प्रतिपादन "वासुदेवपरा वेदाः" इत्यादि श्लोकद्वय से किया जाता है—

**श्लोकः—** **वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः ।**
**वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ।।२८।।**
**वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ।**
**वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ।।२९।।**

**श्लोकार्थ—** वेद, वेदार्थरूप यज्ञ, योग, स्नानादिक क्रियायें ज्ञान, तप, आचार और स्वर्ग ये सब वासुदेव परक हैं ।।२८-२९।।

**सुबोधिनी**– प्रथमाधिकारे सर्वगुणमयमिति ज्ञानं मुख्यम् । युक्तेः प्राधान्यात् । अतः सत्त्वपरत्वं सर्वेषामिति । तत्र वेदः सात्त्विकं प्रमाणम् । यज्ञाश्च सात्त्विकाः । योगाः स्नानादिकक्रियाश्च । ज्ञानं तप आचारःस्वर्गश्च सात्त्विकः । अन्यप्राधान्यप्रतिपादकानि तु शास्त्राणि न प्रमाणानि । किन्तु राजसानि तामसानि । एवं साधनान्यपि । एवं सर्वसात्त्विकभावः कर्त्तव्य इति प्रथमाधिकारः । एत एव मध्माधिकारे अन्यथा वक्तव्याः । उत्तमाधिकारे च । सर्वेषामेषां चाऽन्तःकरणशोधकत्वात्सत्त्वपरत्वम् । सुखफलत्वञ्च । सुखस्य सात्त्विकत्वाच्छुद्धान्तःकरणे स्फुरितब्रह्मानन्दस्याऽपि सात्त्विकत्वम् । सर्वाणि पञ्च शास्त्राणि श्रुति-साङ्ख्ययोग-पशुपति-वैष्णवाख्यानि मुख्यानि । अङ्गभूतं च धर्मशास्त्रं सर्वेषाम् । तत्रेदं वैष्णवं शास्त्रम् । पशुपतिमतं तु परमतोपन्यासेनोक्तमपेक्षितरूपेण प्रमाणं, न तु सर्वथा तत्र यावदन्येषां त्रयाणां धर्मशास्त्रस्य च नैकवाक्यता तावन्न वैष्णवशास्त्रस्य दार्ढ्यमित्येकवाक्यता निरूप्यते । तत्र प्रथमं वेदः । वेदार्थो यज्ञश्च । तथा योगशास्त्रम् । यमादयश्च । तथा साङ्ख्यम् । तदुक्तं परम साधनं तपश्च । धर्मशास्त्रं तदुक्तोच्चगतिश्च । तदेतत्सर्वं वासुदेवपरमित्यर्थः ।।२८,२९।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— सत्वगुण ही दोषों से मुक्त है– ऐसा ज्ञान प्रथमाधिकार में मुख्य है क्योंकि प्रथमाधिकारी युक्ति को ही प्रधानता देता है, तदनुसार जितने भी प्रमाण और साधन हैं वे सभी सत्वोपाधि रूप हैं । इनमें वेद सात्विक प्रमाण है । यज्ञ भी सात्विक है । योग स्नानादिक क्रियायें, ज्ञान, तप, शिष्टाचार और स्वर्ग ये सब सात्विक हैं । इसलिये सत्वगुण के अतिरिक्त राजस तथा तामस गुण की प्रधानता का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र प्रमाण भूत नहीं हैं । क्योंकि वे राजस और तामस हैं । साधनों के लिये भी यही नियम है अर्थात् जो साधन राजस तामस हैं वे प्रमाण भूत नहीं हैं । इसलिये सर्वत्र सर्व में सात्विक भाव करना चाहिये और यही जीव का प्रथमाधिकार माना गया है । तात्पर्य यह है कि प्रथमाधिकार वेद, यज्ञ, योग, तप आदि में सर्वत्र सात्विक रखता है । उपरोक्त यही वेदादि मध्यमाधिकारी तथा उत्तमाधिकारी के लिये अन्य प्रकार से कहे गये हैं । आशय यह है कि उपर्युक्त वेद। यज्ञ, योग, तप स्नानादि क्रियायें ज्ञान आदि

अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं तथा सुखरूप फल को देते हैं इसलिए इसमें सात्विक गुणमयता है। सुख, सात्विक रूप है इसलिये शुद्ध अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला ब्रह्मानन्द भी सात्विक रूप है। श्रुति, सांख्य, योग, पशुपति, वैष्णव- ये पांच शास्त्र मुख्य हैं। धर्मशास्त्र इन सबका अंगभूत है।

यहां यह भागवत–वैष्णव शास्त्र है। पशुपति शास्त्र तो केवल परमत का उपन्यास करने के लिए ही कहा गया है, इसलिये जितना भाग ग्रहण करने योग्य है उतना ही भाग प्रमाण है किन्तु समग्र प्रमाण नहीं है। इनमें वेद, सांख्य, योग तथा धर्मशास्त्रों की जब तक एक वाक्यता नहीं होती, जब तक वैष्णव शास्त्रों में दृढ़ता नहीं आती, इसलिये वेद, सांख्य, योग तथा धर्म शास्त्रों की एक वाक्यता का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम वेद वेदका अर्थरूप यज्ञ, योगशास्त्र, योगशास्त्र से कहे गये यम नियमादि, सांख्य (ज्ञान) शास्त्र तथा सांख्य शास्त्र में कहा गया परम साधन रूप तप, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र में कही गयी उत्तम गति, इन सभी का वासुदेव भगवान् में ही तात्पर्य है। ये सब वासुदेव परायण हैं। ।२८।२९।

**आभासः**—एवं सोपपत्तिकं फलसाधनस्वरूपं निर्णीतम्। तृतीयं कृष्णावतारप्रयोजनप्रश्नं प्रथमाधिकारादवतारतुल्यत्वेनाऽत्राऽनुक्त्वा पश्चादवतारेष्वेव कथयिष्यति। ततश्चतुर्थः प्रश्नः— **"तस्य कर्माण्युदाराणीति"** तत्रोत्तरमाह **स एवेदमिति** पञ्चभिः—

**आभासार्थ**—इस तरह युक्ति पूर्वक भगवत् साक्षात्कार रूप कल्याणकारी फल के स्वरूप का तथा भागवत से लेकर भगवत्कथा-रति पर्यन्त भगवत्प्रसाद की प्राप्ति कराने वाले साधन के स्वरूप का निर्णय किया। शौनक ने प्रथम अध्याय में छह प्रश्न पूछे थे— उनमें तृतीय प्रश्न से— श्री कृष्ण के अवतार का प्रयोजन पूछा गया था, किन्तु सूत पौराणिक तथा शौनकादिक का प्रथमाधिकार होने से उनको ऐसा ज्ञान है कि कृष्णावतार अन्य अवतार के समान ही है, इसलिये यहां कृष्णावतार की चर्चा न करके तृतीय अध्याय में अवतारों की कथा कहेंगे— तथा अवतार का प्रयोजन भी कहेंगे। तदनन्तर चतुर्थ प्रश्न से श्रीकृष्ण के उदारचरित्रों को कहिये यह पूछा गया था उसका उत्तर यहां "स एवेदं ससर्जाग्रे" आदि पांच श्लोकों से देते हैं।

**श्लोकः— स एवेदं ससर्जाऽग्रे भगवानात्ममायया।**
**सदसद्रूपया चाऽसौ गुणमय्याऽगुणो विभुः ॥३०॥**

**श्लोकार्थ**—इसी निर्गुण सर्व समर्थ भगवान् ने गुणमयी तथा ऊंचे नीचे रूपवाली प्रतिकृति रूप इस सृष्टि को अपनी सर्वभवन सामर्थ्य–रूपा माया से सर्व प्रथम उत्पन्न किया ।३०।

**सुबोधिनी**-सृष्टिप्रवेशनानात्वभोगरक्षारूपाः पञ्च लीलाः क्रमेण पञ्चभिः प्रतिपाद्याः सगुण-निर्गुणयोर्भेदाभावाय । **स एवेति** सृष्टित्वगुणादेव । गुणत्रयेणाऽपि सृष्टो रजोमिश्रितेन । तमोमिश्रितेन त्रयेणाऽपि संहारः । तथा सत्त्वमिश्रितेन पालनमिति । शुद्धास्त्वधिष्ठातृदेवताशरीररूपाः । इदं जगत् । दृश्यस्य सर्वस्याऽपि जगतः कार्यत्वम् । नत्वाकाशादेर्नित्यतेति । अग्रे प्रथमम् । **"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी"** ति श्रुत्या साक्षात्सर्वकरणं प्रथमा सृष्टिः अन्येऽपि सृष्टिभेदाः सन्ति । ते निबन्धे निरूपिताः । **भगवानिति** वैष्णवशास्त्र एवेयं प्रथमा सृष्टिः । वैदिके तु स्वधर्मस्वशक्तिकालकर्मस्वभावानां सृष्टिः प्रथमा । अतोऽनन्तगुणपूर्ण एव भगवान् स्वस्य मायया शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मंभूतं जगत्सृष्टवान् । मायायाः स्वरूपमाह— **सदसद्रूपयेति** । सा ह्युच्चनीचसर्वप्रति–कृतिरूपा । तस्यामात्मानं संयोज्य प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते । एवं सति सुगमा सृष्टिर्भवति । सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत् । सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति । निद्राऽपि शक्तिः । सा जीवं भगवत्समीपे नयति । तत्र मायापर्यन्तं गमने स्वप्नः । भगवत्पर्यन्तं गमने सुषुप्तिः । पुनश्च सा यथास्थानमानयति । विद्या तु भगवत्समीपमेव नयति नाऽऽनयति । एवमनन्ताः शक्तयो भगवतः । वेदे तु मायासाधनराहित्यैनैव स्वत एवाऽऽत्मानं जगद्रूपं करोतीत्युच्यते । घटितपूरणपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेदः । व्यलीकपक्षस्तु न प्रामाणिकः । चकारादन्येऽपि सृष्टिप्रकाराः सूच्यन्ते । असाविति भगवद्धर्मनिरूपणेन हृदये स्फुरितं भगवन्तं बहिः पश्यन्निवाऽङ्गुल्या निर्दिशति । स्वस्याऽनन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा गुणमयी भवति । तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिराशित्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणवाच्यता । अस्याः पुनः स्पर्शे न भगवति गुणाकृतित्वम् । अतः अगुणः प्राकृतगुणरहितः । कथं स्वसम्बन्धेनैव मायाया गुणवत्त्वम् । कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽप्यगुणः ? तत्राऽऽह—**विभुरिति** । सर्वसमर्थ इत्यर्थः ।।३०।।

**सुबोधिनी अनुवाद**- इन पांच श्लोकों में से "स एवेदं ससर्जाऽग्रे" में सृष्टि लीला का "तया विलसितेष्वेषु" में प्रवेश–लीला का "यथाह्यवहितो वह्नि" में नानात्व लीला का असौ-गुणमयी में भोग-लीला तथा 'भावयत्येष' में रक्षणलीला का निरूपण है । सगुण और निर्गुण में कोई अन्तर नहीं है । यह बताने के लिए यथाक्रम पांच श्लोकों से पांच लीलाओं का निरूपण किया गया है । स एवं पद से यह तात्पर्य है कि सृष्टि निर्गुण से ही होती है क्योंकि प्रथम सृष्टि में निर्गुण से गुणों की सृष्टि बताई गई है । रजोमिश्रित तीन गुणों से भी सृष्टि होती है । तम से

मिश्रित तीन गुणों से संहार होता है तथा सत्व मिश्रित तीन गुणों से पालन होता है। गुणों के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश के शुद्ध रजोगुण, सत्वगुण तथा तमोगुण यथाक्रम शरीर रूप है।

यह संपूर्ण दृष्यमान जगत् कार्य है। आकाशादि भी कार्य हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं अतः ये नित्य नहीं हैं यह सर्व प्रथम सृष्टि है "अग्रे" शब्द से इसी का बोध किया गया है। 'एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच खं ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी, प्राण, मन, सर्व इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथिवी ये सब भगवान् से साक्षात् उत्पन्न होने वाली सर्वप्रथम अग्रे सृष्टि है। सृष्टि के अन्व बहुत से भेद हैं जिनका निरूपण तत्वार्थ–दीप निबंध ग्रंथ मैं किया गया है। वैष्णव शास्त्रों में ही इस प्राथमिक सृष्टि का निरूपण हुआ है– जिसमें मायाको इसका निमित्तकारण बताया है।

वेदों में तो स्वधर्म, स्वशक्ति तथा काल, कर्म, स्वभाव की सृष्टि ही प्रथम सृष्टि कही गई है। इसलिये अनन्त गुण पूर्ण भगवान् ने ही अपनी सर्वभवन सामर्थ्य रूप माया से इस आत्मरूप जगत् को उत्पन्न किया है।

यह माया सद्-असद् की अर्थात् ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप है। यही माया का स्वरूप है। इस माया में अपना संयोजन करके इसे अपना अधिष्ठान बना कर अपने आपको ही प्रकट करते हुए भगवान् ही जगत् रूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे स्वर्णकार सांचे में ढालकर प्रतिमा आदि सुगमता से बना लेता हैं, उसी तरह माया भी एक सांचा है जिसमें सद्-असद्, ऊंचे नीचे पदार्थ ढाले जाकर निर्माण किये जाते हैं, इस प्रकार सृष्टि का निर्माण सुगम बन जाता है। माया ऊंचे नीचे सभी की प्रतिकृति रूप हैं। माया का यही स्वरूप हैं जिसका निर्देश 'सदसद्रूपया' पद से किया गया है। यह माया भगवान् के पास ही रहती है। निद्रा भी भगवान् की शक्ति है यह निद्रा शक्ति जोव को सुषुप्ति दशा में भगवान् के पास ले जाती है। यहां जीव माया पर्यन्त गमन काल तक स्वप्नावस्था में तथा भगवत् पर्यन्त गमन काल तक निद्रित दशा में रहता हैं। यही निद्रा जीव को पुनः अपनी पूर्वावस्था में ले आती है। विद्या शक्ति जीव को भगवान् के निकट अवश्य ले जाती हैं किन्तु निद्रा शक्ति की तरह वह जीव को पुनः पूर्वावस्था मे नहीं लाती है। इस प्रकार भगवन् की अनन्त शक्तियां हैं

वेद मतानुसार वो माया रूप साधन का अवलंबन किये बिना ही भगवान् स्वयं ही अपने आपको जगत् रूप बनाते है, ऐसा कहा जाता है। इसलिये घड़े गये, ढाले गये पात्र की तरह वैदिक तथा पौराणिक जगत् में भेद है वस्तुतः ये दोनों ही भगवद्रूप हैं।

जगत् मिथ्या है, यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। श्लोकोक्त "च" कार से सृष्टि के और भी प्रकार हैं—यह निर्देश किया गया है। "असौ" पद प्रत्यक्ष का निर्देशक है। यहां भगवद् धर्म के निरूपण से हृदय में स्फुरित भगवान् को मानों बाहर ही देख रहे हों— इस तरह सूतजी अंगुली से निर्देश कर रहे हैं। अनन्त गुणवाले भगवान् के स्पर्श से माया भी उसी प्रकार की आकृतिमयी तथा गुणमयी हो जाती है, तथा गुणों के उत्तम-मध्यम तथा हीन भेदों द्वारा यह माया, सत्वगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी नामों से जानी जाती है। मायाकृत स्पर्श से भगवान् में गुणरूपता अथवा आकृतिरूपता नहीं आती। इसी का निर्देश यहां अगुणाः पद से किया हैं। भगवान् प्राकृत गुणों से रहित है— माया के स्पर्श से सगुण नहीं है।

यहां शंका होती हैं, भगवान् के स्पर्श से माया तो गुणमयी हो गई, किन्तु माया में प्रविष्ट होकर तथा जगद्रूप होकर भी भबवान् निर्गुण ही रहे !!! यह कैसे ? इसका समाधान यह है कि भगवान् विभुः अर्थात् सर्व समर्थ हैं वह माया को सगुण बनाते हुए भी स्वयं निर्गुण ही रह सकते हैं ॥३०॥

**आभासः**—एवं सद्रूपेण जडसृष्टिमुक्त्वा, आनन्दरूपेणाऽन्तर्यामिसृष्टिमाह—

**आभासार्थः**—इस तरह भगवान् के सत् रूप से जड़-जगत् की उत्पत्ति कह कर उसी भगवान् के आनन्द रूप से अन्तर्यामी की सृष्टि को कहते हैं—

**श्लोक तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव ।**
**अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् की अपनी इस माया शक्ति द्वारा आकार को प्राप्त करके विचित्र प्रकार से प्रकाशमान इन देव मनुष्यों की देहों में पंच महाभूतों में तथा गुणों में अन्तर्यामी रूप से अन्तः प्रविष्ट होकर वह भगवान् सर्वत्र प्रकाश करते हैं और मानों (वह भगवान्) गुणवान् की तरह प्रतीत होते हैं। भगवान् स्वयं सर्वज्ञ अन्तर्यामी रूप से अन्दर प्रवेश करके जीव को उसके विविध कार्यो में प्रेरित करते हैं और उसमें विविध ज्ञान का स्फुरण करते हैं। इस प्रकार भगवान् अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विज्ञान द्वारा प्रकाशमान होते हैं।

**सुबोधिनीः—तयेति**। तया मायया। आकारसमर्पणेन विलसितेषु चित्रितेषु देवादिदेहेषु। भूतेषु च। गुणेषु येषु परिदृश्यमानेषु गुणवानिव। तेषां तेषां तत्र तत्रैव प्रवर्तनात्। खदिराङ्गार-रक्तिमेव अन्तः प्रविष्टः स एवाऽऽभाति, अयोगोलकनिविष्टाग्निवद्बहिरपि स्फुरति। आ समन्ता-द्भाति। चिज्जडांशयोर्ज्ञानशक्तितिरोभावोऽस्ति। तद्वदत्राऽपि भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **विज्ञानेन**

**विजृम्भित इति ।** अत्राऽन्तर्यामिणः सर्वज्ञस्य जीवं सर्वत्र प्रेरयतस्तद्विधज्ञानवतः कार्यावेशेन स्फुरणमिव विजृम्भा । तद्वानित्यर्थः ।३१।

**सुबोधिनी अनुवाद**:—प्रतिकृति-सांचा रूप होने से माया आकार की समर्पक है । इस माया से आकार समर्पण द्वारा मानों चित्रित से गुणात्मक देवादि देहो में तथा पंच महाभूतों में दृश्यमान गुणों में प्रविष्ट वह अन्तर्यामी भगवान् गुणवान् की तरह प्रतीत होता है । वस्तुतः वह प्राकृत गुणों से रहित है, क्योंकि उन उन गुणों की प्रकृति अमुक अमुक जगह ही उसके द्वारा होती हैं । खदिर के अंगार की लालिमा की तरह भीतर प्रविष्ट वही अन्तर्यामी भगवान् सामान्य जीवों में प्रकाशित (यत्किंचित्) होता है (यहां आभाति के आङ्प्रत्यय का ईषद् यत्किंचित् अर्थ है) । विशिष्ट जीवों में अयोगोलक में प्रविष्ट अग्नि के समान इसी अन्तर्यामी भगवान् की बाहर भी स्फूर्ति होती है– चारों ओर स्फूर्ति होती है । चिदंश जीव तथा सदंश जड़ में ज्ञान शक्ति का जिस तरह तिरोभाव देखा जाता है, उसी तरह आनन्दांश अन्तर्यामी में भी ज्ञान शक्ति का तिरोभाव होना चाहिये । इस शंका का उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी विज्ञान से प्रकाशित है, विज्ञानेन विजृम्भितम् । यहां सर्व जीवों को सर्वत्र प्रेरित करने वाला विविध ज्ञान युक्त जो अन्तर्यामी है वह कार्य में आविष्ट होने से उस उस ज्ञान का प्रकाशक भी है अर्थात् वह अन्तर्यामी ज्ञानयुक्त भी है और उन उन जीवों को उनउन कार्यो में प्रवृत्त भी करता है– प्रेरक भी वही है और नियामक भी वही है ।३१।

**आभास**:—एवमन्तर्यामिभावं निरूप्य जीवभावं निरूपयन्नानात्वलीलामाह—

**आभासार्थः**—इस प्रकार अन्तर्यामी भाव का अर्थात् अन्तर्यामी रूप से जगत् प्रवेश लीला का निरूपण करके जीव भाव का विवेचन करते हुए प्रभु की अनेक भवन लीला को कहते हैं अर्थात् जिसमें एक होते हुए भी भगवान् बहुरूप धारण करते हैं– ऐसी भगवल्लीला का प्रतिपादन करते हैं ।

**श्लोक– यथा ह्यवहितो वन्हिर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु ।**
**नानेव भाति विश्वाऽऽत्मा भूतेषु च तथा पुमान् ।।३२।।**

**श्लोकार्थः**—अपने उत्तपत्ति– स्थल अनेकों काष्ठों में छिपा हुआ एक ही अग्नि अनेक जैसा प्रतीत होता है । उसी तरह पंचमहाभूत और उनसे उत्पन्न हुए पदार्थों में जीव रूप से प्रविष्ट वह विश्वात्मा भगवान् ही अनेक की तरह प्रतीत होता है ।३२।

**सुबोधिनीः—यथेति । "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न"** इतिवत्केनचिद्रूपेणाऽवस्थितो भगवानेव जीव इति तद्रूपमुच्यते । दारुषु यथा वह्निस्तथा भूतभौतिकेषु जीवः । स चैकः । उपाधिव्यतिरेकेण स्वतो वैलक्षण्याभावात् । यथा मथनव्यतिरेकेण काष्ठेष्वग्निर्न प्रतीयते तथा योगव्यतिरेकेणाऽन्तःकरणे जीवः । यथा करचरणाद्यवयवः शरीरेभ्यो न भिद्यन्ते, तथा महाकाष्ठे सर्वत्रैक एव विद्यमानो मथनस्थानेषूद्गच्छति । तथा प्रतीयते च भेदः । स च न प्रामाणिकः । महाकाष्ठ एकस्यैव वह्नेः सिद्धत्वात् । तथा काष्ठबहुत्वेऽप्यनुमन्तव्यम् । एवं सर्वेषु देहेषु सर्वेषु भूतेषु च तिरोहितः समवस्थितः स जीव इति हिशब्दार्थः । किञ्च । यत्र हि आविर्भवति तत्र तिष्ठतीति निश्चितम् । योगेन ज्ञानेन वाऽयं सर्वत्र आविर्भवति । अतस्तानि भूतानि योनिरूपाणि । तेष्वेक एव वह्निर्नाना प्रतीयत इत्यर्थः । किञ्च । विश्वाऽऽत्मा चाऽयम् । विश्वस्यैकमेव हि स्वरूपम् । एकवचनप्रयोगात् । तस्याऽऽत्मा कथमनेको भवेत् । उपाधिभेदाद्भेद इव प्रतीयते । चकाराद्भौतिकेषु । किञ्च । पुमानयम् । ब्रह्माण्डविग्रहः स्वराट् पुरुष एक एव सर्वत्र ब्रह्माण्डे । तस्य चाऽवयवभूतानि मध्यस्थानि भूतानि भौतिकानि च । तेषां भेदप्रतीतावपि पुरुषो न भिद्यते । यथा करचरणादिषु नानाभेदप्रतीतावपि नाऽधिष्ठातुर्भेदः । तथा सर्वत्र ब्रह्माण्डे पुरुषस्येत्येक एव सर्वत्र गुप्तो नानेव प्रतीयमानो जीव इत्युक्तं भवति ॥३२॥

**सुबोधिनी अनुवादः**—अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः—१-४-२२ ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्न के मतानुसार यहां प्रतिपादन किया गया है । इस मतानुसार किसी भी रूप में अवस्थिति करने वाले भगवान् ही जीव है— जीव भगवान् का रूप है । काष्ठ में जैसे अग्नि है उसी तरह पंचमहाभूतों मे तथा उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थो में वह विश्वात्मा भगवान् जीव रूप में स्थित है । वह ईश्वर एक है । उन उन उपाधियों के कारण भेद प्रतीत होता है किन्तु भेद प्रामाणिक नहीं है । उपाधि–रहित जीव स्वतः भगवान् से विलक्षण नहीं है । केवल विभिन्न शरीर रूप उपाधि के भेद से ही वह विलक्षण बन गया है । जिस प्रकार मंथन किये विना काष्ठ में अग्नि की प्रतीति नहीं होती, उसी तरह योग के विना अन्तःकरण में जीव की प्रतीति नहीं होती । जिस प्रकार हाथ पैर आदि अवयव शरीर से भिन्न नहीं हैं उसी तरह महाकाष्ठ में सर्वत्र एक रूप से विद्यमान अग्नि जहां मंथन किया जाता है वहां ही मंथन स्थान में प्रकट होता है। इसी प्रकार जीव भगवान् का अंश होने से उससे भिन्न नहीं हैं । तथापि भेद की जो प्रतीति होती है वह प्रामाणिक नहीं है । जैसे एक ही विशालकाष्ठ में सर्वत्र एक ही अग्नि है वैसे अनेको काष्ठों में भी वह अग्नि एक ही है, यही व्यवस्था जीवों की है । इसी तरह सर्वदेहों में तथा सर्वपंचमहाभूतों में गुह्य रूप से तिरोधानतया जो समवस्थित है वह जीव है– यहां "हि" अव्यत्र का यही अर्थ है । यहां काष्ठ के दृष्टांत से यह सिद्ध होता है कि जिस काष्ठ में अग्नि प्रकट है उसी काष्ठ

में वह प्रकाशमान रहता है। जड़ में चिदंश का तिरोभाव होने से वहां जीव का प्रकाश नहीं है। वह जीव योग से अथवा ज्ञान से जड, चेतन सब में प्रकट हो सकता है। इसलिये जैसे अग्नि का उत्पत्ति स्थान काष्ठ है उसी तरह जीव के प्रकट होने का स्थान समग्र पंचमहाभूत है उनमें काष्ठ में अग्नि के समान एक ही जीव पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। और यह जीव विश्वात्मा है अर्थात् समग्र विश्व का यह एक ही स्वरूप हैं। और इसीलिए श्लोक में भी विश्वात्मा इस तरह एक वचन का ही प्रयोग किया गया है, क्योंकि एक ही जगत् की आत्मा अनेक कैसे हो सकती है? किन्तु उपाधि के भेद से मानो पृथक् पृथक् हो ऐसा प्रतीत होता है। भूतेषुच– में चकार का अर्थ है पंचमहाभूतों से बने हुए शरीर आदि में भी वह पृथक् पृथक् दिखाई देता है। यह जीव (पुरुष) है। अर्थात् सर्वत्र ब्रह्माण्ड में वह ब्रह्माण्ड विग्रह वाला पुरुष एक ही अपने आप प्रकाशित है– स्वराट्। इस ब्रह्माण्ड के पंचमहाभूत और इनसे उत्पन्न संपूर्ण भौतिक पदार्थ– इसके अवयव रूप हैं। ये समग्र पदार्थ पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं तथा यह पुरुष अनेक नहीं है। एक ही है। जिस तरह हाथ पैर आदि में विविध प्रकार की विभिन्नता दिखाई देती हैं फिर भी शरीर में स्थित जीव का कोई भेद नहीं है। इसी तरह समग्र ब्रह्माण्ड में विराट् पुरुष का भेद नहीं है। इसलिए सर्वत्र ब्रमाण्ड में छिपा हुआ एक ही विराट् पुरुष विश्वात्मा भगवान् जब नानारूप में प्रतीत होता है तब वह जीव कहलाता है।

**आभासः**—तद्रूपेणैव भोगलीलेत्याह—

**आभासार्थः**— वही विश्वात्मा भगवान् जीवरूप से लीला करता है उसी को कहते हैं—

**श्लोक– असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।**
**स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेतु तद्गुणान् ॥३३॥**

**श्लोकार्थं**— वही विश्वात्मा भगवान् सदंश से निर्मित पंचमहाभूत पंचतन्मात्रा इन्द्रिय समूह तथा अंतःकरण द्वारा बनायी गयी सृष्टि में प्रविष्ट होकर देव, तिर्यक्, नर आदि प्राणियों में (पुरुषार्थ-चतुष्टयका) भोग करता है।३३।

**सुबोधिनी—असाविति।** चतुर्विधा हि सदंशसृष्टिः। अन्तःकरणमिन्द्रियाणि तन्मात्राणि भूतानि चेति। तानि त्रिगुणात्मकानि। गुणमयत्वकथनात्स्वांशरूपता निरूपिता। तैर्निर्मितेषु देवतिर्यङ्नरादिषु भूतेषु नितरां विष्टः अनध्यासे स्थितो भुङ्क्ते विषयानात्मसात्करोति। भोग-मुत्तरत्र स्पष्टीकरिष्यामः। एतावता भोगसृष्टिभेद उक्तो भवति। साक्षात्सृष्टेः पूर्णनिरूपणात्

मायाकरणकत्वाच्चाऽपि हेतुभूतादीनां करणत्वं कर्तृत्वं वा। स्वस्विन्निर्मितेषु, स्वार्थं वा निर्मितेषु, स्वेन वा निर्मितेष्विति। गुणास्त्रयः। तत्र सात्विकमन्तःकरणं, सात्विकराजसानीन्द्रियाणि, राजसतामसानि तन्मात्राणि, तामसानि भूतानि चेति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतुर्द्धा भेदः। देहेन धर्मः। तन्मात्रैरर्थः। इन्द्रियैः कामः। अन्तःकरणेन मोक्ष इति। तत्र जीवस्यैकत्र मुख्यतया स्थितौ अन्ये ह्यङ्गभावं प्राप्नुवन्ति। अतएव तद्गुणान् चतुर्विधपुरुषार्थरूपान् भुङ्क्त इत्युक्तम् ।३३।

**सुबोधिनी अनुवाद**:— अन्तःकरण इन्द्रियां, पंचतन्मत्रायें तथा पंचमहाभूत इस तरह भगवान् के सदंश से यह चार प्रकार की सृष्टि है। ये अन्तःकरण आदि गुणमय अर्थात् त्रिगुणात्मक कहलाते हैं। गुण भगवान् के अंश हैं इसलिये यह चतुर्विध सृष्टि भगवान् की अंशरूप है। अन्तःकरण आदि से निर्मित देवता, पक्षी तथा मनुष्यों में प्रविष्ट भगवान् अनाध्यासतया स्थित होकर विषयों का उपभोग करता है अर्थात् में भोग करता हूं- इस प्रकार के अध्यास (भ्रम) से रहित होकर विषयों का उपभोग करता है- विषयों को अपने स्वाधीन करता है। भोग क्या है? यह इससे आगे स्पष्ट किया जायेगा। इस इतने निरूपण से भोगसृष्टि का भेद कहा गया है। साक्षात् सृष्टि के भोग का निरूपण इससे पूर्व कर चुके हैं।

स्वयं भगवान् ही सृष्टि रूप बन जाते हैं और माया को करण बनाकर सृष्टि वनाते हैं। इन दोनों का ही निरूपण किया जा चुका है। यहां स्वनिर्मितेषु का अर्थ तीन प्रकार से किया जा सकता है- स्वस्मिन् निर्मितेषु १ अपने में बनाई गई सृष्टि में, स्वार्थं निर्मितेषु- २ अपने लिये बनाई गई सृष्टि में, स्वेन निर्मितेषु- ३ अपने से निर्मित सृष्टि में- इस प्रकार के अर्थ से ईश्वर में कर्त्तव्य आता हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त पंचमहाभूत आदि का भगवान् करण भी है और कर्त्ता भी है।

गुण तीन है, सत्व रज और तम। ऊपर कहे गये अन्तःकरण आदि में अन्तःकरण सात्विक है, इन्द्रियां सात्विक-राजस हैं, रूपरस आदि तन्मात्रायें राजस-तामस हैं और पंचमहाभूत तामस है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चार प्रकार के पुरुषार्थो की सिद्धि के लिये सृष्टि का चार प्रकार से भेद कहा है। अर्थात् देह से धर्म होताहै, तन्मात्राओं से अर्थ सिद्ध होता है, इन्द्रियों से काम सिद्ध होता है और अन्तःकरण से मोक्ष सिद्ध होता है। जीव को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से किसी एक में जब दृढ़ अध्यास हो जाता है तब अवशिष्ट तीनों उसके अंग बन जाते हैं।

हैं। 'तद्गुणान्' इसलिये चारों प्रकार के पुरुषार्थों को वह भगवान् जीव रूप से भोगता है।३३।

**आभासः**—एवं भोगलक्षणलीलामुपपाद्य तत्सिद्धये पालनलक्षणलीलामाह—

**आभासार्थ**:—इस प्रकार भोगलीला का उपपादन करके, भोगसिद्धि के संपादनार्थ पालन लीला का वर्णन करते हैं—

**श्लोक– भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।**
**लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥३४॥**

**श्लोकार्थ**—यह भगवान् देव, पशु-पक्षी तथा मनुष्यादि में लीलावतार धारण करके जीव के पीछे पीछे रहते हुए भिन्न भिन्न प्रकृति के प्राणियों में प्रीति रखते हैं तथा जीव से अभिन्न रह कर यही भगवान् लोक की सर्वदा चिन्ता रखते हुए उनके दुःख दूर करते हुए उनका पालन करते हैं। भगवान् अपने विभिन्न अवतार-चरित्रों द्वारा सर्वलोक को मुक्ति का दान करने के लिये उनको सात्विकता से सम्पन्न करते हैं।३४।

**सुबोधिनी**:—**भावयतीति**। भावयति पालयति एष एव जीवरूपेण अभिन्नः। पालने सत्त्वगुण एक एव करणम्। लोकान्भुवनजनरूपान्। अथवा। सत्त्वेन भावयति। सत्त्वयुक्तान् करोतीत्यर्थः। उभयत्र हेतुमाह—**लीलावतारानुरत इति** अवतारैर्दैत्यानां वधं विधाय सर्वलोकान् पालयति। अवतारैश्चरित्राणि विधाय सर्वाल्लोकान् सत्त्वयुक्तान् करोति मुक्तये। ननु सत्त्वमात्रेण कथं मुक्तिः? अवतारैर्वा कथं पालनम्? तत्राऽऽह— **लोकभावन इति**। लोकैर्भावनं यस्येति मुक्तिप्रकारः। अवताराणामविद्यमानदशायामपि भावनयैव सर्वानिष्टानिवृत्तेः पालनमित्यर्थः। अथवा। लोकान्भावयतीति। सर्वदा लोकानां चिन्तया तेषामेव दुःखनिवारणाय अवतारान्कृत्वा पालयतीत्यर्थ। ननु कथं तमःप्रकृतिषु लीलेत्यत आह— **अनुरत इति**। यथा जीवास्तत्र तत्र रताः। रतिव्यतिरेकेण तादृशशरीराभावात्। तदनु स्वयमपि रत इत्यर्थः। देवादयः सत्त्वादिभेदाः। आदिशब्देन मिश्रभेदाः। अनेनाऽनुक्तेष्वपि सर्वेषु भगवदवतारा ज्ञातव्या। वक्ष्यति च–"**अवतारा ह्यसङ्ख्येया**" इति। देवेषु वामनः। तिर्यक्षुमत्स्यादयः। नरेषु रामादयः। मिश्रेषु नृसिंहादय इति।३४।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥**

**सुबोधिनी अनुवादः**—जीवरूप से अभिन्न यह भगवान् ही लोक का पालन करता है। पालन करने में सत्त्व गुण ही साधन रूप है। लोकशब्द से यहां समग्र भुवन तथा मनुष्य दोनों ग्रहण किये गये हैं। अथवा भगवान् इन जीवों को सत्त्व युक्त बनाते हैं। लोकों का पालन करने में और सत्त्व युक्त बनाने में हेतु यह है कि अवतारों द्वारा दैत्यों का वध करके सब लोकों का पालन करते हैं अथवा अपने विभन्न अवतारों से विभिन्न लीलाएं करके सर्व लोकों की मुक्ति के लिये उनको सत्त्व युक्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि सत्त्व गुण को ग्रहण करके भगवान् जो अवतार धारण करते हैं उन अवतारों से दैत्यों का संहार करके सबका रक्षण करते हैं अथवा ऐसे चरित्र करते हैं जिससे अन्य प्राणी भी यदि उन चरित्रों की भावना करें तो वे भी सत्व युक्त बन कर मुक्त हो जाते हैं।

यहां शंका होती है कि सत्व मात्र से मुक्ति कैसे मिल सकती है ? अथवा अवतारों से पालन कैसे संभव है ? इसके उत्तर में कहते हैं— "लोकभावनः" अर्थात् लोकैर्भावनंयस्य- सर्व लोक इसकी भावना करते हैं। इस तरह की यह भावना करना मुक्ति का प्रकार है। इस तरह भावना करने से मुक्ति मिल जाती है। अर्थात् अवतारों की उनुपस्थिति में भी भावना करने से ही सर्व अनिष्ट की निवृत्ति होती है और अनिष्ट की निवृतिरूप में पालन होता है। अथवा सर्व लोकों की चिंता के कारण उनके दुःख दूर करने के लिये अवतार धारण करके उनका पालन करते हैं।

यहां शंका होती है— मत्स्यादि तामस प्रकृति के अवतारों में भगवान् कैसे लीला कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि– "अनुरतः" अभिप्राय यह है कि जीव अनेक प्रकार के हैं। किसी की सत्वावतार में, किसी की रजोगुणावतार में और किसी की तमोगुणावतार में आसक्ति होती है। अतः उनकी आसक्ति (रति) के अनुसार सात्विक राजस तथा तामस में भगवान् अवतार लेते हैं। विना लोक–रति के भगवान् ऐसा शरीर धारण नहीं करते। लोकों की अनु-रक्ति देख कर भगवान् स्वयं भी तदनुरक्ति अनुसार उसी रूप में रत हो जाते हैं, उसी रूप में अवतरित होते हैं।

देव, तिर्यङ्तथा नर– ये सात्विक, राजस तथा तामस हैं— "देवतिर्यङ्नरादिषु" में जो आदि पद है उससे सात्विकादि के मिश्र भेद लिये गये हैं। जैसे– सात्विक तामस, राजस तामस,

राजस सात्विक इत्यादि इत्यादि। इन मिश्र भेदों के लेने से देवतिर्यङ्नरादि में अनुरक्त अन्य सभी में भी भगवान् के अवार होते हैं- यह समझ लेना चाहिये। इसी का निर्देश करने के लिये अग्रिम प्रसंगों में भगवान् के अवतार असंख्य हैं– अवताराह्यसंख्येया:– ऐसा कहा गया है।

देवताओं में वामन, तिर्यङ्में मत्स्यादि, मनुष्यों में राम आदि तथा मिश्रों में नृसिंह आदि अवतार हैं। नृसिंहावतार मनुष्य तथा सिंहाकृति का होने के कारण मिश्रावतार है।३४।

इस प्रकार श्रीमद्लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्रीवल्लभ दीक्षित विचरित श्रीमद्भागवत सुबोधिनी प्रथमस्कंध का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

---

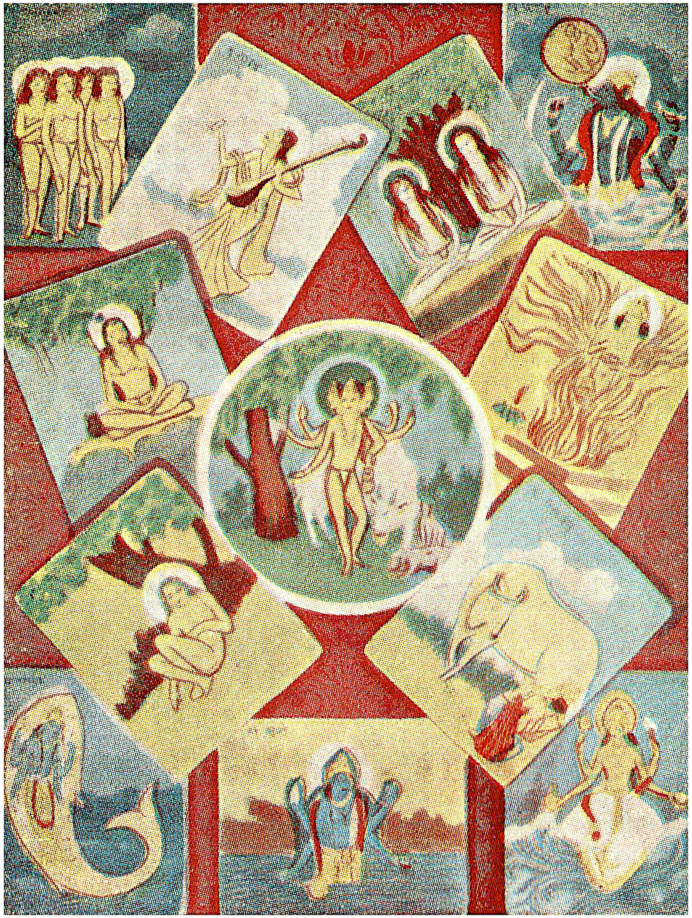

भगवान्‌के चौबीस अवतार

॥ श्रीहरिः ॥

# श्रीमद्-भागवत-संहिता

## प्रथम-स्कन्ध

●

## तृतीय-अध्याय

*श्री सुबोधिनी व्याख्या*

*का*

*अनुवादात्मक विवेचन*

**कारिकाः- निरूपिताः पञ्च लीलाः फलसाधननिर्णये ।**
**तृतीये त्ववशिष्टानामवतारार्थधर्मिणाम् ॥१॥**

**कृष्णाऽवतारकार्यं हि न सूतो ज्ञातवान्स्फुटम् ।**
**अतः साधारणं प्रोक्तं निर्णयश्च तथाऽधिकः ।**
**षट्प्रश्नपूरणं तेन वस्तुतः पञ्चपूरणम् ॥२॥**

"**अथाऽऽख्याहि हरेर्धीमन्नि**" ति पृथक्तयाऽवतारप्रश्नादध्यायान्तरेणाऽवतारानाह **जगृह** इत्यादिषड्विंशत्या । अवतरणमवतारः । व्यापिवैकुण्ठाद्भगवतः प्रपञ्चे समागमनम् । तत्र यद्यप्यक्षरकालकर्मस्वभावतत्त्वेषु भगवदवतरणमस्ति, तथापि तेषु द्विरूपता वर्तत इति नाऽवतारत्वम् । **लीला विदधतः स्वैरमिति** प्रश्ने विशेषकथनाद्वा । न हि तेषु स्वेच्छालीलाऽस्ति । भूतलीला द्विविधा, साक्षात्परम्पराभेदेन । भौतिकलीलाऽपि द्विविधा, ब्रह्माण्डं निर्मायाऽनिर्माय च ।

निर्माणपक्षेऽपि यथा दशरथपुत्रेषु कश्चिदवतारः कश्चिन्न तथा विश्वसृजां गर्भो विराट् कदाचिद्ब्रह्म-शरीरं कदाचिज्जीवशरीरम् । तत्र ब्रह्मशरीरपक्षे तत्रत्यानां मुक्तिः सुलभा। अतः प्रथमं पुरुषावतारत्वमाह पञ्चभिः ।

**कारिकार्थः**—दूसरे अध्याय में, फल साधन के निर्णय में– सृष्टि, प्रवेश, नानात्व. भोग और रक्षा इन पांच लीलाओं का वर्णन किया जा चुका है। इस तृतीय यध्याय में, बाकी के बचे हुए अवतारों का पुरुषार्थों का तथा सर्वप्रार्थनीय– धर्मी श्री कृष्ण का निर्णय किया जायेगा। सूतजी कृष्ण अवतार के कार्य को स्पष्टतया नहीं जानते थे। इसलिये इस अध्याय में असौ– इत्यादि श्लोक से उनका साधारण रूप से ही वर्णन किया है, और "देवतिर्यङ्नरादिषु" से विशेष रूप में निर्णय कहा है। इस तरह छहों प्रश्नों के उत्तर संपूर्ण हो जाते है। किंतु वास्तव में देखा जाय तो पांच प्रश्नों के ही उत्तर पूर्ण हुये हैं। क्योंकि अग्रिम कुन्ति की स्तुति में श्री कृष्णावतार का निरूपण बराबर नहीं हुआ है।

"अब हमें भगवान् के अवतारों की कथा कहिये"–'आख्या हि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः' इस प्रकार से अवतार के विषय में पृथक् प्रश्न किया गया है। इसलिए इस तृतीय अध्याय में पृथक्तया ही 'जगृहे पौरुषं रूपम्' आदि श्लोकों से अवतारों का निरूपण करते हैं।

'उतरने' का नाम 'अवतार' है, अर्थात् व्यापिवैकुंठ से (अक्षर ब्रह्म से) भगवान् का इस प्रपंच में अवरण (आगमन) ही अवतार है। यद्यपि अक्षर, काल, कार्य, स्वभाव एवं तत्वों में भी भगवान् का अवतरण है फिर भी उसमें 'द्वैतरूपता' है— अतः यह अवतार नहीं माना जा सकता अथवा "इच्छानुसार लीला करने वाले हरि की अवतार कथा कहो" इस प्रश्न में अवतार सम्बन्धी विशेष प्रश्न किया गया है– इसलिए अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव इत्यादि अवतार नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनका स्वेच्छा से लीला करने का वर्णन नहीं है– अतः जिनकी स्वेच्छा रूप से लीला है, उन्हीं का अवतार रूप से वर्णन है।

भूतलीला साक्षात् तथा परंपरा भेद से दो प्रकार की है। 'एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यादि से कही गयी ब्रह्म से ही सृष्टि साक्षात् भूतलीलाला है– और "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" अर्थात् भगवान् से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी– इस क्रम से कही गयी सृष्टि परंपरा भूतलीला है।

भौतिकलीला दो प्रकार की है। एक ब्रह्मांड को–विराट् को उत्पन्न करके, की जाने वाली

और दूसरी ब्रह्मांड को उत्पन्न किये विना ही की जाने वाली। इनमें जहां ब्रह्मांड को उत्पन्न करके भौतिक लीला की जाती है वहां निर्माण पक्ष में भी, जिस तरह किसी कल्प में दशरथ पुत्रों में कोई अवतार था कोई अवतार नहीं भी था (क्योंकि महाभारत के सभापर्व में 'दाशरथिःराम' ऐसा कह कर यह सूचित किया है कि किसी कल्प में राम का अवतार रूप में निरूपण नहीं है) उसी तरह विश्व को उत्पन्न करने वालों का गर्भ रूप जो विराट् है उसका कभी ब्रह्म शरीर से और कभी जीव शरीर से निरूपण किया है। जहा विराट् को ब्रह्म शरीर माना है– वहां विराट् में रहने वालों की मुक्ति सुलभ है और जहां विराट् को जीव शरीर माना है– वहां मुक्ति सुलभ नहीं है। अर्थात् विराट् को यदि जीव शरीर मानते हैं, तब उस विराट् की उपासना करने वाले सभी जीवोपासक होंगे– तथा कृष्णावतार के अतिरिक्त जितने भी अवतार हैं 'एतन्नानावताराणां' के अनुसार जीव शरीर विराट् ही उनका निधान होगा– इसलिए ऐसी उपासना से मुक्ति सुलभ नहीं होगी। यदि ब्रह्मांड को ब्रह्मशरीर मानते हैं, तब उपासक उस ब्रह्मांड की-विराट् की भगवान् के रूप में उपासना करेगा- और क्योंकि उन सब अवतारों का स्थान ब्रह्म है, इसलिए वह उपासक, ब्रह्म का उपासक होगा। अतः उसकी मुक्ति सुलभ होगी।

इसलिये प्रथम पांच श्लोकों से पुरुषावतार को कहते हैं—

**सूत उवाच– जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।**
**सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥१॥**

**श्लोकार्थ**—लोकों की सृष्टि करने की इच्छा से, महदादि से उत्पन्न सोलह कलारूप विराट् पुरुष के रूप को भगवान् ने धारण किया ॥१॥

**सुबोधिनी**—अत्र तादृशाधिकारिजीवस्याऽभावात्स्वयमेव पुरुषो जातः। "**विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानी**" त्येप्येतादृशविषयम्। पुरुषशब्दस्त्रेधा व्युत्पद्यते। पुरि वसतीति। पुरमुषतीति। पुरा आस्त इति च। पुरास इत्याकारे "**व्यत्ययो बहुलमि**" त्युकारः। अस्मिन्पक्षे न शरीरसम्वन्धः। प्रथमपक्षेसम्प्रसारणषत्वे। **उष** दाह इति। प्रथमे जीवोऽपि भवति। द्वितीयतृतीययोस्तु भगवानेव। तत्र द्वितीयमाह। तप्तायःपिण्डेऽग्निरिव अण्डजत्वादन्तरेव सर्वनिर्माणं सर्वस्याऽपि मुक्तिदानार्थमिति। अस्य ब्रह्माण्डस्य पुरुषाकृतिरूपत्वं न पुरुषत्वम्। "**समाऽऽयतनमुत्तममि**" ति वचनात्। शुद्धसत्त्वात्मकं शरीरमिव पुरुषरूपं तत्त्वैर्निर्मितं स्वयं गृहीतवान्। अधिकारिव्यावृत्यर्थं-**भगवानिति**। अप्सु बीजजब्रह्माण्डवैलक्षण्यायाऽऽह– **महदादिभिरिति**। मह-

दहङ्कारपञ्चतन्मात्राभिः सप्तभिः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि च षोडशकलाः। एवं प्राकृतिको गणस्त्रयोविंशः। अस्यां सृष्टौ प्रकृतिपुरुषौ स्वयमेव। अतो न किञ्चिदवशिष्टम्। इयं हि आद्या सृष्टिः। द्वितीयादिसृष्टावधिकारिपुरुषाणां सुलभत्वात्। अवतारस्य प्रयोजनमाह **लोकसिसृक्षयेति**। लोकास्तु स्वोदरस्थिताः। तेषां सृष्टि उदरे च स्थितिर्द्वयं यथा भवति तथा करणार्थं ब्रह्माण्डदेहः परिगृहीतः ॥१॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—पुरुषरूप को धारण कर सके ऐसा कोई अधिकारी जीव ब्रह्मादि नहीं था। इसलिये भगवान् स्वयं पुरुष बनें, भगवान् के तीन रूप हैं, जो पुरुष से कहे गये हैं—१ महत्तत्व को पैदा करनेवाला २ ब्रह्मांड में स्थित और ३ सब प्राणियों में रहने वाला। जहां पुरा आस्ते ऐसा विग्रह है 'व्यत्ययो बहुलं छन्दसि, 'वहां 'आ' कार को 'उ' कार होकर, पुरुष ऐसा शब्द बनता है। इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को शरीराध्यास नहीं है—क्योंकि भगवान् शरीर सम्बन्ध हुआ उससे पूर्व थे। पुरे वसति "इस व्युत्पति में, व्याकरण के नियमानुसार, 'व' कार का, संप्रसारण होने से 'ष' होकर 'पुरुष" शब्द बनता है। 'पुरा आस्ते, तथा 'पुर उषति' ये दोनों व्युत्पत्तियां बृहदारण्यक से सिद्ध है- वहां स यत्पूर्वोस्मात् सर्वस्मात् सर्वान्पाप्मनः औषत् तस्मादुच्यते पुरुष इति' अर्थात् इस सबके पूर्व रहने वाला और पापों को जलाने वाला वह ब्रह्म है— इसलिए वही 'पुरुष' कहलाता है। और पुरि वसति इस का भाव मधु ब्राह्मण में पुरः पुरुष आविशत् स्पष्ट किया गया है। यहां पुरि वसति ऐसा विग्रह करने पर शरीर रूपी पुर में रहने वाला जीव ऐसा अर्थ भी निष्पन्न होता है। (किन्तु यह अर्थ यहां ग्रहण नहीं किया गया है) "पुर को जलाने वाला तथा पहिले रहने वाला, इन दोनों पक्षों में 'भगवान्' ही ग्रहण किये गये है। पुरं उषति इस द्वितीय व्याख्या का यहां यह अभिप्राय होता है कि तप्त लोह पिड में अग्नि की तरह प्रविष्ट भगवान् ब्रह्मांड के भीतर ही रहते हुये ब्रह्मांड में से ही उत्पन्न होने के कारण, सर्व को मुक्ति प्रदान करने के लिये सभी का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्मांड़ पुरुष की आकृति रूप है, पुरुष जैसा है, पुरुष नहीं क्योंकि मूल श्लोक में पौरुष- पुरुष संबंधी शब्द का प्रयोग किया गया हैं। क्योंकि यह ब्रह्मांड मेरे रहने का उत्तम स्थान है— 'ममायतन-मुत्तमम्' इस तरह के कथन से भी यही अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। शुद्ध सत्वरूप शरीर की तरह, तत्वों से बने हुये इस पुरुष शरीर को भगवान् ने धारण किया है किसी अन्य अधिकारी ने नहीं और यही निर्देश करने के लिये यहां 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जल में बीज से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मांड से यह ब्रह्मांड विलक्षण है- इस बात को 'महदादिभिः' इससे कहा गया है— अर्थात् महत्तत्व, अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द इन

तन्मात्राओं का तथा एकादश इन्द्रियां और पंचमाहाभूतों का इस तरह कुल मिलाकर २३ संख्या का यह प्राकृत समुदाय है, जिससे यह ब्रह्मांड बना है। इस सृष्टि में स्वयं भगवान् प्रकृति और पुरुष बनें अतः भगवान् के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं था– यही प्रथम आद्य सृष्टि है। इसके अनन्तर दूसरी तीसरी सृष्टियों का जो निर्माण किया गया उनमें ब्रह्मा आदि अधिकारी पुरुष सुलभ थे— अतः इनसे ही सृष्टियों का निर्माण हुआ ब्रह्मा आदि प्रथम सृष्टि में सुलभ नहीं थे इसलिये स्वयं भगवान् ही इस सृष्टि के अधिकारी रूप बने।

सृष्टि के निर्माण करने की इच्छा से यह पुरुषावतार हुआ लोकसिसृक्षया–इस पुरुषावतार का यही प्रयोजन था। सृष्टियां लोक भगवान् के उदर मे थीं लोकों का निर्माण और उनकी उदर में स्थिति ये दोनों ही कार्य जिस तरह से संपादित हो सके, उनको उसी तरह संपादित करने के लिये भगवान् ने ब्रह्मांड देह को धारण किया। ब्रह्मांड देह धारण करने पर उसी देह में सृष्टि तथा स्थिति दोनों रेहेंगी ।।१।।

**आभासः**—ननु काऽनुपपत्तिः। कीदृशस्य कर्तृत्वम् ? इत्यत आह—

**आभासार्थ**— यदि भगवान् पुर्वोक्त– ब्रह्मांड देह को धारण नहीं करते तो उसमें कौनसी आपत्ति थी और भगवान् का किस स्वरूप से कर्तृत्व है। इसको स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि-

**श्लोक– यस्याऽम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।**
**नाभीह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ।।२।।**

**श्लोकार्थं**—समुद्र के जल पर लेटे हुए समाधि रूप निद्रा में लीन भगवान् के नाभी रूप ह्रद में से उत्पन्न कमल से जगत् का निर्माण करने वालों के पति ब्रह्माजी प्रकट हुये ।।२।।

**सुबोधिनी—यस्याऽम्भसीति**। नेदं दैनन्दिनप्रलयशयनं किन्तु वैष्णवतन्त्रोक्तं चतुर्मूर्त्ति-सृष्टिहेतुभूतनारायणशयनम्। तदुक्तम्—"**आसीदुदारगुणवारिधि**" रित्यादौ। स हि स्वोदर-स्थाञ्जीवान् निर्मिमीते। तत्रोदरात्सर्वथा बहिर्निर्गमने सायुज्यसृष्टिवदयुक्तं स्यात्। अतो ब्रह्माण्डरूपं द्वितीयं कोशमुत्पाद्य तत्र सर्वान् सृजति। ननु शयानस्य शयनपरित्यागेन सृष्टिकरणे महान्क्लेश इत्याशङ्क्य, शयानादेव सर्वं जातमित्याह– **अम्भसि शयानस्येति**। भगवान् शयान एव स्थितः। **अम्भसीति** शीतलकोमलत्वे शय्यायाः सूचिते। ननु शयनं नाम स्वरूपविस्मरणेन मायाया

भगवतो वा समीपगमनम् । तत्कथं भगवति सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— **योगनिद्रामिति ।** न हि भगवान् शेते वस्तुतः। अस्ति च योगभूता निद्रा काचिच्छक्तिः । सा हि जीवानां क्लेशनाशिनी, स्वसमीपं च जीवानानयति गुह्यं च प्रकटीकरोति । तामल्पभूतां स्वस्वरूपे प्रसार्य महतीं कार्यक्षमां च सृष्ट्युपयोगाय करोतीत्यर्थः । तदर्थं प्रयतमानैरेव सृष्टिः क्रियत इति भावः । तथा भगवत्यपि जातमित्याह— **नाभीह्रदाम्बुजादिति ।** उदरस्थजगज्ज्ञापनाय नाभिपदम् । पङ्कजाऽशोषाय ह्रदः । अम्बुजं च त्रैलोक्यात्मकम् । तेन भगवतो माहात्म्यमपि सूचितम् । प्रथमकार्यत्वाद्ब्रह्मशब्दवाच्य एव । कर्तृत्वेन स्वातन्त्र्यख्यापनाय परं पुंल्लिङ्गनिर्देशः । ततो मरीच्यादयोऽपि जाताः । तेषामयमाज्ञापकश्च जात इत्याह— **विश्वसृजां पतिरिति ।** पतिशब्देन अनुल्लङ्घ्या तस्याऽऽज्ञेति सूचितम् ।।२।।

**सुबोधिनी अनुवादः**— भगवान् का यह शयन ब्रह्मा के दिन की समाप्ति में होने वाले नैमित्तिक– प्रलय काल का शयन नहीं है– किन्तु वैष्णव तंत्र में कहे गये चतुर्मूर्ति की सृष्टि के कारणरूप नारायण का यहां शयन है। इसी का निर्देश 'आसीदुदारगुणवारिधि' इस पंक्ति में किया गया है— अर्थात् उदार गुणों के समुद्ररूप नारायण अपने उदर में रहने वाले जीवों का निर्माण करते हैं।

भगवद् उदर में स्थित सायुज्य– प्राप्तजीवों को सृष्टि– निर्माण के समय में बाहर निकाल कर विमुख करना उपयुक्त है— अर्थात् जैसे सायुज्य- सृष्टि वाला जीव भगवान् में लीन हो जाने के पश्चात् फिर जन्म नहीं लेता उसी तरह इन जीवों का भी भगवद् उदर से वहिर्निष्काशन युक्त नहीं होगा इसीलिये भगवान् ब्रह्माण्डरूप द्वितीय कोश को पैदा कर फिर उसी ब्रह्मांड में सब को उत्पन्न करते हैं।

यहाँ शंका करते हैं कि शयन करते हुये भगवान् को शयन का परित्याग करके सृष्टि का निर्माण करने में बड़ा क्लेश होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि शयन करते हुये भगवान् से ही यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है और यही बात 'अम्भसिशयानस्य' से कही गई है- अर्थात् भगवान् सो रहे थे- और सोये हुये भगवान् ने ही यह सब उत्पन्न किया। 'श्लोकस्थ' अम्भसि- पद से यह सूचित किया गया है कि शय्याशीतल और कोमल है– जल में रहने वाली शेषशय्या शीतल और कोमल ही होगी।

यहां शंका करते हैं कि शयन उसी को कहते जिसमें स्वरूप की विस्मृति होती है। और माया के अथवा भगवान् के पास गमन होता है, किन्तु यह दोनों ही भगवान् के शयन में संभव

नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'योगनिद्राम्' वास्तव में भगवान् निद्रा नहीं ले रहे हैं- किन्तु योग-भूत (समाधि रूप) जो निद्रा है वह भगवान् की कोई एक शक्ति है जो जीवों का क्लेश दूर करतीहै- तथा जीवों को भगवान् के पास ले जाती है- अर्थात् योग जैसे गुप्त जीव को प्रकट कर देता है- उसी तरह भगवान् की यह योगनिद्रा भी जीव को सुषुप्ति दशा में भगवत् सम्बन्धी आनन्द का प्रकट अनुभव करा देती है यह निद्रा अल्प है। इसलिये भगवान् इसको अपने स्वरूप में चारों ओर फैलाकर विशाल तथा कार्य क्षम बनाते हैं। सृष्टि के उपयोगार्थ प्रकट करते हैं। अर्थात् आनन्द के लिये तथा योग के लिये प्रयत्न करने वाले लोग ही, सृष्टि पैदा करते हैं। और यही भगवान् के विषय में भी कहा जा सकता है। इसी का निर्देश 'नाभिह्रदाम्बुजादासीत्' इस पद में किया गया है।

यह जगत् उदर में स्थित था यह निर्देश करने के लिये यहां 'नाभि' पद का प्रयोग किया गया है। ह्रद स्थित कमल कभी सूखता नहीं 'नाभि के लिये ह्रद शब्द के प्रयोग द्वारा' यहां यही सूचित होता है। 'कमल' यहां त्रिलोक रूप हैं। इससे भगवान् का माहात्म्य भी सूचित किया गया है। भगवान् की ऐसी महिमा है कि जिनकी नाभी से अंकुरित कमल भी त्रिलोक रूप है। 'ब्रह्मा' पद का तात्पर्य है कि यह 'सृष्टि भगवान् का प्रथम ही कार्य है। अर्थात् 'ब्रह्मा' भगवान् का प्रथम कार्य रूप है— इसीलिये वह 'ब्रह्मा' कहा जाता है- यहां 'ब्रह्मा' का पुंल्लिग में प्रयोग यह निर्देश करता है कि वह इस जगत् का स्वतंत्र रूप से कर्ता है। तदन्तर ब्रह्मा से विश्व को उत्पन्न करने वाले मरीचि आदि उत्पन्न हुये। ब्रह्मा इन मरीचि आदि को आज्ञा देने वाला है। इसलिये ब्रह्मा को यहां 'विश्वसृजांपतिः' मरीचि आदि का पति कहा है। पति शब्द से यह सूचित होता है कि इनके लिये ब्रह्मा की आज्ञा अवश्य पालनी है। इसका सारांश यह है कि जिसने पुरुष रूप धारण किया उसी भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति है ।।२।।

**आभास**—अनेन हि शयानादेव सर्वे लोका उत्पन्ना इत्युक्तम्। तेषां स्थानं वक्तुं लोकशब्दस्य भुवनवाचित्वात्तेषां जडत्वेन स्वतो जननाभावान्निद्रितस्य तज्जननमशक्यमित्याशङ्क्य पुरुषशरीरस्थूलावयवा एव तथाविधा जाता इत्याह—

**आभासार्थ**—इससे यह कहा गया है कि शयन करते हुये भगवान् से ही सभी लोक उत्पन्न हुये हैं इन लोकों के स्थान का निर्देश करने के लिये यहां 'लोक' शब्द का अर्थ 'भुवन' किया गया है। 'भुवन जड है' यह स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकते, और भगवान् भी निद्रित हैं– इसलिये वे भी उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते 'इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि पूर्वोक्त पुरुष शरीर के स्थूल अवयव ही भुवन रूप में परिणत हो गये' इसी तथ्य को निम्न श्लोक से कहते हैं—

**श्लोक— यस्याऽवयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ।**
**तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ।।३।।**

**श्लोकार्थ**—जिस पुरुष रूप भगवान् के चरणारविंद आदि अवयवों से यह विस्तृत भुवन जन लोक बना वही विशुद्ध सत्वरूप तथा सर्व कार्यों को करने में उन्मुख भगवान् का स्वरूप है ।।।३।।

**सुबोधिनी—यस्याऽवययसंस्थानैरिति** । स च युक्त्या मध्यभावे तिष्ठति ज्ञायते । वस्तुतस्तु बीजात्मकः सर्वगतिः सर्वकार्येषु निविष्ट इति । अयमूद्धर्वगोलो देहः । यैर्यैर्यथा यथा स्थितैर्येये लोकास्तानग्रे वक्ष्यति–"**पातालमेतस्य हि पादमूल**" मित्यादिभिः । शरीरे लोकनिर्माणे लोकानामल्पत्वमाशङ्क्य निराकरोति— **विस्तर इति** । एवं भुवनजननिर्माणेनाऽवतारप्रयोजनमुक्त्वा ब्रह्माण्डान्तरवदिदमपि केवलं जडमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमवताररूपमुपसंहारार्थमनुवदति— **तद्वै भगवत इति** । तत् पूर्वोक्तं ब्रह्माण्डरूपम् । उक्तोपपत्तिर्वैशब्देनोच्यते । तद्भगवत एव रूपं, नाऽन्यत्किञ्चिदित्यर्थः । ननु भगवतः प्राकृतं रूपमेव नास्ति । शुद्धसत्त्वात्मकं वा भवति । तत्कथं ब्रह्माण्डस्य देहत्वमत आह— **विशुद्धं सत्त्वमिति** । शुद्धसत्त्वात्मकमेवेदं शरीरमित्यर्थः । **ऊर्जितमिति** । न शान्तं, किन्तु सर्वकार्यकरणोन्मुखमित्यर्थः । हर्षेणोत्फुल्लता ऊर्ज्जः । तद्रजोगुणव्यतिरेकेणाऽपि भगवदावेशेन भवति ।।३।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— युक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् का विराट् देह वृक्ष भाव में अथवा जरायु भाव में हैं । यदि वृक्ष भाव अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्व भाव, वृक्ष मध्य भाव तथा फल उत्तर भाव है– और यदि जरायु भाव ऐसा अर्थ किया जाता है तो बीज पूर्व भाव है, जरायु मध्य भाव है तथा देह उत्तर भाव है । वास्तव में यह विराट् देह, बीज रूप तथा सर्व गति वाला है । विराट् के जिन जिन अवयवों से जो जो लोक बनें हैं उनका उल्लेख "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" इत्यादि से आगे करेंगे ।

विराट् देह में लोकों का निर्माण किये जाने पर लोक छोटे ही पैदा हुये होंगे— ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि लोक विस्तरः, ये लोक बहुत विस्तृत रूप में बने हैं । यहाँ 'लोक' शब्द भुवन एवं जन इन दोनों ही अर्थों में व्यवहृत हुआ है । अर्थात् भुवन और जन दोनों का ही निर्माण हुआ इस प्रकार यहाँ भुवन तथा जन इन दोनों का निर्माण ही अवतार का प्रयोजन है— यह कह कर दूसरे ब्रह्मांडों की तरह यह ब्रह्मांड भी केवल जड़ ही होगा ? इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड जड़ नहीं है, अवतार रूप है । इससे पूर्व कहा गया, ब्रह्मांड

रूप वास्तव में भगवान् का ही रूप हैं, दूसरा नहीं। यहां "वै" पद से यह निर्देश किया गया है कि - भगवान् की यह ब्रह्मांड-रूपता प्रमाण से उपपत्ति से सिद्ध है।

यहां यह शंका होती है कि भगवान् का तो कोई प्राकृत रूप है ही नहीं, भगवान् तो शुद्ध सत्वात्मक हैं। तो, फिर, यह ब्रह्मांड भगवान् का देह कैसे हुआ ? इसका समाधान यह है कि यह ब्रह्मांड रूप देह भी शुद्ध सत्वात्मक ही है। भगवान् शान्त, निष्क्रिय नहीं है, अपितु सर्व कार्य करने में उन्मुख है– यह बात 'उर्जितम' पद से सूचित की गई है। हर्ष सुलभ उत्फुल्लता को 'ऊर्ज' कहते हैं। यद्यपि रजोगुण के विना यह विराट्-देह कार्य करने में उन्मुख नहीं हो सकता, किन्तु, रजोगुण के विना भी, भगवान् के आवेश से यह विराट् देह सम्पूर्ण कार्य संपादनार्थ उन्मुख होता है ।।३।।

**आभास**—ननु ब्रह्माण्डस्य परिग्रहः करणत्वेनाऽपि सम्भवति। तत्कथमेकान्ततो देहत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थ**—शंका होती है कि ब्रह्माण्ड को भगवान् ने साधन रूप से स्वीकार किया है और ऐसा संभव है तो, फिर, भगवान् ने इसका एकान्ततया देह रूप से ही क्यों स्वीकार किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

**श्लोक– पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।**
**सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ।।४।।**

**श्लोकार्थ**—जो अपरिमित पैर, जंघायें, भुजायें एवं मुखों से अद्भुत है और जिसके अनन्तों मस्तकों में अनन्तों कान, आँख, और नासिकाएं है और जो अनन्तों मुकुट, वस्त्र और कुण्डलों से अत्यन्त शोभा युक्त है– ऐसे इस ब्रह्माण्ड रूप को योगिगण विशाल ज्ञान दृष्टि से देखते हैं– प्रत्यक्ष करते हैं ।।४।।

**सुबोधिनी:—पश्यन्तीति**। योगिनां योगजधर्मसाक्षात्कार एव भगवदवतारत्वे प्रमाणम्। प्राकृतचक्षुषा हीदं जगद्दृश्यते, न त्वदः परोक्षत्वेन प्रसिद्धम्। तच्च रूपम्। न तु पृथिव्यादिवत्केवलं जडम्। किञ्च। योगिनामपि सदा न भासते। किन्त्वदभ्रचक्षुषा महता ज्ञानचक्षुषा। भगवतः प्रतिकृतिरूपत्वेन वेदप्रतिपाद्यस्य सम्बन्धे शरीरमपि- '**विश्वतश्चक्षुरि**' ति श्रुतिप्रतिपादितरूपवद्धचेयं जातमित्याह— **सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतमिति**। सहस्रमित्यपरिमितनाम। '**अनेकवक्त्रनयनमि**' ति गीताप्रतिपादितरूपवत्सहस्रपादोरुभुजाननैरत्यद्भुतम्। अत्र क्रियाशक्तिप्रधानानि चत्वार्यङ्गानि निरूपितानि। **गतिश्च,सृष्टिजननं, कृतिश्च, परिभाषणमिति**। ज्ञानशक्तिप्रधानान्याह— **सह-**

**स्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकमिति।** सहस्रं मूर्द्धसु श्रवणे अक्षिणी नासिके च यस्य। त्रीण्येव द्विदैवत्यानि ज्ञानाङ्गानि बहिः प्रसिद्धानि। रसनेन्द्रियं त्वन्तरेव आननपदेनैव सङ्गृहीतम्। त्वचो न नानात्वम्। परिकरमाह— **सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसदिति।** सहस्रं **मौलयः** मुकुटानि, अम्बराणि, कुण्डलानि च, तैरुल्लसत्। अतिशोभायुक्तमित्यर्थः। परिकराणामवरोहप्रकारेण प्रतीतत्वाद्यथाक्रमं निर्देशः ॥४॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—योगियों को योग सुलभ ज्ञान (धर्म) द्वारा साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार ही भगवद् अवतार में प्रमाण है। यह जगत् प्राकृत नेत्रों से ही देखा जाता है। किन्तु परोक्षरूप से प्रसिद्ध भगवान् का यह रूप प्राकृत नहीं है। यह रूप पृथिवी आदि की तरह जड़ नहीं है। इसी तरह योगियों को भी इसके दर्शन सदा नहीं होते। किन्तु महान् ज्ञान दृष्टि से ही अदभ्रचक्षुषा दर्शन होते हैं। यह जगत् भगवान् का प्रतिकृति रूप है। अतः वेदप्रतिपाद्य भगवान् से सम्बन्ध होने पर, यह विराट् देह जगत् भी श्रुति से प्रतिपादित 'विश्वतश्चक्षु' इस रूप की तरह ध्यान करने योग्य है। इसी का निर्देश 'सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्' से किया गया है। 'सहस्र' का यहां 'अपरिमित' अर्थ होता है। अर्थात् उस विराट् के अपरिमित पैर ऊरू भुजा आनन आदि हैं। 'अनेक वक्त्र नयनम् इत्यादि वाक्यों से गीता में प्रतिपादित रूप की तरह यह विराट्, अनेकों पैर उरू भुजा तथा मुखों से युक्त अत्यन्त अद्भुत है। पाद ऊरू भुजा और मुख इनमें क्रियाशक्ति अधिक होती है। इसलिये यहां ये चारों अङ्ग क्रिया शक्ति रूप से कहे गये हैं। तात्पर्य यह है कि पैर से गमन ऊरू से सृष्टि भुजाओं से कार्य और मुख से परिभाषण रूप क्रियायें होती हैं। तदनन्तर ज्ञानशक्तिप्रधान इन्द्रियों का वर्णन करते हैं। इन विराट् के 'सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकम्' अपरिमित मस्तकों में अपरिमित कर्ण, नेत्र और नासिकाएं हैं। यह तीनों इन्द्रियां दो दो हैं। अतः दो दो देवता वाली ये इन्द्रियां ज्ञान के अंगरूप से बाहर प्रसिद्ध हैं। रसनेन्द्रिय भीतर होती है। अतः आनन पद से ही उसका ग्रहण हो जाता है। त्वचा एक ही है अनेक नहीं क्योंकि त्वचा से एक ही रूप में सर्वत्र स्पर्श की उपलब्धि होती है। तात्पर्य यह है कि पैर और भुजा में त्वचा है। किन्तु ये दोनों पृथक् पृथक् नहीं, एक ही हैं। क्योंकि पैर भुजा आदि में सर्वत्र एक प्रकार से स्पर्शानुभूति होती है। अतः त्वचा एक ही है।

अब भगवान् के परिकर का वर्णन करते हैं। अपरिमित मुकुट वस्त्र तथा कुंडलों से यह विराट् रूप भगवान् उल्लसित अत्यन्त शोभायुक्त है। इन मुकुट आदि परिकर का 'सहस्रमौल्यंबरकुण्डलोल्लसत्' इत्यादि पंक्ति में अवरोह प्रकार से ऊपर से नीचे यथाक्रम निर्देश किया

गया है। इन परिकरों में प्रथम मुकट के दर्शन होते है। फिर आभरणों के दर्शन होते हैं, तदनन्तर कुण्डलों के होते हैं। इसलिए उपरोक्त क्रम से ही इनका यहां निरूपण किया गया है ।।४।।

**आभास**—ननु "वाच धेनुमुपासीते" तिवदुपासनाप्रकारेण भगवद्रूपत्वेन जगतो ध्यान-सम्भवात्कथमेकान्ततोऽवतारत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थ**—शंका करते है। कि वाचं धेनुमुपासीत-वाणी की कामधेनु के रूप में उपासना करनी चाहिए इस वाक्य में जैसे उपासना के लिए वाणी को, कामधेनु रूप में बताया है, इसी प्रकार यदि जगत् का ध्यान, भगवद् रूप में संभव हो सकता है तो फिर, विराट् पुरुष एकान्ततया अवतार रूप ही है। विराट् पुरुष का अवतार, अवतार ही हैं। यह कैसे कह सकते हैं ? इसके समाधान में यह कथन हैं कि—

**श्लोक**— **एतन्नानावताराणां निधानम्बीजमव्ययम् ।**
**यस्यांऽशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादय : ।। ५ ।।**

**श्लोकार्थ**—यह विराट पुरुष, विविध अवतारों का निवासस्थानरूप हैं। तथा इनके उद्गम का कारण है, इसी के अंश रूप ब्रह्मा और ब्रह्मा के अंश रूप मरीचि आदि से देवता पक्षी और मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं ।। ५ ।।

**सुबोधिनी:—एतन्नानावताराणमिति ।** अयमर्थः । अवताणां मूलं भगवान्मूलावतरणं वा । तत्र तत्वनिर्मितत्वान्न भगवान् । तद्यद्यवताररूपमपि न भवेत् । अन्यावताराणां मूलमपि न भवेत् । अवतारोत्कर्षश्च । अतः पुरुषस्याऽवतारत्वे न सन्देहः । नानावताराणां मत्स्यादीनाम् । निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं स्थानम् । बीजमुद्गमहेतुः । तच्चाऽविनाशि । कन्दवदङ्कुरोत्पत्तौ न नश्यतीत्यर्थः । अवतारप्रयोजनं सूचितं विस्तारयति—**यस्यांऽशांशेनेति** । अंशो ब्रह्मा । तस्यांऽशो मरीच्यादिः । जघनादयो वा । देवादयः सात्विकादिप्रधानाः ।। ५ ।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— इसका यह अर्थ है कि अवतारों का मूल अर्थ भगवान् हैं। अथवा मूल का अवतरण ही इन अवतारों का मूल है। तत्वों से निर्मित होने के कारण ये अवतार भगवान् नहीं हैं यह विराट् पुरुष यदि अवतार रूप न हो तो वह अन्य अवतारों का मूल भी नहीं हो सकता और इससे उत्पन्न होने वाले अन्य अवतारों का उत्कर्ष भी नहीं होगा। अतः (विराट् ) पुरुष के अवतार होने में तो कोई संदेह नहीं है। यह पुरुषावतार मत्स्यादि नाना अवतारों का स्थान है। और इन सभी के उद्गम का कारण होने से बीज रूप भी है। अंकुर उत्पन्न होने पर जैसे बीज नष्ट हो जाता हैं। वैसे यह नष्ट नहीं होता,

क्योंकि यह अविनाशी रूप बीज हैं। अर्थात् अंकुर उत्पन्न होने पर भी नष्ट नहीं होता,

ऊपर कहे गये सूचित अवतार के प्रयोजन को यहां विस्तार से कहते हैं। यस्यांशांशेन यहां अंशांशेन के दो अर्थ है। जिस पुरुषावतार के अंश ब्रह्मा है। और ब्रह्मा के अंश रूप मरीचि आदि है। अथवा इस पंक्ति के दूसरे अंश शब्द से ब्रह्मा के जघन आदि भी ग्रहण किये जा सकते है। क्योंकि इन अंगांशों से भी सृष्टि की उत्पत्ति कही गयी है। तात्पर्य यह है कि अंशांश तो मरीचि आदि है। उनसे देव, पक्षी, मनुष्यादि की सृष्टि हुई- देवता सत्त्व प्रधान हैं। मनुष्य रजोगुण प्रधान हैं तथा पक्षी तमोगुण प्रधान हैं।

**आभास** — एवं पुरुषावतारमुक्त्वा तत्प्रकृतिरूपांस्तदंशसृष्टावप्यवतारानाह **स्व एवे**त्याद्येकविंशतिश्लोकैः—

**आभासार्थ**—इस प्रकार पुरुषावतार का वर्णन करके इसके ही अंश से उत्पन्न होने वाले तथा इसके तुल्य ही प्रकृति वाले अवतारों का कथन २१ श्लोकों से कहते है—

**श्लोक- स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।**
**चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥ ६ ॥**

**श्लोकार्थ**—वही पुरुषावतार अथवा भगवान् नारायण, प्रथम सृष्टि में सनत्कुमार रूप से प्रकट हुए और उन्होंने ब्राह्मण स्वरूप में लोक में दुश्चर ऐसे अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया॥ ६॥

**सुबोधिनी**—सर्वत्राऽवतारनाम प्रयोजनं चोच्यते। अवतरणरूपस्य तुल्यत्वेन आवेशाऽवतारयोरविशेषेण निरूपणम्।

**सुबोधिनी अनुवाद**— अग्रिम सब श्लोकों में अवतार का नाम और वह अवतार किस लिए हुआ उसका प्रयोजन कहा जाता हैं। आवेश और अवतार इन दोनों में भगवान् का अवतरण समान रूप से है इसलिए, आवेश तथा अवतार इन दोनों का ही सामान्य रूप से निरूपण किया गया है।

**कारिका- सत्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः सङ्क्रमः स्मृतः।**
**अशुद्धशुद्धभेदेन शरीराणामतो द्विधा।**
**कार्यकाले सङ्क्रमणमावेशः सर्वदा परम्॥**

**कारिकार्थ**—सत्व रूप शरीरों में ब्रह्म के संक्रमण- आगमन को अवतार कहते हैं। शरीरों के अशुद्ध तथा शुद्ध से यह संक्रमण दो प्रकार का है। किसी कार्य विशेष के समय में संक्रमण को आवेश कहते हैं। सर्वदा के लिये संक्रमण को अवतार कहते हैं। शुद्ध सत्व जिसमें हो वह शुद्ध और जिस सत्व में रज-तम सम्मिलित हो वह अशुद्ध इस तरह इन भेदों से शरीर दो प्रकार के कहे गये हैं।

प्रकाशकार श्री पुरुषोतमजी ने यहाँ अशुद्ध शुद्ध मानेन ऐसा पाठ माना है- तदनुसार इसका अर्थ होगा- अशुद्ध शुद्ध भाव से शरीर दो प्रकार के हैं- इसलिये अवतार भी दो प्रकार के हैं कार्य करने के समय संक्रमण आवेश है और सर्वदा स्थिति के लिये संक्रमण अवतार कहलाता है। कारिका में 'परम्' शब्द का अर्थ है, दूसरा अवतार।

यहां तो आवेश और अवतार का सामान्य रूप से निरूपण किया है- विशेष रूप से अर्थात् यह आवेश है, और यह अवतार है इस प्रकार नहीं कहा- अतः दोनों का निश्चय कैसे होगा ? अतः कहते हैं कि 'तत्र निर्णयो वैष्णवतन्त्रे निरूपितः।' इसका निर्णय वैष्णव तंत्र में निरूपित किया गया है।

**कारिका-** **क्रियाशक्त्या ज्ञानशक्त्या चाऽवतारं करोत्यजः।**
**वाराहादिस्वरूपेषु बलकार्यं जनार्दनः॥**
**दत्तव्यासादिरूपेषु ज्ञानकार्यं तथा प्रभुः।**
**मत्स्यकूर्मवराहाश्च सिंहवामनभार्गवाः॥**
**राघवः कृष्णबुद्धौ च कृष्णद्वैपायनस्तथा।**
**कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रुचेः सुतः॥**
**नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च।**
**महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान्॥**
**तथैव वडवावक्त्रः कल्की धन्वन्तरिः प्रभुः।**
**इत्याद्याः केवलो विष्णुर्न विशेषोऽत्र कश्चन॥**
**श्रीब्रह्मरुद्रशेषाश्च वीन्द्रेन्द्रः काम एव च।**

**कामपुत्रोऽनिरुद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः ।।**
**धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।**
**मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।।**
**कश्यपः सनकाद्याश्च ब्रह्माद्याश्चैव देवताः ।**
**भरतः कार्त्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः ।।**
**गयश्च लक्ष्मणाद्याश्च त्रयो रोहिणिनन्दनः ।**
**प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्राश्चाऽनिरुद्धतः ।।**
**नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।**
**इहोक्तिरविशेषेण सामान्यत इति स्फुटम् ।।**

प्रथमं ब्रह्मणः सनकादय उत्पन्नाः । तेष्वावेशः । तस्य प्रयोजनं ब्रह्मचर्यमिति । न हि जीवस्य ब्रह्मचर्यं सम्भवति । इन्द्रियवत्त्वात् । यथा हि क्षुदग्निराविर्भूतः सोढुमशक्यः । एवं बीजाधारकामाग्निरपि । तत्र यथा जलपानं, तथा स्त्रीप्रेक्षणादि । यथाऽन्नतृप्तिस्तथा स्त्रिया रेतो-निवृत्तिः । तत्र मनसाऽपि स्त्रीणामस्मरणेन रेतोधारणं ब्रह्मचर्यम् । तद्भगवदावेशेनैव भवतीति प्रथमं सनत्कुमारावतारः । स एव देवो नारायणः । कौमारं सनत्कुमाररूपम् । स्त्रीभिर्जलरूपै(?) बीजे वृद्धे यौवनं भवति । तदभावात्तेषु सर्वदा कौमारमेव । कुत्सितो मारो यस्मादिति । **दुश्चरमिति** । लोकेऽस्य चरणमप्रसिद्धम् । अखण्डितं यथा भवति तथा । अस्य हि प्रतिक्षणं नाशसम्भवः ।।६।।

**कारिकार्थ**—भगवान् जनार्दन जो अजन्मा है— क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति से अवतीर्ण होते हैं । वराह आदि के रूप में भगवान् ने बल का कार्य किया है– इसलिये ये क्रियाशक्ति के अवतार है ।

दत्तात्रेय, व्यास, कपिल आदि के रूपों में भगवान् ने ज्ञान का कार्य किया है इसलिये ये ज्ञानशक्ति के अवतार है । बाह्य दुःख मिटाने के लिये क्रियाशक्ति से और आन्तर दुःख मिटाने के लिये भगवान् ज्ञानशक्ति से अवतार लेते हैं ।

मत्स्य–कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, कृष्ण, द्वैपायन, कपिल दत्त, ऋषभ, रुचिपुत्र, यज्ञ, नारायण, हरि, जिसने साम्ब की प्राप्ति के लिये तपश्चर्या की

वह कृष्ण, मनु, महिदास, हंस, मोहिनी, हयग्रीव, वड़वावक्त्र, कल्कि, धन्वतरि इत्यादि केवल विष्णु हैं। किसी में यहां कोई विशेषता नहीं, सभी समान है। इन कारिकाओं में जहां एक ही नाम दो बार आया है, वहां उनमें भगवान् का विशेष संक्रमण समझना चाहिये।

लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र शेष, गरुड़, इन्द्र, कामदेव, कामपुत्र, अनिरुद्ध, सूर्य,चन्द्र, बृहस्पति, धर्म तथा इनकी भार्या, दक्षादि और मनु, मनुपुत्र, ऋषि नारद, पर्वत, कश्यप, सनकादि, ब्रह्मादि देवता, भरत, सहस्रार्जुन, चक्रवर्ति पृथुराजा, गय, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, रोहिणीपुत्र बलराम, रुक्मिणिपुत्र प्रद्युम्न अनिरुद्ध उनके पुत्र, नर-अवतार-अर्जुन इत्यादि भगवान् के विशेषावेशी हैं– अर्थात् इनमें भगवान् का विशेष आवेश है।

यहां 'विशेषावेशिन' में विशेष पद इसलिये दिया है कि साधारण आवेश तो सूत आदि में भी हो सकता है– उनका यहां ग्रहण न कर लिया जावे।

यहां, इन सभी में भगवान् का संक्रमण समान रूप में है– इसलिये ये सभी सामन्य रूप से कह दिये गये हैं– इनमें कोई अंशावतार हैं, और कोई कलावतार हैं।

कौमार, आर्ष प्राजापत्य और मानव ये सर्गविशेषों के नाम है। पहले ब्रह्मादि से सनकादि हुये– उनमें भगवान् का आवेश है। उनका सनक सनन्दन इत्यादि रूप धारण करने का प्रयोजन है ब्रह्मचर्य का पालन करना। इन्द्रियों से युक्त होने के कारण जीव से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। जब तक भूख को उत्पन्न करने वाली अग्नि है– तब तक भूख का सहन करना अशक्य है। भूख को शान्त करने का उपाय करना ही पडता है– इसी तरह बीज की आधारभूत कामाग्नि के विषय में समझना चाहिये। भूख को शान्त करने के लिये जैसे भोजन आवश्यक है, उसी तरह काम को शान्त करने के लिये, स्त्रियों के साथ वार्तालाप आदि है। अन्न द्वारा जैसे क्षुधा की निवृत्ति द्वारा तृप्ति होती है उसी तरह स्त्री सेवन से बीज की आधारभूत कामाग्निकी शान्ति से तृप्ति होती है। इसलिये इन्द्रियवान् जीव के लिये ब्रह्मचर्य संभावित नहीं है। स्त्रियों का मन से भी स्मरण किये विना, वीर्य को धारण करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन वही कर सकता है जिसमें भगवान् का आवेश हो। इसीलिये, प्रथम सनत्कुमार का अवतार है। यही भगवान् नारायण है। ब्रह्मचर्य का स्वरूप बताने के लिये प्रभु ने प्रथम सनत्कुमार का रूप धारण किया। बीज के ऊपर जल सिंचन से, जिस तरह यह वृद्धिगत होता हुआ वृक्ष बनता है, उसी तरह स्त्रियां जो जल रूप है उनसे जब बीज बढता हैं तब वह उत्तरोत्तर यौवन को प्राप्त होता है। रूप जल से सम्बन्ध के अभाव में

सनत्कुमारों में सदा कुमारावस्था ही रही– जिससे कामदेव तुच्छ किया गया हो उसे कुमार कहते हैं अर्थात् कामदेव का प्रभाव उस पर कुछ भी असर नहीं करता। अतः लोक में इस प्रकार अखंड ब्रह्मचर्य पालन करना प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि उसका यहां प्रतिक्षण नाश संभव है ।।६।।

**श्लोक– द्वितीयं तु भवायाऽस्य रसातलगतां महीम् ।**
**उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ।।७।।**

**श्लोकार्थ**—इस प्रपंच का विस्तार से निर्माण करने के लिये रसातल में स्थित पृथिवी का उद्धरण करने वाले यज्ञेश भगवान् ने वराह का शरीर धारण किया यह भगवान् का दूसरा अवतार है ।।७।।

**सुबोधिनी**—स्वर्गादौ जगन्निर्माणे अस्य प्रपञ्चस्य भूयस्त्वं न भवेदिति वराहेण भूम्युद्धरणं द्वितीयम्। एषामवताराणां विचारो द्वितीयस्कन्धे करिष्यते। अत्र तूद्देशमात्रेण निरूपणम्। आदिवराहकल्पे निर्मिता भूमिर्वराहकल्पे उद्धृता। तदाह—**रसातलगतामिति**। विरोधपरिहारं चाऽग्रे वक्ष्यामः। उद्धारं करिष्यन् सौकरं वपुरुपादत्त। नाऽयं पुरुषावतारः। किन्तु यज्ञाधिष्ठातृधर्मरूपभगवदवतारः। क्रियायास्तन्मूलकत्वात्। अयं मन्युरूपः क्षत्रिये प्रतिष्ठित इति द्वितीयत्वम् ।।७।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— स्वर्ग आदि कर्म भूमि नहीं है इसलिये वहां यदि जगत् का निर्माण किया जाता तो इस प्रपंच का अत्यधिक विस्तार नहीं होता, इसलिये भगवान् वराह ने भूमि का उद्धार किया तदनुसार इस द्वितीय अवतार का निरूपण करते हैं इन अवतारों का विचार द्वितीयस्कंध के ७ वें अध्याय में करेंगे, यहां तो संक्षेप में (उद्देश्य मात्र से) निरूपण है। सब कल्पों का जो आधिदैविक रूप है और जिसका तृतीयस्कंध के त्रयोदशाध्याय में निरूपण किया गया है। उस आदिवराह कल्प में, वराह के जन्म दिवस पर निर्मित पृथ्वी को जो रसातल में चली गयी थी, उसे वराह अवतार ने उद्धृत किया। इसी का निर्देश 'रसातलगतां महीम्' पद में किया गया है। यहां इस श्लोक में पुरुषावतार से वराह का प्रादुर्भाव बताया गया है– और तृतीयस्कंध में ब्रह्मा से बताया है– इस विरोध का परिहार आगे तृतीयस्कंध के त्रयोदशाध्य में करेंगे।

अस्तु पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् ने शूकर देह धारण किया। यह वराह

अवतार, पुरुषावतार नहीं है, यज्ञ के अधिष्ठातृ धर्म रूप भगवान् का अवतार है क्योंकि यज्ञादि क्रियायें यज्ञाधिष्ठातृ धर्मरूप भगवन् मूलक है।

यहां क्रमप्राप्त द्वितीय अवतार नारदजी का है तो फिर वराह को द्वितीय अवतार कैसे कहा ? इसके समाधान में कहते हैं कि श्रीधरस्वामी के मतानुसार यहां प्रथम द्वितीय शब्द (स एव प्रथमम् द्वितीयं तु भवायाऽस्य) केवल निर्देशक है क्रम बताने वाले नहीं किन्तु यह मत ठीक नहीं है। वस्तुतः यहां प्रथम द्वितीय शब्द किसी दूसरे ही तात्पर्य से हैं– और वह यह है कि यह वराह अवतार मन्यु क्रोध रूप है जैसा कि 'पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः' पशुओं में जो क्रोध है वह वराह है— इस श्रुति के अनुसार यह वराह भगवान् मन्यु रूप है। यही वराह रूप भगवान् अश्वमेध आदि यज्ञों के रूप से क्षत्रियों में स्थित हो गया है इसलिये क्षत्रियों में क्रोध की मात्रा अधिक है और क्योंकि ब्राह्मण से दूसरा वर्ण क्षत्रिय है— इसलिये इसे यहां द्वितीय कहा है ।।७।।

**श्लोक– तृतीयमृषिसर्गञ्च देवर्षित्वमुपेत्य सः ।**
**तन्त्रं सात्त्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ।।८।।**

**श्लोकार्थ**—उस विराट् भगवान् ने ऋषियों में प्रादुर्भूत होकर नारदरूप तृतीय अवतार को धारण किया तथा पंचरात्र तंत्र को कहा जिसके अनुसार कर्म करने से कर्म बन्धन कभी नहीं होता ।।८।।

**सुबोधिनी**—नारदे हि भगवदावेशः। ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः। ते च कर्माङ्गभूता इति तृतीयत्वम्। द्रव्यदेवतामन्त्रभेदेन वा। स पुरुष एव प्रथमत ऋषिसर्गमुपेत्य, तत्राऽवतारकार्यमपश्यंस्ततो देवर्षित्वमुपेत्य, नारदे आवेशं प्राप्य सात्त्वतं वैष्णवं तन्त्रं। पञ्चरात्ररूपमाचष्ट। भगवत्परिचर्यानिरूपणं न भगवद्व्यतिरेकेणाऽन्यशक्यमिति। कर्मणां प्ररोहनाशस्तेनेति परिचर्यायां सर्वाणि कर्माण्यङ्गभावं भजन्ते। परिचर्याया भगवद्भक्तित्वेन भगवत्त्वे सर्वेषामेव नैष्कर्म्यम् ।।८।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— नारद में भगवान का आवेश है– इसलिये वे विशेषावतार हैं। वे ऋषि हैं। मन्त्रदृष्टा को ऋषि कहते हैं, वे कर्म के अंगभूत हैं— अर्थात् प्रथम श्लोक में कर्म रूप यज्ञ का निरूपण हुआ है और मन्त्र दृष्टा ऋषि कर्म के अंगभूत हैं इसलिये नारद को तीसरा अवतार कहा गया है। अथवा द्रव्य देवता और मंत्र यहां 'मन्त्र' क्रम से तृतीय है इसलिये मन्त्र दृष्टा होने से नारद तीसरे अवतार हुये। वह पुरुषावतार ही प्रथम, ऋषिसर्ग को प्राप्त करके सनक सनन्दनादि रूप बना किन्तु सनक सनन्दनादि रूप यह ऋषिसर्ग मुख्य तथा ज्ञानी होने के

कारण कर्म का अंगभूत नहीं था, इसलिये तदन्तर वह विराट् पुरुष ही देवर्षि सर्ग को नारद रूप को प्राप्त कर उसमें आविष्ट हुआ तथा पंचरात्र रूप जो वैष्णव तन्त्र है और जिसमें भगवत् सेवा का निरूपण है उसका उपदेश दिया। भगवत् सेवा का निरूपण भगवान् ही कर सकते हैं अन्य नहीं इसलिये, भगवान् नारदजी में आविष्ट हुये।

सेवामें, सम्पूर्ण कर्म सेवा के अंगभूत बन जाते हैं- इसलिये वे कर्म बन्धक नहीं होते। अर्थात् कर्मों की निष्कर्मता हो जाती है। यहां सेवा की ही मुख्यता होती है, कर्मों की नहीं। सेवा भगवद् भक्ति रूप है अतः यह भक्ति भगवद्रूप होने के कारण सभी को कर्म बन्धन से मुक्त रखती है ॥८॥

**श्लोक– तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।**
**भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥९॥**

**श्लोकार्थ**—धर्म की अंशभूत (स्त्री रूप) श्रद्धा आदि पत्नियों में मूर्ति नामक स्त्री से चतुर्थ अवतार नर नारायण हुआ इन्होंने आत्मा की शान्ति से युक्त दुश्चरतप किया ॥९॥

**सुबोधिनी**—नरनारायणयोश्चतुर्थाश्रमधर्मप्रतिपादकत्वेन तुरीयत्वम्। अथवा। ब्रह्मचर्ययज्ञभगवत्परिचर्योपशमाः क्रमेणाऽऽश्रमधर्माः। धर्मकलाः श्रद्धादयः। तासां सर्गे जाते पश्चान्मूर्त्तीभूतधर्मरूपा मूर्तिः। धर्मस्तु वेदमूल इति मूर्त्या ऋषिरूपेणाऽऽविर्भूतौ। पारमहंस्यधर्मो द्विविध इति। सहस्रकवचवधार्थमित्यन्यत्र। नारायणोऽवतारः। नरे आवेशः। तयोस्तपो ज्ञानसहितमित्याह—**आत्मोपशममिति।** आत्मन उपशमः शान्तिर्ज्ञानं, ज्ञानसाध्या वा। सर्वत्र हि तपः क्रोधसहितम्। शान्तिसहितं तु लोके दुर्लभमिति **दुश्चरमित्युक्तम्** ॥९॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—नर और नारायण, चतुर्थाश्रम धर्म के प्रतिपादक होने के कारण चतुर्थावतार कहे गये हैं। अथवा ब्रह्मचर्य यज्ञ भगवत्सेवा तथा उपशम में क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम के धर्म हैं। 'अर्धोवा एष आत्मनो यत्पत्नी' इस श्रुति के अनुसार, पत्नी, मनुष्यका अर्द्ध भाग है, इसलिये श्रद्धा आदि जो धर्म की पत्नियां हैं वे धर्मकला अर्थात् धर्म का अंश रूप कही गई हैं इन श्रद्धा आदि के उत्पन्न होने पर, पीछे मूर्तिभूत जो धर्म है उसी का रूप जो मूर्ति नाम की स्त्री थी उससे नर नारायण भगवान् हुये। धर्म तो वेद मूलक है, और ऋषियों का वेद से सम्बन्ध रहता है, इसलिये मूर्ति नाम की स्त्री से ऋषि रूप में नर नारायण उत्पन्न हुये।

परमहंसों का धर्म दो प्रकार का है एक तो भक्ति युक्त और दूसरा वैराग्य युक्त और अन्यत्र यह कहा गया है कि सहस्रकवच का वध करने के लिये नर नारायण उत्पन्न हुये। किन्तु श्रीमद्भागवत में तो पारमहंस्य धर्म के उपदेशार्थ दोनों के ही अवतार का कथन है। नारायण अवतार है और नर में भगवान् का आवेश है। 'आत्मोपशमम्' से यह सूचित किया गया है कि नर नारायण द्वारा किया गया लय, ज्ञान सहित था– यहां 'आत्मोपशमम्' शब्द ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि अन्तःकरण की शान्ति ज्ञानरूप कही गई है अथवा आत्मा की शान्ति, ज्ञान साध्य है।

तप सर्वत्र क्रोधसहित माना गया है– शान्ति युक्त तप लोक में दुर्लभ है– इसलिये यहां तप के लिये 'दुश्चरं' शब्द प्रयुक्त हुआ है अर्थात् नर नारायण ने तप करते हुये कामोद्बोधक अप्सराओं के आने पर भी क्रोध नहीं किया– इसीलिये इनके तप को दुश्चर कहा– ऐसा तप किसी अन्य ने नहीं किया।

यहां नर नारायण दोनों एक ही अवतार हैं, भिन्न भिन्न नहीं। अतः दोनों की कृति एक समान एक अवतार के रूप में ही है ॥९॥

**श्लोक– पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।**
**प्रोवाचाऽऽसुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०॥**

**श्लोकार्थ**—पाँचवा अवतार सिद्धों के स्वामी कपिल का हैं, जिसने काल से नष्ट हुए तत्व समूह के निर्णय रूप सांख्य शास्त्र का उपदेश आसुरी ऋषि को दिया ॥१०॥

**सुबोधिनी**—साङ्ख्यस्य वेदानन्तरभावित्वादाश्रमानन्तरत्वेन पञ्चमत्वम्। पूर्वं हि पुराणेषु साङ्ख्यं सिद्धम्। तत्पुराणानामप्रचाराद्योगादिभिः साङ्कर्याच्च संन्यासस्य चाऽङ्गभूतस्याऽभावात्साङ्ख्यं कालेन विप्लुतम्। पुनः कालविप्लवशङ्कां वारयति—**सिद्धेश इति**। सिद्धियुक्ताः सिद्धाः। तेषां मनःसिद्ध्यैव न विप्लुतं भविष्यतीति भावः। आसुरिर्ऋषिः। इदं ज्ञानं स्त्रीशूद्रसाधारणमिति प्रवर्तकस्य तादृशं नाम। सङ्ख्या हि पदार्थानामसाङ्कर्यप्रतिपादिका भवति साधर्म्यवैधर्म्यरूपा। तस्याः फलमाह— **तत्त्वग्रामविनिर्णयमिति**। तत्त्वानां समूहस्य विशेषेण निर्णायकम् ॥१०॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—सांख्यज्ञान, वेदज्ञान के अनन्तर होता है। वेदोक्त ब्रह्मचर्यादि, चारों आश्रम, धर्मो के अनन्तर सांख्य का ज्ञान होता है इसलिये कपिल को पांचवा अवतार कहा है।

पहिले पुराणों में, सांख्याज्ञान बतलाया गया था– किन्तु उन पुराणों का प्रचार न होने से एवं उनमें सांख्य के साथ योगादि के मिल जाने से एवं सांख्यज्ञान के अंगभूत संन्यास के वास्तविक रूप से न रहने से यह सांख्यज्ञान काल से नष्ट हो गया था। कपिल से प्रवर्तित यह सांख्यज्ञान पुनः काल से नष्ट नहीं होगा। इसका निर्देश 'सिद्धेश' शब्द से किया गया है। सिद्धि से युक्त को सिद्ध कहते हैं, और कपिल उनके स्वामी ईश हैं। कपिल जैसों की मन:सिद्धि से ही सांख्य-ज्ञान पुनः लुप्त नहीं हुआ। कपिलदेव ने आसुरी ऋषि को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया। कपिल शब्द का अर्थ है— 'कपीन्विषयात्मकान् लाति' विषयासक्त पापयोनि वाले स्त्री, शूद्र आदि का हित करने वाले को कपिल कहते हैं। यह सांख्यज्ञान, स्त्री शूद्र आदि सबको दिया जा सकता है इसलिये सांख्यज्ञान के प्रवर्तक का नाम 'कपिल' कहा गया है। श्लोकस्य 'आसुरी' पद से आसुरी नाम के ऋषि लिये गये हैं।

जिसमें तत्त्वों की संख्या हो उसे सांख्य कहते हैं। सांख्यशास्त्र ने तत्त्वों की संकरता को मिटाने के लिये उनकी पृथक् पृथक् संख्या में विभाजन किया है। इनमें कितने ही समान धर्म वाले हैं, और कितने ही विरुद्ध धर्म वाले। इस संख्या के फलस्वरूप में तत्त्वों के समूह का विशेष रूप से निर्णय हो जाता है। संक्षेप में - तत्त्वों के समूह का विशेष रूप से निर्णय करने वाला शास्त्र सांख्य कहलाता है ॥१०॥

**आभास**— योगस्य षष्ठत्वात्तत्प्रवर्तकमाह—

**आभासार्थ**—ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्य तथा योग इस प्रकार छठा योग है। इसलिये योग के प्रवर्तक अवतार का निरूपण करते हैं।

**श्लोक– षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।**
**आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११॥**

**श्लोकार्थ**— छठे अवतार में अत्रि पत्नी अनसूया द्वारा पुत्र रूप से प्रार्थित भगवान् दत्तात्रेय रूप से प्रकट हुये, इन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को योग पुरस्सर आत्मविद्या कही ॥११॥

**सुबोधिनी:— षष्ठमिति।** अनसूयया मत्सदृशव्याजेन मामेव वृतवतीतीर्ष्याऽभावेन। मात्रा वा। आन्वीक्षिकी योगपुरस्सराऽऽत्मविद्या। अलर्को राजा। स हि राजसः। तत्र शास्त्रपरिनिष्ठायाः सन्दिग्धत्वात्प्रह्लादादिभ्य उक्तवान्। प्रह्लादस्तु स्पष्टः ॥११॥

**सुबोधिनी अनुवाद**—भगवान् ने सोचा कि अनसूया ने आप जैसा पुत्र हो इस बहाने मुझे मांगा है, इसलिए अनीर्ष्या–पूर्वक भगवान् दत्तात्रेय के रूप में प्रकट हुये– अथवा अत्रि ने उनको चाहा और अनसूया से उन्होंने जन्म लिया। पुराणों में अनसूया द्वारा तथा अत्रि द्वारा भी भगवान् को पुत्रत्वेन चाहा जाना कहा गया है– इसलिए यहाँ दोनों ही पक्ष लिये गये हैं।

आन्वीक्षिकी का अर्थात् योगपुरः सर आत्म-विद्या का इन दत्तात्रेय भगवान् ने अलर्क नामक राजा को उपदेश किया था– किन्तु वह राजस प्रकृति का था इसलिये 'शास्त्र में उसकी निष्ठा रहेगी या नहीं' इस संदेह से उसी आत्म विद्या को दत्तात्रेय ने प्रह्लाद आदि को कही। प्रह्लाद तो भक्त होने के कारण इस विद्या का अधिकारी था ।।११।।

१– अनसूया पद के दो अर्थ हैं— एक तो ईर्ष्या रहित और दूसरा अनसूया माता।

**आभास**—एवं ब्राह्मणानां षड्विधत्वमुक्तम्। षट् कर्माणि ब्राह्मणे प्रसिद्धानि। त्रीणि क्षत्रिये। तदर्थं त्रीनाह यज्ञऋषभपृथुरूपान्। शत्रुजयो धर्मनिष्ठा प्रजापालनं चेति त्रिषु प्रतिष्ठितम्। अतो भिन्नक्रमं वक्तुं **ततः** इत्याह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार ब्राह्मणों का छः प्रकार से वर्णन हुआ है– क्योंकि ब्रह्मचर्य, यज्ञ, भगवत्सेवा, उपशम, सांख्यज्ञान तथा योग के छः कर्म ब्राह्मण मे प्रसिद्ध हैं। यद्यपि, सातवें श्लोक में वर्णित वराह अवतार, क्रोधरूप होने से, क्षत्रियों में परिगणित होना चाहिये, परन्तु, ब्रह्माजी से प्रकट होने के कारण, इस अवतार को भी ब्राह्मणों में गिन लिया गया है।

शत्रुजय, धर्मनिष्ठा और प्रजापालन ये तीन कर्म क्षत्रिय में रहते हैं, इसलिए अग्रिम तीन श्लोकों से यज्ञ, ऋषभ और पृथुरूप अवतारों का वर्णन किया जाता है। पहिले ब्राह्मणों का वर्णन हुआ अब क्षत्रियों का वर्णन होगा, इस भिन्न क्रम को बताने के लिये 'ततः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

**श्लोक– ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।**
**स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ।।१२।।**

**श्लोकार्थ**—इसके पश्चात् सातवें अवतार में रुचि से आकूती नाम की स्त्री में यज्ञ भगवान् हुये, जिसने याम आदि देवताओं के गण सहित स्वायंभुव मुनि की रक्षा की ।।१२।।

**सुबोधिनी**—आकूतिर्मनुकन्या। स च यज्ञो रुचेर्जातोऽपि पुत्रिकापुत्रः यज्ञो हि ब्राह्मणैः

क्रियमाणः क्षत्रिये फलति। तथा सोऽपि यामाद्यैः प्रथममन्वन्तरदेवादिभिश्चतुर्विधैः समं तपसि स्थितमनुरक्षां विधाय तदनन्तरं पालितवानित्यवतारप्रयोजनम्। प्रियव्रतादयस्तु कल्पान्तरे राजानः प्रथममसमर्था इत्यग्रे उपपादयिष्यते ॥१२॥

**सुबोधिनी अनुवाद**— आकूती स्वायंभुव मनु की पुत्री थी। यज्ञ भगवान् यद्यपि रुचि नामक प्रजापति से आकूती में उत्पन्न हुये थे, तथापि, स्वायंभुव मुनि ने पुत्री का पुत्र होने के कारण अपने यहां रख लिया था। मनु ने अपनी पुत्री आकूती को देने के समय रुचि से यह स्वीकार करा लिया था कि उसके जो संतान होगी उसे मैं रख लूंगा इस तरह मनु द्वारा पुत्र को ले लेने का तात्पर्य यह हैं कि यज्ञ तो ब्राह्मण करते हैं, और फल मिलता हैं क्षत्रियों को। यहां भी यज्ञावतार, रुचि नामक ब्राह्मण के यहां पैदा हुये और उसे ले लिया स्वायंभुव मनु ने अतः फल प्राप्त हुआ मनु को जो वी क्षत्रिय थे। स्वायंभुव मनु, यज्ञ भगवान् को अपने पृष्ठरक्षक बनाकर, तपश्चर्या में लग गये। तब इन्हीं यज्ञ भगवान् ने याम आदि जो प्रथम मन्वन्तर के चार प्रकार के देवता हैं, उनके साथ, उस मन्वन्तर का पालन किया। यही इस अवतार का प्रयोजन था। प्रियव्रत आदि कल्पान्तर में राजा बने। यज्ञ भगवान् के समय वे समर्थ नहीं थे। इसका आगे प्रतिपादन किया जायेगा।

**श्लोक– अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।**
**दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**— अष्टम अवतार मे तो सभी आश्रमों से वन्दनीय धीरों के पारमहंस्य रूप मार्ग को दिखाते हुये नाभि से मेरुदेवी में ऋषभाऽवतार हुये ॥१३॥

**सुबोधिनी**—स्वस्थे हि देशकाले सर्वाश्रमधर्मा इति यज्ञानन्तरमृषभकथा। पूर्वोक्त-क्रमस्योत्तरत्र विवक्षितत्वादष्टमादिपदप्रयोगः। मेरुदेवी मेरुदुहिता। मातृपुत्रत्वं वारयितुं तुशब्दः। प्रतिपक्षशङ्काभावार्थं वा। अयं तु गुणावतारस्य विष्णोरवतारः। तदाह— **उरुक्रम इति**। ऋषभनिरूपितसंन्यासधर्मे मुख्यं धैर्यं साधनम्। अन्त्याश्रमत्वात्सर्वाश्रमनमस्कृतम्। एषा हि पराकाष्ठा निवृत्तिमार्गे। न त्वन्त्याश्रमित्वेन पाषण्डत्वसम्भावनेति नमस्कृतम् ॥१३॥

**सुबोधिनी अनुवाद**— देश और काल के स्वस्थ होने पर सभी आश्रमों के धर्म भी स्वस्थ रहते हैं। यज्ञावतार ने प्रथम सुरक्षापूर्वक देश और काल को स्वस्थ बना दिया था इसलिये यज्ञावतार के अनन्तर ऋषभदेव का वर्णन किया गया है।

अवतारों के लिये पहिले जो एक, दो, तीन क्रम चला आरहा है उसी क्रम से यहां भी अष्टम आदि क्रम समझना चहिये ।

मेरुदेवी– अर्थात् मेरु की पुत्री । श्लोकस्य– "मेरुदेव्यां तु" पद में "तु" का तात्पर्य है कि यह पुत्र माता के समान नहीं था । अथवा बुद्धावतार की तरह ये वेद विरुद्ध नहीं चले । 'तु' पद का यह भी तात्पर्य होता है । यह ऋषभावतार, गुणावतार विष्णु का अवतार हैं– इसी अभिप्राय को यहां उरुक्रमः– बहुत पराक्रम वाले– पद से स्पष्ट किया गया है ।

ऋषभदेवजी द्वारा निरूपित संन्यास धर्म में धैर्य को मुख्य साधन माना है । यह आश्रम अंतिम होने के कारण, सर्व आश्रमों से वन्दनीय है । ऋषभदेवजी का आचरण निवृत्ति मार्ग की पराकाष्ठा है । अन्त्याश्रम होने के कारण यहां पाखण्ड की संभावना नहीं करना चाहिये । इसी का निर्देश 'नमस्कृतम्' पद से किया गया है । पाखण्डधर्म कदापि नमस्करणीय नहीं होता । यह अवतार मेरु की पुत्री में नाभि से हुआ है– इस अवतार ने, सर्व आश्रमों से नमस्करणीय धीरों के मार्ग को बताया ।।१३।।

**श्लोक– ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।**
**दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनाऽयं स उशत्तमः ।।१४।।**

**श्लोकार्थ—** हे ब्राह्मणों ! उस विराट् पुरुष भगवान् ने, नवम अवतार में पृथु संबन्धी शरीर को धारण किया । उसने पृथ्वी से ओषधि रूप सभी वस्तुओं का दोहन किया, इसलिये यह भगवान् परम रमणीय है ।।१४।।

**सुबोधिनी—** पृथुस्त्वावेशी । पृथोः सम्बन्धि वपुरिति वचनात् । अयं तु पुमानेव । स इति वचनात् । **"श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञामि"** ति वचनात्सर्वात्मकत्वाच्च भगवतः सर्वहितकारी धर्म ऋषभधर्मादप्युत्तम इति पृथोर्नवमत्वम् । ननु कथं वेनादवतारः ? तत्राऽऽह— **ऋषिभिर्याचित इति ।** तत्राऽपि न साक्षात् । किन्तु पृथुशरीरे । **दुग्धा** अदुग्ध, दोग्धा वा । अलौकिकत्वार्थं छान्दसपदप्रयोगः । इमामोषधीरिति द्विकर्मकम् । कर्मद्वयस्याऽप्यभीष्टत्वात् । एवं सर्वेषु द्विकर्मकेषु बोद्धव्यम् । विशेषेण पूरका इति सम्बोधने भवद्भिरेव बहुदोहेन सर्वं पूरितमिति ज्ञापितम् । दोहनमेवाऽवतारकार्यम् । न जीवसाध्यमिति । तेनाऽयं सः । तेन हेतुना पृथुर्नारायण इत्यर्थः । विशेषमाह । उशत्तमः । एवं सर्वोपकारकोऽवतारान्तरेष्वपि दुर्लभ इत्यतिकमनीय इत्यर्थः ।।१४।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— पृथु ने अवतार लिया ऐसा न कहकर पृथु सम्बन्धी देह को धारण किया। इस कथन का यह आशय है कि पृथु आवेशावतार हैं। यह पुरुष ही था- क्योंकि श्लोक में 'सः' इस पुंलिङ्गवाची सर्वनाम का प्रयोग किया गया है।

'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्'— राजाओं के लिये प्रजापालन करना ही कल्याण रूप है- इसलिये, तथा भगवान् सबकी आत्मा हैं, अतः सर्वहितकारी धर्म पृथु राजा में है। यह धर्म ऋषभदेव के द्वारा उपदिष्ट धर्म से भी उत्तम है, इसलिये पृथुराजा, भगवान् का नवम् अवतार हैं।

जव यह अवतार ऊपर कहे गये धर्मों से सब हितकारी आत्मधर्म का संस्थापक है, तो यह वेन जैसे दुष्ट राजा से क्योंकर पैदा हुआ ? इस शंका का यहां उत्तर देते हैं कि 'ऋषिभिर्याचितः' ऋषियों से प्रार्थना किये गये भगवान् साक्षात् पृथु रूप में अवतरित न होकर, पृथु के शरीर में आविष्ट हुए। इन्होंने इस पृथ्वी से ओषधियाँ आदि सभी वस्तुओं का दोहन किया। 'इमाम्' शब्द से यहां पृथ्वी का ग्रहण किया गया है। 'दुहधातु' द्विकर्मक है- पृथ्वी तथा ओषधि दोनों ही उसके कर्म हैं और यह दोनों ही कर्म अभीष्ट हैं। इस प्रकार सभी द्विकर्मक धातुओं में समझना चाहिये। यहां 'दुग्धेमाम् में जो दुग्धा पद है वह 'अदुग्ध' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अलौकिक घटना का निर्देश करने के लिये- यहां 'दुग्धा' यह छान्दस प्रयोग किया गया है- पृथ्वी से ओषधियों का इस प्रकार से दोहन अलौकिक ही है। छान्दस- प्रयोग होने से 'दुग्धा' में अट् अभाव आदि कार्य हुये, इसलिये, अदुग्ध की जगह दुग्धा का प्रयोग किया गया है— यहां दोग्धा ऐसा पाठ भी मिलता है। यहां 'विप्राः' पद संबोधन है- इसका अभिप्राय है- तुमने भी ज्ञान का बहुत दोहन करके, उससे सबको विशेष रूप से परिपूर्ण कर दिया है- क्यों कि 'विशेषेण पूरकाः विप्राः' इस अभिप्राय से यहां 'विप्राः' का प्रयोग किया गया है।'

पृथुअवतार का कार्य ही दोहन करना है- यह कार्य जीवसाध्य नहीं है। इसी कारण पृथुनारायण का आवेशी है, अर्थात् पुरुष का आवेशावतार है। इस अवतार की विशेषता यह है कि यह परम रमणीय उशत्तम है। अर्थात् इस प्रकार का सर्वोपकारक अवतार, अन्य अवतारों में भी दुर्लभ होता है। इसलिये इसे अतिकमनीय कहा गया है ॥१४॥

**आभास**—एवं क्षत्रियभावेन त्रितयं निरूप्य वैश्यभावेन चतुष्टयमाह रूपमित्यादित्रिभिः-

**आभासार्थ**—इस तरह 'ततः सप्तम आकूत्यां' आदि तीन श्लोकों से क्षत्रिय भाव वाले तीन अवताओं का निरूपण करके, वैश्य भाव वाले चार अवतारों का 'रूपं स जगृहे' आदि तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं—

**श्लोक– रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तरसम्प्लवे ।**
**नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ।।१५।।**

**श्लोकार्थ**—चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में होने वाले प्रलय में इस विराट् पुरुष ने मत्स्य का रूप धारण किया, तथा पृथ्वीरूप नाव में बैठाकर वैवस्वत मनु सत्यव्रत राजा की रक्षा की ।।१५।।

**सुबोधिनी**— वञ्चनेन कार्यसिद्धिर्वैश्यता । "**सत्याऽनृतं तु वाणिज्य**" मिति वचनादेकं वञ्चकमपरं न विपरीतं च । चाक्षुषमन्वन्तरानन्तरं प्रलयो बाधित इति मायिकत्वं केचिदाहुः । वस्तुतस्तु स्वायम्भुवादीनां क्रमनियमेन न प्रतिकल्पं चतुर्दशत्वम् । अधिकारिणां मुक्तिसम्भवात् । तस्माच्चाक्षुष एव कदाचिच्चतुर्दशो भवति । कल्पेषु सात्त्विकादिविभेदान्मुख्यस्य प्राथम्यम् । सात्त्विकानि चत्वारि । इतरयोः पञ्च पञ्च । अतो बहुवाक्यानुरोधादुपपत्तिसम्भवाच्च न प्रलयस्य मायिकत्वम् । मार्कण्डेयदृष्टस्य तु तत्रैव स्फुटं प्रतिपादितमित्यदोषः । पृथिव्या देवरूपत्वान्नौकारूपताऽपि भवति । स च मन्वन्तरान्तरे विवस्वत उत्पन्न एवाऽस्मिन्मन्वन्तरेऽधिकारी भवति । अतोऽपि न मायिकत्वम् । भक्तपरिपालनमवतारधर्मः **वैवस्वतमनुरिति** भाविनी संज्ञा ।।१५।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— वंचनापूर्वक कार्य सिद्ध करना वह वैश्य का लक्षण है, क्योंकि 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' जिसमें सत्य और झूंठ हो उसको वाणिज्य- वणिक् व्यवहार कहते हैं। तदनुसार, यहां अवतार में मत्स्य का रूप तो वंचक है– किन्तु उसके वचन वंचना करने वाले नहीं हैं। वैश्य में इससे विपरित है। वैश्य का रूप वंचक नहीं होता– किन्तु उसके वचन वंचक होते हैं। इस तरह यहां इस मत्स्यावतार में सत्य भी है अनृत भी है। चाक्षुषमन्वन्तर के बाद प्रलय नहीं हो सकता, इसलिये इस प्रलय को, जिसमें मत्स्यावतार का उपदेश हुआ, इसे श्रीधर स्वामी आदि मायिक कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कल्प के समाप्त होने पर दैनंदिन प्रलय होता है। चौदह मनु पूरे हो जाने पर कल्प की समाप्ति होती है। चाक्षुषमनु छठा है। इसलिये चाक्षुषमन्वन्तर के बाद प्रलय नहीं हो सकता– इसलिये श्रीधर स्वामी आदि इस प्रलय को मायिक बताते हैं।

परन्तु कई क्रम हैं। इसलिये स्वायंभुवमनु प्रत्येक कल्प में क्रम नियम से चतुर्दश ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि अधिकारियों के भक्त होने से उनकी मुक्ति सम्भव है, इसलिये कदाचित् चाक्षुष ही चतुर्दश हो सकता है और तदन्तर प्रलय सम्भव है। सात्विक, राजस और

तामस भेद से कल्प तीन प्रकार के हैं। ऐसी स्थिति में राजस में पांच, तामस में पांच तथा सात्विक में चार मनु होते हैं। इस तरह चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है। बहुत से वाक्यों के अनुरोध से, तथा चाक्षुषमनु के चतुर्दश होने में युक्ति के सम्भव होने से भी चाक्षुषमनु चतुर्दश हो सकता है और तदन्तर प्रलय भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में इस प्रलय को मायिक मानना उचित नहीं।

"मार्कण्डेय को जिस तरह मायिक प्रलय दिखाई दिया था, उसी तरह, यहां भी मायिक प्रलय है।" श्रीधर स्वामी आदि का यह कथन ठीक नहीं है– क्योंकि मार्कण्डेय के समय का जो प्रलय है उसके लिये तो शब्दतः यह कहा गया है कि वह प्रलय माया से दिखलाया गया है। किन्तु चाक्षुषमन्वन्तर के बाद होने वाले प्रलय को मायिक बताने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः यह प्रलय मायिक नहीं है।

पृथ्वी देवता रूप है इसलिये वह नौका रूप बन सकती है। उस पृथ्वीरूप नौका में बैठकर मत्स्यावतार ने वैवस्वतमनु की रक्षा की। वह सत्यव्रत राजा दूसरे मन्वन्तर में विवस्वान् से पैदा हुआ है। इस मन्वन्तर में वह अधिकारी हो गया। इसलिये भी यह प्रलय मायिक नहीं है। इस मन्वन्तर का धर्म, भक्त का परिपालन था ।।१५।।

**आभास—वैवस्वतमनुरिति** भाविनी संज्ञा—

**आभासार्थ**— श्लोक में जो वैवस्वतमनु कहा है उसका तात्पर्य वह है कि जिसको मत्स्यावतार ने प्रलय में उपदेश दिया था उसका नाम तो सत्यव्रत था, परन्तु भविष्य में वह वैवस्वतमनु बना। इसलिये भविष्य में होने वाली संज्ञा को लेकर यहा वैवस्वतमनु कहा।

**श्लोक– सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।**
**दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**— एकादशावतार में उसी विराट् पुरुष ने देवता और दैत्यों के समुद्र मन्थन करने के ससय कच्छपरूप बनकर मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया ।।१६।।

**सुबोधिनी**—कापट्ये नैवाऽमृतमथनार्थं प्रवृत्तेः कूर्मस्याऽपि वञ्चकहितकारित्वदत्र प्रवेशः। पूर्वकल्पस्थत्वान्मत्स्यस्य न क्रमो बाधकः। वञ्चनाधिक्यादेकादशत्वम्। एवमुत्तरत्राऽपि। उदधिं मथ्नतां सुरासुराणां सम्बन्धि मथनसाधनं मन्दराचलं धृतवान्। कमठः कच्छपः।

पृष्ठेन धारणमवतारसाध्यं जले ह्यनाधारे। ननु पृष्ठस्य पिच्छलत्वात्कथं धारणं सम्भवति ? तत्राऽऽह—**विभुरिति** ।।१६।।

**सुबोधिनी अनुवाद**— "क्लेश भाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फल ग्रहाः" भगवान् ने देवताओं से कहा था कि दैत्यों को क्लेश होगा और तुम्हें फल मिलेगा। इस प्रकार, अमृत मन्थन के लिये कपट से ही प्रवृत्त हुये इसलिये उन्होंने वंचक का कार्य किया। उस वंचक का हित करने वाला कूर्मावतार था इसलिये इस कूर्मावतार की भी वैश्य भाव में गणना हुई। मत्स्यावतार पूर्व कल्प का है, इसलिये यहाँ मत्स्यावतार के अनन्तर कूर्मावतार कहा मया है। इसमें क्रम बाधक नहीं है। समुद्र मन्थन के समय में भगवान् ने पहले सर्प का मुंह पकड़कर मत्स्यावतार से अधिक वंचना की। यहां वंचना की अधिकता के कारण कूर्मावतार एकादश अवतार है। इसी तरह अग्रिम संख्या के विषय में भी समझ लेना चाहिये। समुद्र को मथने वाले देवता और दैत्यों के मंथन साधन मंदराचल को भगवान् ने अपनी पीठ पर कच्छप रूप से धारण किया। पृथ्वी न होते हुये भी जल में ही इस तरह बड़े पर्वत को धारण करना सामान्य कच्छप का कार्य नहीं है, अवतार साध्य है। इसलिये यह कच्छप अवतार हैं। कच्छप की पीठ तो फिसलनी होती है, उस पर मन्दराचल कैसे स्थिर किया जा सका ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'विभुः' वह भगवान् सर्व समर्थ है ।।१६।।

**आभास**—एकस्य द्विरूपत्वमाह—

**आभासार्थ**— एक ही धन्वन्तरि के दो रूप बताते हैं।

**श्लोक**— **धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च**
**अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्याऽमोहयत्स्त्रिया ।।१७।।**

**श्लोकार्थ**— धन्वन्तरि ही बारहवाँ एवं तेरहवाँ अवतार है। धन्वन्तरि रूप से अमृत लाये तथा मोहिनी स्त्री रूप से दैत्यों को मोहित करके, देवताओं को उसका पान कराया ।।१७।।

**सुबोधिनीः—धान्वन्तरमिति**। अत्र मादेशश्छान्दसः। द्वादशे मातीति वा। धन्वन्तरिपदेनैव आयुर्वेदप्रवर्तनादेः स्पष्टत्वात्। प्रकृते त्वन्यार्थकथनान्नाऽवतारप्रयोजनमित्युक्तम्। धान्वन्तरमेव त्रयोदशम्। एव च शब्दौ सन्देहविरोधनिवारकौ। धान्वन्तरं रूपं धन्वन्तरेः सम्बन्धि। देवकर्तृकपानकर्मत्वादमृतस्य न भगवत्कार्यमिति प्रयोजककर्तरि सुरा एव कर्मत्वेनोक्ताः। अर्थादमृतम्। अत्र त्रयोदशस्यैव चरित्रमुच्यते— **अपाययदिति**। अन्यानसुरान्।

स्त्रिया करणभूतया अमोहयदिति च। अयमभिप्रायः। न हि भगवान् स्त्रीरूपेण सर्वैर्दृश्यते। सुरैर्भगवद्रूपेणैव दृश्यते। राहुसूचनाच्च। अतो वस्तुतो धन्वन्तरिरूपमेव। आकृत्यन्तरबोधनं तु सामर्थ्यात्। अमृतहस्तस्य निर्गतस्य विच्छेदेनाऽस्य रूपस्य दर्शनात्त्रयोदशत्वम् ॥१७॥

**सुबोधिनी अनुवाद**— यहां द्वादशमम् त्रयोदशमम् की जगह द्वादशम् एवं त्रयोदशम् होना चाहिये था किन्तु छन्द के आग्रह से 'मट्' आदेश किया गया है। तदनुसार द्वादशमम् त्रयोदशमम् प्रयोग हुए हैं। अथवा द्वादश में त्रयोदश में जो समाजाता हो इस अर्थ में भी ये प्रयोग हो सकते हैं।

इस श्लोक में धन्वन्तरि अवतार का कोई प्रयोजन नहीं बताया गया है, किन्तु धन्वन्तरि पद से ही आयुर्वेद प्रवर्तन का कार्य स्पष्ट है। इसलिये, प्रयोजन को अलग नहीं कहा। ' आयुर्वेद तो जीव के लिए हैं, वह अवतार का प्रयोजन न होने से, उस प्रयोजन को यहां स्पष्ट नहीं कहा है। यहां एक ही अबतार बारहवां तथा तेरहवां कैसे हो सकता है। इस संदेह की निवृत्ति के लिये मूल में 'एवं' पद का प्रयोग किया गया है। धन्वन्तरि पुरुष अवतार हैं तथा मोहिनी स्त्री अवतार है। अतः परस्पर इस विरोध का निवारण 'च' पद से किया गया है। धन्वन्तरि का अर्थ है धन्वन्तरि सम्बन्धी रूप। अमृत का पान देवताओं ने किया है, अतः उसका पान करना यह भगवत् का कार्य नहीं। इसलिये, भगवान् यहाँ कर्ता हैं। देवगण कर्म हैं। यहां 'पा' धातु का 'अपाययत्' ऐसा 'ण्यन्त' प्रयोग है, जिसका अर्थ होता हैं– पान कराया भगवान् ने किसका पान कराया ? अमृत का। इस तहर मूल में 'अमृत' पद नहीं है। तथापि अर्थ से प्राप्त होता है। अपाययत् यहां अमृतपान कराने का जो चरित्र है– वह तेरहवें अवतार का कार्य है। उसने अपने स्त्री रूप से असुरों को मोहित किया। वास्तव में मोहिनी का जो रूप था, वह स्त्री रूप नहीं था। भगवान् स्त्री रूप से ही वहां सबको दिखाई नहीं दे रहे थे– देवताओं ने तो भगवान् के रूप में ही उनके दर्शन किये स्त्री रूप में नहीं। यदि देवताओं को भी भगवान् के स्त्री रूप में दर्शन हो जाते तो स्त्री तो राहु को दण्ड देने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः ऐसी स्थिति में यह राहु है ऐसी सूचना चन्द्र और सूर्य द्वारा भगवान् को नहीं दी जाती। इसलिये दैत्यों को जो स्त्री रूप दिखाई दिया इससे मानना होगा कि वह वस्तुतः धन्वन्तरि का ही रूप था। और देवताओं को यही रूप दिखाई दिया स्त्री रूप नहीं। भगवान् ने अपनी सामर्थ्य से हो दैत्यों को अपने अन्य रूप को बताया। जो घन्वन्तरि भगवान् अमृत कलश हाथ में लेकर निकले थे उन्हीं का दैत्यों ने अन्य रूप से– स्त्री रूप से दर्शन किया इसीलिये मोहिनी रूप से इसी अवतार को त्रयोदश भी कहा। दैत्यों ने, धन्वन्तरि से इस रूप

को भिन्न रूप से देखा इसलिए त्रयोदश संख्या में विरोध नहीं आता। यहां भी दैत्यों की वंचना की गई है। अतः ये भी वेश्य भाव के ही अवतार हैं ॥१७॥

**आभास**—एवं चतुष्टयं निरूप्य पुनरन्येनोत्कृष्टप्रकारेण परम्परां निरूपयितुं नारायणवन्नृसिंहं निरूपयति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरी और मोहिनी इन चारों अवतारों का निरूपण करके पुनः उत्तम प्रकार से अवतार परम्परा का निरूपण करने के लिए, नारायण की तरह नृसिंह भी साक्षात् भगवान् के ही अवतार हैं यह निरूपण करते हैं—

श्लोक—**चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।**

**ददार करजैरूरावेरकाङ्कटकृद्यथा ॥१८॥**

**श्लोकार्थ**—चौदहवां नृसिंह रूप धारण करके, भगवान् ने अपने हाथ के नखों से, बलिष्ठ हिरण्यकशिपु को जंघा पर पटककर, उसी तरह चीर डाला जिस तरह चटाई बुनने वाला एरका को एरा से चीरता है ॥१८॥

**सुबोधिनी**—पुष्टिमार्गोऽयमिति पूर्वस्माद्विशेषः। पूर्वस्य क्रमस्य विवक्षितत्वाच्चतुर्दशत्वम्। नरसिंहसम्बन्धि नारसिंहं रूपम्। द्विरूपत्वेनाऽलौकिकत्वात्पुष्टित्वम्। अत्र हि भक्तिरेव मुख्या। यतः स्वीयमपि हत्वा तदीयं पालितवान्। दैत्येन्द्र हत्वा दैत्यं च। इन्द्रपदेनाऽवध्यता च सूचिता। वधे हेतुः—**ऊर्जितमिति**। करजैर्नखैः। **ऊराविति** ब्रह्मवाक्यसत्यकरणार्थम्। एरका कटतृणविशेषः। नखैरनादरेण विदारणे दृष्टान्तः—**कटकृद्यथेति**। लोकहितार्थं तद्वध इति सूचितम् ॥१८॥

**व्याख्यार्थ**—यह पुष्टिमार्ग अनुग्रह मार्ग है। अतः पहले के अवतारों से इनमें विशेषता है। पूर्व का क्रम ही इच्छित होने के कारण, नृसिंह यहां चौदहवां अवतार है। नृसिंह से सम्बन्धित स्वरूप नारसिंह कहलाता है। मनुष्य और सिंह इस द्विरूपता से अलौकिक होने के कारण इस अवतार में पुष्टिरूपता है! क्योंकि पुष्टि में लौकिकता नहीं है। इस अवतार में भगवान् ने भक्ति को ही प्रधानता दी है क्योंकि पूर्व जन्म में, पार्षद रूप में रहने से जो हिरण्यकशिपु आत्मीय था। उसे दैत्येन्द्र को नष्ट कर दिया और उसके पुत्र दैत्य की भगवद्भक्त होने के कारण रक्षा की। यह सब कुछ भक्ति की प्रधानता स्थापित करने के लिए ही भगवान् ने किया। दैत्येन्द्रम् 'इन्द्र पद से वह मारने योग्य नहीं था फिर भी उसे मारा", यह निर्देश किया गया है। ब्रह्मा की सृष्टि में उसका वध किसी से भी सम्भव नहीं था। वह इतना बलिष्ठ था कि अपने बलद के मद से उसने मर्यादा तोड़ डाली। इसीलिए उसका वध किया गया। उसे ब्रह्मा का वरदान था कि शस्त्र से किसी मनुष्य अथवा पशु से भी नहीं मर सकता। ब्रह्माजी के वरदान को सत्य करने के लिए भगवान् ने उसे नखों से चीर डाला। उसे यह भी वरदान था कि वह न पृथ्वी पर मरेगा और न हो अन्तरिक्ष में। अतः भगवान ने उसे अपनी जंघाओं पर पटक कर मार डाला उसको नखों से उसी तरह चीर डाला, जिस तरह चटाई बुनने वाला एरका नाम के तृण को चीरता है। चटाई बनाने वाला

दूसरों के हित के लिए तृण को चीरता है । इस दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि इसका वध लोक हितार्थ किया गया है ॥१८॥

श्लोक—**पञ्चदशं वामनकं कृत्वाऽगादध्वरं बलेः ।**
**पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥१९॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् पन्द्रहवां वामनरूप बनाकर तीन पद मरू (भूमि) की याचना के बहाने, बलि से स्वर्ग को वापिस लेने की इच्छा से, बलि के यज्ञ में गये ॥१९॥

**सुबोधिनी**—एवं भक्तिमार्गे नवाऽवतारान्कथयन्प्रथमं प्रह्लादरक्षको नृसिंहो मुख्य इति मूलत्वेन कथितः ततो ब्रह्मभावेन त्रयः । त्रयश्च क्षत्रभावेन । एको वैश्यभावेन । पुनरग्रिमस्य मूलरूपमेकेनेति नवधा निरूपणम् । भक्तिरनवच्छिन्ना न निवर्तत इति । सायुज्ये सेवाऽऽरम्भवत् । कल्किरग्रिमारम्भ इति हेतुः । कश्यपाददित्यां जातो वामनरूपो ब्रह्मचारी पञ्चदशः । अवामनोऽपि वामनकं रूपं कृत्वा बलेरध्वरमगादिति भक्तहितार्थं स्वस्व धर्मस्य चाऽन्यथाकरणं पूर्वस्माद्विशेषः । प्रत्यादानं दत्तस्य पुनर्ग्रहणम् । इह पर (?) आत्मनः पदत्रयम् । गमने कामितोऽर्थ उत्तरार्द्धे निरूपितः । चरित्रं तु गमनमेव ॥१९॥

**व्याख्यार्थ**—इस प्रकार भक्तिमार्ग में ९ अवतारों का आगे निरूपण करते हुए इनमें प्रह्लाद के रक्षक प्रथम नृसिंह अवतार मुख्य हैं अतः मूलरूप से उसका निरूपण किया गया । तदनन्तर ब्राह्मण भाव से तीन का क्षत्रिय भाव से भी तीन का तथा वैश्य भाव से एक का निरूपण किया जायेगा । फिर अग्रिम कल्कि अवतार है । कलि के अन्त में सकल साधनों के अभाव में भी अपने अंग-राग और सुगन्ध के संसर्ग मात्र से, कल्कि अवतार ने पुनः सत्ययुग का प्रारम्भ कर दिया, इसलिए इसे मूल अवतार माना गया है । इसका आगे एक श्लोक से वर्णन है । इस प्रकार नृसिंह से लेकर कल्कि पर्यन्त भक्तिमार्ग में नव अवतार है ।

जो भक्ति मूल अवतार नृसिंह से प्रारम्भ होकर बीच के अंशावतार मात्र में पर्यवसित हो जाती है वह भक्ति निवृत्त नहीं होती, किन्तु मूल अवतार रूप कल्कि में वही भक्ति उसी स्थिति में आ जाती है । भगवत्स्वरूप में सायुज्य की प्राप्ति होने पर और इस तरह सेव्य सेवक भाव के निवृत्त हो जाने के पीछे भी भगवान् की सामर्थ्य से (भगवत्स्वरूप से बाहर आकर) वह भक्त पुनः सेवा कार्य प्रारम्भ कर देता है इसी तरह कलियुग में सर्व साधनों की निवृत्ति होने के उपरांत भी, भगवान् के अगराग की सुगन्ध से सम्बन्ध होते ही पुनः सत्ययुग का प्रारम्भ हुआ । यह सामर्थ्य मूल रूप का है इसीलिए कल्कि मूल अवतार रूप है । कल्कि अग्रिमारम्भ का मूल है इसी से वह मूलावतार कहा गया है ।

ब्रह्मचारी वामनरूप पन्द्रहवां अवतार है जिनका जन्म अदिति में कश्यप से हुआ । वामन नहीं होते हुए भी वामनरूप धरकर भगवान् बलि के यज्ञ में गये । भक्त इन्द्र के हितार्थ अपने ऐश्वर्यादि धर्मों को अन्यथा कर दिये अर्थात् अपने वृहत् रूप को, लघु बना लिया, ऐश्वर्य आदि को

छिपाकर याचक बन गये अतः पूर्वोक्त नृसिंह आदि चौदह अवतारों से इस अवतार में यह विशेषता है ।

यहां 'प्रत्यादित्सुः' का यह तात्पर्य है कि बलि को भगवान् की इच्छा से ही स्वर्गादि प्राप्त हुए थे, उसको पुन वापिस से लेने की इच्छा से ही बलि के यज्ञ में गये । यह लोक और परलोक आपके तीन पद मे आये हुये हैं । वहां यज्ञ में पधारने में पदत्रय की याचना रूप आपका जो इच्छित प्रयोजन था, उसका निरूपण इस लोक के उत्तरार्ध में बताया गया है और कश्यप के यहां प्रकट होकर बलि के यज्ञ में पधारने ही से अवतार का चरित्र है ।१६।।

श्लोक—**अवतारे षोडशमे पश्यन्ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।**
**त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—सोलहवें अवतार में ब्राह्मण द्रोही राजाओं को देखकर कुपित हुये परशुराम ने पृथ्वी इक्कीस बार क्षत्रिय रहित कर दी ।।२०।।

**सुबोधिनी**- क्षत्रियायां जातं परशुरामरूपं षोडशम् । सप्तधा हनने निर्बीजत्वं जातम् । पुनर्ब्राह्मणादुत्पन्नाः समृद्धाः । पुन. सप्तधा । एवमेकविंशतिधा निःक्षत्रिया पृथिवी कृता । पितृवधस्य निमित्तत्वेऽपि ब्रह्मरक्षैव हेतुः ।।२०।।

**व्याख्यार्थ**—यहां "षोडषमे" इस पद में 'मट्' का प्रयोग छांदस है । क्षत्रियों में उत्पन्न परशुराम सोलहवां अवतार है-सात प्रकार से क्षत्रियों को मार देने से क्षत्रियों का बीज नहीं रहा । फिर ब्राह्मण से क्षत्रिय स्त्रियों में पैदा होने पर फिर क्षत्रिय जाति का विस्तार हुआ । उनका फिर सात प्रकार से नाश किया । इस प्रकार इक्कीस प्रकार से पथ्वी को क्षत्रिय रहित कर दी । इन क्षत्रियों को ब्राह्मणद्रोही मानकर संहार किया । पितृ जगदग्नि वध में क्षत्रियों के निमित्त मात्र होते हुये भी इक्कीस प्रकार से क्षत्रियों के हनन द्वारा ब्राह्मणों की रक्षा करना ही इस अवतार का प्रयोजन था ।।२०।।

श्लोक—**ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।**
**चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ।।२१।।**

**श्लोकार्थ**—सत्रहवें अवतार में पराशर से सत्यवती से उत्पन्न वेदव्यास ने अल्प धारणा शक्ति वाले मनुष्यों को देखकर, वेदरूप वृक्ष की अनेक शाखायें की ।।२१।।

**सुबोधिनी**—ततः उपरिचरवसोर्मत्स्यगर्भाज्जातायां दाशकन्यायां तथा पराशराज्जातो वेदव्यास सप्तदशः । प्रकृते तृतीयः । वेदस्य तरुत्वं पूर्वं निरूपितम् । अनन्तमूर्तेर्यज्ञस्य ब्रह्मशिरस एका मूर्तिर्भविता वेदभागेन प्रतिपाद्यते सा एका शाखा । एवमन्याश्च । यद्यपि ब्राह्मणेन सर्वो वेदः पठनीयस्तथापि प्रमेयबलमालम्ब्य एकैव मूर्तिः सर्वा मूर्तय इत्यल्पमेधसोऽपि पुरुषस्य वेदाध्ययनं भक्त्यर्थमपरश्च कालो यथाऽवशिष्यते तदर्थं खण्डशः कृतवानित्यर्थः ।।२१।।

**व्याख्यार्थ** – उपरिचर वसु से मत्स्य गर्भोत्पन्न दासकन्या सत्यवती में पराशर से उत्पन्न व्यासजी सत्रहवें अवतार हुये । प्रकृत में ब्राह्मण भाव के ये तीसरे अवतार हैं– पहिले वामन, दूसरे परशुराम और तीसरे वेदव्यास ।

वेद वृक्ष है यह पूर्व में निरूपित किया जा चुका है । उत्तरकांड जिसका मस्तकरूप है । ऐसे अनन्त मूर्ति वाले यज्ञ भगवान् को एक मूर्ति, जितने वेद भाग से प्रतिपादित की गई वही एक शाखा कहलाई । इसी प्रकार अन्य शाखाओं को समझना चाहिये अर्थात् वे भी यज्ञरूप भगवान् को किसी एक ही मूर्ति का प्रतिपादन करती है ।

ब्राह्मण को यद्यपि सम्पूर्ण वेद पढ़ना चाहिये तथापि प्रमेय बल से (पूर्वकांड प्रतिपादित यज्ञ तथा उत्तरकांड प्रतिपादित ब्रह्मरूप जो प्रमेय है उसको युक्ति मुक्ति दायक रूप बल का) विचार करने से एक ही मूर्ति सर्वमूर्तिरूप है अर्थात् एक मूर्ति से ही सर्व मूर्तियों का फल मिल सकता है । तदनुसार मंद बुद्धि वाले पुरुष के लिए वेदाध्ययन भी हो जाय और भगवद्भक्ति के लिए बाकी का समय भी मिल जाये इसलिए वेदव्यास ने वेद की शाखायें बना दो । अभिप्राय यह है कि यदि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन किया जायेगा तो उसे भगवद्भक्ति के लिए समय नहीं मिलेगा अतः मानव अति उत्कृष्ट फल से वंचित रहेंगे इसीलिए वेदव्यास ने वेद को अलग-अलग विभाग शाखारूप में कर दिये ।। २१ ।

श्लोक—**नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।**
**समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ।।२२।।**

**श्लोकार्थ** – इससे आगे देवताओं का कार्य करने की इच्छा से नरदेवत्व-राजत्व को प्राप्त श्री रामचन्द्र ने समुद्र-निग्रह आदि पराक्रम किये ।।२२।।

**सुबोधिनी**– भिन्नप्रक्रमार्थं रघुनाथादिरूपत्रय **वक्तुमतः पर**मित्युक्तम् । क्षत्रियभावोऽत्र विवक्षितो यद्यपि सोमसूर्यभावेन द्विविधस्तथापि सोमस्य वृद्धिक्षयरूपेण द्विरूपत्वात् त्रेधा निरूपणम् । नरदेवत्वं राजत्वम् । सुरकार्यं रावणवधः । अवतारचरित्रं तु समुद्रनिग्रहः । तथा मरुस्थलीकरणं परशुरामजयो वालिवधश्चेत्यादिशब्दार्थः ।।२२।।

**व्याख्यार्थ** उपरोक्त अवतारों से भिन्न क्रम बताने के लिए, क्षत्रिय भाव से रामचन्द्र आदि तीन स्वरूपों का निरूपण करने के लिए 'अतः परम्' कहा गया है । प्रथम ब्राह्मण भाव का क्रम कहा यहां क्षत्रिय भाव के क्रम को कहने की इच्छा है । यहां यद्यपि सोम सूर्य वंश के रूप में दो ही क्षत्रिय भाव वाले अवतार कहने चाहिये, फिर भी क्षत्रिय भाव वाले तीन अवतारों का निरूपण कैसे सम्भव है ? इसका समाधान यह है कि चंद्र के दो भेद हैं-एक वृद्धिरूप, दूसरा क्षयरूप तथा सूर्य का तीसरा है ही इस तरह यह तीन प्रक्रम है–तदनुसार क्षत्रिय भाव वाले तीन अवतार कहे गये हैं । नरदेवता अर्थात् श्री रामचन्द्र राजा है । रावण वध रूप देवताओं का कार्य करने भगवान् राम के रूप में आये हैं इस अवतार का चरित्र है समुद्र-निग्रह आदि समुद्र निग्रहादीन् में आदि थे– मरुस्थली कर देना, परशुराम को जीतना तथा बलि का वध करना ग्रहण किये गये हैं ।।२२।।

श्लोक—**एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।**
**रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ।।२३।।**

**श्लोकार्थ**—उन्नीसवें तथा बीसवें अवतार में वृष्णि यदुवंश में राम और कृष्ण इस रूप में दो जन्म ग्रहणकर भगवान् ने भूमि के भार को हटाया ।।२३।।

**सुबोधिनी**—अतः परमष्टादशे बलरामे आवेशः । कृष्णोऽवतारः एकोनविंशे विंशतितमे । अत्र तकारलोपश्छान्दसः । वस्तुतः सोमस्यैकत्वादेकश्लोकेन निरूपणम् । वार्ष्णेय (?) इति वक्तव्ये "**ञ्यादयस्तद्राजा**" इति तद्राजसंज्ञायां '**तद्राजस्य बहुषु**" इति प्रत्ययलोपे वृष्णिष्वित्युक्तम् । अत्र हि चतुर्णामवताराणां कृष्णरूपं स्थानम् । नारायणांशस्य केशस्य सुतपावृष्णिप्रसन्नस्य भगवतश्च तत्रैकमेव रूपं बहुरूपत्वेन विवक्षितम् । बलरामस्त्वेक एव । एवं पञ्चाऽवताराः । जन्मद्वयम् । तदुक्तम्—**वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी इति** । ततश्च लोकेऽपि नामद्वयं प्रसिद्धमित्याह— **रामकृष्णाविति** । जन्मविशेषकार्यं तु भगवतैव कृतमित्याह- **भगवानहरद्भूरमिति** । भूभारहरणमवतारकार्यं सामान्यतो लोकप्रसिद्धम् ।।२३।।

**व्याख्यार्थ**—अवतार वर्णन के श्लोकों में यह अठारहवां श्लोक है । यहाँ बलराम में भगवान् के आवेश का वर्णन है । उन्नीसवां बलराम का अवतार हैं और बीसवां कृष्ण का अवतार है । यहां 'विंशतितमे' पद में 'त' कार का लोप करके 'विंशतिमे' पद का प्रयोग छांदस हैं, छंद के आग्रह से यहां 'त' कार का लोप किया गया है । चंद्रमा वास्तव में एक है इसलिए एक श्लोक में ही राम कृष्ण दोनों अवतारों का निरूपण किया गया । यहां वार्ष्णेयेषु की जगह वृष्णिषु कहा गया है जिसकी सिद्धि इस प्रकार है–'ञ्यादयस्तद्राजा' इस सूत्र से प्रत्यय की तद्राज संज्ञा हो गई और तद्राजस्य बहुषु इत्यादि सूत्र से प्रत्यय का लोप होने पर 'वृष्णिषु' पद बन गया ।

यहां चारों अवतारों का (नारायण के अंश का, केश का, सुतपावृष्णि पर प्रसन्न भगवान् का और कृष्ण का) स्थान कृष्ण में हैं । तात्पर्य यह है कि यहां एक रूप ही बहुरूप में विवक्षित है और बलराम तो एक ही (पृथक्) माने गये हैं । इस तरह पांच अवतार हुए । जन्म दो के हुये इसलिए श्लोक में 'जन्मनी' द्विवचनान्त दिया है । लोक में भी, इसीलिए, दो नाम प्रसिद्ध हुये एक राम दूसरा कृष्ण । अवतार लेने का विशेष कार्य तो भगवान् ने ही किया इसी का निर्देश "भगवान् हरद्भूरम्" पद से किया है अर्थात् लोक में सामान्य रूप से प्रसिद्ध भूभारहरण रूप अवतार कार्य, भगवान् से ही सम्पादित हुआ है । वैसे तो इस अवतार का असाधारण कार्य सर्वोद्धार करना ही है ।। २३ ।।

श्लोक—**ततः कलौ सम्प्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।**
**बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति** ।।२४।।

**श्लोकार्थ**—उसके पश्चात् कलियुग के प्रवृत्त होने पर देव शत्रुओं को संमोहित करने के लिए जिन पुत्र बुद्ध नाम का अवतार कीकट देश में होगा ।।२४।।

**सुबोधिनी**—भिन्नप्रक्रमार्थं कलौ सम्यक्प्रवृत्ते तद्धर्मप्रचारे जाते सुरद्विषां दैत्यराक्षसानां वैदिकेषूत्पन्नानां वेदत्याजनार्थं कीकटदेशेषु जिनस्य अजिनस्य वा सुतो बुद्धो जात इत्यर्थः ।।२४।।

**व्याख्यार्थ** यहां "ततः" भिन्न उपक्रम का सूचक है अर्थात् अब वैश्य भाव के अवतार का वर्णन किया जाता है। कलियुग के भली भाँति प्रवृत्त हो जाने पर अर्थात् कलिधर्म का प्रचार होने पर देवताओं के दोषी जो दैत्य राक्षस थे वे वैदिकों में भी उत्पन्न हो गये थे, उनका वेदाध्ययन छुड़ाने के लिए कीकट देश में गया प्रदेश में, जिन अथवा अजिन का पुत्र बुद्ध, बुद्धावतार हुआ ।।२४।

श्लोक—**अथाऽसौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।**
**जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**—इसके अनन्तर यह भगवान् कलियुग और सत्ययुग की संधि में अथवा कलियुग के अन्त में राजाओं के चौर प्रायः होने पर, विष्णुयशा नामक ब्राह्मण के यहां कल्कि नाम से जगत् के पतिरूप में प्रकट होंगे ।।२५।।

**सुबोधिनी**—**अथेति** महान् भिन्नक्रमः। कूर्ममारभ्य बुद्धान्तं न पुरुषस्याऽवताराः। कल्की तु पुरुषस्याऽवतार इत्याह—**असाविति**। तत्र कूर्म आदिकूर्मस्य, धन्वन्तरिर्विष्णोः, नृसिंहः कालस्य, वामनो विष्णोः, वैश्वानरस्य परशुरामः, व्यासो विष्णोर्ज्ञानस्य, वासुदेवस्य रामः, संकर्षणस्य बलरामः, चतुर्णां कृष्णः वासुदेवस्य बुद्ध इति। युगसन्ध्यायां जातायां समाप्तायां न सन्त्येव राजानः। भूमिश्च शून्यप्राया। तथापि विद्यमाना अपि राजानो दस्यवः। प्रायग्रहणं विष्णुभक्ति-प्रतिपादकब्राह्मणसङ्गेन केषाञ्चिदतथात्वमिति। अत एव विष्णुयशा नाम शम्भलग्रामे वैष्णवः। तस्य गृहे पत्न्यां भविष्यतीत्यर्थः। **जगत्पतिरित्यवतारप्रयोजनम्**। जगतः क्षीणत्वात्पुनरुद्भवकर्ते-त्यर्थः ।। २५ ।।

**व्याख्यार्थ**—यहां 'अथ' पद महान् भिन्न क्रम का निर्देश करता है। कूर्मावतार से लेकर बुद्धावतार पर्यन्त जितने भी अवतार हैं वे विराट् पुरुष के अवतार नहीं हैं—असौ यह कल्कि तो विराट् पुरुष का अवतार है। यहां कूर्म आदि कूर्म का अवतार है जिसका वर्णन हिरण्मयेऽपि भगवान् निविर्शति कूर्मतनुं बिभ्राणः इत्यादि से किया गया है। धन्वन्तरि विष्णु का अवतार है, नृसिंह काल का तथा वामन विष्णु का अवतार है। वैश्वानर का अवतार परशुराम है। व्यास, विष्णु का ज्ञानावतार है। वासुदेव का अवतार राम है, संकर्षण का बलराम है और वासुदेवादि चारों व्यूह का अवतार कृष्ण है, वासुदेव का अवतार बुद्ध है। इस प्रकार ये अवतार समझे जाते हैं।

कलियुग की समाप्ति और सत्य का प्रवेश, इसके मध्य के समय को यहां 'संध्या' शब्द से कहा गया है अथवा संध्या का अर्थ यहां कलि का अन्त भी किया जा सकता है। इस युग सन्धि में राजाओं का अस्तित्व नहीं रहेगा, भूमि शून्य प्रायः हो जायेगी, और जो राजा बचेंगे वे चोर हो जायेंगे। 'किन्तु विष्णु भक्ति के प्रतिपादक ब्राह्मणों की संगति से कुछेक चोर नहीं भी होंगे।" यहां 'दस्युप्रायेषु' में 'प्रायः' शब्द इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसीलिए शंभल ग्राम में विष्णुयशा नाम का वैष्णव रहेगा। उसके घर में, पत्नि में कल्कि अवतार प्रकट होगा। 'जगत्पतिः' पद से अवतार का प्रयोजन बताया गया है। जगत् के क्षीण हो जाने पर पुनः उसका उद्भव करने वाला यह अवतार होगा ।।२५।।

**आभास**—अवताराणामेतावत्त्वं निवारयति—

**आभासार्थ**—अवतार इतने ही नहीं असंख्य हैं यही कहते हैं—

श्लोक—**अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।**
**यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ।।२६।।**

**श्लोकार्थ**—हे द्विजों ! अक्षय जल वाले सरोवर से जैसे छोटे-छोटे प्रवाह नहरें निकलते हैं उसी तरह सत्त्वनिधि होने से भगवान् के अवतार असंख्य हैं ।।२६।।

**सुबोधिनी—अवतारा इति । सत्त्वनिधेरिति** हेतुः । पालनोद्भवादेरावश्यकं सत्त्वम् । **द्विजा** इति सम्मत्यर्थं सम्बोधनम् । बहुकालर्षित्वात् । अवताराणां स्वरूपमाह—**यथाऽविदासिन इति ।** अविदासिन. अक्षयजलस्य । कुल्याः क्षुद्रप्रवाहा दक्षिणदेशे प्रसिद्धाः ।।२६।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् के असंख्यों अवतार होने में हेतु है भगवान् का सत्त्वनिधि होना क्योंकि उन अवतारों के पालन में तथा उद्भव आदि में सत्त्व आवश्यक है । अवतार असंख्य हैं इसमें सम्मति लेने के लिए यहां द्विजाः' इस सम्बोधन पद का प्रयोग किया गया है । "आप लोग द्विज हैं अर्थात् चिरंतन ऋषि होने से आपने तो अनेकों अवतार देखे हैं" । अवतारों के स्वरूप को अक्षय जल जैसा कहा है यथाऽविदासिनः जिससे अनेकों छोटे-छोटे प्रवाह निःसरित होते हैं इस प्रकार के ये क्षुद्र प्रवाह कुल्याः दक्षिण में प्रसिद्ध है । इसी तरह सत्त्व के अक्षय निधि रूप भगवान् से अनेकों अवतारों का उद्भव होता रहता है ।।२६।।

**आभास**—सर्वेषां सामान्यतः स्वरूपं प्रकृतिं फलं चाऽऽह **ऋषय इति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—सबका सामान्य से स्वरूप, प्रकृति और फल 'ऋषया' आदि दो श्लोकों से कहते हैं-

श्लोक—**ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।**
**कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ।।२७।।**

**एते चांऽशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**
**इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**—अर्यमा आदि ऋषिगण, मनु, देव, मनुपुत्र तथा अन्य अत्यन्त पराक्रमी ये सब तथा प्रजापति, मरीचि आदि सहित सभी भगवान् धर्मावेशी हैं अर्थात् इन सब में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्मों का आवेश है । पूर्वोक्त सनत्कुमार आदि में तो कोई अंशावतार है तो कोई कलावतार है । कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं । ये सब अवतार युग-युग में दैत्यों से व्याकुल जगत् को सुख देते हैं ।।२७।।२८।।

**सुबोधिनी**—ऋषय: अर्यमादय:। मनव: स्वायम्भुवादय: । देवा वस्वादय: । मनुपुत्रा: प्रियव्रतादय: । महौजस: अन्येऽप्यतिवीर्यवन्त: । एते सर्वे सत्त्वमूर्त्तेर्भगवतो विष्णो रिरक्षिषो: कला धर्मविशिन इत्यर्थः । प्रजापतयो मरीच्यादय: । एवकारेणाऽन्यसम्बन्धं वारयति । **स्मृता** इति प्रमाणम् । पूर्वोक्ता: कुमारादयस्तु केचन अंशा केचन कला: । ते चाऽवताराऽऽवेशभेदेन निरूपिता:। चकारादनुक्ता अपि । पुंसो नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्त्तेरंशा: कलाश्च । कृष्णेऽपि तथात्वं सामान्यत: प्राप्तं तुशब्देन व्यावर्तयति । यस्यांऽशा: पुरुषादय: स भगवान् कृष्ण इत्यर्थ: । सामान्यत: प्रयोजनमाह—**इन्द्रेति** । इन्द्रारयो दैत्या: तैर्व्याकुलं जगत् मृडयन्ति सुखयन्ति । प्रतियुगं चैतेऽवतारा: । प्रतिकल्पं चतुर्दश मन्वन्तराणीव । असङ्ख्यातानामुक्तत्वाद्यथाप्रयोजनं सर्वत्राऽवतार इति बोद्धव्यम् ।।२७।।२८।।

**व्याख्यार्थ**—अर्यमा आदि ऋषि, स्वायम्भुव आदि मनु, वसु आदि देवता, प्रियव्रत आदि मनु के पुत्र और अन्य भी जो महापराक्रमी हैं, ये सब रक्षा की इच्छा वाले भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य, वीर्य आदि के आवेश वाले हैं इसलिए धर्मविशी अवतार हैं इसी तरह प्रजापति सहित मरीचि आदि भी धर्मविशी अवतार हैं । श्लोकस्थ हरेरेव में 'एव' कार से यह अर्थ है कि ये सब अवतार अन्य के नहीं किन्तु हरि के ही हैं । यहां 'स्मृता:' का अर्थ हैं इस तरह ऋषियों को स्मरण हैं अर्थात् ये वास्तव में हरि के ही अवतार है इसमें ऋषियों की यह स्मृति ही प्रमाण है ।

पूर्व में कहे गये सनत्कुमार आदि में कोई अंशावतार है तो कोई आवेशावतार है कलावतार है । 'एतेचांऽशकला:' में 'च' कार से अन्य अवतारों का भी ग्रहण होता है । यहां अनुक्त अवतार 'च' कार से ग्रहण किये गये हैं । ये सब अवतार ब्रह्माण्ड मूर्ति नारायण पुरुष के या तो अंशावतार है या कला आवेश अवतार हैं ।

जहां भगवान् की महाशक्ति का आविर्भाव हो वह अंशावतार है और जहां अल्प शक्ति का आविर्भाव हो उसे कला या विभूति का अवतार समझना चाहिये । कला का अर्थ है आवेश ।

यहां 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' में 'तु' यह निर्देश करता है कि कृष्ण इस प्रकार का अवतार नहीं है अर्थात् पूर्वोक्त पुरुष आदि जिसके अंश है वह भगवान् कृष्ण है ।

सामान्यत: अवतारों का प्रयोजन कहते हैं कि जैसे प्रत्येक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं उसी तरह दैत्यादि से व्याकुल जगत् को सुख देने के लिए प्रत्येक युग में अवतार होते हैं ।

ऊपर असंख्य अवतार बताये हैं जिससे यह सूचित होता है कि प्रयोजन के अनुसार सर्वत्र भगवान् का अवतार होता रहता है 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्' आदि से इसी बात को कहा है । २७।।२८।।

**आभास**—कृष्णावतारप्रयोजनं नोक्तमिति स्वस्याऽज्ञानदोषं निवारयन्नवताराणां दुर्ज्ञेयत्वमाह—

**आभासार्थ**—"कृष्णावतार का प्रयोजन जो नहीं कहा उसमें मेरे अज्ञान का दोष नहीं है, किन्तु अवतार ही दुर्ज्ञेय है" इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतः शुचिः ।**
**सायं प्रातर्गृणन्भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥२९॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् कृष्ण का प्रादुर्भाव गोप्य है । सामान्य रूप से कहे गये इस अवतार को सावधान और शुद्ध होकर सायं प्रातः वर्णन भी करे तो भी दुःख समुदाय छूट जाता है । श्रद्धा से यदि कहे तो मुक्त ही हो जाता है ॥२९॥

**सुबोधिनी**—**जन्म गुह्यं भगवत इति** । भगवतः कृष्णस्य जन्म गुह्यं गोप्यम् । न प्रकटतया च वक्तव्यमित्यर्थः । तर्हि कथं निस्तार इत्याशङ्क्याऽऽह—**स एतदिति** । एतदवताररूपं सामान्यतोऽस्मदुक्तम् । प्रयतः सावधानः । शुचिः शुद्धः । सायं प्रातर्भक्त्या स्तोत्रपाठं कुर्वन्दुःखग्रामाद्दुःखसमूहाद्विशेषेण मुच्यते । जन्मरहस्यज्ञानाभावेऽपि केवलं जन्मकीर्तनमात्रेणाऽपि सर्वदुःखनिवृत्तिरित्यर्थः । श्रद्धया गृणन्मुच्यत एव ॥२९॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् कृष्ण का जन्म गोप्य है । उसको प्रकट रूप से नहीं कहना चाहिये क्योंकि जीव की तरह कर्म वश आपका प्राकट्य नहीं है । ऐसी स्थिति में जीवों का विस्तार कैसे होगा ? ऐसी आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'यएतत्' हमसे सामान्यतया निरूपित इस अवतार का जो कोई सावधान व शुद्ध होकर प्रेमपूर्वक सायं प्रातः स्तोत्र पाठ करे तो वह दुःख समुदाय से विशेषतया मुक्त हो जाता है । श्री कृष्णावतार के जन्म का रहस्य-ज्ञान न होने पर भी उनके केवल प्रादुर्भाव को कहने से ही सम्पूर्ण दुःख निवृत्त हो जाते हैं, फिर यदि श्रद्धा से उनका उच्चारण करें तो वह मुक्त ही हो जाता है ॥२९॥

**आभास**—एवं पुरुषाऽवतारं स्वांशावतारैः सपरिकरं निरूप्य तस्य विचारमाह एतद्रूपमित्यादिपञ्चभिः—

**आभासार्थ**—इस प्रकार पुरुषावतार को अपने अंशावतार एवं परिकर सहित निरूपण करके 'एतद्रूपम्' आदि पांच श्लोकों से उसका विचार करते हैं—

श्लोक—**एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।**
**मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥३०॥**

**श्लोकार्थ**—चैतन्यस्वरूप, रूपरहित भगवान् के माया-गुण-अन्य जो महत्तत्वादि हैं, उन्होंने अपने शरीर में इस ब्रह्माण्ड रूप देह को बनाया है ॥३०॥

**सुबोधिनी**—एतद्ब्रह्माण्डात्मकं भगवतो रूपं, पूर्णब्रह्मण एव सत्त्वोपहितस्य रूपम् । शरीरव्यतिरेकेणाऽऽत्मनोऽन्यत्र वृत्तिलाभाभावात् । "**अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादि**" ति न्यायेन ब्रह्मणि स्वतो रूपं नास्ति । तत्र हेतुः—**चिदात्मन इति** । जडमेव हि रूपं भवति । चैतन्यमात्रस्याऽमूर्तस्य रूपाभावादिति हिशब्दार्थः । तर्हि कथं ब्रह्माण्डशरीरत्वमुक्तम् **मायागुणैर्विरचितमिति** । वैष्णवतन्त्रे आधिदैविकस्य शक्तिर्माया । तस्या एव त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि । तैरेव महदादयो जाताः । तैः स्वशरीर एव भगवच्छरीरं निष्पादितम् । इदं हि भगवच्छरीरम् । अत्र भगवान्समाहितो भजनीयो भविष्यतीति । ततश्च महदादिकृपया भगवानत्र संनिहित आविर्भूतस्तप्तायोगोलके वन्हिरिव तिष्ठतीति बोद्धव्यम् ।।३० ।

**व्याख्यार्थ**— यह ब्रह्माण्डात्मक देह भगवान् की देह है । सत्वोपाधियुक्त ब्रह्म का ही यह शरीर है । शरीर के बिना आत्मा को अन्यत्र उपलब्धि नहीं हो सकती ।

'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इस न्याय से वह ब्रह्म स्वतः रूपवान् नहीं है क्योंकि वह चैतन्यरूप है चिदात्मन । जड़ ही रूप वाला होता है । केवल चैतन्य अमूर्त होने से उसका रूप नहीं होता इसी का निर्देश यहां 'हि' शब्द से किया गया है ।

शङ्का करते हैं कि यदि ऐसा हो तो ब्रह्म का ब्रह्माण्ड शरीर कैसे कहा गया? इसका उत्तर यह है कि "मायागुणैर्विरचितम्" वैष्णव तन्त्र में आधिदैविक भगवान् की शक्ति माया है, उसीके सत्त्व, रज और तम ये गुण हैं इनसे महत्तत्वादि पैदा हुये हैं । इन महत्तत्वादि ने अपने शरीर में ही भगवान् के शरीर को प्रादुर्भूत किया है । यह ब्रह्माण्ड भगवत् शरीर है इसमें भगवान् रहते हैं, इसलिए भजनीय कहे गये हैं ।

तदनन्तर महत्तत्वादि पर कृपापूर्वक इनमें से निहित भगवान् यहां प्रकट हुए हैं तहां लोह के गोलक में अग्नि की तरह संनिहित भगवान् ब्रह्माण्ड में रहते हैं यह जानना चाहिये । 'रूपम्' का अर्थ यहां शरीर है । इससे आधिदैविकवाद ग्रहण किया गया है, जिसे विशिष्टद्वैत भी कहते हैं । 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' का अर्थ यह है कि यह विश्व सब व्यवहारों का विषय होने से रूपवान् है तथा ब्रह्म का अंश एव कार्य है । ब्रह्म कारण एवं अंशी है इसलिए इस विश्व से उस ब्रह्म का विलक्षण होना युक्ति युक्त है ।

शंका करते हैं कि ब्रह्म कारण है इसलिए विश्व से वह विलक्षण नहीं हो सकता फिर आप उसे विलक्षण कैसे कहते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तत्प्रधानत्वात्' यहां ब्रह्म का प्रकरण है इसलिए, वह प्रधान है। उस ब्रह्म में वहां प्रशासनादि धर्म बताये गये हैं जो जड़-जीव के धर्म नहीं हो सकते' ।

इस श्लोक में शरीर का प्रकरण है इसलिए रूप पद से यहां शरीर लिया गया है यह सब सूतजी के अधिकारानुसार 'एकेदेशी' मत कहा गया है । वस्तुतः ब्रह्म ही सब कुछ है । सूतजी यहां यह कह रहे हैं कि ब्रह्म में स्वतः रूप नहीं है क्योंकि वह चैतन्य है ।।३०।।

**आभास**—ननु जडरूपे कथमस्मिन्ब्रह्मप्रतीतिः । तथा सति चेतनत्वं प्रतीयेत । ततश्च दृश्यत्वाज्जडत्वाच्च न भगवदावेशोऽत्राऽस्तीति कथमिदं शरीरम् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—शंका करते हैं कि विराट् देह जड़रूप है इसमें ब्रह्म की प्रतीति कैसे हो सकती है? यदि जड़रूप इस शरीर में ब्रह्म का लोह गोलक में अग्नि की भांति प्रवेश मानते हो तो चेतनता की प्रतीति होनी चाहिये। यह शरीर दृश्य एवं जड़ होने से, इसमें भगवान् का आवेश नहीं है तो फिर यह ब्रह्म का शरीर कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि—

श्लोक—**यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।**
**एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥३१॥**

**श्लोकार्थ**—जैसे अज्ञानी लोग अदृश्य आकाश में मेघ समुदाय को आरोपित करते हैं अथवा वायु में पृथ्वी के रजकणों का आरोप करते हैं उसी प्रकार दृष्टारूप जो विराट् पुरुष है, उसमें दृश्यत्व जड़त्व आरोपित करते हैं ॥३१॥

**सुबोधिनी**—**यथा नभसीति** । अयं हि द्रष्टा । देवदत्तवद्भगवान् सर्वं पश्यति । यद्यपि शरीरमपि दृश्यं, तथापि द्रष्ट्रा व्याप्तमिति । तद्व्यतिरिक्तस्यैव दृश्यत्वप्रतीतिर्लोके । तत्र ये महान्स्ते सर्वेऽत्र ब्रह्माण्डे अयोगोलके वह्निमिव भगवन्तं पश्यन्ति । ये पुनर्मूढास्ते तस्मिन्द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपयन्ति । ननु कथमन्यस्मिन्नन्यधर्माध्यारोप इत्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह—**यथा नभसि मेघौघ इति** । वस्तुतस्त्वाकाशोऽदृश्यः । ततश्च तदाधारत्वेन कथं मेघा दृश्या भवेयुः । येषामपि मते दृश्यस्तेषामपि मते नाऽकाशे मेघाः । किन्तु वायावेव । तत्र यथाऽन्यत्र स्थितानामन्यत्र प्रतीतिः। अत्र विशिष्टप्रतीतिरारोपितेन सह तथा नाऽस्तीति दृष्टान्तान्तरमाह—**रेणुर्वा पार्थिवोऽनिल इति** । यथा वात्यादौ तद्विशिष्टरेणुप्रतीतिः । ततो भ्रान्ता वात्याया इति रेणुं मन्यते । वस्ततस्तु पार्थिवो रेणुः ॥ ३१ ॥

**व्याख्यार्थ**—ब्रह्माण्डरूप शरीर से युक्त यह भगवान् दृष्टा है। वह देवदत्त की तरह सब कुछ देखता है। यद्यपि यह ब्रह्माण्ड शरीर भी दृश्य है तथापि दृष्टा जो भगवान् है उससे व्याप्त है। लोक में दृश्य वही कहलाता है जो दृष्टा से अतिरिक्त हो अर्थात् लोक में वही पदार्थ देखा जा सकता है जो दृष्टा न हो। वहां जो महापुरुष हैं, वे इस ब्रह्माण्ड शरीर में लोह गोलक में अग्नि की तरह भगवान् को देखते हैं और जो मूढ पुरुष हैं वे दृष्टारूप भगवान् में दृश्यत्व का आरोप करते हैं।

यहां शंका करते हैं कि अन्य में, अन्य धर्मों का आरोप कैसे हो सकता है? अर्थात् अदृश्य भगवान् में दृश्यत्व का आरोप कैसे सम्भव है? इसका उत्तर दृष्टान्त सहित देते हैं कि वास्तव में आकाश अदृश्य है तो फिर आकाश में मेघ दृश्य है यह प्रतीति कैसे हो सकती है? जिनके मत में आकाश दृश्य माना गया है उनके मत में भी आकाश में मेघ नहीं माने जाते, किन्तु वायु में ही मेघ माने जाते हैं तात्पर्य यह है कि जैसे अदृश्य आकाश में तदाधारत्वेन मेघों का आरोप किया जाता है उसी तरह ब्रह्म का शरीर जो ब्रह्माण्ड है उसमें दृश्यत्व-जड़त्व आरोपित है।

जैसे मेघ देखने वाले पुरुषों को आकाश के धर्म अवकाश की प्रतीति नहीं होती है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड शरीर प्राकृत है' इस प्रकार जो देखने वाले हैं उनको भी इस ब्रह्माण्ड शरीर में चेतनता

की प्रतीति नहीं होती। ऐसी स्थिति में इनके अज्ञानमात्र से भगवान् इस शरीर में आविष्ट नहीं है ? यह कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् 'आकाश अदृश्य है, उसके धर्म, दृश्य मेघ में आरोपित होते हैं और सिद्धान्त में, भगवान् अदृश्य है, उसमें ब्रह्माण्ड दिखाई देता है और उसके धर्म का ब्रह्माण्ड के धर्म का भगवान् में आरोप होता है' इस प्रकार के निरूपण से दृष्टान्त में विषमता आती है क्योंकि दृष्टान्त में अदृश्य का धर्म दृश्य में और दार्ष्टान्त में दृश्य का धर्म, अदृश्य में आरोपित है। इस तरह दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में समानता नहीं होने से यह दृष्टान्त बराबर नहीं इसलिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

'रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले' वायु सबके मत में अदृश्य है उसमें दृश्य पृथ्वी की जो रज है, वह आरोपित है। जब आंधी चलती है तब उसमें वायु वाली रज की प्रतीति होने से, उसे सभी वायु की रज है ऐसा भ्रान्ति से मानते हैं। वास्तव में तो वह पार्थिव पृथ्वी सम्बन्धित रज है। इस तरह यहां अदृश्य में दृश्य का धर्म आरोपित है इसी तरह ब्रह्माण्ड में भी दृश्यत्व का आरोप है।

"वाणी की कामधेनु रूप से उपासना करनी चाहिये 'वाचोधेनुमुपासीत' इसी तरह यहां भी भगवान् की ब्रह्माण्ड रूप से उपासना करनी चाहिये" यदि इस अभिप्राय से भगवान् में ब्रह्माण्ड आरोपित होता तो 'दृष्टरिदृश्यमारोपितम्' ऐसा कहते अर्थात् यहां दृश्यत्वादि-धर्म-विशिष्ट शरीर ब्रह्म में आरोपित है" ऐसा व्याख्यान अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यदि यह ब्रह्माण्ड शरीर आरोपित होता (और जो कि वास्तव में आरोपित नहीं है) तो योगी को वह प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकता। इसलिए यह प्रत्यक्षादि धर्मक शरीर ब्रह्माण्ड ब्रह्म में आरोपित है ऐसा कहना असंगत है। ब्रह्म से अतिरिक्त इस ब्रह्माण्ड शरीर को मानकर उसमें दृश्यत्व-जड़त्व की कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्माण्ड शरीर भी ब्रह्म का रूप ही है ।।३१।।

**आभास**—एवं प्रपञ्चे जडबुद्धिर्भ्रान्ता भगवद्बुद्धिर्मुख्येति निरूप्य, जीवेऽपि भगवद्बुद्धिरेव मुख्या, न जीवबुद्धिरिति निरूपयति—

**आभासार्थ** - इस प्रकार प्रपंच में जड़त्व-बुद्धि एक भ्रांतिमात्र है, भगवद्बुद्धि मुख्य है ऐसा 'यथानमसि' इत्यादि में निरूपण किया गया। "जीव में भी भगवद्बुद्धि करना मुख्य है, जीव-बुद्धि करना मुख्य नहीं है" इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणबृंहितम् ।**
**अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ।।३२।।**

**श्लोकार्थ**— ब्रह्माण्ड-शरीर से दूसरा जो सूक्ष्म है, जो कर-चरण आदि आकार विशेष में अपरिणत-स्वाभाविक गुणों से व्याप्त है, जो अदृश्य होने से जड़ नहीं है और वेदादि में उस रूप में अश्रुत होने से भगवद्रूप नहीं है, वह जीव है, जिसके मानने पर बार-बार जन्म-मरण हुआ करते हैं ।।३२।।

**सुबोधिनी—अतः परमिति** । अतो ब्रह्माण्डविग्रहात्सूक्ष्मं सर्वेन्द्रियागोचरमव्यक्तापरपर्यायं करचरणाद्याकारेण ऽपरिणतैर्गुणैः स्वाभाविकैर्व्याप्तम् । अस्तीति सम्बन्धः । ततः किमित्याकांक्षायां स जीव एव । जीवजडभगवद्व्यतिरेकेण चतुर्थपदार्थस्याऽभावात् । ननु तथापि जीवत्वं कुतः ? अत आह —**अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वादिति** । यदि तज्जडं स्यात्, दृश्यं स्यात् । यदि वा भगवद्रूपं स्यात्, वेदादौ श्रुतं स्यात् न वा निःस्वभावं, शशश्रृङ्गवत् । वस्तुत्वात् । तस्मात्पारिशेष्याज्जीव एव । केचन तं जीवोपाधिं मन्यन्ते । तथा प्राप्ताप्राप्तविवेकेन भगवद्व्यतिरिक्तस्य जीवस्याऽभावात्कस्योपाधिः स्यात् । तस्माज्जीव एव सः । किञ्च यस्मात्पुनर्भवः । पुराणे लोके । चैवं प्रतीयते । पूर्वमयं देव. स्थित इदानीं मनुष्यत्वमापन्न इति । अतः पुनर्भवाऽन्यथानुपपत्त्या भगवदुपाधिः सूक्ष्मो जीवः कश्चिदस्तीति मन्तव्यम् ।।३२।।

**व्याख्यार्थ**—पूर्वोक्त श्लोक में ब्रह्माण्ड शरीर का निरूपण किया गया है, अब इस शरीर से सूक्ष्म, सर्व इन्द्रियों का अविषय तथा अव्यक्त इस अपर पर्याय वाला तत्व है जो कर चरण आदि आकार विशेष में अपरिणत-स्वाभाविक गुणों से व्याप्त है । ऐसा तत्व है अवश्य, तो वह कौन है ? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं कि वह जीव है । क्योंकि जीव, जड़ और भगवान् से अतिरिक्त कोई चतुर्थ पदार्थ ही नहीं है । तथापि, वह जीवरूप ही है ऐसा क्यों कर मान लिया जाये? इसका उत्तर है कि 'अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्' यदि वह जीव जड़ होता तो जड़ की तरह दृश्य होता । यदि वह जीव भगवद्रूप होता तो वेद आदि में उसका उल्लेख होता । "शशाश्रृंग की तरह वह जीव असत् है" यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सत्ता से ही तो चेष्टा आदि होते हैं । तदनुसार चेष्टा आदि से वह अनुमेय वस्तु है । इस तरह जब वह न जड़ ही हो सकता है और न भगवान् ही, तब इससे जो शेष रहा वह जीव ही है वह जीव ही हो सकता है ।

कोई श्रीधर स्वामी आदि-लिङ्ग देह में जीव व्यवहार होता है अर्थात् जीव को उपाधिरूप लिङ्ग शरीर मानते हैं किन्तु यह उपयुक्त मत नहीं है यह 'प्राप्ताप्राप्त विवेक' से विरुद्ध पड़ता है । अर्थात् यह भगवान् का प्रकरण है तदनुसार यहां भगवान् का वर्णन प्राप्त है, जीव का वर्णन उपक्रांत नहीं है इसलिए अप्राप्त है । भगवान् के अतिरिक्त जीव के न होने से यह लिङ्ग देह किसकी उपाधि होगी ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । अतः यह कहना युक्त होगा कि लिंग शरीर में जीव का प्रयोग नहीं है क्योंकि ब्रह्म के अंश से लिङ्ग शरीर का सम्बन्ध अनुचित है इसलिए लिङ्ग शरीर से पृथक यह जीव है ।

यदि जीव शब्द से लिङ्ग शरीर लिया जाये तो 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इस श्रुति में जीव के अनन्तर लिङ्ग शरीर का निकलना कहा गया है । अतः यह स्पष्ट है कि लिङ्ग शरीर अलग है और जीव अलग है । लिङ्ग शरीर से अलग जीव मानते हैं तो पुनर्जन्म भी सिद्ध उपपन्न हो सकता है । पुराण और लोक में ऐसा सुना गया है कि पहले यह जीव देव था और इस समय मनुष्य बन गया इसलिए पुनर्जन्म होता है । जीव को लिङ्ग देह से अतिरिक्त माने बिना पुनर्जन्म सुसंगत नहीं हो सकता । अस्तु यह सूक्ष्म-जीव भगवान् का ही उपाधि विशेष है अर्थात् भगवान् से पोषित यह जीव कोई पदार्थ है ऐसा मानना चाहिये ।।३२।।

**आभास**—किमतो यद्येवम् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—यदि ऐसा है तो फिर इससे क्या सिद्ध हुआ ? वहां कहते हैं—

श्लोक—**यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।**
**अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—अविद्या से आत्मा के स्थान में प्रतीत होने वाले ये स्थूल सूक्ष्म (जड़ जीव) ब्रह्मानुभव होने पर नहीं रहते। ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्म-प्रतीति रहती है, जड़ जीव प्रतीति नहीं रहती ।।३३।।

**सुबोधिनी**—**यत्रेमे इति** । वस्तुतस्तु सर्वो भगवानेव । न जीवो नाऽपि जडः । प्रतीतिस्त्वाविद्यकी । यदा पुनः स्वस्मिन्न्वाऽधिष्ठाने इमे स्थूलसूक्ष्मे ब्रह्मानुभवेन प्रतिषिद्धे भवतश्चेत् । प्रतिषेधे हेतुमाह—**अविद्ययाऽऽत्मनि कृते इति** । ब्रह्मानुभवव्यतिरेकेणाऽऽत्मनि कृते आत्मस्थाने तत्प्रतीयत इत्यर्थः । इतिशब्दौ हेतौ । तत्तदैव ब्रह्मदर्शनं ब्रह्मानुभवो भवतीत्यर्थः । सर्वत्र ब्रह्मप्रतीतिस्तिष्ठति, जडजीवप्रतीतिर्गच्छतीति भावः ।।३३।।

**व्याख्यार्थ**—वस्तुतः सभी भगवान् ही है न जड़ है, न जीव है । जड़ और जीव की प्रतीति अविद्या से है । अविद्या से आत्मा में यह प्रतीति होती है । ब्रह्मरूप अधिष्ठान में यह स्थूल, जड़ और सूक्ष्म जीव है ऐसा ज्ञान ब्रह्म का अनुभव होने पर नहीं रहता । सर्वत्र ब्रह्मानुभव होकर बिना जड़ जीव की अलग रूप से प्रतीति होती है और जब सर्वत्र ब्रह्मानुभव हो जाता है तब सर्वत्र ब्रह्म प्रतीति होती है । यहां 'इति' शब्द हेत्वर्थक है । जब यह जड़ है, यह जीव है, ऐसी भेद प्रतीति नहीं होती तब ही ब्रह्मानुभव होता है ऐसी स्थिति में सर्वत्र ब्रह्म की प्रतीति हो जाती है और जड़ जीव की प्रतीति नहीं रहती ।।३३।।

**आभास**—किं तावता ? कदा वा प्रतीतिरेषा गच्छति ? इति तद्द्वयं निरूपयति—

**आभासार्थ**—इस तरह ब्रह्म की प्रतीति होने से क्या ? और जड़ जीव की यह प्रतीति कब निवृत्त होती है ? इन दोनों का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।**
**सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ।।३४।।**

**श्लोकार्थ**—सर्वज्ञ भगवान् की यह देवता रूप माया जब प्रवृत्ति रूप से अर्थात् अविद्यारूप से नहीं रहती किन्तु जब वह विद्यारूप बन जाती है तब यह जीव ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता हुआ अपने परमानन्द रूप में स्थित होकर पूजित होता है ।।३४।।

**सुबोधिनी—यद्येषेति** । एषा माया भगवतो विशारदस्य सम्बन्धिनी देवी देवतारूपा पूर्वाऽवस्थात उपरता भवति । तथापि तस्या न निःस्वभावत्वं भवेत् । किन्तु सा मतिरूपा भवति । यदा प्रवृत्तिरूपा भवति तदा माया । निवृत्तिरूपा मतिरिति विशेषः । तदाऽयं जीवः स्वे महिम्नि सम्पन्न एव स्वरूपं प्राप्त एव महीयते । स्वाराज्यं करोतीत्यर्थः । एवं—**"सर्वं हरिः"** रित्येतदर्थं सपरिकरः पुरुषावतारो निरूपितः ॥३४॥

**व्याख्यार्थ**—यह माया सर्वज्ञ भगवान् की सम्बन्धिनी है तथा देवतारूप मानी जाती है । वह जब अपनी प्रवृत्तिरूप पूर्वावस्था से उपरत हो जाती है तब उसकी सत्ता नहीं रहती यह नहीं कह सकते, किन्तु वह माया पूर्वावस्था से उपरत होने पर विद्यारूप में परिणत हो जाती है । ऐसी स्थिति में जीव को स्वरूप लाभ हो जाता है ।

जब वह प्रवृत्तिरूप रहती है तब माया कहलाती है, जब निवृत्तिरूप होती है तब विद्या कहलाती है, यह विशेष है । विद्यारूप में परिणत होने पर, जड़ जीव बुद्धि नहीं रहती तब वह जीव अपने परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करके पूजित हो जाता है स्वराज्य करता है । इस प्रकार सब जड़ जीव हरि का रूप ही है यह निर्देश करने के लिए, परिकर सहित पुरुषावतार का वर्णन किया ॥३४॥

**आभास—**एवमन्यत्राऽपि कृष्णे पुरुषोत्तमे जन्मकर्मनिरूपणं तस्य भगवत्त्वज्ञानार्थमेवेत्याह—

**आभासार्थ**—इसी तरह अन्य अवतार में भी समझना चाहिये । पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में जन्म कर्म का निरूपण उसकी भगवत् रूपता का ज्ञान कराने के लिए किया गया है इसी को कहते हैं कि—

श्लोक—**एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च ।**
**वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥३५॥**

**श्लोकार्थ—**इस तरह हृदय के पति, अजन्मा और अकर्मा के जन्म और कर्म वेद में भी गुह्य ही है । विवेकी लोगों ने उसका इसी रूप से वर्णन किया है ॥३५॥

**सुबोधिनी—एवमिति** । ननु उपदेशातिदेशयोः को विशेष इत्यत आह । अजनस्य जन्मानि, अकर्तुः कर्माणीति । विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यं विशेषः । **"एतावानस्य महिमे"** ति वचनात् । एवमेव हि कवयो वर्णयन्ति विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन । ननु कथं प्रतीतिरविरोधेन ? तत्राऽऽह—**वेदगुह्यानीति** । वेदेऽपि गोप्यानि । भ्रान्तानां विरुद्धवत्प्रतीत्यर्थं तथा वचनम् । वस्तुतस्तु सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोध एव नास्ति । किञ्च । **हृत्पतेः** । सर्वेषां हृदयानां स एव प्रेरकः । तत्र यथा अनेकविधं प्रेरयति तथाऽनेकविधो भवतीत्यर्थः ॥३५॥

**व्याख्यार्थ**—यहां शंका करते हैं कि उपदेश तथा अतिदेश में क्या भेद है ? इसका उत्तर देते हैं कि पहले जो कहा जाता है वह उपदेश है तथा जो बात अन्यत्र प्रसिद्ध है उसे किसी कारणवश अन्यत्र कह देना अतिदेश है । पुरुषावतार के जन्म आदि का कथन उपदेश है और 'एवं जन्मानि कर्माणि' से पुरुषावतार में प्रसिद्ध जो जन्मादि है, उनका पुरुषोत्तम भगवान् में कहना अतिदेश है ।

अजन्मा भगवान् के जन्म, अकर्त्ता भगवान् के कर्म, ये सब बातें ब्रह्म में सम्भव है क्योंकि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रय है । इस प्रकार विरुद्ध धर्माश्रयता बताने से भगवान् का माहात्म्य सिद्ध होता है जिसका निर्देश 'एतावानस्य महिमा' आदि से श्रुति में किया गया है । विद्वान भी भगवान के विरुद्ध धर्माश्रयत्व का निरूपण करते हैं ।

यहां प्रश्न होता है कि भगवान् में विरुद्ध धर्मों की अविरोधपूर्वक प्रतीति कैसे होती है ? इसका उत्तर है कि 'वेदगुह्यानि' वेद में भी जन्म और कर्म का वर्णन गुप्त रूप से ही किया गया है वेद में भी इनका रहस्य प्रकट नहीं किया गया है जिससे भ्रांत पुरुषों को भगवान् विरुद्ध की तरह प्रतीत होते हैं । वस्तुतः भगवान् तो सर्व प्रकार के रूप धारण करने में समर्थ है । ब्रह्म में किसी भी प्रकार का विरोध ही नहीं है । तदुपरांत भगवान् 'हृत्पति' है । सबके हृदयों के प्रेरक वही है । प्रेरणा रूप धर्म विशेष से ब्रह्म भी अनेक प्रकार का हो जाता है । जहां जिस तरह अनेक प्रकार से प्रेरणा करता है वहां उस तरह अनेक प्रकार का हो जाता है ।।३५।।

**आभास**—कथं वर्णयन्ति ? का वा तस्य लीला ? किं स्वरूपम् । कथं ज्ञायते ? इत्याकांक्षायामाह **स वा इदमिति** त्रिभिः । अथवा । **"सूत जानासी"** त्यस्य वा (?) उत्तरम् ।

**आभासार्थ**—विवेकी लोग अजन्मा, अकर्त्ता भगवान् के जन्म कर्म कैसे निरूपण करते हैं ? और भगवान् की कौनसी लीलायें हैं ? भगवान् का क्या स्वरूप है ? और वह कैसे जाना जा सकता है ? इसको निम्नांकित तीन श्लोकों से कहते हैं । वस्तुतः यहां 'सूत जानासि भद्रन्ते' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—

श्लोक—**स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।**
**भूतेषु चाऽन्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—जिसकी लीला अव्यर्थ है ऐसे भगवान् पुरुषोत्तम इस विश्व का निर्माण करते हैं, रक्षा करते हैं और संहार करते हैं किन्तु, तत्सुलभ हर्ष-मोह आदि से आलिप्त रहते हैं, प्राणियों में अन्तर्हित हैं अतः स्वतन्त्र हैं । छहों इन्द्रियों के रस-रूपादि विषयों के सारभूत रस का वे स्वयं ही अनुभव करते हैं ।।३६।।

**सुबोधिनी**—स पुरुषोत्तमः । वै निश्चयेन । कालादीनां तत्प्रेर्यत्वात् । **इदं विश्वमिति** प्रपञ्चे भेदो निवारितः । अक्षरकालकर्मस्वभावप्रकृतिपुरुषैः क्रियते जगदिति यद्बहुधा निरूपितं तद्वस्तुतो

भगवानेव करोति । तत्र हेतुः—**अमोघलील इति** । केवलमक्षरादिभिः कृते स्वतन्त्रस्य भगवत इच्छाऽभावे सति क्रिया व्यर्था स्यात् । कार्यव्यापृतत्वेन सम्यक्स्फुरणाभावाच्च । भगवतस्तु लीला सा । जगतो भोग्यत्वात् । व्रीहीनिव वा सृजत्यवत्यत्ति । भक्षणकथनात् । अन्येषां कर्मकरत्वेनाऽप्रयोजकत्वमुक्तम् । जीवानामपि तथात्वेन वैलक्षण्यमाह—**न सज्जत इति** तत्कृतगुणदोषा मोहहर्षादयः सङ्गः। तन्नास्ति । तत्र प्रमाणमिव कथयन्नस्मिन्निति निर्दिशति । भूतेषु स्वांशभूतेषु जीवेषु च न सङ्गः । जीवजडयोरनासक्तिरुक्ता । ननु सर्वत्र कार्यकारणयोर्दर्शनाद्भगवतश्चाऽदर्शनात्कथं भगवान्करोति । दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च । तत्राऽऽह – **अन्तर्हित आत्मतन्त्र इति** । अन्तर्हितत्वाददर्शनम् । आत्मतन्त्रत्वान्न दृष्टसम्भवः । दृष्टानां परतन्त्रत्वात् । ननु सर्वत्राऽन्तर्हितः अनुप्रविष्टश्चेत्करोति तदा भोगे दोषः । जीवैः सह भोगात् । प्रथमत एव वा भोगे भुज्यमानानामभावापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह । षाड्वर्गिकं जिघ्रति । भोगो हीन्द्रियसाध्यः । इन्द्रियाणि तु धर्मानेव गृह्णन्ति न धर्मिणः । तत्र केवलानां ग्रहणं जीवैरशक्यम् । इन्द्रियाणां च क्षणमात्रं धर्मैकदेशसम्बन्धः । तथाच पञ्चविषयाणां भोगो भगवत्साध्य एव । **जिघ्रतीति** धर्माणामेव ग्रहणम् । लोके केवलधर्मग्रहणं घ्राण एवेत्युक्तम् । षण्णामिन्द्रियाणां पञ्चपर्वाविद्याव्याप्तत्वेन प्रत्येकं पञ्चरूपत्वात्पञ्चविधत्वं वर्गत्वम् । तथाच त्रिंशद्भेदा भवन्ति । अष्टाविंशतिभेदानि तत्त्वानि, स्वयं, भक्तिश्चेति । तेषां रसान् स्वयमेवाऽनुभवतीत्यर्थः । ज्ञानसहितानां रूपादीनां न जीवं प्रति सर्वभावनाऽऽत्मसमर्पणं किन्त्वेकदेशेन कथञ्चिदेव । न तथा भगवतीत्याह – **षड्गुणेश इति** । ईशत्वेन नियामकत्वं तदधीनत्वं चोक्तम् ॥३६॥

**व्याख्यार्थ**—विषयों के वे पुरुषोत्तम निश्चयपूर्वक इस विश्व को उत्पन्न करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं और इसका संहार करते हैं। काल, कर्म, स्वभाव आदि के प्रेरक भगवान् हैं । वे स्वतन्त्र नहीं हैं इसलिए वे उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि स्वतन्त्र रूप से नहीं कर सकते ।

'इदं विश्वम्' यह विश्व अर्थात् यह जगत्, अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव, प्रकृति और पुरुष से बनाया गया है। इस तरह अनेक प्रकार से जगत् के निर्माण का निरूपण किया गया है, किन्तु वस्तुतः इस जगत् का निर्माण भगवान् ही करते हैं, क्योंकि उनकी लीला अमोघ सफल कही गई है।

केवल अक्षर, काल आदि से जगत् का निर्माण हो और यदि स्वतन्त्र जो भगवान् हैं उनकी इच्छा न हो, तो काल, कर्म, स्वभाव आदि की जगत् निर्माण क्रिया व्यर्थ रहेगी सफल नहीं होगी। जगत् निर्माण कार्य में व्यस्त रहने के कारण उनमें निर्माण कार्योचित स्फूर्ति का अभाव हो रहता है। भगवान् को इसमें कोई क्लेश नहीं होता क्योंकि, इनका यह निर्माण कार्य लीलारूप है। लीला में आभास नहीं होता तदुपरांत यह जगत् उनका भोग्य है अथवा भगवान् जगत् को चावलों की तरह उत्पन्न करता है, रक्षा करता है तथा उसको खा भी जाता है। जगत् भगवान् का भक्षण कहा गया है– यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव भगवान् के भृत्य हैं. भगवान् की प्रेरणानुसार कार्य करते हैं अतः जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में अप्रयोजक हैं।

यदि कहो कि जीव भी तो भोक्ता है तो फिर क्या भगवान् भी जीवों के समान हैं? तो उत्तर देते हैं कि नहीं, विश्व निर्माण सुलभ जो गुण दोष रूप मोह हर्ष आदि हैं वे भगवान् में नहीं हैं।

इसलिए जीव से उनमें वैलक्षण्य है। श्लोक में "अस्मिन्" पद से यह अभिप्राय है कि 'सूतजो इस विषय में अपना अनुभव कह रहे हैं। अर्थात् इस जगत में भगवान् असंग रूप से रहते हैं, इसमें आसक्त नही होते। पंचमहाभूतों में और स्वांशरूप जीव में भी भगवान् आसक्त नहीं हैं। इस प्रकार भगवान् जीव और जड़ में अनासक्त ही है यह कहा गया।"

शङ्का करते हैं कि सर्वत्र कार्य और कारण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं किन्तु भगवान् तो दिखाई देते नहीं, तो अदृष्ट भगवान् इस विश्व का निर्माण करते हैं यह कैसे माना जा सकता है? क्योंकि जब तक दृष्ट से काम चल सकता हो तब तक अदृष्ट भगवान् को कारण मानना उचित नहीं। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् विश्व में छिपे हुए हैं इसलिए दिखाई नहीं देते, स्वतन्त्र होने से उनके दर्शन सम्भव नहीं है। जो दृष्ट होते हैं वे परतन्त्र होते हैं। भगवान् परतन्त्र नहीं हैं इसलिए दृष्ट भी नहीं हैं।

जब वह भगवान् सर्वत्र छिपा हुआ एव सर्वत्र प्रविष्ट रहता हुआ सब कुछ करता है, तब जीव की तरह जीव के साथ ही वह भी भोग करता है तो फिर भगवान् में भी दोष आ जायेगा, वह भी जीव तुल्य हो जायेगा। यदि भगवान् विषयों का पहले ही भोग कर लें तो फिर कुछ भी शेष न रहने पर जीव किसका भोग करेगा? इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'षड्वर्गान् जिघ्रति" छः इन्द्रियों के जो विषय हैं उनको भगवान् सूंघता मात्र है। जीव इन्द्रियों से भोग करता है। अर्थात् जीवकृत भोग इन्द्रिय साध्य है और इन्द्रियां विषयगत धर्मों का ही ग्रहण करती है, धर्मी को नहीं। जीवकृत भोग में गंधादि से रहित विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता। धर्म रहित धर्मी और धर्मी रहित धर्म तो भगवान् के ही भोग्य है। तात्पर्य यह है कि जीव, धर्म रहित धर्मी का ग्रहण नहीं कर सकते। भगवान् केवल धर्म को भी ग्रहण कर सकते हैं और केवल धर्मी का भी, रूपादि गन्धादि को ग्रहण कर सकते हैं। जीव धर्मी के बिना केवल धर्मों का पृथक् रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। जीव इन्द्रियों के द्वारा क्षणमात्र के लिए धर्म को कुछ अंश का सम्बन्ध करता है। जीव अपनी इन्द्रियों से विषयों के सभी अंशों का भोग नहीं कर सकता। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध इन पाँचों विषयों का सर्वांश में भोग तो भगवान् साध्य ही है।

भगवान् धर्मों को ही ग्रहण करते है। लोक में केवल धर्म का ग्रहण करना यह तो सुगंध में ही सम्भव है और सुगंध का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय ही कर सकती है इसलिए श्लोक में केवल धर्म-बोधक "जिघ्रति" पद दिया गया है। जीव की छहों इन्द्रियों में (कर्ण, नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, मन) प्रत्येक इन्द्रिय पंच पर्वा अविद्या से (देहाध्यास इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास तथा स्वरूप विस्मृति) व्याप्त है इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय के पाँच-पाँच भेद होते हैं। तदनुसार छः इन्द्रियों के तीस भेद हुए। इस तरह इन तीस भेदों के विषय भी अट्ठाईस तत्त्व, स्वयं भगवान् तथा भक्ति इस तरह कुल मिलकर तीस हैं। इन तीस भेदों के सारभूत रसों का स्वयं भगवान् ही अनुभव करते हैं। मन से ग्राह्य जो ज्ञान है, उस सहित चक्षु आदि से ग्राह्य जो रूपादि है वे जीव को सर्वरूप में सर्वांश में प्राप्त नहीं होते। ज्ञान सहित रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श ये जीव को सर्वरूप में नहीं मिलते किन्तु उसके अमुक-अमुक भाग ही एकदेश रूप में किसी तरह प्राप्त होते हैं। भगवान् में यह नहीं है क्योंकि भगवान् 'षड्गुणेशः' छहों गुणों के ईश हैं। ईश होने से भगवान् नियामक हैं और ये समस्त विषय उनके अधीन हैं इसलिए इनका सर्वांश में भोग भगवान् ही कर सकते हैं।

इस श्लोक में भगवान् का वर्णन और उनकी लीला प्रतिपादित की गयी है और भगवान् सारभूत रस का भोग करते हैं यह प्रयोजन भी कहा गया है ।।३६।।

**आभास**—इत्यत्यन्तसूक्ष्मेक्षिकया पदार्थो निरूपितः । वस्तुतस्तु न सम्यग् ज्ञायत एवेत्याह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म विचारपूर्वक पदार्थ का निरूपण किया गया । वस्तुतः भगवान् यथार्थ रूप में नहीं जाने जा सकते और जो जानने का अभिमान रखते हैं—अविज्ञातं विजानताम् उनके लिए वह परमेश्वर अविज्ञातम् अविज्ञात है । इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**न चाऽस्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः ।**
**नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाऽज्ञः ।।३७।।**

**श्लोकार्थ**—मन और वचन के साथ नाम और रूपों का विस्तार करने वाले, सबके उत्पादक इस भगवान् को लीला को निपुण प्रमाणों से ब्रह्मा भी नहीं जानता तब जिस तरह अज्ञानी मनुष्य नट की चर्या को नहीं समझ सकता उसी तरह तुच्छ बुद्धि वाला कोई भी जन्तु भगवान् की लीला को कैसे समझ सकता है ? ।।३८।।

**सुबोधिनी**—**न चाऽस्येति** । अयमभिप्रायः । सर्वरसास्वादनं भगवत उक्तम् । ते च रसा उत्कृष्टा अपकृष्टाः स्वत आधारतोऽधिकारिभेदेन च भवन्ति । ते च भगवता अनुभूयन्ते न वेति सन्देहः । सर्ववस्तुषु रसरूपेण भगवत एव प्रविष्टत्वान्न स्वात्मानं प्रत्युत्कृष्टता अपकृष्टता वा । सर्वरूपत्वाच्च द्वितीयाऽपि कोटिः । चकारात्प्रमाणान्तरस्याऽपि निवृत्तिः । एवं निरूपणेन भक्त्या भगवदाविर्भावात्पश्यन्नाह—**अस्येति** । कृष्णस्य । **कश्चिदिति** । ब्रह्माऽपि । निपुणेनाऽपि प्रमाकरणेन । तत्र हेतुः—**धातुरिति** । उत्पादको हि भगवान् तदुपादानोपलम्भकः कस्मै प्रयोजनाय कथं सृष्टवानिति कथमन्यो विजानीयात् । तत्राऽपि जन्तुः कृमितुल्य ऊहापोहकौशलरहितः । भगवतोऽपि न स्वाभाविक्यः क्रियाः । किन्तु ऊतीः । निपातप्रयोगश्चाऽवान्तरभेदाऽपरिज्ञानाय । सर्वथा अज्ञाने हेतुः । मनोवचोभिः सह नामानि वेदान्, रूपाणि विषयान्, सन्तन्वतो विस्तारयतः । **चतुर्भिश्च महारोगैर्व्याप्ता ऊतीर्न जानते । नटवच्चाऽपि करणमन्यथा प्रतिभासनात्** । प्रमाणबलेन हि परिज्ञानम् । प्रमाणव्यामोहार्थमेव नटप्रवृत्तिरित्याह—**नटचर्यामिति** । सुतरामज्ञः । पुष्टिमार्गानभिज्ञ इत्यर्थः ।। ३७ ।।

**व्याख्यार्थ**—अभिप्राय यह है कि रस का आस्वादन तो भगवान् ही करते हैं । इस तरह पूर्वोक्त श्लोक में कह चुके हैं । ये रस स्वतः आधार तथा अधिकारी के भेद से उत्तम तथा हीन होते हैं । जैसे जल मधुर होते हुए भी खारी जमीन में खारा हो जाता है इस तरह आधार के भेद से रस में भेद होता है स्वतः उत्तम आम्र आदि है और ककड़ी आदि हीन है इस तरह स्वतः भेद से रस में भेद होता है । इसी तरह कीटादि से दूषित अन्न अधिकारी भेद से उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट समझे जाते हैं । उन रसों का भगवान् अनुभव करते हैं या नहीं इसमें सन्देह है ।

सर्व वस्तुओं में, रस रूप से भगवान् ही प्रविष्ट है इसलिए भगवान् के लिए रसों की उत्तमता और हीनता नहीं है। इसलिए भगवान् सभी रसों का अनुभव करते हैं यह प्रथम कोटि है।

सर्वरूप भी वही है ऐसी स्थिति में वे रस का अनुभव नहीं करते यह द्वितीय कोटि है। अर्थात् भगवान रूपान्तर में रस का अनुभव करते हैं। अपने स्वरूप से नहीं करते। वेद में कहा है कि यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवतः ओदनः'। जिसके लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ओदन रूप है। भगवान् इनका भक्षण काल रूप से करते हैं अपने रूप से नहीं।

इस तरह निरूपण करते हुए सूतजी के हृदय में भक्ति प्राचुर्य से भगवान् का आविर्भाव होने से मानो भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करते हुये कहते हैं 'अस्य' इस भगवान् कृष्ण' की लीला को कोई नहीं जान सकता।

'कश्चित्' अर्थात् ब्रह्मा भी अपनी निपुण-कुशल-इन्द्रियों से भगवान् की लीला को नहीं जान सकते क्योंकि भगवान् उनके भी उत्पादक हैं। भगवान् की लीलाओं को भगवान् ने किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार इस सृष्टि को उत्पन्न किया इनको जब ब्रह्मा भी नहीं जान सकते हैं तब और कोई कैसे जान सकता है? और वहां भी जीव तो तुच्छ है तथा कृमि तुल्य है। अतः उसमें तर्क करने की भी शक्ति नहीं है। भगवान् की ये क्रियायें स्वाभाविकी नहीं किन्तु लीलारूप है। श्लोक में 'ऊतीः' यह जो निपात दिया गया है वह यह निर्देश करता है कि लीलाओं के अवान्तर भेदों का परिज्ञान किसी को भी नहीं है। क्योंकि 'ऊती यूति" इस सूत्र से ऊति शब्द को निपातनात् सिद्ध किया गया है। इसमें प्रकृति प्रत्यय विशेष का परिज्ञान नहीं कराया गया है। इसी प्रकार यहां भी "ऊतीः" पद से भगवान् की अवान्तर लीलाओं का ज्ञान किसी को भी नहीं है यह बताया है। मन और वाणी सहित नामात्मक वेदों तथा रूपात्मक विषयों को बनाने वाले भगवान् की लीला को कौन जान सका है? अर्थात् जब वेद भी भगवान् की लीलाओं को नहीं जान पाते तब औरों की तो फिर सामर्थ्य ही कहां?

अर्वाचीनत्व, जन्तुत्व, कुमनीषत्व और अज्ञत्व-जीव में ये चार महारोग हैं। जीव इनसे ग्रस्त होने के कारण भगवान् की लीलाओं को नहीं जानते। भगवान् के सब कार्य नट के समान है। जैसे नट को बराबर नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि उसका अन्यथा रूप में भान होता है उसी तरह भगवान् की लीलाओं को कोई नहीं जानता। प्रमाण बल से परिज्ञान सम्भव है किन्तु प्रमाण भी भगवान् का निरूपण बराबर नहीं कर पाते।

यहां प्रमाण शब्द से इन्द्रियां और वेद दोनों ही लिये गये हैं। इन्द्रियों के व्यामोह के लिए ही नट की प्रवृत्ति होती है इसी का निर्देश 'नटचर्याम्' शब्द से किया गया है।

जीव अत्यन्त अज्ञानी है। पुष्टि अनुग्रह मार्ग को वह नहीं जानता। जो पुष्टिमार्गीय है वही भगवान् के स्वरूप का तथा उनकी लीलाओं का ज्ञान कर सकता है। भगवान् किस प्रकार और किसलिये लीला करते हैं, किस प्रकार और किसलिए 'आघ्राण' करते हैं? इसको पुष्टिमार्गीय जीव ही जान सकता है अन्य नहीं। अभिप्राय यह है कि इसका अनुभव तभी होता है जब भगवान् स्वयं जीव पर अनुग्रह करते हैं ।।३७।।

**आभास**—तर्हि कथं निस्तार इत्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थ**—जीव जब भगवान् को लीलाओं को नहीं जान पाता है तब उसका निस्तार कैसे होगा ? इस आशङ्का पर कहते हैं—

श्लोक—**स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।**
**योऽमायया सन्ततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।३८।।**

**श्लोकार्थ**—उस महापराक्रमी चक्रपाणि विधाता परमात्मा की पदवीं को नहीं जान सकता है जो निष्कपट सेवा से उनके चरण-कमल की सुगन्ध का निरन्तर सेवन करता है ।।३८।।

**सुबोधिनी**—**स वेदेति । धातुरिति** । पूर्ववत् । स तु न ज्ञात एव । अज्ञायमानस्वरूपत्वात् । कार्यं तु लौकिकम् । तन्मार्गपरिज्ञाने समागमनं बुद्ध्वा सहभावत्कार्याणां तत्त्वं ज्ञायेतेति तस्य गतिमार्गो ज्ञातव्यः । लौकिकवैदिकप्रमाणा (?) ज्ञानाभावे हेतुमाह—**परस्येति** । सर्वप्रमाणाद्दूरे वर्तमानस्येत्यर्थः । कदाचिदशक्तावल्पचलने तत्रत्यैर्ज्ञायेतेत्याशङ्क्याऽऽह— **दुरन्तवीर्यस्येति** । दुष्टः अन्तो यस्य वीर्यस्य पराक्रमो न समाप्यत एव कदाचिदपि । समाप्तिश्चेत्प्रलय एवेति दुरन्तता । प्रलयानन्तरं तु ज्ञातैव नास्तीति भावः । किञ्च । कालस्येव परिज्ञानं सम्भवति । तच्च कालचक्रं पाणौ यस्य । कालमपि स्थिरीकृत्य तिष्ठति । अथवा । सर्वमेव जगत् रथः । तस्याऽप्यधश्चक्रम् । तत्पाणौ यस्येति । हस्तचालनेन चलति । हस्ताधारश्च । स कथं शकटस्थैर्ज्ञातुं शक्यते । अतो भगवदनुवृत्तिरेव ज्ञानहेतुरित्याह—**योऽमाययेति** । दीर्घकालादरनैरन्तर्यसेवायां मायाऽभावोऽप्यङ्गम् । सर्वो हि लौकिको वैदिकश्च मायया भगवन्तं भजते । एवं हि कृते अयमस्मभ्यमिदं दास्यतीति बुद्धया भगवतः सकाशात्पदार्थान् ग्रहीतुं भगवद्वञ्चनार्थं प्रयत्नकरणात् । भगवांस्तु ततोऽपि चतुरः । अतो माया त्याज्या । स्वयुक्तिविचारो मायेति पर्यायः । सन्तता निरन्तरा । अनु पश्चाद्वृत्तिरिति गतिपश्चाद्भावोक्तेदीर्घकालादरौ बोधितौ । चरणपरिज्ञानं हि मार्गज्ञाने हेतुः । तदेव पङ्कजम् । तस्य गन्धः । भगवतः शयने पादसंवाहने ऊर्ध्वमुखस्य चरणस्य आघ्राणे गन्धोऽनुभूयते । तथा येषां हृदये भगवान् स्वच्छन्दं शेते । बहिरिन्द्रियाणि च गन्धेनाऽऽकृष्टानि तत्रैव प्रविशन्ति स च भगवन्मार्गं जानातीति ज्ञानपक्षः । भक्तिपक्षे तु तस्य चरणो भक्तिमार्गः । स च शुद्धे विशदेऽन्तःकरणे आविर्भूतं सरोजम् । तत्र गन्धः सन्तः । प्रेम वा । तस्य भजनं निरन्तरानुवृत्तिरिति ।।३८।।

**व्याख्यार्थ**—यहां 'धातु' का अर्थ है सबका कारणरूप भगवान् वह भगवान् तो ज्ञात ही नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप नहीं जाना जा सकता । विधाता होने से उसका ज्ञान न होते हुए भी उसके कार्यों से अनुमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि कार्य लौकिक है । भगवान् के मार्ग का भक्तिमार्ग का ज्ञान होने पर, हृदय में भगवान् का आगमन होता है । इस आगमन से उनके साथ रहने वाले कार्यों का तत्त्वज्ञान हो सकता है । कार्यों का तत्त्वज्ञान होने पर, भगवान् का ज्ञान होता है इसलिए भक्तिमार्ग को जानना चाहिये । अर्थात् मन आदि में भगवान् का आविर्भाव होने पर उसकी प्राप्ति हो सकती है । लौकिक वैदिक प्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह सभी प्रमाणों से अतीत है ।

कदाचित् अशक्ति के कारण भगवान् मन्द गति से चलेंगे तो लौकिक वैदिक वाले उनको जान सकेंगे ऐसी आशङ्का भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि भगवान् के पराक्रम दुरन्त हैं उनमें कभी अशक्ति नहीं आती। उनके पराक्रम की समाप्ति कभी भी नहीं होती, 'दुरन्तवीर्यस्वं' उनके पराक्रम का अन्त तो प्रलयकाल में हो होता है क्योंकि जब वे अपने पराक्रम को स्थगित कर देते हैं तब तो प्रलय हो जाता है और प्रलय में तो फिर उनको जानने वाला ही नहीं रहता। तदनुसार प्रलय में तथा सृष्टिकाल में भी उनको कोई भी इदमित्यतया जान नहीं सकता काल की तरह भगवान् का ज्ञान सम्भव है यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि कालचक्र को भी भगवान् ने अपने हाथ में ले रखा है। अर्थात् भगवान् ने काल को भी स्थिर किया हुआ है। वस्तुतः तो काल का ज्ञान होना भी कठिन है। अथवा यह सम्पूर्ण जगत् ही रथरूप है। चक्र रथ के नीचे होता है, इस चक्र को भगवान् ने अपने हाथ से रोक रखा है। उस रथ चक्र की गति, हाथ के चलाने से ही होती है और वह रथ भगवद् हस्त के आधार पर है अतः वह भगवान् रथ में बैठने वालों से कैसे जाना जा सकता है। "भगवान् के अनुवर्तन(भजन)से ही उसका ज्ञान हो सकता है।" इसी का निर्देश "योऽमायया" से किया गया है। चिरकाल से निरन्तर चलती आ रही सेवा में भी किसी प्रकार की माया का नहीं रहना, उसके ज्ञान में हेतु है। अर्थात् बिना किसी कामना के चिरकाल तक निरन्तर सेवा करने से भगवान् का ज्ञान हो सकता है। लौकिक एवं वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करने वाले सभी जीव भगवान् का भजन किसी कामना विशेष से ही करते हैं। ऐसी सेवा करने से भगवान् हमको यह फल देगा।" इस प्रकार की बुद्धि से वे जीव भगवान् से (सेवा की एवज में) पदार्थों को लेने के लिए मानो भगवान् की बंचना के लिए प्रयत्न करते हैं। किन्तु भगवान् तो उनसे भी अधिक चतुर हैं। अतः भगवान् के सामने किसी प्रकार की माया नहीं करना चाहिये। "माया का त्याग करना चाहिये।" अर्थात् सेवा करते हुए किसी प्रकार की कामना नहीं करनी चाहिये। यहां "स्वयुक्ति विचार, माया का पर्याय है। सतत् का अर्थ है निरन्तर। सेवा में भगवान् की अनुवृत्ति, दीर्घकालीन तथा आदर सहित होनी चाहिये। भगवान् के मार्ग को जानने में भगवान् के चरण का परिज्ञान कारण है। 'तत्पाद सरोजगन्धम्' चरण ही कमल है उसकी सुगन्ध। भगवान् शयन करते हों और उनके चरण कमल के संवाहन समय में उनके ऊर्ध्वमुख चरण को सूंघने में गन्ध का अनुभव होता है। "जिनके हृदय में भगवान् स्वच्छंदतया शयन करते हैं। उनकी बाह्य इन्द्रियां चरणारविन्द की गन्ध से आकृष्ट होकर हृदय में प्रवेश करती हैं। इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति ही भगवन्मार्ग को जानते हैं। यह ज्ञान पक्ष है, क्योंकि "यहां ज्ञानी लोग भगवान् का हृदय में ध्यान करते हैं।" भक्तिपक्ष में तो भगवान् का चरण ही भक्ति मार्ग है। भक्तिमार्ग रूप वह चरण, विशुद्ध अन्तःकरण में आविर्भूत कमल है अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरण में जब भक्ति समुदित होती है तब वही भक्ति कमल है, भक्ति में स्थित सत्त ही गंध है अथवा यहां गंध पद, प्रेम के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है। उस गंध का सेवन अर्थात् उसकी निरन्तर अनुवृत्ति करते रहना चाहिये ॥३८॥

**आभास**—एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा भिन्नोपक्रमेण प्रस्तुतमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार प्रासङ्गिक बात कहकर अब भिन्न उपक्रम से प्रस्तुत प्रसङ्ग को कहते हैं—

श्लोक—**अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।**
**कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ।।३९।।**

**श्लोकार्थ**—आप भगवान् हैं और धन्य हैं क्योंकि अखिल लोक के नाथ, सबके आत्मरूप भगवान् वासुदेव को अपनी आत्मा समझकर उसमें प्रेम कर रहे हैं जिससे इस संसाररूपी उग्र चक्र में पुनः पतन नहीं होता ।।३९।।

**सुबोधिनी** - **अथेति** । प्रश्नेनैवं ज्ञायते भवन्तो भगवन्निष्ठा इति । इह संसारे भगवन्तो भवन्तः । **"यो यच्छ्रद्धः स एव स"** इति वचनात् । **धन्या इति** । धनं भगवद्भक्ति ज्ञानं वा अर्हन्तीति धन्याः । **इत्थमिति** । हीनमपि सम्बोध्य अनवसरमवसरीकृत्य तन्मुखादपि परमादरेण श्रवणम् । एवं प्रकारः **वासुदेव इति** । देवान्तराऽभजनं निरूपितम् । **अखिललोकनाथ इति** । तस्य सर्वेश्वरत्वं च ज्ञात्वा वेदान्तवेद्यतां च । एवं माहात्म्यज्ञानार्थं सुदृढस्नेहार्थं च विशेषणद्वयमुक्त्वा, रुच्यर्थमात्मपदं प्रयुज्य, भावं देवत्वेन रतिं कुर्वन्ति यतः अतो धन्या इति पूर्वेण सम्बन्धः । अस्य फलं पुनः कालसंसारचक्रे महावर्तरूपे पुनः पतनाभावः । एतद्देहावसानपर्यन्तं यथा भवतु तथेति पुनः (?) शब्दार्थः । अनादराभावाय—**उग्र इति** ।।३९।।

**व्याख्यार्थ**—आप लोगों के प्रश्न से ऐसा ज्ञात होता है कि आप भगवन्निष्ठ हैं । इस प्रपंच में आप लोग भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि "योयत् श्रद्धः स एव सः" ऐसा गीता में कहा है । जो जिसमें श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है । आप भगवान् में श्रद्धा-भक्ति रखने वाले हैं, इसलिए आप भी भगवान् ही हैं ।

"धन्याः" का तात्पर्य है कि धनरूप जो भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान है उसके आप योग्य हैं । मैं हीन हूँ, उस हीन के मुख से भी अनवसर को भी अवसर बनाकर परमादर पूर्वक श्रवण करना यह प्रकार जो आपने अपनाया है यही धन्यता का सूचक है ।

यहां 'वासुदेव' पद से यह सूचित किया गया है कि आप अन्य देवताओं का भजन नहीं करते । वह वासुदेव अखिल लोक का स्वामी है । अखिल लोकनाथे तथा सर्वात्मके इन पदों से यह अभिप्राय है कि आप लोग भगवान् को सर्वेश्वर तथा वेदान्त वेद्य जानकर भजन करते हैं । यहां "अखिल लोकनाथे" से सर्वेश्वरता तथा "सर्वात्मके" से वेदान्तवेद्यता का अर्थ लिया गया है । भगवान् सबकी आत्मा है, यह वेदान्त में ही प्रतिपादित किया गया है । इस प्रकार माहात्म्य ज्ञान के लिए और सुदृढ़ स्नेह के लिए दो विशेषण कहे गये हैं । सर्वेश्वरत्व से माहात्म्य ज्ञान का तथा सर्वात्मकता से सुदृढ़ स्नेह का निर्देश किया गया है । आत्मा से ही सबका सुदृढ़ स्नेह होता है । तदनुसार सर्व के आत्मरूप भगवान् में सबका सुदृढ़ स्नेह होना सहज है ।

श्लोकस्थ "आत्मभावम्" में जो "आत्म" पद है, वह ब्रह्म में रुचि हो इसलिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आप लोग आत्मा को देव समझकर प्रेम करते है इसलिए आप धन्य हैं । आपका, इस प्रकार के भगवान् में प्रेम है इसका फल यही है कि इस महा-आवर्त (भंवर) रूप काल से होने वाले संसार-चक्र में फिर पतन नहीं होता । इस देह धारण की समाप्ति तक जो कुछ होना है सो हो

जाये, देह पात होने पर इस उग्र संसार में आप पुन: नहीं गिरेंगे । यहां मूल श्लोक में "भूय:" पद है और सुबोधिनी व्याख्यान में 'भूय:" की जगह "पुन:" पद दिया है। दोनों का एक ही अर्थ है। अत: कोई भिन्न अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। यहां "उग्र" पद से यह तात्पर्य है कि यह संसार चक्र उग्र है अत: इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उग्र होने के कारण अनुपेक्षणीय है ।।३९।

**आभास**—कुत इदमुद्धृतमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—यह अभिप्राय कहां से उद्धृत किया ? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

श्लोक—**इदं भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम् ।**
**उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।।४०।।**

**श्लोकार्थ**—वेदतुल्य प्रसिद्ध भागवत पुराण को जिसमें उत्तम श्लोक भगवान् के चरित्र हैं, भगवान् वेदव्यास ने बनाया ।।४०।।

**सुबोधिनी**—**इदं भागवतमिति**। भगवत: सर्वसम्बन्धि भागवतम्। नामेति प्रसिद्धम्। पुरातनम्। पुराणमिति जातिशब्दो वा। वेदेन सम्यङ्मितम्। मतान्तरेष्विव नाऽत्र वेदविप्रतिषेधः। वस्तुनिरूपणार्थं प्रासङ्गिककथाऽपि पुरुषोत्तमकथैवेत्याह—**उत्तमश्लोकचरितमिति**। उत्तमश्लोकस्य चरित्रं यत्र। आर्षज्ञानेन भगवान्वेदव्यासोऽनुभूय आह ।।४०।।

**व्याख्यार्थ**—जहां सब कुछ भगवान् से सम्बन्धित हो उसी का नाम भागवत है। भगवत यह नाम प्रसिद्ध है। पुराणम् का अर्थ है पुरातन अथवा 'पुराण' शब्द पुराणत्व के अर्थ में लिया गया है। अर्थात् श्रीमद्भागवत में पुराणत्व है और वेद के तुल्य है। मतान्तरों में जैसे वेद से विरोध आता है वैसा विरोध यहां नहीं है। पुरुषोत्तमरूप वस्तु के निरूपणार्थ जो कथा प्रासङ्गिक रूप में कही गई है, वह भी पुरुषोत्तम की ही कथा है इसी का निर्देश "उत्तम श्लोक ईरितम्" से किया गया है अर्थात् भागवत में 'उत्तम श्लोक' भगवान् के चरित्र ही वर्णित हैं।

श्लोकस्थ 'ऋषि' पद का तात्पर्य यह है कि भगवान् वेदव्यास के होने से उन्होंने आर्ष-ज्ञान से भगवच्चरित्रों का अनुभव करके उनका वर्णन किया है ।।४०।।

श्लोक—**निःश्रेयसाय लोकानां धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।**
**तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।।४१।।**

**श्लोकार्थ**—लोकों की मुक्ति के लिए इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है। यह वैभव की प्राप्ति कराने वाला कल्पारूप तथा स्वत: गुण से और अर्थ से उत्तम है। अत: इस भागवत को जितेन्द्रिय, ज्ञानियों में श्रेष्ठ अपने पुत्र शुकाचार्य को व्यासजी ने हृदयंगम कराया अर्थात् पढ़ाया ।।४०।।

**सुबोधिनी**—ग्रन्थप्रवृत्तिः सर्वमुक्तये । धनप्राप्तिः कल्याणं च । लक्ष्म्याः सर्वगत या भक्तायाः श्रवणात् । **महदिति** । स्वतो गुणतोऽर्थतश्च । स्वस्य ज्ञानार्थं परम्परामाह । व्यासः शुक वेदवत्पाठितवान् । गोप्यत्वाय—**सुतमिति** । जितेन्द्रियता ज्ञानं चाऽत्राऽङ्गम् । तस्योत्कर्षे भागवतं फलतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**आत्मवतां वरमिति** ।।४१।।

**व्याख्यार्थ** - इस भागवत ग्रन्थ की प्रवृत्ति सबकी मुक्ति के लिए है । इससे धन प्राप्ति तथा कल्याण दोनों ही मिलते हैं, क्योंकि सर्व में निवास करने वाली भक्तरूपी लक्ष्मीजी भी भागवत का श्रवण करती है । अतः इसके श्रवण से धन प्राप्ति सहित भक्ति उत्पन्न होती है और भक्ति से कल्याण मिलता है ।

श्लोक में आये हुए "निःश्रेयसाय" "धन्यं स्वस्त्ययनं" इन पदों के अर्थ क्रमशः ग्रन्थप्रवृत्तिः सर्वमुक्तये-धन प्राप्ति तथा कल्याण है । यह भागवत स्वतः गुण से तथा अर्थ से महान् है । यहाँ 'महत्' शब्द से यही तात्पर्य है । सर्ववेद और इतिहासों का साररूप होने से भागवत का स्वतः उत्कर्ष है और वास्तविक वस्तु का प्रतिपादन करने से यह गुण से महान् है । इसका अर्थ भगवान् है, इसलिए अर्थ से भी उत्तम है ।

सूतजी स्वयं को जिस परम्परा ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका उल्लेख करते हैं कि- व्यासजी ने, शुकदेवजी को वेद की तरह इस भागवत का अध्ययन कराया ।

'सुतम्' पद का यह तात्पर्य है कि भागवत का ज्ञान गोप्य है, किन्तु व्यासजी ने, शुकदेवजी को स्वपुत्र होने के नाते, भागवत के गुप्त ज्ञान को बताया । भागवत को जानने में जितेन्द्रियता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि, ये दोनों ही भागवत के अंग हैं । ये दोनों जिसमें जितनी अधिक मात्रा में होंगे, उसको भागवत उतना ही अधिक फल देगा । इसलिए शुकदेव को यहाँ 'आत्मवतां वरम्' कहा है । जिन शुकदेवजी को भागवत का ज्ञान दिया गया है वे जितेन्द्रिय एवं ब्रह्म ज्ञानियों में श्रेष्ठ थे । जितेन्द्रिय और ब्रह्मज्ञानी, आत्मवान् कहलाते हैं और उनमें शुकदेवजी उत्तम हैं, इसलिए इनमें जितेन्द्रिय और ज्ञान की उत्कर्षता है ।।४१।।

**आभास**—प्रमाणान्तरचिन्ता न कर्तव्येत्याह—

**आभासार्थ**—दूसरे प्रमाणों के विचार की कोई आवश्यकता नहीं, इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।**
**स च संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।**
**प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः ।।४२।।**

**श्लोकार्थ**—इस भागवत में सम्पूर्ण वेदों और इतिहासों के सार-सार को लेकर उद्धृत किया है, इस भागवत को गङ्गा तट पर परम ऋषियों के मध्य में बैठे हुये आमरणान्त अनशन करने वाले महाराजा परीक्षित को श्रीशुकदेवजी ने सुनाया ।४२।

**सुबोधिनी** - **सर्ववेदेति** । त्रैवर्णिकानामुद्धारार्थे वेदः । स्त्रीशूद्राणामितिहासः । उभयसारोद्धारत्वात्सर्वोद्धारकम् । परम्परामाह—**स चेति** । स्पष्टम् । **प्रायो** मरणपर्यन्तमन्ननिवृत्तिः । गङ्गायामिति देशोत्कर्षः । **परमर्षिभिरिति** सत्सङ्गः ॥४२॥

**व्याख्यार्थ**– ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए वेद हैं । स्त्री, शूद्रों के उद्धारार्थ इतिहास है । वेद और इतिहास का इस श्रीमद्भागवत में सार उद्धत किया गया है इसलिए यह भागवत सर्वोद्धारक, त्रैवर्गिक और स्त्री-शूद्रादिक सभी का उद्धार है, सबका सार होने से यहाँ दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है । अब भागवत सुनने की परम्परा कहते हैं कि श्रीशुकदेवजी ने यह भागवत राजा परीक्षित को सुनाया । आमरणान्त अन्न त्याग करके राजा गङ्गा के किनारे बैठा है–इससे देश की उत्तमता बताई गई है । राजा परम ऋषियों की मण्डली से घिरा हुआ है, इससे राजा को सत्सङ्ग है यह बताया गया है ॥४२॥

**आभास—"धर्मः कं शरणं गत"** इति षष्ठप्रश्नस्योत्तरमाह—

**आभासार्थ**—"धर्म किसकी शरण में गया ?" इस षष्ठ प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।**
**कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥४३॥**

**श्लोकार्थ**—धर्म, ज्ञान आदि के साथ जब कृष्ण अपने धाम पधार गये, तब कलिरूप अंधकार से रुद्ध दृष्टि वालों को प्रकाश प्रदान करने के लिए इस समय यह भागवतरूपी सूर्य उदित हुआ है ॥४३॥

**सुबोधिनी**– **कृष्ण इति** । धर्मस्तु भगवतैव सह गतः । स्थिते शरणचिन्ता । कलिरन्धकारतुल्यः । तेन पिहितदृष्टीना न त्वन्धानाम् । स्वतोऽदुष्टानाम् । पुनर्धर्मादिज्ञापनार्थं पुराणरूपोऽर्कोऽधुनोदितः । स्थितएव लोके प्रकटीभूत इत्यर्थः ॥४३॥

**व्याख्यार्थ**—धर्म भगवान् के साथ ही चला गया क्योंकि भगवान् कृष्ण, धर्म-ज्ञान आदि के साथ अपने धाम में चले गये । यदि धर्म यहां ही रहता तो यह चिन्ता होती कि धर्म किसकी शरण में गया ?

यह कलि अंधकार के तुल्य है । इस अंधकार से जिसकी दृष्टि पर आवरण आ गया है, उनकी कलिरूप अंधकार की निवृत्ति के लिए, यह भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय उदित हुआ है-जो स्वतः अन्ध हैं उनके लिए नहीं । अर्थात् जो स्वतः अन्ध नहीं हैं किन्तु कलियुग ने जिनको अंध बना दिया है अर्थात् जो स्वतः दुष्ट नहीं हैं उनको पुनः धर्मादि का ज्ञान कराने के लिए उसे कलिरूप अंधकार को हटाने के लिए भागवत पुराण रूप सूर्य इस समय समुदित हुआ है । वही प्रकट हुआ कहलाता है जो वर्तमान तो है किन्तु दिखाई नहीं देता, छिपा हुआ है और फिर सामने उपस्थित होता है अर्थात् श्री भागवत ज्ञान नित्य है ॥४४॥

**आभास**—स्वस्य प्राप्तिप्रकारमाह—

**आभासार्थ**—सूतजी अपने को जो भागवत ज्ञान की प्राप्ति हुई है उसका प्रकार कहते हैं—

श्लोक—**तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ।**
**अहं चाऽध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात् ।**
**सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ।।४४।।**

**श्लोकार्थ**—हे विप्रों ! वहां सभा में भागवत का कीर्तन करते हुए परम ज्ञान प्रकाश से युक्त श्रीशुकदेवजी से, उनके अनुग्रह से उस सभा में बैठकर, मैंने इस भागवत को जाना है । मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है उसे मैं मेरी मति के अनुसार आपको सुनाता हूं ।

**सुबोधिनी**— **तत्रेति । विप्रा** इति सम्बोधनेन सर्वपूरकत्वाच्छुकः प्रथमं पूरितवान् । अधुना पुनः स्मरणेन भवन्तः पूरयन्तीति । लौकिकत्वाऽभावाय— **ऋषि (?) रिति ।** असन्दिग्धार्थकथनायोत्तरत्र प्रकाशनाय च **भूरितेजस इति** । भूरि तेजः ज्ञानप्रकाशो यस्य । ब्रह्मवित्वेन तेजोविशेषो वा सर्वज्ञत्वाय । ततः सर्वतोमुखं भागवतं जातमित्याह—**अहं चेति** । सर्व एवाऽधीतवन्तः । अहं च तत्र उपदेशसभायां प्रसङ्गान्न श्रुतम् । किन्तु शुकानुग्रहात्तत्रोपविश्य । अनुग्रहं प्राप्य तत्र निविष्टः । सोऽहमुपदेशात्प्राप्तभागवतो वः युष्मान् अध्ययनमनतिक्रम्य तन्मध्ये यथामति स्वबुद्ध्यनुसारेण । अनेन गर्वपरिहारः । उक्तादप्यधिकोऽर्थोऽस्याऽस्तीति ज्ञाप्यते ।।४४।।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-**
**विरचितायां प्रथमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।**

**व्याख्यार्थ**—सूतजी ने यहां शौनकादि ऋषियों को 'विप्राः' शब्द से सम्बोधित किया है । इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि शुकदेवजी विप्र हैं । अतः प्रथम इन्होंने भगवद् रस को पूर्ण किया । अब पुनः स्मरणपूर्वक आप लोग भगवद् रस को पूर्ण कर रहे हैं ।

'विप्रर्षि' में जो ऋषि शब्द है उससे यह निर्देश किया गया है कि शुकदेवजी ब्राह्मणों में अलौकिक ब्राह्मण थे । यहां जो 'भूरितेजसः' पद है उससे यह तात्पर्य है कि शुकदेवजी ने भागवत का असंदिग्ध अर्थ कहा और आगे उसका प्रकाश भी हुआ क्योंकि शुकदेवजी में ज्ञान का सर्वाधिक प्रकाश था । ब्रह्मवेता सर्वज्ञ होता है–इसी का सूचक, शुकदेवजी में तेज विशेष है ।

फिर इस भागवत का सर्वतोमुखी प्रचार हुआ । भागवत का सभी ने अध्ययन किया और मैंने भी अध्ययन किया । वहां सभा में जहां भागवत का उपदेश हो रहा था, मैंने इसे प्रासङ्गिक रूप में नही सुना, किन्तु शुकदेवजी के अनुग्रह से, मैंने उस सभा में इसे बैठकर सुना । अथवा श्लोकस्थ "अनुग्रहात्" में ल्यबलोपे पञ्चमी है । तदनुसार उसका यह अर्थ है कि शुकदेवजी के

अनुग्रह को प्राप्त कर मैं वहां आसीन हुआ (बैठ गया)। ऐसा मैं जिसे उपदेश द्वारा भागवत प्राप्त हुआ है तथा मैंने इसका जैसा अध्ययन किया है और जैसी मेरी बुद्धि है उसके अनुसार मैं आपको भागवत सुनाऊँगा।

जैसा पढ़ा है–'यथाधीतम्' जैसी मेरी बुद्धि है–"यथामति" इन दो पदों से, सूतजी ने अपनी अभिमान शून्यता दिखाई है। अर्थात् मैं जैसा कहूँगा, उससे भी अधिक अर्थ इसका हो सकता है। यहां यही निर्देश किया गया है ॥ ४४ ॥

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादत्मक व्याख्या सहित

### प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

### मध्यम प्रकरण—मध्यम अधिकार

*अध्याय—४*

### शुकदेवजी के वैराग्य का कारण और व्यासजी की चिन्ता

कारिका—**एवं भागवतार्थस्य निर्धारः स्वाधिकारतः ।**
**त्रिभिः कृतो द्वितीये तु त्रिभिस्त्याज्यसमत्वतः ॥१॥**
**मध्याधिकारे यच्छास्त्रं तदत्र विनिरूप्यते ।**
**नारदस्याऽधिकारित्वाच्छ्रोतुश्चिन्ताकुलत्वतः ॥२॥**
**तत्राऽध्याये चतुर्थे तु व्यासचिन्ता निरूप्यते ।**
**उत्तमप्रक्रियायाश्च वक्तुर्हेतुनिरूपणात् ॥३॥**

**कारिकार्थ**—हीन, मध्यम और उत्तम इन भेदों से अधिकारी तीन प्रकार के कहे गये हैं। इसीलिए प्रथम स्कन्ध को अधिकार निर्णयानुसार तीन प्रकरणों में कहा गया है। प्रथम स्कन्ध के पहले अध्याय से तीसरे अध्याय तक प्रथम प्रकरण है। इस प्रकरण में—जिज्ञासा रखने वाला, अमत्सर वाला और श्रवण में आदर रखने वाला, ये श्रोता के गुण हैं और जिसने भागवत सुनी हो, जिसमें चातुर्य हो, जो गुह्य ज्ञान वाला हो—ये वक्ता के गुण हैं। इस प्रकार के गुण श्रोता एवं वक्ता में जहाँ देखे जावें वहाँ समझना चाहिये कि ये श्रोता और वक्ता अपने अधिकारानुसार हीन

अधिकारी की श्रेणी में हैं । यहां प्रथम स्कन्ध के पहले अध्याय में श्रोता को जिज्ञासा वाला और वक्ता को जिसने भागवत सुनी है ऐसा बताया गया है ।

दूसरे अध्याय में श्रोता को अमत्सर वाला और वक्ता को चातुर्य युक्त बताया है ।

तीसरे अध्याय में श्रोता को श्रवण में आदर रखने वाला तथा वक्ता को गुह्य ज्ञान वाला बताया गया है । इसलिए प्रथम स्कन्ध के इन तीनों अध्यायों वाले प्रथम प्रकरण में हीनाधिकार का निर्णय तीन अध्यायों से किया गया है । यानि उक्त तीनों अध्यायों में अपने अधिकार को आश्रय लेकर वक्ता और श्रोताओं द्वारा भागवतार्थ का निर्धार किया गया है ।

अब दूसरे प्रकरण में मध्याधिकार का निरूपण है । इस प्रकरण में भी प्रथम स्कन्ध के चौथे, पाँचवें और छठे अध्याय लिये गये हैं, क्योंकि जिस प्रकार प्रथम प्रकरण में विहित धर्मों का त्याग बताया गया है उसी प्रकार यहाँ भी अदृष्ट के द्वारा उपकारी जो धर्म है उनके फलों में व्यतिचार होने से वे त्याज्य हैं—यह बात कही गई है । अदृष्टद्वार से उपकारी धर्मों को त्याज्य बताने से दोनों प्रकरणों में समानता है, इसलिए इस प्रकरण में भी तीन अध्याय ही लिये गये हैं ।

इस दूसरे प्रकरण में भगवत्कृपा, भगवदीयत्व और भगवत्त्व ये तीन गुण श्रोता और वक्ता में होने चाहिये यह बताया है । इनमें से एक-एक गुण का एक-एक अध्याय में निरूपण है, इस तरह उक्त तीनों गुणों वाले मध्याधिकार के निरूपणार्थ प्रति अध्याय एक-एक गुण के निरूपक कुल तीन अध्याय हैं ।

इस दूसरे प्रकरण में नारद को अधिकारी और श्रोता को चिन्ताकुल बताया है । इसलिए ये मध्याधिकारी हैं । नारदादि में वैराग्य नहीं होने से इन्हें मध्यमाधिकारी की श्रेणी में माना गया है । नारद में ज्ञान तो पूर्ण रूप से था, पर वैराग्य का अभाव था । सूतजी को शब्दतः ज्ञान था अर्थतः नहीं । शुक वैराग्य युक्त हैं और इन्हें शब्दतः और अर्थतः ज्ञान है । भगवदावेश के लिए वैराग्य आवश्यक है, नहीं तो ज्ञान से अहङ्कार हो जाता है । इसलिए शुकदेव की श्रेणी उत्तम है ।

नारद ने यद्यपि ब्रह्मा से भागवत सुनी है किन्तु प्रमाण बल से प्रमेय बल बलवान होता है इसलिए भगवदिच्छा से नारद में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ ।

नारं, नर सम्बन्धी ज्ञान को देते हैं इसलिए वे नारद कहे जाते हैं । इसलिए ज्ञान दान में नारद का अधिकार है यह बात अध्याय की समाप्ति पर स्पष्ट हो जायगी । तो कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि नारदजी को उत्तमाधिकारी मानना चाहिये था किन्तु भगवदिच्छा से उनमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उक्त गुणों के कारण उन्हें मध्यमाधिकारी की श्रेणी में ही लिया गया है ।

चौथे अध्याय में तो उत्तम प्रक्रिया के वक्ता शुक में वैराग्य का होना कहा गया है ।।१–२–३।।

**आभास**—पूर्वप्रकरणे स्वाधिकारानुसारेण शास्त्रार्थो निरूपितः । तत्र मूलत्वेन भागवतमुक्तम् । यस्मिन्भागवते श्रुते सूतस्याऽयं शास्त्रार्थः प्रतिभातस्तदेवाऽस्माभिरपि श्रोतव्यमित्यभिप्रायेण शौनकः सूतं पृच्छतीत्याह व्यासः—

**आभासार्थ**—इस तरह पूर्व प्रकरण में अपने अधिकार के अनुसार शास्त्रार्थ(भागवत के अर्थ) का निरूपण किया । वहां मूलरूप से भागवत को कहा गया है । "जिस भागवत के सुनने में सूत को इस प्रकार के भागवतार्थ का ज्ञान हुआ, वही भागवत हम को भी सुनना चाहिये" इसी अभिप्राय से शौनक सूतजी से पूछते हैं, यह बात व्यासजी कहते हैं—

**व्यास उवाच**—श्लोक—**इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम् ।**
**वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ।।१।।**

**श्लोकार्थ**—व्यासजी ने कहा—इस प्रकार कहते हुए सूत की अच्छे रूप में प्रशंसा कर दीर्घ सत्रारम्भ करने वाले मुनियों में वृद्ध और ऋषिकुल के नियामक ऋग्वेदी शौनक बोले ।। १ ।।

**सुबोधिनो—इति ब्रुवाणमिति** । सर्वत्र हि वक्तुर्वाक्यसमाप्त्यनन्तर श्रोतुः प्रश्नः । अत्युत्कण्ठया त्विहाऽसमाप्तावेव प्रश्न इत्याह—**ब्रुवाणमिति** । सम्भावनामात्रेण पृष्टे, समुले शास्त्रार्थे निरूपिते, वक्तरि महत्या श्रद्धया, सम्यक् स्तोत्र कृतवन्त इत्याह—**संस्तूयेति** । संस्तवनं ग्रन्थाद्बहिः। पूवमाकांक्षायाः प्राबल्यात्सर्वैरेव पृष्टम् । अधुना किञ्चिदुत्कृष्टमस्तीति बुद्ध्वा मननेन च तन्निर्धार्य सहस्रसंवत्सरे च भगवदवतार[illegible]यात्तदर्थमेव च सत्रारम्भात्कोलाहले सम्यक् श्रवणं न भविष्यतीति सर्वेषु शृण्वत्सु तत्सम्बन्धी देवतास्वरूपाभिज्ञः शौनक पृच्छतीत्यर्थः । वृद्धो ज्ञानवृद्धः । कुलस्य ऋषिकुलस्य पतिर्नियामकः । बुद्धेर्निर्धारो ज्ञानवृद्धे भवति । उत्तरत्र प्रचारार्थं वचनविश्वासः कुलाचार्ये भवतीति **वृद्धः कुलपतिरिति** पदद्वयेन ज्ञापितम् ।।१।।

**व्याख्यार्थ**—सब जगह वक्ता की वाक्य समाप्ति पर ही श्रोता प्रश्न करता है, किन्तु यहाँ शौनकादि में अत्यन्त उत्कण्ठा जागृत होने से वक्ता का वाक्य समाप्त होने से पूर्व ही प्रश्न शुरु कर दिया गया है। सम्भावना मात्र से पूछने पर भी सूतजी द्वारा मूल (रूप से) भागवतार्थ का निरूपण किया गया, इसलिए वक्ता में अत्यन्त श्रद्धा हो जाने से सूत की भली भाँति स्तुति की। यह स्तुति किस रूप में की इसका उल्लेख भागवत में नहीं है, वह ग्रन्थ से बाहर है।

पहले तो आकांक्षा की प्रबलता होने से सभी ऋषियों ने पूछा। किन्तु इस समय यह समझ कर कि इस पदार्थ की कुछ उत्कृष्टता है उसे मनन द्वारा निर्धारित करके तथा सहस्र सवत्सर में भगवान् का अवतार निश्चित है इसलिए यद सत्र आरम्भ किया गया है। इसमें यदि सभी मिलकर पूछेंगे तो कोलाहल होने से श्रवण नहीं होगा। इसलिए सबने न पूछकर सबके सुनते हुए ऋषियों के अन्तर्गत जो यज्ञ सम्बन्धी देवता के (भगवान् के) स्वरूप को जानने वाले शौनक ऋषि हैं वे सूतजी से पूछते हैं।

"वृद्ध" से तात्पर्य है—शौनक ज्ञान वृद्ध हैं, ऋषिकुल के नियामक हैं। बुद्धि का निर्धार ज्ञान वृद्ध में ही होता है। फिर ये कुलाचार्य हैं। आगे से आगे प्रचार करने के लिए कुलाचार्य के वचन में विश्वास होता है। यही बात "वृद्ध" और "कुलपति" शब्दों से कही गई है। "वह्वृचः" अर्थात् ये शौनक ऋग्वेदी हैं॥१॥

**आभास**—चतुर्धा ह्यत्र प्रश्नः। भागवतविषयकः, कर्तृविषयको, वक्तृविषयकः, श्रोतृविषयकश्चेति। तत्रप्रथममाह—

**आभासार्थ**—यहां चार प्रकार से प्रश्न हैं– १. भागवत विषयक, २. कर्त्ता के विषय में ३. वक्ता के विषय में और ४. श्रोता के विषय में। इनमें से प्रथम प्रश्न करते हैं—

**शौनक उवाच**—श्लोक—**सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर।**
**कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवान् शुकः॥२॥**

**श्लोकार्थ**—शौनकजी ने कहा—हे वक्ताओं में श्रेष्ठ बड़भागी सूत! जिस कथा को भगवान् शुक ने कहा उस धर्मरूप भागवत की कथा को हमारे लिये कहें॥२॥

**सुबोधिनी—सूत सूतेति**। आदरे वीप्सा। तव तु महाभाग्यं यद्भागवतं श्रुतवानसीति **महाभागेति सम्बोधनम्**। नः अस्मभ्यम्। न श्रोतृत्वमात्रमस्मासु किन्त्वस्मभ्यं भागवतं देयमिति चतुर्थीप्रयोगः। वदतां मध्ये श्रेष्ठः। निर्धारणान्न समासः। वदतां मध्ये त्वमेव श्रेष्ठः। यस्यां कथायां श्रुतायां त्वयैवं शास्त्रार्थो निरूपितस्तामेव कथां वद। पुण्यां धर्मरूपाम्। विहितत्वाद्यागवत्। श्रद्धाधिक्ये हेतुः— यद्यस्मात्कारणाद्भगवान् शुक आह। **शुक** इति मुक्तः। **भगवानिति** पूर्णगुणः॥ २॥

**व्याख्यार्थ**—सूत ! सूत ! इस प्रकार दो बार जो सम्बोधन है वह सूत के प्रति आदर का सूचक है। हे सूत, आप बड़े भाग्यशाली हैं क्योंकि आपने भागवत सुन रखा है। इसी बात को बताने के लिए यहां "महाभाग" यह सम्बोधन दिया गया है।

"नः" यह चतुर्थी पद है। इसलिए इसका अर्थ है कि—हमारे लिए। तात्पर्य यह है कि हम में केवल श्रोता के धर्म ही नहीं है, किन्तु हमारे लिए भागवत प्रदान करें, इस अभिप्राय से "नः" यह सम्प्रदानार्थक चतुर्थ्यन्त का प्रयोग है। अर्थात् हम भागवत को पूर्ण रूप से समझ जायें। आप वक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। "वदतां वर" में समास इसलिए नहीं किया गया है कि- "न निर्धारणे" यह सूत्र कहता है कि जब किसी के पृथक् निर्धारण करने में षष्ठी हो वहां समास नहीं होता है।

जिस कथा के सुनने पर आपने इस प्रकार के शास्त्र के अर्थ को निरूपित किया है उसी कथा को हमारे लिए कहिये

"पुण्याम्" का अर्थ है धर्मरूप। यह कथा धर्मरूप है। जैसे यज्ञ विहित होने से धर्मरूप है उसी तरह विहित होने से यह कथा भी धर्मरूप है। इसमें हमारी श्रद्धा अधिक है, क्योंकि इस भागवत को श्री शुकदेवजी ने कहा है। 'शुकः" यह पद शुकदेव को जीवन मुक्त तथा "भगवान्" यह पद शुक को पूर्ण गुणयुक्त बताने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् शुकदेव जीवन मुक्त और पूर्ण गुणयुक्त हैं। अतः उनसे कही गई कथा अत्युत्कृष्ट है ॥२॥

**आभास**—द्वितीयं प्रश्नमाह—

**आभासार्थ** अब कर्तृ-विषयक प्रश्न कहते हैं—

श्लोक—**कस्मिन्युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना।**

**कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥३॥**

**श्लोकार्थ**—किस युग में, किस स्थान में, किस कारण से यह भागवत कथा प्रवृत्त हुई है और किसके कहने से व्यास मुनि ने इस संहिता को किया है ? ॥३॥

**सुबोधिनी—कस्मिन्युग इति**। कर्तुः परिकरापेक्षत्वात्कर्तृप्रश्ने परिकराणामपि प्रश्नः। कालदेशहेतवो हि परिकराः। प्रयोजककर्ता च। त्रिषु प्रवृत्तेयमिति सम्बन्धः। कस्मिन्युगे इयं सम्प्रवृत्ता। कस्मिन्वा स्थाने। केन वा हेतुना। यथाऽत्र चित्तवैयग्र्यं तदभावो हेतुः। केन वा प्रेरितो भवतु। कुतो वा हेतोः प्रेरितः। प्रवृत्तौ त्रयः प्रश्नाः। करणे चैकः। **मुनिरिति** मननप्रतिबन्धिकायाः संहितायाः कथं करणम्। ३॥

**व्याख्यार्थ**—कर्त्ता हमेशा परिकर की अपेक्षा रखता है, इसलिए कर्त्ता के विषय में प्रश्न करने पर वहां उपयोगी जो परिकर है उसका भी प्रश्न हो जाता है। काल, देश और हेतु परिकर हैं और व्यास को जो प्रेरणा करने वाला है वह भी परिकर है। इसीलिए काल, देश, हेतु और प्रयोजक कर्त्ता (प्रेरक) भी श्लोक में कहे गये हैं किस काल किस देश और किस हेतु को लेकर

यह भागवत प्रवृत्त हुई है, इस प्रकार श्लोक का सम्बन्ध है। किस युग में यह प्रवृत्त हुई? किस स्थान में यह प्रवृत्त हुई तथा किस कारण से यह प्रवृत्त हुई?

भागवत की प्रवृत्ति में व्यास के चित्त की व्यग्रता कारण है। चित्त को व्यग्रता नहीं रहे इसलिए भागवत का निर्माण हुआ है यही इसका प्रयोजक हेतु है। भले ही किसी से भी प्रेरणा हुई हो फिर भी प्रेरक ने प्रेरणा क्यों की? किस कारण से प्रेरणा हुई? इस प्रकार किस युग, किस देश और किस कारण से यह भागवत प्रवृत्त हुई? इसकी प्रवृत्ति में ये तीन प्रश्न होते हैं और "किससे प्रेरित होकर व्यास ने यह भागवत बनाया?" ऐसा भागवत के करने में प्रेरक सम्बन्धी यह एक प्रश्न हुआ?

यहां व्यास के लिए "मुनि" पद है। मनन करने वाला ही मुनि होता है। ग्रन्थ-निर्माण करने पर मनन रुक जायगा, तो फिर उनने यह संहिता किस प्रकार बनाई? ॥३॥

**आभास**—तृतीयमाह पञ्चभिः—

**आभासार्थ**—अब वक्तृ विषयक तीसरे प्रश्न को पांच श्लोकों से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पकः।**
**एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥३॥**

**श्लोकार्थ**—उस व्यास का पुत्र (शुकदेव) समाधिस्थ, सब जगह ब्रह्म को जानने वाला, सांख्य प्रोक्त निर्विकल्प ज्ञान वाला, एकान्त में रहने की बुद्धि वाला, निद्रा रहित और गुप्त रहने वाला लोक में मूढ की तरह मालूम हो रहा है ॥४॥

**सुबोधिनी**—**तस्य पुत्र इति**। वक्तृत्वेन प्रकृष्टत्वान्नाऽध्येतृत्वनिमित्तसन्देहा इहोच्यन्ते। ते चाऽग्रे वक्तव्या महायोगी समाधिस्थः। प्रथमं योगो दुःखदोऽपि भवति। प्रवृद्धस्तु सुखदः। तादृशस्य कथाकथनमयुक्तमिति भावः। किञ्च। **समदृक्**। ब्रह्मविदित्यर्थः। उच्चावचबुद्धिसाध्यं च प्रवचनम्। किञ्च। **निर्विकल्पकः**। साङ्ख्यप्रोक्तज्ञानसिद्धः। निर्गता विकल्पाः प्राकृता यस्य। किञ्च। **एकान्तमतिः**। विरक्तः। एकान्ते मतिर्यस्य। किञ्च। **उन्निद्रः**। उद्गता निद्रा यस्येति स्वप्नदृष्टारिष्टनिवृत्त्यपेक्षारहितोऽपि। किञ्च। **गूढः**। सङ्गाद्भृशमुद्विजमानः। अत एव च लोके अप्रसिद्धः। किन्तु मूढ एव ईयते ज्ञायते ॥४॥

**व्याख्यार्थ**—वक्ता शुकदेव उत्कृष्ट हैं, इसलिए अध्येयता को लेकर यहां सन्देह नहीं कहे गये हैं, वे सन्देह आगे कहेंगे।

"महायोगी" पद वे शुकदेव समाधि स्थित रहते हैं-इस बात को बताता है और "महायोगी" का भाव यह भी है कि-पहिले योग दुःखदायी भी होता है और बढ़ जाने पर वह सुख देने वाला होता है। अर्थात् वे सुख की स्थिति मे थे। जो समाधिस्थ हैं, ऐसे शुक का इस प्रकार कथा कहना

युक्त नहीं है। वे शुकदेव ब्रह्मवेत्ता हैं, सभी जगह समान रूप से ब्रह्म को जानने वाले हैं। कथा कहना ऊंची-नीची बुद्धि में ही होता है। कहने वाला अपने को ऊंचा और सुनने वाले को नीचा समझता है। शुक ब्रह्मज्ञानी हैं, इनमें जब ऊंच-नीच भाव ही नहीं है तब इनके द्वारा प्रवचन क्यों कर हो सकता है? फिर शुकदेव को साङ्ख्य में कहा गया ज्ञान भी था, क्योंकि उनमें प्रकृति सम्बन्धी विकल्प नहीं था। वो विरक्त थे क्योंकि उनकी एकान्त में रहने की बुद्धि है। एकान्त में रहने की बुद्धि विरक्त की ही होती है। वे निद्रा भी नहीं लेते थे। यदि निद्रा लें तो स्वप्न में देखे गये जो अशुभ हैं उनकी निवृत्ति की भी अपेक्षा रखनी होती है, किन्तु इनके उन्निद्र होने से उन्हें स्वप्न भी नहीं आते थे। इसलिए अनिष्ट की निवृत्ति के लिए कोई उपाय भी नहीं करते थे और वे सङ्ग से बहुत डरते थे इसलिए वे (शुकदेव) अप्रकट रहने वाले है। लोकों में इसीलिए वे प्रसिद्ध भी नहीं हैं, किन्तु मूढ की तरह मालूम हो रहे हैं ॥४॥

**आभास**—किञ्च। सर्वदा असम्प्रज्ञातसमाधिस्थो बहिःसंवेदनरहित इति वक्तुमुपाख्यानमाह—

**आभासार्थ**—"जो सर्वदा असंप्रज्ञात समाधि में रहता है उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता।" इस बात को कहने के लिए उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वाऽनुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं**
**देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।**
**तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवाऽस्ति**
**स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥५॥**

**श्लोकार्थ**—शुक के पीछे चलते हुए अनग्न व्यास को देखकर जल में क्रीड़ा करने वाली अप्सराओं ने लज्जा से अपने वस्त्र पहिन लिये, जबकि नग्न शुक को देखकर उन्होंने अपने वस्त्र नहीं पहिने थे। इस आश्चर्य को देखकर व्यासजी के पूछने पर अप्सराओं ने कहा कि—यह स्त्री है, यह पुरुष है, इस प्रकार की तुम्हारी भेद बुद्धि है और शुक को बाहरी ज्ञान नहीं है ॥५॥

**सुबोधिनी**—**दृष्ट्वाऽनुयान्तमिति**। अत्र ह्येवं कथा। क्वचित्सरोवरे नग्ना अप्सरसः स्नान्ति। तत्र नग्नं शुकं पुत्रमनुयान्तं व्यासं दृष्ट्वा वस्त्राणि पर्यधुः। ततो व्यासस्य सन्देहो जातः। कथं मां वृद्धमनग्नं दृष्ट्वा वस्त्राणि परिदधति, पुत्रं तरुणं नग्नं दृष्ट्वा न। इति सन्देहात्ताः पृष्टवान्। तासामुत्तरम्—तवाऽस्ति स्त्रीपुम्भिदा, न तु सुतस्येति। यद्यपि शाब्दं ज्ञानं वेदव्यासस्य निर्विचिकित्सं स्वरूपज्ञानं च। तथापि बहिःसंवेदनमस्ति। अधिकारित्वात्। पुत्रस्य तु नित्यारूढसमाधित्वान्न बहिःसंवेदनमस्ति। तदाह—**विविक्तदृष्टेरिति**। विविक्ता अनात्मस्पर्शरहिता दृष्टिर्यस्येति। एवमष्टगुणानां भगवत्कथाबाधकानां विद्यमानत्वात्कथं कथाप्रवचनमिति ॥५॥

**व्याख्यार्थ**— यहां की कथा इस प्रकार है। कहीं सरोवर में अप्सराएँ नग्न नहा रही थी। इन स्त्रियों ने व्यास के पुत्र शुक को नंगा जाते हुए देखा फिर भी कोई लज्जा नहीं की, वे नग्न ही नहाती रही। किन्तु इन्हीं नग्न शुकदेव के पीछे-पीछे इनके पिता व्यास चले आ रहे थे। यद्यपि व्यास कपड़े पहने हुए थे तो भी इनको देखकर अप्सराओं ने कपड़े पहन लिये। तब व्यास को सन्देह हुआ कि–मुझ वृद्ध और अनग्न को देखकर इन अप्सराओं ने वस्त्र पहिन लिये और जवान पुत्र (शुक) को नग्न देखकर भी इन्होंने वस्त्र नहीं पहने। इस सन्देह से व्यास ने इन स्त्रियों से पूछा। अप्सराओं ने यह उत्तर दिया कि—

स्त्री और पुरुष का भेद आपको है आपके पुत्र को नहीं। यद्यपि शब्द अन्य ज्ञान और नि:सन्दिग्ध भगवत्स्वरूप ज्ञान वेदव्यास को था तथापि वेदव्यास को बाहरी ज्ञान था, क्योंकि वे ज्ञान देने के (उपदेश देने के) अधिकारी थे। 'शुकदेवजी के समाधि में नित्य आरूढ रहने से उन्हें बाहरी ज्ञान नहीं था।" इसी बात को "विविक्तदृष्टेः" से कहा है। तो शुकदेव की दृष्टि सर्वत्र ब्रह्म को ही देखने वाली थी अर्थात् उनकी दृष्टि आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ का स्पर्श नहीं करती थी।

अस्तु १. महायोगिक २. समदृक् ३. निर्विकल्पक ४. एकान्तमतित्व ५. उन्निद्रत्व ६. गुढत्व ७. मूढ की भाँति प्रतीत होना और ८वाँ विविक्त दृष्टित्व इस प्रकार कहे गये आठ गुण भगवत्कथा कहने में बाधक हैं तो इनके होते हुए भी शुक ने कथा क्यों करवायी? ॥५॥

**आभास**— यद्यपि प्रव्राजकधर्मकरणात्— "**कीटवत्पर्यटेन्महीमि**" ति वाक्यात्समाधेरुत्थितः। कैश्चिद्दृष्टः प्रार्थितो निर्बन्धेन कथां कथयतीति न मन्तव्यम्। लोकानां ज्ञापकधर्मो महानयमिति नाऽस्मिन्विद्यतइत्याह —

**आभासार्थ** शुकदेव यद्यपि सन्यासी के धर्म का पालन करने वाले थे। सन्यासी के लिए लिखा है कि–"कीटवत्पयटेन्महीम्" कीट की भाँति पृथिवी पर भ्रमण करें। इस प्रकार सन्यासी जब भ्रमण करता है तो समाधि से कदाचित् विरत भी हो सकता है। इसी रूप में शुकदेव को कुछ लोगों ने देखा और भागवत कथा कहने को आग्रह सहित प्रार्थना की, इसलिए उन्होंने कथा कही है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि "वे महान् तत्वज्ञ थे" इस प्रकार का ज्ञापक धर्म इनमें नहीं था। लोकों को उनके इस धर्म की प्रतीति होती ही नहीं थी। यही बात कहते हैं—

श्लोक — **कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्।**
**उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥६॥**

**श्लोकार्थ**—हस्तिनापुर में आये हुए उन्मत्त, मूक और जड़ की तरह फिरने वाले उन शुकदेव को हस्तिनापुर वासियों ने कैसे पहिचाना? ॥६॥

**सुबोधिनी**- **कथमालक्षित इति**। कुरुजाङ्गलान् हस्तिनापुरदेशम्। आ समन्ताच्छुकोऽयमिति। **पौरैरिति**। पुरवासाद्बुद्धिर्वक्रा भवति। ज्ञानं हि त्रेधा भवति। बहिःस्थैर्यादिना वचनेन

सदाचारेण च । तन्नित्रतयं नास्तीत्याह—**उन्मत्तमूकजडवदिति** । गजेन समान आह्वयो नाम यस्य तत् गजसाह्वयम् । नगरनामनिरुक्त्या तत्रत्या मत्ता इति लक्ष्यन्ते । अत एव ज्ञानभयाभावात्तीर्थविशेषत्वाच्छुकस्य परिभ्रमणम् । ६।।

**व्याख्यार्थ**—हस्तिनापुर का जो देश है वह कुरुजाङ्गल कहलाता है । उस देश में प्राप्त हुए और हस्तिनापुर में विचरते हुए उन शुकाचार्य को कहा यह शुकदेव है-ऐसा उस पुर में रहने वालों ने कैसे समझा ? क्योंकि पुर में रहने वालों की बुद्धि ठीक नहीं होती है ।

किसी व्यक्ति विशेष को तीन प्रकार से जाना जा सकता है-बाहरी स्थिरता आदि से, वचन से और सदाचार से । ये तीनों बातें शुकदेव में नहीं थी । इसी बात को 'उन्मत्तमूकजडवत्" से कहा है । उन्मत्त आदमी में स्थिरता नहीं होती, मूक बोल नहीं सकता और जड़ से सदाचार नहीं होता है । शुकदेव उन्मत्त की तरह थे, किसी से कुछ बोलते नहीं थे और किसी प्रकार का कोई आचरण नहीं करते थे, इसलिए उनकी पहचान उक्त तीनों परिचायक लिङ्गों से नहीं की जा सकती थी । ऐसी स्थिति में पुर वासी उन्हें-ये शुक हैं-ऐसा कैसे पहचान सके ।

श्लोकस्थ "गजसाह्वये" का यह तात्पर्य है कि-हाथी के समान है नाम जिसका ऐसा जो हस्तिनापुर है उस ऐसे हस्तिनापुर में रहने वाले व्यक्ति हाथी की तरह मत्त थे । ऐसे पुरवासी शुक को कैसे पहचान सकते थे ?

उन्मत्त, मूक और जड़ की तरह होने से शुकदेव को-मुझे कोई जान लेगा-ऐसा भय नहीं था और हस्तिनापुर प्रदेश में तीर्थ विशेष होने से वे घूमते-घूमते वहां आये ।।६।।

श्लोक— **कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह ।**
**संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ।।७।।**

**श्लोकार्थ**—हे तात ! पाण्डवों के वंश में पैदा होने वाले राजर्षि परीक्षित का मुनि शुकदेव के साथ कैसे संवाद हुआ, जहां कि इस भागवत रूप वैष्णव वेद का प्रवचन हुआ ।।७।।

**सुबोधिनी**—अस्तु वा नगरे केषाञ्चिज्ज्ञानं तथापि राज्ञा सह संवादोऽनुचितः । राज्ञो राजर्षित्वादाचारिषु श्रद्धाभावः । शुकस्य च मुनित्वात्सर्वज्ञत्वेन संवादसम्भावनायां गमनाभावः। स च सम्बन्धो बहुकालसाध्यः । तदाह । यत्रैषा सात्वती श्रुतिः । वैष्णवो वेदः ।।७।।

**व्याख्यार्थ**—नगर में किन्हीं को-यह शुकदेव है-ऐसा ज्ञान भी हो सकता है, परन्तु राजा के साथ संवाद होना उचित नहीं है । राजा राजर्षि था, इसलिए आचारविहीन जैसे दीखने वाले शुकाचार्य में राजा को श्रद्धा कैसे हो सकती है ? इसलिए राजा इनसे चलाकर बातचीत नहीं कर सकता और शुकाचार्य मनन करने वाले होने से सर्वज्ञ थे । सर्वज्ञ होने से वे जरूर यह समझ सकते थे कि राजा के यहाँ जाने से मेरे साथ उनका संवाद होगा । इसलिए ऐसी सम्भावना में शुकदेव

स्वयं भी नहीं जा सकते थे। यदि राजा से बातचीत का सम्बन्ध हुआ तो वह बहुत समय तक चलता रहेगा। इसी बात को "यत्रैषा सात्वती श्रुतिः" से कहा है। अर्थात् संवाद में वैष्णव वेद रूप भागवत का कथन किये जाने से अधिक समय लगेगा ॥७॥

श्लोक—**स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम् ।**
**अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ॥८॥**

**श्लोकार्थ**—वह महाभाग शुकदेव गृहस्थों के स्थान को तीर्थ बनाते हुए, गोदोहन पर्यन्त प्रतीक्षा करते हैं (रहते हैं) ॥८॥

**सुबोधिनी**—अस्तु वा। तथापि गोदोहनकालादधिककाले गृहस्थगृहे संन्यासिनो वासोऽनुचितः। सोऽपि वासो न रागात्। तथा सति रागपूर्वकं चिरकालमपि वासः सम्भाव्येत। किन्तु गृहस्थानामाश्रमं तीर्थीकुर्वन्। गृहे मेधा बुद्धिरतिप्रवृत्तिनिष्ठा। तथा तेषामेव चाऽग्रे संन्यासः। तथा सति पूर्वदोषस्य विद्यमानत्वान्नाऽधिकारः। सङ्गदोषश्च। अतः परमहंसैर्गृहस्थाश्रमः अतीर्थोऽपि तीर्थीक्रियते। ततो दोषद्वयं गच्छतीत्याह— **स गोदोहनमात्रमिति**। यथा हि गौर्धर्मदोहार्थं तावत्कालं निर्बन्धं सहते तथा जगन्मित्रैरपि सोढव्यमिति हिशब्दार्थः। इयमवस्था महाभाग्येन प्राप्यत इति **महाभागविशेषणम्**। ८॥

**व्याख्यार्थ**—राजा के साथ संवाद हुआ भी हो तो भी संन्यासी की गृहस्थी के घर गोदोहन से अधिक समय तक ठहरना उचित नहीं है और गोदोहन मात्र भी संन्यासी का ठहरना अनुरक्ति से नहीं होता। यदि वह अनुराग से हो तो अधिक समय तक उनके रहने की सम्भावना हो सकती है, किन्तु गृहस्थों के आश्रम को तीर्थ बनाने के लिए ही वे वहां जाते हैं।

गृहमेधा वही कहलाते हैं—घर में जिनकी अत्यन्त प्रवृत्ति की बुद्धि हो और ऐसे ही गृहस्थाश्रमी बाद में संन्यास लेते हैं। यदि इस प्रकार के महात्मा उनके घर पर न जाय तो पूर्व दोषों के रहने से संन्यास लेने का उनको अधिकार नहीं होगा और गृहस्थाश्रम में सङ्गदोष भी रहेगा। इसलिए शुकाचार्य आदि परमहंस अतीर्थरूप जो गृहस्थाश्रम है उसको तीर्थ बनाते हैं तो अतिप्रवृत्ति (पूर्वदोष) और सङ्गदोष ये दोनों दोष उनके चले जाते हैं। इसी बात को "गोदोहनमात्रम्" से कहा है। जिस प्रकार अग्निहोत्र में काम आने वाली सामग्री घी, दूध इत्यादि देने के लिए गौ उतने ही समय तक बन्धन सहन करती है, उसी प्रकार जो गौ की तरह जगत् से भिन्न हैं उनको भी गोदोहन मात्र तक रहकर उस बन्धन को सहन करना चाहिये। अर्थात् परमहंस को गृहस्थी के यहां उसको तीर्थ करने के लिए गोदोहन मात्र ठहरना चाहिये। यह अवस्था महाभाग्य से प्राप्त होती है इसलिए श्लोक में शुकदेव के लिए 'महाभाग' कहा ॥८॥

**आभास**—श्रोतुः प्रश्नमाह चतुर्भिः—

**आभासार्थ**—चार श्लोकों से श्रोता के प्रश्न को कहते हैं—

श्लोक—अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम् ।
तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥९॥

**श्लोकार्थ**— हे सूत ! अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को भगवद्भक्तों में उत्तम कहा है, इसलिए महान् आश्चर्य में डालने वाला उसका जन्म और कर्म, आप हमारे लिये कहें ॥९॥

**सुबोधिनी**— अभिमन्युसुतमिति । पितृनाम्ना महत्त्वं हि मातृनाम्ना तु हीनता । इति सर्वत्र बोद्धव्यं श्रीमद्भागवतेऽपि च । अभितः सर्वतो मन्युर्यस्य । न त्वन्तः । क्षत्रियस्य चाऽयं धर्मः । अन्तः क्रोधाभावाच्च वैष्णवः । सूतेति सम्बोधनं वृत्तान्तपरिज्ञानाय । लोकवृत्तपरित्यागेन भगवदेकपरायणो महाभागवतः । "विसृजति हृदयं न यस्य" इति वा । प्राहुरिति सर्वलोकप्रसिद्धः । पूर्वमेव तादृशस्य भागवतेन यो विशेषस्तत्परिज्ञानाय पूर्वं विशेषं पृच्छति—तस्य जन्मेति । महदाश्चर्यं यत्र । मृतस्य गर्भात्पतितस्य पुनर्जीवनमिति । भारतादिष्वेवमेव कथा । कलिनिग्रहादीनि कर्माणि ॥९॥

**व्याख्यार्थ**—यहां परीक्षित को अभिमन्यु के पुत्र के रूप में कहा है । यह इसलिए कहा गया है कि–पुत्र में जब पिता के सम्बन्ध बताये जाते हैं तब पुत्र का महत्व सूचित होता है और माता का सम्बन्ध बताने से हीनता प्रतीत होती है । अर्थात् 'अमुक पिता का पुत्र' ऐसा यदि कहा जाय तो पुत्र का महत्व सूचित होता है और 'अमुक माता का पुत्र' ऐसा कहने पर उसकी हीनता मालूम देती है । जैसे पार्थ, कौन्तेय इत्यादि । यही नियम सब जगह है और श्रीमद्भागवत में भी है ।

अभिमन्यु का अर्थ यह है कि–चारों ओर जिसका क्रोध है । बाहर क्रोध रखना क्षत्रिय का धर्म है और भीतर क्रोध न रखना वैष्णवता है । अभिमन्यु में बाहर क्रोध था । वैष्णव होने से भीतर क्रोध नहीं था । इसी बात को अभिमन्यु पद कहता है ।

श्लोक में 'सूत' यह सम्बोधन यह बताता है कि–तुम्हारी (सूत की) यह वृत्ति होने से तुम्हें परीक्षित राजा के जन्म कर्म का पता है । यह अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित लौकिक बातों को छोड़कर केवल भगवान् में ही परायण था इसलिए महाभागवत था । महाभागवत वही है जिसके हृदय से भगवान् कभी दूर न हो । उस अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित में इस प्रकार के गुण होने से उसे महाभागवत कहा करते थे । लोक में इसको इसी रूप में (महाभागवत रूप में) प्रसिद्धि थी ।

अभिमन्यु सुत पहले ही महाभागवत था भागवत सुनने से उसमें जो विशेषता हुई उसको जानने के लिए पहले विशेष बात पूछते हैं कि–जिस परीक्षित का जन्म आश्चर्य में डालने वाला है, क्योंकि वह गर्भ से मरा हुआ बाहर पड़ा और फिर वह जीवित हो गया । यही उसके जन्म में आश्चर्य की बात है । महाभारत आदि में इसी तरह की कथा है । इसलिए आश्चर्य में डालने वाले उसका जन्म और कलि आदि को दण्ड देना आदि उसके कर्म हमसे कहो ॥९॥

**आभास**—वैष्णवस्य प्रायोऽनुचित इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—"वैष्णव को आमरण अनशन करके बैठना उचित नहीं है" इस अभिप्राय से कहते हैं कि—

श्लोक—**स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः ।**
**प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याऽधिराट्श्रियम् ।।१०।।**

**श्लोकार्थ**—पाण्डवों के सम्मान को बढ़ाने वाला वह सम्राट् परीक्षित राजाओं से भी अधिक राजलक्ष्मी का परित्याग कर गङ्गा के तट पर आमरण अनशन लेकर किसलिए बैठा ? ।।१०।।

**सुबोधिनी** - परीक्षिति लौकिकोऽप्युत्कर्षोऽस्ति । सम्राट् चक्रवर्ती । पाण्डूनामपि मानं वर्द्धयति । पाण्डवप्रतिष्ठया नाऽस्य प्रतिष्ठा । किन्तु विपरीतेत्यर्थः । गङ्गयैव च सर्वपुरुषार्थसिद्धिः । किं गङ्गायां प्रायोपवेशनेन । पराजयस्त्वसंभावित एव । यतः अधिका राज्ञामपि श्रीगृहे यस्य वर्तते तामप्यनादृत्य । एवं लोकवैष्णवाभ्यां प्रायोऽनुचितः ।।१०।।

**व्याख्यार्थ**—परीक्षित में लौकिक उत्कर्ष भी था क्योंकि वह चक्रवर्ती राजा था और पाण्डवों के सम्मान को बढ़ाने वाला था । अभिप्राय यह है कि पाण्डव बड़े थे, इसलिए उनसे परीक्षित की प्रतिष्ठा हो ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वह परीक्षित स्वतः ऐसा था जिससे पाण्डवों की प्रतिष्ठा बढ़ी । अर्थात् वह पाण्डवों के यश को बढ़ाने वाला था ।

गङ्गा के तीर पर बैठने से ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों की सिद्धि हो जाती है तो फिर आमरण अनशन का नियम लेने की क्या आवश्यकता थी? पराजय की शङ्का तो थी ही नहीं, क्योंकि राजाओं से भी अधिक उसके घर में लक्ष्मी थी जिसका उसने परित्याग किया था ।

इस प्रकार लौकिक रीति से एवं वैष्णव होने से भी उसका अनशन करना उचित नहीं था ।। १० ।।

**आभास**—किञ्च । लज्जा तु सर्वतो महती । विशेषतः स्वेषु । तत्कथं राज्ञां मध्ये प्रायोपवेशनमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—लज्जा सबसे बड़ी होती है और विशेष रूप से अपने आदमियों के बीच तो फिर राजाओं के बीच में राजा परीक्षित ने आमरण अनशन का संकल्प कैसे किया । इसी अभिप्राय को लेकर कहते हैं कि—

श्लोक—**नमन्ति यत्पादनिपीठमात्मनः शिवाय हाऽऽनीय धनानि शत्रवः ।**
**कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहाऽसुभिः ।।११।।**

**श्लोकार्थ**—हे अङ्ग ! शत्रु भी जिसकी चरण चौकी को बहुत सा धन भेंट करते हुए अपने कल्याण के लिए प्रणाम करते हैं। आश्चर्य है कि उसने वीर युवक होते हुए भी दुस्त्यज राज्यलक्ष्मी को प्राणों के साथ ही छोड़ने को इच्छा क्यों कर की ? ।।११।।

**सुबोधिनी**—नमन्तीति। पादनिपीठं पादुके वा। सर्वत्र देशेष्वस्य सिंहासने गत्वा स्वापराधमार्जनार्थं धनान्यानीय। हेत्याश्चर्ये। शत्रवोऽपि नमन्त्यात्मनः शिवायेति। देशस्तु पूर्वमेहाऽऽहृतः। स्वयं च सङ्कटे पतिताः पुनः स्वदेशप्राप्त्यर्थं धनानि प्रयच्छन्तीत्यर्थः। अयमर्थस्तस्य पुरुषार्थो न भवतीति न मन्तव्यम्। यतो वीरः। वीररसस्य विद्यमानत्वात्। वीरस्य हि प्रायोपवेशेन मरणं लज्जाकरं भवति। किञ्च। धनाद्यर्थं प्रायश्चित्तार्थं वा लोके प्रायोपवेशनं सिद्धम्। तत्सार्वभौमश्रियास्त्यागविषयत्वाद्धनार्थं न भवति। तदर्थत्वे च कथं श्रियं त्यक्तवानिति। तत्रापि प्राणैः सह। को वा भोक्ष्यति। लोके हि प्राणापेक्षयाऽपि धनं दुस्त्यजम्। तस्करादिषु निर्णयात्। तत्रापि यून इच्छामात्रमपि दुर्लभं किं पुनः करणम्। सत्यवार्तायामहो इत्याश्चर्यम् ।।११।।

**व्याख्यार्थ**—यहां "पाद निपीठम्" के दो अर्थ हैं। चरण चौकी अथवा पादुकायें। सभी देशों में रहने वाले राजा लोग इनके सिंहासन के पास जाकर अपने अपराधों को दूर करने के लिए बहुत सा धन लेकर नमस्कार करते हैं। 'ह' यहां आश्चर्य अर्थ में है। आश्चर्य होता है कि शत्रु भी अपने कल्याण के लिए इनकी चरण चौकी को नमस्कार करते हैं।

राजा परीक्षित ने इन राजा लोगों के देश का अपहरण तो पहले हो कर लिया था जिससे वे राजा लोग स्वयं संकट में पड़ गये और अपने देश की पुनः प्राप्ति के लिए बहुतसा धन परीक्षित को भेंट करते हैं। यह अर्थ (धन) परीक्षित के लिए पुरुषार्थ नहीं है ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वह वीर है, वीर रस वाले को ऐसा धन अपेक्षित होता ही है, जिसमें वीर रस मौजूद है। उस वीर पुरुष का इस प्रकार अनशन करके मरना लज्जाकर है।

लोक में देखा गया है कि धन के लिए अथवा प्रायश्चित्त के लिए आमरण अनशन करते हुए लोगों को देखा है परन्तु राजा परीक्षित द्वारा सार्वभौम लक्ष्मी को छोड़ देने से उसका यह आमरण अनशन धन के लिए नहीं हो सकता। यदि धन के लिए ही यह अनशन होता तो वह इस असीम राज्यलक्ष्मी को कैसे छोड़ता।

फिर धन के साथ ही प्राणों को छोड़ना कठिन है। यदि धन की इच्छा से वह अनशन करने बैठता तो जब वह प्राण भी साथ ही साथ छोड़ रहा है ऐसी हालत में उस धन को कौन भोगेगा ? निश्चय ही लोक में प्राण को अपेक्षा धन दुस्त्यज होता है जैसा कि चोरों में देखा गया है। वे अपने प्राणों की भी आहुति देकर धन चाहते हैं तो राजा परीक्षित ने जब राजलक्ष्मी का ही त्याग कर दिया तब उसने धन की कामना से ही आमरण अनशन किया—ऐसा नहीं माना जा सकता।

फिर वह परीक्षित जवान था। ऐसी स्थिति में राजलक्ष्मी त्याग की इच्छा तक नहीं हो सकती, फिर भी उसने सार्वभौम लक्ष्मी को त्याग दिया यह बात सत्य है, इसलिए यहां आश्चर्य व्यक्त करने वाला 'अहो' पद है ।।११।।

**आभास**—प्रायश्चित्तादिना तु परलोकसाधनार्थं वैष्णवस्य प्रायोपवेशनं न भवति किन्तु जीवनमेवेत्याह—

**आभासार्थ**—"प्रायश्चित्त आदि से परलोक साधन के लिए वैष्णव को आमरण अनशन नहीं करना चाहिये किन्तु जीवन ही रखना चाहिये" यही कहते हैं—

श्लोक—**शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।**
**जीवन्ति नाऽऽत्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ।।१२।।**

**श्लोकार्थ**—जो मनुष्य उत्तम श्लोक भगवान् में परायण हैं वे सब लोक के कल्याण के लिए, लोक में पुत्र पौत्रादि की अभिवृद्धि के लिए, ऐश्वर्यादि देने के लिए जीते हैं अपने लिए नहीं । ऐसा होने पर भी उस राजा परीक्षित ने विरक्त होकर दूसरों के आश्रयभूत अपने देह को किसके लिए छोड़ा ? ।।१२।।

**सुबोधिनी—शिवायेति** । प्रमादान्महापातकसम्बन्धेऽपि वैष्णवस्य न देहत्याग उचितः । तेषां स्वतः सेवासामर्थ्याभावेऽपि तान् पृष्ट्वा लोकानां करणं सम्भवति । अतस्तेषां जीवनमेव सर्वेषां शिवाय भवति । शिवं शान्तसुखम् । भवः उद्भवः लोके पुत्रपौत्राद्यभिवृद्धिः । **"अमोघवीर्या हि नृपा"** इति वाक्यात् । भूतये ऐश्वर्याय । अणिमाद्यष्टैश्वर्यं भगवत्सेवायां प्रासङ्गिकम् । **"महापुरुषपूजाया"** इति वचनात् । अतः सर्वेषां पुरुषार्थसाधकस्य देहस्य त्यागोऽनुचितः । किञ्च । निर्वेदेन देहादिपरित्यागो भूतहितार्थः । **"अभयमभयं भूतेभ्य"** इति वचनात् । तच्च वैष्णवानां विपरीतमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**पराश्रयं निर्विद्येति** । निर्वेदे हेतुरेव परित्यक्तव्यः । न तु कलेवरम् । कस्यचिदेव हि धर्मस्य हेतुत्वम् । कले च अव्यक्तमधुरे वरमिति नामनिरुक्त्या अव्यक्तरसाविर्भाव-हेतुरिति प्रतिभाति । स च भक्तिरसः । अन्यस्य लोकवेदयोः प्रसिद्धत्वात् । अतो भक्तिरसाविर्भावकं शरीरं कथं त्यक्तवानित्यर्थः ।।१२।।

**व्याख्यार्थ**—उत्तम श्लोक भगवान् ही उत्कृष्ट आश्रय हैं जिनका ऐसे वैष्णव को प्रमाद से महापातक का सम्बन्ध हो भी जाय तो भी देहत्याग उचित नहीं है । वैष्णव महापातक का सम्बन्ध होने से स्वतः सेवा नहीं कर सकते तो भी उनको पूछकर दूसरे लोग तो सेवा कर सकते हैं, इसलिए उनका जीवित रहना सबके लिए कल्याणकारी है । "शिवाय" पद का अर्थ है-शान्त सुख के लिए । अर्थात् ऐसे वैष्णवों का जीवित रहना लोगों के शान्त सुख के लिए होता है और पुत्र पौत्रादि को अभिवृद्धि के लिए भी उनका जीवित रहना आवश्यक है । कहा है कि-'अमोघवीर्या हि नृपाः" तात्पर्य यह है कि राजाओं का वीर्य निष्फल नहीं जाता । उससे सन्तति अवश्य होती है । अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य के लिए भी वे जीते हैं । क्योंकि अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य भगवत्सेवायें अपने आप प्राप्त हो जाते हैं । जैसा कि "महापुरुष पूजायाः" इससे कहा है । इसलिए सबको पुरुषार्थ देने वाले देह को छोड़ने का यत्न करना उचित नहीं है । वैराग्य से देहादि का परित्याग प्राणियों की शिक्षा और उनके हित के लिए हो सकता है, जैसा कि "अभयमभयं भूतेभ्यः" से कहा है । किन्तु वैष्णवों के लिए इससे विपरीत बात है-इस अभिप्राय से कहते हैं कि- "पराश्रयं

निर्विद्य" । पुरुषार्थ लाभ के लिए दूसरे जिसका आश्रय लें ऐसे शरीर को छोड़ना उचित नहीं है । राजधर्म में जिस कारण से वैराग्य होता है, राजाओं से कर लेना दण्ड देना इत्यादि राजधर्म दारुण है । राजधर्म शत्रुओं को भय पैदा करने वाला है इसलिए वह वैराग्य का कारण हो सकता है । ऐसी हालत में भी वह किसी के लिए हो वैराग्य का कारण हो सकता है । यदि इसी तरह वैराग्य होता है तो इस प्रकार के वैराग्य के कारण को छोड़ देना चाहिये, देह को नहीं । वैराग्य होने पर दूसरों को भय न हो इसलिए वैराग्य हो जाय तो शस्त्र संन्यास करना उचित है, देह का त्याग करना उचित नहीं है । क्योंकि यह कलेवर भक्तिरस का आविर्भावक है । इसी बात को "कलेवरम्" पद से कहा है । 'कलेवरम्" पद का यहां अर्थ है कि–अव्यक्त मधुर रसरूप जो भक्ति उसके आविर्भाव में है वह श्रेष्ठ कारण है, इस नाम निरुक्ति से वह अव्यक्त रसरूप भक्ति के आविर्भाव में कारण है । अन्य रस तो लोक वेद में भी प्रसिद्ध है और भक्ति रस तो इस देह में ही प्रकट होता है तो फिर ऐसे लाभदायक शरीर को राजा परीक्षित ने क्यों छोड़ा ? ॥१२॥

**आभास**—एवं प्रश्नचतुष्टयमुक्त्वोपसंहरति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार चार प्रश्न कहकर, अब उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन ।**
**मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**—यहां जो कुछ हमने आपसे पूछा है वह सब हमारे लिए कहें । क्योंकि वैदिक विषय से अतिरिक्त वाणी से कहे जाने वाले विषयों में आप पारंगत हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥१३॥

**सुबोधिनी**– **तत्सर्वमिति** । उत्तरोत्तरप्रश्नेऽपि पूर्वस्य न दौर्बल्यम् । तदाह—**सर्वमिति** । ननु भागवतार्थेऽस्माकं परिचयो नाऽन्यत्रेति न वक्तव्यमित्याह—**मन्य इति** । अत्रैवर्णिकत्वाद्वेदे परं न परिचयः । तदाह—**अन्यत्र छान्दसादिति** ॥१३॥

**व्याख्यार्थ**—आगे आगे के प्रश्न से पूर्व, पूर्व के प्रश्न दुर्बल नहीं है अर्थात् सभी प्रश्न समान हैं । अतः सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये । इसलिए श्लोक में "सर्वम्" पद दिया है ।

शौनक-ऋषि, सूत की शङ्का की संभावना करके कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि–सूत होने के कारण भागवतार्थ में ही मेरा परिचय है अन्यत्र नहीं, तो कहते हैं कि ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । क्योंकि आप त्रैवर्णिक नहीं हैं इसलिए वेद में आपका परिचय नहीं हो सकता किन्तु अन्य विषयों में आपको परिचय न हो, यह कभी नहीं हो सकता । वैदिक विषय से अतिरिक्त इतिहास पुराणादिक के विषय में मैं आपको पारंगत समझता हूं ॥१३॥

**आभास**—प्रथमप्रश्नस्य स्कन्धान्तरेषूत्तरम् । तृतीयचतुर्थयोरुत्तमप्रकरणे । अतो हेतुभूतत्वाद्द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह—

**आभासार्थ**—शौनक ऋषि का भागवत विषयक जो पहला प्रश्न है, उसका उत्तर दूसरे स्कन्धों में है। वक्तृविषयक और श्रोतृविषयक जो प्रश्न किये गये हैं उनका उत्तर प्रथम स्कन्ध में आने वाले उत्तम प्रकरण में है। यहां कर्तृ विषयक दूसरा प्रश्न कारणभूत है इसलिए इस दूसरे प्रश्न का उत्तर सूतजी यहां देते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्य्यये।**
**जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥१४॥**

**श्लोकार्थ**— सूतजी ने कहा—सतयुग से तीसरा जो द्वापरयुग है उसके आरम्भ में पराशर से वासवी में भगवान् की ज्ञान कला से भक्तियोगी व्यास प्रकट हुए ॥१४॥

**सुबोधिनी**—**द्वापर इति**। भागवतनिर्माणार्थमेव मुख्यतया तस्याऽवतार इति प्रथमं जन्माऽऽह। ब्रह्मकल्पस्य प्रथममन्वन्तरस्य तृतीययुगपर्यावृत्तौ व्यासस्थ जन्म। प्रथमयुगपर्यायो ज्ञानस्य ससाधनस्य कालः। द्वितीयः कर्मणः। तृतीयस्तु भक्तेः। तथापि धर्माणां बाधकत्वात् कृते त्रेतायां च न जन्म। किन्तु धर्मस्य द्विपरतायां सन्देहे। सर्वेषामेव सन्देहः संशब्दार्थः। पराशरस्य भक्तत्वं पुराणान्तरेष्वेव संसिद्धम्। मार्कण्डेयनमस्कारे वयोवृद्धवचनात्। उपरिचरवसोः पुत्री वासवी। मत्स्यगर्भे जाताऽपि बीजधर्मयुक्तैव। अवतारप्रयोजनम्—**योगीति**। योगः प्रवर्तनीयः। तत्रापि हरेः कलया सर्वदु खदूरीकर्तुर्ज्ञानकलया। योगस्तु भक्तियोगः। ज्ञानस्य त्ववताराादेव तस्याऽपि फलं भक्तिः प्रयोजनम्। एवं भक्तिप्रवर्तनार्थमेवाऽवतार इत्युक्तं भवति ॥१४॥

**व्याख्यार्थ**—भागवत निर्माण के लिए ही मुख्य रूप से व्यास का अवतार है, इसलिए प्रथम व्यासजी का जन्म कहते है। ब्रह्मकल्प के प्रथम मन्वन्तर के द्वापर की पर्यावृत्ति में अर्थात् द्वापर के परिवर्तन में व्यास का जन्म हुआ। ऐसा भी कहते हैं कि—अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में व्यास का जन्म हुआ। पहला सतयुग जो है वह साधन सहित ज्ञान का समय है। उस समय (सतयुग में) लोग ससाधन ज्ञान के अधिकारी थे, त्रेता में कर्म करने वाले हुए और द्वापर भक्ति का युग था। सतयुग में और त्रेता में धर्म के विषय में कोई सन्देह नहीं था इसलिए उसमें होने वाले जो धर्म हैं, वे भक्ति के उत्पादक थे और इन दोनों युगों में धर्म करने से भक्ति के लिए अवकाश नहीं था। इसलिए सतयुग और त्रेता में व्यासजी का जन्म नहीं हुआ।

द्वापर में धर्म के श्रुति, स्मृति, उभयपरक होने से धर्म में सभी को सन्देह हुआ। इसलिए धर्म के ठीक रूप से न हो सकने के कारण भक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए व्यासजी ने जन्म लेकर भक्ति का प्रतिपादन किया। पिता पराशर भक्त थे, विष्णु पुराण आदि में इन्हें भक्त कहा गया है। मार्कण्डेय के नमस्कार में वयोवृद्ध के वचन से यह सिद्ध होता है कि पराशर भक्त थे। उपरिचर जो था उसे भी मत्स्य पुराण में वैष्णव बताया है, इसलिए उसकी लड़की वासवी मत्स्य गभ से पैदा होने पर भी उपरिचर में जो वैष्णवता आदि थे वही वैष्णवता आदि धर्म वासवी में भी रहे।

व्यास के अवतार का प्रयोजन कहते हैं—"योगी" अर्थात् भक्तियोग को उन्हें प्रकट करना था। व्यासजी में यह भी विशेषता रही कि—सब दुःखों को हरण करने वाले हरि की ज्ञान कला से

वो प्रकट हुए थे। व्यास स्वयं भगवान् के ज्ञान के अवतार थे। व्यास के ज्ञानरूप होने से ज्ञान अपने आप प्रवृत्त हो गया और ज्ञान का प्रयोजन भक्ति होता है इसलिए उन्होंने ज्ञानरूप में अपजीर्ण होकर भक्ति का प्रचार किया। अर्थात् भक्ति की प्रवृत्ति के लिए ही इनका अवतार है ऐसा कहा गया ॥१४॥

**आभास** – तस्य प्रासङ्गिकमाह—

**आभासार्थ** - उस व्यासावतार के प्रासङ्गिक कार्य को कहते हैं—

श्लोक—**स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचिः।**
**विविक्त एक आसीन उदिते रविमण्डले ॥१५॥**

**श्लोकार्थ**—किसी समय सरस्वती नदी में स्नान, आचमनादि करके शुद्ध हुए वह व्यास सूर्योदय होने पर एकान्त स्थान में एकाकी बैठे ॥१५॥

**सुबोधिनी—स कदाचिदिति**। स भक्त्यर्थमवतीर्ण एव कदाचिन्मार्गत्रयनाशे सति स्वस्याऽपि ज्ञानविस्मरणे सरस्वत्याः शुचि (?) जलमुपस्पृश्य तेन प्रबुद्धसार्वज्ञ्यः। पापपराजितमिव (?) न भवतीत्याह– **शुचिरिति**। अनेन ज्ञानकलायां धर्मांश एवाऽभिव्यक्तः। ततः स्वावतारप्रयोजनं विचारय·सर्वेषां हितार्थे धर्ममपश्यदित्याह— **विविक्त** इत्यारभ्य **कृपया मुनिना कृतमित्यन्तम्**। विविक्ते एकान्ते। मनःस्थैर्यार्थमेतत्। तदा एक। आसीनः। भौतिकदैविकात्मीयदोषत्रयाभाव उक्तः। **उदिते रविमण्डल** इत्यावश्यककर्मकालाभाव उक्तः। पुण्यनक्षत्रस्य कालगुणानां च ज्ञापकं वा ।१५।

**व्याख्यार्थ**– व्यास भक्ति के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं, इसलिए कदाचित् कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों मार्गों के नष्ट होने पर उन्हें अपने ज्ञान की विस्मृति हो गई। सरस्वती के पवित्र जल में आचमन स्नान आदि करने से उनमें फिर से सर्वज्ञता आ गई और उनमें धर्मांश ही अभिव्यक्त हुआ तथा पाप से भी वे पराजित नहीं हुए यानि पापयुक्त नहीं हुए।

सरस्वती के जल में स्नानादि करने से ज्ञान कलारूप व्यास में धार्मिक प्रवृत्ति ही अभिव्यक्त हुई। फिर अपने अवतार के प्रयोजन का विचार करते हुए व्यासजी ने सबका हित करने वाले भक्तिरूप धर्म का विचार किया इसी बात को "विविक्त" से लेकर "कृपया मुनिना कृतम्" तक से कहा है।

मन में व्यग्रता न हो, इसलिए व्यास एकाकी एकान्त में बैठे। वे पवित्र थे, इसलिए उनमें भौतिक दोष नहीं था। एकान्त में बैठे थे, इसलिए वे दैविक दोष से रहित थे और एकाकी बैठे थे, इसलिए उनमें आत्मीय दोष नहीं था। यही इस श्लोक से कहा गया है।

"उदिते रविमण्डले" इससे यह बताया है कि सूर्योदय से पहले ही नित्य कर्म आदि हो जाते हैं, इसलिए सूर्योदय होने पर नित्य कर्म का समय भी नहीं था। अथवा "उदिते रविमण्डले' पद

पुण्य नक्षत्र और काल गुणों को बताने वाला है । अभिप्राय यह है कि उस समय पुण्य नक्षत्र था और अच्छे गुण वाला काल था। ऐसे समय में इन्होंने सब प्राणियों के हित साधन करने वाले धर्म का विचार किया ।।१५।।

श्लोक—**पराऽवरज्ञः स ऋषिः कालेनाऽव्यक्तरंहसा ।**
**युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**—काल को एवं हमारे अदृष्ट को जानने वाले ऋषि वेदव्यास ने, प्रकृति आदि में भी जिसका वेग है यानि प्रकृति आदि को भी जो अपने अधीन रखता है ऐसे काल से तप, यश, स्वाध्याय और दान आदि जो चारों युगों के धर्म हैं उनका प्रत्येक युग में नाश देखकर उनके हित का विचार किया ।।१६।।

**सुबोधिनी**—परे कालादयः। अवरे अस्मदादयः। करिष्यमाणेऽर्थे कालादीनां प्रतिबन्धकाभावं प्राणिनां तथाऽदृष्टं च ज्ञातवानित्यर्थः। एतदनन्तरं स ऋषिर्जातः। धर्मांशस्यैव प्रकटत्वात्। कालो हि महानधिकारी भगवतः। सर्वकर्ता सर्वनिमित्तं च। एवं सति व्यर्थं । प्रयासोऽन्येषामिति कालनियन्तुर्भगवतोऽवतार इति ज्ञापयितुं कालकृतमुपद्रवं प्रथमत आह— **कालेनाऽव्यक्तरंहसेति**। अव्यक्तेनाऽक्षरेण रंहो वेगो यस्य, अव्यक्ते वा प्रकृतौ रंहो वेगो यस्येति प्रकृतिप्रभृतीनां कालाधीनत्वमुक्तम्। अक्षरसम्मतिर्वा। अव्यक्तो रंहो यस्येति वेति प्रतिक्रियाऽकरणार्थं हेतुरुक्तः। एतावता भगवद्व्यतिरिक्तास्तदधीनास्तदनुगुणा वेति निरूपितम्। फलितमाह **युगधर्मेति**। चतुर्युगाणां धर्माः तपोयज्ञस्वाध्यायदानादयः। तेषां व्यतिकरो नाशः। अनधिकारिषु वा प्रवृत्तिः। स च व्यतिकरो नाऽऽकस्मिकः किन्तु नियतः। भुव्येव न स्वर्गे। नाऽऽकस्मिकं किन्तु युगे युगे प्राप्तम् ।।१६।।

**व्याख्यार्थ**—"पर" जो काल कर्म स्वभाव हैं उनको और "अवर" जो हम हैं इनके वेदव्यास ज्ञाता थे। अर्थात् जो बात मैं कहूंगा उसमें काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं हैं, क्योंकि भक्ति सम्बन्ध में काल कर्म स्वभाव बाधक नहीं होते और हमारे अदृष्ट को भी उन्होंने जाना। इसके बाद वे ऋषि बने। ऋषि वही होता है जो मन्त्र-दृष्टा होता है। मन्त्र-दृष्टा धर्म करने वाला होता है। आशय यह है कि—व्यास में धर्मांश ही प्रकट हुआ।

काल भगवान् का बड़ा अधिकारी है तथा सबका कर्त्ता और निमित्त कारण है। ऐसी स्थिति में कालादि के बाधक होने से औरों का प्रयास व्यर्थ होगा इसलिए काल नियामक जो भगवान् हैं उनका अवतार व्यास हुए—यह बताने के लिए पहले कालकृत उपद्रव कहते हैं।

'अव्यक्त" शब्द का 'अक्षरब्रह्म' अर्थ लेते हैं तो यह अर्थ होता है कि अक्षरब्रह्म से काल के प्रकट होने से जिसका वेग अधिक है। अथवा "अव्यक्त" का अर्थ है प्रकृति, उस प्रकृति में भी जिसका वेग है। अभिप्राय यह है कि—प्रकृति आदि भी काल के अधीन है। अथवा अक्षरब्रह्म की ऐसा करने में सम्मति हैं। अथवा अस्फुट है वेग जिसका यानि काल के वेग का पता नहीं चलता इसलिए उसका प्रतिकार नहीं हो सकता। इससे यह निरूपण किया गया कि—भगवान् से अतिरिक्त

जो भी है वह कालाधीन है अथवा काल के अनुकूल ही बर्ताव करने वाले हैं। इसलिए उस काल से चतुर्युग के धर्म जो तप, यज्ञ, स्वाध्याय, दानादि हैं उनका नाश होने पर अथवा अनधिकारियों में तप, यज्ञ, स्वाध्याय, धनादि की प्रवृत्ति देखकर (यह जाना कि) वह नाश एवं अनधिकारियों में तप आदि की प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है किन्तु इसका नियत रूप है। इसी बात को "युगे युगे" पद कहता है। अर्थात् प्रतियुग में नाश और अनधिकारियों में ऐसी प्रवृत्ति को व्यासजी ने नियतरूप से देखा और यह भी सब पृथिवी पर ही देखा, स्वर्ग में नहीं। ऐसा देखकर उनके हित का एकान्त में अकेले बैठकर व्यासजी ने चिन्तन किया।

आगे १८वें श्लोक में जो "हितं दध्यौ" आया है उसी अर्थ को लेकर इस श्लोक के अर्थ की समाप्ति होती है। 'हितं दध्यौ" का अन्वय यहां से लगाना चाहिये ॥१६॥

**आभास**—कालेन धर्मनाशमुक्त्वा पदार्थनाशमप्याह—

**आभासार्थ**—काल से धर्म का नाश कहकर पदार्थ-नाश भी कहते हैं—

श्लोक—**भौतिकानां तु भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम्।**
**अश्रद्दधानान् निःसत्त्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः ॥१७॥**

**दुर्भगांश्च जनान्वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।**
**सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥१८॥**

**श्लोकार्थ**—कालकृत पञ्च महाभूतों से पैदा हुए हमारे शरीरादि एवं पञ्च महाभूत तथा स्वाध्याय आदि अथवा कृषि वृष्टि आदि की शक्ति का ह्रास देखकर मनुष्यों को श्रद्धा बल विवेक एवं बुद्धिरहित तथा कम आयु वाले तथा भाग्यरहित देखकर, अमोघ दृष्टि वाले व्यासजी ने, अपनी दिव्य चक्षु से प्रत्येक वर्णों का तथा आश्रमों का जिसमें हित हो, उसका ध्यान किया ॥१७॥१८॥

**सुबोधिनी- भौतिकानामिति । भौतिकानामस्मदादीनाम् । चकाराद्भूतानाम् । शक्तिः** स्वाध्यायादीनाम् । कृषिवृष्टयादीनां वा । तत्कृतं कालकृतम् । कर्तृदोषानाह - **अश्रद्दधानानिति ।** सर्वत्र श्रद्धारहितान् । सत्त्वं बलं विवेको वा । दुर्मेधान् बुद्धिरहितान् । चित्तमनोबुद्धिनाशा उक्ताः । अन्तःकरणेष्वहङ्कार एव पुष्ट इत्यर्थः । अत एव आयुषोऽप्यपचय इत्याह—**ह्रसितायुष इति** ॥१७॥

**व्याख्यार्थ**—कालकृत पञ्च महाभूतों से उत्पन्न हमारे जैसे जीवों को और पञ्च महाभूतों की भी शक्ति नष्ट हो गई है। यहां 'च' कार से पञ्च महाभूतों का ग्रहण किया गया है। इसी तरह स्वाध्याय आदि की शक्तियों का तथा कृषि वृष्टि आदि की शक्तियों का भी कालकृत ह्रास हो गया है। तदुपरान्त धर्माचरण करने वाले श्रद्धा से रहित हो गये हैं उनमें न तो रहा बल और न ही रहा विवेक। श्रद्धा रहित होने से चित्त का नाश हो गया, विवेक रहित होने से मन का नाश

हुआ तथा 'दुर्मेधान्' पद से बुद्धि का नाश हुआ अर्थात् चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार रूप जो अन्तःकरण है उसमें प्रथम तीन का नाश होने से केवल अहंकार ही जीव में दृढ़ मूल होकर बैठ गया और इसीलिए उनकी आयु भी क्षीण हो चली है-इसीका निर्देश यहां 'ह्रसितायुष.' पद से किया गया है—यह सब देखकर श्री व्यास ने उनके हित का चिन्तन किया ।।१७।।

**सुबोधिनी**—कर्मणा हि भाग्यमुत्पद्यते । तत्कालादीनां शुद्धितारतम्येन महाभाग्यजनकत्वम् । द्वापरादौ तु षण्णां दुष्टत्वाद् दुर्भाग्यत्वम् । एतत्सर्वं न तर्कितम् । किन्त्वार्षज्ञानेन प्रमितम् । तथा सत्युपायज्ञानं भवतीत्यर्थः । पाषण्डधर्माः स्वत एवोत्पत्स्यन्त इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**सर्ववर्णाश्रमाणामिति** । चकारादवान्तरदेशादिधर्माः । अनेन वर्णाश्रमदेशव्यतिरिक्ता धर्माः पाषण्डा इति निरूपितम् । तेषामपाषण्डानामिदं दध्यौ । सत्यसंकल्पाद्धितं स्फुरतीत्यत आह—**अमोघदृगिति** ।१८।

**व्याख्यार्थ**—कर्म से ही भाग्योदय होता है 'कर्मणा हि भाग्यमुत्पद्यते' किन्तु कलियुग में, काल, कर्म, कर्त्ता आदि अशुद्ध ही रहते हैं अर्थात् द्वापर तथा कलियुग में, देश, काल, कर्त्ता, द्रव्य मंत्र तथा कर्म–ये छहों अशुद्ध दूषित होने के कारण, कर्म, असफल असिद्ध ही रहते हैं जिससे जीव दुर्भागी हो जाता है । इस प्रकार की परिस्थिति का ज्ञान, व्यास को अपने तर्क से नहीं हुआ किन्तु अपनी ऋषि सुलभ दृष्टि से आर्ष दृष्टि से यह सब कुछ जान लिया था और इसीलिए इन जीवों के कल्याणार्थ जिस जिस उपाय की आवश्यकता है उसका भी ज्ञान व्यास को हो गया । पाखंड धर्म स्वतः उत्पन्न होने लगेंगे अतः इनसे दूर रहते हुए सर्व वर्णों के आश्रमों के तथा देश काल आदि के धर्मों का हित किस तरह सम्पादित किया जाये इसका भी ध्यान व्यास ने किया । इससे यह निर्देश किया गया है–वर्ण आश्रम तथा देश कालादि धर्मों से अतिरिक्त अन्य सभी धर्म केवल पाखण्ड हैं । ये धर्म पाखण्ड रूप न बने इसका ध्यान व्यास ने किया । व्यास स्वयं सत्य संकल्प हैं अतः उनको प्राणी मात्र के हित तथा सत्य का विचार ही स्फुरित होता है–इसीका निर्देश यहां 'अमोघदृग्' पद से किया गया है ।।१८।।

**आभास**—यज्ञ एव सर्ववर्णाश्रमहितकर इत्याह—

**आभासार्थ**—यज्ञ ही प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम का हितसाधक है, इसका निरूपण करते हैं—

श्लोक—**चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।**
**व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ।।१९।।**

**श्लोकार्थ**—जिसमें चार होता है–ऐसा शुद्ध वैदिक कर्म प्रजाओं के लिए (उपयोगी) जानकर, यज्ञ के विस्तारार्थ, एक वेद को चार प्रकार का किया, चार प्रकार से विभक्त किया ।।१९।।

**सुबोधिनी—चातुर्होत्रमिति** । आर्षज्ञानत्वान्न युक्तिरपेक्ष्यते । युक्तिस्तु–आधिदैविकः कालो वा । '**स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसावि**" ति वाक्यात् । **भौतिककालकृतदोषदूरीकरणसमर्थः** । अथवा । कालनियामको विष्णुः । तदुभयात्मकत्वाद्यज्ञस्य । स च श्रौतो विष्णुः । प्रमाणान्तराच्च

वेदो बलिष्ठः। सर्ववेदैकवाक्यतां वक्तुं तस्य स्वरूपमाह—**चत्वारो होतारो यत्रेति**। ते गणनायका होतृशब्देनोच्यन्ते अध्वर्युप्रभृतयः। अथवा। दशहोता चतुर्होता पञ्चहोता षड्ढोता सप्तहोतेति चतुर्होतारः ते अग्निहोत्रादीनां मूलमिति। चातुर्होत्रमग्निहोत्रादिपञ्चकं यत्कर्म। कर्मेति नामधेयम्। तद्धि ससाधनं नित्यमिति कालास्पर्शाच्छुद्धम्। प्रकर्षेण जातानाम्। तत्र वेदः प्रमाणमित्याह— **वैदिकमिति**। तेषां यज्ञानां विस्तारार्थं वेदं चतुर्धा कृतवानित्याह—**व्यदधादिति**। अकृशरतया निरूपणाद् बुद्धिसौकर्येण यज्ञसन्ततिः। अभिन्नेष्वंशभेदव्यवस्थया वा ॥१९॥

**व्याख्यार्थ**—यहाँ शङ्का होती है कि कालकृत दोषों के रहते हुए, काल के अधीन जो यज्ञ हैं, वे किस प्रकार सबके लिए उपकारक हो सकते हैं? तो कहते हैं कि यज्ञादि का ज्ञान आर्ष ज्ञान है। इसलिए वहाँ युक्ति की अपेक्षा नहीं है। युक्ति तो आधिदैविक काल तथा भौतिक काल सुलभ दोषों को दूर करने के लिए है। आधिदैविक काल अथवा काल के नियामक भगवान् विष्णु भौतिक काल कृत दोषों को दूर करने में समर्थ है। 'वह काल विष्णुरूप और यज्ञरूप है—'स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ' इस तरह का कथन मिलता है। यज्ञ विष्णुरूप तथा कालरूप वेद से सिद्ध है। अन्य प्रमाणों की अपेक्षा वेद बलिष्ठ प्रमाण है—इसलिए सब वेदों की एक वाक्यता बताने के लिए यज्ञ के स्वरूप का निरूपण करते हैं कि, कर्म चातुर्होत्र है अर्थात् यज्ञ कर्म में चार 'होता' रहते हैं—अध्वर्यु, उद्गाता, होता तथा ब्रह्मा—ये चारों यज्ञ कर्म के गणनायक हैं तथा होता कहलाते हैं। चातुर्होत्र का इस तरह व्याख्यान करने से तो मात्र सोमयज्ञ का ही प्रतिपादन होगा, अग्नि होत्रादि का नहीं।' ऐसी शङ्का में इसका व्याख्यान दूसरी तरह से करते हैं—वैदिक कर्म में दस होता[1], चार होता, पाँच होता, छ होता तथा सात होता—ये पाँचों प्रकार के होता होम करने वाले, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम इन पाँचों ही यज्ञ कर्म के मूल हैं तथा ब्राह्मण भाग में इनका 'चातुर्होतृत्व' समझाया गया है। अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम ये पाँच कर्म 'चातुर्होत्र' माने जाते हैं। यह चातुर्होत्र कर्म वैदिक है, वेद प्रमाण से सिद्ध है नित्य है, शुद्ध है, क्योंकि ये काल से अस्पृष्ट है इनका काल का स्पर्श नहीं होता। शङ्का करते हैं कि कर्म, त्रिक्षणा व स्थायी होते हैं तो फिर वे नित्य कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं—ये कर्म कथन मात्र के लिए है, वास्तव में वे भगवत्स्वरूप हैं क्योंकि क्रिया में 'याग' प्रयोग भक्ति है। 'प्रजानाम्' जो प्रकर्षरूप से बारंबार उत्पन्न होते हैं, उनसे सम्बन्धित कर्म में, वेद प्रमाण है, इसलिए यहां कर्म को 'वैदिक' कहा है। इन यज्ञों के विस्तार के लिए व्यास ने वेद को चार प्रकार से विभक्त किया। व्यास ने यज्ञ का विस्तार इस तरह किया कि जिससे यज्ञ के प्रकरण का भेद सरलता से समझ में आ जाये तथा परस्पर में एक दूसरे में मिश्रण न हो जाये अर्थात् अंशभेद व्यवस्था द्वारा व्यास ने यज्ञ का विस्तार किया। वस्तुतः मूल वेद का स्वरूप तो एक ही है किन्तु लोकहितार्थ विस्तृत तथा विभक्त हुआ। शङ्का करते हैं कि, अग्निहोत्रादि पाँचों यज्ञों का जब वेद प्रतिपादन करता है तो फिर वेद के भी पाँच भेद होने चाहिये, चार ही कैसे? तो कहते हैं कि अग्निहोत्रादि पंचक अभिन्न हैं परन्तु आंशिक भेद से वह चार विभाग में विभक्त किया गया है ॥१९॥

---

१ 'चित्ति-स्रुक्' से लेकर 'सामाध्वर्युः' पर्यन्त दश होतृ मन्त्र हैं। 'पृथिवी होता' से 'रूप वक्ता' पर्यन्त चार होतृ मन्त्र हैं 'अग्निर्होता' से 'उपवक्ता' पर्यन्त पांच, 'सूर्यं वे चक्षुः' से 'शरीरैः' पर्यन्त तथा 'वाग्होता' से 'जुहोमि' तक इस तरह दोनों में षड् और 'महाहविः' से 'उद्गाता' तक सप्त होतृ मन्त्र हैं।

**आभास**—तान्भेदानाह—

**आभासार्थ**—उन वेदों के भेदों को कहते हैं—

श्लोक—**ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।**
**इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद–नामक चार वेदों का उद्धार किया और उनके अपेक्षित धर्म का प्रतिपादन करने वाले इतिहास पुराण को जो पञ्चम वेद कहलाता है, प्रकट किया ।।२०।।

**सुबोधिनी** - **ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या इति** । ऋग्वेदेन होता करोति । यजुर्वेदेनाऽध्वर्युः । सामवेदेनोद्गाता । चतुर्थेन ब्रह्मा । तत्तत्कर्मप्रतिपादकानां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च खण्डा उद्धृता वेदशब्दवाच्या जाताः । तेषामपेक्षितधर्मप्रतिपादकः पञ्चमो वेद इतिहासपुराणाख्यः ।।३०।।

**व्याख्यार्थ**—ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता तथा अथर्ववेद से ब्रह्मा कर्म करते हैं । उन-उन कर्मों के प्रतिपादक मन्त्रों का तथा ब्राह्मण भाग का जो खडशः विभाग हुआ वे ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद नाम से जाने गये तथा इसके अपेक्षित धर्मों का इनको सहाय करने वाले धर्मों का प्रतिपादन करने वाला इतिहास पुराण पाँचवा वेद कहा गया ।।२०।।

**आभास**—भिन्नेष्वंशप्रतिष्ठापनार्थमाह—

**आभासार्थ**—इस तरह विभक्त किये गये वेदों को किस किसने धारण किये ? इस विषय में कहते हैं—

श्लोक—**तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।**
**वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ।।२१।।**

**अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।**
**इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ।।२२।।**

**श्लोकार्थ**—इनमें ऋग्वेद धारण करने वाले पैलमुनि हुवे । सामवेद के गान करने वाले कवि जैमिनि थे और एक वैशंपायन ही यजुर्वेद में पारंगत हुए । अंगिराओं में दारुण सुमन्त मुनि अथर्ववेद के ज्ञाता हुये और मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास पुराण में निपुण हुये ।।२१–२२।।

**सुबोधिनी तत्रेति** । अत्र तु क्रमो मन्त्राणामिति न विरोधः । पैलादयः ऋषयः । **सुमन्तुर्दारुण इति** । आभिचारिकबाहुल्यादिति केचित् । वस्तुतस्तु स्वाभाविकदुष्टत्वादग्ने यज्ञेषु तस्याऽप्रवेश इति । तथापि पाठने हेतुः—**मुनिरिति** । इतिहासपुराणानां सर्वाधिकाराय रोमहर्षण उक्तः ।।२१।।२२।।

**व्याख्यार्थ**—शङ्का करते हैं कि चोदना लक्षण धर्म है अर्थात् जिसमें विधि सम्बन्ध हो उसे धर्म कहते हैं । यजुर्वेद में धर्म का प्रतिपादन है अतः उपर्युक्त श्लोक में प्रथम यजुर्वेद क्यों नहीं लिया गया ? पूर्व श्लोक में दिया गया क्रम इस प्रकार है–यथा ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद । प्रस्तुत श्लोक में इससे भिन्न दिया है–यथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद । अतः विरोध आता है । इसका समाधान यह है कि "आदित्यो वा एषतन्मंडलम्" इसके अनुसार यहां ऋक् साम-यजुः इसी क्रम को अपनाया है अतः कोई विरोध नहीं आता । श्लोक में कहे गये पैल आदि ऋषि हैं–इन्होंने श्लोकोक्त क्रम से वेदों को धारण किये । अथर्ववेद में आभिचारिक मारण प्रयोगों का बाहुल्य हैं इसलिए इस वेद में निष्णात सुमन्तु ऋषि को दारुण भयंकर कहा है यह मत अमुकटीकाकारों का है । वस्तुतः इन मारण प्रयोगों के उद्भावक सुमन्तु स्वभाव से ही परम दुष्ट थे इसीलिए इनको यहां 'दारुण' कहा गया है और इसी हेतु से कालान्तर में इनका यज्ञों में प्रवेश रोक दिया गया । फिर भी वे मुनि थे इसीलिए इनको वेद का अध्ययन कराया गया था और इसीलिए यहां मुनिरूप से इनकी गणना की गई है । इतिहास पुराण इस पंचम वेद में सर्व प्राणी मात्र का अधिकार है–यह सूचित करने के लिए इस वेद का अध्ययन, मेरे पिता रोमहर्षण को कराया गया था तथा सर्व प्राणियों के रोम-रोम को भगवद्भक्ति भाव से हर्षान्वित कराने के कारण यथा नाम तथा गुणपूर्ण आचार्य हुये ।।२१। २२।।

**आभास**—तैः पञ्चभिरपि स्वांशः खण्डशो बहुधा व्यस्त इत्याह—

**आभासार्थ**—इन पांचों ऋषियों ने अपने-अपने वेद को खंडशः पृथक्-पृथक् बहुत प्रकार से विस्तृत किया–यही कहते हैं—

श्लोक—**त एनमृषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।**
**शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ।।२३।।**

**श्लोकार्थ**—उन पैलादि ऋषियों ने अपने-अपने वेद का शिष्य-प्रशिष्य तथा उनके शिष्यों द्वारा अनेक शाखाओं के रूप में विस्तार किया अतएव वे वेद शाखाओं वाले हुए ।।२३।।

**सुबोधिनी—त एनमिति** । ऋषित्वात्खण्डशो व्यासे न दोषः । शाखानां शाखित्वम् ।।२३।।

**व्याख्यार्थ**—उन ऋषियों ने अपने-अपने वेद को अनेक प्रकार से विभक्त अथवा विस्तृत किया । तदनन्तर, उनके शिष्य, प्रशिष्य तथा उनके भी शिष्यों ने वेदों का अनेकों शाखाओं के रूप में विस्तार किया । ये सब ऋषि थे अतः वेदों का विभाग करने पर भी दोषी नहीं हुये ।।२३।।

**आभास**—बहुधा व्यस्ताप्ययेका शाखा धारणेऽशक्या जातेत्याह—

**आभासार्थ**—बहुत प्रकार मे विभक्त की गई शाखाओं में से एक भी शाखा धारण नहीं की जा सकती इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।**
**एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**—बुद्धि रहित पुरुष यथावत् अर्थ ज्ञान से रहित होते हुए भी इन्हीं वेदों को धारण कर सकें इस विचार से कृपणवत्सल व्यासजी ने उनकी शाखा विभाग से व्यवस्था कर दी ।।२४।।

**सुबोधिनी**—**त एवेति** । दुर्मेधैर्बुद्धिरहितैरपि यथा यथावदर्थज्ञानाभावेऽपि लक्षणैः समानादिभिर्बहुकालाभ्यासेन कथञ्चिद्धार्यन्त इत्यर्थः । अवान्तरमुपसंहरति—**एवमिति** । मूर्खसधारणपर्यन्तमेवं कृतवान् । तत्र हेतुः—**भगवानिति** । भगवतस्तथैवेच्छा यन्मूर्खपर्यवसानं भविष्यतीति । तर्हि न कर्तव्यं स्यात् । अव्रतानर्थज्ञधारणे वेदानां निर्वीर्यत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—**व्यास इति** । व्यासत्वात्कृतवानित्यर्थः । तथाऽपि महतोऽधिकारिणोऽपि नाऽन्यथा करणमुचितमित्यत आह—**कृपणवत्सल इति** । अपहतपाप्मत्वात्स्वाध्यायस्य तावन्मात्रेणाऽपि कृतार्थता भविष्यतीति प्रजासु दयया कृतवानित्यर्थः ।।२४।।

**व्याख्यार्थ**—(श्री व्यास ने वेदों के शाखा विभाग द्वारा उनको इतना सुगम बना दिया कि मन्द बुद्धि वाले भी उनका संधारण कर सकें) वेदों के यथा योग्य अर्थ ज्ञान के अभाव में भी सामान्य पुरुष भी प्रतिशाख्य में कहे गये । समानादिक लक्षणों की सहायता से दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा आज भी जो वेदार्थ को समझ सकते हैं, वह भी केवल वेदव्यासकृत शाखा विभाग के कारण से ही वेदव्यास भगवान् के ज्ञानावतार हैं इसलिए "मूर्ख व्यक्ति पर्यन्त भी वेद का संधारण किया जा सके" ऐसी भगवान् की इच्छा को वे जानते थे । तो फिर व्यासजो को ऐसा कार्य करना ही नहीं चाहिये था, क्योंकि कोई नियम नहीं रखने वाले तथा वेदार्थ को नहीं जानने वाले यदि वेद को धारण करने लगेंगे तो वेद निर्वीर्य बन जायेंगे । इस पर कहते हैं कि व्यासजो महान् अधिकारो थे इसलिए उन्होंने ऐसा किया । यदि यह कहा जाये कि महान् अधिकारी होते हुए भी, उनके लिए अन्यथा करना उचित नहीं था तो इसका उत्तर यह है कि व्यासजी कृपण वत्सल हैं अर्थात् व्यासजी ने यह सोचा कि वेद का स्वाध्याय सर्वथा निष्पाप है । अतः मंद बुद्धि वाले केवल स्वाध्याय से भी कृतार्थ हो जायगे इसीलिए प्रजा पर दयापूर्वक वेदों का विभाजन कर दिया ।।२४।।

**आभास**—अन्येषामुपायमाह—

**आभासार्थ** स्त्री, शूद्र आदि के उद्धार का उपाय कहते हैं—

श्लोक— **स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरः ।**
**कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।**
**इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ।।२५।।**

**श्लोकार्थ** – स्त्री. शूद्र तथा द्विज-बन्धुओं को वेद श्रवण करने का अधिकार नहीं है । वैदिक-कर्म से सिद्ध किये जाने वाले कल्याण मार्ग के साधनों से ये लोग अनभिज्ञ तथा कर्म श्रेयस् के विषय में मूढ हैं अर्थात् यज्ञादि कर्म से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल से ये लोग वंचित रहेंगे इसलिए उनके कल्याणार्थ व्यासजी ने कृपा करके महाभारत प्रकट किया जिससे वे भी धर्मादि के तत्व ज्ञान पूर्वक उच्च फल प्राप्त कर सकें ।।२५।।

**सुबोधिनी** – **स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनामिति** । यज्ञद्वारा हि वेदे स्त्रीणामुपयोगः । अवीरवतीनां तु तदभावात्त्रैवर्णिकस्त्रीणामपि वेदश्रवणनिषेधः । शूद्राः स्वतन्त्रा न तु सेवकाः । त्रैवर्णिकयाज्ञिक-सेवकानां तदन्नभक्षणेन वेदार्थोपयोगिनामापाततो वेदश्रवणस्याऽऽवश्यकत्वात् । द्विजबन्धवः कुण्ड-गोलकाः संस्काररहिताश्च । तेषामपि श्रुतिश्रवणे नाऽधिकारः । गोचरशब्दस्तु नियतपुंल्लिङ्गः । केचन **गोचरेति**च्छान्दसत्वात्पठन्ति । कमश्रेयसि कर्मसाध्ये श्रेयसि पुत्रस्वर्गादौ । मूढानां साधनज्ञान-रहितानाम् । एवं मनसि विचारितेन प्रकारेण । इह अस्मिन्नेवाऽर्थे । यद्यपि अलौकिकप्रकारेण वेद-साध्यं फलमप्यलौकिकं तथापि नाऽन्येन तत्सिद्धिः । अथाऽप्यर्धलौकिकन्यायेन भट्टेष्विव पुराणेऽ-प्यलौकिकन्यायेन वा भारतादिना कार्यं सेत्स्यतीति भावः । एवमभिप्रेत्य यत्कृतवांस्तदाह – **इति भारतमिति** भरतवंशोत्पन्नानां सम्बन्धि भारतम् । **आख्यानमिति** वचनान्न केवलं ग्रन्थनाम । किं त्वन्यार्थम् । तेन भारतश्रवणान्मायामोहाभावाद्धर्मादीनां तत्त्वावगतिः सुगमेति मननादवगत्य परदुःखप्रहाणेच्छया कृतमित्यर्थः ।।२५।।

**व्याख्यार्थ**—यज्ञ द्वारा ही वेद में स्त्रियों का उपयोग होता है अर्थात् पत्नी के साथ यज्ञ किया जाता है इसलिए यज्ञ में स्त्रियों का उपयोग–यज्ञ में इस उपयोग के कारण उनको वेद श्रवण का अधिकार है । जो पति पुत्रादि रहित हैं उनका यज्ञ में उपयोग न होने से त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) की स्त्रियों को भी वेद श्रवण का निषेध है । क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ यज्ञ में नहीं बैठ सकती । श्लोक में स्त्री पद, पति, पुत्रादि से रहित के लिए प्रयुक्त हुआ है । शूद्र पद से, यज्ञ में काम नहीं आने वाले, शूद्र लिये गये हैं । त्रैवर्णिकों में जो याज्ञिक हैं, उनके शूद्र-सेवक, उनका अन्न खाने से यज्ञ में उपयोगी हैं अतः उनको आपाततः वेद श्रवण हो जाता है । श्लोकस्थ "द्विजबन्धूनां" से कुण्डगोलक तथा संस्कार रहित व्यक्ति लिये गये हैं । पति रहते हुए, जार से पैदा होने वाली संतान कुण्ड कहलाती है तथा पति की मृत्यु के पीछे, जार से उत्पन्न संतान गोलक है । उनको वेद श्रवण का अधिकार नहीं है । गोचर शब्द नित्य पुल्लिङ्ग है, इसलिए यहां त्रयी का विशेषण होते हुए भी पुल्लिङ्ग ही है । कोई-कोई 'श्रुतिगोचरा' यह पाठ रखते हैं ऐसी स्थिति में पुल्लिङ्ग होते हुए भी 'गोचरा' शब्द को छान्दस् प्रयोग मानकर समाधान करते हैं । 'कर्म श्रेयसि मूढानाम्' का अर्थ यह है कि यज्ञादि कर्म के श्रेयरूप जो पुत्र स्वर्गादि हैं उनके साधनों से अनभिज्ञ व्यक्ति का श्रेय अन्य

प्रकार से सम्भव नहीं है अतः ऐसे व्यक्तियों के कल्याणार्थ व्यासजी ने महाभारत इतिहास की रचना की।

श्लोकस्थ 'इह' पद का सुबोधिनी में 'अस्मिन्नेवार्थे' यह अर्थ किया है इसका तात्पर्य है यह कि जिनको वेदत्रयी सुनने का अधिकार नहीं है उनके कल्याणार्थ व्यासजी ने भारत की रचना की अन्य से यह फल नहीं मिल सकता। इसमें यह शङ्का होती है कि अलौकिक प्रकार से वेद साध्य फल भी अलौकिक है तो यह फल 'भारत' से कैसे मिल सकता है? इसका समाधान यह है कि मट्टों के मत में जैसे लौकिक क्रिया रूप यज्ञ का 'अपूर्व अदृष्टरूप' अलौकिक फल माना जाता है। वैसे ही पुराण एवं भारत में सभी का अधिकार होने से वे लौकिक हैं किन्तु वेदों के व्याख्यान रूप होने से अलौकिक भी हैं। इस तरह भारतादि ग्रन्थों में लौकिकता एवं अलौकिकता दोनों होने से इनमें अर्थ लौकिकता ही माननी पड़ेगी जिससे सभी का कल्याण हो सकता है। इस अभिप्राय से व्यासजी ने जो किया उसी को कहते हैं 'इति भारतमाख्यानम्' भरत वंश में उत्पन्न राजाओं का जिसमें वृतांत हो वह भारत है। इसमें जो आख्यानम्' पद है उससे यह अभिप्राय है कि 'भारत' यह केवल ग्रन्थ नाम ही नहीं है, किन्तु उक्त विशेष अर्थ को भी कहते हैं। भरत वंश के राजाओं का वृतांत सुनने से मायामोह नहीं हो सकता क्योंकि "दौज्यन्निरत्यागान्मायाम्" अर्थात् भरत ने माया का अतिक्रमण कर लिया था इसलिये इसके आख्यान सुनने वालों को माया मोह न होने से धर्म की अलौकिकता का ज्ञान सुगम हो जायेगा इसी तथ्य को मननपूर्वक विचारकर, दूसरों के दुखों को मिटाने की इच्छा से ही व्यासजी ने 'भारत' की रचना की।२५।।

**श्लोक—एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः।**
**सर्वात्मकेनाऽपि यदा नाऽतुष्यद्धृदयं ततः ।।२६।।**
**नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ।**
**वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ।।२७।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्राह्मणों! इस प्रकार सर्वदा परोपकार रूप धर्म करते हुए भी जब उनका अन्तःकरण अत्यन्त सन्तुष्ट नहीं हुआ तो सरस्वती नदी के पवित्र तट पर एकान्त में निर्णय करते हुए धर्मज्ञ व्यासजी मन ही मन में इस प्रकार कहने लगे ।।२६।।२७।।

**सुबोधिनी**—एवं व्यासस्य परोपकारलक्षणो धर्मो महान्वेदव्यासे सिद्धः। धर्मस्य चाऽन्तःकरणपरितोषः फलम्। तदभावे धर्मः श्रम इति पूर्वमुक्तम्। अत्र दुःखहेतुरिति वक्तुं पूर्वोक्तस्मरणार्थं **द्विजा** इति सम्बोधनम्। अधीतावधारणं हि द्विजधर्मः। किञ्च। केवलधर्मस्य व्यभिचारेऽपि ज्ञानसहितस्य न तथात्वम्। इह तु तादृशोऽपि नाऽन्तःकरणसुखजनको जात इत्याह-**सर्वात्मकेनाऽपीति।** सर्वत्र आत्मा येन तत्सर्वात्मकं ज्ञानम्। अथवा दयावदन्ये प्रकाराः सर्वे कृताः। सर्वप्रकारेणाऽपि धर्मेणेत्यर्थः। अधिकारित्वात्फलाभावो जात इत्याह—**ततो नातिप्रसीदद्धृदय इति।** धर्मात्स्वस्याऽपि फलाभावे कथमन्यस्य भविष्यतीति सर्वनाशादप्रसादः। भगवदिच्छा काचिदन्यथा वर्त्तत इति

ज्ञानावतारत्वेन ज्ञात्वा किञ्चित्प्रसीदद्धृदयो जातो न त्वत्यन्तं प्रसीदद्धृदय इति । पूर्ववज्ज्ञानोदयो भविष्यतीति सरस्वत्यास्तट इत्युक्तम् । **शुचाविति** पापसम्बन्धाभाव उक्तः । एवं शुद्धदेशे स्वार्थ चिन्तायां तर्केण कश्चिन्निर्धार उत्पन्न इत्याह – **वितर्कयन्निति** । विविक्तस्थ एकान्तस्थः । महाधिकारित्वात् । इदं वक्ष्यमाणम् । **धर्मवित्** । धर्मस्याऽव्यभिचारि साधनत्वं जानातीत्यर्थः ।।२६।।२७।।

**व्याख्यार्थ**—इस प्रकार श्री व्यास का परोपकार रूप महान् धर्म वेद के व्याख्यान रूप भारत की रचना से सिद्ध हो गया । धर्म का फल अन्तःकरण परितोष है । सन्तोष रूप फल के अभाव में धर्म केवल श्रमरूप है यह पहिले कह चुके हैं । "ऐसा धर्म दुःख का कारण है" यही कहने के लिए 'श्रम एव हि केवलम्' इस पूर्वोक्त कथन की स्मृति कराते हुये श्लोक में 'द्विजाः' इस सम्बोधन का प्रयोग किया गया है । अधीत पढ हुए को स्मरण रखना द्विज धर्म है । आप लोग द्विज हैं इसलिए 'श्रम एव हि केवलम्' यह हमारा पूर्वोक्त कथन आपको अवश्य याद सुख देता होगा । ज्ञान रहित धर्म, भले ही अन्तःकरण को सुख देने वाला न हो किन्तु ज्ञान सहित धर्म तो ही है । यहां सर्वात्मकेनापि' 'सर्वत्र आत्मा है' इस प्रकार का आत्म ज्ञान होते हुए भी व्यासजी के अन्तःकरण को परितोष नहीं हुआ यह आश्चर्य की बात है । इस तरह ज्ञानयुक्त अथवा दयायुक्त प्रत्येक प्रकार के धर्मानुष्ठान से भी व्यासजी का अन्त करण प्रसन्न नहीं हुआ । जो जिस कार्य पर नियुक्त किया गया है, उसे उस कार्य के पूरा होने पर सन्तोष मिलना चाहिये । किन्तु सन्तोष नहीं मिला । अतः वह कार्य निष्फल ही रहा । व्यासजी ने सोचा कि इस प्रकार के धर्म के निरूपण से जब मुझे भी फल नहीं मिला तो दूसरे को कैसे मिल सकेगा ? ऐसी स्थिति में मेरा परिश्रम व्यर्थ हुआ"–यह विचार होने से उनके मन में अप्रसन्नता रही । व्यासजी भगवान् के ज्ञानावतार हैं । अतः उन्होंने जान लिया कि भगवान् की इच्छा कुछ और ही कार्य कराने की है इससे उनको आश्वासन अवश्य हुआ किन्तु पूर्णरूपेण नहीं हुआ । पूर्वोक्त ज्ञानोदय के समान ही मुझे फिर ज्ञान होगा इस निश्चय से व्यासजी सरस्वती के तट पर आसीन हो गये । सरस्वती का तट पवित्र है अतः यहां पाप का सम्बन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार पवित्र तट पर बैठकर अपने लिए चिन्ता करने लगे तब तर्क करने से वह कुछ निर्णय पर आये । व्यासजी एकान्त में बैठ गये जिससे धर्मादिक के विषय में जानने की इच्छा वालों की भीड़ वहां इकट्ठी न हो तथा जिससे चित्त में व्यग्रता न हो–इस बात को उन्होंने महाधिकारी होने के नाते बराबर जान ली थी । श्लोकस्थ 'इदम्' द्वारा अग्रिम निरूपित किये जाने वाले प्रसङ्ग का निर्देश किया गया है । "धर्मवित्" का अर्थ है कि–'व्यासजी धर्म के मुख्य साधन को जानते हैं" ।।२६-२७।।

**आभास**—तत्र प्रथमं धर्ममाह **धृतव्रतेनेति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—प्रथम, व्यासजी द्वारा अनुष्ठित धर्म का विचार 'धृतव्रतेन' आदि द श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।**

**मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चाऽनुशासनम् ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**—मैंने ब्रह्मचर्यादि व्रत को धारण करके, वेद, गुरु तथा अग्नि का निष्कपट भाव से सम्मान किया है और उनका अनुशासन माना है अर्थात् शिष्यों को पढ़ाने का धर्म भी मैंने किया है ।।२८।।

**सुबोधिनी**—ब्रह्मचर्यव्रतानि वेदव्रतानि च धृतानि येन । छन्दांसि वेदाः । तेषां सन्माननं तदुक्तार्थस्य ज्ञात्वाऽनुष्ठानम् । गुरवोऽपि प्रसादिताः । अग्नयः सुहुताः । एतदेव सन्माननम् । व्यलीकं कपटम् । ईश्वरवल्लोकप्रवर्तनार्थं पाषण्डिवद्वञ्चनार्थं वा । अनुशासनमध्यापनम् ।।२८।।

**व्याख्यार्थ**—ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का और वेदोक्त नियमों का मैंने पालन किया तथा वेद, गुरु और अग्नि इनका सम्मान किया । वेदों में कहे गये अर्थ को जानकर मैंने उनका पालन किया, उनका पालन करना ही उनका सम्मान है । गुरुजनों को भी मैंने प्रसन्न किये । उनको प्रसन्न करना ही उनका सम्मान है । अग्नियों में यथोचित आहुतियां दी—यही अग्नि का सम्मान है । ईश्वर के समान, स्वयं के निर्धारित मार्ग में ही लोगों की प्रवृत्ति कराने के लिए अथवा पाखण्डी पुरुषों की तरह लोगों की वंचना करने के लिए, मैंने इन धर्मों का आचरण नहीं किया, किन्तु शुद्ध निष्कपट भाव से इन धर्मों का आचरण किया है ।।२८।।

**आभास**—भारतकरणं च धर्मार्थमेवेत्याह—

**आभासार्थ**—व्यासजी ने महाभारत की रचना, धर्म के लिए ही की है—यही बात कहते हैं—

श्लोक—**भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।**
**दृश्यते यत्र धर्मादिः स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ।।२९।।**

**श्लोकार्थ**—भारत-रचना के मिष से, वेद के अर्थ का प्रकाश लोक में फैलाया है (यह भारत यद्यपि 'इतिहास' माना जाता है, किन्तु इसमें वस्तुतः वेद के अर्थ का प्रतिपादन है) स्त्री, शूद्र आदि भी, इस 'भारत' के माध्यम से सुगमतापूर्वक धर्मादि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।।२७।।

**सुबोधिनी**—**भारतव्यपदेशेनेति** । वस्तुतः कल्पसूत्रवद्वेदार्थप्रतिपादक एव । इतिहासवाचक शब्दकरणं तु व्याजमात्रम् । तदाह । भारतेति व्यपदेशमात्रम् । अन्यथा शूद्रादीनामधिकारो न स्यादिति हिशब्दार्थः । आम्नाये दृष्टान्तार्थमुक्तो धर्मो लौकिकोऽत्र प्रत्युक्तः । न तु यज्ञादि । **"धन्वन्निव प्रपा असी"** त्यादौ यथा । अत एव वेदे प्रतिपादितो धर्मो न शूद्रादिभिर्ज्ञातुं शक्यः । अत्र तु शक्य इत्याह—**दृश्यत इति** । उपदेशव्यतिरेकेणाऽपि ज्ञायत इत्यथः ।।२६।।

**व्याख्यार्थ**—वस्तुतः भारताख्यान कल्पसूत्रों की तरह वेदार्थ का ही प्रतिपादन करता है फिर भी इस 'भारत' को इतिहास की ही जो संज्ञा जो दी गई है वह मिष व्याज मात्र है । यदि ऐसा न किया जाये और 'भारत' को साक्षात् वेद की संज्ञा प्रदान की जाये तो जो जैसे वेदादि में स्त्री, शूद्रों का अधिकार नहीं माना जाता वैसे ही 'भारत' में भी स्त्री, शूद्रों का अधिकार नहीं रहता ।

इसीलिए भारत को व्यासजी ने इतिहास के रूप में प्रकट किया है । वेद में प्रतिपादित धर्म, स्त्री, शूद्र आदि नहीं समझ सकते। किन्तु इस भारत में जिस वेदार्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसे तो स्त्री, शूद्र आदि भी उपदेश के बिना ही सहज समझ सकते हैं । वेदार्थ का प्रतिपादन होने से भारत में अलौकिकता है और लौकिक धर्म का प्रतिपादन होने से लौकिकता है। इस तरह भारत में निरूपित धर्म, अर्ध अलौकिक है ॥२६॥

**आभास**—एवं धर्मान्निरूप्य तेषां फलव्यभिचारमाह—

**आभासार्थ**—इस तरह धर्मों का निरूपण करने पर भी धर्म का जो फल होना चाहिये, वह नहीं हुआ, यही कहते हैं कि—

श्लोक—**अथाऽपि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवाऽऽत्मना विभुः ।**
**असम्पन्न इवाऽऽभाति ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः ॥३०॥**

**श्लोकार्थ**—इस तरह धर्म का अनुष्ठान करने पर भी मेरी आत्मा देहाभिमान से मुक्त नहीं हुई । अतः मेरी आत्मा, सर्वसमर्थ ब्रह्मतेज से सम्पन्न होती हुई भी मानो असम्पन्न सी, असम्पूर्ण सी न हो, ऐसी अत्यन्त असत् प्रतीत होती है ॥३०॥

**सुबोधिनी**—**अथाऽपीति** । धर्मकरणे प्रयासस्मरणात्— **बतेति** । आत्मनामुपाधिभेदाद्भेदं मन्यते । ब्राह्मणदेह एव आत्मनो ब्राह्मणोऽहमिति बुद्धिः । न देहान्तरे । मानसश्च योगी भवति । अन्नमयत्वात् । नैयायिकवद्वा मानसो भेदः । अध्यासेन वा भेदः । अग्निवत्संक्रमणेन वा । तदाह । दैह्यो ह्यात्मा । तेनैव देहाभिमानिना न सन्तुष्यति । चकारान्मानसश्च । यथा देहाभिमानी दैहिकान्विषयान्प्राप्य तुष्यति तथाऽन्तःकरणाभिमानी तद्विषयान् । तत्र विषयाभावं निवारयति— **विभुरिति** । सर्वसमर्थोऽयमात्मा । **असम्पन्न इव** । प्राप्याऽपि सर्वविषयानसम्पन्नः । **इवेति** कदाचित्कदाचित्तथा स्फुरणात् । स्वस्मिन्विरुद्धधर्मविभासमाह—**ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तम इति** । वस्तुतो ब्रह्मवर्चस्वी । प्रतीतिरसत्तम इति । पाठान्तरे तु ब्रह्मवर्चस्येन सत्तमः । ब्राह्मणानां हि ब्रह्मवर्चस्यमेव फलम् । तत्सम्पत्तावप्यसम्पन्न एवेति वा विरोधः ॥३०॥

**व्याख्यार्थ**—धर्म के आचरण से तो केवल श्रम ही हुआ—इस तरह स्मरण होने से व्यासजी पश्चात्ताप करते हैं—इसी का निर्देश 'बत' शब्द से किया गया है । ब्राह्मण देह में ही 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसी बुद्धि 'आत्मा' के प्रति होती है किन्तु अन्य के देह में ऐसी बुद्धि नहीं होती । सत्त्व शुद्धि होने पर ही कैवल्य की स्फूर्ति होती है । सत्त्व शुद्धि के अभाव में ही देहादि को उपाधि का लेकर आत्माओं का भेद माना जाता है, इसीलिए व्यासजी ने 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा, इससे यह सिद्ध होता है कि उनका 'सर्वात्म भाव' तिरोहित हो गया है-तदनुसार उन्हें आत्म प्रसाद रूप फल की प्राप्ति नहीं हुई । यहाँ शङ्का करते हैं कि देह को आत्मा मानने पर 'देह्य आत्मा' की 'देहात्मा' की स्फूर्ति होनी चाहिये, किन्तु व्यासजी तो योगी हैं । अतः उनमें 'देहात्मा' की स्फूर्ति का अभाव है, फिर भी उनको इस प्रकार की देहात्मा की (मे देह्योह्यात्मा) स्फूर्ति क्यों हुई ? इसका समाधान

यह है कि योगी का मन से विशेष सम्बन्ध रहता है। अतः उनके भी यहां अर्थात् योगियों के मतानुसार भी पुरुष भेद आत्मा का भेद स्वीकार किया गया है और इसीसे व्यासजी को योगी होते हुए भी सर्वात्म भाव नहीं हुआ। श्रौत विचार के अनुसार देखा जाय तो मन अन्नांश है मानव जैसा अन्न खाता है वैसा मन होता है। अतः अन्नांश के भेद से मन का भेद माना गया है। नैयायिक मत में, आत्मा से भिन्न एवं अनेक मन माने गये हैं अतः मन को उपाधि को लेकर आत्मा का भेद माना गया है इसलिए 'देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। अर्थात् देहाभिमानी आत्मा, मनोभिमानी आत्मा भिन्न भिन्न हैं इसलिए 'देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। अथवा देहाध्यास वाला आत्मा भिन्न है और अध्यास रहित आत्मा भिन्न है। अथवा अयोगोलक में जैसे अग्नि का संक्रमण होता है उसी तरह आत्मा जिस जिस वृत्ति को स्वीकार करती है, उस उस वृत्ति के भेद से यहां 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है अर्थात् अयोगोलक में अग्नि की तरह देह में आत्मा का संक्रमण होता है तो उस उस वृत्ति के भेद से उस उस आत्मा का भेद माना जाने के कारण 'मे देह्य आत्मा' ऐसा कहा गया है। वही देहाभिमानी आत्मा देहाभिमानी से अपने से सन्तुष्ट नहीं होता। इसी प्रकार इसी तरह योगी का मानस आत्मा मनोभिमानी आत्मा से सन्तुष्ट नहीं होता। जिस प्रकार देहाभिमानी देह के विषयों को प्राप्त कर सन्तुष्ट होता है वैसे ही अन्तःकरणाभिमानी मनोभिमानी अपने विषयों को प्राप्ति से सन्तुष्ट होता है। आत्मा सर्व समर्थ है–इसलिए उसे विषय प्राप्त हैं तथापि समस्त विषयों को प्राप्त करके भी, मानो विषयों को प्राप्त नहीं किये हों, इस तरह असम्पन्न की तरह प्रतीत होता है–इसी का निर्देश 'इव' पद से किया गया है। इस संधान रूप आत्मा में विरुद्ध धर्मों का अवभास हो, इसका निर्देश ब्रह्मवर्चस्व्यसत्तमः' से किया गया है अर्थात् यह आत्मा वास्तव में ब्रह्मवर्चस्वी है। अर्थात् वेदों के अध्ययन अध्यापन सुलभ ब्रह्मतेज से मेरी आत्मा सम्पूर्ण है तथापि इसमें अत्यन्त न्यूनता असत्तमता प्रतीत हो रही है। अथवा 'ब्रह्मवर्चस्येन सत्तम.' ऐसा पाठान्तर लें तो उसका तात्पर्य होगा–"ब्रह्मतेज के कारण अत्युत्तम होते हुये भी, यह आत्मा मानो असम्पूर्ण है" ऐसी प्रतीति होती है। वस्तुतः वैदिक बल से ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती ही है और यही ब्राह्मणों के लिए एकान्त फल है, परन्तु इस प्रकार के ब्रह्मतेज से समृद्ध होते हुये भी आत्मा मानो दरिद्र सी भासित हो रही है–यह उचित नहीं, यहाँ व्यासजी का यही आशय दिखाई देता है ।।३०।।

**आभास**—कार्ये सति कारणस्याऽऽवश्यकत्वात्कारणजिज्ञासायां योगजधर्मेण स्फुरितं कारणमाह—

**आभासार्थ**—व्यासजी के इस असन्तोष रूप कार्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका कोई कारण अवश्य है–तदनुसार, इस कारण विचार के अनुसार योगज धर्म से जो कारण स्फुरित हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः ।**
**प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ।।३१।।**

**श्लोकार्थ**—अथवा तो क्या मैंने भगवत्सम्बन्धी भागवत धर्म का निरूपण नहीं किया ? ये भागवत धर्म ही परमहंस महात्माओं को प्रिय होते हैं, क्योंकि ये भागवत

धर्म ही भगवान् से साक्षात्कार को सिद्ध कर देते हैं। वस्तुतः **ये** भागवत् धर्म ही श्री भगवान् को प्रिय होते हैं ।।३१।।

**सुबोधिनी—किं वेति** । भागवताः प्रमाणतः साधनतः फलतश्च भगवत्सम्बन्धिनः । ते अनुष्ठिता अपि न निरूपिताः । अधिकारो हि निरूपणे । सर्वे धर्मा निरूपिताः सर्वेषां न परमहंसानाम् । यद्यपि तुर्याश्रमधर्मा निरूपिता अवधूतधर्मांश्च । तथाऽपि ते न तेषां प्रियाः । क्लेशभूयंल्पसारत्वात् । नन्वानुशासनिके तेऽपि निरूपिताः ? तत आह— **प्रायेणेति** । भागवता धर्मास्तु स्वतन्त्राः । ते ह्यन्यशेषेण निरूपिता न निरूपिता एव । आनुशासनिके हि कालादिशेषत्वेन निरूपिताः । परमस्य हंसाः परमहंसाः । परमाश्च ते हंसाश्चेत्यत्राऽपि परमत्वं भगवदीयत्वेनैव परमहंसत्वसाधका एवाऽन्ये धर्माः । सिद्धे पुनः परमहंसत्वे भगवद्धर्मा एव प्रियाः । परमात्मत्वाद्भगवतः । गङ्गादर्शनानन्तरं यथा गङ्गादेवतादिदृक्षा । तथाऽऽत्मज्ञानानन्तरं परमात्मदिदृक्षा सा धर्मैरेव सम्पद्यते । ननु तथापि कोऽयमत्याग्रहस्तत्राऽऽह—**त एव ह्यच्युतप्रिया इति** । त **एव** धर्मा एव हीत्यात्मपर्यवसानात् । यदि ते परमहंसास्तदा पारम्पर्याद्गौणता । भगवतो भगवदीयानां च प्रिया इत्यर्थ ।३१।।

**व्याख्यार्थ**—भागवत-धर्म प्रमाण से, साधन से तथा फल से भगवत्सम्बन्धी है। इसका मैंने पालन तो किया किन्तु निरूपण नहीं किया। मेरा अधिकार निरूपण करने का है। मैंने सभी के सर्व धर्मों का निरूपण किया किन्तु भक्तों के, परमहंसों के धर्मों का निरूपण नहीं किया। यद्यपि मैंने सन्यासाश्रम का तथा अवधूत धर्मों का निरूपण किया, परन्तु ये धर्म परमहंसों को प्रिय नहीं है, क्योंकि इनके आचरण में क्लेश अधिक है और सार अल्प है। शंका करते हैं कि अनुशासन पर्व में तो भागवत धर्मों का निरूपण किया है तो निरूपण नहीं किया यह कैसे कहते हो? इसके समाधान में कथन है कि 'न प्रायेण' प्रायः करके निरूपण नहीं किया। अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म स्वतन्त्र है, उनका यदि अङ्गरूप से वर्णन किया जाये तो वे निरूपित न किये गये जैसे ही है। अनुशासनिक पर्व में भगवत् धर्मों का निरूपण कालादि के अङ्गरूप में है स्वतन्त्र रूप में नहीं है। मैंने इनका मुख्य रूप से वर्णन नहीं किया इसलिए असंतोष है। परमहंस पद से यहाँ भगवद्भक्त लिये गये हैं क्योंकि परमहस का विग्रह 'परमस्य हंसाः' 'परमाश्च ते हंसाः' ऐसा है। परम जो भगवान् उनके भक्त अथवा श्रेष्ठ जो भक्त। दूसरे विग्रह में जो श्रेष्ठता बताई गई है वह भगवदीय होने से है। अन्य जितने भी धर्म हैं वे भगवदीय बनाने के लिए ही है, भगवदीय हो जाने पर तो भगवत् धम ही प्रिय होते हैं क्योंकि भगवान् परम आत्मा है। आत्मा ही सर्वतोधिक प्रिय होती है। गङ्गादर्शन के अनन्तर जैसे उसके देवता के दर्शन की इच्छा होती है, उसी तरह आत्म ज्ञान होने पर परमात्मा के दर्शन की इच्छा होती है। परमात्मा के दर्शन की इच्छा भगवद्धर्मों से ही होती है। प्रश्न करते हैं कि आपको भगवदीय धर्मों के निरूपण करने का अत्यन्त आग्रह क्यों है? तो कहते हैं कि 'त एव ह्यच्युत प्रियाः' यहाँ 'तत्' पद से भगवत्सम्बन्धी धर्म ग्रहण किया गया है। तत् शब्द के पूर्व जो 'परमहंस' पद है उसके अर्थ का 'तत्' शब्द से ग्रहण नहीं होता। यदि 'तत्' शब्द से 'परमहंस' लिया जाये तो वे परम्परया अक्षर ब्रह्म में निष्ठा वाले होते है, इसलिए उनकी यहाँ गौणता है, मुख्यता नहीं। अक्षर ब्रह्म में निष्ठा वाले परमहंस गौण हैं, वे भगवत् प्रिय नहीं बन सकते तो 'त एव ह्यच्युतप्रियाः' से विरोध आयेगा अतः श्लोकस्थ 'तत्' पद से असन्निकृष्ट 'धम' पद का ग्रहण

करना चाहिये । भगवत्सम्बन्धी धर्मों का फल आत्मा में होता है इसका निर्देश 'हि' पद से किया गया है अर्थात् वे धर्म निश्चयपूर्वक भगवान् को प्रिय है क्योंकि उनका फल आत्मगामी है। 'अच्युप्रियाः' अर्थात् भगवत्सम्बन्धी धर्म भगवान् तथा भगवदीय दोनों को ही प्रिय है। अच्युत पद से भगवान् तथा भगवदीय दोनों ग्रहण किये गये हैं ॥३१॥

श्लोक—**तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।**
**कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३२॥**

**श्लोकार्थ**—इस तरह अपने आपको असम्पन्न मानकर व्यासजी जब खेद कर रहे थे, तब उनके इस सरस्वती तटस्थ पवित्र आश्रम में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्त नारदजी का आगमन हुआ ॥३२॥

**सुबोधिनी**—पाषण्डनिवृत्तये आश्रमपदप्रयोगः । मुख्ये सम्प्रत्यय इति च । एतादृशे विषये नारदस्याऽधिकारात् प्रथममागत इत्याह—**तस्येति** । खिलं न्यूनम् । स्वत एव भगवद्धर्मनिरूपणे तु पूर्वोक्तभारत देरस्य च विरोधाद्विरुद्धवक्तत्वेनाऽप्रामाण्यं स्यात् । अतः खिद्यतः । नारदवचनात्तु तथा कथने न विरोधः । **कृष्णस्येति** वाच्यनाम्नोत्तमवक्तृत्वं बोधयति । अथवा । कृष्णस्य नारद इति । प्रागुदाहृतं, सरस्वतीतटे ॥३२॥

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि मुद्रित सुबोधिनी में "पाखण्डनिवृत्तये आश्रमपदप्रयोगः" "मुख्ये सम्प्रत्यय इति च" यह पंक्ति "तस्यैवं खिलमात्मानम्" श्लोक की व्याख्या में दी गई है, किन्तु इसका सम्बन्ध प्रकाशकार के विवेचन से, "किंवा भागवताः धर्माः" इस श्लोक से है । उपरोक्त पंक्ति का आशय यह है कि सन्यासाश्रम धर्म की तरह परमहंसों के धर्म की तरह पाखण्डपूर्ण नहीं है । शङ्का करते हैं कि भागवत धर्म तो सबके लिए है तो परमहंस पद देने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में कहते हैं कि "गौणमुख्ययोर्मुख्येकार्यसंप्रत्ययः" इस न्याय से मुख्यतया परमहंसों को ही ये धर्म प्रिय हैं ।

इस प्रकार के धम के निरूपण करने में नारदजी का अधिकार है अतः पहिले उनका आगमन हुआ । श्लोकस्थ 'खिल' पद का अर्थ है 'न्यून' अर्थात् व्यासजी अपनी कृति में न्यूनता का अनुभव कर रहे थे और खिन्न इसलिए हो रहे थे कि यदि मैं स्वयं ही भगवद्धर्मों का निरूपण करूंगा तो भारत आदि से विरोध आयेगा अतः विरुद्ध वक्ता होने से मेरे कथन में अप्रामाणिकता आ जायेगी । यदि नारदजी के कहने से भगवद्धर्मों का निरूपण किया जायेगा तो विरोध नहीं आयेगा । व्यासजी को कृष्ण इसलिए कहा है कि भागवत का वाच्य कृष्ण उत्तम है अतः व्यासजी भी उत्तम वक्ता है अथवा यह अर्थ भी किया जा सकता है कि 'कृष्णस्य नारदः' कृष्ण भगवान् के सम्बन्धी नारदजी पधारे । श्लोक में 'प्रागुदाहृतम्' का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त सरस्वती के तट पर पधारे ॥३२॥

**आभास**—साकांक्षस्य कृत्यमाह—

**आभासार्थ**—खेद निवृत्ति की इच्छा वाले व्यासजी ने जो किया उसको कहते हैं—

श्लोक—**तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायाऽऽगतं मुनिः ।**
**पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—मुनिवर नारदजी का आगमन जानकर व्यासजी शीघ्र खड़े हो गये और देवपूजित नारदजी का विधिपूर्वक पूजन किया अथवा उनका ब्रह्माजी की तरह पूजन किया ।।३३।।

**सुबोधिनी**— **तमभिज्ञायेति** । नारदेति (?) स्व इत्यत्र व्यासकार्य्यसाधक इति वा । स्वकार्य-साधक इति वा । **सहसेति** । अनभ्युत्थानकालेऽपि । मुनिः अकालाभ्युत्थानयोर्गुणदोषद्रष्टा । **विधिवत्** । गुरुजनपूजायां यो विधिः । अथवा । विधिमिव नारदस्य ब्रह्मपूजेव । शुद्धसात्त्विकानामपि किञ्चज्ज्ञेयमस्ति । अत एव देवैर्नारदपूजनम् । अत एव स्वस्याऽपि । इति नाऽत्राऽलौकिकं किञ्चित् ।।३३।।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।**

**व्याख्यार्थ**—नारदजी आत्मीय हैं इसलिए मेरे कार्य को सिद्ध करने आये हैं अथवा भक्ति प्रचाररूप जो नारदजी का कार्य है उसे पूर्ण करने के लिए पधारे हैं । व्यासजी अभ्युत्थान के लिए खड़े हों उसके पूर्व ही नारदजी आ गये क्योंकि वे समझते थे कि किस समय सम्मुख स्वागतार्थ आगमन उचित समझा जाता है और किस समय अयोग्य है अतः सहसा आ गये । व्यासजी गुरुजनों के सत्कार की विधि को जानते हैं अथवा नारदजी विधिवत् का तात्पर्य है 'ब्रह्मा की तरह' नारदजी का पूजन किया । शुद्ध सत्त्व वाले देवताओं के लिए भी कुछ जानने योग्य होता है अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिए नारदजी देवताओं से पूजित हैं । नवीन ज्ञान प्राप्त करना है अतः व्यासजी ने भी नारदजी को विधिवत् अथवा ब्रह्मा की तरह पूजा की । पूजन का फल अदृष्ट न होकर ज्ञानरूप दृष्ट फल ही है । इसी का निर्देश यहां 'नात्रालौकिकं किञ्चित्" पद से किया गया है ।।३३।।

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

### प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला

### मध्यम प्रकरण—मध्यम अधिकार

*अध्याय—५*

### ❀ भक्ति की महिमा ❀

कारिका—**चतुर्थे सर्वधर्माणां सन्देहो विनिरूपितः ।**
**निरूप्यते भक्तिमार्गे पञ्चमे तस्य निर्णयः ।।१।।**
**उट्टङ्कनं मध्यमत्वाद्दृष्टान्तस्य प्रदर्शनम् ।**
**आदावन्ते निर्णयार्थं हेतुत्वादुत्तरस्य हि ।।२।।**

**कारिकार्थ**—चतुर्थ अध्याय में भगवान् के अतिरिक्त अन्य सर्व धर्मों के फल के विषय में सन्देह का निरूपण किया गया अर्थात् ये कहे गये धर्मपरक हैं अथवा ऊपर हैं इस पर व्यासजी को सन्देह रहा इसलिए भक्तिमार्ग के निरूपक पाँचवें अध्याय में इसका निर्णय किया जाता है । अर्थात् अब इस पाँचवें अध्याय में भक्तिमार्ग सम्बन्धित भगवद्धर्मों का फल अवश्य होता है ऐसा निर्णय किया जायेगा ।

नारदजी के मध्यमाधिकारी होने से 'पाराशर्य महाभाग' इत्यादि तीन श्लोकों से नारदजी ने व्यास के विषय में पहले तर्क किया और अन्त में उत्तर के निर्णय के लिए हेतु होने से नारदजी ने 'अहं पुरातीत भवे' अपने दृष्टान्त का निरूपण किया तो उत्तर के निर्णय में अपना दृष्टान्त कारण है अर्थात् नारदजी द्वारा जो व्यासजी को उत्तर दिया जा रहा है उसके निर्णय में अपना दृष्टान्त भी कारण है इसलिए अपना श्री नारदजी ने दृष्टान्त दिया ।।१।।२।।

**आभास**—पूर्वाध्यायान्ते नारदः पूजित इत्युक्तम् । तत्र प्रतिपूजनादिकमकृत्वा भिन्नक्रमेण पृच्छति—

**आभासार्थ**—पूर्वाध्याय के अन्त में व्यासजी ने नारदजी का पूजन किया, यह कहा। नारदजी ने प्रतिपूजन न कर और भिन्न क्रम से पूछा, यही यहाँ सूतजी कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः ।**

**देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ।।१।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं कि–तदनन्तर सुखपूर्वक विराजमान, महायश वाले, हाथ में वीणा धारण किये हुये देवर्षि नारदजी मानो स्मित पूर्वक अपने सम्मुख बैठे हुए विप्रर्षि व्यासजी से बोले ।।१।।

**सुबोधिनी**– **अथेति** । तं पूर्वोक्तधर्मवन्तम् । उत्तरपरिज्ञानान्निर्भयः सुखमासीनः । उत्तरप्रश्नार्थमुपासीनम् । महतो न्यूनताप्रश्नः साधारणस्य न घटत इत्याह । **बृहच्छ्रवाः** । बृहत्कीर्त्तित्वादुक्तविश्वासार्थं वा । देवर्षिः देवानामपि देवप्रतिपादकमन्त्रद्रष्टा । स ह्यलौकिको भवति । विप्रर्षि पश्चिमबुद्धीनामुपायवक्तारं, सर्वपूरकाणां पूरकं वा । भागवतधर्माणामुत्तमत्वं ख्यापयन्निव वीणापाणिः । स्वावसरं प्राप्य ऊर्जितो विकसन्मुखो लोकैर्हसन्निव दृष्टः ।।१।।

**व्याख्यार्थ** चिन्ताव्याप्त उन व्यासजी को क्या उत्तर दिया जायगा इसका ज्ञान होने से नारदजी निर्भय हैं। सुखपूर्वक बैठे हैं। उत्तर पूछने के लिए पास में बैठे हुए व्यासजी से नारदजी ने पूछा। महान् को न्यूनता के विषय में पूछना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है इसी बात को कहते हैं कि बृहच्छ्रवाः' नारदजी साधारण नहीं थे बड़ी कीर्त्ति वाले थे। अथवा 'बृहच्छ्रवाः' पद इसलिए है कि जो कहा जायगा उसमें विश्वास हो। देवर्षि का अर्थ यह है कि देवताओं में भी नारदजो ऐसे हैं कि देवताओं के प्रतिपादक मन्त्रो के दृष्टा हैं इस तरह का व्यक्ति अलौकिक होता है। विप्रर्षि का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को बाद में सूझता है और उनको ये व्यासजी उपाय बताने वाले हैं। अथवा विप्रर्षि का यह तात्पर्य है कि सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाले ब्राह्मणों को कामनाओं के पूर्ति करने वाले ये व्यासजो हैं।

नारदजी वीणा हाथ में लिये हुये यह बताते हैं कि भागवत धर्म सबसे उत्तम है, जिसका गान, वीणा लेकर मैं भो किया करता हूं। अपने बोलने के लिए यही अवसर है ऐसा समझकर नारदजो को मुख पर विशेष रूप से प्रसन्न होने के कारण लोगों ने उन्हें हँसते हुए की तरह देखा ।।१।।

**आभास**—महानपि मुह्यतीति **वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्ट**मित्यभिप्रायेण स्वाभाविकं कुशलं पृच्छति—

**आभासार्थ**—व्यासजी जैसे महाव्यक्ति भी मोहित हो जाते हैं इस बात से नारदजी के हृदय में यह आया कि वृद्धि चाहने वाले का मूल ही नष्ट हो जायगा । इस अभिप्राय से नारदजी व्यासजी से स्वाभाविक कुशल प्रश्न करते हैं—

**नारद उवाच**—श्लोक—**पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना ।**
**परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ।।२।।**

**श्लोकार्थ**—नारदजी ने कहा—महाभाग व्यासजी ! आपका शरीराभिमानी एवं मनोभिमानी आत्मा सन्तुष्ट तो है ।।२।।

**सुबोधिनी**—**पाराशर्य इति** । पराशरस्त्वतिवैष्णवः । तत्पुत्रः कथं भगवन्मार्गे सन्दिग्ध इति पितृनाम्ना सम्बोधनेन तदुद्बोधितम् । समर्थस्याऽधिकारे भगवन्मार्गबोधनसम्भवात् । कृतार्थत्वमाह—**हे महाभागेति** । **कच्चिदिति** कोमलप्रश्ने । **शारीर आत्मा** । आत्मना भवता । स्वेन वा भवत इति तु समुदायः । विषयाऽप्राप्तौ तु स्वेनैवाऽपरितोषः । भगवता तु भवता । अनेन लौकिकमलौकिकं वा निमित्तं पृष्टं भवति । एवं मानसः । एवशब्देन पूर्वरूपे गौणता सूचिता ।।२।।

**व्याख्यार्थ**—नारदजी का व्यासजी को पाराशर्य शब्द से सम्बोधित करने का तात्पर्य यह है कि आपके पिता पराशरजी बड़े ही वैष्णव थे आप उनके पुत्र होते हुए भी क्यों सन्देह में पड़े हैं ? इस बात को पिता के नाम का उल्लेख कर सूचित किया । समर्थ के अधिकारी होने पर भगवन्मार्ग का समझाना सम्भव है फिर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ ? आप बड़े भाग्य वाले हैं इसलिए कृतार्थ हैं । श्लोक में आया कच्चित् कोमल प्रश्न के अर्थ में है । आपका शरीरादि संघाताभिमानी आत्मा अपने से प्रसन्न है न ! 'स्वेन वा भवतः इति तु समुदायः' इस सुबोधिनी के वाक्यों का तात्पर्य यह है कि पहले व्यासजी की चिन्ता में 'मे देह्य' कहा गया है । वहां मे' पद से जैसे देहेन्द्रियादि संघात का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार यहां 'भवतः" पद से संघात लिया गया है अर्थात् आप संघाताभिमानी हैं इसलिए अपने से आपको असन्तोष है । विषयों के प्राप्त न होने पर अपने आप असन्तोष हो सकता है परन्तु आप तो भगवान् हैं इसलिए आपको सभी विषय प्राप्त हैं फिर असन्तोष क्यों ? इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक रूप से असन्तोष का कारण पूछा । इसी प्रकार मनोऽभिमानी आत्मा भी क्यों असन्तुष्ट है यह पूछा । श्लोक में एव पद आया है उसका तात्पर्य यह है कि शरीर सम्बन्धी आत्मा का प्रश्न गौण है और मनोऽभिमानी आत्मा के विषय में मुख्य रूप से प्रश्न है ।।२।।

**आभास**—उत्तरार्थं तत्कृतं पूर्वपक्षेणाऽभिनन्दति—

**आभासार्थ**—व्यासजी उत्तर देवें इसके लिए व्यासजी के किये हुये कार्य को पूर्वपक्ष करके नारदजी अभिनन्दन करते हैं—

श्लोक—**जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् ।**
**कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ।।३।।**

**श्लोकार्थ**—आपने जो विचार किया वह सब लोकों के हित का करने वाला सिद्ध हुआ क्योंकि आपने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का प्रतिपादक अति अद्भुत् महाभारत बनाया ।।३।।

**सुबोधिनी** - **जिज्ञासितमिति** । विचारितम् । सर्वलोकहिताचरणं सुष्ठु सम्पन्नम् । एककृत्यैव आकल्पकरणसिद्धेः । **अपीत्याश्चर्ये** । भगवतोऽपि प्रकृत्यपेक्षा, तव तु तदपि नास्तीत्याह— इति (?) **ते महदद्भुतमिति । इतीति** समाप्तौ (?) । अद्भुतस्यैव महत्त्वम् । सम्पत्तिमेवाऽऽह— **कृतवानिति** । एकं हि शास्त्रमेकपुरुषार्थप्रतिपादकम् । भारतं तु धर्मादिचतुष्टयप्रतिपादकमित्याह । सर्वैर्धर्मादिपुरुषार्थैः परितः साधनसहितं बृंहितं सम्बद्धमित्यर्थः ।।३।।

**व्याख्यार्थ**—जो आपने विचार किया वह सब लोगों के हित के लिए अच्छे रूप में सिद्ध हुआ । एक कार्य से ही कल्पपर्यन्त का कार्य हो गया । श्लोकस्थ 'अपि' शब्द का आश्चर्य अर्थ है अर्थात् आश्चर्य है कि आपने ऐसा कार्य किया । भगवान् को भी सृष्टादि के करने में प्रवृत्ति की अपेक्षा होती है । परन्तु आपको किसी की अपेक्षा नहीं रही यह महान् अद्भुत बात है । यहां "अपिते महदद्भुतम्" की जगह "इति ते महदद्भुतम्" पाठ मानते हैं तो 'इति' शब्द का अर्थ समाप्ति है अर्थात् आपका बड़ा अद्भुत जो लोक हित करने का का है वह समाप्त हुआ वह कार्य कौनसा है तो कहते हैं कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का जिसमें प्रतिपादन है वह महाभारत आपने बनाया । एक शास्त्र एक ही पुरुषार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है परन्तु भारत में तो चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन है अर्थात् साधन सहित धर्मादि का उसमें वर्णन है ।।३।।

**आभास**—स्वाभाविकधर्मेऽपि विशेषमाह—

**आभासार्थ** - स्वाभाविक धर्म में भी विशेष बात कहते हैं—

श्लोक—**जिज्ञासितमधीतं च ब्रह्म यत्तत्सनातनम् ।**
**तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ।।४।।**

**श्लोकार्थ**—हे समर्थ व्यासजी ! आपने सनातन परब्रह्म तथा वेद का विचार किया है । ऐसी स्थिति में भी आप अकृतार्थ के समान कैसे चिन्तित हैं ? ।।४।।

**सुबोधिनी**– **जिज्ञासितमिति** । ब्रह्म परब्रह्म वेदश्च । तत्रैकं जिज्ञासितमपरमधीतम् । चकारादध्यापितम् । धर्मश्च । जैमिनेरपि तदुक्तार्थोपनिबन्धनात् । अथवा । प्रथमा जिज्ञासा ब्रह्मविषयिणी । द्वितीया वेदस्य । **यत्तदिति** । अतिप्रसिद्धम् । सनातनमविकृतम् । **ब्रह्म**शब्देन बृहत्त्वमेवोक्तम् । फलविपर्ययेण दूषयति—**तथापीति** । "**तरति शोकमात्मविद्**" इति श्रुतेः— '**अनीशया शोचति मुह्यमान**'' इति च ज्ञानधर्मसम्पत्तौ शोकाभावः श्रुतिसिद्धः । स चाऽनुभवेन बाध्यते । न च ऽयं शाको लौकिक इत्यत आह— **अकृतार्थ इवेति** । यथा जिज्ञासाद्वयाभावे असिद्धपुरुषार्थस्य शोकस्तथा सम्पन्नदशायामपीति । अत्रोत्तरकथनसामर्थ्यं तवाऽस्तीत्यत आह—**प्रभो इति** ।।४।।

**व्याख्यार्थ**– श्लोक में आये ब्रह्म शब्द से परब्रह्म और वेद दोनों लिये गये हैं। परब्रह्म का तो आपने विचार किया और वेद का अध्ययन किया। च' कार से आपने वेद को पढ़ाया तथा धर्म का विचार किया यह कहा गया है। शङ्का होती है कि धर्म का विचार तो जैमिनि ने किया है तो श्लोकस्थ 'च'' से धर्म का विचार व्यासजी ने किया यह कैसे कह सकते हैं तो कहते हैं कि जैमिनि ने जो कहा है वह व्यासजी के कहे अर्थ को ही कहा है क्योंकि औत्पत्तिक सूत्र आदि में व्यासजी के कहे हुए अर्थ का ही अनुवाद देखा गया है। अथवा यों कहिये कि पहली जिज्ञासा आपने ब्रह्म की की और दूसरी जिज्ञासा वेद की की। इससे यह सूचित हुआ कि धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा ये दोनों व्यासजी ने ही की अर्थात् उत्तर मीमांसा की तरह पूर्व मीमांसा के सूत्र भी व्यासजी ने ही बनाये। जो ब्रह्म अति प्रसिद्ध एवं अविकृत है उसका विचार किया। यहां 'ब्रह्म' शब्द से वह 'ब्रह्म' महान् हैं अथवा व्यापक है यह अर्थ लिया गया है इतना करने पर भी अशान्ति आपको क्यों है? इसका कारण नहीं मालूम होता। वैसे तो आप आत्मवेत्ता हैं इसलिए शोक होना ही नहीं चाहिये जैसा कि कहा है—"तरति शोक मात्मवित्" "अनीशया शोचति मुह्यमान:" इन दोनों श्रुतियों का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानी को शोक नहीं होता और जो धर्म के लिए चेष्टा नहीं करता वह शोक करता है परन्तु आप में तो ज्ञान एवं धर्म दोनों हैं फिर शोक क्यों हो रहा है? आप शोकयुक्त हो ऐसा मुझे अनुभव हो रहा है। यह आपका शोक लौकिक नहीं है। यह शोक इस तरह का है कि किसी को ब्रह्म विचार और धर्म विचार न करने पर पुरुषार्थ सिद्ध न होने से जैसे शोक होता है वैसा ब्रह्म और धर्म की जिज्ञासा करने पर भी आपको शोक हो रहा है यह शोक किसलिए हो रहा है? इसके उत्तर देने में आप समर्थ हैं इसी बात को श्लोक में आये 'प्रभो' इस पद से कहा गया है ॥४॥

**आभास**—प्रमाणबलविचारकाणां नाऽत्रोत्तरस्फूर्तिरित्याह—

**आभासार्थ**—जो लोग प्रमाण बल से ही विचार करते हैं उन्हें यहां उत्तर नहीं सूझ सकता अर्थात् व्यासजी प्रमाण बल के विचारक हैं इसलिए उन्हें उत्तर नहीं सूझ सकता इसी बात को स्वयं व्यासजी कहते हैं—

**व्यास उवाच—**

श्लोक—**अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नाऽऽत्मा परितुष्यते मे ।**
**तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वाऽऽत्मभवात्मभूतम् ॥५॥**

**श्लोकार्थ**—व्यासजी बोले—आप मेरे विषय में जो कुछ कहते हैं वह सब बिलकुल ठीक है फिर भी मेरा चित्त सन्तुष्ट नहीं है इसका कारण मुझसे छिपा हुआ है। आप बड़ी गम्भीर बुद्धि वाले और साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र हैं अतः मैं आपसे इसका कारण पूछता हूँ ॥५॥

**सुबोधिनी—अस्त्येवेति**। साधनस्य फलव्यभिचारे यन्मूलं तदव्यक्तं न प्रकटम्। लोकवेदयोरसिद्धत्वात्। अतः अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे। अगाधं प्रमाणागम्यम्। तत्राऽपि प्रमेयबलाद्बोधः।

तदाह—**आत्मभवात्मभूतमिति** । आत्मा नारायणः । तद्भवो ब्रह्मा । तस्याऽऽत्मनो देहाज्जातम् । **आत्मभवेति** सम्बोधनं वा । हे भगवदवतार । आत्मवित् । **"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति"** श्रुतेः । आत्मैव जातः । असाधनकफलसम्बन्धो वा सूचितः । भगवत्सेवकं वा । **"भूतानि विष्णोः सुरपूजितानी"**ति वाक्यात् ।।५।।

**व्याख्यार्थ** - साधन, यानि धर्म जिज्ञासा ब्रह्म जिज्ञासा करते हुए भी फल के नहीं मिलने में जो कारण है वह प्रकट नहीं है अर्थात् उस कारण को मैं नहीं समझता क्योंकि लोक और वेद में वह कारण बताया नहीं गया है इसलिए "अगाधबोधं त्वां पृच्छामहे" । यहां 'अगाध' शब्द का अर्थ जो प्रमाण से नहीं जाना जाता उसे आप जानते हैं क्योंकि आप भगवान् के निकट हैं अतः भगवान् के स्वरूप के बल से उसका आपको ज्ञान है इसी बात को कहते हैं कि "आत्मभवात्मभूतम्" आप आत्मा जो नारायण है उनसे उत्पन्न जो ब्रह्मा उनके देह से उत्पन्न हुए हो । अथवा 'आत्मभव' यह सम्बोधन है । इसका अर्थ है कि हे भगवान् के अवतार नारदजी ! आप आत्मज्ञानी हैं । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" में कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् 'आत्मभूतं' का यह अर्थ है कि आप ब्रह्मज्ञानी हैं इसलिए आत्मा (ब्रह्म) ही हो गये हैं । आपके ब्रह्म रूप होने से बिना ही किसी साधन के आपको भगवदैक्य प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो गया है यह भी बात उक्त कथन से सूचित होती है अथवा श्लोक में आये "आत्मभूतम्" का अर्थ है कि नारदजी ! आप आत्मा जो भगवान् उनके भूत अर्थात् सेवक हैं "भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि" इसमें जैसे भूत पद से सेवक लिया जाता है वैसे ही यहां भी भूत पद से सेवक लेना चाहिये "भूतानि विष्णोः" इत्यादि वाक्य का अर्थ यह है कि भगवान् के सेवक देवताओं से पूजित हैं । ऐसे आप हैं इसलिए मैं आपको 'अकृतार्थता' का कारण पूछना चाहता हूं ।।५।।

**आभास** – तस्य प्रमेयबलमाह—

**आभासार्थ**—नारदजी में प्रमेय बल है-यह बात व्यासजी कहते हैं—

श्लोक—**स वै भवान् वेद समस्तगुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।**
**परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ।।६।।**

**श्लोकार्थ**—आप समस्त गुप्त बात को जानते हैं अथवा वेदों का समस्त गुप्त अर्थ रूप आप हैं क्योंकि आपने श्री पुरुषोत्तम की सेवा की है । श्री पुरुषोत्तम 'पर' और 'अवर' सबके स्वामी हैं और चिन्तन मात्र से ही इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाले हैं तथा गुण सङ्ग रहित होने से निर्दोष हैं ।।५।।

**सुबोधिनी**—**स वै भवानिति** । वेदानां समस्तं गुह्यं भवानिति वा । उभयत्राऽपि हेतुः—**उपासित इति** पुराणत्वमुत्तमत्वाय । तेन पुरुषोत्तमः सेवित इति कालादिनिरपेक्षः । सेव्यसामर्थ्येन सेवकसामर्थ्यं वक्तुं भगवद्गुणानाह—**परेति** । सर्वेश्वरत्वं सर्वकर्तृत्वं निर्दोषत्व **च कर्तृत्वं** च चिन्तनमात्रेणेति गुणाः ।।६।।

**व्याख्यार्थ** व्यासजी नारदजी से कहते हैं कि वेदों की समस्त गुप्त बात को आप जानते हैं अथवा वेदों का जो सम्पूर्ण गुप्त अर्थ है वह आप है इन दोनों अर्थों में जो कारण है उसे कहते हैं कि आपने पुराण पुरुष की उपासना की है। पुराण पुरुष में जो पुराण पद है उसका तात्पर्य उत्तम है इसलिए पुराण पुरुष का अर्थ है पुरुषोत्तम जितने भी मर्यादा सम्बद्ध अवतार हैं वे कालादि सापेक्ष हैं अर्थात् ऐसे अवतार काल कर्म, स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकते। पुरुषोत्तम तो कालादि निरपेक्ष है क्योंकि मर्यादा सम्बद्ध में ही काल, कर्म, स्वभाव का बल है और आपने कालादि निरपेक्ष प्रभु की सेवा की है। जो सेव्य प्रभु) में सामर्थ्य होती है वही सेवक में आती है। आप पुरुषोत्तम के सेवक हैं इसलिए आप में भी पुरुषोत्तम के गुण आ गये हैं। पुरुषोत्तम में क्या-क्या गुण हैं ? यह 'परावरेशो' इत्यादि पदों से कहे हैं अर्थात् 'परावरेश:' से भगवान् को सर्वेश्वर बताया है। 'मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति' पदों से सर्व कर्तृत्व बताया है और वह भी चिन्तन मात्र से हो। अर्थात् संकल्प मात्र से इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय करते हैं इसमें भी आपको प्रयास नहीं करना पड़ता। 'गुणैरसङ्ग:' से पुरुषोत्तम निर्दोष है यह कहा गया। सेव्य में ये गुण हैं अत: सन्निधान से सेवकों में भी आ जाते हैं अत: सेवक भी सेव्य जैसा बन जाता है अत: आप सेव्य जैसे बन गये हैं इसलिए आप वेदों के सम्पूर्ण गुप्त अर्थ को जानते हैं अथवा पुरुषोत्तम स्वरूप बन जाने से वेद में कहे गये गुप्त अर्थ रूप है। गीता में कहा है कि "यो यच्छ्रद्धः स एव स:' जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वैसा ही बन जाता है अत: आप में प्रमेय बल है और मेरे में प्रमाण बल है इसलिए आप सब कुछ जानते हैं ॥६॥

**आभास**— नारदस्य स्वतोऽपि सामर्थ्ये हेतुमाह—

**आभासार्थ**—भगवान् की सेवा से प्राप्त सामर्थ्य से अतिरिक्त भगवदवतार होने से नारदजी में स्वत: सामर्थ्य भी है इसमें कारण कहते हैं कि—

श्लोक— **त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवाऽऽत्मसाक्षी।**
**परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥७॥**

**श्लोकार्थ**— आप सूर्य के समान तीनों लोकों में विचरते हैं इसलिए आपको बाहरी सब ज्ञान है और योग बल से प्राणवायु के समान भीतर रहने से आपको भीतर का भी ज्ञान है तथा ज्ञानी होने से सबके साक्षी हैं अत: धर्म द्वारा परब्रह्म का और स्वाध्याय आदि नियमों से वेद का मर्म जानने वाले मुझ में जो कुछ कमी हो उसे कहिये ॥७॥

**सुबोधिनी**— **त्वं पर्यटन्निति**। बहिरन्तःसर्वपरिज्ञानार्थं दृष्टान्तद्वयम्। अपेक्षितरूपं च क्रियया सर्वलोकगमनम्। योगेनाऽन्तःप्रवेशः। ज्ञानेन सर्वसाक्षित्वम्। एवं सार्द्धश्लोकेन भक्त्यादिभिः सर्वसामर्थ्यं प्रतिपाद्य स्वसन्देहं पृच्छति— **परावरे ब्रह्मणीति**। परं वेदान्तप्रतिपाद्यम्। अवरं वेदः। तत्र क्रमेणैव धर्मतो यज्ञादिकरणाद्ब्रह्मणि निष्णातः। वेदव्रतादिना वेदे निष्णातः तदुभयनिष्णातस्य यन्न्यूनं तद्विचारय। आपाततो विचारितं न भविष्यतीत्याह— **अलमिति** ॥७॥

**व्याख्यार्थ** - बाहरी और भीतरी सभी का नारदजी को पूर्ण ज्ञान है इसलिए यहां व्यासजी ने सूर्य और प्राणवायु के दो दृष्टान्त दिये हैं।

व्यासजी को अपने खेद की निवृत्ति के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान नारदजी में है। सूर्य जिस प्रकार सर्वत्र जाता है उसी प्रकार आप भी ऐसी क्रिया करते हैं जिससे सर्वत्र आपका भी गमन अबाध है और योग बल से आप प्राणवायु की तरह भीतर भी प्रविष्ट हो जाते हैं। आप में ज्ञान है इसलिए आप सब के साक्षी भी हैं।

इस प्रकार 'स वै भगवान् वेद' से लेकर 'आत्मसाक्षी' तक डेढ श्लोक से भक्तिज्ञान और योग से आप में सब सामर्थ्य है इस प्रकार कहकर व्यासजी अपने सन्देह को पूछते हैं—

'परावरे ब्रह्मणि' वेदान्त प्रतिपाद्य जो परब्रह्म और अवर जो वेदरूप (ब्रह्म) उनमें क्रमशः धर्मतः यज्ञादि करने से आप ब्रह्म में निष्णातरूप और नियमपूर्वक वेदों का स्वाध्याय करने से वेदों में भी निष्णात हैं। इन दोनों में पारंगत मेरे में जो कुछ न्यूनता है उसको आप विचार करिये। एकदम विचार किया हुआ ठीक न होगा इसलिए पूरी तरह से विचार करिये। ७।

**आभास**—नारदस्तु विचारितमेव वर्त्तत इति सिद्धवत्कारेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—नारदजी ने व्यासजी के विषय में सब कुछ विचार कर ही रखा है अतः व्यासजी की न्यूनता में नारदजी कारण बताते हैं—

**नारद उवाच —श्लोक— भवताऽनुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।**
**येनैवाऽसौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥८॥**

**श्लोकार्थ**— नारदजी बोले— आपने कौरव पाण्डवों के अङ्गरूप में गीता आदि के द्वारा भगवान् के अमल यश का वर्णन किया है अतः वह नहीं कहा जैसा ही है जससे भगवान् ही सन्तुष्ट न हो ऐसे ज्ञान को मैं न्यून मानता हूँ ॥८॥

**सुबोधिनी— भवतेति** अग्निहोत्रसुवर्णस्त्रीज्ञानसद्भावेऽपि यथा दीपसूर्यादिव्यतिरेकेण न बहिःप्रकाशस्तथा भगवद्यशोव्यतिरेकेण नाऽन्तःप्रकाशः। भगवदीयास्तु धर्मा न ज्ञानादिभिः प्रकाश्याः। ते च महान्तो बहवश्च यद्विषयं व्याप्य तिष्ठन्ति स च विषयो न ज्ञानादिभिः प्रकाश्यते। यद्यपि भारते भगवद्यशः प्रतिपादितं गीतायां च विशेषतस्तथापि इतरशेषत्वेन प्रतिपादनात्। व्यामोहकलीलारवेऽपि हृदये तथवाऽऽवेशात्। पूर्वकाण्डशेषत्वेनोत्तरकाण्डनिरूपणेन वेदान्तैः स्वातन्त्र्येण ब्रह्मप्रतिपादनम्। तथा भगवद्यशोऽपि गीतादौ। तदेवाऽऽह। अमलं यशः। तेनैवाऽन्तःकरणदोषाभावः। तद्व्यतिरेकेणाऽपि सर्वं भविष्यतीति ज्ञाने खिलता ॥८॥

**व्याख्यार्थ**—अग्निहोत्र सुवर्ण स्त्री इनका ज्ञान होने पर भी जैसे दीपक और सूर्यादि के बिना बाहर प्रकाश नहीं होता अर्थात् अग्निहोत्रादि बाह्य विषयों का ज्ञान रहते हुए भी दीप सूर्य आदि के बिना उनकी (सुवर्ण स्त्री) आदि की उपलब्धि नहीं हो सकती है इसलिए अग्निहोत्रादि

विषयक जो ज्ञान है वह न्यून है पूरा नहीं है। इसी प्रकार अन्त: प्रकाशक भगवद्यश के वर्णन के बिना भीतर रहने वाले जो भगवान् हैं उनकी प्राप्ति न होने से जो कुछ भी ज्ञान है वह न्यून है। अर्थात् आपने भगवद्यश नहीं कहा यही न्यूनता है।

शङ्का करते हैं कि भगवद्यश के नहीं कहने पर भी ज्ञान आदि से जो अहम् आदि का आन्तर प्रकाश हो जाता है तो ज्ञान में न्यूनता कैसी ? तो इसका उत्तर देते हैं कि भगवदीय धर्म ज्ञान आदि से प्रकाश्य नहीं है क्योंकि वे भगवदीय धर्म महान् हैं और बहुत हैं। छोटा दीपक बहुत बड़े विशाल मकान में प्रकाश नहीं कर सकता और जिस परमात्मा में ये धर्म रहते हैं वह भी ज्ञानादि से प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः भगवद्यश वर्णन करना आवश्यक है। मैंने भारत एवं गीता में भगवान् के यश का प्रतिपादन किया ही है।

शङ्का करते हैं कि फिर मेरे ज्ञान में न्यूनता कैसी ? इसका उत्तर देते हैं कि यद्यपि महाभारत एवं गीता में आपने भगवद्यश का प्रतिपादन किया और गीता में विशेष रूप से प्रतिपादन किया है तथापि उन ग्रन्थों में आपने उस भगवद्यश को अन्य का अङ्ग बनाकर प्रतिपादन किया है मुख्य रूप से नहीं। सारथि के कार्य आदि जो महाभारत, गीता आदि में वर्णित हैं वे यद्यपि व्यामोहक लीला है तो भी हृदय में व्यामोहक रूप से उस लीला का आवेश हो जायगा अर्थात् उससे हृदय में भगवान् के प्रति सन्देह होगा। जिस प्रकार वेद के पूर्वकाण्ड को अङ्ग बनाकर उत्तरकाण्ड के निरूपण में वेदान्तों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है उसी रूप में भगवद्यश का गीतादि में प्रतिपादन नहीं हुआ है। इसी बात को 'अनुदित प्रायम्' पद में कहा है। अर्थात् वहां वह भगवद्यश नहीं कहा जैसा ही है।

आपको ज्ञान में न्यूनता इसलिए है कि आपने भगवान् के अमल यश को नहीं गाया। क्योंकि महाभारतादि में पाण्डव और कौरवों के अङ्गरूप में भगवद्यश का प्रतिपादन होने से भगवद्यश के इतरशेषत्व आदि आवरण हैं। इसलिए वहां अमल यश नहीं है। अन्त करण के दोष भगवान् के अमल यश के वर्णन से ही मिटते हैं और भगवान् के अमल यश के बिना ही सब कुछ कार्य हो जायगा ऐसी भावना ही ज्ञान में न्यूनता है। इसलिए आपकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं हुई ॥८॥

**आभास—"सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः। तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः। अच्युताऽच्युत मा मैवं व्याहराऽमित्रकर्षण। पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाऽऽश्रिता वयम्। करिष्ये वचनं तवे"** त्यादिश्लोकसहस्रैः स्वातन्त्र्येण भगवद्यशसः प्रतिपादनात्कथमुच्यतेऽनुदितप्रायमिति ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि महाभारत आदि ग्रंथों में कहा गया है कि भगवान् ही सब प्राणियों के माता-पिता हैं इसलिए कौरव श्रेष्ठ शरण देने में (शरणार्ह) अच्छे भगवान् के ही शरण जाओ। हे शत्रुओं को नष्ट करने वाले ! हे अच्युत ! हे अच्युत ! ऐसा मत कहो मत कहो। क्योंकि हम पाण्डवों के आप ही स्वामी हैं और हम आप ही के आश्रित हैं। गीता में भी कहा है कि आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। इत्यादि हजारों श्लोकों से स्वतन्त्र रूप से भगवद्यश का प्रतिपादन है तो आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह प्रतिपादन नहीं करने के बराबर है इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्याऽनुकीर्तिताः ।**
**न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ।।९।।**

**श्लोकार्थ**— हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने जिस प्रकार प्रकरणशः धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का निरूपण किया उस प्रकार भगवान् वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया ।९।।

**सुबोधिनी**- **यथेति** । सत्यं प्रतिपादितम् । तथापि प्रकरणाभावात्— **"प्रकरणेन विधयो बध्यन्त"** इति न्यायात्तत्रत्यानां तच्छेषत्वम् । आनुशासनिकेऽपि भगवद्धर्माणां धर्मत्वेन प्रतिपादनं न यशस्त्वेन । तदाह । धर्मार्थकाममोक्षा यथा प्रकरणभेदेन प्रतिपादिता न तथा भगवन्महिमा प्रकरण-भेदेन प्रतिपादित इत्यर्थः ।।९ ।

**व्याख्यार्थ**- महाभारत आदि में भगवद्यश का प्रतिपादन किया यह ठीक है तथापि भगवद्यश का उसमें स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है । प्रकरण से विधि निर्बल है इस न्याय से उस-उस धर्मार्थ काम मोक्ष के प्रकरण में से महाभारतादि में उपवर्णित भगवद्यश अङ्गभूत हैं । क्योंकि जिसका वह प्रकरण है उसी को वहां प्रधानता रहती है । आनुशासनिक पर्व में भी भगवद्धर्मों का धर्म रूप से प्रतिपादन है यश रूप से नहीं । इसी बात को कहते हैं कि धर्म अर्थ, काम, मोक्ष इनका जिस प्रकार अलग अलग प्रकरणों में निरूपण किया गया है इस प्रकार भगवान् की महिमा का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है इसलिए मुख्य रूप से भगवन्महिमा का प्रतिपादन वहां नहीं है ।।९।।

**आभास**—ननु प्रतिपादकानां (?) कथं न फलसाधकत्वम् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ** शङ्का करते हैं कि जो भगवद्यश अङ्गरूप से प्रतिपादित है वह व्यासजी को अन्तःकरण प्रसादरूप फल साधक क्यों नहीं हुआ ? इसके उत्तर में नारदजी कहते हैं कि –

श्लोक— **न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।**
**तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ।।१० ।**

**श्लोकार्थ**— जिस वाणी से चाहे वह विचित्र विन्यास वाली ही क्यों न हो जगत् को पवित्र करने वाला हरि का यश किसी भी अंश में नहीं गाया गया हो उसे काक तीर्थ (उच्छिष्ट आदि अमेध्य वस्तुएं फेंकने का स्थान) ही माना जाता है उसमें कमनीय स्थान में रहने वाले हंस (परमहंस या मानसरोवर के हंस पक्षी) रमण नहीं करते ।।१०।।

**सुबोधिनी**—**न यद्वचश्चित्रपदमिति** । कीदृशमत्र फलं मृग्यते । कृतार्थता अन्तःकरणप्रसादः परमानन्दश्चेति चेत् ? न तस्येदं तीर्थं, किन्तु काव्यवच्छृङ्गारादिरसाविष्टानां कामिनामाश्चर्यरस-जनकम् । काकानामिवोच्छिष्टगतः । प्रमाणबलं दुर्बलमिति वक्तुमाह— **चित्रपदमिति** । अर्थविशेषा-भावे पदचित्रता हीनत्वबोधिका । **"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतमि"** ति वाक्यात् ।

विषपत्रैर्भोजनवच्च तत्रत्यं प्रमेयं न हरिरूपं किन्तूत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितम् । तदाह— **हरेर्यश इति । जगत्पवित्रमिति** । साधारणानां हि भारतं पावित्र्यजनकम् । न पतितानां न वा शुकादितुल्यानाम् । तेन न सर्वाकांक्षापूरकम् । इद तु जगत एव पवित्रम् । **वच** इति शब्दमात्रम् । तेन सामरागादीनामपि निवृत्तिः । **कर्हिचिदिति** मुख्यगौणलक्षणाप्रकरणादिभेदेषु एकस्मिन्नप्यशे भगवत्प्रतिपादने न दोष इति सूचितम् । तत् काव्यवत्पदार्थप्रतिपादकम् । वायस तीर्थम् । काकतीर्थमिति यावत् । वायसा वृद्धाः काकाः । लोके चतुराश्च । तथा कामिनो राजपुत्रादयो भारते श्रद्धालवो न तु परमहंसाः । तीर्थं प्रवेशनमार्गः । दोषनिवारकं वा । तत्रोच्छिष्टगर्तादिः काकानां क्षुन्निवारकः । न त्वन्येषाम् । काकानां च न ततोऽधिकदोषनिवृत्तीच्छा । न वा तादृशगर्त्तनिर्मातुस्ततः क्षुन्निवृत्तिः । हंसत्वाच्च तस्य । उशन्ति वदन्ति । **मानसा इति** । मनस्येव तिष्ठन्ति न देहादौ । देहहितकरं च भारतम् । अहं स इति ब्रह्मात्मबुद्धिः । तद्युक्ताः परोक्षेण हंसा इत्युच्यन्ते । क्षीरनीरविवेकिनश्च सहजसिद्धमपि संश्लेषं त्याजयन्ति, न तु संश्लेषजनके रमन्ते । "**पुंसां किलैकान्तधियामि**" ति वाक्यात् । भगवच्चरित्रं तादृशम् । उशिक् कमनीयं क्षयो निवासस्थानं येषाम् । यथा यथा कमनीयता स्वरूपतो ज्ञानतश्च, तथा तथा हंसनिवासत्वम् । ततश्च युक्तितो दृष्टान्ताच्च न भारतादेरन्तःकरणशोधकत्वम् ॥१०॥

**व्याख्यार्थ**—यहां कैसा फल चाहा जाता है ? कृतार्थता अन्त.करण प्रसाद अथवा परमानन्द की प्राप्ति । जिसमें मुख्य रूप से भगवद्यश नहीं गाया जा रहा है उन वचनों से कृतार्थता आदि उपर्युक्त फल नहीं मिलते । शृङ्गारादि रस में आविष्ट जो कामी हैं उनको वे वचन काव्य की तरह आश्चर्य रस को उत्पन्न करने वाले हैं । जिस प्रकार काक को उच्छिष्ट खट्टा अच्छा लगता है उसी तरह जिसमें भगवद्यश नहीं है ऐसा काव्य कामियों को अच्छा लगता है । इस प्रकार के वाक्यरूप प्रमाण का बल दुर्बल होता है । इसलिए कहा है कि 'चित्रपदम्' विचित्र पदशय्या जिसमें है ऐसे वचनों से अर्थ विशेष नहीं होने पर अर्थात् सुंदर वैचित्र्य पद चित्रता पदशय्या सुन्दर होना उस वाक्य में हीनता की बोधिका है । अर्थात् जिसमें भगवद्यश गान नहीं होता वह वाक्य ही नहीं है । जिस काव्य में शब्द अच्छे हों अर्थ अच्छा हो और व्यङ्ग्यार्थ न हो वह काव्य हीन श्रेणी का माना जाता है । इस वाक्य से सुन्दर पद होने पर भी उन वचनों में हीनता है जैसे विष के पत्तों पर भोजन करने पर क्षुधा शान्त हो जायगी किन्तु आगे अनिष्ट होगा । इसी प्रकार अन्य के अङ्गरूप में वर्णित भगवद्यश के सुनने पर सुनने का (मैंने सुना है) यह अभिमान मात्र होगा किन्तु आगे कृतार्थता अन्तःकरण प्रसाद एवं परमानन्द प्राप्ति नहीं होगी । वहां अर्थ विशेष क्यों नहीं है इसके लिए कहते हैं कि वहां का प्रमेय हरिरूप नहीं है किन्तु वैसे हो उत्कृष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है । यशरूप से केवल कहा जाता है जैसे वाणी को धेनुरूप से उपासना कही गई है । इसी बात को 'हरेर्यशः' से कहा है अर्थात् वह हरि का यश नहीं है किन्तु जो वाक्य प्रबन्ध मुख्य रूप से हरि का प्रतिपादन करते हैं वे जगत् को पवित्र करने वाले हैं । साधारण व्यक्तियों को भारत पवित्र कर सकता है किन्तु पतितों को और बहुत ऊंचे शुकादि तुल्यों का हित करने वाला नहीं है । इसलिए महाभारत में भगवद्यश का वर्णन करने वाला जो वाक्य प्रबन्ध है उससे सबकी आकांक्षा पूर्ति नहीं होगी और भगवद्यश को निरूपण करने वाला जो वाक्य है वह तो सम्पूर्ण जगत् को ही पवित्र करने वाला है ।

श्लोक में जो 'वचः' पद कहा है उससे यह कहा गया है कि भगवद्यश को वर्णन करने वालों के केवल शब्दोच्चारणमात्र से जगत् पवित्र हो जाता है भले ही उसे सामवेद की तरह राग आदि

से न गाया जाय। महाभारत भरतवंशी राजाओं का मुख्य रूप से प्रतिपादन करता है इसलिए वह भगवान् का मुख्य रूप से प्रतिपादन नहीं करता और 'छत्रिणोयान्ति' 'कुन्ता: प्रविशन्ति' की तरह भी गौण वृत्ति लक्षणा से और शैत्य पावनत्व इत्यादि बताने के लिए 'गङ्गायां घोष:' यहां गङ्गा पद से तोर का बोध होता है इसी प्रकार उन पदों से जिनमें मुख्य रूप से भगवद्यश नहीं गाया गया है कृतार्थता आदि के लिए भगवान् लक्षित नहीं हुए हैं। इससे लक्षणा से भी वे वाक्य भगवद्यश का प्रतिपादन नहीं करते हैं और भगवद्यश का अलग प्रकरण न होने से प्रकरण से भी भगवान् प्रतिपादित नहीं है और न व्यञ्जना वृत्ति और तात्पर्य वृत्ति से ही वहां भगवान् का प्रतिपादन है। यदि वे वाक्य मुख्य गौण लक्षणा और प्रकरण व्यञ्जना व तात्पर्य इन में से एक भी अंश को लेकर यदि भगवान् का प्रतिपादन करते तो दोष नहीं था। ऐसा शब्द जो मुख्य रूप से भगवान् का प्रतिपादन नहीं करता है वह काव्य की तरह पदार्थ का प्रतिपादन करने वाला है।

वह काव्य की तरह पदार्थ का ही प्रतिपादन करता है इसलिए काकतीर्थ है। वायस शब्द के यहां दो अर्थ हैं-बूढ़े कौए और लोक में चतुर व्यक्ति। जिस प्रकार ऐसे काकतीर्थ (उच्छिष्ट गत्त) में बूढ़े कौए प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार जिसमें भगवच्चर्चा नहीं ऐसे वाक्य में लोक में चतुर रमण करते हैं। उसी प्रकार कामी राजपुत्र आदि वे भारत में श्रद्धा रखने वाले हो सकते हैं। किन्तु परमहंस उसमें श्रद्धा रखने वाले नहीं हो सकते एवं हंस भी उच्छिष्ट गर्त्त में आनन्द नहीं मनाते। हंस से यहां हंस और परमहंस दोनों अर्थ हैं। तीर्थ शब्द के यहां दो अर्थ हैं- प्रवेश का मार्ग और दोष निवारण करने वाला। उच्छिष्ट गर्त्त कौओं की क्षुधा निवृत्ति कर सकता है अन्य को नहीं। कौओं को तो उससे अधिक क्षुधा दोष निवृत्ति की इच्छा है ही नहीं इस प्रकार के गर्त्त बनाने वाले की क्षुधा भी उससे शान्त नहीं हो सकती है। क्योंकि ऐसे उच्छिष्ट गर्त्त में तो कौए ही रमण कर सकते हैं हंस नहीं और इस प्रकार के गर्त्त को कौओं का प्रवेशमार्ग (तीर्थ) कहा है। यहां उशन्ति' का अर्थ 'कहते है' और जिन्हें ......... देह आदि का अध्यास है उनका हितकर भारत है और जो केवल मन से ही 'वह भगवान् मेरी आत्मा है' अथवा 'मैं ब्रह्म हो हूं' इस प्रकार का मनन करने वाले हंस हैं वे परोक्ष रूप से हंस कहे गये हैं। जल और दूध का विवेक रखने वाले जो हंस हैं वे सहज सिद्ध जा जल की मिलावट है उसमें से दूध पानी अलग कर लेते हैं। वे मिश्रित गाथाओं में रमण नहीं करते। जैसे हंस जिसमें अनेक प्रकार के अन्न हैं ऐसे उच्छिष्ट गर्त्त में रमण नहीं करते। उसी प्रकार अर्थात् परमहंस भी उच्च एवं हीन गाथाओं के एक जगह समाविष्ट होने पर भी हीन को छोड़कर उच्च जो भगवद्गाथा है उसे ही ग्रहण करते हैं तो उच्छिष्ट गर्त्त में वे कैसे रमण करेंगे ? उसमें तो कई तरह के अन्नों का सम्मिश्रण है। इसी तात्पर्य को 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' में कहा है। भगवच्चरित्र ही वैसा है जिसमें सुन्दर भगवच्चरण के आश्रम वाले परमहंस रमण करते हैं। यहां 'उशिक्क्षयाः' का अर्थ है कमनीय निवास स्थान जो हंस और परमहंस दोनों के लिए प्रयुक्त है। जैसे-जैसे उस स्थान की स्वरूपत: ज्ञानत: कमनीयता होती है वैसे-वैसे ही उसमें परमहस एवं हंस पक्षियों का निवास होता है। इसलिए युक्ति से और दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि भारत आदि अन्त:करण शोधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि परमहंस भगवच्चरित्र में ही आनन्द मनाते हैं और हंस पक्षी मान सरोवर में आनन्द मनाते हैं ।।१०।।

**आभास**—किञ्च। यद्यप्यस्मदादीनां न तादृशवक्तृत्व, न वा पदानां चित्रता,

प्रत्युताऽऽलापार्थं पदानामन्यथा करणं, तथापि भगवद्विषयकत्वात्पूर्वोक्तविपरीतमस्मदादीनां वचनमित्याह—

**आभासार्थ**—और यह बात है कि हम लोग वैसे वक्ता नहीं हैं न हमारे पदों में ही सुन्दरता है। प्रत्युत ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व व गाने के लिए पदों को व्याकरण के नियम के विरुद्ध बोलते हैं तो भी वे हमारे वचन भगद्विषयक होने से उपर्युक्त गुण नहीं होते हुए भी अच्छे हैं इसी बात को कहते हैं –

श्लोक—**तद्वाग्विसर्गो जनताऽघविपल्वो**
**यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।**
**नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-**
**च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ।।११।।**

**श्लोकार्थ**—भक्तों द्वारा उच्चारण किया गया वाक्य विन्यास जैसे भाषा के कीर्तन आदि जो व्याकरण आदि से तथा छन्द आदि से अशुद्ध है तो भी भगवान् के यश का प्रतिपादक होने से अच्छा है क्योंकि साधुजन उन्हीं वाक्यों का श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं ।।११।।

**सुबोधिनी**—**तद्वागिति** स चाऽसौ वाग्विसर्गश्च । स इति प्रसिद्धया भक्तकृतः । भाषागीतगीतगोविन्दादिरपि । जनतायाः प्राणिमात्रस्य अघं विशेषेण प्लावयति । सर्वथाऽत्र शब्दबलमप्रयोजकमित्याह-**यस्मिन्निति** । यस्मिन् वाग्विसर्गे । भाषाग्रन्थश्लोकेषु व्याकरणदुष्टस्य प्रयोगः अबद्धम् । तानार्थं वा अबद्धप्रयोगः । अभ्युपगमेन वा मूर्खहृदये । तत्र हेतुः– **नामान्यनन्तस्येति** । एकस्मिन्नप्यर्थे बहूनि नामानि प्रयुज्यन्ते । यथा त्रिभुवनाऽऽत्मभुवनेत्यादि । सर्वतोऽनन्तस्य अनन्तान्येव नामानि भवन्ति । न केवलं संज्ञाप्रतिपादकानि किन्तु यशसा अङ्कितानि । श्रवणे हेतुः । यत् यानि, यस्माद्वा । वक्तरि सति शृण्वन्ति । श्रोतरि सति गायन्ति । अन्यथा गृणन्ति । एतच्च पूर्वोक्तहंसादिसतां कृत्यम् । भगवत्सम्बन्धिनां धर्माणां भगवता सह अभेदाद्यत्र क्वचिदवतीर्णो भगवान् यथा सेव्यते, तथा यत्र क्वचिदपि स्थितानि नामानि श्रूयन्त इत्यर्थबलं निरूपितम् ।।११।।

**व्याख्यार्थ**—नारदजी कहते हैं कि वह शब्द प्रयोग जो प्रेम से भक्त से बनाये गये हैं जैसे भाषा के कीतनादि और गीत गोविन्द आदि वे प्राणी मात्र के पाप को विशेष रूप से नष्ट करते हैं। इस प्रकार बिना भगवत्सम्बन्धो वाक्यों के प्रयोग में सब प्रकार के निर्दुष्ट शब्दों का प्रयोग होना चाहिये वे व्याकरणादि दोष रहित होने चाहिये यह यहां आवश्यक नहीं है। इसो बात को 'यस्मिन्' आदि से कहा है। जिस भगवत्सम्बन्धी वाक्य के प्रयोग में जो कि भाषा के ग्रन्थों के हैं भले ही वे व्याकरण के नियम के विरुद्ध हो और व्याकरण नियमों के बन्धन से रहित है अथवा अलाप के लिए ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करके बोला गया हो तो भी अच्छा ही है अथवा अबद्धता को लेकर मूर्ख के हृदय में आते हो वे भी अच्छे हैं उसमें कारण कहते हैं कि

'नामान्यनन्तस्य" भगवद्यशोगान करने वाले वाक्यों में एक ही भगवान् को बताने वाले बहुत से नाम रहते हैं जैसे त्रिभुवन आत्मभुवन आदि आदि सब ओर से जो अनन्त हैं अतः उसके नाम भी अनन्त हैं ऐसे भगवन्नाम केवल अर्थशून्य ही नहीं होते किन्तु उनसे भगवान् का यश भी प्रतिपादित होता है। श्लोकस्थ 'यत्' का अर्थ है जिनको और जिस कारण से। जिन भगवन्नामों को वक्ता मिलने पर सुनते हैं, श्रोता मिलने पर गाते हैं और श्रोता के न मिलने पर स्वयं उन नामों का उच्चारण करते हैं। यह कार्य परमहंस आदि सत्पुरुषों का है। भगवत्सम्बन्धी धर्मों का भगवान् के साथ अभेद होने से जैसे जहां कहीं भी अवतीर्ण हुए भगवान् की सेवा की जाती है वैसे कहीं भी उच्चारण किये गये भगवन्नाम सुने जाते हैं। भगवन्नाम भगवद्रूप होने से उनमें भगवद्रूप अर्थ का बल है यह इससे कहा गया ॥११॥

**आभास**—एवं शब्देषु भगवच्छब्दा एवोत्तमा नाऽन्य इति निरूपितम्। इदानीमर्थे विचारः क्रियते। तत्र ज्ञानं स्वरूपतः फलतश्च महत्। तथा यज्ञादिस्तथैवाऽऽचारस्तथाऽन्ये धर्मादयः। एते भगवता भगवदीयैश्च सह स्वरूपतः फलतः समा आहोस्विन्नेति भवति विचारणा। तत्र प्रथमं ज्ञानं निन्दति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार शब्दों में भगवान् के प्रतिपादक शब्द ही उत्तम है अन्य नहीं यह निरूपण किया गया अब अर्थ के विषय में विचार किया जाता है अर्थात् कौनसा अर्थ अच्छा है यह विचार किया जाता है।

वहां ज्ञान, स्वरूप और फल से महान् है क्योंकि वह मोक्ष का साधक है। यज्ञ, आचार तथा अन्य धर्म भी महान् है परन्तु ये सब भगवान् के एवं भगवदीयों के स्वरूपतः फलतः समान है या नहीं ऐसे विचार होने पर पहले ज्ञान की निन्दा करते हैं।

श्लोक—**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।**
**कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्ऽपितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् की भक्ति से रहित साङ्ख्य अथवा वैदिक ज्ञान भी शोभित नहीं होता तो कामना से होने वाला, ज्ञान का अङ्गभूत, ईश्वराराधन रूप कर्म तथा जो अकारण कर्म है वह भक्ति के बिना कैसे शोभित हो सकता है ? ॥१२॥

**सुबोधिनी**—**नैष्कर्म्यमिति**। भक्तिसहितज्ञानादौ फलसिद्धेर्भवति सन्देहः— किं भक्तेः फलं ज्ञानस्य वेति ? तदर्थं केवले निर्णय उच्यते। अच्युतभक्तिरहितं ज्ञानं सांख्य वैदिक वा भक्त्याऽनलंकृतत्वान्न शोभते। ज्ञानस्य शोभया तद्वतः शोभा भवति। अज्ञाननिवृत्तिश्च दीपवत्। सुवर्णपुत्तलिकाऽप्यनलकृता न शोभते। यद्यपि निरीश्वरसाङ्ख्यमते ईश्वराभावादेव भक्तिर्नास्ति। निरूप्येऽर्थे श्रद्धामात्रम्। सेश्वरेऽपि सगुण एवेश्वरः। वैदिकेऽपि यजमानादिदेवताऽऽवेशाभावे लौकिकत्वात्सर्वापेक्षायाश्चोक्तत्वादन्तःकरणशुद्धयर्थं भक्तिरपेक्ष्यते। सा च भगवच्छास्त्रानुसारिण्येव। निर्गतमञ्जनं यस्मादिति। अविद्यानिवर्तकं निरुपाधिकं वा। किं बहुना। सर्वेषु शास्त्रेषु यज्ज्ञान-

मुक्तं तस्य स्वरूप पकारिणी फलोपकारिणी वा भक्तिरिति भक्त्यभावे स्वरूपं फलं वा न सिद्धये-दित्यर्थः । कर्माऽपि भक्तिसापेक्षमित्याह – **कुतः पुनरिति** । तत्र कर्म त्रिविधम् । कामनया क्रियमाणं ज्ञानाङ्गमीश्वराराधनलक्षणं वा । तत्राऽऽद्ये भक्त्यपेक्षा नियता । तदाह—**शश्वदभद्रमिति** साधन-काले फलकाले च क्लेशरूपत्वाद्भक्त्यभावे न पुरुषार्थरूपं स्यात् । द्वितीये भगवति समर्पणव्यतिरे-केण ज्ञानाङ्गत्वं नास्ति । समर्पणमेव भक्तिः । भक्तिसाध्यं वा । तदाह—**न चार्पितं कर्मेति** । न च भगवति अर्पितं कर्म भवतीत्यर्थः । चकारादीश्वरार्थं वा क्रियमाणम् । यदपि प्रकारेण पञ्चरा-त्रोक्तम् । तस्य लौकिककर्मवत्संसारकारणत्वाभावात् । तस्मात्सर्वकर्मसु भक्तिः सहकारिणी ।।१२।।

**व्याख्यार्थ**- भक्ति सहित ज्ञान आदि से फल सिद्धि होने पर यह सन्देह होता है कि यह फल भक्ति से हुआ है अथवा ज्ञान से इस सन्देह को मिटाने के लिए केवल भक्ति व केवल ज्ञान का निर्णय कहते हैं। भगवान् की भक्ति से रहित जो साङ्ख्यज्ञान एवं वैदिक ज्ञान है वह भक्ति से अलंकृत न होने से शोभित नहीं होता । ज्ञान की शोभा से ज्ञानवान् की शोभा होती है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान वाले आपका (व्यास का) मन प्रसन्न न होने से आपकी शोभा न होने के कारण केवल ज्ञान की शोभा नहीं है । यहां अशोभा से यह तात्पर्य है कि ज्ञान अल्प प्रकाश देने वाला है और मन को प्रसन्न करने वाला नहीं है अतः उसकी शोभा नहीं है जैसे दीपक अन्धकार को दूर करता है वैसे ज्ञान प्रकाशक नहीं है । शङ्का करते हैं कि व्यासजी में ज्ञान है किन्तु भक्ति नहीं है परन्तु भगवान् के अवतार तो हैं ऐसी स्थिति में उनकी (व्यासजी की) शोभा क्यों नहीं ? तो उत्तर देते हैं कि ज्ञान सुवर्ण की प्रतिमा के समान है जैसे सुवर्ण की प्रतिमा को आभूषण आदि नहीं पहनाये जाय तो उसकी शोभा नहीं होती वैसे ही भक्तिरूप अलङ्कार न होने से ज्ञान की शोभा नहीं होती । जब ज्ञान की शोभा नहीं है तो ज्ञान वाले की शोभा कैसे हो सकती है ?

शङ्का करते हैं कि साङ्ख्य में पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से फल मिलता है और वेद में ब्रह्म ज्ञान से फल मिलना बताया गया है तो फिर ज्ञान की अशोभा कैसे ? इस पर कहते हैं कि जो साङ्ख्य ईश्वर नहीं है यह मानता है उसके मत में, ईश्वर के न होने से भक्ति किसकी की जाय अतः उनके मत मे भक्ति है ही नहीं ऐसी स्थिति में उससे निरूपणीय अर्थ में केवल श्रद्धा रखना बताया गया है अतएव "शैवान् पाशुपतान् दृष्ट्वा लोकायतिक कापिलान्.........सवासा जलमाविशेत्" से उसकी निन्दा बताई गई है इससे निरीश्वर साङ्ख्य में बताये गये ज्ञान की अशोभा बताई गई है यही बात ईश्वर सत्ता को मानने वाले साङ्ख्य ज्ञान की भी है क्योंकि उसके मत में ईश्वर सर्वदा सात्त्विक विग्रह वाला माना गया है अतः अच्युत प्रणिधान रूप भक्ति न होने से उसके ज्ञान की भी शोभा नहीं है अब रही वैदिक की बात उसके विषय में भी कहा गया है कि इस समय ज्ञानपूर्वक यज्ञादि न होने से यजमानादि रूप देवताओं का यजमान में आवेश न होने से यज्ञ आधिदैविक न होकर लौकिक होता है और 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इस तृतीय अधिकरण में ज्ञान स्वरूप के उपकारार्थ सबकी अपेक्षा बताई गई है अतः वहां अन्तःकरण शुद्धि के लिए भक्ति की अपेक्षा है । यदि भक्ति नहीं है तो ज्ञान न होने से ज्ञान की शोभा नहीं है ।

शङ्का करते हैं कि "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः इत्यादि में उपासना रूप भक्ति होना बताया गया है तो भक्ति होने से ज्ञान की शोभा क्यों नहीं इस पर कहते हैं कि वह भक्ति शास्त्रानुसारिणी (विहित) भक्ति है स्नेहरूपा भक्ति नहीं है अतः केवल ज्ञान की शोभा नहीं है यह

कहा गया है। निरञ्जन पद का अर्थ यह है कि जो अविद्या निवर्तक अथवा निरुपाधिक ज्ञान, उसकी शोभा नहीं है। यहां श्लोक में आया 'अपि' शब्द 'च' के अर्थ में है अर्थात् 'च' का अर्थ समुच्चय है अतः उससे प्राप्त अभिप्राय कहते हैं कि 'किं बहुना' बहुत क्या कहा जाय। जो भी सब शास्त्रों में कहा गया ज्ञान है उसके स्वरूप की तथा फल की उपकारिका भक्ति है। भक्ति के न होने पर ज्ञान के स्वरूप का एवं फल की सिद्धि नहीं होती। अब कर्म भी भक्ति की अपेक्षा रखता है यह श्लोक में आये "कुतः पुनः" आदि से कहते हैं। कर्म तीन प्रकार का बताया है–पहला कर्म वह है जो किसी फल कामना से किया जाता है, दूसरा ज्ञान का अङ्गभूत है, तीसरा कर्म ईश्वराराधन रूप है। इनमें पहला जो कामना से होने वाला कर्म है उसमें भक्ति की अपेक्षा नियत है क्योंकि कामना से होने वाला कर्म साधन दशा में और फल दशा में क्लेशरूप है अतः उससे यदि भक्ति नहीं होती है तो वह कर्म पुरुषार्थरूप नहीं है।

भगवान् की समर्पण रूप भक्ति के बिना कर्म, ज्ञानाङ्ग ही नहीं हो सकता अतः दूसरा कर्म जो ज्ञानाङ्ग है वह भी समर्पण रूप भक्ति के बिना फल साधक नहीं है।

समर्पण ही भक्ति रूप है अथवा भक्ति से होने वाला है इसी बात को श्लोकस्थ "न चाऽर्पितं कर्म" से कही है। अर्थात् भगवान् के अर्पण नहीं हुआ कर्म कर्म ही नहीं है।

श्लोक में आये 'च' कार से वह कर्म लिया गया है जो ईश्वर के लिए ही किया जाता है अर्थात् जो भगवदर्थ ही होता है वहां तो भक्ति है ही और जो कर्म लौकिक कर्म की तरह संसार का कारण नहीं है वह भी अकारण कर्म भक्ति के बिना फलदायक नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि सब कर्म में भक्ति की अपेक्षा है और उसके बिना न ज्ञान का शोभा है और न कर्म की ही ॥१२॥

**आभास**—यतो भक्तिव्यतिरेकेण ज्ञानं कर्म वा न फलसाधकमत। आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च मुख्यतया भक्तिरेवोपदेष्टव्या। सा च श्रवणरूपा। प्रथमं श्रवणसापेक्षा वा। अतः श्रोतव्यविषयत्वेन भगवच्चरित्रं भक्तिमार्गानुसारियोगजधर्मेण स्मृत्वा कथयेत्याह—

**आभासार्थ**—भक्ति के बिना ज्ञान अथवा कर्म फलसाधक नहीं है इसलिए भक्ति के आवश्यक होने से और ज्ञान कर्म के बिना ही केवल भक्ति से ही मिल जाने से तथा भक्ति में किसी की अपेक्षा न होने से केवल भक्ति के आश्रय को मानने पर लाघव है अतः मुख्यरूप से भक्ति का ही उपदेश करना चाहिये। भक्ति श्रवणरूपा है अथवा भक्ति पहले श्रवण की अपेक्षा रखती है इसलिये भक्ति मार्ग के अनुसार ही जो योगज धर्म है उससे श्रोतव्य भगवच्चरित्र का स्मरण करके कहिये इसी बात को निम्न श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः।**
**उरुक्रमस्याऽखिलबन्धमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**—अतः हे महाभाग्यवान् व्यासजी ! आप सफल ज्ञान वाले पवित्र कीर्ति वाले सत्य जो भगवच्चरित्र हैं उनके वर्णन करने में लगे हुए तथा स्वाध्याय आदि नियमों को धारण करने वाले हैं अतः काल पाश से बन्धे हुए लोगों के बन्धन से मुक्ति देने के लिए जो बहुत प्रदेश को आक्रान्त करने वाले भगवान् हैं उनकी लीलाओं को समाधि के द्वारा आप स्मरण करें ।।१३।।

**सुबोधिनी—अथो महाभागेति** । यद्यप्यस्माभिर्ज्ञायते तथाप्यधिकाराभावाद्वक्तुं न शक्यते । तव त्वेतादृशेऽर्थेऽधिकार इति **महाभागेति** सम्बोधनम् । मनसा भावितोऽर्थः कदाचिदन्यथा भविष्यतीति न शङ्का कर्तव्या । यतो—**भवानमोघदृक्** । अमोघा दृष्टिर्यस्येति । नापि त्वदुक्तमन्यैर्नाङ्गीकर्तव्यमिति शङ्कनीयमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **शुचिश्रवा इति** । शुचि पवित्रं श्रवः कीर्तिर्यस्येति । लोके ह्यादरणीयं रूपमेतदेव । किञ्च । तवाऽप्येतदेवाऽभीष्टमित्याह— **सत्यरत इति** । सत्ये रतः । भगवद्धर्मव्यतिरेकेणाऽन्येषामसत्यत्वात् । किञ्च । यथा व्रताचरणं धर्महेतुस्तथा भगवच्चरित्रश्रवणमपीत्यभिप्रायेणाऽऽह— **धृतव्रत इति** । धृतानि व्रतानि स्वाध्यायादीनि येन । भगवद्धर्मस्फुरणे वा हेतुः । न च तादृशधर्मा भगवति न सन्तीति मन्तव्यम् । यतोऽयमुरुक्रमः । उरु अधिकः क्रमः पादविक्षेपो यस्य । वामनस्य क्षणेनैकेन पदा सर्वलोकाक्रमणमित्यग्रे विस्तारयिष्यते । सर्वे हि जीवाः स्वभावतो बद्धाः कालपाशेन । तेषां बन्धननिवृत्तिर्महानुपकारः । सा च कालनियामकभगवच्चरित्राऽऽवेशादेव भवतीत्याह— **अखिलबन्धमुक्तय इति** । लोकवेदयोरप्रसिद्धत्वादुपायान्तरमाह— **समाधिनेति** । भगवानेव स्वयं सर्वोद्धारकः स्फुरिष्यति । अनु पश्चात्त्वयाऽपि स्मर्तव्यम् । विशेषचेष्टितं भक्तिजनकं न तु व्यामोहकम् । तस्याऽपि व्यामोहकत्वे ज्ञाते विशेषचेष्टितत्वमेव ।।१३।।

**व्याख्यार्थ**—नारदजी कहते हैं कि—यद्यपि भगवच्चरित्र को हम भी जानते हैं तथापि हमारा अधिकार भगवच्चरित्र कहने का नहीं है और व्यासजी तुम्हारा तो अधिकार है क्योंकि तुम महाभाग्यशाली हो इसी बात को 'महाभाग' यह सम्बोधन कहता है कदाचित् आप यह शङ्का करें कि मन से विचार किया हुआ अर्थ कभी अन्यथा हो सकता है तो कहते हैं कि आपका ज्ञान निष्फल नहीं है अतः आपका मनसा भावित अर्थ ठीक ही होता है और आपको यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरे से कही गई बात को दूसरे नहीं मानेंगे तो कहते हैं कि आपका यह समझना ठीक नहीं है क्योंकि आप शुचिश्रवाः है अर्थात् पवित्र कीर्ति वाले हैं । लोक में उनका ही आदर होता है जो पवित्र कीर्ति वाले होते हैं । आपको भी भगवच्चरित्र वर्णन करना अभीष्ट है क्योंकि आप सत्यरत हैं अर्थात् सत्य में ही रत रहने वाले हैं। भगवद्धर्म ही सत्य है अन्य सब असत्य है । जैसे व्रत का आचरण धर्म का कारण है वैसे ही भगवच्चरित्र श्रवण भी धर्म का कारण है अर्थात् भगवच्चरित्र श्रवण से भी धर्म होता है क्योंकि आप स्वाध्याय आदि नियमों को धारण करने वाले हैं इसी बात को 'धृतव्रतः' इस पद से कहा है अथवा यों कहिये कि भगवद्धर्मों की स्फूर्ति में व्रत धारण करना ही कारण है अर्थात् आप स्वाध्याय आदि नियमों का पालन करने वाले हो इसलिए आपको भगवद्धर्मों की स्फूर्ति होती है । यदि कहो कि सबको बन्धन से छुड़ाने वाले धर्म भगवान् में है ही नहीं तो कहते हैं कि भगवान् उरुक्रम है अर्थात् भगवान् का चरण धरना बहुत लम्बा है । वामनजी के लिए कहा गया है कि एक क्षण में उनने अपने चरणों से सबको आक्रान्त कर लिया यह बात आगे कही जायगी ।

सब जीव कालपाश से बंधे हुए हैं उनको बन्धन से छुड़ाना महान् उपकार है परन्तु उनके बन्धन की निवृत्ति काल के नियामक भगवच्चरित्र के आवेश से हो सकती है इसी बात को "अखिलबन्धमुक्तये" से कहा है। यदि आप कहें कि लोकवेद में यह प्रसिद्ध नहीं है कि भगवच्चरित्र से बन्धन निवृत्ति होती है तो इस शङ्का पर दूसरा उपाय कहते हैं कि "समाधिनानुस्मर" अर्थात् समाधि के द्वारा भगवान् की लीलाओं का स्मरण करिये। यदि आप लीलाओं का स्मरण करेंगे तो सर्वोद्धारक भगवान् स्वयं स्फुरित हो जायेंगे और उनकी स्फूर्ति के अनन्तर आप भी स्मरण करें। परन्तु वे विशेष लीलायें भक्ति पैदा करने वाली होनी चाहिये व्यामोहक नहीं होनी चाहिये। भगवल्लीलाओं को व्यामोहक जान लें तब भी वे भक्तिजनक ही होंगी इस प्रकार खेद निवृत्ति के लिए साधन कहा ॥१३॥

**आभास**—विपरीते बाधकमाह—

**आभासार्थ**—भगवच्चरित्र से दूसरी बात कहने पर बाधक कहते हैं कि—

श्लोक—**ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः।**
**न कर्हिचित्क्वाऽपि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवाऽऽस्पदम्॥१४॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् की लीलाओं के अतिरिक्त जो पुरुष कुछ और कहना चाहता है उस पृथक्दर्शी की कथन की इच्छा से स्फुरित हुए नाम रूपों द्वारा चञ्चल हुई बुद्धि को वायु से डगमगाती हुई नौका के समान कभी कहीं भी ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलता ॥१४॥

**सुबोधिनी**—**ततोऽन्यथेति**। अभिधेयाऽपर्यवसानं हि सर्ववस्तुषु। मरुमरीचिकावन्नियतत्वाऽभावात्। भगवतो गुणानामनन्तत्वेऽपि नियतत्वम्। अतः कार्याऽसमाप्तिशङ्कया प्रथमत एवाऽन्यन्नाऽऽरम्भणीयम्। किञ्च। विचारदशायामपि दुःखात्मकत्वात्तद्विचारिका बुद्धिरपि दुःखिता भवति। तदाह—**अन्यथेति**। ततो भगवच्चरित्रात्। यद्यपि सर्वमेव भगवच्चरित्रं तथापि भगवच्चरित्रत्वेनानिरूपणात्त्वेऽपि न तथात्वमित्याह—**अन्यथेति**। **किञ्चनेत्यव्ययसमुदायः**। यत्किञ्चिदित्यर्थः। अनादरणीयमिति वाक्यसमाप्तिः। तदनूद्य दूषयति—**यद्विवक्षत इति**। वचनानन्तरं मध्ये वा दुःखं भविष्यतीति किं वक्तव्यं तद्वक्तुमिच्छत एव भवति। तत्र हेतुः। पृथग्दृश। भगवत्त्वेन स्तोत्रे तत्पर्यवसानाभावाद्भिन्नतया निरूपणमावश्यकम्। तथाच भगवद्धर्माऽस्फुरणादन्यत्रोत्कर्षाभावादविद्यमानविवक्षायां बुद्धिर्दुःस्था भवति। किञ्च। तत्कृतानि पृथग्दर्शनकृतानि पदार्थान्तरस्य रूपनामानि न भगवत्कृतानि। ततश्च सिद्धत्वाभावात्स्वयं कृत्वा स्वयं निरूपणे स्वयमेव पर्यवसानमिति कर्हिचिदपि कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चिद्देशे च बुद्धिरास्पदं न लभेत। सर्वस्याऽपि बुद्धिकृतत्वात्। अन्यदन्यस्याऽऽस्पदं न भवति। अब्रह्मत्वेन स्वाश्रयत्वाभावाच्च। दुःखेन स्थिता दुष्टतया वा स्थिता। सदोषो वायुवत्सर्वतारिकां बुद्धिं नौकामिव नाऽभीष्टदेशं प्रापयतीत्याह—**वाताहतेति**। आहता घूर्णिता ॥१४॥

**व्याख्यार्थ** – भगवद्धर्मों के अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं वे बुद्धि कल्पित हैं । अतः उनकी स्थिरता नहीं है । एक-एक धर्म आदि के बुद्धि कल्पित होने से एक का भी स्वरूप अच्छे रूप से निरूपित नहीं किया जा सकता । क्योंकि मृग तृष्णा की तरह वे नियत नहीं है । अतः वाच्य अर्थ का पर्यवसान न होने से भगवच्चरित्र से अतिरिक्त कहने पर बाधकता है । शङ्का करते हैं कि आपने भगवच्चरित्र को भी अनन्त बताया है तो यह दोष वहां भी है इस पर कहते हैं कि भगवच्चरित्रों के बुद्धि कल्पित न होने से अनन्त होने पर भी उनमें नियतता है अतः वे अच्छे रूप से कहे जा सकते हैं । अन्य निरूपण की इयत्ता न होने से मेरा यह कार्य समाप्त न होगा इस आशङ्का से पहले ही अन्य निरूपण आरम्भ नहीं करना चाहिये ।

एक बात यह भी है कि भगवच्चरित्रों के सिवाय दूसरे धर्म विचार दशा में भी दुःखात्मक है अतः उनके विचार करने वाली बुद्धि भी दुःखित हो जाती है इस बात को श्लोक के 'अन्यथा' पद से कहा है । श्लोकस्थ 'ततः' पद का अर्थ यह है कि भगवच्चरित्र से । ततोऽन्यथा इन दो पदों का तात्पर्य यह है कि भगवच्चरित्र से अन्य जो कहना चाहता है वह ठीक नहीं करता । यद्यपि जो कुछ है वह भगवच्चरित्र ही है परन्तु वे भगवच्चरित्र रूप से नहीं कहे जाने से भगवच्चरित्र नहीं है । श्लोकस्थ किञ्चन यह अव्यय समुदाय है इसका अर्थ जो कुछ है अर्थात् भगवच्चरित्र से अन्य जो भी कुछ कहा जाता है वह आदरणीय नहीं है । भगवच्चरित्र से अन्य कहना अनादरणीय है इसका अनुवाद करके दूषित करते हैं कि "यद्विवक्षतः" अन्य बात के कहने पर अथवा कहते हुए दुःख होता है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है किन्तु कहने की इच्छा करने पर भी दुःख होता है क्योंकि ऐसा ज्ञान भगवान् से पृथक् है उसका पर्यवसान भगवान् में नहीं है । उनको कहने वाला यदि भगवान् के स्तोत्र को मानता है तो भी उसकी दृष्टि भगवान् से पृथक् रहने के कारण उसका पर्यवसान भगवान् में न होने से उनका भिन्नरूप से निरूपण करना आवश्यक है ऐसी स्थिति में उनमें भगवद्धर्म की स्फूर्ति न होने से और अन्यत्र उत्कर्ष न होने से उत्कर्ष बताने की इच्छा करने से वर्णन करने वाले की बुद्धि दुःखित हो जाती है । पृथक् दर्शन से किये हुए दूसरे पदार्थों के नाम रूप भगवत्कृत नहीं है अतः वे सिद्ध नहीं है किन्तु बुद्धि कल्पित है बुद्धि स्वयं कल्पना करती है इसलिए उनका पर्यवसान बुद्धि से ही होता है । बुद्धि की कल्पना का पर्यवसान न होने से किसी भी समय में एवं किसी भी प्रदेश में बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती क्योंकि सभी ही बुद्धिकृत है । भगवच्चरित्र से अन्य बुद्धि कल्पित होने से बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं हो सकती और वह कल्पना ब्रह्मरूप न होने से ब्रह्म के आश्रित नहीं है अतः बुद्धि दुःस्थित है अर्थात् दुःखित हो जाती है अथवा दुष्ट हो जाती है । कल्पना का दोष जैसे वायु नौका को अभीष्ट प्रदेश में नहीं पहुँचने देती वैसे ही बुद्धि को पर्यवसित नहीं होने देता ।।१४।।

**आभास**—एवमपर्यवसानेन बुद्धिदुःखदातृत्वेन च अन्यन्न वक्तव्यमित्युक्तम् । इदानीं प्रतारकशास्त्रवदन्यकथनं पापहेतुरित्याह—

**आभासार्थ**—इस तरह कल्पनाओं के अनन्त होने से कहीं पर्यवसान न होने के कारण तथा अन्य चर्चा बुद्धि को दुःख देने वाली होने से भगवच्चर्चा से अन्य कुछ नहीं कहना चाहिये यह कहा । अब प्रतारणा करने के लिए जैसे प्रतारक शास्त्र कुछ का कुछ कह देते हैं वैसे प्रतारणा के लिए अन्य बात कहना भी पाप का कारण है यह बात कहते हैं—

श्लोक—**जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।**
**यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ।।१५।।**

**श्लोकार्थ**—देह आदि को आत्मा मानकर उसके निर्वाह के लिए प्रयत्न करना चाहिये यह धर्म है ऐसी निन्दनीय बात स्वभावतः उस तरफ अनुराग वाले को कहना महान् अन्याय है क्योंकि उस उपदेष्टा के वाक्य से वह उसको धर्म मानने वाला प्राकृत पुरुष जो विचार करने में असमर्थ है वह ऐसा नहीं मानना चाहिये ऐसे हमारे कहने पर भी नहीं मानेगा ।।१५।।

**सुबोधिनी– जुगुप्सितमिति** । यथा अपेयपानादिकं धर्म इति बोधकस्य नरकपातस्तथा देहादिष्वात्माध्यासं कृत्वा तन्निर्वाहार्थं यतनीयमिति वक्तुर्नरकपातः । ननु दुष्टत्वात्स्वत एव लोको न प्रवर्तेत । किं कथनेनाऽनिष्टं स्यादित्यत आह- **स्वभावरक्तस्येति** । **"अनुरक्तो गुणान्ब्रूते विरक्तो दूषणान्यथे"** ति न्यायाद्रागे विद्यमाने न दोषस्फूर्तिः । तस्य च स्वभाविकत्वे ज्ञाते कदाचिन्न प्रवर्तेताऽपि, धर्मत्वेऽपि ज्ञाते कदाचिदपि न निवर्त्तेतेति भगवदाज्ञोल्लङ्घनरूपो महान् व्यतिक्रमः । कूपेऽन्धपातनेन वा । नन्वन्यो निवारयतु । तथाच फलाभावान्नाऽतिक्रमो भविष्यतीत्यत आह—**यद्वाक्यत इति** । इतरः स्वतो विचाराक्षमः पुरातनवक्तृविश्वासाद्धर्मोऽयमिति निश्चितबुद्धिरन्येन अस्मदादिना क्रियमाणं निषेधं न मन्यते । यतो जननधर्मा जनन एवाऽभिरतः । बहुधा श्रुत्वाऽपि निषेधमूर्ध्वरेतसां प्रशसेति वेदानधिकृतविषय इति समप्रामाण्येऽपि विकल्प इति मन्यते । न तु निषिद्धत्वेन तथाचाऽऽपस्तम्बः—ऊध्वरेतसां प्रशंसेति । तथा च भट्टाः—येऽन्धपंग्वदयो नरा गार्हस्थ्यानर्हास्ते संन्यासादावधिकारिण इति । विकल्पो वा । उभयं ब्राह्मणमितिवत् ।।१५।।

**व्याख्यार्थ**– जैसे अपेय पान अभक्ष्य भक्षण धर्म है यह बताने वाला नरक में गिरता है वैसे ही देह आदि में आत्मा का अध्यास करके अर्थात् देह आदि को आत्मा मानकर उसके निर्वाह के लिए प्रयत्न करना धर्म है इस बात को बताने वाला भी नरकगामी होता है । यदि यह कहें कि देहादि के दोषयुक्त होने से लोक स्वतः ही उसमें प्रवृत्त नहीं होंगे तो फिर देहादि निर्वाह के लिए यत्न करना धर्म है ऐसा कहने पर भी क्या अनिष्ट हो सकता है इस पर कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि "स्वभावरक्तस्य" लोक देहादि में स्वभावतः अनुरक्त है ऐसी स्थिति में "अनुरक्तो गुणान्ब्रूते विरक्तो दूषणान्यथ" अर्थात् जो जिसमें अनुरक्त है वह उसके गुणों को कहता है और जो अनुरक्त नहीं है वह उसके दूषणों को कहता है इस न्याय के अनुसार अनुराग होने पर दोष रहते हुए भी उनकी स्फूर्ति उसे नहीं होगी । यदि यह ज्ञान हो जाय कि देहादि में जो प्रेम है वह स्वाभाविक है धर्मतः नहीं है तो लोक उसके निर्वाह के लिए कदाचित् प्रयत्न न भी करे परन्तु जब यह समझ ले कि देहादि के पोषण करने का यत्न करना धर्म है तो कभी भी कोई इस कार्य से विरत नहीं होगा । ऐसी स्थिति में भगवदाज्ञारूप वेद आदि का उल्लङ्घन होने से महान् अन्याय होगा अथवा लोक का इस प्रकार का गलत मार्ग बताना अन्धे को कुए में धकेलने के समान है । यदि कहो कि दूसरा कोई उसे रोकेगा तो उस उपदेश से कोई फल न होने से भगवदाज्ञा का उलङ्घन नहीं होगा इस पर कहते हैं कि "यद्वाक्यतः" इत्यादि अर्थात् जो स्वतः विचार करने में

समर्थ नहीं है वह पुराने वक्ता के विश्वास में आकर देह को आत्मा मानना धर्म है इस प्रकार को निश्चित बुद्धि वाला दूसरे से किये गये निषेध को नहीं मानेगा क्योंकि वह जन्म लेने वाला है अतः वह ऐसा मानता है। देहाध्यास होने से ही तो बार-बार जन्म लेना होता है इसलिए वह मानता है कि देह में आत्म बुद्धि न करना यह निषेध ऊर्ध्व रेताओं की प्रशंसा को बताने वाला है अर्थात् वेद में जिनका अधिकार नहीं है उनके विषय में है प्रमाणों की समानता मानने पर भी विकल्प हो सकता है अर्थात् देह में आत्म बुद्धि करना ठीक भी है और नहीं भी है जैसे आप स्तम्ब में लिखा है कि देह में आत्म का अध्यास नहीं करना यह निषेध ऊर्ध्व रेताओं की प्रशंसा के लिए है जैसा कि भट्ट कहते हैं कि जो अन्ध पगु आदि गृहस्थता के अधिकारी नहीं हैं वे नैतिक ब्रह्मचर्य एवं सन्यास के अधिकारी हैं अथवा गृहस्थ के लिए यह विकल्प है अर्थात् वे सन्यासी हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। जो सन्यासी हो जाय उनको देहाध्यास से मुक्त रहना चाहिये और जो गृहस्थ होकर सन्यास नहीं लेते वे देहाध्यास से मुक्त नहीं रहे तो भी कोई हर्ज नहीं है यह बात उभय ब्राह्मण की तरह है ॥१५॥

**आभास**—ननु तथापि मीमांसाद्वयेन मार्गद्वयस्य सिद्धत्वात्किमनेन तृतीयेनेत्याह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा से कर्म मार्ग एवं ज्ञान मार्ग सिद्ध ही है फिर इस भगवद्यशोगानरूप भक्तिमार्ग के बताने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**विचक्षणोऽस्याऽर्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।**
**प्रवर्त्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥१६॥**

**श्लोकार्थ**—जिसका पार नहीं ऐसे ब्रह्म के सुख को सर्व त्याग करने वाला ही जान सकता है अर्थात् प्राप्त कर सकता है परन्तु जो देह आदि के विषयों में प्रवृत्त है उनको वह सुख नहीं मिल सकता अतः उनके उद्धार के लिए भगवान् की लीलाओं का वर्णन कीजिये ॥१६॥

**सुबोधिनी—विचक्षण इति** । आत्मसुखं हि निवृत्तिमार्गे प्रकटीभवति । ब्रह्मसुखं च परं शुकवत्सर्वपरित्यागिनः । वैराग्यं च नेदानीन्तनानां सम्भवति । तदर्थं च नूतनप्रयत्ने "**तद्धेतोरेवाऽस्तु किं तेने**"ति न्यायेन स्वतन्त्र एवाऽयं मार्गोऽस्त्वित्यभिप्रायेणाऽऽह । विचक्षणः कश्चिदेव अस्य भगवतः अनन्तपारस्य देशकालापरिच्छिन्नस्य सर्वेहोपरतितनुः (?) सुखं वेदितुमर्हति । तावताऽपि न कार्यसिद्धिरित्याह—**विभोरिति** । अनात्मनो देहादेर्गुणैर्विषयैः प्रवर्त्तमानस्य न तत्सुखमिति पूर्वेण सम्बन्धः । नेत्यध्याहारः । अथवा । तस्य निवृत्तितस्तत्सङ्गाभावेन, न तु तेषामपि कृतार्थकरणे समर्थः । यद्वा । प्रवर्तमानस्याऽर्थे तत्सम्बन्धी वा भवान् । तदर्थं यत्नकरणात् । तदुद्धारार्थं भगवद्गुणा वक्तव्या इत्यर्थः । निर्वाहकमाह—**विभोरिति** ॥१६॥

**व्याख्यार्थ**—निष्काम कर्म मार्ग में आत्म सुख प्रकट होता है। शुकदेव की तरह सभी का परित्याग करने वाले को (अर्थात् ज्ञानमार्ग में) ब्रह्म सुख प्राप्त होता है परन्तु इस समय के लोगों में वैराग्य का होना सम्भव नहीं है इसलिए ऐसे लोगों के लिए कोई नया प्रयत्न होना ही चाहिये जिससे इन्हें ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो सके। मीमांसा द्वय में भले ही निष्काम कर्म से आत्मसुख और ज्ञानमार्ग से ब्रह्मानन्द प्रकट होना कहा है परन्तु उससे क्या हो सकता है क्योंकि इस समय के लोगों में वैराग्य का होना सम्भव नहीं है अतः उनके लिए भगवद्भक्ति रूप चरित्र कहने का यह तीसरा मार्ग होना ही चाहिये इस अभिप्राय से कहते हैं कि कोई कुशल विद्वान् इस देश काल से अपरिमित भगवान् के सुख को जिसका कि निष्क्रिय[1] स्वरूप है जान सकता है परन्तु वैसे ज्ञान के होने पर भी भगवान् की नहीं देने की इच्छा हो तो उसकी प्राप्ति न होने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इसी बात को 'विभो.' से कहा है तात्पर्य यह है कि वह भगवान् व्यापक है इसलिए उसका सुख भी महान् है अतः सब कोई नहीं जान सकते क्योंकि देहादि के विषयों में जिसकी प्रवृत्ति है वह उस सुख को नहीं जान सकता श्लोक के उत्तरार्ध में भी पूर्वार्द्ध में आये 'सुख' पद का सम्बन्ध होता है यहां 'न' पद का अध्याहार होता है इसलिए सुख नहीं जाना जा सकता यह अर्थ होता है अर्थात् श्लोक में नहीं अर्थ वाला 'न' नहीं है तो भी 'न' का अध्याहार होने से 'नहीं' यह अर्थ होता है। परन्तु अध्याहार भी दोष हैं इस अरुचि से "अनात्मनोगुणैः प्रवर्तमानस्य निवृत्तितः" की दूसरी योजना करते हैं। अर्थात् देहादि के विषयों में लगे हुए का सङ्ग न करने से वह ब्रह्म सुख मिल सकता है परन्तु उन विषयासक्तों को वह कृतार्थ नहीं कर सकता। आप प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए है अथवा प्रवृत्ति मार्ग में रहने वालों के आप सम्बन्धी हैं क्योंकि आपने उनके लिए प्रयत्न किया है इसलिए उद्धार के लिए भगवद्गुणों को कहना चाहिये। भगवान् विभु हैं, सर्व समर्थ हैं इसलिए भगवद्गुणों के वर्णन से आपके अभीष्ट का निर्वाह हो जायगा ॥१६॥

**आभास**—एवं चतुर्भिः श्लोकैरुपक्रमोपसंहाराभ्यां चरित्रकथने विधिर्निरूपितः। तस्य मीमांसामाह द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—इस प्रकार "अथो महाभाग" इत्यादि से लेकर "विचक्षणोऽस्यार्हति" इत्यादि श्लोक पर्यन्त उपक्रम उपसंहार से यह विधान किया गया कि व्यासजी आपको भगवच्चरित्र का वर्णन करना चाहिये यह निरूपित हुआ। अब उसका दो श्लोकों से विचार करते हैं—

श्लोक—**त्यक्त्वाऽस्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।**
**यत्र क्व वा भद्रमभूदमुष्य किं को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ॥१७॥**

**तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।**
**तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥**

---

१ यह अर्थ श्री सुबोधिनी में आये "सर्वेहोपरतितनुः" की व्याख्या के रूप में प्रकाशकार ने किया है।

**श्लोकार्थ**—देहादि धर्म जो स्वधर्म नहीं है उसका परित्याग करके भगवान् के चरण कमलों का भजन सेवन करता है किन्तु ब्रह्मभाव की प्राप्ति होने पर यह भजन मेरा धर्म नहीं है ऐसा ज्ञान हो जाने से यदि वह पतित हो जाता है (पुनर्जीव भाव को प्राप्त हो जाता हैं) तो फिर अन्य साधनों से उसका भला नहीं हो सकता और यदि भगवान् का भजन न करते हुए केवल अधिकारानुसार वैदिक धर्मों में प्रवृत्त है उसको उन धर्मों से क्या प्राप्त होगा। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह उसी वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे जो स्थावर से लेकर ब्रह्मपर्यन्त समस्त उच्च-नीच योनियों में भ्रमण करने पर भी नहीं प्राप्त होती है। लौकिक सुख तो बिना ही चेष्टा के जैसे दुःख प्राप्त होता है उसी तरह काल की प्रेरणा से पिता-पुत्र-भार्या आदि से प्राप्त हो जायगा अतः भगवान् के भजन के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१७–१८॥

**सुबोधिनी त्यक्त्वेति**। ननु भगवत्कथा केन श्रोतव्या ? किं धर्मकर्तृभिर्लौकिकैरधर्मकर्तृभिर्वा ? तत्राऽऽद्यस्याऽनवकाशः। द्वितीयस्य लौकिकव्यापारेणाऽऽविष्टस्य न प्रवृत्तिः। तृतीये दुष्टाधिकारित्वादसच्छ्राव्यता स्यात्। सर्वाधिकारित्वान्न निवृत्तिमार्गनिष्ठत्वम्। तथा सति वा अवक्तव्यमिति। तत्रोच्यते। धर्मकर्तृभिरेव श्रोतव्यं परं धर्मपरित्यागेन। "**जन्मान्तरसहस्रेष्वि**"ति भगवद्वाक्यात्। यथा निवृत्तिमार्गे धर्मत्याग तथाऽत्राऽपि – "**तावत्कर्माणि कुर्वीते**" ति भगवद्वाक्याद्बाधकानां चिरकालसाध्यानां वा परित्यागः। तथाच त्यक्त्वेति विधिः। "**न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनत**"इत्यत्रोक्तार्था अनुसन्धेयाः। तत्र हेतुः **अस्वधर्ममिति**। देहादिधर्मं तदधिकारेण वा प्रवृत्तम्। स्वस्य तु जीवस्य दासत्वाद्भगवत्सेवैव स्वधर्मः। **दाशकितवादिकमप्यधोयत एके ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवा इति**। इदं विस्तृतमस्माभिः– "**अंशो नाना व्यपदेशादि**" त्यत्र। हरेर्भगवतः परब्रह्मणो भक्तिमार्गानुसारेण चरणसेवा जीवानां स्वाभाविको धर्मः। अंशत्वेऽपि अंशिनः सेवा मुख्या। येषामप्येतदवास्तवं तेषामपि देहधर्मापेक्षया अन्तरङ्गम्। अत्र मतान्तरं नूद्य दूषयति – **यद्यपक्व इति। अथ यदि पतेदिति**। जीवस्य दासत्वेन स्वधर्मत्वात्पतनशंकैव नाऽस्ति। भगवत्सायुज्यसाधनत्वाच्च। **अयमेव च तस्य पाकः**। फलपर्यवसानात्। यदा त्वौपाधिकं जीवत्वं तदा अस्वाभाविकाधिकारकृतत्वादपक्वता स्यात्। तथापि न पतनशङ्का। **परमोपाधित्वात्**। अथ भिन्नप्रक्रमेण विचार्यते। ब्रह्मभावं प्राप्तस्य नाऽयं धर्म इति। तथा सति पतेत् पुनर्जीवभावं प्राप्नुयात्। तत्राऽपि भजनान्नाऽन्यत इत्याह–**तत इति**। एवमपक्वपक्षं ब्रह्मभावाच्च भ्रंशपक्षमनूद्य दूषयति—**यत्र क्ववेति**। साक्षाद्भगवत्सायुज्यहेतुभगवत्सेवायामपि यदि पातस्तदा क्व साधनान्तरे तस्य भद्रं न भविष्यति। साधनं हि पूर्वावस्थासाध्यमेव। **वेत्यनादरे**। क्वापि साधने तस्य भद्रं न भविष्यतीत्यर्थः। यदा स्वाभाविकभजनज्ञानादीनां न पुरुषार्थपर्यवसायित्वं तदा दूरापास्तमन्यधर्माणामित्याह– **को वाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत इति**। अभजतामसेवकानां केवलदेहाद्यध्यासेन प्रवृत्तानां लौकिकानां ब्राह्मण्याद्यधिकारेण प्रवृत्तानां वैदिकानां च ये धर्मास्ते वस्तुतः सता परधर्माः। ततश्चाऽन्यधर्मैः को वाऽर्थः प्राप्तस्तैरपि को वाऽर्थः प्राप्त इति स्वशब्देनोच्यते। अभजतां हि फलं

ब्रह्माण्डस्य मध्यस्थानप्राप्तिः । तद्गते ब्रह्मणि गच्छति । स्पर्द्धाऽसूयादयश्च नियताः । **"विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः । अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेदि"**ति भगवद्विमुखानां धर्मः परधर्मत्वात्त्याज्य एव । **अथ पतेदि**त्यत्राऽपि न साधनानुष्ठानेन कश्चित्पतति । स्थूणानिखनन-न्यायेन दार्ढ्यात् । तस्माद्भगवद्भजने न केनाऽपि विरोधः । किञ्च । प्रमाणबलविचारेण साधन-मुखत एतदुक्तम् । प्रमेयबलविचारेण फलमुखतोऽधुना निरूप्यते । तत्रैवं पदार्थाः । सर्वोत्तमः पुरुषोत्तमः । तदनु तस्यैव रूपान्तरमक्षरम् । सर्वकार्यकर्तृ तस्याऽपि रूपान्तरं सर्वाधिकारी कालः । कालस्यांऽशभूतौ कर्मस्वभावौ । पुनरक्षरस्य रूपान्तरं यज्ञाः । पुनरक्षरद्व्रूभेदे प्रकृतिपुरुषौ । ततस्तत्त्वानि । ततो ब्रह्माण्डम् । तत्र पुरुषांशा अस्मदादयः । तेषां प्रयत्नव्यतिरेकेणाऽपि प्रलये पुरुषता । मध्ये कालाधीनाः फेनबुद्बुदवन्नानाभावं प्राप्नुवन्ति । तत्र विचारयतु देवानां प्रियः किं फलमिति । तस्मादक्षरपर्यन्तमनित्यत्वेन तुच्छत्वात्कालेनाऽपि सिद्धेर्न तदर्थं यत्नः कर्त्तव्यः । भगवद्भजनं तु न कालसाध्यम् । पुरुषोत्तमपर्यवसायि च । न हि पुरुषोत्तमसेवा तदन्तरंगैः क्रियमाणा बहिरधिकारिप्रेरिता भवति । कालगम्यत्वाभावात् । सर्वत्र भगवन्मार्गे भगवत एव साधनत्वेन विधानाच्च । दृश्यते च लोके महाराजान्तरङ्गसेवकानां नाऽधिकार्यधीनत्वम् । ननु देहेन्द्रियाणां कालप्रवाहस्थानां परिग्रहात्कथं न कालाधीनत्वमिति ? पुरुषोत्तमपरिग्रहादिति ब्रूमः । तस्मात्तस्यैव हेतोस्तदर्थमेव भगवत्परिग्रहार्थमेव कोविदो यतेत । **न मूर्खान्** दृष्ट्वा यत्र क्वचित् । ननु कथमत्र विधिः ? अप्राप्तांशाभावात् । लोकवेदयोरीश्वरभजनस्य सिद्धत्वात् । तत्राऽऽह **न लभ्यते यद्भ्रम-तामुपर्यध इति** । उपरि ब्रह्मपर्यन्तम् । अधः स्थावरपर्यन्तम् । भ्रमतां जीवानां तत्तच्छरीरेण तत्तच्छरीरधर्मेण वा यन्न लभ्यते तदर्थं यत्नः कर्तव्यः । तद्धि वैधम् । यत्नस्तु पूर्वोक्तचरणसेवा । धर्मरूपसेवाया लोकवेदसिद्धत्वेऽपि न भक्तिसेवा तत्सिद्धा । यद्यपि ज्ञानार्थमपि प्रयत्न एतादृशो भवति तथाप्यक्षरपर्यवसानान्न पुरुषोत्तमप्राप्तिः । **"अव्यक्तासक्तचेतसामि"**ति वाक्यादव्यक्तस्वरूप-भगवद्रूपाक्षरप्राप्तिरेव फलम् । नन्वदृष्टेन न कथं भक्तिसिद्धिः । सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वात् । तत्रोच्यते । कालसाध्य एव कर्मस्वभावयोः प्रवृत्तिः । न कालासाध्ये । किञ्च । अदृष्टं नाम पूर्व-जन्मनि कृतकर्मणोऽवान्तरव्यापाररूपधर्माधर्मलक्षणम् । तत्कस्य कर्मणः । किं भगवत्प्रीतिहेतोर-हेतोर्वा ? आद्यस्तु नाऽदृष्टं जनयति । दृष्टेनैव भगवत्प्रीतिजननात् । फलविपर्ययस्त्वसङ्गतः । नाऽप्रीतिहेतोः । अफलत्वेन तदर्थं न व्यापारजननं सम्भवति । किञ्च । कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वा-ज्जन्मना नाऽन्तिमत्वसाधकत्वम् । अन्तिमे च जन्मनि भगवद्भक्तिः । भगवत्प्रसादैकलभ्यत्वात् । **"स एष साधो चरमो भवानामि"**ति वाक्यात् । जातकेऽपि धर्मरूपसेवाया एव फलत्वेन शुभग्रहैर्ज्ञा-यमानत्वम् । तस्मादनन्यसिद्धत्वाद्भगवद्भक्तावेव यत्नः कर्तव्यः । न च लौकिकसुखदुःखाभावार्थे यतनीयम् । कालेनैव तत्सिद्धेः । दुःखवत् । अतो देहप्राप्तावेव तद्भोगस्य सिद्धत्वात्स्वस्य पिष्टपेषण-मित्याह— **तल्लभ्यत इति** । अन्यतः पितृपुत्रभार्यादिभ्यः । तेषामपि प्रेरकः कालः । स च कालः कृतिसाध्यो न भवति । न च देशः स्वतन्त्रतया साधनम् । तस्याऽपि कालाधीनत्वात् । तुल्यत्वेऽपि नियतसहभावात् । तदाह **सर्वत्रेति** । प्रतीकाराऽकरणार्थमाह—**गभीररंहसेति** । तस्माद्भगवद्भज-नार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः । १८॥

**व्याख्यार्थ**—शङ्का करते हैं कि भगवत्कथा किसको सुननी चाहिये ? क्या धर्म करने वालो को अथवा लोक में फसे हुए लोगों को, किंवा अधर्म करने वालों को यह सुननी चाहिये तो कहते हैं कि धर्म करने वालों के धर्म करते रहने से कथा सुनने का अवकाश ही नही मिलता । लौकिक

व्यक्ति अपने लौकिक कार्य करते रहते हैं इसलिए उनकी कथा सुनने में प्रवृत्ति हो नहीं हो सकती। यदि यह कहें कि अधर्म करने वालों को कथा श्रवण करना बताया है तो कहते हैं कि कथा सुनने के दुष्ट लोग अधिकारी माने जायेंगे तो यह खराब शास्त्र माना जायेगा और यहां यह भी नहीं कह सकते कि निवृत्ति मार्गियों के लिए है अर्थात् निवृत्तिमार्गीय इस कथा के सुनने के अधिकारी हैं अन्य नहीं तो कहते हैं कि कथा में सबका अधिकार है केवल निवृत्तिमार्गीय का ही नहीं है।

यदि कहें कि इसमें सर्वाधिकार मानने पर यह कथा हीन मानी जायगी तो इसे कहना नहीं चाहिये इस पर कहते हैं कि यह कथा धर्म करने वालों के लिए है इसलिए उन्हें चाहिये कि धर्म का त्याग करके कथा सुनें जैसा कि "जन्मान्तर सहस्रेषु" इत्यादि में कहा है। तात्पर्य यह है कि इस वाक्य में पापक्षय होने पर भगवद्भक्ति होना बताया है। लौकिक एवं अधर्मकर्ता का तो पापक्षय होता नही इसलिए उनका अधिकार न होने से केवल धर्मकर्त्ता को ही अधिकार प्राप्त होता है परन्तु धर्मकर्त्ता को धर्म में रत रहने से भजन का समय ही नहीं मिलेगा तो वह भो भजन कैसे कर सकेगा तो कहते हैं कि धर्म को छोड़कर उसे भजन करना चाहिये। "तावत्कर्माणि कुर्वीत" जब तक वैराग्य एवं ज्ञान न हो तब तक धर्म करते रहना चाहिये। वैराग्य एवं ज्ञान होने पर उसका त्याग कर देना चाहिये इस वाक्य से जैसे निवृत्तिमार्गीय को धर्म त्याग करना बताया है वैसे ही भक्ति-मार्गीय के लिए भी कहा है। शङ्का करते हैं कि धर्मत्याग करने पर उसमें उच्छृङ्खलता आ जायेगी तो कहते हैं कि जो भक्ति में बाधक काम्य कर्म हैं उनका अथवा चिरकाल से सम्पादित होने वाले तीर्थ, सत्र आदि का त्याग करके भजन करना बताया है। अतः श्लोक में आये त्यक्त्वा' को विधि रूप समझना चाहिये। व्यासादेश में तीर्थ आदि धर्म को छोड़कर भजन करना चाहिये ऐसा कहा है इसमें कारण यह है कि आत्मधर्म जो भजन है वह ही अपना धर्म है अन्य देहादि के धर्म है अथवा उसके अधिकार से कहे गये वे उसके लिए परधर्म है। जीव भगवान् का दास है इसलिए उसका भगवत्सेवा करना ही स्वधर्म है जैसा कि "ब्रह्मदाशाब्रह्म कितवा" आदि से कहा गया है। इसका विस्तृत विवेचन हमने "अंशो नाना व्यपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र में किया है। भक्तिमार्ग के अनुसार भगवान् के चरण की सेवा करना जीवों का स्वाभाविक धर्म है। यदि कहें कि जीव को दास बताना अंश के अभिप्राय से है दास के अभिप्राय से नहीं है तो कहते हैं कि जीव अश है तब भी उसका धर्म अंशी की सेवा करना है। जो जीव को अंश नहीं मानते हैं उनको भी यह तो मानना पड़ेगा कि देहादि धर्म की अपेक्षा भगवत्सेवा अन्तरङ्ग है। दूसरे लोग कहते हैं कि अपक्व दशा में भक्त भी गिर जाता है इस पर कहते हैं कि जीव दास है, उसका स्वधर्म भगवत्सेवा है ऐसी स्थिति में स्वधर्म पालन करने से उसके पतन की शङ्का ही नहीं हो सकती। भक्ति जीव को भगवत्स युज्य प्राप्त करा देती है तो उसके पतन की शङ्का कैसे हो सकती है? भक्ति सायुज्य रूप फल देती है इसलिए भक्ति करने वाले को पक्व ही मानना चाहिये। यदि कहें कि जीव उपाधिभूत है तो अस्वाभाविक अधिकार से भजन करने से वह अपक्व रहेगा तो कहते हैं कि वह अपक्व भले ही रहे परन्तु भजन करने से उसका पतन तो नहीं हो सकता। अब भिन्न रूप से विचार करते हैं कि जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है उसका भगवत्सेवा करना धर्म नहीं है। यदि वह भजन करता है तो उसका पतन होता है अर्थात् फिर उसका जोवभाव होता है उसका भजन से पतन होता है अन्य से नहीं। क्योंकि भजन में सेव्य सेवक भाव रहने से भेद स्फूर्ति होती है इस प्रकार भजन करने वाला अपक्व रहता है और ब्रह्मभाव समाप्त हो जाता है इस बात को अब दूषित करते हैं कि 'यत्र क्वव।' साक्षात्

भगवान् के सायुज्य का कारण जो भगवत्सेवा है उसमें भी पतन मानते हैं तो किस दूसरे साधन से उसका कल्याण होगा। साधन पूर्वावस्था में ही किया जाता है। श्लोक में आया हुआ 'वा' अनादर अर्थ में है अर्थात् भजन नहीं करने वाले का किसी भी साधन के करने पर कल्याण नहीं हो सकता। जब स्वाभाविक भजन ज्ञान आदि भी पुरुषार्थ साधक नहीं है तो अन्य धर्म पुरुषार्थ साधक कैसे हो सकते है? इसी बात को "कोवाऽर्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मत" इससे कहा है। जो सेवक नहीं हैं और केवल देह आदि के अध्यास से प्रवृत्त हुए लौकिक जीव हैं और ब्राह्मण्य आदि अधिकार से प्रवृत्त हुए वैदिक हैं उनके जो धर्म हैं वे वास्तव में भगवद्भक्तों के पर धर्म हैं। भजन नहीं करने वाले लौकिकों को तथा ब्राह्मण्य आदि अधिकार से प्रवृत्त वैदिकों को अन्य धर्मों से क्या पुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है और यह भी बात है कि जो भजन न कर अन्य धर्मों में रत रहते हैं उनको ब्रह्माण्ड में मध्य स्थान की प्राप्ति होती है जो कि स्थान ब्रह्मा के नहीं रहने पर समाप्त हो जाता है और उस स्थान को प्राप्त करने वाले में स्पर्द्धा असूया आदि दोष नियत रूप में रहते हैं। यदि कहें कि देहादि के अधिकार से होने वाले धर्म भी प्रमाण सिद्ध हैं तो उनके त्याग से दोष लगेगा तो कहते हैं कि अधिकारी भेद से दोनों ठीक हैं अर्थात् बहिर्मुख के लिए देहादि धर्म है और अन्तर्मुख के लिए भगवद्धर्म है अतः किसी प्रमाण से विरोध नहीं आता जिससे वह अशांत रहता है अतः धर्मज्ञ को चाहिये कि वह परधर्म को अधर्म समझकर छोड़ दे यही बात विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा च्छलः अधर्म शाखा पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेदि" में कही गई है।

यदि यह मान लेते हैं कि वह गिरता है परन्तु साधन के अनुष्ठान से वह गिर नहीं सकता। जिस प्रकार खूँटे को हिला हिलाकर गाड़ने से वह मजबूत ही होता है उसी प्रकार भजन करने वाला वैसी स्थिति से भी मजबूत होगा। अतः भगवद्भजन करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं कहा जा सकता। अब यहां से "तस्यैव हेतोः" इस श्लोक का अर्थ किया जाता है कि यह बात प्रमाणबल के विचार से अर्थात् साधनों के विचार से कही गयी है अब प्रमेय बल विचार से फल के द्वारा निरूपित की जाती है।

प्रमेय में पुरुषोत्तम सर्वोत्तम है उसके बाद उसीका दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म है जो कि सब ब्रह्माण्ड रूप कार्य करता है उसी अक्षरब्रह्म का दूसरा रूप जिसको सब अधिकार प्राप्त है वह काल है। काल के अंशभूत कर्म और स्वभाव हैं, दूसरे अक्षरब्रह्म के रूप यज्ञ हैं और उसी के रूपान्तर प्रकृति पुरुष है उन्हीं से तत्त्व हुए हैं और उनसे ब्रह्माण्ड हुआ है। जीव जो हम हैं वे पुरुष के अंश हैं। वे कुछ भी प्रयत्न न करें तब भी प्रलय में वे पुरुष रूप बन सकते हैं क्योंकि जिससे पैदा होते हैं प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाते हैं। बीच में वे जीव काल के अधीन होकर झाग और बुद्बुद के समान अनेक भावों में परिणत होते हैं। तो बता, मूर्ख! भजन को छोड़कर अन्य धर्मों से क्या फल प्राप्त होता है? अक्षर से नीचे जितने भी हैं वे सभी अनित्य हैं और तुच्छ हैं, वे काल के द्वारा अपने आप अपने कारण में लीन हो जाते हैं तो उसके लिए क्यों प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् पुनः कारण रूप होने के लिए क्यों प्रयत्न करना चाहिये? अतः भगवद्भजन करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि वह काल से साध्य नहीं है अर्थात् काल के द्वारा भगवद्भजन हो जायगा, यह नहीं हो सकता। भजन पुरुषोत्तम का होता है। पुरुषोत्तम की सेवा जो उनके अन्तरंग भक्तों द्वारा की जाती है वह बाह्य अधिकारी रूप काल से प्रेरित नहीं हो सकती अर्थात् अन्तरंग

भक्तों का कार्य जो भगवत्सेवा है वह काल के द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि वह कालगम्य नहीं है। भक्तिमार्ग में सर्वत्र भगवान् को ही साधन बताया गया है अर्थात् भक्ति भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है काल से नहीं। लोक में भी हम देखते हैं कि महाराजा का जो अन्तरंग सेवक होता है वह अधिकारी के अधीन नहीं होता। शङ्का करते हैं कि देह इन्द्रियां काल के प्रवाह में रहती है और उसे वह ग्रहण करता है तो वह भी कालाधीन क्यों नहीं? तो उत्तर देते हैं कि उन्होंने पुरुषोत्तम को स्वीकार कर लिया है इसलिए उसकी इन्द्रियां पुरुषोत्तम के अधीन हैं काल के अधीन नहीं हैं। अतः ज्ञानी को चाहिये कि भगवान् स्वीकार कर ले इसलिए सब प्रयत्न करना चाहिये। मूर्खों की तरह अन्य फल के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिये। शङ्का करते हैं कि लोक वेद से यह सिद्ध है कि भजन करना चाहिये तो फिर नवीन बात का विधान न होने से श्लोक में आया "यतेत" यह विधि कैसे हो सकती है क्योंकि अप्राप्त अंश को बताने वाली ही विधि होती है इस पर कहते हैं कि "न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यध" ब्रह्मा से लेकर जड़ पदार्थ तक भ्रमण करने वाले जीवों के उस-उस शरीर से अथवा उस-उस शरीर के धर्म से जो प्राप्त न हो सके उसके लिए प्रयत्न करना ही चाहिये वह है भगवान् के चरण की सेवा अर्थात् भक्ति धर्मरूप सेवा जो श्रवण कीर्तन आदि रूप है वह लोक वेद सिद्ध है तथापि स्नेह प्रधान सेवा लोकवेद सिद्ध नहीं है अथवा यों कहिये कि बिना मतलब की सेवा लोकवेद सिद्ध नहीं है। अतः उसके लिए "यतेत" यह विधि है। यद्यपि ज्ञान के लिए भी ऐसा प्रयत्न किया जाता है परन्तु ज्ञान से अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्ति होती है पुरुषोत्तम की प्राप्ति नहीं होती। गीता में कहा है "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्' अर्थात् अव्यक्त जो अक्षरब्रह्म है उसमें आसक्त रहने वालों को महान् क्लेश होता है। शङ्का करते हैं कि सभी उत्पन्न होने वालों का निमित्त कारण अदृष्ट है तो अदृष्ट जो कर्म एवं स्वर्ग आदि फल का अवान्तर व्यापार रूप है उसे ही भक्ति का जनक क्यों नहीं मान लेते हो तो कहते हैं कि अदृष्ट कर्म जन्म होता है और काल से सिद्ध होने वालों में ही कर्म एवं स्वभाव कार्य करते हैं और जो भक्ति काल से सिद्ध नहीं होती उसमें कर्म एवं उससे जन्य अदृष्ट भी कुछ नहीं कर सकते अतः अदृष्ट से भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। एक बात यह भी है कि अदृष्ट उसे ही कहते हैं जो पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का अवान्तर व्यापार रूप धर्म अधर्म है ऐसी स्थिति में यहां यह शङ्का होती है कि वह पूर्व जन्म का कर्म कैसा, क्या भगवान् की प्रसन्नता का कारण अथवा भगवान् की प्रसन्नता का कारण नहीं यदि मानते हैं कि भगवत्प्रीति का कारण कर्म अदृष्ट को पैदा करता है तो कहते हैं कि दृष्ट कर्म से ही भक्ति होती है तो ऐसी दशा में अदृष्ट को कारण मानने की क्या आवश्यकता? अदृष्ट को जन्मान्तर में फल मिलने के लिए मानना पड़ता है परन्तु यहां तो भगवान् के समर्पित कर्म ही भगवान् की प्रीति के कारण बन जाते हैं, क्योंकि "तत्कुरुष्वमदर्पणम्" इस भगवान् की आज्ञा के अनुसार कर्म करने से भगवान् स्वयं प्रसन्न हो जाते है तो अदृष्ट को मध्य में कारण मानना ठीक नहीं है और यह भी कहना युक्त नहीं है कि अदृष्ट को कारण नहीं मानने पर कदाचित् फल विपरीत हो सकता है तो कहते हैं कि आज्ञानुसार कर्म होता है इसलिए फल की विपरीतता कभी सम्भव नहीं है यदि कहें कि भगवान् की अप्रीति के कारण कर्म से अदृष्ट पैदा होता है तो कहते हैं कि उस अदृष्ट का फल भक्ति (प्रीति) नहीं है तो भक्ति के लिए अदृष्टरूप व्यापार की अपेक्षा है यह कहना ठीक नहीं है। एक बात और भी है कि एक कर्म दूसरे कर्म को पैदा करता रहता है अर्थात् कर्म की परम्परा समाप्त नहीं होती तो उनके फल भोगार्थ जन्म लेता ही रहना पड़ेगा ऐसी स्थिति में ऐसा जन्म कोई नहीं होगा जिस जन्म के बाद दूसरा जन्म न लेना पड़े ऐसी दशा में उसकी भक्ति कभी नहीं होगी

और यह तो सिद्ध है कि अन्तिम जन्म में ही पूर्ण भक्ति होती है और उस भक्ति के होने के बाद दूसरा जन्म नहीं होता अर्थात् उस भक्ति से मोक्ष हो जाता है इसलिए उसे पुन जन्म नहीं लेना पड़ता। भक्ति केवल भगवान् के प्रसाद से ही प्राप्त होती है इसलिए वह अन्तिम जन्म में ही होती है जैसे भक्ति वाले को कहा है कि "स एष साधो परमो भवानाम्" आपका यह जन्म सब जन्मों में अन्तिम है। शङ्का करते हैं कि यदि भक्ति कालादि से पैदा नहीं होती तो ज्योतिष का ग्रन्थ जो जातक है उसमें यह बताया नहीं जाता कि शुभग्रहों से भगवान् में प्रीति होती है और वैकुण्ठ से आना जाना होता है इससे ज्ञात होता है कि भक्ति काल से पैदा होती है इस पर कहते हैं कि श्रवण कीर्तन आदि जो विहित भक्ति है वह ही शुभग्रहों से ज्ञात हो सकती है प्रेम सेवा तो भगवत्कृपा से ही होती है इसलिए उसका ज्ञान शुभग्रहों से नहीं हो सकता अतः काल एवं अदृष्ट से पैदा नहीं होने वाली भक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। यदि कहें कि लौकिक सुख हो और दुःख न हो इसके लिए भी प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि वे लौकिक सुख एवं दुःखाभाव समय आने पर अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तो उनके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है जैसे काल पाकर दुःख अपने आप हो जाता है वैसे ही ये भी हो जायेंगे अतः यह सिद्ध है कि देह प्राप्त होने पर उनका उपभोग स्वतः सिद्ध है तो जैसे पीसे हुए का पीसना व्यर्थ है इस प्रकार उनके उपभोग के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि कहें कि सुख के लिए पिता पुत्र एवं भार्या को अनुकूल करने के लिए तो प्रयत्न करना चाहिये तो कहते हैं कि उनका भी प्रेरक काल है अर्थात् वे भी समय पाकर अनुकूल हो जायेंगे। क्योंकि उनका भी प्रेरक काल है और वह काल यत्न साध्य नहीं है। यदि कहें कि देश स्वतन्त्र रूप से साधन बन जायगा यह भी ठीक नहीं वह देश भी तो काल ही के अधीन है यदि देश को भी काल ही के समान मान लें तो भी दोनों का सहभाव नियत रूप से रहेगा। उसी को 'सर्वत्र' पद से बताया है। गम्भीर वेग होने के कारण काल का प्रतिकार कोई कर नहीं सकता इसलिए भगवान् के भजन के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।।१७-१८।।

**आभास**—तत्र तर्कमाह—

**आभासार्थ**—भक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये इसमें बाधक निवर्तक तर्क देते हैं कि—

श्लोक—**न वै जनो जातु कथञ्चनाऽऽव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।**
**स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ।।१९।।**

**श्लोकार्थ**—कभी किसी प्रकार मुकुन्द की सेवा करने वाला मनुष्य, हे अङ्ग! दूसरे की तरह संसृति को प्राप्त नहीं करता। जिसने पूर्वजन्म में मोक्ष देने वाले प्रभु का स्मरण-आलिङ्गन किया है उसे स्मरण करता हुआ वह फिर भक्तिमार्ग को नहीं छोड़ना चाहता। क्योंकि वह स्वादपूर्वक भजन कर रहा है। जिसमें आनन्द अनुभव होता है उसे कभी नहीं छोड़ता ।। १९ ।।

**सुबोधिनी न वै जनो जात्विति** । ननु वैकुण्ठगतानामपि जयविजयादीनां पुनरागमन-श्रवणान्नैकान्ततो भक्तिः फलसाधनम् । भगवतोऽप्यवतरणात्तत्सङ्गेनाऽवतारसम्भवाच्च ।

पराधीनत्वेनाऽपराधसम्भवाच्च । तस्माद्धर्मवद्भक्तिरपि । नोत्कृष्टफलेति । तत्राऽऽह—**न वै जनो जात्विति** । अङ्गीकृत्याऽपि परिहार: । वस्तुतस्तु जयविजययोर्धर्ममार्गानुसारेण कृत्रिमवैकुण्ठप्राप्ति: । अत एव तत्रैव वर्णनायां—**"ये निमित्तनिमित्तेन धर्मेणाऽऽराधयन्हरिम् । वैकुण्ठः कल्पितो येने"** ति । भगवता सह त्वागमनं परमानन्दत्वात्फलमेव । साधारणानामपि भक्तानां भगवत्सेवकानां दूषणमङ्गीकृत्याऽपि परिहार उच्यते । यथा भरतादि: । यतो मुकुन्दसेवी सर्वेभ्यो मोक्षदातु: सेवक: । अन्यवदसेवकवत् । यथा सत्यवादी ब्राह्मण: । तत्र हेतु:— **स्मरन्निति** । वाक्शरीरसाध्यभक्त्यभावेऽपि कामुकस्य कामिनीस्मरणमिव परमानन्दरूपचरणाऽऽलिङ्गनं पूर्वजन्मनि जातमधुनास्मरन् तच्चरणपरित्याजकसाधनं न कुर्यात् । यथा भरतहरिणेन स्वमात्रादय: परित्यक्ता: । न भगवन्मार्ग:। इच्छामपि न कृतवान् । यतो रसग्रह: । रसेन ग्रहणं यस्य स तथोक्त: । भगवत: कृपाऽभावेऽपि मार्गस्यैव बलिष्ठता । तदाह—**यत इति** ।।१६।।

**व्याख्यार्थ**—बाधक को स्पष्ट करते हैं कि वैकुण्ठ में गये हुए भी जय विजय आदि का शाप वश पुन: आगमन सुना गया है । अत: एकान्तत: (एकदम) भक्ति फल का साधन नहीं है । यदि भक्ति फल की साधिका होती तो जय विजय आदि का पुन: यहां आगमन नहीं होता और एक बाधक यह भी है कि भगवान् जब अवतार लेते हैं तब भक्त भी आते हैं ऐसा सम्भव है । अर्थात् उनका यहां आना निवृत्त नहीं होता और उनके काल के अधीन होने से काल से बुद्धि में वैपरीत्य आने पर भगवान् का अपराध होना सम्भव है । इसलिए मानिये कि धर्म (यज्ञयागादिक) की तरह भक्ति भी उत्कृष्ट फल देने वाली नहीं है । क्योंकि उससे जन्म-मरण नहीं मिटते । इस पर कहते हैं कि "न वै जनो जातु" अर्थात् भगवद्भक्त कभी इधर नहीं आता । अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता । 'तुष्य तु' दुर्जन न्याय से संसृति को प्राप्त करने की बात स्वीकार करके "न वै जनो जातु" से निषेध किया गया है । वास्तव में जय विजय को धर्म मार्ग के अनुसार कृत्रिम वैकुण्ठ की प्राप्ति हुई थी । अतएव वहीं कहा गया है कि 'ये निमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्" "वैकुण्ठ कल्पितो येन" अर्थात् वहां के लोग हरि का आराधन धर्म से करते हैं और वह वैकुण्ठ भगवान् का बनाया हुआ है । तात्पर्य यह है कि कृत्रिम वैकुण्ठ वाले भक्ति मार्ग के अनुसार आराधन न कर धर्ममार्ग के अनुसार करते हैं । अत: उनका पुनरागमन सम्भव होता है । अब रही भगवान् के साथ भक्तों के आने की बात सो तो उनका आना परमानन्द रूप होने से फलरूप ही है । भगवान् की सेवा करने वाले साधारण भी जड़ भरत आदि जिस प्रकार पुन: जन्म लेते हैं उस प्रकार भक्त के भी पतन की सम्भावना है । इसका परिहार करते हैं कि सबको मोक्ष देने वाले मुकुन्द की सेवा करने वाला असेवक की तरह संसृति को प्राप्त नहीं करता । जैसे कोई सत्यवादी ब्राह्मण था । जिसका सत्य बोलने का नियम था उसे चोरों ने पूछा । तेरे साथी कहां गये ? तो उसने छुपे हुए साथियों को बता दिया जिससे चोरों ने उनको लूट लिया और मार डाला यह बात भगवान् ने अर्जुन को महाभारत के उद्योग पर्व में कही है ।

जैसे वह ब्राह्मण सत्य से गिरा, वैसे ही भगवान् के सेवक भी भगवान् के अपराध से गिर सकता है । जैसे जड़ भरत गिरे । यदि भक्ति सत्फल ही देने वाली होती तो भक्ति करने वाला भरत नहीं गिरता । गिरा है इसलिए भक्ति एकान्तत: फल साधिका नहीं है । इसका परिहार करने के लिए तर्क देते हैं कि मुकुन्द का सेवक असेवक की तरह संसृति को प्राप्त करे तो वह संसृति को कभी भी नहीं छोड़ना चाहता । परन्तु भक्त संसार को छोड़ना चाहता है इसलिए भक्ति फल देने वाली

ही है । इसलिए भक्त और दूसरों के विचारों में भेद होता है । भक्त के पतन न होने में कारण कहते हैं कि 'स्मरन्' अर्थात् वाणी और शरीर से सेवा नहीं करता है तो भी जैसे कामुक कामिनी का स्मरण करता है उसी प्रकार पूर्व जन्म में हुआ जो परमानन्द रूप चरण का आलिङ्गन उसको इस जन्म में स्मरण करते हुए भरत आदि भक्त जिससे भगवच्चरणारविन्द छूट जाय ऐसा साधन कभी भी नहीं करते हैं । उदाहरण के लिए कहते हैं कि भरत जब हरिण बने तो उन्होंने अपनी माता आदि को छोड़ दिया । उनको इच्छा भी नहीं थी । परन्तु भक्तिमार्ग को नहीं छोड़ा । क्योंकि उन्होंने उसे आनन्दानुभव के साथ ग्रहण किया था । भगवान् की कृपा न होने पर भी भक्तिमार्ग की यह विशेषता है कि उसे कोई छोड़ना नहीं चाहता ।।१६।।

**आभास**—एवं सोपपत्तिक भगवन्मार्गस्योत्कृष्टत्वं प्रतिपाद्य भगवतो दुर्लभत्वे तच्चरित्रस्य भूयस्त्वं कथनञ्चाऽनुपपन्नमिति को भगवानित्याकांक्षापूरणाय **"आचार्यवान् पुरुषो वेदे"** ति शास्त्रार्थत्वाय च भगवन्तं निरूपयति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार युक्ति से भगवन्मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादन कर भगवान् के दुलभ होने पर उनके चरित्र का अत्यधिक होना एव कहना ठीक नहीं है इसलिए भगवान् कौन है? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए और "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस शास्त्र के अर्थ के लिए भगवान् का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।**
**तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—अर्थ निश्चय करके यह भगवान् है भगवान् की तरह है और भगवान् से पृथक् है क्योंकि इसी में जगत् की स्थिति एवं लय है, इसी में उत्पत्ति है । इस बात को हे वेद व्यासजी ! आप स्वयं जानते हैं । आप ब्रह्म हैं तब भी गुरु की अपेक्षा होने से तुम्हें प्रादेश मात्र बताया है । जैसे प्रादेश के दिखाने पर उससे दुगुना तिगुना हाथ आदि होता है यह समझ लिया जाता है इसी प्रकार भगवान् जगत् के कर्त्ता हैं यह जान लेने पर उसमें सर्वेश्वरत्वादि धर्म है यह जान लिया जाता है ।।२०।।

**सुबोधिनी**—**इदं हि विश्वमिति** । भगवतः स्वरूपं चरित्रं च निरूपणीयम् । तद्द्वयं भेदेन न निरूपणीयम् । तथा सति चरित्रस्याऽनात्मत्वेन तद्भावनायां संसारः स्यात् । अतो द्वयमभेदेन निरूपयति । **इदं विश्वं भगवान्** । विश्वमनूद्य भगवत्त्वं विधीयते । तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिश्चे-त्कृतार्थो भवतीति कार्यं भगवत्त्वेन निरूपितम् । **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि"** ति श्रुतिर्हिशब्देन सूचिता । उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधाऽत्र निरूपणं कर्तव्यम् । तत्रोत्तमे निरूपितम् । मध्यमे त्वेवम् । **इदं विश्वं भगवानिव** न तु भगवान् । तेनाऽत्र सन्माननादिकं कर्तव्यं नाऽऽसक्तिरिति ।

निकृष्टे तु इदं विश्वं, भगवानितरः अस्मादन्यः । अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवतीति । एवं सर्वत्र प्रकारत्रयेण निरूपणीयम् । नन्वेकस्य जातः कथं त्रिरूपत्वम् ? तत्राऽऽह— **यतो जगत्स्थान-निरोधसम्भवा इति** । तत्र जगतः स्थितिर्भगवत्येवेति भगवानेव जगतीति स्वधारत्वाद्भगवतः भगवानेव जगत् । मध्यमे तु भगवतस्सकाशाज्जगदुद्भवः । तेन कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेद इति **"भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमि"**ति वचनाज्जगत् भगवानिवेति । मूढे तु भगवतः प्रलयकर्तृत्वान्नाशप्रतियोगि जगत् । भगवांश्च सदातन इतीतरः । किञ्च । पूर्वं भगवच्चरित्रं निरूपितम् **इदं हि विश्वं भगवानिवेतर इति** । इदानीं भगवन्तं निरूपयति—**यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा इति । "जन्माद्यस्य यत"** इति लक्षणं निरूपितसम्भवति । एवमर्थभेदमधिकारिभेदं च संक्षेपतो निरूप्य गुप्तस्याऽस्य विवरणं न कर्तव्यमित्याह—**तद्धि स्वयं वेद भवानिति ।** तत् पूर्वोक्तं स्वयमेव भवान् वेद, न गुर्वपेक्षा । अथवा । तत् जगत् स्वयम् । भवानित्यर्थः । अत एव भवान्वेद । तर्हि ब्रह्मण उपदेशो निष्फल इत्यत आह—**तथापि वै प्रादेशमात्रमिति** । तथापि ब्रह्मत्वेऽपि । प्रमाणबलात् वं निश्चयेन गुरूपदेशः अपेक्ष्यते । तत्र लौकिकपरिमाणे यथा प्रादेशे प्रदर्शिते तद्द्विगुणादिरूपं हस्तादिकं जानाति तथा जगत्कर्तृत्वे ज्ञाते सर्वैश्वर्यत्वादयो ज्ञाता भवन्ति । अथवा । प्रकर्षेण आदेश उपदेशस्तन्मात्रं गूढतया शास्त्रार्थनिरूपणं भवदर्थं प्रकर्षेण दर्शितम् । अनेन गूढमेव स्पष्टमिव प्रदर्शनीयमित्युपदेशः ।।२०।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् के स्वरूप एवं चरित्र का निरूपण करना है । चरित्र एवं स्वरूप को अभिन्न रूप से कहना है । यदि चरित्र भगवद्रूप नहीं माना जाता है तो भगवदतिरिक्त भावना होने से संसार होगा इसलिए चरित्र एवं स्वरूप को अभिन्न रूप से निरूपण करते हैं कि "इदं विश्वं भगवान्" यह विश्व भगवान् है इसमें विश्व को उद्देश्य कर भगवत्व का विधान किया गया है ऐसा मानने पर सर्वत्र भगवान् को ही देखेगा और उससे कृतार्थ हो जायगा इसलिए कार्यरूप प्रपञ्च को भगवद्रूप कहा है । श्लोक में आया हुआ 'हि' शब्द निश्चय अर्थ को बताता है । अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तज्जलान्" यह सब कुछ निश्चय रूप से ब्रह्म है । उसी से पैदा होता है, उसी में लीन होता है तथा उसी से सुरक्षित रहता है । यह श्रुति सबको ब्रह्मरूप कहती है इसलिए निश्चय करके सभी भगवद्रूप हैं ।

इस श्लोक में उत्तम, मध्यम एवं अधम अधिकारी के भेद से तीन प्रकार से निरूपण किया गया है । उत्तमाधिकारी के लिए यह सब कुछ भगवान् है यह कहा गया है । मध्यमाधिकारी इस प्रकार मानता है कि यह विश्व भगवान् की तरह है भगवान् नहीं है । भगवान् की तरह होने से इस विश्व का सम्मान आदि करना चाहिये । आसक्ति नहीं करनी चाहिये । अधमाधिकारी जो निकृष्ट शब्द से भी कहा जाता है वह विश्व को भगवान् से पृथक् देखता है अतः वह भगवान् को न देखकर प्रपञ्च को ही देखता है जो भगवान् से पृथक् देखता है उसका मुख बाहर होने से वह बहिर्मुख है और भ्रष्ट हो जाता है । इस प्रकार सर्वत्र तीन प्रकार से निरूपण करना चाहिये । शङ्का करते हैं कि एक जगत् तीन रूप से कैसे माना जा सकता है ? इस पर कहते हैं कि "यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः" जगत् की स्थिति भगवान् में ही है, जगत् में भगवान् ही हैं, भगवान् जगत् के आधार हैं इसलिए भगवान् ही जगत् है । यह श्लोक में आये हुए 'स्थान' पद से बताया है । मध्यमाधिकारी जगत् को भगवान् की तरह मानता है भगवद्रूप नहीं मानता इसका सूचक यहां 'सम्भव' पद है । अर्थात् जगत् भगवान् से पैदा होता है । जगत् कार्य है और भगवान् कारण है । कार्य कारण का

तादात्म्य सम्बन्ध होने से कार्यरूप से जगत् ब्रह्म से भिन्न है और कारण रूप से अभिन्न है। भेद को सहन करते हुए भी अभेद रहना तादात्म्य कहलाता है 'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम्" इस वचन से जगत् को भगवान् की तरह कहा है। परन्तु जो मूर्ख हैं वे तो ऐसा समझते हैं कि भगवान् तो प्रलय करते हैं और प्रलय होता है। इस जगत् का इसलिए भगवान् और जगत् भिन्न भिन्न हैं। इतर लोगों का कहना यह है कि भगवान सदातन है और यह जगत् अशाश्वत है अथवा 'इदं हि विश्व भगवानिवेतरः' इसके द्वारा पूर्व में भगवान् के चरित्र का निरूपण किया। अब 'यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा' इससे भगवान् का निरूपण करते हैं। इस तरह अर्थ भेद और अधिकारी भेद से सक्षेप से निरूपण करके यह गुप्त है इसलिए इसका विवरण नहीं करना चाहिये। नारदजी कहते हैं कि इस पूर्वोक्त विषय को आप स्वयं ही जानते हैं इसके जानने के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं है इसे 'तद्धि स्वयं वेद भवान्" इससे बताया है अथवा वह जगत् स्वयं आप हैं इसलिए आप जानते हैं तब तो ब्रह्मा का उपदेश व्यर्थ है ? इस पर कहते हैं "तथापि वै प्रादेशमात्रम्" ब्रह्मा होने पर भी प्रमाण बल के लिए निश्चय रूप से गुरु का उपदेश अपेक्षित है। वहां लौकिक परिमाण (नाप) में प्रादेश (नाप) के बता देने पर जैसे उसका दुगुना हाथ का नाप होता है इसे जान लेते हैं उसी तरह वह ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है ऐसा जान लेने पर वह ईश्वर सर्वेश्वर आदि है ये भी जान लिये जाते हैं अथवा प्रकृष्ट आदेश उपदेश होता है इसलिए मैंने (नारद ने) गुप्त रूप से तुम्हारे (व्यासजी के) लिए उतने मात्र शास्त्रार्थ का निरूपण प्रकृष्ट रूप से कर दिया है। इससे यह सूचित होता है कि है तो यह गूढ़ किन्तु इसका प्रदर्शन तुम स्पष्ट की तरह करो यह ही उपदेश है ॥२०॥

**आभास**—किञ्च। स्वावतारप्रयोजनं जानीहि। किमर्थमवतीर्णोऽसि ? भगवान् स्वयमवतीर्य सर्वभक्तोद्धारार्थं स्वाऽऽत्मख्यापनार्थं स्वांशं ज्ञानकलारूपं भवन्तमवतारितवान्। अतश्चरित्राऽकथने तवाऽवतारो निःप्रयोजन इति भगवदिच्छया तवाऽन्तःकरणविषादः। अतो भगवदाज्ञां परिपालय। स्वजन्मसाफल्यं चेत्याह—

**आभासार्थ**—वेदव्यासजी ! आप अपने अवतार का प्रयोजन जानें कि आप किसलिए अवतीर्ण हुए हैं ? स्वयं भगवान् ने अवतार लेकर सब भक्तों के उद्धार के लिए अपना स्वरूप जताना है अतः ज्ञान कला रूप आपको अवतरित किया है। यदि आप भगवच्चरित्र न कहेंगे तो आपका अवतार ही निष्प्रयोजन हो जायगा इसलिए भगवान् की इच्छा से तुम्हारे अन्तःकरण में खेद हो रहा है। अतः भगवच्चरित्र का निरूपण कर भगवान् की आज्ञा का पालन करें और अपने जन्म को सफल करें। इस बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम्।**
**अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥२१॥**

**श्लोकार्थ**—आप अपने से स्वयं को पुरुषोत्तम की कला समझें। आप अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं इसलिए बड़े प्रभाव वाले भगवान् के चरित्र को ज्ञान भक्ति से अधिक रूप में बताते हुए निरूपण करें ॥२१॥

**सुबोधिनी**—**त्वमात्मनाऽऽत्मानमिति** । त्वमात्मानं परस्य पुंसः कलामवेहि । जीवस्य ब्रह्मोपदेशवदयमुपदेश इति निराकर्तुमाह **कलामिति** । साधनं च तव स्वरूपमेव ज्ञातम् । स्वरूपं तथा ज्ञापयिष्यतीत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यमाह—**अमोघदृगिति** । ननु सर्वे जीवा भगवदंशकलाः । कोऽयं मयि विशेषस्तत्राऽऽह । **परस्य पुंसः** । पुरुषोत्तमस्य । अन्ये त्वक्षरस्य पुरुषस्य वा । नन्वक्षरपुरुषयोरपि भगवत्त्वात्को विशेषः ? तत्राऽऽह—**परमात्मन इति** परमश्चाऽसावात्मा चेति । गङ्गाजलदेवतयोरिवाऽऽत्मपरमात्मनोः स्वरूपमिति भावः । तर्हि कथं ममोत्पत्तिस्तत्राऽऽह-**अजं प्रजातमिति** । अनुत्पन्न एव त्वमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिव्यासरूपेणाऽवतीर्णः । अतः सर्वस्याऽपि जगतः शान्तसुखाय महानुभावस्य भगवतः अभ्युदयः चरित्रं अधिकं गण्यतामुद्देशमात्रेणोच्यताम् । अस्य भगवतश्चरित्रं भक्तसम्बन्धिष्वपि परममनुभावं सम्भावयतीति महानुभावः । तस्याऽभ्युदयः परमोत्सवः । तस्याऽऽधिक्यं ज्ञानादिभ्यः । अवाङ्मनोगोचरत्वादिदमित्थतया निरूपणमशक्यम् । अत उद्देशमात्रं कर्तव्यमिति ।।२१।।

**व्याख्यार्थ**—तुम अपने को परपुरुष की कला जानो । 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' से जैसे जीव को ब्रह्मरूप से बताया है उस रूप से मैं आपको ब्रह्मरूप से नहीं बता रहा हूँ किन्तु कला के रूप में बता रहा हूँ । इस ज्ञान होने का साधन आपका जाना हुआ स्वरूप ही है अर्थात् आप अपने स्वरूप को जान लेंगे तो ज्ञान अपने आप हो जायगा ।

आप सत्यदृष्टा हैं इसलिए आप में यह सामर्थ्य है शङ्का करते हैं कि सभी जीव भगवान् के अंश कलारूप हैं तो मेरे में क्या विशेषता है ? तो कहते हैं कि आप पुरुषोत्तम की कला हैं ? अन्य जीव अक्षर एवं पुरुष की कला हैं । शङ्का करते हैं कि अक्षर एवं पुरुष भी भगवान् हैं तो उनसे पैदा होने वाले जीवों में और मुझमें क्या विशेषता है इस पर कहते हैं कि 'परमात्मनः' परम आत्मा रूप पुरुषोत्तम की आप कला हैं । जैसे गङ्गाजल एवं उसके आधिदैविक स्वरूप में तारतम्य है वैसे ही अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम के स्वरूप में भेद है । यदि आप कहें कि मैं जब पुरुषोत्तम की कला हूँ तो मेरी उत्पत्ति कैसे हुई क्योंकि पुरुषोत्तम की कला तो जन्म लेने वाली नहीं होनी चाहिये । इस पर कहते हैं कि "अजं प्रजातम्" आप अनुत्पन्न होने पर भी केवल आनन्द रूप हाथ पैर, मुख, उदर वाले व्यास रूप से अवतीर्ण हुए हो । अर्थात् आपका जन्म नहीं है किन्तु अवतार है । व्यापि वैकुण्ठ से आगमन है । अतः सभी जगत् को शान्त सुख मिले एतदर्थ महानुभाव भगवान् के चरित्र को अधिक रूप से निरूपण करें । भगवान् के चरित्र भक्तों के सम्बन्धियों में भी परम प्रभाव दिखाते हैं इसलिए वह परम उत्सव रूप है । श्लोक में आये हुए 'अधि' शब्द का अर्थ आधिक्य है । अर्थात् ज्ञान आदि से भी भगवच्चरित्र का माहात्म्य ज्यादा है । इसलिए ज्ञान कर्म आदि चरित्र का महत्व बतायें । वाणी मन का विषय न होने से भगवच्चरित्र ऐसा ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अतः निर्देश मात्र ही करें ।।२१।।

**आभास**—ननु धर्मसहितं चरित्रमुपदेष्टव्यं केवलं वेति शङ्कायामाह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि भगवान् के चरित्र का उपदेश तो देना है परन्तु साथ में धर्म का भी निरूपण करना है या नहीं इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक —**इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ।।२२।।**

**श्लोकार्थ**—मनुष्य भगवच्चरित्र के सुनने से तप वेदान्त श्रवण यज्ञ अध्यापन बुद्धि एवं दान का फल पूरा प्राप्त करता है यह कवियों ने निरूपण किया है ।।२२।।

**सुबोधिनी—इदं हीति** इदं चरित्रश्रवणं तपआदिभिस्तुल्यम् । फलतः स्वरूपतः साधनतश्च भगवत्त्वात् । सर्वस्याऽपि तानि भगवानिति । तत्र धर्मविशेषो वर्णाश्रमेषु प्रतिष्ठितः । तत्र तपो वानप्रस्थेषु संन्यासिषु वा । श्रुतं श्रवणं वेदान्तानाम् । तत्सन्यासिषु । स्विष्ट गृहस्थे । सूक्तमध्ययनं ब्रह्मचारिषु क्षत्रियवैश्ययोर्बुद्धिदाने । एवं सर्वैर्धर्मैर्यद्भवति तानि च अविच्युतोऽर्थः । न विच्युतः अर्थो येन । शास्त्रसिद्धावपि लोकसिद्धिर्न भविष्यतीत्यत आह—**कविभिरिति** । नितरामिति युक्तिसहितम् । उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनमनूद्याऽविच्युतार्थत्वं विधीयते । अत एकेनैव सर्वसिद्धेर्न तेषां पृथक्करणं नाऽप्यकरणमिति सिद्धान्तः । निषिद्ध तु न कर्तव्यम् ।।२२।।

**व्याख्यार्थ** यह भगवच्चरित्र सुनना तप आदि के समान है क्योंकि चरित्र का फल स्वरूप एवं साधन भगवद्रूप ही है । सब सुनने वालों के लिए स्वरूप, साधन एवं फल भगवान् ही है । वर्ण एवं आश्रमों में जो धर्म होता है वह धर्म विशेष है । जैसे वानप्रस्थ और सन्यासी तप करते हैं अथवा यों कहिये कि संन्यासी वेदान्तों का श्रवण करते हैं । गृहस्थ यज्ञ करता है, ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता है, क्षत्रिय बुद्धि देता है, वैश्य दान देता है । इस प्रकार ऊपर कहे गये सब धर्मों से जो फल मिलता है वह सम्पूर्ण फल भगवच्चरित्र से भी मिलता है । किसी फल की कमी नहीं रहती । यदि कहें कि शास्त्र से सिद्ध है तो भी लोकसिद्ध तो नहीं है तो कहते हैं "कविभिः" अर्थात् ज्ञानियों ने युक्ति सहित ऐसा निरूपण किया है । श्लोक से भगवान् के गुण वर्णन का अनुवाद कर अविच्युत अर्थ का विधान किया गया है अर्थात् भगवान् के गुण वर्णन से तप वेदान्त श्रवण यज्ञ वेदाध्ययन आदि सबका पूरा पूरा फल मिल जाता है । इससे सिद्ध हुआ कि एक मात्र चरित्र के सुनने से ही अब सब फल मिल जाता है तो तप आदि अलग करना आवश्यक नहीं है । नहीं करना यह भी नहीं कहा है परन्तु निषिद्ध कर्म को तो नहीं करना चाहिये ।।२२।।

**आभास**—एवं सामान्यत उपदेशमुक्त्वा आदिसाधनमारभ्य फलपर्यन्तं पदार्थानां क्रमं वक्तुं निदर्शनेन स्वचरित्रमाह सप्तदशभिः—

**आभासार्थ**—इस प्रकार सामान्य रूप से उपदेश देकर प्रारम्भिक साधन से लेकर फल प्राप्ति पर्यन्त पदार्थों के क्रम को बताने के लिए दृष्टान्त रूप से अपने चरित्र १७ श्लोकों से नारदजी कह रहे हैं—

श्लोक—**अहं पुराऽतीतभवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ।।२३।।**

**श्लोकार्थ**—हे मुने ! पूर्वकल्प में होने वाले पूर्व जन्म में वेदवादी ब्राह्मणों की दासी से मैं उत्पन्न हुआ था। मैं चातुर्मास्य में एकत्र निवास करने की इच्छा वाले योगियों की सेवा में नियुक्त किया गया ॥२३॥

**सुबोधिनी**—**अहमिति**। अतिहीनस्याऽत्युत्कृष्टपदप्राप्तिरस्मिन्नेव मार्गे न मार्गान्तर इति शापेन शूद्रत्वं प्राप्तस्य देवर्षित्वं निरूप्यते। अतीतभवे पूर्वजन्मनि। नैकट्यभ्रमव्यावृत्त्यर्थम्। **पुरेत्येत**ज्जन्मनोऽजरामरत्वख्यापनाय। **मुने** इत्युक्तविश्वासाय। संवाद त्। पितनाम न गृहात तदानीमज्ञानात्। पितुर्हीनत्वख्यापनाच्च। वस्तुतस्तु ब्राह्मणः। अन्यथा अनुमोदनादिकं न सम्भवति। कस्याश्चिदप्रसिद्धायाः। अन्यथा आदरः सम्भवेत्ततो बन्धः। अनेनाऽस्मिन्मार्गे यथा यथा निरादरत्वं तथा तथा कार्यसिद्धिरिति। वेदवादिनः श्रोत्रियाः। अनेन भगवन्मार्गापरिज्ञानमुक्तम्। आश्रमिणां संन्यासिनामयं धर्मो यन्मासाष्टकं कीटवत्पर्यटनं विधाय आषाढ्यां यत्र गच्छन्ति तत्र ब्राह्मणनिर्मितविविक्तस्थाने तिष्ठन्तीति तथा दैवयोगान्नारदस्य स्थितिगृहे प्रार्थनया ब्राह्मणानुज्ञया भाविसनकादयश्चत्वारः परमहंसाः स्थिताः। अपृथग्धर्मशीलत्वाच्चतुर्णां सङ्गः। योगनिष्ठाश्च। अतः सेवापेक्षा। तेषां शुश्रूषणार्थं ब्राह्मणैरेवाहं निरूपितस्त्वमेतेषामेव सेवां कुरु नाऽन्यत्किञ्चिदिति नियुक्तः। मत्स्वरूपमज्ञात्वाऽपि बालक एव नियुक्तो योगिनां शुश्रूषार्थम् "**स्थास्यामश्चतुरो मासानि**"ति मासचतुष्टयमेकत्रैव नितरां वासमिच्छताम्। एवमेकेन तत्सम्बन्ध उक्तः। सेवार्थं सत्सङ्ग इति प्रथमं साधनम् ॥२३॥

**व्याख्यार्थ**—भक्तिमार्ग से ही अत्यन्त हीन प्राणी अत्यन्त उत्कृष्ट पद प्राप्त कर सकता है। दूसरे मार्ग से नहीं। इसलिए नारदजी शाप से पूर्व जन्म में शूद्र हो गये थे। उनके देवर्षि होने का निरूपण करते हैं। श्लोक में आये हुए "अतीतभवे" का अर्थ है पूर्वजन्म। अर्थात् इस जन्म से पहले के जन्म में। यह बात इसलिए कही कि यह निकट की बात नहीं है। 'पुरु' का अर्थ यह है कि यह जन्म मेरा वृद्धावस्था एवं मृत्यु से मुक्त है। नारदजी ने वेदव्यासजी को 'मुनि' शब्द से सम्बोधित कर यह बताया कि आप मनन करने वाले हैं इससे मनन के द्वारा मेरा कहना ठीक है यह विश्वास कर लेगे। श्लोक में नारदजी ने अपने पिता का नाम नहीं बताया। क्योंकि काल के होने से पूर्व जन्म में पिता का नाम ज्ञात नहीं था या पिता हीन थे इसलिए उनका नाम नहीं लिया। वास्तव में तो इनके पिता ब्राह्मण थे ब्राह्मण न होते तो ऋषि लोग उच्छिष्ट देने का अनुमोदन नहीं करते। 'कस्याश्चन' का अभिप्राय है कि वह माता अप्रसिद्ध थी। यदि नाम लेते तो उसका आदर होता और आदर से बन्धन हो जाता। इससे यह बताया कि भक्तिमार्ग में जैसे-जैसे आदर की भावना नहीं होतो वैसे-वैसे कार्य सिद्ध होता रहता है। 'वेद वादिनः' का अर्थ है वेदपाठी ब्राह्मण (परमहंस) थे। इससे यह सूचित हुआ कि वेदपाठी तो थे परन्तु भगवन्मार्ग का परिज्ञान नहीं था। आश्रम वालों में जो संन्यास आश्रम वाले हैं उनका यह धर्म है कि आठ महिने पर्यन्त कीड़े की तरह भ्रमण कर आषाढी पूर्णिमा में जहां पहुँचे वहां ब्राह्मण से बनाये गये एकान्त स्थान में रहते हैं। इसलिए दैवयोग से आगे सनकादि बनने वाले चार परमहंस मेरी प्रार्थना से और ब्राह्मणों की आज्ञा से मेरे निवास स्थान में रहे। चारों का एक ही धर्म एवं एक ही स्वभाव था इसलिए चारों का संग था। वे योग साधन करने वाले थे। योग मे रत रहने के कारण उन्हें अन्य कार्य के लिए सेवक की आवश्यकता थो। वहां के ब्राह्मणों ने मुझे कहा कि इन्हीं की सेवा करो। और कुछ मत करो।

इस प्रकार मैं सेवा में लग गया। ब्राह्मणों ने मेरे स्वरूप को न जानकर मुझ बालक को ही उनको सेवा में लगा दिया। आने वाले परमहंसों ने कहा कि हम चार महिने यहीं रहेंगे। चार महिने पर्यन्त एक स्थान पर ही निवास करना चाहते थे। इस एक श्लोक से नारदजी को सत्पुरुषों का सम्बन्ध हुआ यह कहा गया, सेवा के लिए पहला साधन सत्सङ्ग है यह स्पष्ट बताया गया।२३।

**आभास**—ततस्तेषां कृपामाह—

**आभासार्थ**—इसके बाद उन परमहंसों की मेरे पर कृपा हुई यह बात कहते हैं—

श्लोक—**ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि।**
**चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥**

**श्लोकार्थ**—सम्पूर्ण चपलता से मुक्त बालक, इन्द्रिय दमन करने वाले, खिलौने से नहीं खेलने वाले, परमहंस जिस प्रकार प्रसन्न रहे वैसी सेवा करने वाले, मितभाषी, सेवा करने वाले मुझ पर समदर्शी होने पर भी उन मुनियों ने कृपा की ॥२४॥

**सुबोधिनी**—**ते मयीति**। तत्सेवकयोर्गुणदोषाभावा अत्र निरूप्यन्ते। सतां गुणत्रयम्। कृपालुत्वं, ब्रह्मविद्या, मननं चेति। धर्मो ज्ञानं साधनं चोक्तम्। अग्रे साधनकथनं ज्ञानानुवृत्तये। सेवकस्य दोषाभावात्रयः। गुणाश्चत्वारः। चपलता दोषः। तद्देहेन्द्रियान्तःकरणानां प्रयत्नदार्ढ्याभावाच्चपलता दोषः सहजः। स आदौ दृढप्रयत्नेन निवारणीयः। तदाह। अपेतानि अखिलानि चापलानि यस्मादिति। अर्भकत्वं दीनत्वबोधको गुणः। तदनु दोषाभावद्वयमाह—**दान्तेऽधृतक्रीडनक इति**। इन्द्रियाणां विषयाकांक्षाराहित्यकरणं दमः। न धृतानि क्रीडनकानि येन। इन्द्रियकालकृतौ नियतौ दोषौ विषयसम्बन्धः क्रीडासाधनपरिग्रहश्च। तदभावे सर्वदोषनिवृत्तिः। ततोऽन्तरङ्गं गुणमाह—**अनुवर्तिनीति**। एवं स्वतः पञ्चसु सम्पन्नेषु तेषां परदुःखप्रहाणेच्छा जाता। परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितस्य कारुणिकस्य तन्निदानोच्छेदने तृष्णा भवतीति। नन्वेतद्ब्रह्मविदोऽनुचितम्? तत्राऽऽह—**यद्यपि तुल्यदर्शना इति**। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तुल्यशब्दवाच्यम्। ब्रह्मज्ञानकृतं वा स्वपरयोः सुखदुःखसमत्वज्ञानं तुल्यम्। तस्य दर्शनं येषामिति। परदुःखं दृष्ट्वा तत्प्रहाणेच्छैव जाता। न ज्ञानमन्यथा जातमित्यर्थः। दुर्बलत्वादिच्छामूलभूतज्ञानस्य। ननु कार्यक्षमा कृपा न भविष्यति। बाधकज्ञानस्य विद्यमानत्वात्। अत आह—**शुश्रूषमाण इति**। सेवायाः सेच्छायाः सेव्यवश्यत्वं सर्वजनीनम्। नन्वनपेक्षायाः कथं वश्यताहेतुत्वम्? तत्राऽऽह—**मुनय इति**। मननबाधकनिवर्तिका सेवाऽपेक्ष्यत एव। सेवायां सांसर्गिको दोषो बहुभाषणमभाषणं वा। तदुभयनिवर्तको गुणः अल्पभाषणम्। अनेन निर्दुष्टा सेवा द्वितीयं साधनमिति ॥२४॥

**व्याख्यार्थ**—सत्पुरुषों में एवं सेवकों में कौनसे गुण होने चाहिये और कौन से दोष नहीं होने चाहिये इसका निरूपण करते हैं। सत्पुरुषों में दयालुता, ब्रह्मज्ञान और मनन ये तीन गुण होते हैं। दयालुता धर्म है, ब्रह्मविद्या ज्ञान है और मनन साधन है। आगे ज्ञान रहे इसलिए भगवान् के गुणगान साधनरूप से कहा गया है। सेवक में तीन दोष नहीं होने चाहिये और चार गुण होने

चाहिये । चपलता दोष है । वह चपलता देह इन्द्रिय अन्तःकरणों के प्रयत्नों में दृढ़ता न होने से होती है । यह सहज दोष है । पहले इस दोष को बड़े प्रयत्न के साथ मिटाना चाहिये । इसी बात को कहते हैं कि मुझसे सम्पूर्ण चपलताएं दूर हो गई । मेरे बालक होने से मुझ में दैन्य गुण था । बालक में दीनता स्वाभाविक है । अब दो दोष का नहीं रहना कहते हैं । मेरी इन्द्रियां विषयों की आकांक्षा नहीं करती थी इसलिए इन्द्रियों का दमन था । मैं खिलौने से नहीं खेला । इस प्रकार ये दो दोष नहीं थे । इन्द्रियों का दमन नहीं होना यह नियत दोष है इसी प्रकार खिलौने से खेलना कालकृत दोष है । इन दोनों दोषों से मैं मुक्त था । अर्थात् मेरी इन्द्रियां विषयों का सम्बन्ध नहीं चाहती थी और मैं खिलौने से भी नहीं खेलना चाहता था । इन्द्रिय एवं अवस्था के दोष नहीं होते हैं तो सब दोषों की निवृत्ति समझना चाहिये । अब सेवक के अन्तरङ्ग गुण कहते हैं । 'अनुवर्तिनि' जैसे वे प्रसन्न रहते वैसी सेवा की । इस प्रकार चपलता नहीं होना, दीनता होना, इन्द्रिय दमन, खिलौने से नहीं खेलना । उनकी इच्छानुसार सेवा करना इन पाँच बातों के सम्पन्न होने पर, मेरे दुःख मिटाने की उनकी इच्छा हुई । दूसरे के दुःख को देखकर दुःखित होने वाले दयालु की यह इच्छा होती है कि उसके दुःख के कारण को ही मिटाया जाय ।

शङ्का करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी निर्दोष एवं समदृष्टि वाले होते हैं इसलिए मेरे पर विशेष कृपा क्यों हुई ? इस पर कहते हैं कि 'यद्यपि तुल्यदर्शनाः' ब्रह्मज्ञान से अपने पराये के सुख दुःख का ज्ञान समान होता है । तथापि मेरे दुःख को देखकर उनके मिटाने की ही इच्छा हुई । समानतारूपी विरोधी ज्ञान उनको नहीं हुआ । इच्छा का मूलभूत ज्ञान है । अर्थात् 'जानाति इच्छति यत ते' यह क्रम है । पहले जानता है फिर इच्छा करता है फिर उसको प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है । यहां परमहंसों का इच्छा का मूलभूत ज्ञान दुर्बल हो गया । तात्पर्य यह है कि समत्व ज्ञान कराने वाला ब्रह्मज्ञान दुर्बल हो गया और दूसरे के दुःखों को मिटाने की इच्छा प्रबल हो गई । कहते हैं कि कृपा तो हुई किन्तु उससे कार्य नहीं हुआ होगा । क्योंकि ब्रह्मज्ञान बाधक था । तो कहते हैं कि 'शुश्रूषमाणे' मैं सेवा करता था । इच्छापूर्वक जो सेवा होती है उससे सेव्य वश में हो जाता है । यदि कहें कि जिनकी आप सेवा कर रहे हैं वह सेवा उन्हें अपेक्षित न हो तो वे उस सेवा से कैसे वश में हो सकते हैं इस पर कहते हैं कि 'मुनयः' वे मनन करने वाले थे । यदि स्वयं का कार्य वे स्वयं करते तो मनन में बाधा होती इसलिए उनको सेवा करने वाले की अपेक्षा थी । सेवा में बहुत बोलना अथवा बिलकुल नहीं बोलना यह सांसर्गिक दोष है । इन दोनों दोषों को मिटाने वाला गुण मित भाषण है । इसलिए कहा गया कि दोष रहित सेवा भक्तिमार्ग का दूसरा साधन है ।।२४।।

**आभास**—ततो यज्जातं तदाह—

**आभासार्थ**—उसके बाद जो हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**उच्छिष्टलेपाद्यनुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्विषः ।**
**एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवाऽऽत्मरुचिर्व्यजायत ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**—उच्छिष्ट जो पात्र में लगा हुआ था, उसे ब्राह्मणों के अनुमोदन करने पर मैं एक बार खाता था जिससे मेरे सम्पूर्ण पाप दूर हो गये और इस प्रकार

निरन्तर करने पर मेरा चित्त शुद्ध हो गया और उन ब्राह्मणों का अपरिग्रह (दान नहीं लेना), किसी का सङ्ग न करना और भगवच्चिन्तन करना आदि जो धर्म थे, उनमें मेरी रुचि हो गई ।।२५।।

**सुबोधिनी उच्छिष्टेति** । पापनाशस्तद्धर्मरुचिश्च ततोऽप्यन्तरङ्गं साधनम् । उच्छिष्टं भोजनशेषः । लेपः पात्र्यां लग्नम् । चतुर्णां तानेकीकृत्य सकृद्भक्षणं पापक्षयसाधनम् । ननु— **"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृत"** मित्यादिमनुवाक्यैर्निषिद्धमुच्छिष्टादिदानं कथं कृतवन्तः? तत्राऽऽह— **अनुमोदित इति** । तस्यैवेयमिच्छा उत्पन्ना । शुद्धसत्त्वान्धसा महापुरुषोच्छिष्टेनाऽतिपवित्रेणाऽऽत्मानं पावयिष्यामीति । तत उच्छिष्टं दृष्ट्वा मोदो जातः । तत्र प्रार्थनायामनुमोदनमात्रं कृतम् । न तु स्वयमुद्यम्य दत्तमिति । न चाऽयं सर्वथा शूद्रः । ब्रह्मबीजत्वात् । गृहस्थानां चाऽयं धर्मः । तत्राऽपि साधारणेषु । सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा । कृपाफलं चैतत् । यथौषधेनाऽजीर्णनिवृत्तिस्तथाऽन्नमयस्य देहस्य उच्छिष्टान्नसाधितदेहेन दोषसन्ताननिवृत्तिरित्यर्थः । तदाह—**तदपास्तकिल्विष इति** । उच्छिष्टभोजनैकनियमेनाऽपि दोषनिवृत्तिर्लोकसिद्धेति स्मेत्युक्तम् । रोचकद्रव्येणाऽरुचिनिवृत्ताविव सद्धर्मरुचिप्रतिबन्धकदोषनिवृत्तौ स्वत एव रुचिर्जातेत्याह—**एवमिति** । **प्रवृत्तस्येति** निरन्तरकरणमुक्तम् । नियमेन चित्तं शुद्धं जातमित्याह— **विशुद्धचेतस इति** । तेषां धर्मः अपरिग्रहसङ्गनिवृत्तिभगवच्चिन्तनादिः । तत्र प्रेमाव्यतिरेकेण आत्मन एव रुचिरुत्पन्ना । सा च वृद्धिं प्राप्तेत्यर्थः । अस्य न्यायसिद्धत्वकथनाय लङ्प्रयोग. ।।२५।।

**व्याख्यार्थ**—सेवा से भी पापनाश एवं भगवद्धर्म में रुचि होना अन्तरङ्ग साधन है । श्लोक में आये हुए उच्छिष्ट शब्द का अर्थ है भोजन का शेष अर्थात् जो भोजन करने के बाद बाकी रहता है वह 'उच्छिष्ट' पद से यहां लिया गया है । 'लेप' का तात्पर्य पात्र में लगा हुआ । अर्थात् भोजन से शेष रहा जो पात्र में लगा हुआ था उस चारों परमहंसों के उच्छिष्ट को एकत्रित कर एक बार लेने से पाप नाश होता है । मैंने वैसा ही किया इसलिए पाप नहीं रहे और उनके धर्म में रुचि हो गई । कहते हैं कि 'न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्' शूद्र को ब्रह्मज्ञान उच्छिष्ट एवं हवि के लिए बनाई गई वस्तु नहीं देनो चाहिये । यह मनु वाक्य है । तो दासी पुत्र होने से उच्छिष्ट आदि कैसे दिया । इस पर कहते हैं कि मेरी इच्छा हुई कि महापुरुषों का उच्छिष्ट अति पवित्र शुद्ध सत्त्व गुण वाले अन्न से अपने को पवित्र करूं इसलिए उनके उच्छिष्ट को देखकर प्रसन्नता हुई । मेरे प्रार्थना करने पर उन्होंने अनुमोदन मात्र किया । स्वयं अपनी इच्छा से नहीं दिया ।

और एक बात यह भी थी कि यह ब्राह्मण की सन्तान होने से सर्वथा शूद्र नहीं था । इसलिए उच्छिष्ट देना अनुचित नहीं था । महात्माओं का उच्छिष्ट लेना गृहस्थों का तथा साधारणों का धर्म है । अनुग्रह मार्ग में स्नेहपूर्वक सेवा होती है । स्नेहपूर्वक सेवा होना कृपा का फल है । जैसे औषध से अजीर्ण की निवृत्ति होती है वैसे ही अन्नमय देह के स्थान पर उच्छिष्ट अन्न के खाने से जो देह बनता है उससे दोष परम्परा की निवृत्ति होती है इसी को कहा है कि 'तदपास्त किल्विषः' केवल उच्छिष्ट खाने के नियम से दोष निवृत्ति होती है यह लोक प्रसिद्ध है । इसी प्रसिद्ध अर्थ को ही श्लोक में आया हुआ 'स्म' पद कहता है । रुचि पैदा करने वाली वस्तु से जैसे अरुचि निवृत्त होती है वैसे ही सद्धर्म में रुचि होने से प्रतिबन्धक दोष निवृत्त हो गये और स्वतः सद्धर्म में रुचि हो

गई। प्रवृत्तस्य का अभिप्राय यह है कि निरन्तर मैंने ऐसा किया इससे मेरा चित्त शुद्ध हो गया। इसी बात को श्लोक में आये 'विशुद्धचेतसः' से कहा गया है। दान नहीं लेना, किसी का सङ्ग नहीं करना एवं भगवच्चिन्तन करना आदि परमहंसों के धर्म हैं। उनमें मेरी रुचि बिना प्रेरणा के हो गई और बढ़ी। जैसे के पास रहता है वैसा बन जाता है यह न्याय सिद्ध है। इसी बात को कहने के लिए श्लोक में आये 'व्यजायत' ऐसा लङ् का प्रयोग किया गया। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जिसको जिससे गुण प्राप्त होता है उसकी उसमें रुचि होती है यह लोक न्याय सिद्ध बात है इसलिए यहां 'प्रजायते' इस लट् का प्रयोग किया गया है। ऐसा न मानते तो 'व्यजायत' ऐसा प्रयोग करना चाहिये ॥२५॥

**आभास**—एवमान्तरं दोषाभावं गुणं चोक्त्वा बहिर्गुणमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भीतर के दोष की निवृत्ति हुई और भगवद्धर्म रूप गुण प्राप्त हुआ, यह कहकर बाह्य गुण को कहते हैं—

श्लोक—**तत्राऽन्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाऽशृणवं मनोरमाः।**
**ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाऽभवद्रुचिः ॥२६॥**

**श्लोकार्थ**—हे व्यासजी! रुचि के उत्पन्न होने पर प्रतिदिन जो कृष्णकथा कह रहे थे उनके अनुग्रह से मैंने मनोरम कथा को सुना। उस कृष्णकथा को श्रद्धा से पदार्थ अक्षरार्थ सहित सुनते हुए मेरा जिसकी कीर्ति प्रिय लगती है ऐसे भगवान् में अनुराग पैदा हो गया ॥२६॥

**सुबोधिनी**—**तत्रेति**। अन्वहमित्यशृणवमित्यनेन सम्बध्यते। परमहंसानां वा नित्योऽयं धर्म इति ख्यापयितुम्। कृष्णपदात्परमहंसा अप्येते भक्ता इति ज्ञापितम्। गानं प्रेमाऽऽधिक्यात्। प्रकृष्टगानं तद्भावेन **अनुग्रहेण**त्याज्ञया श्रवणं बोध्यते। न तु प्रासङ्गिकम्। कथामनोरमपदाभ्यां अर्थमभिप्रायं ते बोधयन्तीति लक्ष्यते। निर्बन्धेन श्रवणाभावायाऽऽह—**मनोरमा इति**। मनसो रमणं यासु। एवमेका श्रवणभक्तिः सिद्धा। तस्या नारदत्वपर्यन्तं फलम्। ततः कीर्तनमिति साम्प्रतं तु कीर्तनम्। एवमग्रे स्मरणादिवृद्धौ तावद्भिः कल्पैर्नवविधसाधनभक्तौ सिद्धायां प्रेम्णा भगवत्सायुज्यं भवतीति शास्त्रार्थः। तत्र श्रवणफलमाह-**ताः श्रद्धयेति**। श्रवणादीनां नाऽदृष्टद्वारा फलसाधकत्वम्। किन्तु स्वरूपेणैव। फलं च भगवद्याथार्थ्यज्ञानम्। तदेव हि कीर्तनेऽधिकारः। उत्तरस्याऽऽदिना हि पूर्वस्याऽवसानम्। अतः श्रवणस्य नैरन्तर्यं कर्तव्यम्। तदाह। ताः कथाः। अत्यादरेण—**अनुपदमिति**। पदार्थाक्षरार्थसहितेन वाक्येन हि श्रवणम्। ततो भगवति रुचिः। परं श्रवणद्वारा। तदाह—**प्रियश्रवसीति**। प्रियं श्रवः श्रवणं कीर्तिर्वा यस्य। **अङ्गेति** कोमलामन्त्रणमप्रतारणाय। प्रमाणबलं परित्यज्येन्द्रियाणां स्वाभाविकविषयग्रहणं रुचिः ॥२६॥

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में आये हुए 'अन्वहम्' का 'अशृणवम्" के साथ सम्बन्ध है। अर्थात् परमहंसों से कही गई कथा को मैंने प्रतिदिन सुना, इससे यह ज्ञात हुआ कि कृष्णकथा कहना

परम हंसों का नित्य-धर्म है। नित्यधर्म उसे कहते हैं जिसके नहीं करने से प्रायश्चित लगता हो। जैसे सन्ध्या वन्दन नित्य कर्म है उसके नहीं करने पर द्विज प्रायश्चित्ती होता है। वे अन्य कथा न कहकर कृष्ण कथा को कहते थे इसलिये वे परम हंस होते हुए भी कृष्ण भक्त थे। श्लोक में 'प्रगायताम्' का अभिप्राय यह है कि अधिक प्रेम से गान करते थे प्रकृष्ट गान प्रेम से होता है। परम हसो के अनुग्रह से मैंने सुना, इस कथन का तात्पर्य यह है कि उनने मुझे सुनने की आज्ञा दी क्योंकि उनका अनुग्रह था उनकी आज्ञा से सुना प्रसङ्ग वश नहीं सुना। जिसका अर्थ सुनाया जाता है वह कथा कहल तो है मन को आनन्द देने वाली तभी होती है जब उसका अभिप्राय समझ लिया जाता है। अर्थात् परम हंस मुझे अर्थ तथा अभिप्राय समझा रहे थे। उनके आग्रह से ही मैंने सुना यह बात नहीं थी। मेरे मन को आनन्द मिलता था इस लिए सुनता था।

इस प्रकार मेरी श्रवण भक्ति सिद्ध हुई। जिसका फल ब्रह्मा का पुत्र नारद होना है। श्रवण भक्ति के बाद कीर्तन भक्ति आती है इस लिये अब मैं कीर्तन भक्ति कर रहा हूं। इस प्रकार आगे स्मरण आदि भक्ति के बढ़ने पर प्रेम से नव प्रकार की साधन भक्ति सिद्ध होती है इससे भगवद् सायुज्य मिलता है यह शास्त्र का अर्थ है। नवविध भक्ति में श्रवण का फल कहते हैं। ता: श्रद्धया वे कथायें श्रद्धा से सुनता था। मेरे श्रवण आदि अदृष्ट द्वारा फल न देकर स्वरूप से हो भगवान् के यथार्थ ज्ञान रूप फल को देने वाले हुए। तात्पर्य यह है कि यज्ञ आदि से जैसे अदृष्ट पैदा होता है और उससे स्वर्ग आदि फल मिलते है ऐसा यहाँ नहीं है यहां तो श्रवण आदि ही फल दे देते हैं। बीच में अदृस की आवश्यकता नहीं है। श्रवण सिद्ध होने पर भगवान् के कीर्तन का अधिकार प्राप्त होता है कीर्तन स्मरण आदि जब प्रारम्भ होते है तब पहले के भक्ति की समाप्ति होती है अर्थात जब कीर्तन आरम्भ होता है तब श्रवण की समाप्ति होती है। इससे सिद्ध है कि जब तक कीर्तन भक्ति प्रारम्भ न हो तब तक निरन्तर श्रवण भक्ति करते ही रहना चाहिये। इसी बात का ता: 'आदि से कहा हैं। श्लोक में आये हुए 'अनुपदम्' का अभिप्राय यह है कि पदार्थ अक्षरार्थ सहित वाक्य से श्रवण किया। जिससे भगवान् में रूचि पैदा हुई। वह श्रवण द्वारा हुई इस अभिप्राय से कहते है कि 'प्रियश्रवसि' प्रिय है श्रवण अथवा कीर्ति जिनकी। 'अङ्ग' यह मैं प्रतारणा नहीं कर रहा हूँ इस बात को बताने के लिये कोमल सम्बोधन दिया है। मेरी रूचि प्रमाण बल से नहीं हुई इन्द्रियो की स्वाभाविक प्रवृति से हुई। रूचि शास्त्र श्रवण से होती है तथा स्वभावत: भी होती। मेरी रूचि स्वभावतः हुई ।।२६।।

**आभास**—ततः किमत आह—

**आभासार्थ**–उसके बाद क्या हुआ सो कहते है।

श्लोक—**तस्मिँस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम।**
**यथाऽहमेतत्सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ।।२७।।**

**श्लोकार्थ**—जिसकी रूचि पैदा हो गई है। ऐसे मेरी भगवान् में निरन्तर होने वाली मति अर्थात् निरन्तर होने वाला चिन्तन एवं भगवान् का यथार्थ ज्ञान हे महामुने! हुए। जिस यथार्थ ज्ञान से यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत् मुझ पर ब्रह्म में माया से कल्पित हुआ है यह देखा ।।२७।।

**सुबोधिनी—तस्मिन्निति** । रुच्या हि भगवदनुभवार्थं यत्नो लोकसिद्धः । स च यत्नो ज्ञानात्मक इति तदाह । **रुचेः** । फलस्य कालान्तरत्वं व्यावर्तयति—**तदेति** । रुचेर्द्रढत्वाय—**लब्धेति** । **महामुने** इति सम्बोधनं रुचिमत्योर्नियमार्थम् । प्रोषितभर्तृकेव (?) तदभिध्यानमत्र मतिः । शास्त्रतो वा याथार्थ्यज्ञानम् । तत्र स्खलनं विषयान्तराऽनुसन्धानम् । सन्देहो वा । तदुभयं नास्तीत्यस्खलिता । तत्रापि श्रवणपुरस्सरेणेति **प्रियश्रवसीत्युम्** । **"यो यच्छ्रद्धः स एव स"** इति वाक्यात्परमश्रद्धाया-मुत्पन्नायां सफलरुचि-पायां तत्वमावश्यकमिति । तदाह—**ययाऽहमिति** । प्रथमाधिकारार्थमाह । यया मत्या अहमेव ब्रह्म मय्येव सकलं जातं परं मायया परिकल्पितम् । एतत्स्थूलसूक्ष्मं शरीरं जगद्वा । मायया पूर्वोक्तया । अस्य जगतः प्रतीतिमात्रस्य अहं ब्रह्माऽधिकरणं माया करणमिति ज्ञातवानित्यर्थः । प्रपञ्चव्यतिरिक्ततया ब्रह्माऽऽत्माऽनुभवो जात इति यावत् ॥२७ ।

**व्याख्यार्थ**—जिस में रूचि होती है उसके अनुभव के लिये यत्न करता है यह लोक सिद्ध बात है । यहां नारदजी ने ब्रह्मज्ञान हो ऐसा यत्न किया अर्थात् भगवान् के अनुभव के लिये यत्न किया । इसी अभिप्राय को 'रूचे' इस पद से कहा है । रूचि से फल कालान्तर में हुआ हो यह बात नहीं हैं । इसी बात को 'तदा' यह पद कहता है । रूचि होते ही भगवान् का ध्यान होने लगा । 'लब्ध' का तात्पर्य यह है कि जिसका लाभ होता है उसको दृढ़ रूप से अपनाया जाता हैं । अर्थात् मेरी रूचि दृढ़ हुई । श्लोक में महामुने' यह सम्बोधन आया है जिसका अभिप्राय यह है कि जहाँ रूचि होती है वहां उसका मनन भी होता है । यह नियम है । जैसे रूचि पैदा होने पर आप मनन करने वाले बने । जिस पतिव्रता स्त्री का पति बाहर चला गया हो और वह जैसे उसका ध्यान करती रहती है वैसे ही मेरी भगवान् में मति हुई यहां 'मति' पद से चिन्तन लिया गया है । अथवा मति पद से यहाँ शास्त्र से होने वाला भगवान् का यथार्थ ज्ञान भी लिया जाता है । तात्पर्य यह है कि रूचि के दृढ़ होने पर मेरा सदा चिन्तन होने लगा । उस चिन्तन में दूसरे विषय का अनुसन्धान नहीं हुआ । अथवा सन्देह नहीं हुआ । इसी भाव से यहां 'अस्खलिता' यह कहा । वह मति श्रवण करने से हुई । क्योंकि भगवान् का श्रवण प्रिय था । जो जिसमें श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है । इस अभिप्राय से 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इस गीता वाक्य से श्रद्धा पैदा होने पर जो श्रद्धा रूचि का फल रूप हुई । उसके होने पर तद्रूपता अवश्य हो जाती हैं । भूतो में श्रद्धा रखने वाला भूत के समान हो जाता है और भगवान् में श्रद्धा रखने वाला तद्रूप हो जाता हैं । इसी बात को कहते है कि 'ययाहम्' जिस चिन्तन से एवं यथार्थ ज्ञान से यह जगत् भगवान् से पृथक है यह प्रथ-माधिकार मेरे में होने से मैंने उस यथार्थ ज्ञान से मैं ही ब्रह्म रूप हूं मेरे में ही सम्पूर्ण पैदा हुए है और यह स्थूल सूक्ष्म शरीर अथवा जगत् माया से कल्पित है । जिस माया का 'स एवेद स सर्जा ग्रे' से वर्णन किया गया हैं । उससे कल्पित माना । तात्पर्य यह है कि जिसको केवल प्रतीति होती है ऐसे जगत् का ब्रह्मरूप में अधिकरण (स्थान) हूं । और घड़े का दण्ड जैसे करण होता है ऐसा ही माया करण रूप है । यह जाना ।

प्रपंच से भिन्न रूप में ब्रह्मरूप आत्मा का अनुभव हुआ । तात्पर्य यह है कि भक्ति के द्वारा ब्रह्म और आत्मा की एकता का साक्षात्कार हुआ जिससे अविद्या निवृत हुए और देहान्त करण आदि का अध्यास मिटा ॥२७॥

**आभास**—एवं भगवद्भावमापन्नस्य निरन्तरमनुवर्त्तमानश्रवणेन ज्ञानभक्तिभ्यां परमस्ने हो जात इत्याह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवद्भाव को प्राप्त हुए मेरे निरन्तर होने वाले श्रवण से ज्ञान भक्ति पैदा हुई और उनसे परम स्नेह हुआ। यह कहते है।

श्लोक—**इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विश्रृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।**
**सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्ताऽऽत्मरजस्तमोपहा ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**— इस प्रकार त्रिकाल अथवा प्रतिक्षण उन महात्माओं मुनियों से गाये गये हरि के अभलयश को सुनते हुए मैंने चार पाँच महिने बिताये अर्थात शरद ऋतु वर्षा ऋतु बिताई। जिस श्रवण से अन्तःकरण में रजोगुण तमोगुण को नष्ट करने वाली भक्ति पैदा हुई ।।२८।।

**सुबोधिनी**—**इत्थमिति** । श्रवणस्य भेदान्तराणि सन्तीति तन्निवृत्त्यर्थम्- **इत्थमिति** । शरत्प्रावृषिकावृतू मासचतुष्टयं पञ्चक वा । देहादिक्लेशस्याऽस्फुरणमाह—**हरेरिति** । विशेषेण श्रृण्वत इति श्रवणाऽनुवृत्तिः । न यतः कुतश्चित् । तथा सति निरङ्कुत्वात्फलं न साधयेत् । अतो—**मुनिभिर्महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानमिति । मुनिभिरिति** । स्वफले श्रवणवन्मननं ज्ञानसाधनम् । कीर्तनानुवृत्त्यर्थम्- **महात्मभिरिति** । "**महात्मानस्तु मां पार्थे**' ति श्लोकद्वयायर्थोऽत्राऽनुसन्धेयः। सा भक्तिः स्पर्शमणिरूपा जातेत्याह—**आत्मरजस्तमोपहेति** । अन्तःकरणं वसुदेवरूप जातमित्यर्थः।२८।

**व्याख्यार्थ**—श्रवण के अनेक भेद हैं, परन्तु मैंने पूर्व में कहा गया जो श्रवण है उसे ही अपनाया। दूसरे प्रकार के श्रवण को नहीं अपनाया। इस प्रकार वर्षा एवं शरद ऋतु जो चार महिना अथवा पाँच महिने की मानी जाती है बिताई। मुझे देह आदि के क्लेश का भान नहीं हुआ क्योंकि दुःख हरण करने वाले हरि की कथा सुन रहा था। 'विश्रृण्वत' में जो 'वि' उपसर्ग है उसका अर्थ है विशेष रूप से सुनते हुए अर्थात् निरन्तर सुनते हुए मेरे में भक्ति पैदा हुई। कथा श्रवण साधारण मनुष्य से नहीं किया। साधारण व्यक्ति से सुनने पर वह श्रवण साङ्ग न होने से फल नहीं देता, इसलिए कहा कि 'मुनिभिर्महात्मभिः सङ्कीर्त्यमानम्' महात्मा मुनियों से कही गई कथा को सुना। फल प्राप्ति में श्रवण की तरह मनन भी ज्ञान का साधन है। मेरा कीर्तन चलता रहा क्योंकि महात्माओं से किया जा रहा था। महात्माओं के लिए गीता में कहा है कि—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्य मनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।
सतत कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।अ० ७, श्लो० १३-१४।।

तात्पर्य यह है कि अनन्य मना होकर महात्मा लोग भजन करते हैं तथा निरन्तर कीर्तन करते रहते हैं। जैसे महात्मा लोग सतत भजन एवं कीर्तन करते रहते हैं उसी प्रकार मैंने किया। उनके सतत कही गई कथा को सुनी।

इस प्रकार की मेरी भक्ति पारस रूप बन गई जिससे सत्त्व, रज, तम वृत्ति वाला अन्तःकरण शुद्ध सत्त्व रूप होने से वसुदेव रूप बन गया। वसुदेवजी में जैसे भगवान् का प्राकट्य हुआ वैसे मेरे

अन्तःकरण में भगवान् का प्राकट्य होने लगा । तात्पर्य यह है कि, चांदी, तांबा, सोना इन तीन धातुओं से बना हुआ बर्तन पारस के सम्बन्ध से केवल शुद्ध स्वर्ण रूप बन जाता है उसी प्रकार मेरे अन्तःकरण का रजोगुण तमोगुण मिटा और वह अन्तःकरण शुद्ध सत्त्वरूप हो गया ।।२८।।

**आभास**—अत्र हि भगवदावेशव्यतिरेकेणाऽऽविर्भावो न भविष्यतीति तेषां कृपया तज्जातमित्याह—**तस्यैवमिति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—भगवान् के आवेश के बिना अन्तःकरण में भगवान् का आविर्भाव नहीं होगा इसलिए उनकी कृपा से भगवान् का आवेश हो गया इस बात को दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः ।**
**श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्याऽनुचरस्य च ।।२९।।**
**ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् ।**
**अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ।।३०।।**

**श्लोकार्थ**—इस प्रकार अनुराग वाले विनयी पापरहित श्रद्धा रखने वाले दीन संयमी उस मुझ सेवक पर साक्षात् भगवान् से कहा गया अत्यन्त गुप्त ज्ञान को दीनों पर स्नेह रखने वाले जो जाने वाले थे उनने कृपा से मुझे कहा ।।२९-३०।।

**सुबोधिनी**—पूर्वजातसाधनानां वासुदेवपर्यन्तमनुवृत्तिः करणीयेति तान(?)नुवदति । **अनुरक्तस्येत्य**नुवृत्तिपर्यन्तानि गृहीतानि । शुश्रूषालक्षणो विनयो भिन्नक्रमेणेति पृथगुक्तः । तथा पापनिवृत्तिः । अत्युपकारित्वाद्दीनत्वस्य पृथगुक्तिः । अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थं चकारः । अनुवादे क्रमापेक्षाऽभावाद्विपर्ययेण कथनं न दोषः । अस्ति किञ्चिज्ज्ञानं सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं पञ्चरात्राद्यागमैश्च गुरूपदेशेन च यदभिव्यज्यते । यथा कं ब्रह्म खं ब्रह्मोपाख्याने । यस्मिन् जाते पुमान् ब्रह्मविद्भवति सर्वज्ञस्तेजस्वी च । ततोऽपि महोपनिषत्प्रतिपाद्यं देवगुह्यत्वाद्गुह्यतरम् । ततोऽपि पुरुषोत्तमप्रतिपाद्यं "**भक्त्या मामभिजानाती**' ति रूपम् । यस्मिन्ननुसंहिते भगवदाविर्भावो भवत्येव तद्गुह्यतमम् । साक्षाद्भगवता कृष्णेनोक्तम् । **यत्तदिति** । विशेषतोऽवक्तव्यम् । तेषामपि हृदये भगवदिच्छया उपदेशार्थमागतम् । अनु पश्चादवोचन । एतस्य परमकाष्ठात्वज्ञापनायाऽऽह— **गमिष्यन्त इति** । एतत्कथने प्रश्नान्तरं साधनान्तरं च नास्तीत्याह—**कृपयेति** । तत्राऽपि हेतुः—**दीनवत्सला इति** । वत्सं लातीति वत्सलो ग्राहकः स्नेहः । तद्वान् वा । पिता पुत्र इव दीनेषु त इत्यर्थः ।।२९।।३०।।

**व्याख्यार्थ**—पहले कहे गये सत्सङ्ग निर्दुष्ट सेवा अपरिग्रह सङ्ग निवृत्ति भगवच्चिन्तन आदि में रुचि, अपने आपका प्रपञ्च से पृथक् रूप से अनुभव करना तथा परम स्नेह करना उक्त साधनों को वसुदेव रूप अन्तःकरण होने तक करते रहना चाहिये इसलिए पूर्वोक्त साधना का पुनः अनुवाद करते हैं । अर्थात् कही हुई बात को पुनः कहते हैं । 'ते मय्यपेता' जो अनुवृत्ति पर्यन्त साधन कहे गये हैं वे यहां 'अनुरक्तस्य' इस पद से कहे गये हैं । सेवा में विनय होता है इसलिए उसे भी 'प्रसृतस्य' इस पद से पृथक् रूप से कहा गया है । इसी प्रकार "हतैनख" से पाप निवृत्ति कही गई है । दीनता

सबसे बड़ा उपकार करने वाली है इसलिए 'बाल' पद से कही गई है। तात्पर्य यह है कि श्लोक में आये 'अनुरक्त' पद से अनुवृत्ति पर्यन्त जब सब साधन लिये गये तो दीनता आई गई फिर यहां बाल पद दीनता का सूचक पुनः क्यों दिया तो कहते हैं कि दीनता महती उपकारिणी है इसलिए उसको 'बाल' पद से पृथक् कहा गया है। श्लोक में आये हुए 'च' पद से जो साधन नहीं कहे गये वे भी लिये गये हैं अर्थात् मैंने और भी साधन किये। 'ते मय्यपेताखिलचापलेर्थके' आदि से पूर्व में जो साधन बताये गये हैं उनका यहां पुनः अनुवाद किया गया है। अनुवाद में पूर्वोक्त क्रमानुसार कहना आवश्यक नही है। इसलिए यहां उस क्रम से न कहने पर भी दोष नहीं हुआ। सब वेदान्तों से प्रतिपादन करने योग्य कोई ज्ञान है जो पञ्चरात्र आदि से तथा गुरु के उपदेश से अभिव्यक्त होता है। जैसा कि उपनिषदों में 'कं ब्रह्म' खं ब्रह्म' के उपाख्यान में कहा है। अर्थात् "आकाश ब्रह्म है" अर्थात् सभी कुछ ब्रह्म है यह ज्ञान जब हो जाता है तो मनुष्य ब्रह्मज्ञानी, सर्वज्ञ एवं तेजस्वो हो जाता है। इस ज्ञान से भी अत्यन्त गुप्त जो देवताओं से भी छुपा हुआ है वह महोपनिषद् प्रतिपाद्य ज्ञान गुह्यतर है उससे भी अति गुप्त 'भक्त्यां मां अभिजानाति' अर्थात् भक्ति से क राम लकवत् मेरा ज्ञान कर लेता है। यह पुरुषोत्तम से कहा गया ज्ञान गुह्यतम् है जिसके अनुसन्धान से भगवान् का आविर्भाव हो ही जाता है। यह ज्ञान भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में कहा है। श्लोक में 'यत् तत्' पद आये हैं उनका अर्थ जो कुछ है उस अर्थ को विशेष रूप से नहीं कहना चाहिये। इसलिए उसे यत् तत् पद से कहा। उन परमहंसों के हृदय में भगवदिच्छा से वह ज्ञान जो मेरे उपदेश के लिए अपेक्षित था, आ गया। आने के बाद जाते समय उन्होंने मुझे कहा। जब जाता है तब आखिरी बात बताता है। इसो बात को 'गमिष्यन्त' पद से सूचित किया है। इसके कहने के बाद न कोई दूसरा प्रश्न उठता है और न दूसरे साधन की अपेक्षा रहती है क्योंकि उसमें कृपा का बल है। कृपा भी इसलिए हुई कि वे दीन वत्सल थे अर्थात् दीनों पर स्नेह करने वाले थे। जैसे पिता का पुत्र पर स्नेह होता है ॥३०॥

**आभास**—ततस्तव किं जातं तद्वक्तव्यमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—वेदव्यासजो ने पूछा कि उसके बाद आपका क्या हुआ सो कहें इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**येनैवाऽहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः।**
**मायाऽनुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥**

**श्लोकार्थ**—जिस ज्ञान से ही शुद्ध सत्त्वात्मक हृदय में रहने वाले ब्रह्माण्ड के निर्माता भगवान् की माया का प्रभाव जाना। जिसके जानने से भक्त भगवान् के चरणारविन्द को प्राप्त करते हैं ॥३१॥

**सुबोधिनी**—**येनैवाऽहमिति। भगवतो वासुदेवस्येति।** हृदये विद्यमानस्यैव। अहो (?) इत्याश्चर्यम्। विद्यमानः प्रकाशमान एव न स्फुरतीति मायानुभावः। लेखनदशाऽनुसन्धेया। **येन गच्छन्ति तत्पदमिति।** क्रममात्रेण हेतुना। न तु तत्र कश्चन व्यापारो मृग्य इति भावः ॥३१॥

**व्याख्यार्थ**— आश्चर्य है कि हृदय में विद्यमान होते हुए भी भगवान् की स्फूर्ति नहीं हो रही है यह माया का प्रभाव है। जैसे लेखन में व्यग्र रहने वाले व्यक्ति को हृदयस्थ भावों की स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार यहां समझना चाहिये। केवल मायानुभाव के ज्ञान के क्रम को जान लेने से ही कुछ यत्न भी न करे तो भी भगवान् के चरणारविन्दों को प्राप्त कर लेता है ।।३१।।

**आभास**— एवं भगवत्पदप्राप्तिपर्यन्तं पदार्था निरूपिताः । तत्रैवं सन्देहः— **"ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भक"** इत्यादिसाधनानि कुतो भवन्तीति । कर्मकालादीनां प्रतिबन्धकत्वात् । तत्र कालस्य प्रतिबन्धकत्वाभावायोपायमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवान् के चरणारविन्द की प्राप्ति तक साधनों का निरूपण किया परन्तु वहां सन्देह होता है कि कर्म काल आदि के बाधक होने से 'ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके' इत्यादि से कहे गये साधन कैसे हो सकते हैं ? वहां काल प्रतिबन्धक न हो उसका उपाय कहते हैं—

श्लोक—**एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् ।**
**यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ।।३२।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्रह्मन् ! सबके नियन्ता षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न सर्वव्यापक भगवान् में कर्म समर्पित कर दिये जाय तो समर्पित कर्म आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक तापों को औषध की तरह निवृत्त कर देता है। जैसे औषध रोज निवृत्ति कर देती है। यह मैंने आपको सूचित कर दिया ।।३२।।

**सुबोधिनी**—**एतदिति** । कथारत्यभावे अशनादयः प्रतिबन्धका दृष्टाः । कर्म चाऽदृष्टद्वारा । तद्द्वारा हेतुः **कालः** । तत्र प्रथमं दृष्टप्रतिबन्धको दूरीकर्तव्य. । स च तापत्रयात्मकः । **"एतैरुपद्रुत"** इति वचनात् । तत्र यद्यपि सत्सङ्गेन कथा साधनत्वेनोक्ता तथापि बहुसापेक्षत्वात्सैव न भविष्यतीति स्वतन्त्रमेकं साधनमाह । एतत् वक्ष्यमाणम् । सम्यक् सूचितं न स्पष्टतयोक्तं नापि सन्दिग्धम् । तस्य परिज्ञानं तव भविष्यतीत्यभिप्रायेणाऽऽह । हे **ब्रह्मन्** । तापत्रयनिराकरणार्थं चिकित्सितम् । यथा विषं सर्वनाशकमपि सर्वरोगनिवर्तकत्वेन द्रव्यान्तरैर्भावनया चिकित्स्यते तथा कर्माऽपि सर्वनाशकं सर्वदोषनिवृत्तये भगवद्रूपेण चिकित्स्यत इत्याह—**यदीश्वर इति** । प्रभुरूपे षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने उत्कृष्टैः पदार्थैः सुन्दरे ब्रह्मणि अपाषण्डे वेदान्तवेद्ये कर्म भावितं योजितमित्यर्थः । भावनया प्रापितं वा ।।३२।।

**व्याख्यार्थ**—कथा में रति न होना उसमें भोजन आदि दृष्ट बाधक हैं अर्थात् 'एतैरुपद्रुतो नित्यं जीव लोकः स्वभाव जैः न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौरतिम्" तात्पर्य यह है कि भूख प्यास आदि से दुःखी रहने वाला मनुष्य कथा में प्रेम नहीं करता। कर्म भी अदृष्ट द्वारा तथा काल भी उसके द्वारा कथारति न होने में कारण है। उनमें पहले आधिभौतिक आध्यात्मिक एवं आधिदैविक जो देखे गये बाधक हैं उन्हें दूर करना चाहिये। पहले ऐसा क्रम बताया गया कि महान् पुरुषों की सेवा करनी। जिससे उनकी कृपा होती है तदनन्तर उनके धर्म में श्रद्धा होती है और उससे

भगवत्कथा सुनने को मिलती है और भगवान् में प्रीति होती है। तत्पश्चात् प्रपञ्च के पदार्थों से आत्मा का भिन्न रूप से ज्ञान होता है। उसके बाद दृढ़ भक्ति होती है। फिर भगवान् का माहात्म्य ज्ञान होता है परन्तु तापत्रय से सन्तप्त से महापुरुषों की सेवा नहीं हो सकती तो सेवा से होने वाली कृपा आदि भी कैसे हो सकती है? अतः तीनों तापों का निवर्तक उपाय बताते हुए भगवान् के तत्व ज्ञान पर्यन्त क्रम को कहते हैं। वहां यद्यपि सत्संग से कथा को साधन बताया है परन्तु कथा सुनने में बहुतों की अपेक्षा रहती है। अतः कथा नहीं हो सकती। इसलिए स्वतन्त्र कोई एक साधन बताना चाहिये। जो आगे कहा जायगा। 'संसूचितम्' का तात्पर्य यह है कि मैंने न स्पष्ट कहा न सन्दिग्ध कहा केवल अच्छे रूप से सूचित कर दिया। यहां 'सूचितम्' पद से सूचित करना कहा। स्पष्टतया नहीं कहना 'सूचित' पद का तात्पर्य है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है अच्छे रूप में अर्थात् संदिग्ध रूप में नहीं कहा। ये दोनों अर्थ दोनों पदों से लिये गये हैं। उसका परिज्ञान तुम्हें हो जायगा क्योंकि तुम ब्रह्मरूप हो। तापत्रय के दूर करने के लिए औषध है वह यह है कि सभी कर्म भगवान् के अर्पित करने चाहिये। जैसे सर्वनाशक जहर भी दूसरे द्रव्य की भावना देने से सब रोगों का निवर्तक बन जाता है उसी प्रकार सर्वनाशक कर्म भी भगवान् के अर्पित होने पर सब दोषों का निवर्तक बन जाता है। प्रभुरूप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न उत्कृष्ट पदार्थों से सुन्दर प्रपञ्च रहित वेदान्त से जानने योग्य ब्रह्म में कर्मों को अर्पण करना चाहिये अथवा भावना से प्रभु को प्राप्त कराना चाहिये जिससे सभी तापों का नाश हो जाता है ।।३२।।

**आभास**—तत्रैव विशेषमाह—

**आभासार्थ**—वहां ही विशेष कहते हैं कि—

श्लोक—**आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।**
**तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—जो रोग घृत अथवा उड़द आदि से पैदा होते हैं उन घृतादि से वे रोग नहीं मिटते किन्तु उनमें दूसरे द्रव्य की भावना देने पर पूर्वभक्षित तथा जो अभी रोग पैदा हुए हैं उनको वे घृतादि मिटा देते हैं ।।३३।।

**सुबोधिनी—आमय इति ।** येनैव कर्मणा नाशः शङ्कनीयस्तदेव भगवति भावनीयमिति । आमयः कफपित्तादिः । येन माषादिना । **सुव्रतेति** सम्बोधनात्तादृशं तु तव नाऽस्तीति तव महद्भाग्य-मिति प्रशंसा । तदेव चिकित्सितमामयद्रव्यं न किन्तु अन्यदपि द्रव्यान्तरं पूर्वभक्षितं पुनाति । अतो येनैव कर्मणा बन्धस्तदेव कर्म भगवति भावितं पुरुषं पुनातीत्यर्थः ।।३३।।

**व्याख्यार्थ**—जिस कर्म से नाश की शङ्का हो उसी कर्म को भगवान् के समर्पित कर देना चाहिये। श्लोक में आये हुए 'आमयः' का अर्थ है कफ पित्त आदि जो उड़द आदि से पैदा होते हैं। नारदजी कहते हैं कि हे सुव्रत! तुम अच्छे नियम वाले हो इसलिए तुम्हारा नाश करने वाले कोई कर्म नहीं है। इसलिए तुम बड़े भाग्यशाली हो। इसलिए यह समझो कि वही उड़द आदि दूसरे द्रव्य से भावित हो जाते हैं तो जो रोग पैदा हुआ है उसी को नहीं मिटाता किन्तु पूर्वभक्षित जो

विकार करने वाला द्रव्य है उसे भी अच्छा कर देता है। इससे यह समझो कि जिस कर्म से अपना बन्धन होता हो वह कर्म यदि भगवान् में अर्पित कर दिये जाय तो पुरुष को अच्छा कर देते हैं।३३।

**आभास**—ननु पूर्वकृतकर्मणां बाधकानां विद्यमानत्वात्तैस्तापत्रयजननाच्च किमग्रिमेण भावितेनेति तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि पहले किये हुए पूर्वजन्म के कर्म बाधक रूप में विद्यमान हैं तो उनसे तीनों ताप हो सकते हैं तो आगे किये हुए कर्मों को भगवान् के अर्पण करने पर भी क्या होगा ?

श्लोक—**एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः ।**
**त एवाऽऽत्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ।।३४।।**

**श्लोकार्थ**—इस प्रकार कर्म के अधिकारी मनुष्यों के जो क्रियायोग हैं वे जन्म-मरण के कारण होते हैं परन्तु यदि उनको भगवान् के अर्पित कर दिये जाय तो उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है अर्थात् उनमें कर्मत्व ही नहीं रहता तो वे तापत्रय को कैसे पैदा कर सकते ।।३४।।

**सुबोधिनी**—**एवं नृणामिति** । यथा भगवति सम्बद्धेन कर्मणा तापत्रयनाश एवमेव पूर्वकर्मणामपि भगवति समर्पणात्स्वरूपनाशे सति तापाद्यनुत्पादकत्वम् । **नृणामिति** कर्माधिकारो द्योतितः । सर्वे पुण्यजनका अपि संसृतिहेतवः जननमरणहेतवः । त एव सर्वे योगाः परे कल्पिताः समर्पिता आत्मविनाशाय कल्पन्ते । यथा प्रज्वलितेऽग्नौ तृणादि । कुतस्तस्य तापजनकत्वमित्यर्थः ।।३४।।

**व्याख्यार्थ**—जैसे भगवान् के सम्बद्ध (अर्पित) कर्म से तापत्रय का नाश होता है इसी प्रकार पूर्व कर्मों को भी भगवान् के समर्पित करने से उन कर्मों का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है फिर वे तापत्रय आदि को उत्पन्न नहीं कर सकते। श्लोकस्थ 'नृणां' पद से मनुष्यों को कर्म करने का अधिकार बताया है। वे सभी कर्म भले ही पुण्यजनक हो तो भी जन्म मरण के कारण होते हैं। उन सभी क्रियाओं को अर्थात् कर्मों को ईश्वर के समर्पित कर दिये जाय तो उन कर्मों का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। उन समर्पित कर्मों से जीव को फिर तापत्रय नहीं होता जिस प्रकार प्रज्वलित आग में तृणादि डाल दिये जायें तो वे उसमें जाकर स्वरूप से ही नष्ट हो जाते हैं वे ताप नहीं कर सकते। इसी प्रकार भगवत् समर्पित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनमें कर्मत्व हो नहीं रहता तो वे तापत्रय को कैसे पैदा कर सकते हैं ।।३४।।

**आभास**—एवं स्वाभाविकानां लौकिकानां संसारहेतुभूतकर्मणां कृतानां क्रियमाणानां च विनियोग उक्तः । अधुना विहितानां भगवत्प्रीत्यर्थं क्रियमाणानां किं फलमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार स्वभाव से होने वाले लौकिक कर्मों का जन्म मरण के कारण जो कर्म पहले किये गये और वर्तमान में हो रहे हैं उनका विनियोग ईश्वर में करना चाहिये यह कहा। अब जो भगवान् की कीर्ति के लिए जो शास्त्र में कथित कर्म हो रहे हैं उनका क्या फल है इस आकांक्षा पर कहते हैं कि—

श्लोक—**यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् ।**
**ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥**

**श्लोकार्थ**—जो भगवान् के सन्तुष्टि के लिए कर्म किया जाता है उससे भक्ति ज्ञान पैदा होते हैं। भक्तियोग के सहित होने वाला ज्ञान उस कर्म के अधीन है ॥३५॥

**सुबोधिनी** - यदत्रेति । "**यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता**" इत्यत्र भगवत्प्रसादहेतुत्वेन प्रार्थना-न्नियत फलत्वा**च्च एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वन्**यायेन दध्यादिवदुभयसाधकं स्यात् । तथा सति ससारः । पूर्वोक्ताऽनुभयरूपत्वात् । तत्रोच्यते । अत्र निर्णये यत्कर्म भगवत्परितोषण क्रियते भगव-त्परितोषार्थं क्रियते तेन कर्मणा भक्तिज्ञाने उत्पद्येते । ततो "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी**" ति न्यायेन सर्वकर्मक्षय इत्यभिप्रायेणाऽऽह । ज्ञानं यत्प्रसिद्धं भक्तियोगसमन्वितं तत् तदधीनं तादृशकर्माधीनम् । होति "**सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदि**" ति न्यायः सूचितः ॥३५॥

**व्याख्यार्थ**—"यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिताः" हमने अच्छा अध्ययन किया है और गुरुओं को प्रसन्न किया है उससे भगवान् प्रसन्न होवे ऐसी प्रार्थना की गई है और नियत फल भी यही है। यदि एक ही कर्म पुण्यजनक हो तथा भगवान् की प्रसन्नता के लिए हो एक ही दो कार्य करेगा तो किसी अश मे संयोग रहेगा और किसी अंश में पृथक्त्व रहेगा। अर्थात् कर्म दोनों फल देने वाले होंगे। जैसे दहि आदि के लिए कहा है कि "दध्ना जुहोति" "दध्नेंद्रिय कामस्य जुहुयात्" "खादिरे-बध्नाति" "खादिरं वीर्यकामस्य यूप कुर्यात्" इत्यादि में दहि आदि के दो फल माने हैं। इसी प्रकार यहां भी यदि कर्मों का फल भगवत्प्रसाद एवं पुण्यजनकता होगी तो जन्म-मरण जरूर होंगे क्यों क उनमें उभयरूपता है इस पर कहते हैं कि जो कर्म भगवान् के परितोष के लिए किये जाते हैं उनसे भक्ति ज्ञान पैदा होते हैं और उस ज्ञानादि से 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि" ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है अर्थात् ज्ञान होने पर सब कर्मों का नाश हो जाता है। प्रसिद्ध ज्ञान जो भक्ति सहित है वह उन कर्मों के अधीन है। श्लोकस्थ 'हि' पद सूचित करता है कि 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' यह न्याय ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के चौथे पाद में है वहां कहा गया है कि ज्ञान के फल देने में कर्म की अपेक्षा नहीं है। ऐसा सिद्ध कर अब विचार करते हैं कि ज्ञान के स्वरूप का उपकारी कर्म है या नहीं तो कहते हैं कि "आचार्यवान् पुरुषो वेद" जो आचार्य बनाता है वही पुरुष भगवान् को जान सकता है तो गुरु की शरणागति एवं उसके उपदेश से ही ज्ञान हो जायगा फिर कर्म की क्या आवश्यकता है? यह वहां शङ्का उठाई। सिद्धान्त यह कहा है कि पुरुषोत्तम के ज्ञान के होने में कर्म ज्ञान भक्ति की अपेक्षा है वे सभी पुरुषार्थ जो भगवत्प्राप्ति रूप है उसी को वेद कहता है। वह पुरुषार्थ प्राप्ति यदि ज्ञान से ही हो जाय तो यज्ञादि का करना व्यर्थ हो जायगा। इसलिए मानिये कि कर्म ज्ञान स्वरूप के द्वारा पुरुषार्थ का साधक है। परन्तु वह निष्काम कर्म होना चाहिये।

'वाजसनेयी शाखायां' वाजसनेयी शाखा में कहा है कि 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' जैसा करता है और जैसा आचरण करता है वैसा बन जाता है इससे यह कहा कि कामना से कर्म करने वाले को पुनः जगत् में आना पड़ता है और जो कुछ कामना नहीं करता वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। इससे यह कहा कि निष्काम कर्मकर्त्ता को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है। कर्मों से जब पाप नहीं रहते तब ज्ञान होता है। यहां दृष्टान्त कहते हैं कि कोई मनुष्य किसी कार्य के लिए बाहर जाता है तो घोड़ा उसको वहां पहुँचा देता हैं जहां वह जाना चाहता है। फल मिलने में वह घोड़ा कारण नहीं है। इसी प्रकार अधिकारियों के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए ही सकाम कर्म उपकारक है। किन्तु भगवत्प्राप्ति कराने वाले ज्ञान में वह कारण नहीं है तो पूर्वतन्त्र की अपेक्षा उत्तर तन्त्र के प्रबल होने से संयोग पृथक्त्व न्याय का बोध हो जाता है। जिससे कर्म में पुण्य जनकता न होने से उनसे जन्म-मरण नहीं होते। इसी अभिप्राय का 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' यह ब्रह्मसूत्र है ।।३५।।

**आभास**—ननु पञ्चरात्रोक्तकर्मणां भगवदाज्ञया अर्जुनादिभिः कृतानां युद्धादीनां च का गतिः ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—कहते हैं कि पञ्चरात्र में कहे गये कर्मों का और भगवान् की आज्ञा से अर्जुन आदि ने जो युद्ध आदि किये उनका क्या फल है इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् ।**
**गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्याऽनुस्मरन्ति च ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—कर्म के निर्णय में कहा गया है कि जो कर्म भगवान् की आज्ञा से करते हैं उनसे भक्ति पैदा होती है। तब वे मनुष्य बार-बार कृष्ण के गुणबोधक नाम लेते हैं और कृष्ण का स्मरण करते हैं ।।३६।।

**सुबोधिनी—कुर्वाणा यत्रेति** । यत्र कर्मनिर्णये विषये वा भगवच्छिक्षया कर्म कुर्वाणा भवन्ति तत्कर्म भक्तिजनकं भवतीत्याह । तदा ते पुरुषा असकृत् वारं वारं कृष्णस्य गुणनामानि—पाण्डवरक्षक, द्रौपदीलज्जानिवारक, गोवर्द्धनोद्धरणेत्यादीनि गृणन्ति । अनु पश्चात्स्मरन्ति च कृष्णम् । अतस्तेषां कीर्तनस्मरणभक्तिहेतुत्वात्सर्वोत्कृष्टमेव तत्कर्म । न तेन संसारशङ्काऽस्तीत्यर्थः ३६

**व्याख्यार्थ**—जिस कर्म के निर्णय में अथवा कर्म के विषय में जो भगवान् की शिक्षा से कर्म करते हैं वे कर्म भक्ति को उत्पन्न करने वाले होते हैं तब मनुष्य भक्ति होने से बार-बार कृष्ण के गुणबोधक नाम जैसे पाण्डव-रक्षक, द्रौपदी-लज्जा-निवारक, गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादि लेते हैं। नाम के साथ कृष्ण का स्मरण करते हैं इसलिए उनके कर्म, कीर्तन और श्रवण भक्ति के कारण होने से सर्वोत्कृष्ट ही है उससे जन्म-मरण की शंका नहीं है ।।३६।।

**आभास**—यानि पुनः पञ्चरात्रे मन्त्राराधनप्रकारेण पुरश्चरणादीनि कर्माणि तेषां निर्णयमाह द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—फिर जो पञ्चरात्र में मन्त्र के आराधन के प्रकार से पुरश्चरण आदि कर्म कहे गये हैं उनका निर्णय दो श्लोकों से करते हैं—

श्लोक— **नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि ।**
**प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ।।३७।।**

**श्लोकार्थ**—आप जो भगवान् वासुदेव रूप हैं उनको नमस्कार करता हूं और ध्यान करता हूं । इसी प्रकार प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण का ध्यान करता हूं और नमन करता हूं ।।३७।।

**सुबोधिनी—नमो भगवत इति** । इयं हि भगवद्गायत्री नारदोपास्या । **अत्र चतुर्मूर्तीनाम**-भिधानम् । धीमहीत्यर्थाच्चतुर्मूर्ति ध्यायेम । तस्य फल चतुर्मूर्तिः । तदपि न भोगार्थं किन्तु नमनार्थम् । तदपि न परोक्षतया किन्तु प्रत्यक्षतया । चतूरूपस्याऽपि चतूरूपमपि भगवानित्यर्थः । चकारादन्यान्यपि रूपाणि संगृहीतानि हयग्रीवादीनि ।।३७।।

**व्याख्यार्थ**—यह भगवान् की गायत्री है जिससे नारदजी ने उपासना की थी । इस गायत्री में वासुदेव प्रद्युम्न अनिरुद्ध और सङ्कर्षण ये चतुर्मूर्ति कही गई है । 'धीमहि' का अर्थ यह है कि चतुर्मूर्ति का ध्यान करते हैं । ध्यान करने का फल चतुर्मूर्ति का साक्षात्कार होना है । वह ध्यान भी भोगप्राप्ति के लिए नहीं है किन्तु नमस्कार के लिए है । श्लोक में 'तुभ्यम्' यह पद आया है । तुभ्यम् का प्रयोग उसी के लिए किया जाता है जो प्रत्यक्ष होता है । इसलिए परोक्ष को नमस्कार न कर प्रत्यक्ष होने वाली चतुर्मूर्ति को नमस्कार कहा गया है । चार रूपों का भी चार रूप भगवान् ही है । श्लोकस्थ 'च' कार से अन्यान्य हयग्रीव आदि रूप भी लिये गये हैं ।।३७।।

**आभास** – अस्या गायत्र्या विनियोगमाह—

**आभासार्थ** - अब इस गायत्री का उपयोग कहते हैं –

श्लोक—**इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तकम् ।**
**यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ।।३८।।**

**श्लोकार्थ**— इस रूप से मूर्ति के कहने वाले मन्त्र से मन्त्र के अर्थरूप लौकिक मूर्ति रहित यज्ञ पुरुष का भजन करता है वह मनुष्य भगवान् का साक्षात्कार करने वाला होता है ।।३८।।

**सुबोधिनी—इतीति** । एवंरूपेण मूर्त्यभिधानेन मूर्तिवाचकेन मन्त्रेण करणेन । **मन्त्रमूर्तिः** । मन्त्र एव मूर्तिः शरीरं यस्य । मन्त्रार्थरूपम् । **अमूर्त्तकम्** । मन्त्रोक्तव्यतिरिक्तप्राकृतमूर्तिरहितम् । **यज्ञपुरुषम्** । यज्ञानां पुरुषं पतिं यज्ञरूपं पुरुषं वा । यो यजेत जपपूजाहोमादिना स सम्यग्दर्शनो भवति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः ।।३८।।

**व्याख्यार्थ**—वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण इन मूर्तियों को कहने वाले इस रूप के मन्त्र से मन्त्र ही है शरीर जिसका अर्थात् मन्त्र के अर्थरूप जिसकी मन्त्र में कहे गये से अतिरिक्त लौकिक मूर्ति नहीं है ऐसे यज्ञों के पति को अथवा यज्ञरूप पुरुष को जो जप, पूजा, होम आदि से पूजन करता है वह भगवान् का साक्षात्कार करता है ।।३८।।

**आभास**— अत्र फलं मयैवाऽनुभूतमिति सन्देहाभावायाऽऽह—

**आभासार्थ**—इसके फल का मैंने ही अनुभव किया है इसलिए मुझे सन्देह नहीं है इस बात को नारदजी कहते हैं—

श्लोक— **इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम् ।**
**अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन्भावं च केशवः ।।३९।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्रह्मन् ! पूर्वोक्त क्रम से कहे गये आज्ञारूप वेद से प्रतिपादित साधनों को मुझ से किया हुआ जानकर ब्रह्मा एवं रुद्र को सुख देने वाले भगवान् ने ज्ञान ऐश्वर्य और अपने में प्रेम मुझे दिया ।।३९।।

**सुबोधिनी**— **इमं स्वनिगममिति** । स्वस्य निगमो वेदः । आज्ञेति यावत् । सा आज्ञा मया कृता । यथोक्तः पञ्चरात्रमार्गोऽनुष्ठितः पूर्वकल्प एव । तदा मह्यं ज्ञानं दत्तवान् । ऐश्वर्यं च भक्तिं च । यथा ब्रह्मशिवयोः । तदाह - **केशव इति** । केशयोर्वं सुखं यस्मादिति ।।३९।।

**व्याख्यार्थ**— प्रभु की वेदरूप आज्ञा का मैंने पालन किया । अर्थात् पूर्वकल्प में ही पञ्चरात्र में कहे गये मार्ग का अनुष्ठान किया तो मुझे अपना तत्वज्ञान ऐश्वर्य एवं भक्ति ब्रह्मा एवं महादेवजी को सुख देने वाले भगवान् ने दी ।।३९।।

**आभास**—एवं सर्वेषां कर्मणां निर्णय उक्तः इति सर्वमुपपाद्योपसंहरन्निर्द्धारितमुपदेशमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार सब कर्मों का निर्णय कहा । अब उपसंहार करते हुए निर्णीत उपदेश करते हैं—

श्लोक— **त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदाम्बुभुत्सितम् ।**
**आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नाऽन्यथा ।।४०।।**

**श्लोकार्थ**— हे बहुश्रुत वेदव्यासजी ! भगवान् के चरित्र को कहिये । जिससे ज्ञानियों की भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाय । अर्थात् पूरा ज्ञान होने पर इच्छा ही निवृत्त हो जाय और क्लेशाक्रान्त मनुष्य अपने निस्तार का यत्न नहीं कर सकते । अतः क्लेश निवृत्ति के लिए भगवान् के चरित्रों को कहिये ।।४०।।

**सुबोधिनी**—**त्वमपीति** । यथा मया तस्याऽऽज्ञा परिपालिता तथा त्वमपि परिपालय । आज्ञापरिपालनसामर्थ्यं सिद्धवत्कारेणाऽऽह—**अदभ्रश्रुत इति** । अनल्पं वेदादीनां श्रवणं यस्येति । विभोः विश्रुतं कीर्ति चरित्रमिति यावत् । मध्ये चरित्रस्य माहात्म्यमाह । येन विश्रुतेन विदां ज्ञानिनां बुभुत्सितं भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा समाप्यते । "**यावान्यश्चाऽस्मि यादृश**" इति बुभुत्सा वा । परमभक्ति जनयित्वा तज्जननात् । तस्मात्तदाख्याहि । किञ्च । निस्तारार्थं सर्वैर्यत्नः कर्तव्यः । स क्लेशाभिभूतैः कर्तुमशक्य इति क्लेशनिवृत्त्यर्थं चाऽऽख्याहि । आख्यानेनैव दुःखैर्मुहुरर्दितानां संक्लेशनिवारणमुशन्ति सर्वे प्रमाणविदः । अत्र चोपायान्तरं नास्ति क्लिष्टानां क्लेशनाशकम् । तदाह—**नाऽन्यथेति** ॥४०॥

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥**

**व्याख्यार्थ**—जिस प्रकार मैंने भगवान् की आज्ञा पालन की उसी प्रकार आप भी आज्ञा का पालन करें । आप अदभ्रश्रुत हैं । अर्थात् हे बहुश्रुत ! भगवान् के चरित्र को कहें । जिसके सुनने से ज्ञानियों की भगवत्स्वरूप ज्ञानेच्छा समाप्त हो जाती है अर्थात् भगवान् जैसे हैं जितने हैं यह जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है । परम भक्ति को पैदा कर इच्छाओं की समाप्ति करती है । इसलिए भगवान् के चरित्रों को कहिये और यह भी है कि अपने निस्तार के लिए सबको प्रयत्न करना चाहिये । वह यत्न क्लेशों से दबे हुए नहीं कर सकते इसलिए क्लेश निवृत्ति के लिए भगवान् के चरित्र कहिये । भगवान् के कीर्तिगान से ही बार-बार दुःखों से घिरे हुए मनुष्यों के दुःखों को निवृत्ति होती है यह बात सब प्रमाणवेत्ता मानते हैं । दुखियों के क्लेश नाश का दूसरा कोई उपाय नहीं है इसी अभिप्राय को 'नान्यथा' पद कहता है ॥४०॥

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का पञ्चम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

**प्रथम स्कन्ध—अधिकार लीला**

**मध्यम प्रकरण—मध्यम अधिकार**

*अध्याय—६*

### ❀ नारदजी की भक्ति का स्वरूप ❀

कारिका—**मध्यमेनाऽधिकारेण पदार्था विनिरूपिताः ।**
**श्रवणस्य फलं चाऽन्तर्ज्ञानरूपं प्रदर्शितम् ॥१॥**
**षष्ठे तु बाह्यं तस्यैव कीर्तनाऽवधि वर्ण्यते ।**
**बाह्याऽभावे त्वान्तरस्य व्यर्थतेति निरूप्यते ॥२॥**

**कारिकार्थ**—पांचवें अध्याय में मध्यमाधिकार से पदार्थों का निरूपण किया गया, वहां श्रवण का फल भीतरी ज्ञान होना (जैसा कि नारदजी को परमहंसों से कृष्णकथा सुनने से हुआ वैसा ज्ञान रूप फल) बताया गया। अब इस छठे अध्याय में उसी श्रवण का बाह्य फल जो कीर्तन पर्यन्त है, कहते हैं। क्योंकि बाह्यरूप कीर्तन के अभाव में भीतरी ज्ञानरूप व्यर्थ हो जाता है ॥१॥२॥

**आभास**—पूर्वाध्यायान्ते **"अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यमि"** त्युक्तम् । तत्र सन्देहः । श्रवणमेव निरूपितमान्तरं ज्ञानञ्च । किं तदानीमेव भगवता ऐश्वर्यं दत्तं कालान्तरे वेति । श्रोतव्यविषयनिरूपकस्य फलकथनार्थं भवति विचारणा । अतः पृच्छतीत्याह—

**आभासार्थ** –पाँचवें अध्याय के अन्त में "अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यम्' मुझे भगवान् ने ज्ञान और ऐश्वर्य तथा भक्ति दी ऐसा नारदजी ने कहा है । वहाँ सन्देह है । भगवच्चरित्र सुना और आन्तर्ज्ञान हुआ यही निरूपण किया गया है तो श्रवण से क्या भगवान् ने नारदजी को उसी समय ऐश्वर्य दान किया अथवा कालान्तर में । श्रोतव्य विषय जो ऐश्वर्य दानरूप है उसका निरूपण करने वाले नारदजी को हुए फल के कहने के लिए श्रोता को विचार होता है । इसलिए व्यासजी पूछते हैं इस बात को सूतजी कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**एवं निशम्य भगवान् देवर्षेर्जन्म कर्म च ।**

**भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन्व्यासः सत्यवतीसुतः ।।१।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं–हे ब्राह्मणों ! इस प्रकार देवर्षि नारदजी के जन्म और कर्म का श्रवण करके सत्यवतीजी के पुत्र भगवान् व्यासजी ने उन्हें फिर प्रश्न किया ।।१।।

**सुबोधिनी**—**एवमिति** । नारदोक्तौ यथार्थत्वमित्यवगतौ हेतुमाह—**भगवानिति** । असम्भावितत्वं निराकरोति—**देवर्षेरिति** । **हे ब्रह्मन्** ! शौनक । भूयःप्रश्नस्तूष्णीम्भावात् । आदराधिक्ये ज्ञात एव विशेषकथनाद्भगवत्कृपया एतावत्त्वं जातमिति कथितेऽपि पुनः प्रश्नः । अनतिप्रयोजनं पृच्छतीति च **सत्यवतीसुत** इत्युक्तम् ।।१।।

**व्याख्यार्थ**—व्यासजी नारदजी की बात को यथार्थ रूप में समझते हैं इसमें हेतु यह है कि व्यासजी भगवान् हैं इसलिए नारदजी यथार्थ कहते हैं इस बात को समझते हैं । नारदजी की बात को असम्भव नहीं कह सकते । क्योंकि देवर्षि है । देवर्षि वही बन सकता है जिसके अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म होते हैं । सूतजी ने शौनक के लिए कहा है कि 'हे ब्रह्मन्' आप ब्रह्मरूप हैं इसलिए सभी जानते हैं । इस प्रकार नारदजी अपने जन्म कर्म को सुनाकर चुप हो गये । व्यासजी ने समझा कि नारदजी विशेष आदर करने पर ही विशेष बात कहेंगे इसलिए आदरपूर्वक प्रश्न किया । नारदजी के मन में यह विचार हुआ कि मेरे कथन में व्यासजी का आदर है या नहीं इस बात को जानने के लिए नारदजी चुप हो गये । तब भगवत्कृपा से देवर्षि बना । इस बात के कहने पर भी व्यासजी ने पुनः प्रश्न किया । व्यासजी बिना प्रयोजन के नहीं पूछते क्योंकि वे सत्यवती के पुत्र हैं ।।१।।

**आभास**—प्रश्नमाह त्रिभिः—

**आभासार्थ**—तीन श्लोकों से व्यासजी प्रश्न कर रहे हैं—

**व्यास उवाच**—श्लोक—**भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानाऽऽदेष्टृभिस्तव ।**

**वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ।।२।।**

**स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्त्तितं ते परं वयः ।**

**कथञ्चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ।।३।।**

**प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम ।**
**न ह्येव व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ।।४।।**

**श्लोकार्थ**—व्यासजी कहते हैं कि आपको विज्ञान का उपदेश देने वाले परमहंसों के अन्यत्र चले जाने पर पहली अवस्था वाले अर्थात् बाल्यावस्था वाले वर्तमान आपने क्या किया ? हे ब्रह्मा के पुत्र नारदजी ! किस जीविका से आगे की अवस्था व्यतीत की और इस शरीर को (दासी से पैदा हुए शरीर को) काल प्राप्त होने पर कैसे छोड़ा ? हे देवता तथा भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी ! पूर्वकल्प में जो परमहंसों के द्वारा उपदेश हुआ था उसकी स्मृति को काल ने क्यों नहीं नष्ट किया ? क्योंकि यह काल सबको नष्ट करने वाला है ।।२।।३।।४।।

**सुबोधिनी – भिक्षुभिरिति** । कृतिशरीरत्यागज्ञाननाशाभावाः ब्रह्मविदो न किञ्चित्कर्तव्यमिति योगेनैव शरीरत्यागो मोक्ष इति कालस्त्वनतिक्रमणीय इति पृष्टाः । **स्वायम्भुवे**तीदानीन्तनसम्बोधनम् । वृत्तिर्जीविका शरीरनिर्वाहिका । कथमिति योगादिप्रकाराः । चोऽर्थविशेषे । पुनरित्यर्थः । काले प्राप्ते अप्राप्ते वेति प्रश्नः । **इदमिति** । बुद्ध्या पुरः स्थितम् । **वेति** पाठे त्वनादरः । कालजन्यं कालो गृह्णातीति वा आह—**काल इति** । एतां स्मृतिं संस्कारनाशेन पूर्वकल्पविषयेभ्यो व्यवहितां कथं न कृतवान् । तदेयं स्मृतिः शब्दमूला स्यात् । इदानीं तु प्रत्यक्षमूलेति । देवानां भक्तानामपि सतां स्मृतिं कालो नाशयति । तव तु नेत्याश्चर्येण सम्बोधनम् । अल्पस्याऽप्यभावायैवकारः । कार्यदर्शनाद्युक्तता हिशब्दार्थः । कालमाहात्म्यं च प्रत्यक्षसिद्धम् । भगवत्त्वात्कालं साक्षात्कृत्वाऽऽह—**एष इति** । शास्त्रार्थदार्ढ्याद्वा ।।२।।३।।४।।

**व्याख्यार्थ**—व्यासजी ने कार्य, शरीर त्याग और ज्ञान का नाश न होना पूछा अर्थात् आपने फिर क्या कार्य किया ? कैसे शरीर को छोड़ा ? और पूर्वजन्म के ज्ञान का नाश क्यों नहीं हुआ ? ब्रह्मवेत्ता को कुछ कर्तव्य नहीं रहना काल का अतिक्रमण नहीं हो सकता । इसलिए उसे योग के द्वारा शरीर का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये । अतः उक्त तीन प्रश्न किये । श्लोक मे आये 'स्वायम्भुव' यह सम्बोधन इस समय के नारदजी के स्वरूप को बताने वाला है । हे नारदजी ! आपने किस जीविका से आगे की अवस्था को व्यतीत किया ? शरीर छोड़ने का जब समय प्राप्त हुआ तो आपने योगादि में किस प्रकार को अपनाया ? यहां श्लोक मे आया 'च' पुनः अर्थ में है । अर्थात् फिर आपने शरीर को कैसे छोड़ा ? काल के प्राप्त होने पर छोड़ा अथवा पहले ही छोड़ा ? व्यासजी की बुद्धि में नारदजी का पूर्व शरीर आ गया । इसलिए कहा कि यह शरीर । अन्यथा उस शरीर का प्रत्यक्ष न होने से यह शरीर ऐसा कहना युक्त नहीं था । क्योंकि 'इदम्' शब्द का प्रयोग प्रत्यक्ष में ही होता है । यदि 'कथं चेदम्' को जगह 'कथम् वेदम्' यह पाठ मान लिया जाय तो वा शब्द अनादर को कहेगा । जो काल से पैदा होता है । उसे काल खाता है । अर्थात् काल भक्ष्य कह कर अनादर सूचित किया । इसलिए कहा कि 'काल प्राप्ते' वर्तमान में जो आपको पूर्वजन्म का स्मरण है वह दूसरा जन्म होने से संस्कार के नाश होने से कारण कैसे हुआ और पूर्वकल्प के जो विषय हैं बीच में बहुत समय निकलने से काल ने उन विषयों की स्मृति को

नष्ट क्यों नहीं किया ? जब काल से संस्कार नष्ट हो जाते हैं तब कोई शब्द द्वारा कहे तो वह स्मृति होती है । परन्तु यहां वो आपकी स्मृति प्रत्यक्ष मूल कही है । अर्थात् शब्द के द्वारा वह स्मृति नहीं हुई । देवताओं की तथा अच्छे भक्तों की स्मृति को भी काल नष्ट कर देता है । आपकी स्मृति नष्ट नहीं हुई यह आश्चर्य है । इसी बात को 'सुरसत्तम्' यह सम्बोधन कहता है । तात्पर्य यह है कि आप देवता तथा सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है इसलिए आपको यह स्मृति रही । यह काल पूर्व की स्मृति को बिलकुल नष्ट कर देता है । इसी बात को श्लोकस्थ 'एव' कहता है । श्लोकस्थ 'हि' शब्द का अर्थ है कि यह बात युक्त है क्योंकि आप में स्मृति का कार्य देखा जा रहा है । काल का माहात्म्य तो प्रत्यक्ष ही है । काल के लिए 'एषः' यह कहा है । एषः वहीं कहा जाता है जहां प्रत्यक्ष होता है । वेदव्यासजी भगवान् हैं इसलिए काल को प्रत्यक्ष करके कह रहे हैं अथवा शास्त्रार्थ की दृढ़ता होने से यह कहा है कि 'यह काल' जिसे शास्त्रों ने सर्वनाशक बताया है । २।३।।४।।

**आभास**—प्रथमप्रश्ने उत्तरमाह **भिक्षुभिरित्यादिना एवं कृष्णमतेरित्यन्तेन**—

**आभासार्थ** - तुमने परमहंसों के चले जाने पर क्या किया ? इस वेदव्यासजी के प्रश्न का उत्तर देते हुए नारदजी 'भिक्षुभिर्विप्रवसिते' से लेकर 'एवं कृष्णमतेब्र ह्मन्' तक कहते हैं—

**नारद उवाच**—श्लोक— **भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानाऽऽदेष्टृभिर्मम ।**
**वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ।।५।।**

**श्लोकार्थ**—नारदजी कहते हैं कि विज्ञान का उपदेश देने वाले परमहंसों के दूर देश में चले आने पर पहली अवस्था में वर्तमान मैंने यह किया । जो आगे कहा जायगा वह किया ।।५।।

**सुबोधिनी**—ब्रह्मविदोऽपि भगवदर्थं यत्नः कर्तव्यः । दृष्टे च भगवति तदाज्ञा कर्तव्येति । अनुवादस्तत्प्रीतये । सर्वाविधारणात् । **एतदिति** । वक्ष्यमाणम् ।।५।।

**व्याख्यार्थ**— ब्रह्मज्ञानियों को भी भगवान् के लिए प्रयत्न करना चाहिये और भगवान् का साक्षात्कार होने पर उनकी आज्ञा का पालन तथा उनकी प्रीति के लिए गुणों का अनुवाद (वर्णन) करना चाहिये । क्योंकि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है उसका निश्चय उसीसे होता है । श्लोकस्थ 'एतत्' पद का आशय जो मैं आगे कह रहा हूं, वही किया ।।५।।

**आभास**— त्रिभिः प्रतिबन्धकतामेकेनाऽभावं चाऽऽह । भगवाननुगुणश्चेदग्रिमाऽवस्था सम्पादनीयेति । नाऽन्यथा । नारदस्तु भगवत्प्रतीक्षया स्थित इत्याह त्रिभिः—

**आभासार्थ**—नारदजी तीन श्लोकों से बाधक का निरूपण करते हैं और एक श्लोक से बाधा नहीं रही यह कहते हैं । भगवान् यदि अनुकूल हो तभी आगे का कार्य करना चाहिये अर्थात् भगवान् के साक्षात्कार के लिए यत्न करना ठीक है अन्यथा नहीं । अनुकूलता में जब सन्देह हो तब क्या करना चाहिये यह कहते हैं—

कारिका — **अन्यासक्तिस्तु यत्रैव तत्स्वार्थं नैव योजयेत् ।**
**भगवान्वा प्रतीक्ष्योऽत्र यत्नं वा तादृशं भजेत् ।**

**कारिकार्थ**— जिन देहादि में माता आदि अन्य की आसक्ति हो तो उनको अपने कल्याण के लिए नहीं लगाना चाहिये वहां भगवान् क्या करते हैं यह प्रतीक्षा करनी चाहिये अथवा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे भगवान् अनुकूल हो । नारदजी भगवान् क्या करते हैं इस प्रतीक्षा में रहे । इसी बात को तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक— **एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी ।**
**मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ।।६।।**
**साऽस्वतन्त्रा न कल्पाऽऽसीद्योगक्षेमं ममेच्छती ।**
**ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा ।।७।।**
**अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवांस्तदवेक्षया ।**
**दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ।।८।।**

**श्लोकार्थ**—एक ही मैं उसका पुत्र था । ऐसी वह पैदा करने वाली थी । स्त्रियों में मूर्ख तथा दासी होने के कारण काम में लगी रहती थी । इसलिए उसको उपदेश प्राप्त नहीं था । पुत्र होने से उसका स्वाभाविक प्रेम था । दूसरा कोई आश्रय न होने से कारण वश स्नेह था । स्नेह से ही उसके अन्तःकरण का बन्धन था । वह स्वतन्त्र नहीं थी । इसलिए मेरी योगसभा चाहती हुई भी नहीं कर सकती थी । क्योंकि सभी लोक ईश्वर अथवा काल के अधीन है, जैसे कठपुतली नचाने वाले के अधीन होती है । मैं पाँच वर्ष का बालक दिशा देश एवं काल से अनभिज्ञ माता से होने वाली बाधा न रहने की प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणों के आश्रय में रहा ।।६—८।।

**सुबोधिनी**— एकात्मजेति । एक एव आत्मजो यस्याः सा । आसक्त्याधिक्ये हेतुः— **मे जननीति** । पूर्वावस्थां स्मृत्वा जनयित्री । योषितामपि मध्ये मूढा । उपदेशाभावायोक्तम् । **किङ्करीत्यु**-पदेशावसराभावः सूचितः । **आत्मजे अनन्यगताविति** स्वाभाविकौपाधिकहेतू स्नेहस्य निरूपितौ । स्नेहेन अनु पश्चादात्मनो बन्धन स्नेहानुबन्धनम् । तत्र स्नेहाऽनुबन्धनमेव जात न तत्कार्यम् । अन्यथा विषयेण ममाऽपि बन्धः स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह । सा माता । अस्वतन्त्रा स्वाम्यधीना । अत एव न कल्पा मम योगक्षेमादौ न समर्था । कुण्डलादौ योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेमः । ब्रह्मविदः सर्वदेवतासन्निधानेन कथं न योगक्षेमप्राप्तिः ? तत्राऽऽह—**ईशस्य हि वशे लोक इति** । **"स्त एव पृथग्विधा"** इति प्रमाण हिशब्देन सूचितम् । ईशस्य भगवतः कालस्य वा । यथा स्त्रीप्रतिमा कुहकेच्छया नृत्यति एवं सर्वोऽपि लोकश्चेष्टते इति भगवज्ज्ञानवतो बुद्धिः । कालपक्षेऽपि तथा । कर्म-

भूतभौतिकपक्षे त्वन्यथा। तदग्रे वक्ष्यामः। यथा योषित्पुत्तलिकां कुहकोऽपि न स्वातन्त्र्यादिधर्मयुक्तां करोति तथा भगवानपि जीवान्। तदाह--**योषेति। अहं चेति** चकाराद्यथा माता ईश्वराधीना तथाऽहमपि। भिन्नतया ग्रहणं विशेषतस्तदधीनत्वात्। तद्ब्रह्मकुले स्वामिब्राह्मणानां कुले। अनेनाऽन्नादेर्दोषो निवारितः। तदवेक्षया मातृकृतप्रतिबन्धकाभावावेक्षया। दिशः पूर्वादयः। देशः स्वदेशादिः। काला दिनरात्रिप्रभृतयः। तेन क्व स्थातव्यं कदा प्रस्थातव्यमिति विवेकरहितः अनेन लौकिकापरिज्ञानम्। अतस्तेनाऽपि न बन्धात्मविस्मरणे। **बालक इति** विषयसम्बन्धाभावः। **पञ्चहायन** इत्यपराधीनता च ॥६॥७॥८॥

**व्याख्यार्थ**—मेरी माता के मैं ही एक पुत्र था। उसकी आसक्ति मेरे में अधिक थी। इसमें कारण यह था कि मुझे उत्पन्न करने वाली थी। यद्यपि इस समय वह जननी नहीं है परन्तु पूर्व जन्म की अवस्था को याद कर नारदजी ने जननी कहो। वह मेरी माता स्त्रियों में मूर्ख थो इसलिए उसे उपदेश भी प्राप्त नहीं था और वह दासी थी। इसलिए उनकी सेवा से अवकाश न मिलने के कारण उपदेश का अवसर नहीं मिला। क्योंकि वह दासो हो जैसे निरन्तर सेवा में लगो रहतो थी। स्नेह में दो कारण होते हैं-एक स्वाभाविक (कारणवश) और दूसरा औपाधिक। मैं पुत्र था। पुत्र में स्वाभाविक स्नेह होता है इसलिए स्वाभाविक स्नेह था। दूसरा मेरा कोई आश्रय नहीं था इस कारण से औपाधिक स्नेह भी था। स्नेह से वह मेरे साथ बंधी हुई थी। किन्तु उस स्नेहानुबन्ध का कुछ कार्य नहीं हुआ। अन्यथा उसके द्वारा विषयों की प्राप्ति होने पर मेरा भो बन्धन हो जाता। इसी अभिप्राय से 'सा' यह कहा। वह स्वामी के अधीन थो। इसलिए मेरे योगक्षेम में समर्थ नहीं थी। जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करना योग है और प्राप्त हुए का परिपालन करना क्षेम है। वह माता स्वामी के अधीन होने से मेरे लिए अप्राप्त की प्राप्ति नहीं करा सकती थी और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा नहीं कर सकती थी। अर्थात् वह मेरे योगक्षेम में असमर्थ थी।

शङ्का करते हैं कि नारदजी ब्रह्मज्ञानी थे। जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसमें सम्पूर्ण देवताओं का सन्निधान हो जाता है। फिर नारदजी को योगक्षेम की प्राप्ति क्यों नहीं हुई? इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'ईशस्य हि वशे लोकः' भगवान् जो देता है वही मिलता है क्योंकि लोक भगवान् के वश में है। यहां 'हि' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।' इस भगवद्वाक्य से यह निश्चय है कि जो कुछ होता है, भगवान् से ही होता है ॥६॥७॥८॥

**आभास**—भगवताऽपि किञ्चिद्विवेकार्थमेतावत्कालं प्रतिबन्धः स्थापितः। जाते तु विवेके तं दूरीकृतवानित्याह—

**आभासार्थ**—नारदजी को कुछ विवेक हो जाय इसलिए भगवान् ने इतने समय तक प्रतिबन्ध रखा। जब विवेक हो गया तब भगवान् ने प्रतिबन्ध दूर कर दिया—

श्लोक—**एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि।**
**सर्पोऽदशत् पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥९॥**

**श्लोकार्थ**—जब सब गृहस्थ अपने-अपने काम में लग रहे थे उस समय वह मेरी माता रात्रि में घर से निकली। गाय दुह रही थी कि मार्ग में स्थित काल से प्रेरित सर्प ने पैर का स्पर्श होने पर उस दीन को डस लिया ॥९॥

**सुबोधिनी**—**एकदेति**। यदा सर्वेऽपि गृहस्था. स्वस्वकार्ये व्यापृताः। **गेहान्निर्गतामिति** गृहान्निर्हरणक्लेशोऽपि निवारितः। शुद्धिश्च गोस्पर्शे। **दुहन्तीमिति** सत्क्रियाव्यापृतत्वम्। पथि स्थितः सर्पो भगवत्प्रेरणया समागतः। भगवत्कृतत्वज्ञापनाय **पदा स्पृष्ट** इति तस्या अपराध उक्तः। वस्तुतस्तस्या अपि न दोषो न वा तस्येत्याह—**कालचोदित इति**। कालादयो भगवदिच्छानुसारेण कार्यकर्तारः ॥९॥

**व्याख्यार्थ**—एकदा का अर्थ है एक समय जब गृहस्थ अपने अपने काम में लगे हुए थे। 'गेहान्निर्गतां' का अभिप्राय यह है कि नारदजी को उसे घर से उठाकर ले जाने का परिश्रम भी न करना पड़ा। उसकी शुद्धि तो दुहने के समय गाय का स्पर्श होने से ही हो गई थी। गाय का दुहना अच्छी क्रिया है उसमें वह लगी हुई थी। सर्प रास्ते में था वह भगवान् की प्रेरणा से वहां आ गया पैर से साँप का स्पर्श रूप अपराध भी उससे भगवान् ने ही कराया। वास्तव में तो न नारदजी की माता का दोष था और न सर्प का यह सब काल की प्रेरणा से हुआ। काल आदि भी भगवान् की इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं ॥९॥

**आभास**—मयाऽपि स भगवदुपकार इति ज्ञात्वा तथैव कृतमित्याह—

**आभासार्थ**—नारदजी कहते हैं कि मैंने भी इसे भगवान् का उपकार समझा और वैसा ही किया—

श्लोक— **तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः।**
**अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥**

**श्लोकार्थ**—तब मैं माता के मरने को भक्तों का सुख चाहने वाले भगवान् का अनुग्रह मानते हुए उत्तर दिशा की ओर चल दिया ॥१०॥

**सुबोधिनी**—**तदा तदहमिति**। सर्वदा हि भगवान् भक्तानामेव कल्याणमीष्टे। तथापि कदाचित्प्रतिबन्धकानामप्यात्मत्वान्न दूरीकरोति। यदि तदपि कुर्यात्तदा महाननुग्रहोऽयमिति ज्ञात्वा चिकीर्षिते न विलम्बः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**अनुग्रहं मन्यमान इति**। **उत्तरामिति**—**"एषा वै देवमनुष्याणां शान्ता दिग्"**ति श्रुतेर्भगवत्कृते न प्रतिबन्ध इति ज्ञापयितुम् ॥१०॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् हर समय भक्तों का ही कल्याण चाहते हैं। तथापि कदाचित् प्रतिबन्धकों को आत्मरूप होने से उन्हें हटाते नहीं। यदि प्रतिबन्धकों को भी हटा दें तो यह महान् अनुग्रह है ऐसा जानकर किये जाने वाले काम में देरी नहीं करनी चाहिये इस अभिप्राय से नारद जी कहते हैं कि 'अनुग्रहं मन्यमानः' इसमें भगवान् का अनुग्रह मानता हुआ उत्तर दिशा की ओर चला

गया। यह उत्तर दिशा देवता और मनुष्यों की शान्त दिशा है। 'एषा वै देवमनुष्याणां शान्तादिक्' ऐसा श्रुति का कथन है। भगवान् के लिए उस दिशा में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसा बताने के लिए ही उत्तर दिशा को ओर जाना कहा ॥१०॥

**आभास**—भूजलद्रुमाऽतिक्रममाह **स्फोतानिति** सार्द्धद्वाभ्याम् —

**आभासार्थ**—नारदजी ने जिन भूभागों को, जलाशयों को और वृक्षों को पार किया था उनका वर्णन ढाई श्लोकों में करते हैं –

श्लोक—**स्फोताञ्जनपदांस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् ।**
**खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥११॥**

**श्लोकार्थ**—सस्य (धान्य) आदि से सम्पन्न देश, बड़े-बड़े नगर, छोटे गांव, गायों के स्थान, नमक आदि की खानें, किसानों के खेड़े, अग्निहोत्रियों के स्थान, पुष्प वाटिकायें, वन एवं उपवन तथा खलिहानों का अतिक्रमण किया ॥११॥

**सुबोधिनी**—तत्रैकेन भूमिविशेषानाह—स्फीतान् सस्यादियुक्तान् । जनपदान् मालवादीन् । पुराणि नगरात्स्थूलानि । ग्रामाः सूक्ष्मावासाः । व्रजा गवां स्थानानि । आकरा लवणादीनाम् । खेटाः कृषीवलग्रामाः । खर्वटा अग्निहोतॄणाम् । एकतो नदी अपरतः पर्वतास्तादृशाः । वाटीः पुष्पादिवाट्यः । वनानि मध्यस्थानानि सहजानि । उपवनानि आरोपितवृक्षाणाम् । चकारात्खलादानि ॥११॥

**व्याख्यार्थ**—उनमें एक श्लोक से भूमि विशेष का कथन करते हैं । स्फीत कहते हैं धान्य आदि से सम्पन्न । जनपद से मालव आदि प्रदेश । नगर से जो बड़े होते हैं उन्हें पुर कहते हैं । छोटी बस्तिएं गांव कहलाती हैं । गायों की गोशालाएं व्रज कहलाती हैं । आकर नमक आदि की खानें । किसानों के ग्राम खेट कहे जाते हैं । अग्निहोत्रियों के निवास खवट कहलाते हैं जिनमें एक ओर नदी और दूसरी ओर पवत होते हैं । जो गांव के मध्य में सहज भूमि होती है उन्हें वन कहते हैं और जिनमें वृक्ष लगाये जाते हैं वे उपवन कहलाते हैं । 'च' से खलिहान आदि ॥११॥

श्लोक—**चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् ।**
**जलाशयान् शिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ।**
**चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ॥१२॥**

**श्लोकार्थ**—जिनकी शाखाएं हाथियों ने तोड़ दी है ऐसे वृक्षों वाले रंग-बिरंगे धातुओं से विचित्र दीखने वाले पर्वतों का अच्छे जल वाले बड़े-बड़े जलाशयों का, कमल आदि से युक्त अपने आप बने हुए सरोवरों का, देवालय आदि से युक्त नाना प्रकार के शब्द करने वाले पक्षियों के साथ विशेष रूप से भ्रमण करने वाले भौरों की शोभा से युक्त स्थानों का अतिक्रमण किया ॥१२॥

**सुबोधिनी** वृक्षसहितपर्वतानामतिक्रममाह । चित्रैर्धातुभिर्विचित्रानद्रीन् । तेषामेव विशेषणम्– इभैभग्ना भुजा येषां तादृशा द्रुमा येषामिति । रागभयनिमित्ते उक्ते । विश्रामनिमित्तानि जलान्याह । जलाशयान् महापुष्करिणी: । तेषामेव विशेषणम्—शिवजलान् । शीतल रोगाद्यनुत्पादकं जलं शिवम् । नलिनी: कमलादियुक्तदेवखाता: । सुरसेविता देवालयादिसहिता: । आश्चर्यरसायाऽऽह । चित्र: स्वनो येषां तादृशै: पक्षिभि: सह विशेषभ्रमणयुक्तानां भ्रमराणां श्रियो यासु ता: ॥१२॥

**व्याख्यार्थ**—वृक्ष सहित पर्वतों का अतिक्रम बताते हैं । विचित्र धातुओं से विविध प्रकार के रंगों वाले पर्वत जिन पर हाथियों के द्वारा तोड़ी गई शाखा वाले वृक्ष थे जिससे उन पर्वतों को देख कर रग से सुन्दरता और वृक्षों से भय उत्पन्न होता था । विश्राम करने के लिए जलाशय थे जिनमें रोग आदि को उत्पन्न न करने वाला ठण्डा जल भरा हुआ था और जिनमें कमल खिले हुए हैं ऐसे स्वाभाविक जलाशय भी थे । उनके पास ही देवताओं के मन्दिर भी थे । विचित्र प्रकार के पक्षियों के स्वर के साथ ही विशेष रूप से घूमने वाले भ्रमरों की शोभा भी आश्चर्यजनक थी ।।१३॥

**आभास**—एवमनूद्य तेषामतिक्रमणमाह—

**आभासार्थ**—भूभाग-जल-वृक्षों का निरूपण करके अब उनका अतिक्रमण बताते हैं—

श्लोक—**नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ।**
**एक एवाऽतियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् ।**
**घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**—नलबांस, बांस, सरगंडे, कुश, छेद वाले बांसों से अत्यन्त गहन तथा जो सर्प, उल्लू एव सियारों का आंगन घर ही था ऐसे अति भयकर महान् वन को अकेले ही जाते हुए मैंने देखा ॥१३॥

**सुबोधिनी—नलवेणुशरस्तम्बेति** । नलवेणुशराणां स्तम्बा: कुशा: कीचका: सरन्ध्रा: स्थूला वेणवस्तैर्गह्वरं महद्वनमेक एवाऽतियातोऽहम् । कियद्देशातिक्रमोऽत्र विवक्षित: । अथवा । पूर्वोक्तानामेवाऽतिक्रम: । पूर्वोक्तानतियातोऽहम् । पूर्व पथिका अप्यन्ये स्थितास्तत्र तत्र । घोरं महद्विपिनं तु एक एव अद्राक्षम् । तस्य भयजनकत्वेऽपि न मम भयं जातमित्याशयेनाऽऽह । घोर व्याघ्रविदारितमांसादिभि: । भयस्याऽपि प्रतिभयजनक आकारो यस्य । व्याघ्रादयोऽपि ततो भीता भवन्तीत्यर्थ: । मध्ये अवृक्षदेशोऽपि भयानक इत्याह । **व्यालोलूकशिवाजिरम्** । व्याला: सर्पा, उलूका दिवाभीता: शिवा: शृगालास्तेषामङ्गणत्वेन तद्भक्षितमांसादियुक्तम् ॥१३॥

**व्याख्यार्थ**—नलबांस, बांस तथा सरगंडे से घना तथा कुश और छेद वाले मोटे बांसों की गुफाओं से युक्त महान् वन में मैं अकेला ही गया । कुछ देश का अतिक्रम ही यहां कहा गया है । अथवा पूर्व में बताये गये का अतिक्रम किया । पहले जिस भूभाग का निरूपण किया उसमें तो रास्ता चलने वाले अथवा उनमें रहने वाले भी जहां तहां मिलते थे किन्तु इस भयाव ने वन को तो

केवल मैंने अकेले ने ही देखा । उस भयङ्कर वन को देखकर भी मुझे भय नहीं हुआ उसे कहते हैं। भयङ्कर बाघों से चीरे हुए मांसों को भी मैंने देखा और जिन बाघों को देखकर सब डर जाते हैं वे बाघ भी उस वन को देखकर डरते हैं। मध्य में जहां वृक्ष नहीं थे वह स्थान भी भयानक था। वहां पर सांपों, उल्लुओं और सियारों ने अपना घर बना रखा था और उनके खाने से बचे हुए मांस बिखरे पड़े थे । १३।।

श्लोक—**परिश्रान्तेन्द्रियात्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।**
**स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतव्यथः ।।१४।।**
**तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आश्रितः ।**
**आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ।।१५।।**
**ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।**
**औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**—चलते-चलते मेरा शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियां शिथिल हो गई। मुझे जोर की प्यास और भूख लगी। वहां एक नदी मिली उसके ह्रद में मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया इससे मेरी थकावट मिट गई। उस निर्जन वन में एक पीपल के नीचे मैं आसन लगाकर बैठ गया। उन महात्माओं से जैसा मैंने सुना था। हृदय में रहने वाले परमात्मा के उसी स्वरूप का मैं मन ही मन ध्यान करने लगा। भक्तिभाव से वशीकृत चित्त द्वारा भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करते ही भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा से मेरे नेत्रों में आंसू भर आये और धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये ।।१४।।१५।।१६।।

**सुबोधिनी**—पूर्वं भगवच्चिन्तनेन गतस्याऽप्यतिभयानकदर्शनाद्बहिर्मुखत्वे जाते **परिश्रान्तेन्द्रियात्मा** परितः श्रान्तानि इन्द्रियाणि आत्मा देहश्च यस्य । तथा तट्परीतो बुभुक्षितश्च जातः। कस्याश्चिन्नद्याः पार्वत्याः कुण्डभूतो ह्रदः । स वृक्षादिना शीतलो भवति । तत्र स्नात्वा पीत्वा च पुनरात्मचिन्तनार्थमुपस्पृष्ट आचम्य । चिन्तनमात्रेणैवाऽन्तःकरणक्लेशनिवृत्तिः । देहेन्द्रियाणां च स्नानपानादिना । एवं सावधानो भूत्वा मनुष्यसम्बन्धाभावमात्रेण कोलाहलपापादिसम्बन्धाभावादुत्तमदेशारण्ये तत्राऽपि पिप्पलोपस्थे आश्रितः पञ्चाङ्गभागेन वृक्षस्पर्शी आत्मानमचिन्तयम् **कोऽहमिति** । तथाच तस्मिन्नात्मत्वेन ज्ञाते केनाऽहमेतादृशो भास इत्याकांक्षायां स्वेनैव स्वप्रकाशेनैव आत्मना । एवं स्वप्रकाशात्मज्ञानानन्तरं पुनर्गूढोपदेशस्मरणेन यस्याऽहमात्मा पीठभूतः स कोऽयमिति जिज्ञासायामात्मन्येव प्रकाशमानं भगवन्तं दृष्टवान् । सा तु चिन्तनया मानसी मूर्तिः। **यथाश्रुतमिति** वचनात् । तस्मिंश्चिन्तनायामारब्धायां भक्तिरुत्पन्ना । तस्यामुत्पन्नायां चरणाम्भोजध्यानमारब्धम् । ततश्चरणाम्भोजं भक्त्या निर्जितचेतसा ध्यायतो भक्त्यानन्दः पूर्णो जातः । तेन प्रेमौत्कण्ठ्यादानन्दाश्रुप्रभृतयो जाताः । तत औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृदये सर्वथा बहिर्दर्शनाभावे चिन्तनानुवृत्त्यर्थं भगवान् शनैराविरासीत् ।।१४।।१५।।१६।।

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि पहले भगवान् का चिन्तन करते हुए जा रहे थे परन्तु अत्यन्त भयावने वन को देखने से बहिर्मुखता हो गई। भगवान् का ध्यान जाता रहा। तब शरीर, इन्द्रियां और अन्तःकरण शिथिल हो गये तथा प्यास और भूख भी लग गई। किसी पर्वतीय नदी का कुण्ड सदृश ह्रद था वह वृक्ष आदि के कारण ठंडा होता हो है। उसमें स्नान किया तथा जलपान किया और फिर आत्म चिन्तन के लिए आचमन किया आत्म चिन्तन करते ही अन्तःकरण के क्लेश को निवृत्ति हो गई और स्नान तथा जलपान से देह और इन्द्रियों का क्लेश मिट गया। इस तरह सावधान होकर वन की निर्जनता के कारण वहां कोई हल्लागुल्ला या पाप आदि का सम्बन्ध तो था ही नहीं ऐसे उस वन में वहां भी पीपल के वृक्ष का पीठ के द्वारा सहारा लेकर आत्मा का चिन्तन किया। मैं कौन हूँ तब मैं आत्मा हूं ऐसा ज्ञान हुआ तदनन्तर मैं इस तरह किससे भासित हो रहा हूं ऐसी जिज्ञासा हुई तो यह समझ में आया कि स्वयं प्रकाश अपनी आत्मा से ही मैं प्रकाशित हूँ इस तरह स्वप्रकाशरूप आत्मज्ञान के अनन्तर फिर गूढ उपदेश के स्मरण से जिसकी मैं आत्मा हूँ उस आत्मा का आश्रयभूत वह कौन है ऐसी जब जिज्ञासा हुई तो आत्मा में ही प्रकाशमान भगवान् के दर्शन किये। जैसा मैंने सुना था उसी का चिन्तन किया तो वैसो ही मानसी मूर्ति मेरे हृदय में आ गई। जब उसका चिन्तन आरम्भ किया तो उसमें मेरी भक्ति उत्पन्न हो गई। भक्ति उत्पन्न होने के अनन्तर भगवान् के चरण कमलों का ध्यान आरम्भ किया। चित्त को एकाग्र करके भक्तिपूर्वक चरणारविन्द का ध्यान करने से भक्त्यानन्द पूर्ण हो गया। भक्त्यानन्द के पूर्ण हो जाने से प्रेम और उत्कण्ठा के कारण आनन्द के अश्रु रोमाञ्च आदि हो गये। उत्कण्ठा के कारण नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गये तब बाहर का देखना सर्वथा बन्द हो गया तब चिन्तन की अनुवृत्ति बराबर बनी रहे इसके लिए हृदय में शनैः शनैः भगवान् प्रकट हो गये ॥१४॥१५॥१६॥

**आभास**—मानसकल्पितमूर्तावभ्यन्तराद्भगवदाविर्भावे मानसाविर्भूतयोरैक्ये यज्जात तदाह—

**आभासार्थ**—मन के द्वारा कल्पित मूर्ति के अन्दर से ही भगवान् का आविर्भाव होने पर उस मानसिक मूर्ति के साथ आविर्भूत भगवान् की एकता होने पर जो हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।**
**आनन्दसम्प्लवे लीनो नाऽपश्यमुभयं मुने ॥१७॥**
**रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् ।**
**अपश्यन्सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥१८॥**

**श्लोकार्थ**—हे व्यासजी ! उस समय प्रेमभाव के अत्यन्त उद्रेक से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्द की वाढ में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तु का भान न रहा। भगवान् का वह रूप समस्त शोकों का नाश करने वाला और मन के लिए अत्यन्त लुभावना

था। सहसा उसे न देख मैं अत्यन्त विकल हो गया। दुःखित मन वाले की तरह होकर आसन से उठ खड़ा हुआ ॥१७॥१८॥

**सुबोधिनी—प्रेमातिभरेति** । अयं हि भगवत्साक्षात्कारः । एवमेव ब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि । यथा गङ्गाजले देवतारूपाया गङ्गाया ध्याने क्रियमाणे साक्षाद्भगवत्पदी यद्याविर्भवति तथा सर्वेषामात्मनामात्मभूते आत्मस्थे भगवति ध्यायमाने साक्षाद्भगवत आविर्भावश्चेत्स्वतस्तत्र स्थिरीभूते प्रवेशः सायुज्यम् । यथा जलस्य देवतायां प्रवेशे नदी शुष्यति तथा जीवो ब्रह्म सम्पद्यते । एवमाविर्भूते भगवति सान्निध्यात्परमप्रेम जातम् । तस्य प्रेम्णोऽतिभरो महापूरः । सान्निध्यलक्षणानामुत्तरोत्तरमत्युत्कृष्टत्वं तेन पूरेण निर्भिन्नाः पुलका रोमाञ्चा यस्य । रोमकूपद्वारा बहिर्निगत इत्यर्थः । एवं सर्वाङ्ग आनन्दे पूर्णे परमा निर्वृतिर्जाता । शान्तानन्दमयो जात इत्यर्थः । स च पुनरानन्दसम्प्लवे ? । गङ्गात एवोद्धृत कलशजलं पुनर्गङ्गायां प्रक्षिप्तं सत् गंगैव भवति तथा आनन्दसम्प्लवे लीनः । तदा आत्मानं भगवन्तं च उभयं नाऽपश्यम् । हे मुने इति सम्बोधनं संवादार्थम् । कदाचिन्मुनीनामेव भवतीति । आनन्दे चैतन्यभावः प्रविष्टो न चित्त्वेन स्फुरित इत्यर्थः । ततो भगवदिच्छया भगवति तिरोभूते स्वस्याऽप्यानन्दांशे तिरोभूते मानस्यपि मूर्त्तिस्तिरोभूता । बलवता ह्यभिभवात् । तदा भगवतो रूपं मनसोभर्तृत्वेन प्रकाशमानं सर्वदुःखनाशकमपश्यन् क्वचिदितो गत इति बुद्धचा सहसोत्तस्थे उत्थितवानस्मि । नन्वन्तः पदार्थस्य कुतो बहिर्गमनसम्भावना ? तत्राऽऽह । वैक्लव्यात् । विक्लवतया न स्फुरितमित्यर्थ. । विकलता हि सर्वविस्मारिका । किञ्च । दुर्मना इव जातः । दुर्गतं मनो यस्य । यथा सर्वस्वनाशे सर्वस्वाविष्टं चित्तं नष्टमिव भवति, तथा भगवन्मूर्त्तौ तस्य चित्तं जातमिति दुष्टत्वम् । १७।१८ ।

**व्याख्यार्थ**—जिस तरह यह भगवत्साक्षात्कार हुआ उसी तरह ब्रह्म साक्षात्कार भी होता है। जिस तरह गङ्गाजल में देवता रूप गङ्गा का ध्यान करने पर साक्षात् गङ्गा यदि प्रकट होती है उसी तरह सभी आत्माओं के आत्मभूत आत्मस्थ भगवान् का ध्यान करने पर साक्षात् भगवान् का आविर्भाव यदि होता है तो स्वतः उसमें स्थिर हो जाने पर उसमें प्रवेश तथा सायुज्य हो जाता है। जैसे जल का देवता में प्रवेश हो जाने पर नदी सूख जाती है उसी तरह जीव ब्रह्म हो जाता है। अतएव आविर्भूत भगवान् में सान्निध्य के कारण उत्कट प्रेम हो गया । उस प्रेम की बाढ़ आ गई थी। हृदय में भगवान् की सान्निधि के लक्षण उत्तरोत्तर बढ़ते गये । अतः उस प्रेम के पूर से शरीर मे रोमाञ्च हो गये अर्थात् प्रेम रोमकूपों द्वारा बाहर प्रकट हो गया। इस तरह सर्वाङ्ग आनन्द से पूर्ण हो गया जिससे उन्हें अत्यन्त सन्तोष हो गया। अर्थात् नारदजी शान्तानन्दमय हो गये । जैसे गङ्गाजी के जल से घड़ा भरकर उस जल को फिर गङ्गाजी में डाल दिया जाय तो जैसे वह जल गङ्गा ही हो जाता है उसी तरह नारदजी को पहले तो स्वयं का तथा भगवान् का अलग अलग ज्ञान था परन्तु आनन्द की बाढ़ आ जाने पर तो नारदजी को स्वयं का और भगवान् का दोनों ही का अलग-अलग ज्ञान जाता रहा। हे मुने ! ऐसा सम्बोधन स्वय का अनुभव बताने के लिए दिया है अर्थात् मुनियों को कदाचित् ऐसा अनुभव हुआ करता है। आनन्द में चैतन्य भाव प्रविष्ट हो गया आनन्द चैतन्य रूप से स्फुरित नहीं हुआ यह इसका अभिप्राय है। इसके बाद भगवान् की इच्छा से हृदय से भगवान् के तिरोहित हो जाने पर अपना आनन्द भी तिरोहित हो गया और आनन्दांश के तिरोहित होने पर वह मानसी मूर्ति भी तिरोहित हो गई। ऐसी जबरदस्त चोट के कारण भगवान्

का रूप जो मन के भर्त्ता रूप से प्रकाशमान था और जो सब दुःखों का नाश करने वाला था उसे न देखकर क्या इधर गये हैं या इधर गये हैं इस बुद्धि से सहसा मैं उठकर खड़ा हो गया । यदि शंका हो कि जो पदार्थ हृदय के अन्दर है उसके बाहर जाने की सम्भावना ही नारदजी को कैसे हुई उसका कारण यह है कि नारदजी इतने घबरा गये थे कि वे ऐसा सोच ही न सके कि भीतर का पदार्थ बाहर कैसे जा सकता है क्योंकि विकलता सब समझ को भुला देती है । तब वे उदास से हो गये । जैसे किसी का सर्वस्व नष्ट हो जाय तो सर्वस्व में आविष्ट चित्त नष्ट सा हो जाता है । उसी तरह सर्वस्व रूप भगवन्मूर्त्ति में आविष्ट उनका चित्त नष्ट हो गया चित्त खो गया ।।१७।।१८।

**आभास**—पुनः कियत्कालसमाधाने ज्ञातवान् भगवानाविर्भूत इति तेन चैतत्सर्वं जातमिति । ततः सावधानो भूत्वा पुनर्भगवद्दर्शनार्थं ध्यानमारब्धवानित्याह—

**आभासार्थ**—फिर कुछ समय तक नारदजी ने चित्त का समाधान किया तब उन्हें ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए थे इसलिए यह सब इतना हुआ । तब सावधान होकर पुनः भगवान् के दर्शन के लिए ध्यान आरम्भ किया—

श्लोक—**दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।**

**वीक्ष्य(?)माणोऽपि नाऽपश्यमवितृप्त इवाऽऽतुरः ।।१९।।**

**श्लोकार्थ**—आविर्भूत भगवत्स्वरूप को पुनः देखने की इच्छा से मैंने हृदय में मन को स्थिर किया । जिससे मुझे दर्शन हो जाय परन्तु मानसी मूर्त्ति को देखता हुआ भी वहां भगवान् को न देख सका । जिस प्रकार ज्वरादि रोग वाला द्राक्षा आदि से अतृप्त सा रहता है मेरी भी वैसी ही स्थिति हुई ।।१९।।

**सुबोधिनी**—**दिदृक्षुस्तदहं भूय इति** । तद्भगवत्स्वरूपमाविर्भूतं दिदृक्षुः । तत्र भगवद्ध्यानमेव साधनमिति ज्ञात्वा पुनर्मनो हृदि भगवन्मूर्त्तिव्याप्ते स्थिरीकृतवान् । ततो मानसीं मूर्त्तिं पश्यन्नपि न भगवन्तं दृष्टवान् । तदाह—**वीक्ष्य(?)माणोऽपि नाऽपश्यमिति** । तदा सन्ताप उत्पन्न इत्याह—**अवितृप्त इवाऽऽतुर इति** । यथा ह्यातुरो ज्वरादिरोगवान् कदाचिद्द्राक्षादिके दत्ते अवितृप्तः सन् पुनः प्रार्थनायां न प्राप्नोति, ततश्च रसाभिनिविष्टो महद्दुःखं प्राप्नोति । न हि ज्वरितस्य बह्वी द्राक्षा तु पथ्याय । किन्तु रोचिका । मानस्य सवादेन सत्यत्वज्ञानाद्भगवदाविर्भावाच्च काचित्तृप्ति-र्जातैव । भुक्तवान्तवत् । तथापि न विशेषेण तृप्तः ।।१९।।

**व्याख्यार्थ**—उस आविर्भूत भगवान् के रूप को देखने की इच्छा से । उसके देखने में भगवान् का ध्यान ही साधन है ऐसा जानकर फिर मन को भगवान् की मूर्ति से व्याप्त हृदय में स्थिर किया । तब मानसी मूर्ति तो दिखाई दी किन्तु भगवान् दिखाई नहीं दिये । तब सन्ताप उत्पन्न हुआ उसे 'अवितृप्त इवातुरः' से बताते हैं । जैसे ज्वरादि रोग वाले रोगी को कदाचित् दाख आदि दी जाय तो उससे तृप्त न होकर वह फिर उसे मांगता है उसके न मिलने पर उसके रस के अभिनिवेश से महान् दुःख को प्राप्त होता है परन्तु ज्वर वाले को अधिक दाख का देना हितकर नहीं होता किन्तु

दाख केवल उसकी रुचि बढ़ाने के लिए ही दी जाती है। मार्ग के संवाद से सत्यत्व ज्ञान से और भगवान् के आविर्भाव से कुछ तृप्ति तो हो ही गई थी। जो वस्तु खाई जाती है वही तो वमन में निकलती है इस तरह। तथापि विशेष रूप से तृप्ति नहीं हुई ।।१६।।

**आभास**—तथापि यत्न न त्यक्तवानित्याह—

**आभासार्थ**- फिर भी यत्न को नहीं छोड़ा उसे कहते हैं—

श्लोक—**एवं यतन्तं विजने मामाहाऽगोचरो गिराम् ।**

**गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—इस प्रकार निर्जन वन में दर्शन के लिए यत्न करते हुए मुझे वाणी के अविषय साकार ब्रह्म ने गम्भीर और मधुर वाणी से शोक मिटाते हुए की तरह कहा ।।२०।।

**सुबोधिनी**—**एवं यतन्तमिति** । विजन इति मनुष्यान्तरवाक्यसम्भावनाभावः । कोऽयं स इत्याकांक्षायामाह—**अगोचरो गिरामिति** । "यतो वाचो निवर्तन्त" इति श्रुतेस्तत्साकारं ब्रह्म भगवच्छास्त्रगम्यमिति । तस्य वाक्यमाह । **गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा** । गम्भीरत्वेन न प्रतिध्वनिः । श्लक्ष्णत्वान्नाकाशपुरुषस्य वाणी । तस्य शोकोऽयम्—किं मया भ्रमात्किञ्चिदनुभूतमाहोस्वित्स्वप्न इति । तथा सति न शास्त्रं प्रमाणमिति महद्दुःखम् । दिदृक्षाकृतञ्च । एवं नानाविधाः शुचः । ताः प्रशमयन्निव । अस्तित्वेन शमनम् । अग्रे च सम्भविष्यति । इदानीं नास्तीति च । तस्मादाह—**शमयन्निवेति** ।।२०।।

**व्याख्यार्थ**—विजन कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अन्य किसी मनुष्य के वाक्य की सम्भावना ही नहीं थी तब वह बोलने वाला कौन था ? उसके लिए कहते हैं कि 'अगोचरो गिराम्' जिसे वाणी से नहीं कह सकते ऐसा साकार ब्रह्म जो केवल भगवच्छास्त्रों से ही जाना जा सकता है। जिसे श्रुति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' ऐसा बताती है। गम्भीर वाणी से मुझे कहा गम्भीर होने से ही उसका प्रतिध्वनि नहीं हुई और मधुर होने से वह आकाश पुरुष की वाणी नहीं थी। नारदजी को शोक इसलिए था कि मैंने जो अनुभव किया था क्या वह मेरा भ्रम था या स्वप्न था ? यदि भ्रम या स्वप्न हो तो उसमें शास्त्र प्रमाण नहीं हो सकता इसका उन्हें बहुत दुःख था और देखने की इच्छा का भी दुःख था। इस तरह उन्हें अनेक प्रकार के शोक थे उन सब शोकों को शान्त करने वाले वे वाक्य थे। शोक थे उनको तो शान्त किये आगे भले हो हो सकते हैं। इस समय तो नहीं है इसको बताने के लिए 'शमयन्निव' ऐसा कहा है ।।२०।।

**आभास**—भगवद्वाक्यमाह—

**आभासार्थ**—भगवान् के वचनों को कहते हैं—

श्लोक- **हन्ताऽस्मिञ्जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहाऽर्हति ।**
**अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।२१।।**

**श्लोकार्थ**—स्नेह से दुःखी तुम इस जन्म में और यहाँ मुझे नहीं देख सकते। क्योंकि जिनके राग द्वेष पके नहीं हैं ऐसे विघ्न वाले योगियों को मेरे दर्शन कठिनता से होते हैं ।।२१।।

**सुबोधिनी**—**हन्ताऽस्मिन्निति** । **हन्तेति** स्नेहेन दुःखितस्य सम्बोधनम् । अस्मिञ्जन्मनि मां द्रष्टुं भवान्नाऽर्हति । न वा इहेति । अन्यथा मरणपर्यन्तमत्रैव तिष्ठेत् । अतो वैकुण्ठे न्यत्र वा जन्मान्तरे दर्शनं भविष्यति । इहाऽदर्शने हेतुः । **अविपक्वकषायाणाम्** । न विशेषेण पक्वा रागादयो येषाम् । इदानीं भक्तिज्ञानादेरुद्गमादभिभूतास्तिरोहितास्तिष्ठन्ति । पुनः कालान्तरे निमित्तान्तरमासाद्य प्रबुद्धा भविष्यन्ति । अतस्तेषां पाको मृग्य इति । "**कषायपक्तिः कर्माणी**" ति श्रुतेः पाचककर्माणि कर्तव्यानीत्यर्थः । अपक्वेऽपि कषाये साधनेष्वतिनिर्बन्धश्चेत्कदाचिद्दुःखेन द्रष्टुं शक्येताऽपि । तदाह- **दुर्दर्श इति । कुयोगिनामिति** । अन्तरायैर्विहतानाम् । तस्मान्न कषायपाकः पूर्वसिद्धः । २१।।

**व्याख्यार्थ**—स्नेह के कारण दुःखी नारदजी को 'हन्त' इस अव्यय से सम्बोधित किया। इस जन्म मे आप मुझे नहीं देख सकते और न यहां। यदि यहाँ दीखने की कहते तो मरण पर्यन्त नारदजी यहाँ ही रह जाते इसलिए वैकुण्ठ में या दूसरी जगह जन्मान्तर में दर्शन होगे। यहाँ दर्शन न होने का कारण है कि तुम्हारे राग द्वेष आदि विशेष रूप से परिपक्व नहीं हुए हैं। यद्यपि इस समय भक्ति और ज्ञान के उदय से वे रागादि दब गये हैं इसलिए छिपे हुए हैं। कालान्तर में पुनः सहायक के मिल जाने पर वे तैयार हो सकते हैं। इसलिए उनके परिपक्व होने का उपाय ढूँढो। 'कषायपक्तिः कर्माणि' इस श्रुति के अनुसार कषायों को पकाने वाले कर्मों को तुम्हें करना चाहिये। कषायों के परिपक्व न होने पर भी यदि साधनों में तुम्हारा अधिक आग्रह होगा तो कदाचित् अंत कठिनता से देख भी सकोगे। इसको बताने के लिए 'दुर्दर्शः' ऐसा कहा। दर्शन में विघ्न रुकावट डाल सकते हैं इसलिए कषायों का परिपाक आवश्यक है। कषायों का परिपाक तुम में पूर्वसिद्ध नहीं है ।।२१।।

**आभास**— सकृद्दर्शनं तु प्रमेयबलादित्याह —

**आभासार्थ**—यदि कषायों का परिपाक नहीं हुआ तो फिर एक बार दर्शन कैसे हो गये ? उसका उत्तर है उस दर्शन में तो प्रमेय बल कारण था—

श्लोक—**सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।**
**मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ।।२२।।**

**श्लोकार्थ** - हे निष्पाप बालक ! तुम्हें जो मैंने एक बार दर्शन कराया है वह मेरे में उत्कट इच्छा उत्पन्न करने के लिए कराया है । मेरी कामना वाला साधक लौकिक कामों को धीरे-धीरे छोड़ देता है और साधु (भक्त) हो जाता है और मेरी कामना होने पर हृदयस्थ सभी रागादिकों को छोड़ देता है ॥२२॥

**सुबोधिनी** – **सकृद्यद्दर्शितं रूपमिति** । यदिदं रूपं सकृद्दर्शितं तत्ते कामोत्पत्त्यर्थमुद्गतेच्छाविशेषार्थम् । येन कामेन प्रवृत्तः स्थातुं न शक्नुयात् । कामनायां किं स्यात्तदाह—**मत्काम इति** । मयि कामः । **शनकैरिति** । कामद्वारा यथा यथाऽहं हृदि प्रविष्टस्तथा तथा कामान्मुञ्चतीति । किञ्च । प्रथमतः साधुर्भवति । साधुभिरेव प्राप्यत्वात् । रागादिभिश्च साधुत्वापगमात् । ततः सर्वानेव हृच्छयान् रागादीन्मुञ्चति ॥२२॥

**व्याख्यार्थ**—यह रूप जिसे मैंने तुम्हें एक बार दिखाया है वह मेरे में उत्कट इच्छा प्रकट हो इसके लिए था । उस उत्कट इच्छा में प्रवृत्त हुआ कभी चुपचाप नहीं रह सकता । उत्कट इच्छा से क्या होगा उस पर कहते हैं कि 'मत्कामः शनकैः' जिसकी मेरे प्रति उत्कट इच्छा हो वह उस इच्छा के द्वारा जैसे-जैसे मैं उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाऊंगा वैसे वैसे वह लौकिक कामनाओं का परित्याग कर देता है । पहले तो वह साधु (भक्त) हो जाता है क्योंकि मैं भक्तों से ही प्राप्त हो सकता हूं । राग-द्वेष आदि यदि रहते हैं तो उसमें से साधुत्व चला जाता है । अतः वह हृदय में निवास करने वाले सभी रागादि दोषों का परित्याग करता है ॥२२॥

**आभास**—तर्हि किं साधनं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—तो फिर मुझे क्या साधन करना चाहिये—

श्लोक—**सत्सेवयाऽदीर्घयाऽपि जाता मयि दृढा मतिः ।**
**हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥२३॥**

**श्लोकार्थ**—थोड़े समय की सत्पुरुषों की सेवा से ही मेरे में तुम्हारी बुद्धि दृढ़ हो गई । दोष वाले इस देह को छोड़कर तुम सेवक बन जाओगे ॥२३॥

**सुबोधिनी** - **सत्सेवयेति** । साधनं तु तव निष्पन्नम् । यतः अदीर्घयाऽपि सत्सेवया मयि दृढा मतिर्जाता तर्हि काऽनुपपत्ति ? तत्राऽऽह—**हित्वाऽवद्यमिति** । देहस्तु दुष्टः । तस्मिन्नपगते भविष्यति । नन्वेतत्प्ररोहत्वादग्रिमोऽपि देहस्तादृशो भविष्यतीति तत्राऽऽह । **मज्जनताम्** । मम जनः सेवकः । तत्ता मज्जनता । असेवकोऽपि सेवकशरीरं प्राप्स्यसि ॥२३॥

**व्याख्यार्थ**—साधन तो तुम्हारा हो चुका । क्योंकि थोड़े समय ही की गई सज्जनों की सेवा से तुम्हारी मेरे में दृढ़ बुद्धि हो गई । तो फिर अब क्या बाकी रहा ? इस पर कहते हैं 'हित्वावद्यमिमं" यद्यपि तुम्हारी बुद्धि तो मेरे में दृढ़ हो गई है किन्तु यह देह तो दुष्ट है । यह जब चला जायगा तब तुम्हें मेरे दर्शन होंगे । यदि यह शंका हो कि आगे का शरीर भी तो इसी शरीर

का अंकुर होगा तो फिर आगे का शरीर निर्दोष कैसे हो जायगा इस पर कहते हैं 'मज्जनतामसि' असेवक होते हुए भी तुम सेवक शरीर को प्राप्त करोगे ।।२३।।

**आभास**—तदा शरीरान्तरे ज्ञानादिसाधनाभावात्कथ तव दर्शनम् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—इसके अनन्तर प्राप्त होने वाले शरीर में तो ज्ञान आदि साधनों का अभाव रहेगा तो आपके दर्शन कैसे होंगे इस पर कहते हैं—

श्लोक—**मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।**
**प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**—मुझे प्राप्त करने का तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी नष्ट नहीं होगा । प्रलय हो जाने पर भी मेरे अनुग्रह से तुम्हें मेरी स्मृति रहेगी ।।२४।।

**सुबोधिनी**—**मतिर्मयि निबद्धेयमिति** । इदमेव ज्ञानं तदाऽप्यनुवर्तिष्यते । नाशशङ्का नास्त्येव । मयि नितरां सम्बद्धत्वात् । यथा मत्सायुज्ये जीवानामविद्यया न तिरोभावस्तथा ज्ञानादीनामपि । मज्ज्ञानमिव तदपि भविष्यतीत्यनुग्रहः । तदाह—**कर्हिचिदिति** । बाधककाले । द्वयमनूद्य निषेधति—**प्रजासर्गनिरोधेऽपीति** । अपरं च वरमाह—**स्मृतिश्चेति** । सर्वपदार्थानां पूर्वानुभूतानां स्मरणं च न विपद्येतेत्यर्थः । अनेन सर्वदा सावधानो भवेत्येतावदत्र सिद्धम् । कषायपाकः कर्तव्यः । अन्तरायैरनुपहतश्च भवेत् । अन्यत्तु मयैव कृतम् । मयि कामो विषयेष्वकामः । एतद्देहावसान एव मत्पार्षदशरीरप्राप्तिः ज्ञानानाशः सर्वपदार्थस्मरणं च । तत्र निर्विघ्नेन कषायपाकोपायस्त्वया शीघ्रमेव कर्तव्य इति सिद्धम् ।।२४।।

**व्याख्यार्थ**—इस देह का ज्ञान आगे के देह में भी बना रहेगा । इसके नष्ट होने की कोई शङ्का ही नहीं है । क्योंकि तुम्हारी बुद्धि का सम्बन्ध मेरे में दृढ़ हो गया है । जैसे मेरा सायुज्य प्राप्त होने पर जीवों का अविद्या से तिरोभाव नहीं होता उसी तरह ज्ञान आदि का तिरोभाव भी नहीं हो सकता । उनका ज्ञान भी मेरे अनुग्रह से मेरे ज्ञान की तरह हो जायगा । इसको 'कर्हिचित्' पद से बताया है । कभी भी बाधक काल के होने पर भी दोनों हो का अनुवाद करके निषेध करते हैं । अर्थात् प्रजा की सृष्टि के समय और प्रलय के समय भी उनका ज्ञान वैसा हो रहता है जिन पदार्थों का उन्होंने अनुभव किया है उनकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती इस कथन का तात्पर्य यह है कि तुम सदा सावधान रहो । कषायों का परिपाक करते रहो । अन्तराय (विघ्न) से अनुपहत रहो और सब तो मैंने ही तुम्हारे लिये कर दिया है । मेरे में उत्कट इच्छा होने से विषयों से अपने आप वैराग्य हो जाता है । इस देह के अवसान के अनन्तर ही मेरे पार्षद का देह तुम्हें मिलेगा और साथ-साथ ज्ञान भी बना रहेगा और सब पदार्थों की स्मृति भी तुम्हें रहेगी । वहां बिना किसी विघ्न के कषायों के परिपाक का उपाय तुम्हें करना होगा यह इससे सिद्ध होता है ।।२४।।

श्लोक—**एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।**
**अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णाऽवनामं विदधेऽनुकम्पितः ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**—जिसके निश्वास से वेद हुए ऐसा वह महान् है और जो आकाश की तरह अदृश्य, प्रमाणादि से अगम्य कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तुं समर्थ है वह भगवान् ऐसा कहकर चुप हो गये। मैंने महान् से भी महान् उस परिचित को साष्टाङ्ग प्रणाम किया क्योंकि मैंने उनकी अनुकम्पा प्राप्त की थी ।।२५।।

**सुबोधिनी**—**एतावत्** अग्रे उपायमनुक्त्वैव अनुकम्पयैव स्वतः स्फुरिष्यतीति पूर्वोक्तमात्रमुक्त्वा विरराम। प्रामाण्यार्थं वक्तारं विशिनष्टि। विशेषतोऽज्ञानान्नपुंसकपदप्रयोगः। तदित्यनुवादः। **महद्भूतमिति "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमि"**ति वेदोद्गममूलभूतं प्रामाण्यार्थमेव महज्जातमिति। आकाशपुरुषं व्यावर्तयति—**नभोलिङ्गमिति**। आकाशं तु भगवतोऽनुमापकम्। प्रथमकार्यत्वात्। तथा कथने वा हेतुः। यतस्तत्कार्यमपि तथा कथयतीति। **अलिङ्गम्**। न हि भगवाननुमानगम्यः। आत्मत्वेन प्रत्यक्षत्वात्। अतिरिक्तरूपेऽपि न व्याप्त्यादीनां भगवन्नियामकत्वम्। तदाह—**ईश्वरमिति**। अन्यथाकरणसामर्थ्यान्न हेतुना वह्न्यादिरिव भगवान् सिद्ध्यतीत्यर्थः। एवं सर्वप्रमाणातीतः सर्वत्र प्रमाणमित्युक्तम्। मयाऽपि तदुक्तं कृतमित्याह—**अहं चेति**। तत्र निर्विघ्नार्थं तमेव भगवन्तं नमस्करोति। **तस्मै**। पूर्वपरिचयात्। ईश्वरफलदानपक्षेऽपि यथा फलं प्रयच्छेत्तदर्थमुक्तम्। ननु नमस्कारमात्रेण तत्कथं कुर्यात्तत्राऽऽह—**महतां महीयस इति**। अतिमहति तावदेव कर्तव्यमिति। बहिःशब्दश्रवणाद्बहिःस्थितो भगवानिति बहिः शीर्ष्णाऽवनामं साष्टाङ्गनमस्कारं कृतवान्। युक्तं चैतत्। यतो भगवान्महतीं कृपां कृतवान्। तदाह—**अनुकम्पित इति** ।।२५।।

**व्याख्यार्थ**—उपाय को बताये बिना ही वह उपाय तो स्वतः आगे समझ में आ जायगा। अतः पूर्वोक्त मात्र कहकर चुप हो गये। वह बात प्रामाणिक थी इसके लिए वक्ता की विशेषता बताते हैं। विशेष रूप से वक्ता का ज्ञान न हो सका इसलिए वक्ता का निर्देश 'नपुंसक' पद से किया है। तत् शब्द से उसका अनुवाद किया है। जो वेदों के उद्गम का मूलभूत है इसलिए उसे 'महद्भूत' पद से कहा 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितं वेदाः' वह कहने वाला आकाश पुरुष नहीं था। 'नभोलिङ्गम्' आकाश तो भगवान् का अनुमापक है। भगवान् का प्रथम कार्य आकाश था इसलिए भी नभोलिङ्ग ऐसा कहा। अथवा वैसा कहने में वह कारण था। क्योंकि उसका कार्य (शब्द) भी वैसा कह सकता है। आलिङ्ग का अभिप्राय यह है कि भगवान् अनुमानगम्य नहीं है। जो अप्रत्यक्ष होता है वह अनुमानगम्य होता है भगवान् तो प्रत्यक्ष हैं। भगवान् के अतिरिक्त रूप में भी व्याप्ति आदि नियामक नहीं है। यह 'ईश्वर' पद से बताया है। भगवान् में अन्यथा करण का सामर्थ्य होने से धूमवत्वात् इस हेतु से अग्नि की सिद्धि की तरह भगवान् की सिद्धि किसी हेतु से नहीं हो सकती। इससे भगवान् सब प्रमाणों से पर और सर्वत्र प्रमाण है। मैंने भी उन्हीं भगवान का कहा हुआ किया। उस कार्य के करने में किसी प्रकार का विघ्न न हो इसलिए उसी भगवान् को नारदजी ने नमस्कार किया। उन भगवान् से पूर्व में परिचय होने के कारण ही 'तस्मै' उनके लिए ऐसा कहा। वह ईश्वर फल का दान करे इसके लिए भी नमन है। वह केवल नमस्कार मात्र से ही कैसे कार्य करेगा। इस पर 'महतां महीयसे' जो अतिमहान् है उनके लिए केवल नमस्कार ही किया जा सकता है। बाहर ही शब्द सुना था इसलिए भगवान् बाहर ही खड़े थे अतः उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। ऐसा करना उचित भी है क्योंकि भगवान् ने बड़ी भारी कृपा की थी ।।२५।।

**आभास**—कषायपाकसाधनं करोमीत्याह—

**आभासार्थ**—नारदजी ने निश्चय किया कि अब मैं कषायों के परिपाक के लिए साधन करता हूं—

श्लोक—**नामान्यनन्तस्य हृतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।**
**गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन्विमदो विमत्सरः ।।२६।।**

**श्लोकार्थ**—लज्जा का परित्याग करके अनन्त रूपों वाले भगवान् के नामों का उच्च स्वर से निरन्तर उच्चारण करता हुआ और भगवान् की गोप्य एवं मनोहर लीलायें हैं उनका स्मरण करता हुआ सन्तुष्ट मन से मैं इच्छाविहीन गर्व एवं मात्सर्य रहित होकर काल की प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वी पर्यटन करता रहा ।।२६।।

**सुबोधिनी नामानीति** । कषायास्त्रिविधाः । साक्षाद्रागादयस्तामसाः । तेषामपि वासनारूपा राजसाः । तेषामपि मूलभूता अविद्यारूपाः । ते च क्रमात्कर्मणा भक्त्या ज्ञानेन च नाश्यन्ते । तत्र चाऽधिकाराः पृथक् पृथक् । अतो नैकेन नैकदा कर्तुं शक्याः । तस्मादेतेषां त्रयाणामेकोऽनुकल्पः कर्त्तव्यः । तद्भगवत्कृपयाऽस्य यत्स्फुरितं तत्कृतवान् । **"चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेदि"**ति वाक्यान्नामसु न देशकालयोरपेक्षा । एकं च नाम नाऽऽवर्त्तनीयम् । ब्रह्मविदः सर्वैरेव रूपैर्भगवत्सेवनस्य श्रुतिसिद्धत्वात् । एकनाम्न आवृत्तौ रूपविशेषस्येति न सर्वैः सर्वत्र रक्षा स्यात् । श्रोतुर्वक्तुश्च परिच्छेदबुद्धिः पाषण्डताशङ्काऽपि स्यात् । तत्र हेतुमाह—**अनन्तस्येति** । अनन्तरूपस्य । तथा सत्यनन्ता एव भगवद्धर्मा नामसु स्मृता भवन्ति । अलौकिकं हि लोकमध्ये कुर्वन् गुप्तं करोति । लोकोपहासभिया देहकुलान्तःकरणधर्मैश्च लज्जा भवति । विहितत्वेऽपि लोकोपहासात् । तथा सति लोकरक्षाबुद्ध्या न भगवति शुद्धो भावो भवेत् । अतस्तांस्त्याजयति—**हृतत्रप इति** । हृतत्वान्न पुनर्जीवनम् । क्रियाकममध्ये अधिकारिपदान्नामोच्चारण एव हृतत्रपत्वम् । स्वाधीतानामर्थानुसन्धानपूर्वकमुच्चैरुच्चारणं पठनम् । शतृप्रत्ययेन निरन्तरता चोक्ता । चित्तस्य चञ्चलत्वात्तस्य भिन्नमवलम्बनमाह—**गुह्यानीति** । यानि चरित्राणि गुह्यानि लोके स्पष्टतया वक्तुमयुक्तानि पुष्ट्या कृपया कृतानि द्रौपद्यर्जुनादिशयनस्थानादिषु शयनस्थानादीनि । भद्राणि मनोहरादीनि (?) स्वस्याऽबाधकानि । **कृतानि चेति** । स्पष्टतया कृतानि । अथवा कृतानि करिष्यमाणानि च । भगवत्कृपया तत्स्फुरणम् । शरीरकृत्यमाह—**गां पर्यटन्निति** । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । गोशब्दाद्गोसेवावद्धर्मजनकत्वम् । परितः अटनम् । अनेन ऋजुतया एकमार्गेण देशातिक्रमो निवारितः । एकमङ्गं साधनसाधनत्वेनोक्त्वा पञ्चाऽङ्गानि फलसाधनत्वेनाऽऽह—**तुष्टमना इत्यादि** । भूमिपर्यटनं यद्यन्यार्थं स्यात्तदा मनसो न तावन्मात्रेण परितोषः स्यात् । अतस्तुष्टमना भवेत् पर्यटनमेव फलत्वेन जानीयात् यद्यपि तथा पर्यटनेन लौकिकालौकिकानि फलानि भवन्ति तथापि तेषु स्पृहा न कर्तव्या । तदाह—**गतस्पृह इति** । नन्वपरिच्छिन्नानि कर्माणि कर्त्तुमशक्यानि । अत एव द्वितीयाध्याये कर्मभेदो निरूपितः । तत्र परिच्छेदको देशः कालो वा भवति । ततश्च परिच्छेदकदेशकालसम्बन्धे किं कुर्यादित्यत आह—**कालं प्रतीक्षन्निति** । शतृप्रत्ययेन आदित आरभ्य कालप्रतीक्षा कर्तव्या । ततः शरीररक्षा-

दिसाधनाभावे बाधके वा नाऽन्तःकरणे क्लेशो भवति । दैवगत्या सम्मानने प्राप्तेऽपि गर्वो न कर्त्तव्यः। न हि पूजनेन तस्य महत्त्वं प्रत्युत तद्बाधकम् । "जनेनाऽभिमतो योगी योगसिद्धिं न विन्दती"ति वाक्यात् । विषयप्राप्तौ न वा मत्सरः कर्त्तव्यः । प्रत्युत कालसाधकत्वेन तेषामुपकारो मन्तव्यः । न वा विपरीतो मत्सरः कर्त्तव्यः । अबाधकविषयप्रापकेषु भगवदाज्ञानिर्वाहकत्वात् । निषिद्धप्रापकेषु तु बाधकवत्सहनम् ।।२६।।

**व्याख्यार्थ**—कषाय तीन प्रकार के हैं । साक्षात् रागादि तामस हैं । उनमें भी वासना रूप रागादि राजस हैं और उनके भी मूलभूत रागादि अविद्या रूप हैं । वे क्रमशः तामस रागादि कर्म के द्वारा, राजस रागादि भक्ति के द्वारा और अविद्या रूप रागादि ज्ञान के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं । उनके अधिकार अलग-अलग हैं इसलिए किसी एक के द्वारा एक ही समय में इसका नाश नहीं किया जा सकता । इसलिए इन तीनों का एक अनुकल्प करना चाहिये । भगवान् की कृपा से नारदजी को जो हृदय में प्रेरणा हुई वो उन्होंने किया । भगवान् के नामों का सदा और सब जगह कीर्तन करे 'चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्' इस वाक्य के अनुसार भगवान् के नामों के उच्चारण में अमुक देश ही हो या अमुक काल ही हो ऐसा कोई आवश्यक नहीं है । केवल एक ही नाम की आवृत्ति न करे । ब्रह्मवेत्ता के लिए सभी रूपों से भगवत्सेवा करनी चाहिये ऐसा श्रुति से सिद्ध है । केवल एक नाम की आवृत्ति में अथवा एक रूप विशेष की सेवा से सब नामों से या सब रूपों से सर्वत्र रक्षा नहीं हो सकती । श्रोता और वक्ता में संकीर्ण बुद्धि तथा पाषण्डता भी होगी । उसमें हेतु बताते हैं कि भगवान् के रूप अनन्त हैं ऐसा होने से अनन्त भगवद्धर्मों का उन नामों में स्मरण हो जाता है । जो अलौकिक कार्य होता है उसको लोक में छिपाकर करते हैं । क्योंकि लोगों के उपहास का भय रहता है तथा देह, कुल और अन्तःकरण के धर्मों से लज्जा भी होती है । विहित होने पर भी लोकोपहास होता है । लोग हमारा उपहास न करे ऐसी यदि बुद्धि होगी तो भगवान् में शुद्ध भाव नहीं होगा । इसलिए लोक लज्जा एवं लोक भय को छोड़ते हैं । हतत्रपः लज्जा को मारकर जो मर जाता है वह फिर जी नहीं सकता । क्रिया और कर्म के मध्य में अधिकारी पद का प्रयोग होने से नामोच्चारण में ही लज्जा का हनन करना चाहिये । अपने अधीत नामों का अनुसन्धानपूर्वक जोर-जोर से उच्चारण करना पठन कहा जाता है । शतृ प्रत्यय वर्तमान काल में होता है । अतः नामों का उच्चारण निरन्तर करते रहना चाहिये । चित्त चञ्चल है इस लिए उसके अवलम्बन के लिए जो भगवान् के गुप्त चरित्र हैं जिन्हें लोक में स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते ऐसे जो चरित्र हैं जिन्हें भगवान् ने केवल कृपा से ही किये हैं जैसे अर्जुन द्रौपदी आदि के शयन स्थानादि में शयन स्थान आदि । भद्र पद से जो अच्छे लगे वैसे नाम और रूपों का जो अपने लिए बाधक न हों । जिनको स्पष्ट रूप से कह सकते हैं उन्हें कृतानि पद से बताया है । अथवा कृतानि से जो आगे किये जायेंगे उनका ग्रहण करना । भगवान् की कृपा होने से भगवान् के द्वारा आगे किये जाने वाले कर्म भी समझ में आ जाते हैं । गां पर्यटन् का अर्थ है पृथ्वी पर निरन्तर भ्रमण करते हुए । घूमना शारीरिक कर्म है । गां में द्वितीया 'कालध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से हुई है । यहां पृथ्वी के लिए गो शब्द का प्रयोग किया है उसका आशय यह है कि जैसे गाय की सेवा करना धर्म है उसी तरह पृथ्वी का पर्यटन भी धर्म है । पर्यटन् कहते हैं सब ओर घूमना । अतः नारदजी ने केवल सीधे मार्ग से ही देशों का अतिक्रमण नहीं किया । यहां केवल एक हतत्रप अङ्ग को ही साधन का साधन बताया । अब पांच अङ्गों को फल का साधन बताते हैं । तुष्टमनाः यदि पृथ्वी

पर्यटन अन्य कार्य के लिए हो तो केवल उतने मात्र से मन को परितोष नहीं होता । इसलिए प्रसन्न चित्त होना चाहिये । अर्थात् केवल पर्यटन का ही फल समझना चाहिये । पर्यटन का अन्य कोई फल नहीं होना चाहिये । यद्यपि वैसे घूमने में लौकिक अथवा अलौकिक फल होते हैं परन्तु उन फलों की इच्छा न करे इसके लिए 'गतस्पृहः' ऐसा कहा । शङ्का कर सकते हैं कि अपरिच्छिन्न (अपरिमित) कर्म तो किये नहीं जा सकते इसलिए द्वितीय अध्याय में कर्मों का निरूपण किया गया है । उनमें कर्मों का परिच्छेदक (माप करने वाला) या तो देश होगा या काल होगा । कर्मों के परिच्छेदक देश और काल के सम्बन्ध होने पर क्या करना चाहिये इस पर कहते हैं कालं प्रतीक्षन् प्रतीक्षन् में शतृप्रत्य हुआ है इसलिए प्रारम्भ से ही काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये । इससे शरीर रक्षा आदि के साधनों के अभाव में अथवा शरीर रक्षा में बाधक होने पर भी अन्तःकरण में क्लेश नहीं होगा । दैवगति से सम्मान प्राप्त हो तो भी अभिमान नहीं करना चाहिये । सम्मान (पूजा) से उसका कोई महत्व नहीं होता प्रत्युत सम्मान तो बाधक होता है । कहा भी है 'जनेनाभिमतो योगी योगसिद्धि न विन्दति' मनुष्यों से सम्मान-प्राप्त योगी योगसिद्धि की प्राप्त नहीं होता । विषयों की प्राप्ति न हो तो मात्सर्य भी नहीं करना चाहिये । काल के साधक होने से उनको तो और भी उपकार मानना चाहिये । उसके विपरीत मात्सर्य नहीं करना चाहिये । अबाधक विषयों के प्राप्त कराने वालों में भगवान् की आज्ञा का पालन नहीं हो सकता है । निषिद्ध विषयों के प्राप्त कराने वालों को तो बाधकों की तरह सहन करना चाहिये ।।२६।।

**आभास**—एवं षडङ्गसहितं नामोच्चारणपूर्वकं भूपर्यटनं कषायपाके हेतुः । तस्य किं दृष्टद्वारा अदृष्टद्वारा वा कषायपाकहेतुत्वमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—इस तरह १. हतत्रप २. प्रसन्नमन ३. गतस्पृह ४. और काल की प्रतीक्षा करते रहना ५. मद न करना ६. मात्सर्य न करना इन छह अङ्गों के सहित नामोच्चारणपूर्वक भूपर्यटन कषायों के परिपाक का कारण हैं । इस तरह कषायों के परिपाक का कारण दृष्ट के द्वारा या अदृष्ट के द्वारा होता है इस आशङ्का पर कहते हैं—

श्लोक—**एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्याऽमलात्मनः ।**
**कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ।।२७।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्रह्मरूप व्यासजी ! इस प्रकार कृष्ण में बुद्धि रखने वाले विषयों में अनासक्त शुद्धान्तःकरण वाले मेरी वर्षाकाल में सुदाम पर्वत से होने वाली बिजली की तरह समय आने पर मृत्यु स्पष्ट दिखाई दी ।।२७।।

**सुबोधिनी—एवं कृष्णमतेरिति** । एवं पर्यटने कृष्णे मतिर्भवति । तदैव विषयेष्वसङ्गः । यदा कृष्णो रोचते तदैव विषया न रोचन्ते **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनमपि संवादाय । कृष्णमत्या विषयासंगे जाते तदैवान्तःकरणं शुद्धं जातम् । तदैव कषायाः पक्वा इत्यर्थः । पाकार्थमेव शरीरस्य रक्षितत्वात् पक्वे च कषाये शरीरस्य प्रयोजनान्तराभावात्तद्ग्रहणाय कालः प्रादुरभूत् । काले शरीरप्रारम्भकादृष्टसमाप्तौ शापसमाप्तौ वा । उत्तरत्र वा सम्बन्धः । काले वर्षाकाले । **तडिदिति** । शीघ्र-

मिति केचित्। सौदामनी वा सुदामपर्वताज्जाता। तडित्सौदामनीत्येकं वा पदम्। तडिदिव पीत इत्यादावेकदेशप्रयोगः। यथा प्रथमत एव स्तनयित्नुवृष्टेर्विद्युत्तथा शरीरनाशकरोगाद्यपेक्षया कालो जीवप्रणेता प्रथमत एव प्रादुर्भूत इत्यर्थः ॥२७॥

**व्याख्यार्थ**—इस तरह घूमने पर ही कृष्ण में मति होती है और तब ही विषयों में अनासक्ति होती है। जब कृष्ण अच्छे लगने लगते हैं तब संसार के विषय अच्छे नहीं लगते। 'ब्रह्मन्' ऐसा व्यासजी के लिए दिया गया सम्बोधन व्यासजी की सम्मति का परिचायक है। कृष्ण में रुचि हो जाने से और विषयों में आसक्ति न होने पर ही जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया तब ही कषायों का परिपाक हो गया। कषायों के परिपाक के लिए ही तो शरीर की रक्षा की थी। जब कषाय पक गये तब शरीर का और कोई प्रयोजन रहा नहीं तब उस शरीर को ग्रहण करने के लिए काल प्रकट हो गया। जब शरीर के प्रारम्भक अदृष्ट की समाप्ति हो गई अथवा शाप की समाप्ति हो गई उस समय। अथवा काले का सम्बन्ध आगे समझना। अर्थात् वर्षाकाल आने पर। कोई टीकाकार तडित् का अर्थ शीघ्र ऐसा करते हैं अथवा तडित् का अर्थ बिजली यह बिजली सुदाम पर्वत से उत्पन्न हुई है इसलिए इसे तडित् सौदामनी ऐसा कहते हैं अथवा तडित् सौदामनी यह एक ही पद है। 'तडिदिव पीतः' इस वाक्य में तडित् इस एकदेश का प्रयोग भी देखा गया है। जैसे मेघ से होने वाली वृष्टि के पहले ही बिजली चमकती है उसी तरह शरीर को नष्ट करने वाले रोग आदि की अपेक्षा जीव को ले जाने वाला काल पहले ही प्रकट हो गया ॥२७॥

**आभास**—ततः किं वृत्तन्तदाह—

**आभासार्थ**—इसके बाद क्या हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।**
**आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत्पाञ्चभौतिकः ॥२८॥**

**श्लोकार्थ**—मुझे शुद्ध भगवद्भक्त पार्षद देह के प्राप्त कराये जाने पर जिसके आरम्भक कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसा पञ्चभूतों से बना हुआ पहला देह गिर गया।२८।

**सुबोधिनी**—**प्रयुज्यमान इति**। देहवियोगक्लेशो न ज्ञात एव। प्रथमत एव भगवत्सम्बन्धी शुद्धसत्त्वपरिणामरूपो देह उपस्थितः। कालेन चाऽहं तत्र शीघ्रमेव नीतः। तस्मिन्मयि नीयमाने कियद्दूर शरीरमभ्युद्गत विमानसमुखतया, परं भौतिकत्वाद्गुरुत्वेन पञ्चभूतानि (?) क्रमेण वैकुण्ठगमनाद्वा न्यपतत्। ननु योगे ब्रह्मसम्पत्तावपि शरीरं तिष्ठति। कथमिदं पतितम्? तत्राऽऽह—**आरब्धकर्मनिर्वाण इति**। येन कर्मणा इदं शरीरमारब्धं तस्य निर्वाणः समाप्तिर्यस्य (?) निर्वाण-शब्देन कर्मापि मुक्तम्। परम्पराजनकत्वाभावात्। वरादिकं त्वारम्भककर्मरूपं भवति। तस्य च समाप्तिर्देहग्रहणमात्रेणैव। देहस्तु ब्रह्माण्डपर्यवसायी। तद्व्यावृत्त्यर्थम्—**भौतिक इति** ॥२८॥

**व्याख्यार्थ**—पहले से ही भगवत्सम्बन्धी शुद्ध सत्त्व का परिणाम रूप देह उपस्थित था इसलिए मुझे देह के वियोग का क्लेश ज्ञात न हो सका। समय प्राप्त होते ही मुझे शीघ्र ही उस देह

में ले जाया गया । वहां ले जाते समय कुछ दूर तक विमान के सम्मुख शरीर भी गया था परन्तु पाञ्चभौतिक शरीर के भारी होने से क्रमशः सब गिरते गये अथवा वैकुण्ठ तक पहुँचने पर यह शरीर गिर गया । योग में तो ब्रह्मता प्राप्त होने पर भी शरीर रहता है । तो फिर वह शरीर कैसे गिर गया ? उसका उत्तर देते हैं । जिस कर्म से इस शरीर का आरम्भ हुआ था वह कर्म समाप्त हो गया अतः यह शरीर गिर गया । निर्वाण शब्द से यह जाना जाता है कि केवल देह ही नहीं छूटा । किन्तु कर्म भी समाप्त हो गये । जब कर्म समाप्त हो गये तो अब उनकी परम्परा ही समाप्त हो गई । वर आदि तो आरम्भक कर्मरूप होता है । उसकी समाप्ति तो देह ग्रहण मात्र से ही हो गई । यद्यपि देह ब्रह्माण्ड तक जाता है परन्तु वह तो भौतिक देह था इसलिए यहीं गिर गया ।।२८।।

**आभास**—तर्हि ब्रह्मणः सकाशात्कथमुत्पत्तिः? तदाह—**कल्पान्त** इति द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—तो फिर ब्रह्माजी से कैसे उत्पत्ति हुई इसे दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः ।**
**शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ।।२९।।**
**सहस्रयुगपर्यन्तमुत्थायेदं सिसृक्षतः ।**
**मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ।।३०।।**

**श्लोकार्थ**—जब कल्प के अन्त में सबको उदर में लेकर भगवान् समुद्र के जल में सोते हैं तब सोने की इच्छा रखने वाले ब्रह्माजी के नासापुट के श्वास के साथ में भीतर प्रविष्ट हो गया । एक सहस्रचतुर्युगी बीत जाने पर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की तब उनके अवयवों तथा इन्द्रियों से मरीचि आदि ऋषियों के साथ मैं भी उत्पन्न हो गया ।।२९।।३०।।

**सुबोधिनी**—यदा कल्पान्तो भवति तदा सर्वं स्वकृतमुदरीकृत्य नारायणः शेते । ब्रह्माऽपि नाभिद्वारा उदरं प्रविशति । ततो नारायणेन सहैक्यं प्राप्य शेते सहस्रयुगपर्यन्तम् । तदा नित्यत्वादस्मच्छरीरस्य शयनार्थमहमपि ब्रह्मणो नासापुटवायुना सह अन्तः प्रविष्टः । वायोरेव गमनाऽऽगमने अहं तु तत्रैव स्थितः । प्रविष्टधारणसामर्थ्यमाह—**विभोरिति** । अन्तः स्थितस्य कालः सहस्रयुगपर्यन्तम् । तदा राजसकल्पे भगवांस्तिरोहितः । ब्रह्मा तु निर्गतः । निर्गत्य शयनादुत्थायेदं जगत्पूर्ववत्स्रष्टुमियेष । तदा सिसृक्षतस्तस्य अवयवेभ्यो मरीचिमुख्या ऋषयः अहं च जज्ञिरे । तत्र "**उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे**" इति वचनाद्भगवतो भक्तत्वादयमुत्सङ्गे स्थापितः । ततः प्रजापतावन्तःप्रविष्टत्वाद्ब्रह्मणः प्राणरूपेभ्यो भगवदंशेभ्यस्तत्तत्स्थाने स्थितेभ्यो जाता इत्यर्थः । २९।।३०।।

**व्याख्यार्थ**—जब कल्प की समाप्ति होती है तब भगवान् नारायण अपनी बनाई हुई इस सारी सृष्टि का अपने पेट स्थापित करके सोते हैं । ब्रह्माजी नाभि के द्वारा उदर में प्रवेश करता है । तब नारायण के साथ एकता को प्राप्त करके ब्रह्मा भी हजार युग पर्यन्त सोते हैं । तब हमारे शरीर के नित्य होने से शयन के लिए मैं भी ब्रह्म के नासापुट की वायु से अन्दर प्रविष्ट हो गया । उस

समय केवल वायु का ही आना जाना रहता है। मैं तो वहीं (ब्रह्मा के पेट में) रहा उन भगवान् में प्रविष्ट होने वाले को धारण करने की शक्ति है यह विभु पद से बताया है। अन्दर रहने का समय एक हजार युग पर्यन्त का था। तब राजस कल्प में भगवान् तिरोहित हो गये। ब्रह्मा तो निकल गये। निकलकर और शयन से उठकर पूर्ववत् जगत् की सृष्टि करने लगे। तब सृष्टि करते हुए ब्रह्मा के शरीर के अवयवों से मरीचि हैं मुख्य जिनमें वे ऋषि और मैं उत्पन्न हो गये। उनमें मेरी उत्पत्ति ब्रह्मा की गोद से हुई 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे' इस वचन से मैं भगवान् का भक्त था इसलिए भगवान् ने मुझे अपनी गोद में रखा था। तदनन्तर प्रजापति के अन्दर ही प्रविष्ट हुए ब्रह्म से प्राण रूप भगवान् के अंशों से जो उन-उन स्थानों में स्थित थे वे उत्पन्न हुए ॥२९॥३०॥

**आभास**—सा कृपा जातेऽपि तथैवाऽनुवर्त्तत इत्याह—

**आभासार्थ**-मेरे उत्पन्न होने पर भी भगवान् की वह कृपा मेरे पर बनी रही—

श्लोक—**अन्तर्बहिश्च लोकांस्त्रीन्पर्यम्यस्कन्दितव्रतः ।**
**अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३१॥**

**श्लोकार्थ**—जो कर्म करने वाले हैं वे तीन लोक के अथवा ब्रह्माण्ड के बाहर नहीं जाते। जिनने तप आदि से ब्रह्मलोक को प्राप्त किया वे तीन लोक के अथवा ब्रह्माण्ड के भीतर नहीं जाते। मैं तो सबसे अपरिच्छिन्न भगवान् के अनुग्रह से सर्वत्र भगवान् को देखने के नियम का पालन करता हुआ बाहर-भीतर फिरता हूं। मेरी गति कहीं भी नहीं रुकती ॥३१॥

**सुबोधिनी**—**अन्तर्बहिरिति**। यथा बालकः पुत्रो गृहमध्ये बहिरपि परिभ्रमति, तथा ब्रह्माण्डान्तर्बहिश्च। त्रिलोक्यां वाऽन्तर्बहिश्च। साधारणन्यायेन बहिः परिभ्रमणे वा सम्भवत्यन्तरित्युक्तम्। द्वितीया त्वत्यन्तसंयोगे। ननु किमेतावता। अचेतनानां वाय्वादीनामपि तथात्वात्। तत्राऽऽह—**अस्कन्दितव्रत इति**। न स्कन्दितं भगवद्दर्शनलक्षणं व्रतं यस्येति। भगवतः सर्वत्र विद्यमानत्वाद्देशविशेषाविवक्षायां भवतैः सर्वत्र दर्शनं कर्तव्यम्। ततश्च यत्रैव भगवन्तं न पश्येत्तत एव व्रतहानिर्भवेत्। अतो मम सर्वत्र परिभ्रमणेन भगवद्दर्शनान्न व्रतहानिरित्यर्थः। ननु मशकादिहृदयेऽपि भगवतो विद्यमानत्वात्कथं तादृशेषु तव गतिरिति तत्राऽऽह—**अनुग्रहान्महाविष्णोरिति**। व्यापकस्तु देशकालापरिच्छिन्नः। महाविष्णुस्तु वस्त्वपरिच्छिन्नोऽपि। तस्याऽनुग्रहोऽपि तादृश एव। अतो न विद्यते विघातो यस्यास्तादृशी। गतिर्यस्येति। क्वचिदपीत्यर्थे—**क्वचित्** ॥३१॥

**व्याख्यार्थ**—जैसे छोटा बच्चा घर के अन्दर तथा बाहर भी घूमता है उसी तरह मैं भी ब्रह्माण्ड के बाहर और भीतर घूमता हूं। अथवा तीनों लोकों के बाहर और भीतर घूमता हूं। साधारण न्याय से बाहर घूमने के कहने से अन्दर घूमना भी समझ लिया जाता है। लोकान् में द्वितीया 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से हुई है। अर्थात् निरन्तर लोकों में घूमता रहा। इस तरह निरन्तर घूमने से लाभ क्या हुआ? अचेतन जो वायु आदि हैं उनकी भी निरन्तर गति होती है।

उस पर कहते हैं कि मेरा घूमना निरर्थक नहीं था मैंने जो यह व्रत ले रखा था कि भगवान् के दर्शन से कदापि वंचित न रहूं। जब भगवान् सर्वत्र हैं तो भक्त को अमुक जगह ही दर्शन करना चाहिये यह नियम नहीं रहता अत: भक्तों को तो सब जगह भगवान् के दर्शन करने चाहिये। इसलिए जिस जगह भगवान् को नहीं देखेगा वहीं भक्त के व्रत की हानि हो जायगी। इसलिए मेरे सर्वत्र घूमने में सर्वत्र भगवान् के दर्शन होने से व्रत हानि नहीं हुई। यदि कोई शङ्का करे कि भगवान् तो मच्छर के हृदय में भी रहते हैं तो उस जगह तुम्हारी गति कैसे होगी इसका उत्तर देते हैं कि 'अनुग्रहान्महाविष्णोः' वहां भी महाविष्णु की कृपा से गति होती है। यद्यपि व्यापक ब्रह्म देश काल से अपरिच्छिन्न होता है। महाविष्णु तो वस्तु से अपरिच्छिन्न होते हैं तो भी उन महाविष्णु की कृपा से मेरी गति कहीं नहीं रुकती। अविघात गति का अर्थ है जो गति (जिसका जाना) कहीं रुके नहीं इसी तरह क्वचित् का अर्थ है किसी काल में भी ॥३१॥

**आभास**—एवं सत्संगेन श्रवणमारभ्य सर्वत्र भगवद्दर्शनपर्यन्तमेका श्रवणभक्तिरुक्ता। द्वितीया तु भगवत्कृपया समारब्धेत्याह—

**आभासार्थ**—इस तरह सत्सङ्ग से श्रवण से प्रारम्भ करके सर्वत्र भगवद्दर्शन पर्यन्त एक श्रवण भक्ति कही गई। अब दूसरी कीर्तन-भक्ति तो भगवान् की कृपा से ही आरम्भ हुई—

श्लोक—**देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम्।**
**मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३२॥**

**श्लोकार्थ**—देवताओं से दी हुई जो षड्ज आदि ब्रह्मरूप स्वर से भूषित है उस वीणा से संगीत शास्त्र सिद्ध स्वरों का सम्बन्ध कर हरिकथा को गाता हुआ फिर रहा हूं ॥३२॥

**सुबोधिनी—देवदत्तामि**ति। भक्तिमार्गे देवकृतो विघ्नः कदाचित्सम्भाव्येतेति शङ्कानिवृत्त्यर्थं कीर्तनाङ्गभूतां वीणां दत्तवन्त इति देवदत्ता। श्रुतिपूरिका हि सा। तत्राऽङ्गुल्यादिचालनप्रयासोऽपि निवारितः- **स्वरब्रह्मे**ति। स्वराः षड्जादयः। नादब्रह्मात्मकत्वात्तदेव ब्रह्म। तेन विशेषेण भूषिता। **तादृशीम्। मूर्च्छयित्वा**। स्वराणां मूर्च्छना सङ्गीतशास्त्रसिद्धा तां प्रापयित्वा। तथा सति रसाऽऽविर्भावादश्रान्त सङ्कीर्तनं भवतीति तथा कृत्वा हरिकथां गायमानश्चरामि। परिभ्रमणं तु कीर्तनेऽप्यङ्गम् ॥३२॥

**व्याख्यार्थ**—भक्तिमार्ग में देवता कदाचित् विघ्न करेंगे यदि ऐसी सम्भावना हो तो उस शंका को दूर करने के लिए नारदजी ने कहा कि कीर्तन की अङ्गभूत यह वीणा ही स्वयं देवताओं ने दी है अत: वे मेरे कीर्तन में किसी प्रकार का विघ्न नहीं करते। वह वीणा श्रुतिपूरिका है। इस पर अंगुली के चलाने का भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। यह 'स्वरब्रह्मविभूषिताम्' से बताया है। स्वर तो षड्ज आदि हैं। यह वीणा नादब्रह्मरूप होने से ब्रह्मरूप है। उस नादब्रह्मात्मकता से विभूषित है ऐसी वीणा को। स्वरों की जो मूर्च्छना संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध है उससे योजित करके।

वैसा होने से रसाविर्भाव हो जाता है जिससे निरन्तर बिना थके इससे संकीर्तन होता है और हरि-कथा का गायन करता हुआ घूमता हूं। यह घूमना कीर्तन का भी अङ्ग है।।३२।।

**आभास—**ननु पूर्वस्मात्को विशेषो जातस्तत्राऽऽह—

**आभासार्थ—**शंका हो सकती है कि पूर्व से विशेषता क्या हुई—

श्लोक—**प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।**
**आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ।।३३।।**

**श्लोकार्थ—**जब मैं उनकी लीलाओं का गायन करने लगता हूं तब वे प्रभु जिनके चरण कमल में सन्त निवास करते हैं और जिनको कीर्त्ति प्यारी है वे भगवान् बुलाये हुए की भाँति तुरन्त मेरे हृदय में आकर दर्शन दे देते हैं ।।३३।।

**सुबोधिनी—प्रगायत इति।** पूर्वं यद्दर्शनार्थं भूयान् यत्नः कृतः स इदानीं स्वत एव भवति। तत्र हेतुः—**प्रगायत इति।** यस्तु स्ववीर्याणि प्रकर्षेण गायति तस्याऽग्रे वीर्यास्फुरणं मा भवत्विति स्वयमेव तत्स्फुरणार्थं विषयान्तरसञ्चाराभावाय शीघ्रं चित्ते समायाति। ननु श्रोतुरभावादनङ्गं कोर्त्तनं कथं फलायेति तत्राऽऽह—**तीर्थपाद इति।** तीर्थानि सन्तः पादे यस्य। सर्वे हि सन्तः सायुज्यं प्राप्ता भगवत्पादे वर्तन्ते। अन्येऽपि भक्तिवशात्। तादृशो हि भक्तिगुणः। पादं च हृदि स्थापयित्वा गायतीति सतां श्रोतॄणां विद्यमानत्वात्कीर्त्तनं नाऽङ्गविकलम्। ननु कथमेवं भगवान् सर्वां सामग्रीं सम्पादयतीति तत्राऽऽह—**प्रियश्रवा इति।** प्रियं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य। तत्सम्पादनार्थं सर्वं सम्पादयतीति भावः। अग्रे वीर्यास्फुरणे भगवतः स्मरणमाह्वानमिव सञ्जातम्। प्रियत्वादाह्वाने च समागमनम् ।।३३।।

**व्याख्यार्थ—**पहले तो भगवान् के दर्शन के लिए बहुत प्रयत्न किया था परन्तु अब तो भगवान् के दर्शन स्वतः ही हो जाते हैं। उसमें कारण यह है कि जो कोई भगवान् की लीला का गायन करता है उसके आगे भगवान् स्वयं आकर उपस्थित हो जाते हैं। भगवान् सोचते हैं कि इसके हृदय में मेरी लीला की स्फूर्ति रुक न जाय इसलिए लोला को स्फूर्ति के लिए और इसके चित्त में विषयान्तरों का सचार न हो इसलिए शीघ्र ही स्वयं अपने आप चित्त में आ जाते हैं। यह शङ्का हो सकती है जब कीर्तन का सुनने वाला कोई नहीं हो तो बिना श्रोता के कीर्तन का फल क्या होगा? उसका उत्तर देते हैं कि सभी सन्त भगवान् के चरण में सायुज्य को प्राप्त हुए हैं तथा और भी चरणों में सायुज्य प्राप्त हुए हैं ऐसा इस भक्ति का गुण है उसी चरण को मैं (नारद) अपने हृदय में स्थापित करके गायन करता हूँ अतः उस चरण में निवास करने वाले सन्त श्रोता विराजमान हैं वे इस कीर्तन को सुनते हैं अतः कीर्तन का अङ्ग श्रोता विद्यमान है इसलिए अङ्ग को विकलता भी नहीं है। यदि यह शंका हो कि भगवान् इस तरह सब सामग्री का सम्पादन क्यों करते हैं उसका उत्तर यह है कि भगवान् प्रियश्रवा है। भगवान् को अपनी कीर्ति अच्छी लगती है। अतः जो उनकी कीर्ति का गायन करता है उसके लिए अपेक्षित सभी सामग्री का सम्पादन भगवान्

करते हैं। यदि भगवान् की लीलाओं को आगे स्फूर्ति न हो तो भगवान् अपने स्मरण को अपने लिए भक्त का बुलावा समझते हैं और कीर्ति प्रिय होने से बुलाने पर अविलम्ब उपस्थित हो जाते हैं। ३३॥

**आभास**—एवं कीर्त्तनं सपरिकरं निरूप्य सर्वत्र लोके तत्सिद्ध्यर्थं तद्विषयवर्णनं त्वया कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेण कीर्त्तनमनुवादेन स्थिरीकरोति—

**आभासार्थ**— इस प्रकार कीर्तन भक्ति का परिकर सहित निरूपण करके सभी जगह लोक में कीर्तन भक्ति होवे इसके लिए उसका विषय जो भगवान् है उसका वर्णन तुम्हें करना चाहिये इस अभिप्राय से कीर्तन का अनुवाद करके स्थिर करते हैं—

श्लोक—**एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः ।**
**भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३४॥**

**श्लोकार्थ**—माया की रक्षा करने वाले जो विषय हैं उनके स्पर्श (भोग) की इच्छा से आतुर चित्त वाले मनुष्यों के लिए भगवल्लीला वर्णन ही संसार समुद्र को पार करने में नौका रूप है ॥३४॥

**सुबोधिनी - एतद्धीति** । मात्रास्पर्शेच्छया आतुरचित्तानां हरिचर्याऽनुवर्णनमेव भवसिन्धुप्लवो दृष्टः । **एतदिति** । स्वक्रियमाणसमानम् । हीति पूर्वोक्ता हेतव उक्ताः । मां मायां त्रायन्त इति मात्रा विषयाः । तेषामपि स्पर्शमात्रम् । शब्दव्यंगेन च महापातकत्वं सूचितम् । हरिचर्यानुवर्णने न तेषां श्रवणं भविष्यति । अन्यथा महारोगस्य सञ्जातत्वात्क्वापि परलोकसाधने न प्रवृत्तिः । प्रवृत्तावपि तस्य रोगजनकत्वम् । ज्वरमध्ये भक्षितपथ्यादेरिव । श्रवणस्य तु न मात्रासाधकत्वम् । प्राप्तेऽपि विषये इच्छाया निवृत्तित्वात्(?)मुहुरित्युक्तम् । अयं तु सुखेनैव संसारतारको मयैव दृष्टः । साधनतामनूद्य रूपमाह—**हरिचर्यानुवर्णनमिति** ॥३४॥

**व्याख्यार्थ**—विषयों के स्पर्श (भोग) की इच्छा से आतुर चित्त वाले मनुष्यों के लिए भगवान् की लीला का वर्णन ही संसार समुद्र के पार करने में नौका रूप देखा गया है। श्लोक में आये 'एतत्' का यह अभिप्राय है कि मेरे समान किये जाने वाला भगवल्लीला का वर्णन संसार समुद्र से पार करा सकता है। श्लोक में 'हि' शब्द निश्चयार्थक है जिसका तात्पर्य यह है कि पहले किये गये हेतुओं से भी यह निश्चय है। श्लोकस्थ 'मात्रा' का अर्थ माया की रक्षा करना है अर्थात् जो विषय माया की रक्षा करते हैं वे मात्रा शब्द से लिये गये हैं। उन विषयों के स्पर्श मात्र से ही जिनके चित्त आतुर है। यहां 'मात्राभोगेच्छया' न कहकर 'मात्रास्पर्शेच्छया' कहा है इसलिए इसमें शब्द व्यंग्य है अर्थात् जैसे महापातकी का स्पर्श करना भी ठीक नहीं है वैसे ही विषयों के स्पर्श करने की इच्छा भी ठीक नहीं है। भगवल्लीला के अनुवर्णन होने पर उसके सुनने में लगा रहेगा। अतः विश्व का श्रवण नहीं होगा। श्रवण न होने पर उन विषयों की ओर आकृष्ट भी नहीं होगा। यदि फिर भी विषयों की ओर आकृष्ट होगा तो मानना चाहिये कि यह महारोग ग्रस्त हो गया। वैसी स्थिति में

परलोक के साधन में भी उसकी प्रवृत्ति न होगी। कदाचित् प्रवृत्ति कर भी ली तो भी उससे रोग ही पैदा होगा। जैसे ज्वर में खाये हुए पथ्य आदि ज्वर को चढ़ाते ही हैं वैसे ही यहां समझना चाहिये। भगवल्लीला का श्रवण विषयों का साधक नहीं है क्योंकि उसे उन विषयों के सुनने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। विषय प्राप्त होने पर भी इच्छा की निवृत्ति होने से कभी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होगी। इस बात को 'मुहुः' शब्द कहता है। यह भगवल्लीलानुवर्णन संसार समुद्र से पार करा सकता है। यह मैंने देखा है। इस प्रकार साधन का निरूपण करके उस साधन का क्या रूप है उसको 'हरिचर्यानुवर्णनम्' से कहते हैं अर्थात् वह साधन हरि लीला का अनुवर्णन रूप है ।।३४।।

**आभास**—तस्य दृष्टोपायत्वं वदन् साधनान्तराणामतथात्वमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवल्लीला का अनुवर्णन रूप दृष्ट उपाय को बताते हुए दूसरे साधन ऐसे नहीं हैं इस बात का कहते हैं—

श्लोक—**यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।**
**मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति ।।३५।।**

**श्लोकार्थ**—काम और लोभ की चोट से बार-बार घायल अन्तःकरण श्रीकृष्ण सेवा से जैसी प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव करता है वैसी शान्ति यम नियम आदि योग-मार्गों से नहीं मिल सकती ।।३५।।

**सुबोधिनी यमादिभिरिति**। चित्तसाधनार्थमेव योगः प्रवृत्तः । **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध"** इति। तथापि स्वस्थे चित्ते तत्सम्भवः। प्राणिनां त्वन्तःकरणं मृतमस्ति । कामेन ज्वालितो लोभेन प्लावितः। तस्य हि मृतसञ्जीविकया विद्यया जीवनं भवति । यमादयश्च योगमार्गाः । तत्र यश्चलितुं शक्तस्तस्येष्टसिद्धिः । मुहुश्चाऽयं हत इति कामलोभपरवशत्वम् । उभयोर्बीजमन्तः क्रोधादेर्बहिरिति तयोर्ग्रहणम् । संसारमग्नानां मोक्षदातृत्वान्मृतसञ्जीवकत्वं मुकुन्दत्वम् । सेवा तु रोगनिवर्त्तिका। श्रवणेन चाऽन्तः प्रविशति भगवान्। तत्र चित्तं सेवां भावयति । अतः श्रवणप्रकरणेऽपि सेवोक्ता। यद्यपि भगवदाश्रितो योगोऽपि क्रमेण तथा करोति। सेवा त्वद्धा साक्षात् । योग-सेवापेक्षयाऽपि योगेशसेवाया उत्तमत्वात् । **आत्मेति** । सजातीयस्य शीघ्रशामकत्वमित्यन्तःकरण-स्याऽऽत्मपदप्रयोगः ।।३५।।

**व्याख्यार्थ**—चित्त को ठीक करने के लिए ही योग कहा गया है । जैसा कि 'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' से कहा है। परन्तु वह योग चित्त के स्वस्थ होने पर ही हो सकता है। प्राणियों का अन्तःकरण मरा हुआ है और उसे काम ने जला दिया है तथा लोभ ने अपने प्रवाह में बहा दिया है। ऐसी स्थिति में वह अन्तःकरण मृत संजीवनी विद्या से ही जीवित हो सकता है।

यम नियम आदि योग के मार्ग हैं। उसमें जो चलता है उसको कार्यसिद्धि होती है । परन्तु वह अन्तःकरण काम लोभ से बराबर दबाया गया है इसलिए उनके अधीन हो गया है। काम लोभ

का बीज भीतर है और क्रोध आदि का बीज बाहर है इसलिए अन्तःकरण को बिगाड़ने वाले काम लोभ है। अतः श्लोक में उन्हीं का ग्रहण किया गया है। संसार में मग्न होने वालों को मोक्ष देने वाले मुकुन्द भगवान् हैं इसलिए वे मृत को जिलाने वाले हैं उनकी सेवा तो काम लोभ आदि रोगों को मिटाने वाली है। भगवल्लीला श्रवण से भगवान् प्राणी के अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं जब भगवान् अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं तब चित्त सेवा की भावना करता है। अतः श्रवण प्रकरण होते हुए भी सेवा कही गई है। यद्यपि भगवान् के लिए होने वाला योग भी परम्परया चित्त को शान्त बनाता है परन्तु सेवा तो साक्षात् ही शान्त बनाती है। योग की सेवा करने की अपेक्षा योगेश भगवान् की सेवा करना उत्तम है। अर्थात् योग साधन करने वाला योग को सेवा करता है और भगवान् की सेवा करने वाला योगेश की सेवा करता है। श्लोक में अन्तःकरण का बोधक 'आत्मा' पद दिया गया है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण एवं भगवान् आत्मा शब्द से कहे जाते हैं इसलिए भगवान् का सजातीय प्राणी का अन्तःकरण है। क्योंकि आत्मत्व दोनों में हैं। अतः साजात्य होने से भगवान् की सेवा से वह अन्तःकरण शीघ्र शान्त हो जाता है ।।३५।।

**आभास**—इतोऽपि किञ्चिद्रहस्यं भविष्यतीत्याशङ्क्योपसंहरति—

**आभासार्थ**—इससे भी कोई रहस्य की बात और होगी इस आशङ्का का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयाऽनघ ।**
**जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चाऽऽत्मतोषणम् ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—हे निष्पाप व्यासजी ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब अपने जन्म और साधन का रहस्य तथा आपके आत्म तुष्टि का उपाय मैंने बता दिया ।।३६।।

**सुबोधिनी—सर्वं तदिति** । स्वत एव नारदो महानिति लोके प्रसिद्धिः । मया त्वेतावान् क्लेशोऽनुभूत इति रहस्यम् । तवाऽपि चित्तोद्वेगे हेतुरुक्तः सर्वत्र भगवान् हेतुरिति । कथने हेतुः—**आत्मतोषणमिति** । भगवत्प्रीतिहेतुरन्तःसुखजनकं वा ।।३६।।

**व्याख्यार्थ**—लोक में प्रसिद्धि है कि नारदजी अपने आप ही महान् बन गये, परन्तु मैं तो इतने कष्ट झेलने पर महान् बना हूं। यही रहस्य है, तुम्हारे चित्त में जो उद्वेग है उसके हेतु का भी मैंने वर्णन कर दिया, अर्थात् सभी कार्यों में भगवान् ही हेतु हैं। उक्त बात को कहने का कारण यह है कि 'आत्मतोषणम्' अर्थात् इसके सुनने से भगवान् में प्रीति होती है क्योंकि सुनने वाला यह समझता है कि नारदजी एक शूद्री के पुत्र होते हुए भी भगवान् को प्रीति से ब्रह्मा के पुत्र बन गये और जब चाहते हैं तभी दर्शन कर लेते हैं अतः प्रीति का फल महान् है इसलिए भगवान् में प्रीति करनी चाहिये अथवा 'आत्मतोषणम्' का यह अर्थ है कि अन्तःकरण को सुख मिलता है ।।३६।।

**आभास**— नारदस्याऽद्याऽपि साधनपरत्वमिति ख्यापयितुमाह—

**आभासार्थ**—नारदजी इस समय भी साधन कर रहे हैं इस बात को बताने के लिए कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् ।**
**आमन्त्र्य वीणां रणयन्ययौ यादृच्छिको मुनिः ।।३७।।**

**श्लोकार्थ**—श्री सूतजी कहते हैं–हे शौनकादि ऋषियों ! देवर्षि नारदजी ने व्यासजी से इस प्रकार कहकर जाने की अनुमति ली और वीणा बजाते हुए निःस्वार्थ नारदजी विचरण करने के लिए गये ।।३७।।

**सुबोधिनी**—**एवमिति** । **भगवानिति** प्रत्युपकारानपेक्षा । **वासवीसुतमिति**,**अनुगमनाद्यभावात्** । पूर्वोक्त सम्भाषणशेषत्वेनाऽनूद्य, **आमन्त्र्य** गच्छामीत्युक्त्वा, भक्तिमार्ग एव मार्ग इति ख्यापयितुं वीणां रणयन्ययौ । **यादृच्छिक** इति पुनरागमनसम्भावनाऽभाव: । मुनित्वात्कार्यं सर्वं कृत्वा गतः ।।३७।।

**व्याख्यार्थ**—इस प्रकार बातचीत कर भगवान् नारद गये, नारदजी भगवान् हैं इसलिए वेद व्यासजी से उन्हें प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि भगवान् को सभी प्राप्त है । नारदजी जब चले व्यासजी उन्हें पहुँचाने नहीं गये, यह अविवेक बताने के लिए ही यहां व्यासजी को वासवी के पुत्र हैं यह कहा गया है इसी अर्थ को बताने के लिए 'वासवीसुतम्' कहा । पहले कही गई बात सम्भाषण का अङ्ग थी, इसका अनुवाद कर और जाता हूं यह कहकर भक्तिमार्ग ही मार्ग है यह बताने के लिए वीणा को बजाते हुए अर्थात् कीर्तन भक्ति करते हुए गये । नारदजी निष्प्रयोजन हैं इसलिए पीछे उनके आने की सम्भावना नहीं है । नारदजी मनन करने वाले होने से मुनि हैं इसलिए वेदव्यासजी की सारी स्थिति को समझ गये अतः सब कार्य करके गये ।।३७।।

**आभास**—गते तु तस्मिन्नस्याऽपि हृदये भक्तिमार्गः समागत इत्यभिप्रायेण नारदवर्णनमाह—

**आभासार्थ**—नारदजी के चले जाने पर व्यासजी के हृदय में भी भक्तिमार्ग आ गया इसी अभिप्राय से यहां व्यासजी ने नारदजी का वर्णन किया है यह बात कहते हैं—

श्लोक—**अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः ।**
**गायन्माद्यन् गिरा तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ।।३८।।**

**श्लोकार्थ**—सभी लोग अपना ही सुख चाहते हैं परन्तु नारदजी प्राणी मात्र का सुख चाहते हैं इसलिए वेदव्यासजी आश्चर्यपूर्वक कहते हैं कि ये नारदजी धन्य हैं क्योंकि भगवान् की कीर्ति को गाते हुए स्वयं प्रसन्न होते हुए तापत्रय से दुःखी जगत् को भी वीणा से कीर्तन कर सुख पहुंचाते हैं ।।३८।।

**सुबोधिनी—अहो इति** । देवर्षिरिति दृष्टफलसिद्धिः । गायन्माद्यन्निति स्वतन्त्रभक्तिः । अयमेव परोपकार इति ज्ञातवान् । तदाह—**रमयतीति** ॥३८॥

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥**

**व्याख्यार्थ—**भक्ति करने से नारदजी देवर्षि बन गये । उनका देवर्षि बनना ही भक्ति का प्रत्यक्ष फल है । 'गायन्माद्यन्' इन दो पदों से नारदजी स्वतन्त्र भक्ति करते हुए गये यह कहा है । नारदजी स्वयं कीर्तन करते हुए उपदेश दे रहे हैं कि सब को मेरी तरह भगवान् की भक्ति करनी चाहिये । यही नारदजी ने परोपकार किया । यही बात 'रमयत्यातुरं जगत' इससे कही है ॥३८॥

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का षष्ठम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

### प्रथम स्कन्ध–अधिकार लीला

### तृतीय प्रकरण–उत्तम अधिकार

अध्याय—७

### ❀ अश्वत्थामा के बाण से रक्षा ❀

कारिका—**एवं त्रिभिर्मध्यमस्य स्वातन्त्र्येण निरूपणात् ।**
**नारदव्याससंवादं निरूप्याऽथोत्तमाऽभिधा ।।१।।**
**त्रयोदशभिरध्यायैः साधकोऽयं प्रजापतिः ।**
**स्वतन्त्र उत्तमस्यैव साऽधिकोऽयं निरूप्यते ।।२।।**
**द्वादशांगैश्च सहितो ह्यधिकारो निरूप्यते ।**
**हेतुः षड्भिर्विरक्तिश्च तथा स्वातन्त्र्यमन्तिमे ।।३।।**
**हेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः सामान्यः स त्रिधा मतः ।**
**विशेषः पञ्चधा प्रोक्तः सप्तमे त्रितयं जगौ ।।४।।**

**कारिकार्थ**—इस प्रकार तीन अध्यायों से मध्यम प्रकरण का स्वतन्त्र रूप से निरूपण करके उसमें नारदजी और व्यास के संवाद का निरूपण किया । अब उत्तम प्रकरण का तेरह अध्यायों से निरूपण करते हैं । शङ्का होती है कि यह प्रकरण उत्तम कैसे है ? तो कहते हैं कि इस उत्तमाधिकार में वर्णित भगवान् साधारण रूप जो प्रजा है उनके दीन होने से चारों ओर से उनका रक्षक होता हुआ वह भगवान्

उस प्रजा का साधक है इसलिए यह प्रकरण उत्तमाधिकार का प्रकरण है और कथा श्रवण कीर्तन रूप अधिकार भी स्वतन्त्र है इसलिए भी यह उत्तम प्रकरण है, इस प्रकार यहां इन दोनों कारणों से यह उत्तम है यह कहा गया है ।

यद्यपि मध्यम प्रकरण में भी कार्य को सिद्ध करने वाले तो भगवान् ही हैं, तो भी नारदजी को दीन प्रजारूप नहीं होने से, प्रजापति रूप में भगवान् वहां साधक नहीं हैं ।

प्रथम प्रकरण (हीनाधिकार प्रकरण) में अधिकार को स्वतन्त्रता नहीं है और इस प्रकरण में (तीसरे उत्तम प्रकरण में) तो प्रजा के पति होने से भगवान् साधक हैं और श्रोता तथा वक्ता के अधिकार स्वतन्त्र हैं इसलिए यह प्रकरण उत्तम प्रकरण रूप है ।

बारह अङ्गों सहित अधिकार का निरूपण होने से इस प्रकरण के तेरह अध्याय हैं । इनमें छः अध्याय से अधिकार के कारण का तथा छः अध्यायों से वैराग्य का निरूपण किया गया है । अन्तिम अध्याय में अधिकार की स्वतन्त्रता निरूपित है ।

सप्तम अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक हेतु के छः अध्याय हैं । हेतु के सामान्य और विशेष—ये दो भेद हैं । इसमें सामान्य हेतु तीन प्रकार का है और विशेष हेतु पाँच तरह का है । सामान्य हेतु के तीन भेद सातवें अध्याय में वर्णित हैं और बाकी के पाँच अध्यायों में विशेष हेतु के पाँच भेद कहे हैं ।

शङ्का होती है कि हेतु के छः अध्याय बताये हैं और उसके भेद में सामान्य हेतु तीन प्रकार का है और विशेष हेतु पाँच प्रकार का है । इस तरह दोनों मिलाकर आठ भेद होने से आठ अध्याय होने चाहिये । तो इसके उत्तर में कहते हैं कि —

सप्तम अध्याय में श्री भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना है, इसलिए अश्वत्थामा को छोड़ देने से, भीम तथा द्रौपदी वगैरह का मनोरथ पूर्ण करना ये तीन सामान्य हेतु इस सातवें अध्याय में बताये हैं ।

यद्यपि भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना यह विशेष हेतु है तो भी वह देह की रक्षा करने रूप में है इसलिए उसे सामान्य हेतु रूप माना है ।।१—४।।

इस प्रकरण में कथा का श्रवण और कीर्तन रूप उत्तम अधिकार का निरूपण स्वतन्त्र रूप से करना है। इसी प्रकार वह अधिकार हेतु और वैराग्य युक्त होने पर ही उत्तम होता है। उसमें हेतु भगवान् हैं, क्योंकि महान् श्रोता के रूप में भागवत के श्रोता परीक्षित का भगवान् ने बड़े क्लेश से पालन किया है। वह भगवान् सर्वोत्तम हैं (ऐसा १२वें अध्याय का अभिप्राय है) और सबसे जानने योग्य है (ऐसा ११वें अध्याय का अभिप्राय है) सबको मुक्ति देने वाला है (ऐसा १०वें अध्याय का अभिप्राय है) सबको ज्ञान देने वाला है (ऐसा ९वें अध्याय का अभिप्राय है) प्रत्येक के प्रत्येक दुःख की निवृत्ति कर भक्ति देने वाला है (ऐसा ८वें अध्याय में कहा है) और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करने वाला है (यह ७वें अध्याय का अभिप्राय है) ऐसा भगवान् महान् प्रयत्न द्वारा स्वय उद्यम कर जिसका पालन करता है ऐसा व्यक्ति मूल से ही भागवत सुनने में मुख्य अधिकारी है। इस तरह ६ अध्यायों से निरूपण होता है।

**अभास**—अत्र ह्युत्तमोऽधिकारो निरूपणीयः स्वतन्त्रतया कथाश्रवणकीर्त्तनरूपः। स च हेतुवैराग्याभ्यां सहित उत्तमो भवति। हेतुर्भगवान्महता क्लेशेन भागवतश्रोतारं पालितवान्। यस्तु सर्वोत्तमः, सर्वमृग्यः, सर्वेषां मुक्तिदाता, सर्वेषां ज्ञानदः, सर्वेषां सर्वद्दुःखनिवृत्तिपूर्वकभक्तिप्रदो, भक्तमनोरथपूरकश्च, स स्वयमुद्यम्य महता प्रयत्नेन यं पालयति स मूलतो भागवतश्रवणे मुख्याधिकारी। एवं षड्भिरध्यायैर्निरूप्यते। यस्याऽधिकारी निरूपणीयः प्रथमं स निरूपणीयः। तद्वक्ता च। अतः सप्तमेऽध्याये भागवतोत्पत्तिप्रवृत्ती भक्तानां मनोरथपूरणं च निरूप्यते। तत्र प्रथमं शौनको भागवतोत्पत्तिप्रश्नमाह—

**आभासार्थ**—भागवत के अधिकारी का निरूपण करना है, इसलिए भागवत का तथा उसके वक्ता का पहले निरूपण करना चाहिये अतः सप्तम अध्याय में श्री भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और भक्तों का मनोरथ पूर्ण करना चाहिये। उसमें शौनक ऋषि प्रथम श्री भागवत की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न करते हैं—

**शौनक उवाच**—श्लोक—**निर्गते नारदे सूत भगवान्बादरायणः।**
**श्रुत्वा तु तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥१॥**

**श्लोकार्थ**—शौनक पूछते हैं कि—व्यासजी के आश्रम से नारदजी के चले जाने पर उनके अभिप्राय को सुनकर भगवान् वादरायन ने फिर क्या किया? ॥१॥

**सुबोधिनी** **निर्गत इति । भगवानिति** सहजशक्तिः । **बादरायण** इत्यागन्तुकतपश्शक्तिः । बदरफलेन वर्त्तमानो बादरायणः । तदभिप्रायं भगवद्गुणानां याथात्म्यप्रतिपादकग्रन्थकरणम् ।।१।।

**व्याख्यार्थ**— श्लोक में वेदव्यास का विशेषण "**भगवान्**" है जिससे यह बताया है कि उन वेदव्यास में सहज शक्ति थी क्योंकि वे षडैश्वर्य युक्त थे । "बादरायण" पद से यह बताया गया है कि वेदव्यास ने बैर के फल खाकर तप किया था उस तप से उनमें आगन्तुक तप की शक्ति भी थी । ऐसे भगवान् व्यास ने नारदजी के इस अभिप्राय को कि "भगवद्गुणों का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ आप बनावें" सुनकर फिर उन्होंने क्या किया ? ।।१।।

**आभास**—नारदवचनानन्तरं भगवदिच्छानिर्द्धारार्थं समाधिं कृतवान् । तत्र शुद्धे देशे भगवदाविर्भावः शुद्धिश्च देवयजन इति व्यासनिवासस्थानस्य देवयजनत्वमाह—

**आभासार्थ**—नारदजी के वचन सुनने के बाद भगवान् की इच्छा जानने के लिए व्यासजी समाधि स्थित हुए । शुद्ध देश में भगवान् का आविर्भाव होता है और जहां देवताओं का यज्ञ होता हो वह स्थान शुद्ध समझा जाता है । इसलिए व्यासजी का निवास स्थान देवयजन रूप (देवताओं का जहां यज्ञ हुआ है ऐसा) था इसी बात को सूतजी कहते हैं—

**सूत उवाच—श्लोक— ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे ।**
**शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्द्धनः ।।२।।**

**श्लोकार्थ**—जहां वेदाध्ययन होता था और जहां ब्राह्मण रहते थे ऐसी सरस्वती नदी के पश्चिमी तट पर ऋषियों के (यज्ञ) कर्म को बढ़ाने वाले शम्याप्रास नाम से प्रसिद्ध व्यासजी का आश्रम था ।।२।।

**सुबोधिनी—ब्रह्मनद्यामिति** । सामीप्ये सप्तमी । ब्रह्मदैवत्यां सरस्वत्यामिति तत्रैव वेदादिविद्यास्फूर्त्तिः **सहजा । पश्चिमे तट इति** । पुरतो नदी देवयजने भवति । पुरो हविश्च । तद्देवयजनम् । किञ्च । **शम्याप्रास इति प्रोक्तः** । शम्या प्रास्यते अस्मिन्निति शम्याप्रासः । तदग्नेः प्रियं धाम भवति । तदैवाऽग्नेः स्वस्थानादाशम्याप्रासादपक्षा(?)इति । यदि परस्तरामपक्षायेदिति(?)वा । शम्या प्रास्यते अस्मादिति वा । तस्य स्थानस्य बलमाह । ऋषीणां सत्रं वर्द्धयतीति ।।२।।

**व्याख्यार्थ**— श्लोक में आये ब्रह्मनद्याम् में ब्रह्म पद से वेद ब्राह्मण और तप लिये गये हैं । उस नदी के पास ब्राह्मण रहते थे वेदपाठ होता था और तप होता था इसलिए यहां सरस्वती नदी को ब्रह्म नदी पद से कहा गया है । 'ब्रह्मनद्याम्', 'सरस्वत्याम्' में समीप अर्थ में सप्तमी है । अर्थात् उस नदी के समीप में ब्राह्मण बैठे हुए वेदाध्ययन कर रहे थे ऐसी वह सरस्वती नदी थी । समीप में व्यासाश्रम था इसलिए वहीं वेदादि विद्या की स्फूर्त्ति सहज हो सकती है । उस नदी के पश्चिमी तट पर देवयजन था । जिस स्थान के सामने नदी और हवि होती है वह देवयजन स्थान है और उसे यहां "शम्याप्रास" नाम से कहा गया है । 'शम्याप्रास" का तात्पर्य यह है कि गदा के आकार

वाला एक काष्ठ का बना हुआ आयुध होता है जो यज्ञ का आयुध कहलता है । शमी पद से उसी आयुध को यहां कहा गया है । उस आयुध को बलपूर्वक जहां फका जाय उसी स्थान का नाम शम्याप्रास है । वही "गार्हपत्यादि" अग्नि का प्रिय स्थान होता है । जब वह अग्नि का प्रिय स्थान हो जाता है तभी गार्हपत्यादि अग्नि उस जगह वहां इस प्रकार शमी फेंकी जाती है वह अपने अग्नि कुण्ड से अङ्गार रूप में बाहर निकलकर उस प्रदेश में स्वयं पड़ती है । अथवा वह अग्नि उस स्थान से कहीं अन्यत्र पड़ जाय तो वह स्थान भी शम्याप्रास कहलाता है । अथवा जिस स्थान से शमी फेंकी जाती है वह स्थान भी शम्याप्रास कहलाता है । ऐसे शम्याप्रास स्थान का बल कहते हैं कि **'ऋषीणां सत्रवर्धन:'** वह स्थान ऋषियों के कर्म को बढ़ाने वाला होता है । वहीं व्यास का आश्रम था ।।२।।

**आभास**—एवं देवयजनत्वं निरूप्य तत्र व्यासस्य समाधिमाह—

**आभासार्थ**– इस प्रकार उस स्थान को देवयजन बताकर उसी स्थान में व्यासजी ने समाधि लगाई यह कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।**
**आसीनोऽप उपस्पृश्य मनः प्रणिदधौ स्वयम् ।।३।।**

**श्लोकार्थ**—वोर के वृक्षों के समूह से शोभित उस परमानन्द देने वाले अपने आश्रम में आचमन कर बैठे हुए स्वयं व्यासजी ने मन को स्थिर किया ।।३।।

**सुबोधिनी—तस्मिन्निति । स्व आश्रम इति ।** अपराधीनत्वेन निर्भयचित्तप्रसादहेतौ । **व्यास**-इत्यधिकारी । बदरीखण्डमिति(?)वा पाठः । बदरी अमृतदरी परमानन्ददायिनी । तस्याः षण्डः समूहः । खण्डो वा । तेन च मण्डिते । अनेन तपःस्थान मोक्षस्थानं च तदिति सूचितं भवति । तस्मिन्नासीनः । सर्वदेवताप्रसादाय चाऽऽचमनम् । **"यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाती"**ति श्रुतेः। योगेन साधितं मनः । तदुक्तमार्गव्यतिरेकेण स्वतन्त्रतया यदत्र भगवतोऽभीष्टं तत्स्फुरिष्यतीति बुद्धया स्वयं मनः स्थिरीकृतवान् ।।३।।

**व्याख्यार्थ**—स्वे आश्रमे का तात्पर्य यह है कि यह आश्रम उनका खुद का था । अपने आश्रम में मनुष्य निभय और प्रसन्न चित्त से रहता है । अस्तु व्यासजी अपने आश्रम में थे इसलिए पराधीन न होने से उनमें निर्भयता थी और चित्त में प्रसन्नता थी । वे व्यास थे वेदों का विभाजन करने वाले थे इसलिए वे भगवान् में मन को स्थिर करने के अधिकारी थे ।

'बदरीषण्डमण्डिते" बदरी याने अमृत की गुफा जो कि परमानन्द देने वाली थी । वह स्थान ऐसी गुफाओं के समूह से शोभित था । श्लोक में आये बदरीषण्ड की जगह वदरीषण्ड पाठ मानते हैं तो उसका अर्थ होगा कि वोर वृक्ष की लकड़ी वहां पड़ी हुई थी उनसे वह शोभित था । इस प्रकार बदरी शब्द को वृक्ष अर्थ में रूढ़ मानते हैं तो वैर के फल खाते हुए वहां तप हो सकता है यह अर्थ सूचित होता है और बदरी का यौगिक अर्थ मानते

हैं। अर्थात् 'ब' माने अमृत और 'दरी' याने गुफा (ब अमृत बीज होने से ब से अमृत परमानन्द (मोक्ष) लिया गया उसकी दरी अर्थात् वहां मोक्ष को देने वाली गुफायें थी-ऐसी गुफा समूह से वह स्थान शोभित था यह अर्थ होता है। इस प्रकार के अर्थों से यह सूचित होता है कि वह तपश्चर्या का एवं मोक्ष का स्थान था। उस स्थान में बैठे हुए व्यासजी ने सब देवताओं को प्रसन्न करने के लिए आचमन किया। श्रुति में कहा है कि "यत् त्रिराचामति तेन ऋचः प्रीणाति" तीन बार आचमन करने से ऋचायें (तथा उनके देवता) प्रसन्न हो जाते हैं।

नारदजी के बताये हुये मार्ग से भिन्न कोई स्वतन्त्र मार्ग भगवान् को अभीष्ट होगा तो उसका स्फुरत मुझे होगा इस बुद्धि से व्यासजी ने योग से ठीक किये हुये मन को स्थिर किया ॥३॥

**आभास**—तदा समाधिभाषाविषयाः पदार्था स्फुरिता इति तान्वर्णयितुं प्रथमं तदाधारं वर्णयति—

**आभासार्थ**—तब भागवत के वर्णनीय पदार्थ स्फुरित हुए इसलिए उनका वर्णन करने के लिए उन पदार्थों का आधार जो मन है उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक— **भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।**
**अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् ॥४॥**

**श्लोकार्थ**—भक्तियोग से निर्मल इसीलिए अच्छे रूप में स्थिर मन में पूर्ण पुरुषोत्तम को तथा उसके अधीन माया को देखा ॥४॥

**सुबोधिनी—भक्तियोगेनेति**। वायुवशात्स्थिरीभूतञ्चेद्योगमार्गो, भक्तिमार्गेण स्थिरीभूतञ्चेन्नारदवद्भगवत्स्फूर्तिरिति तदाह—**भक्तियोगेनेति** । निःकामत्वादमले । तत्र यद्दृष्टवांस्तदाह—**अपश्यदिति** द्वयेन । **साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिरुत्तमा । तया सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद्भुक्तिश्च मोचिकेति** । पूर्णं पुरुषं पुरुषोत्तमम् । जीवराशिभिराकीर्णं ब्रह्माण्डकोटिभिर्वा । मायां चाऽपश्यद्भगवदेकशरणाम् ॥४॥

**व्याख्यार्थ**—मन यदि वायु-वश से स्थिर होता है तो वह योगमार्ग है और भक्तिमार्ग से यदि स्थिर होता है तो नारदजी की तरह भगवान् की स्फूर्ति होती है। इसी बात को भक्तियोगेन से कहा है। मन को भक्तियोग से स्थिर किया इसलिए मन निष्काम था अतएव निर्मल था। उस मन में जो देखा उसको "अपश्यत्" आदि से कहते हैं।

व्यासजी ने क्या देखा ? (समाधि में शुद्ध साकार ब्रह्म को और उसकी उत्तम शक्ति जो माया है जिससे कि सर्वत्र मोह हो रहा है उसको तथा साक्षात् मुक्ति देने वाली (माया से छुटकारा कराने वाली) भक्ति को देखा) अर्थात् भक्ति ही माया को छुड़ाने वाली साक्षात् है परम्परया नहीं यह देखा।

श्लोक में आये हुए "पुरुषम्" की पुरा आस याने सबसे पहले रहने वाला । ऐसी व्युत्पत्ति करने पर पुरुषोत्तम लिया ही जाता तो फिर "पूर्णम्" पद देने की क्या आवश्यकता है ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि पूर्ण पद यहां यह सूचित करने के लिए दिया है कि भगवान् जीवों के समुदाय से अथवा ब्रह्माण्ड कोटि से व्याप्त है । ऐसे पुरुषोत्तम को तथा एक मात्र जिसका भगवान् ही आश्रय है ऐसी माया को व्यासजी ने देखा ।।४।।

**आभास**—तस्याः कार्यं चाऽपश्यत्—

**आभासार्थ**—और माया के कार्य को भी देखा–इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।**
**परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाऽभिपद्यते ।।५।।**

**श्लोकार्थ**— जिस माया से मोहित जीव वस्तुतः माया के गुणों से अलग रहता हुआ भी अपने को गुणत्रयात्मक जड़रूप मानता है और गुणत्रय के अभिमान से होने वाले जन्म मरणादि को प्राप्त करता है ।।५।।

**सुबोधिनी**—**यया सम्मोहित इति** । यद्यपि प्रपञ्चोऽपि तस्याः कार्यं तथापि तत्र करणत्वेन तस्या अन्वयः । सम्मोहने तु कर्तृत्वेन । स्वातन्त्र्यात् । अतस्तदेवाऽऽह—**ययेति** । वस्तुतो जीवोऽपि ब्रह्मैवेति परोऽपि प्रकृतेर्नियामकोऽपि त्रिगुणात्मकं गुणत्रयभावापन्नं जडरूपं मन्यते । तत्कृतं चाऽनर्थं जन्ममरणादि प्राप्नोति ।।५।।

**व्याख्यार्थ**— यद्यपि प्रपञ्च भी माया का कार्य है तथापि जगत् के निर्माण में वह माया-घट बनाने में दण्ड की तरह करण है, उस कार्य में स्वतन्त्र न होने से कर्त्री नहीं है । सम्मोहन करने में वह स्वतन्त्र होने से कर्त्री है । इसी बात को 'यया सम्मोहितः' में जो यया है वहां करण में तृतीया न होकर कर्त्ता में तृतीया देकर कहा है ऐसा श्री आचार्य का अभिप्राय है अर्थात् वह जीवों के सम्मोहन में कर्त्री है । कर्त्ता वहां होता है जो स्वतन्त्र होता है । वास्तव में जीव ब्रह्म का अंश है इसलिए ब्रह्म ही है । ब्रह्म होने से वह प्रकृति का नियामक होता हुआ भी गुणत्रय रूप जड़ देह को अभिन्न-रूप से स्वीकार करता है और देहादि के साथ अभिन्नरूपता समझने से ही गुणत्रय से होने वाले जन्म मरणादि को वह जीव प्राप्त करता है ।।५।।

**आभास**—तत्र निस्तारोपायं चाऽपश्यदित्याह—

**आभासार्थ**—माया से छुटकारा पाने का उपाय भी व्यासजी ने देखा–यही कहते हैं—

श्लोक—**अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।**
**लोकस्याऽजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ।।६।।**

**श्लोकार्थ**—जन्म मरणादिरूप अनर्थ को दूर करने वाला जो भगवान् में भक्ति-योग है उसे भी देखा। यह सब कुछ देखकर स्वयं जानते हुए भी वेदव्यास ने इसको नहीं जानने वाले लोकों के उपकार के लिए श्री भागवत संहिता को बनाया ।।६।।

**सुबोधिनी - अनर्थोपशममिति।** ज्ञानकाशया मायया मोह इति न ज्ञाने विश्वासः कर्तुं शक्यः। ननु साधनैरुत्पन्नं ज्ञानमकस्मादुत्पन्नं मायेति सन्देहो न भविष्यतीति चेन्न। साधनानामपि द्विरूपत्वात्। कात्स्न्र्येनाऽनभिव्यक्तत्वादिभिस्तन्निर्णयेऽपि न साक्षात्तस्याऽनर्थनिवर्त्तकत्वम्। यथा दर्पणे मुखं नास्तीति प्रतीतिदार्ढ्येऽपि दर्पणरूपदोषस्य विद्यमानत्वात्कदाऽपि न मुखाभावप्रतीतिः। दर्पणाभावश्च न ज्ञानसाध्यः। तथा मूलभूताया मायाया विद्यमानत्वान्न कदाऽप्यनर्थनिवृत्तिः। शास्त्रप्रामाण्येन ससाधने ज्ञानेऽपि जाते पुनर्मायया मोहः। **"ज्ञानिनामपि चेतांसी"**ति वाक्यात्। शास्त्रं तु भक्तिद्वारा साधकं वदति। साक्षाद्भक्त्या वा अनर्थनिवृत्तौ ज्ञानमिति। **"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"**। **एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि।** अतः साक्षादनर्थनिवृत्तिहेतुर्भक्तिरेव। दृष्टे सा लौकिकी कर्म वेति तद्व्यावृत्त्यर्थम्—**अधोक्षज इति।** इन्द्रियातीते भक्तिः शास्त्रीयैव। अनेन वस्तुत एवमेव पदार्था नाऽन्यथेति बोधितम्। अन्यथापदार्थनिरूपणं तु ऋषीणां बुद्धिदोषात्। योगोऽपि राजसादिभिस्तद्भावापन्न इति न वस्तुयाथात्म्यं बोधयति। अन्यथा विवादो न स्यात्। तस्माद्भगवद्वाक्येन वेदेन वा संवादो योगजधर्मः पदार्थयाथात्म्य बोधयति नाऽन्यः। तस्मान्नारदवाक्येन फलसंवादिना भगवद्वाक्येन संवादियोगात्प्रमाणमिति ज्ञात्वा अजानतो लोकस्याऽर्थे स्वयं युक्ति-सहितं ज्ञात्वा **सात्वतसंहितां** भगवत्प्रोक्तपदार्थप्रतिपादिकां वेदत्वाय संहितां चक्रे ।।६।।

**व्याख्यार्थ**—शङ्का होती है कि अविद्या (अज्ञान) से मोह होता है और उसकी निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव है तो मोह निवृत्त करने के लिए ज्ञान को दिखाना ठीक था, भक्ति, मोह निवृत्त करने वाली है ऐसा कैसे बताया ? तो श्री सुबोधिनी व्याख्यान में कहते हैं कि "ज्ञानकाशया" अर्थात् ज्ञान से प्रकाशित माया से मोह होता है ऐसी दशा में ज्ञान का रूप सन्दिग्ध है इसलिए ज्ञान हमारे अनर्थक (जन्म मरणादि) का निवर्त्तक हो जायगा ऐसा विश्वास नहीं कर सकते।

शङ्का होती है कि ज्ञान तो साधनों से पैदा होता है और माया अकस्मात् उत्पन्न होती है इसलिए ज्ञान और माया के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। तो उत्तर देते हैं कि साधन भी दो प्रकार के हैं। १. मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् अणु २. अद्विपा वहां कहा है कि स्वप्न सृष्टि केवल मायिक है। दूसरे का व्यामोह करने वाली शक्ति विशेष का नाम माया है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक सृष्टि मिथ्या है उसी प्रकार मायिक सृष्टि (स्वप्न सृष्टि) मिथ्या है। क्योंकि वस्तु के होने में देश काल विषय का सन्निधान है। इन्द्रियों का व्यापार और कोई बाधक न होना अपेक्षित है। वो स्वप्न सृष्टि में नहीं है इसलिए स्वप्निक सृष्टि मिथ्या है अर्थात् मायिक चीज मिथ्या होती है। तो जिसको साधन सम्पादक योग्य देह मिल गया है। माया से गुण दोषों का सम्बन्ध ऐसे जीव में नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि माया मिथ्या वस्तु को और ज्ञान सत्य वस्तु को दिखता है इसलिए ज्ञान के स्वरूप का निर्णय हो गया तब भी वह ज्ञान जन्म मरणादि का निवर्त्तक नहीं हो सकता। ज्ञान साक्षात् जन्म मरणादि को नहीं मिटा सकता क्योंकि ज्ञान की स्थिति में माया रहती है और माया की स्थिति में जन्म मरणादि होंगे। जैसे मानव को दर्पण में

मुख नहीं है ऐसा ज्ञान दृढ़ है तब भी काचरूप दोष के रहने से कभी भी दर्पण में मुख नहीं है (नहीं दीखे) ऐसा नहीं होता। ऐसे ही ज्ञान होने पर भी माया के रहने से जन्म मरणादि रूप अनर्थ अवश्य होगा। जैसे ज्ञान से दर्पण का अभाव नहीं हो सकता वैसे ही ज्ञान से माया का भी अभाव नहीं होता और जब तक अनर्थ की मूलभूत माया विद्यमान है तब तक कभी भी जन्म मरणादि की निवृत्ति नहीं हो सकती।

शङ्का करते हैं कि जन्म मरणादि को प्राप्ति मोह से होती है और वह मोह यदि ज्ञान से निवृत्त हो गया तो माया के रहते हुए भी वह माया उसका कुछ नहीं कर सकेगी। यदि ऐसा नहीं मानें तो ज्ञान से जन्म मरणादि की निवृत्ति हो जाती है-ऐसा बताने वाले शास्त्रों का अप्रामाण्य हो जायगा। तो इसके उत्तर में कहते हैं कि शास्त्र प्रमाण से साधन सहित ज्ञान के होने पर भी फिर से माया का मोह हो जाता है जैसा कि "ज्ञानिनामपि चेतांसि" से कहा गया है। अर्थात् भगवान् की माया ज्ञानियों के चित्त को भी बलात् मोहयुक्त बना देती है इसलिए माया निवृत्ति आवश्यक है।

शास्त्र में ज्ञान से जो अनर्थ की निवृत्ति बताई है उसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान से भक्ति होती है और भक्ति से अनर्थ की निवृत्ति होती है। अस्तु ज्ञान अनर्थ की निवृत्ति में परम्परया कारण है साक्षात् नहीं।

अथवा साक्षात् भक्ति से अनर्थ (जन्म मरणादि) के निवृत्त होने पर ज्ञान पैदा होता है। माया से मोह होने पर ही जन्म मरणादि होते हैं। वह माया भगवच्छरणागति से दूर हो जाती है। जैसा कि "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्तिते" अर्थात् जो मेरी ही शरण लेते हैं वे इस माया को तिर जाते हैं। "मामेव" में जो "एव" कार है वह यह बताता है कि माया की निवृत्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः अनर्थ निवृत्ति का साक्षात् कारण भक्ति ही है।

जो दृष्ट वस्तु होती है उसमें भक्ति लौकिकी अथवा कर्म रूप हो सकती है परन्तु भगवान् तो इन्द्रियातीत होने से नहीं दीखने में आते इसलिए उसमें शास्त्रीय ही भक्ति हो सकती है। इसी तात्पर्य से यहां "अधोक्षजे" कहा है। अर्थात् इन्द्रिय जन्य ज्ञान उससे नीचे ही रह जाता है। लौकिक इन्द्रियों से उसका ज्ञान नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तव में माया की निवृत्ति में भक्ति ही कारण है और उसी से जन्म मरणादि मिट सकते हैं। अन्यथा नहीं। ज्ञान से अनर्थ की निवृत्ति होती है-यह जो ऋषियों का कहना है वह उनकी बुद्धि के दोष से है।

राजस, सात्त्विक, तामस व्यक्तियों से होने वाला योग भी राजस, सात्त्विक, तामस होने से वस्तु की यथार्थता को नहीं बताता। यदि वस्तु की यथार्थता को बताना हो तो विवाद ही क्यों हो। इसलिए भगवद्वाक्य के अनुसार ही अथवा वेद के अनुसार ही होने वाला योगज धर्म पदार्थ की यथार्थता को बता सकता है दूसरा नहीं।

नारदजी के फल संवादी वाक्य से और भगवद्वाक्य के अनुसार होने से यह बात प्रामाणिक है ऐसा ज्ञान कर नहीं जानने वाले लोगों के लिए स्वयं युक्ति सहित जानकर भगवान् से कहे गये पदार्थों का प्रतिपादन करने वाली भागवत संहिता को बनाया।

यहां "संहिता" पद इसलिए दिया गया है कि भागवत में वेदत्व है । जैसे यजुर्वेद संहिता आदि वेद हैं उसी तरह यह भागवत संहिता है इसलिए वेद के तुल्य है ।।६।।

**आभास**—ननु किमनया संहितया । पदार्थज्ञानैर्वा किम् । साधनकथनेऽपि प्राणिनां तथाऽधिकाराभावाद्व्यर्था संहिता । इत्याशङ्क्य तस्याः फलमाह—

**आभासार्थ**—इस भागवत संहिता से क्या फल है ? और माया ज्ञान भक्ति आदि पदार्थों के ज्ञान से भी क्या फल है ? साधन कहने पर भी प्राणियों को वैसे साधन करने का अधिकार नहीं है इसलिए यह भागवत संहिता व्यर्थ है ऐसी आशङ्का कर उसका (भागवत का) फल कहते हैं—

श्लोक—**अस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे ।**
**भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ।।७।।**

**श्लोकार्थ**—जिस भागवत संहिता के सुनने से ही कालादि नियन्ता जो परम पुरुष कृष्ण है उसमें मनुष्यों की (स्वतन्त्र पुरुष की) शोक, मोह, भय को दूर करने वाली भक्ति पैदा हो जाती है ।।७।।

**सुबोधिनी**—**अस्यां वै श्रूयमाणायामिति** । भक्त्युत्पत्तिपर्यन्तमियं श्रोतव्या । इयं च दृष्टद्वारा भक्तिजनिका । दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । यथा चाऽस्या दृष्टोपयोगस्तदुपपादितं प्रथमश्लोके । **कृष्णे** आविर्भूते भगवति । **परमपूरुषे** । सर्वप्रमाणसमन्वये कालादिनियन्तरि वा । भक्तिरुत्पद्यते स्वतन्त्रस्य शोकमोहभयानि रजस्तमस्सत्त्वकार्याणि । तान्यपहन्तीति तथा । अनर्थनिवृत्तिर्दूरे । गुणकार्यमात्रमेव निवर्तत इत्यर्थः ।।७।।

**व्याख्यार्थ**—भक्ति की उत्पत्ति पर्यन्त इस संहिता को अवश्य सुनना चाहिये । यह (दृष्ट से) सुनने से ही भक्ति पैदा कर देती है । अर्थात् जैसे यज्ञादि करने से उस अदृष्ट से कालान्तर में फल मिलता है वैसा यहां (भागवत में) नहीं है । यहां तो देखे गये श्रवण के द्वारा उसी समय भक्तिरूप फल मिल जाता है । दृष्ट जब सम्भव है तब अदृष्ट की कल्पना करना ठीक नहीं है । जिस प्रकार इस भागवत का दृष्ट में उपयोग होता है इस बात को भागवत के प्रथम श्लोक जन्माद्यस्य की सुबोधिनी व्याख्यान में यथाहि वेदा यज्ञीया से लेकर भागवत संहिता पर्यन्त से कहा है । अथवा यों कहिये कि इस श्लोक से पहला श्लोक जो "अनर्थोपशमम्" है उससे कहा है ।

श्लोकस्थ "कृष्णे" पद से "प्रकट हुए कृष्ण भगवान् में" ऐसा सूचित होता है क्योंकि प्रकट हुए भगवान् का नाम ही कृष्ण है ।

"परमपूरुषे" का तात्पर्य यह है कि जिन भगवान् में सभी प्रमाणों का समन्वय है अथवा जो भगवान् काल कर्म स्वभावादि का नियामक है उस भगवान् में स्वतन्त्र पुरुष की अर्थात् दूसरे देवता एवं दूसरे साधनों में निष्ठा नहीं रखने वाले पुरुष की भक्ति उत्पन्न हो जाती है । श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि—कृष्णे और परमपुरुषे ये दो पद देकर यहां यह बताया है कि कृष्ण को परम

श्रीशुकदेव मुनि भगवान् व्यासदेवसे भागवत पढ़ रहे हैं ।

पुरुष मानकर जो भक्ति करते हैं वे उत्तराधिकारी हैं और जो कृष्ण ही मानकर उनमें प्रेम करते हैं वे मध्यमा और प्रथमाधिकारी हैं । इस प्रकार भक्ति रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण के कार्यरूप शोक मोह भय को दूर करने वाली होती है । (उससे जन्म मरणादि की निवृत्ति होना तो एक साधारण सी बात है । गुण का कार्य मात्र ही निवृत्त हो जाता है तो) ।।७।।

**आभास**—एवं भागवतस्योत्पत्तिमुक्त्वा प्रचारमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भागवत की उत्पत्ति कहकर उसका प्रचार कैसे हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**स संहितां भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चाऽऽत्मजम् ।**
**शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ।।८।।**

**श्लोकार्थ**—श्री वेदव्यास मुनि ने भगवत्सम्बन्धिनी इस संहिता को बनाकर उसको क्रमबद्ध कर निवृत्ति में परायण अपने पुत्र शुकाचार्य को पढ़ाया ।।८।।

**सुबोधिनी** – **स संहितामिति** । संहितां भागवतीमित्यनुवादो बहुसंहिताकरणादन्यव्यावृत्त्यर्थः। अनुक्रमेण शोधयित्वा आनुपूर्व्येण वा । इदमन्येन न प्रसृतं भविष्यतीति स्वतद्रूपं पुत्रमध्यापयामास । इदं दोषवता न प्रसृतं भविष्यतीति मननादवगत्य मुक्तं शुकमध्यापयामास । मुक्तोऽपि लीलया लोकानुवर्त्ती ईश्वरवत् । तेनाऽपि नास्य प्रचारो भविष्यतीति तदर्थमाह—**निवृत्तिनिरतमिति** । कदाचिदपि प्रवृत्तिस्वभावत्वे तद्दोषेण सम्बन्धान्न भक्तिजनिका स्यात् । विषयावेशविष्ण्वावेशयोर्विरोधात् । एतच्च मननादवगतमतिविचारेण नाऽऽपाततः प्रतिपन्नम् । तदाह—**मुनिरिति** ।।८।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में 'संहितां भागवतीम्' इसलिए कहा है कि ऊपर के श्लोकों में भागवत संहिता का निरूपण आ चुका है इसलिए इस श्लोक में इमां करना चाहिये था, फिर भागवतीं संहितां क्यों कहा ? तो कहते हैं कि व्यासजी ने अनेक संहिताएं बनाई हैं वे यहां न ले ली जाय । भागवत ही ली जाय । अर्थात् भागवत का ही अध्ययन व्यासजी ने शुकाचार्य को कराया । व्यासजी ने अनुक्रम से शोधन कर अथवा जो भी वस्तु समाधि में दीखी उसे यथावस्थित अपने समान अपने पुत्र शुकाचार्य को इसलिए पढ़ाया कि दूसरे किसी से भी इसका प्रसार नहीं होगा । व्यासजी मुनि होने के कारण उन्होंने मनन से समझा कि यह भागवत सदोष व्यक्ति को पढ़ाई जावेगी तो प्रसार नहीं होगा इसलिए उन्होंने जीवमुक्त शुक को पढ़ाया ।

मुक्त भी लीला से ईश्वर की तरह लोकों का अनुसरण कर सकता है तो लोकानुवर्त्तन करने वाले से इसका भागवत का प्रचार नहीं हो सकता है । इसके लिए कहते हैं कि "निवृत्तिनिरतम्" शुक केवल निवृत्ति परायण थे । अर्थात् कदाचित् इसका प्रचार करने वाला यदि कोई प्रवृत्ति स्वभाव वाला होगा तो भागवत में उसके दोष का सम्बन्ध होने से यह उससे प्रचारित यह भागवत भक्ति पैदा करने वाली नहीं होगी, कारण कि या तो विषयों का ही आवेश हो सकता है या विष्णु का ही इन दोनों विरुद्ध बातों का एक साथ रहना नहीं हो सकता । प्रवृत्ति स्वभाव वाले में विषयावेश होना सम्भव है ऐसी स्थिति में विष्णु का आवेश नहीं हो सकता इसलिए निवृत्ति

परायण को पढ़ाया । यहां श्लोकस्थ मुनि शब्द का तात्पर्य यह है कि इस बात को वेदव्यासजी ने ऊपर-ऊपर से नहीं समझा किन्तु मनन से समझा यही बात संहिता में आये हुए मुनि शब्द से कही गई है ॥८॥

**आभास**—ननु भागवतस्य विषयपरत्वे सति नाऽधिकार इति निवृत्तिनिरतो योजितः । स च न भागवतार्थं तथाविधः किन्तु ज्ञानार्थमिति तथा सति ज्ञाने प्रवृत्ति-मात्रस्यैव बाधकत्वाद्यथा लौकिकी प्रवृत्तिस्त्याज्या तथा भक्तिमार्गानुसारिणी भागवत-प्रवृत्तिरपि । तथा च व्यासः स्वकार्यानुरोधेन यद्यपि शुकं योजयति तथापि स कथं स्वकार्यविरोधे प्रवर्तेतेति पृच्छति—

**आभासार्थ**—कहते हैं कि विषयों में पारायण भागवत का अधिकारी नहीं है इसलिए भागवत के प्रचार में निवृत्ति परायण को लगाया परन्तु शुकाचार्य ज्ञान के लिए परमहंस बने थे (निवृत्ति परायण थे) भागवतार्थ के लिए नहीं । ऐसा होने पर ज्ञान में तो सभी प्रकार की प्रवृत्ति बाधक होती है जैसे लौकिकी प्रवृत्ति उसके लिए त्याज्य है वैसे ही भक्तिमार्गानुसारिणी भागवत में प्रवृत्ति भी त्याज्य है । तो व्यासजी ने अपने कार्य के अनुरोध से यद्यपि शुकाचार्य को उस कार्य में लगाया भी तब भी शुक अपने कार्य के विरोधी कार्य में क्यों कर प्रवृत्त होंगे? इसी बात को शौनक पूछते हैं कि—

**शौनक उवाच—श्लोक—स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः ।**
**कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥९॥**

**श्लोकार्थ**—शौनक कहते हैं कि निश्चय ही वे शुकाचार्य निवृत्ति में ही निरत थे, आत्माराम थे और अध्ययन अध्यापनादि सभी कार्यों में उनकी उपेक्षा थी ऐसे शुकाचार्य मुनि ने ग्रन्थ रूप में और अर्थरूप में बड़ी जो यह संहिता है उसका उच्चारण पर्यन्त अध्ययन किसलिए किया ? ॥९॥

**सुबोधिनी—स वै निवृत्तिनिरत इति** । भागवतस्य पाठः प्रवृत्तिरूपः । येनोपनयनवेदाध्ययनं नित्यमपि **परित्यक्तम्** । निवृत्तावेव नियतत्वात् । न च पितुर्भगवतो वाऽनुरोधात्पठतीति वाच्यम् । **फलतो वा स्वरूपतो वा** तदुपकारानपेक्षणात् । यद्यपि ईश्वरगुरूपकाररूपं ज्ञानमपेक्ष्यते तथापि ज्ञानबाधकप्रवृत्तिरूपोपकारं नाऽपेक्ष्यते । तदाह—**सर्वत्रोपेक्षक इति** । न च भ्रमाज्ज्ञानसाधनत्वेन भागवत पाठ इति ? तत्राऽऽह—**मुनिरिति** । मननमेव हि साक्षात्कारे एकवाक्यतयोक्तम् । अतः सम्भावितहेतूनामभावात्कस्य वा हेतोः बृहतीं स्वरूपतोऽर्थतश्च भावसहितार्थावबोधपूर्वकस्वाधीनो-च्चारणपर्यन्तं **कथमभ्यसत्** । न च कौतुकाविष्टचित्तः । आत्मारामत्वात् ॥९॥

**व्याख्यार्थ**—भागवत को पढ़ना प्रवृत्तिरूप है । जिन शुकाचार्य ने निवृत्ति में ही निरत होने से नित्य आवश्यक जो उपनयन वेदाध्ययन है उसे भी छोड़ दिया तो भागवत का अध्ययन उन्होंने

कैसे किया ? यदि कहो कि पिता अथवा भगवान् के अनुरोध से उन्होंने भागवत को पढ़ा किन्तु फल से और स्वरूप से शुकाचार्य को पठन से जो उपकार होता है उसकी अपेक्षा नहीं है तो उन्होंने उसे पढ़ा कैसे ?

यद्यपि ईश्वर और गुरु का उपकार रूप ज्ञान अपेक्षित है अर्थात् ईश्वर और गुरु का उपकार ज्ञानी को भी करना चाहिये परन्तु वह उपकार प्रवृत्तिरूप है इसलिए जो ज्ञान में बाधा डालने वाला है । निवृत्तिमार्गी शुक को अपेक्षित नहीं है । अर्थात् निवृत्ति निरत को ब्रह्मज्ञान में बाधक कोई भी वस्तु अपेक्षित नहीं होती इसी बात को "सर्वत्रोपेक्षक:" से कहा है ।

शङ्का करते हैं कि भागवत भी ज्ञान का साधन है इस भ्रम से श्री शुक ने भागवत को पढ़ा होगा तो उत्तर में कहते हैं कि 'मुनि:" श्री शुकदेव मनन करने वाले थे ऐसे मुनियों को मनन से ही साक्षात्कार होता है ऐसा कहा है । अत: भागवत के पढ़ने में सम्भावित कारणों के नहीं रहने से किस हेतु से स्वरूपत: अर्थत: बड़ी भागवत को भावसहित अर्थावबोधपूर्वक उच्चारण पर्यन्त उन्होंने कैसे पढ़ा ? यदि कहो कि उन्होंने उसे कौतुकाविष्ट चित्त से पढ़ा तो उत्तर देते हैं कि वो आत्मा में ही पूर्ण रूप से रमण करने वाले थे उन्हें कौतुक के लिए दूसरा अपेक्षित ही नहीं है तो कौतुकाविष्ट चित्त होकर पढ़ा यह कहना भी ठीक नहीं है ।।१०।।

**आभास**—अत्रोत्तरमाह—

**आभासार्थ**—इसका उत्तर देते हैं कि—

**सूत उवाच—श्लोक—आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।**
**कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।।१०।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी ने कहा—आत्माराम, मनन करने वाले और अविद्या से रहित भी भगवान् में बिना प्रयोजन के भक्ति करते हैं इस प्रकार के गुण वाले भगवान् हैं ।।१०।।

**सुबोधिनी—आत्मारामाश्चेति** । कौतुकसाधनाविद्यानिवर्तकत्वेन अन्यथासिद्धिर्नास्तीति विशेषणत्रयम् । चकारादन्यैर्न क्रियत इति न । किन्तु तेऽपि कुर्वन्तीत्यलौकिकत्वम् । अपिशब्दाद्भक्तिमार्गस्थिता: । मार्गान्तरस्थस्तु वैकल्याभावात्प्रचारणसमर्थ इति स योजित: । न तु मार्गस्थाभावान्निवृत्तितात्पर्याच्च । **उरुक्रम** इत्यलौकिकसामर्थ्यम् । अलौकिकीं भक्तिं कुर्वन्तीत्यनुवाद: । तत्रोपपत्ति:— **इत्थम्भूतगुणो हरिरिति** । भगवद्गुणा: । प्रवृत्तिरूपा निवृत्तिस्वभावा: । परमानन्दरूपाश्च ज्ञानरूपाश्च । तस्माद्य: कश्चिदत्र कुत्रचिदासक्तो भगवद्गुणेषु रमत एव । सर्वप्रतिकृतिरूपत्वाद्गुणानां ज्ञानवशीकरणस्वभावाच्च ।।१०।।

**व्याख्यार्थ**—विनोद के लिए, साधन सम्पत्ति के लिए तथा अविद्या निवृत्ति के लिए भागवत का पठन होना चाहिये, परन्तु श्री शुक में तीनों प्रयोजन नहीं थे इसी बात को बताने के लिए श्लोक

में आत्मारामाः मुनयः और निर्ग्रन्थाः ये तीन विशेषण दिये हैं । अर्थात् वे आत्मा में ही रमण करने वाले थे इसलिए उन्होंने कौतुक से (विनोद के लिए) पढ़ा यह नहीं कह सकते, मुनि होने से मनन ही करने वाले थे इसलिए अन्य साधन उन्हें अपेक्षित नहीं थे, जीवन्मुक्त होने से वे स्वयं अविद्या से मुक्त थे इसलिए इनके लिए उन्होंने भागवत को पढ़ा यह नहीं कह सकते इसका उत्तर सूतजी देते हैं कि "आत्मारामाश्च" जो आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, मनन करने वाले हैं तथा अविद्या से युक्त हैं वे भी भगवान् में प्रीति करते है इसलिए यह नहीं कह सकते कि–"ऐसे व्यक्ति भक्ति नहीं करते" किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवान् के गुणों का वर्णन करते हैं । आत्मारामाश्च में जो च है वह यह बताता है कि और भी जो हैं वे सब भगवद्गुणगान करते हैं इसलिए भगवान् के गुण अलौकिक हैं ।

श्लोकस्थ "अपि" शब्द का स्वारस्य यह है कि भक्तिमार्ग में स्थित भी भगवान् के गुणों की अपेक्षा रखते हैं ।

शङ्का करते हैं कि यह भागवत संहिता भक्ति पैदा करने वाली है । भक्तिमार्गियों का उसमें आदर है तो उन्हें छोड़कर व्यास ने जीवन्मुक्त शुक को प्रचार के लिए क्यों लगाया ? उत्तर में कहते हैं भक्तिमार्गीय प्रेम मे विभोर हो जाते हैं, वे जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं कर सकते और निवृत्तिमार्गीय (ज्ञानमार्गीय) को वैसी विकलता नहीं होती अतः वह प्रचार करने में समर्थ है इसलिए उन्हें ही (शुकाचार्य को ही) इस कार्य में लगाया । भक्तिमार्गीय न होने मे और निवृत्ति-मार्गीय होने से उन्हें इस कार्य में लगाया ऐसी बात नहीं है किन्तु ऐसे व्यक्ति भगवद्गुणवर्णन करते हुए विकल नहीं होते इसलिए प्रचार करने मे उनके समर्थ होने से उन्हें इसमें लगाया ।

भगवान् 'उरुक्रम' हैं । (उरुक्रम का अर्थ है बड़ा है पाद विक्षेप जिनका) इसलिए उनमें अलौकिक सामर्थ्य है ।

श्लोकस्थ "अहैतुकीं भक्तिं कुर्वन्ति" यह अनुवाद है । वे अलौकिक भक्ति करते हैं । वहां युक्ति देते हैं कि "इत्थम्भूतगुणो हरिः" भगवान् इस प्रकार के गुण वाले हैं ।

यद्यपि भगवान् के गुण प्रवृत्तिरूप हैं तथापि वे निवृत्ति स्वभाव हैं याने वे निवृत्ति का फल देने वाले हैं परमानन्दरूप तथा ज्ञानरूप है इसलिए जो कोई कहीं भी आसक्त हो अर्थात् प्रवृत्ति-मार्गीय हो अथवा निवृत्तिमार्गीय हो परमानन्द एवं ज्ञान चाहने वाले हो वे सब भगवद्गुणों में आनन्दानुभूति करते ही है । भगवद्गुण साँचे की तरह सबके प्रतिकृतिरूप हैं । उन भगवद्गुणों का ज्ञान होने से उनका स्वभाव है कि वे वश में कर लेते हैं ।।१०।।

**आभास**—नन्वस्तु भगवद्गुणानां तादृशत्वम् । ग्रन्थे किमागतमित्यत आह—

**आभासार्थ**- शंका करते हैं कि आत्माराम मुनि एवं अविद्या रहित भी भगवान् के गुणों की ओर आकृष्ट होते हैं इस प्रकार के भगवान् के गुण रहें तो भी इस ग्रन्थ में इससे क्या हुआ ? अर्थात् इस भागवत ग्रन्थ के लिए तुमको क्या कहना है ? इस पर कहते हैं कि—

श्लोक—**हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।**
**अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ।।११।।**

**श्लोकार्थ**—सर्वदा भगवद्भक्त हैं प्यारे जिनको–ऐसे भगवान् शुक ने हरि के गुणों से आकृष्ट बुद्धि हो जाने से इस बड़े भी भागवत आख्यान को पढ़ा ॥११॥

**सुबोधिनी**—**हरेर्गुणाक्षिप्तमतिरिति** । गुणानामनुपनिबद्धानां स्वबुद्ध्या स्मरणे कल्पनया क्लेशः । उपनिबन्धने तु सिद्धत्वात्सुलभं स्मरणमिति भगवद्गुणैर्वशीकृतमतिः सन् । आक्षेपान्नाऽन्यत्र प्रवृत्तिः । **मतिरिति** फलं गृहीतम् । तेनाऽन्यत्र विषयेन्द्रियसंयोगेऽपि न मत्युत्पत्तिरिति भावः । एतज्जीवविचारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु शुको महादेवः । तदाह—**भगवानिति** । कृतिप्रवृत्त्यर्थं विष्णुमहादेवश्चाऽवतीर्णाविति । तदाह —**बादरायणिरिति** । अतो महदप्याख्यानमधीतवान् । नन्वनाहूतः स्वयं गत्वा कथं प्रचारितवान् ? तत्राऽऽह—**नित्यं विष्णुजनप्रिय इति** । **नित्यं विष्णुजनाः** प्रिया **यस्य** । कामः कामिनीमिव भगवद्गुणाः स्वप्रतिष्ठार्थं भक्तं प्रापयन्ति । अतः **सर्वदा ये भगवद्भक्ता** अकृत्रिमनित्यवैष्णवास्ते प्रिया यस्येति । न हि स्नेहः संगे हेत्वन्तरमपेक्षते ॥११॥

**व्याख्यार्थ** - भगवद्गुणों का यदि सिलसिले वार ग्रन्थरूप देकर संग्रह नहीं किया जाता तो श्री शुक को अपनी बुद्धि से उन्हें स्मरण करने में कल्पना करना पड़ती और उससे क्लेश होता और उपनिबद्ध करने पर ग्रन्थ रूप में लिखने पर गुणों के सिद्ध रहने से उनका स्मरण सुलभ हो गया । इसलिए भगवद्गुणों से वश में की गई बुद्धि वाले होते हुए श्री शुक ने इसे पढ़ा । भगवद्गुणों की ओर आकृष्ट बुद्धि होने से और तरफ उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई ।

श्लोकस्थ "मति" पद का अभिप्राय यह है कि विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाला जो ज्ञानरूप फल है उसे भगवद्गुणों ने ग्रहण कर लिया । अर्थात् विषय और इन्द्रिय संयोग से होने वाला जो ज्ञानरूप फल है उसे नहीं होने दिया । इसलिए अन्यत्र विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने पर भी उस ओर उनकी बुद्धि नहीं हुई । यह बात श्री शुक को जीव मान करके कही गई है । वास्तव में "कैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शंकरः" इस कूर्म पुराण के वाक्य से श्री शुक महादेव के अवतार थे । इसी बात को 'भगवान्' यह विशेषण कहता है । गुणों को उपनिबद्ध करने के लिए विष्णु व्यास के रूप में तथा उन गुणों को प्रवृत्ति कराने के लिए महादेव श्री शुक के रूप में अवतीर्ण हुए । इसलिए श्लोक में श्री शुक का बोधक अन्य शब्द न देकर उन कार्यों का सूचक "बादरायणि:" पद दिया है । इसलिए इन्होंने बड़े भी इस भागवतरूप आख्यान को पढ़ा ।

शंका करते हैं कि बिना बुलाये ही स्वयं जाकर श्री शुक ने कैसे प्रचार किया ? इसका उत्तर देते हैं कि "नित्यं विष्णुजनप्रियः" अर्थात् भगवद्भक्त सर्वदा उनको प्यारे हैं जैसे काम कामिनी को प्राप्त करा देता है वैसे ही भगवद्गुण भी विशेष रूप से अपनी स्थिति हो इसके लिए भक्त को मिला देते हैं । अर्थात् भक्त के मिलने से भगवान् के गुणों का वर्णन होता है इसलिए उनकी विशेष रूप से स्थिति रहती है । इसीलिए कहा है कि सर्वदा भगवद्भक्त जो अकृत्रिम नित्य वैष्णव हैं वे ऐसे शुक को प्यारे हैं । स्नेह का स्वभाव है कि वह सङ्ग कराने में दूसरे हेतु की अपेक्षा नहीं रखता । अर्थात् स्नेह से ही उनका सङ्ग हो जाया करता है ॥११॥

**आभास**—एवं भागवतस्योत्पत्तिप्रवृत्ती निरूप्य श्रोतुः सर्वथा भगवदीयत्वाभावे न प्रतिष्ठितं भवेदिति गर्भसंस्कारमारभ्य भगवतैव स्वतेजसा परिपालित इति वक्तुं

पूर्वरूपस्य ब्रह्मास्त्रेण दाहं निरूपयितुं तादर्थ्यमपि वैष्णव एवेति तेषां पाण्डवानां सन्तत्यन्तरस्य दाहं निरूपयन् प्रकृतस्य दाहहेतुमाह—**परीक्षितोऽथे**त्यारभ्य यावदध्याय-समाप्ति। अश्वत्थाम्नो महदपमाननं हेतुः। पुत्रान्तरदाहस्तूभयत्र। संरक्षायामपमानने च। अपृष्टं नोच्यत इति पृष्टमनूद्य प्रतिजानीते—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भागवत की उत्पत्ति और प्रवृत्ति निरूपण कर, इसका श्रोता यदि सर्वथा भगवदीय न होगा तो इसकी (भागवत की) स्थिति नहीं होगी इसलिए गर्भ के संस्कार से लेकर भगवान् ने अपने तेज से पालन किया इस बात को कहने के लिए तथा परीक्षित का जो गर्भ स्थित पूर्व देह था उसका ब्रह्मास्त्र से दाह निरूपण करने के लिए इस प्रकार का परिपालन परीक्षित वैष्णव ही है इस बात को बताता है।[1] अतः पाण्डवों की दूसरी सन्ततियों का दाह निरूपण करते हुए प्रकृत बात परीक्षित के दाह का कारण है इसको परीक्षितोऽथ राजर्षे से लेकर अध्याय समाप्ति तक कहते हैं। परीक्षित को ब्रह्मास्त्र से जलाने में अश्वत्थामा का बड़ा अपमान होना ही कारण है।

द्रौपदी के दूसरे पुत्रों का दाह परीक्षित की रक्षा में तथा अश्वत्थामा के अपमान में कारण है।

सूतजी बिना पूछे कोई बात नहीं कह सकते इसलिए वे स्वयं प्रष्टव्य का अनुवाद करके उसके दाह जन्म आदि का हेतु कहने की प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् कहते हैं—

श्लोक—**परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्म कर्म विलायनम्।**
**संस्थाञ्च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम्॥१२॥**

**श्लोकार्थ**—इसके बाद राजर्षि परीक्षित का जन्म कर्म देहत्याग प्रकार और युधिष्ठिर आदि का महा प्रस्थान का वर्णन करूंगा जिसमें कि कृष्णकथा का उदय है॥१२॥

**सुबोधिनी- परीक्षित इति**। अथ भागवतनिरूपणानन्तरं तच्छ्रोतुः परीक्षितो बीजसंस्कारार्थं जन्म। कर्म धर्मरक्षार्थम्। भगवत्कार्यकरणात्। विलायनं भागवतश्रवणार्थं पुरुषत्रयशुद्ध्यर्थमप्रति-बन्धार्थं च। संस्थां पाण्डुपुत्राणां प्रथमत एव। चकाराद्धृतराष्ट्रस्यापि। अमुक्तत्वान्न सहोक्तिः। प्रतिबन्धकत्वं "भ्रातृणामेकजातानामि" त्यभिप्रायेण। मुक्तावप्यतिदेशाच्चकारेण ग्रहणम्। अत एव पाण्डुपुत्राणामित्युक्तं न पाण्डवानाम्। कृष्णकथाप्रतिपादकत्वादेतेषां वचनम्। अन्यथा त्वसङ्गतिः। तदाह—**कृष्णकथेति**। कृष्णकथाया उदयो यत्रेति। न हीयं भगवतः स्वतश्चरित्ररूपा किन्तु नैमित्तिकी। अतो हेतुनिमित्त स्वरूपोपकारिहेतुरिति तन्निरूप्यत इति भावः॥१२॥

---

१ श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि श्री सुबो. में तादर्थ्यम् न होकर तावदर्थ्यम् ऐसा पाठ मानना चाहिये।

**व्याख्यार्थ**— अब भागवत के निरूपण के बाद उसके श्रोता परीक्षित का बीज रूप में ही संस्कार हो गया इसलिए उसके जन्म का वर्णन करूंगा। धर्म रक्षा भगवान् का कार्य है उस कार्य को परीक्षित ने किया याने परीक्षित ने कलि निग्रह कर धर्म रक्षा की इसलिए उसके कर्मों का भी निरूपण करूंगा और भागवत सुनने के लिए पूर्व तीन पुरुषों की शुद्धि होनो चाहिये उसके लिए।

और किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं हुआ इसके लिए परीक्षित के देह त्याग का वर्णन करूंगा इससे पहले पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर आदि के देह त्याग का प्रकार अथवा अच्छे रूप में उनकी स्थिति रही इस प्रकार को कहूंगा।

श्लोकस्थ "च" से धृतराष्ट्र भी लिया गया है अर्थात् धृतराष्ट्र ने देह त्याग किया यह भी वर्णन करूंगा किन्तु पाण्डवों के साथ श्लोक में उसका निर्देश इसलिए नहीं किया गया है क्योंकि धृतराष्ट्र की पाण्डवों के साथ मुक्ति नहीं हुई। पाण्डु पुत्रों की मुक्ति में प्रतिबन्धकता इसलिए थी कि वे एक माता पिता से पैदा नहीं हुए थे। धर्मशास्त्र में कहा है कि "भ्रान्दणामेक जातानामेक-श्चेत्पुत्रवान् भवेत्" अर्थात् एक माता पिता से पैदा हुए भाइयों में एक के भी यदि पुत्र हो गया तो सब पुत्रवान कहलाते हैं। यहाँ पाण्डवों की माताओं के भिन्न-भिन्न होने से एक जात न होने के कारण मुक्ति नहीं हो सकती थी तो कहते हैं कि माता भले ही भिन्न-भिन्न हो पिता एक होने से वे एक जात कहलाये और एक के पुत्र होने से सभी पुत्र वाले हुए जिससे कि सबकी मुक्ति हुई।

श्लोकस्थ 'च" से मुक्ति भी यहां ली गई है। तात्पर्य यह है कि श्लोकस्थ च से पाण्डवों की सम्यक् स्थिति देह त्याग प्रकार को और उनकी मुक्ति का भी मैं वर्णन करूंगा। श्लोक में "पाण्डुपुत्राणाम्" पाण्डुपुत्रों को ऐसा कहा है। पुत्र वही कहलाते हैं जो मुक्ति कराने वाले होते हैं तो पाण्डुपुत्र शब्द जो है वह यह कहता है कि पुत्र होने से वे पाण्डु को मुक्ति देने वाले हैं इसलिए यहां पाण्डुपुत्राणाम् दिया है पाण्डवानाम् नहीं दिया।

पाण्डुपुत्रों का वर्णन इसलिए है कि उसमें कृष्णकथा का प्रतिपादन है। बिना पूछे हो सूतजी का यह कहना ठीक नहीं कि मैं पाण्डुपुत्रों के महा प्रस्थान को कहूंगा क्योंकि वो पूछा ही नहीं गया परन्तु उन पाण्डुपुत्रों के वर्णन में भगवत्कथा भो आती है इसलिए सङ्गति हो जाती है। इसी बात को "कृष्ण कथोऽदयाम्" से कहा है। अर्थात् पाण्डुपुत्रों की कथा में भगवत्कथा भी आती हैं इसलिए उससे कृष्णकथा का उदय होगा।

यद्यपि पाण्डुपुत्रों की कथा भगवान् का स्वत: चरित्र रूप नहीं है किन्तु किसो निमित्त से पाण्डुपुत्रों की रक्षा के लिए उसका वर्णन है इसलिए वह भगवत्स्वरूपोषकारी हेतु रूप है इसलिए उसका निरूपण किया जाता है ॥१२॥

**आभास—** तत्र पुत्रान्तराणां मारणं वक्तुं हेतुमाह—

**आभासार्थ**— अब दूसरे पुत्रों को मारने का वर्णन करने के लिए कारण कहते हैं—

श्लोक—**यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।**
**वृकोदराविद्धगदाभिमर्षभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**—जब कौरव और सृञ्जयों के युद्ध में वीरों के मुक्त होने पर भीम से चलाई गई गदा के आघात से धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन के उरु दण्डों के भग्न होने पर ।।१३।।

**सुबोधिनी— यदा मृध इति ।** सृञ्जयवंशोत्पन्नो धृष्टद्युम्नः पाण्डवानां चमूपतिरिति स्वतः पाण्डवानां कौरवत्वेऽपि विरोधनिमित्तं द्रौपदीति पाण्डवानां धृष्टद्युम्नप्रवेशादयुक्तपरिहाराय च सृञ्जयानामित्युक्तम् । तेषां सम्बन्धिनां च मुक्तिरिति निरूपयति— **वीरगतिमिति । "द्वौ सम्मताविहमृत्यू"** इति वाक्यात् । अनेन पुत्राणामेवाऽन्यायमरणमिति शोकहेतुः सूचितः । **अथो इति** मध्ये भिन्नप्रक्रमवचनात् **"पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्ये"**ति च निरूपितम् । **दुर्योधनस्याऽयुक्तमरणमाह— वृकोदरेति । "वृको दशविधः प्राण उदरे यस्य तिष्ठति । स वृकोदर इत्युक्तो भगवत्कार्यसाधक" इति** वाक्याद्भीमेन प्रक्षिप्तगदाया अभिमर्षणेन भग्ने ऊरू एव दण्डे यस्य । **दण्ड इति** ताडनहेतुः । द्रौपद्याः प्रदर्शनेन दुःखजनकत्वात् । **धृतराष्ट्रपुत्र** इत्यन्धपुत्रत्वादविवेकित्वमुक्तम् ।।१३।।

**व्याख्यार्थ**—सजय वंश में पैदा हुआ धृष्टद्युम्न पाण्डवों का सेनापति था इसलिए पाण्डवों के स्वतः कौरव होने पर भी विरोध का कारण द्रोपदी थी इसलिए पाण्डवों में धृष्टद्युम्न ने प्रवेश किया । यदि श्लोक में 'सृञ्जयानाम्' यह पद न देते तो भाई भाइयों में लड़ना युक्त नहीं था क्योंकि दोनों कुरुवंश के थे अतः इस अयुक्तता को मिटाने के लिए सृञ्जयानाम् कहा ।

कौरव सृञ्जयों की तथा उनके वीरों की मुक्ति हुई इस बात को 'वीरगतिम्' से कहते हैं । यहां "द्वौ सम्मताविह मृत्युः" दो ही मृत्यु अच्छी समझी गई है । पहली योग के द्वारा देह छोड़ना और दूसरी रण में लड़ते हुए देह को छोड़ना । इससे यह सूचित हुआ कि द्रोपदो के पुत्रों का इन दोनों प्रकार से मरण न होने से उनका मरण शोक का कारण बना । अर्थात् वो लड़ते हुए नहीं मरे तथा योग के द्वारा नहीं मरे इसलिए वे लड़के द्रोपदी के शोक का कारण बने ।

मध्य में दिया गया 'अथो' शब्द भिन्न प्रक्रम को बताता है । अर्थात् "पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ।" अर्जुन के अस्त्र से मारे गये भी भगवान् के चरणारविन्दों को प्राप्त हुए ।

दुर्योधन का अयुक्त मरण हुआ यह "वृकोदराविद्धगदाभिमर्ष" से कह रहे हैं । वृकोदर शब्द का अर्थ यह है कि वृक[1] याने दश प्रकार का प्राण है उदर में जिसके वह वृकोदर है और वह वृकोदर भगवान् के कार्य को करने वाला है । इससे महाबली भीम से चलाई गई गदा के मारने से भग्न हो गये हैं उरुदण्ड जिसके । जंघाओं को दण्ड कहकर यहां यह बताया है कि दण्ड ताडन के लिए होता है और ताडन से दुःख होता है । द्रोपदी को दुर्योधन ने बैठने के लिए अपनी जांघ बताई इसलिए एक प्रकार से वह जांघ दुःख देने वाली होकर ताडन का कारण बनी । अर्थात् जांघ ही उसको नष्ट करने वाली बनी ।

---

१ वृकोदशविधः प्रातः उदरे यस्य तिष्ठति । स वृकोदर इत्युक्तः भगवत्कार्य साधकः ।

यहां दुर्योधन न कहकर धृतराष्ट्र पुत्र कहा है इसका मतलब यह है कि धृतराष्ट्र अन्धे थे इसलिए अन्धे का पुत्र होने से दुर्योधन भी अविवेकी था। अर्थात् धृतराष्ट्र बाहर से अन्धा था और दुर्योधन भीतर से अन्धा था ।।१३।।

**आभास**—अत एव तत्सेवकोऽप्यविवेकी जात इत्याह —

**आभासार्थ**—मालिक के (दुर्योधन के) अविवेकी होने से उसका सेवक अश्वत्थामा भी अविवेकी हुआ इसी बात को कहते हैं—

**श्लोक—भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन्कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि ।**
**उपाहरद्विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ।।१४।।**

**श्लोकार्थ**—अश्वत्थामा अपने स्वामी दुर्योधन का इसी रूप में प्रिय होगा ऐसा विचारता हुआ सोते हुए द्रौपदी पुत्रों के मस्तकों को काटकर दुर्योधन के सामने लाकर रखे। दुर्योधन को यह प्रिय नहीं लगा। क्योंकि जुगुप्सित कर्म की सभी निन्दा करते हैं ।।१४।।

**सुबोधिनी—भर्तुरिति** । **द्रौणिरिति** वैरानुबन्धे मूलहेतुः । मातृपुत्रत्वात्स्वापः । अनेकपुत्रत्वान्मातुर्ग्रहणम् । अत एव भगवता वंशार्थं ते न रक्षिताः । कृष्णा द्रौपदी । प्रसवमात्रं तस्या नोद्धार इति—**सुतानामिति** । कृष्णेति पदं—**"यो यच्छ्रद्धः स एव स"** इति वाक्यात्तद्भावापत्ति सूचयति । प्रदर्शनार्थं शिरसामुपाहरणम् । तेनाऽर्द्धदाहादतिदुःखम् । दुर्योधनस्याऽपि न तन्मारणमभीष्टम् । लोकवाच्यता न दुर्योधने स्थिता । इदं तु लोका विगर्हयन्तीति तदाह—**विप्रियमिति** ।१४।

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्थ 'द्रौणि' पद से यह सूचित होता है कि धृष्टद्युम्न ने अपने पिता द्रोणाचार्य को मारा था इसलिए अश्वत्थामा के वैर रखने का यही मूल कारण हुआ। माता के छोटे-छोटे बच्चे थे, इसलिए वे सो रहे थे। पाण्डवों के अनेक पुत्र थे किन्तु उन्हें न मारकर द्रौपदी के ही बच्चों को उसने मारा यह बताने के लिए "कृष्णा" पद दिया गया है। द्रौपदी के स्वभाव आदि में विशेष रूप से वे बच्चे अनुरूप थे इसलिए भगवान् ने पाण्डवों का वंश चलाने के लिए उनकी रक्षा नहीं की। माता को जाने वाला सन्तान साहसी एवं बलवान नहीं होगा। श्लोक में आये कृष्णा का अर्थ है द्रौपदी। 'सुत' पद का अर्थ है पैदा होने वाले। अर्थात् वे नरक से बचाने वाले 'पुत्र' संज्ञक नहीं थे इसलिए पुत्र शब्द न देकर सुत पद दिया है।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः" इस वाक्य से अर्थात् जो जिस पर श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है। द्रोपदी की भगवान् में ही श्रद्धा थी इसलिए द्रोपदी भी कृष्ण रूप बन गई थी। एतदर्थ द्रोपदी के लिए "कृष्णा" पद दिया गया है।

अश्वत्थामा दुर्योधन को दिखाने के लिए उन बच्चों के मस्तकों को ले गया इसलिए उनका धड़ मात्र जलाने से उन बच्चों का अर्द्ध दाह ही हुआ मस्तक रहित शरीर का दाह हुआ जिससे

द्रोपदी को अति दुःख हुआ। दुर्योधन को भी उन बच्चों का मारना अभीष्ट नहीं था। दुर्योधन लोकापवाद हो इस प्रकार के कार्य नहीं करता था और इस कार्य की तो लोक निन्दा करते हैं। इसीलिए अश्वत्थामा का यह कार्य उसे प्रिय नहीं लगा इसी बात को सूचित करने के लिए "विप्रियम्" कहा ।।१४।।

श्लोक —**माता सुतानां निधनं शिशूनां निशम्य घोरं परितप्यमाना ।**
**तदाऽरुदद्वाष्पकलाऽऽकुलाक्षी तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ।।१५।।**

**श्लोकार्थ**—माता द्रोपदी अपने से पैदा हुए छोटे बच्चों का दुस्सह मरण सुन कर संतप्त हुई। इसीलिए आँसुओं से व्याप्त नेत्र वाली द्रोपदी रोई। उसको सांत्वना देता हुआ अर्जुन बोला ।।१५।।

**सुबोधिनी**—माता द्रौपदी। रोदने मातृत्वमेव हेतुः। **शिशूनामिति** स्नेहाधिक्यम्। श्रवणादधिकक्लेशः। **घोरमिति** रात्रौ सौषुप्तिकपर्वकथा सूचिता। यदा अरुदत्तदा तां सान्त्वयन्निति सम्बन्धः। किरीटमाली अर्जुनः। एकस्मिन्नपि किरीटे किरीटबाहुल्यप्रतीतिः। बहुपुरुषवद्युद्धकरणाद्वेगाद्वा। स्त्रीवशा अपि भक्ता भगवता परिपाल्यन्त इत्यर्जुनस्य प्रतिज्ञामाह। अथवा। तां सान्त्वयन्निति वचनान्न यथार्थत्वं प्रतिज्ञायाः ।।१५।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्थ "माता" पद से यहां द्रोपदी ली गई है। उसका मातृत्व ही रोदन में कारण बना। अर्थात् वह माता थी इसलिए रोई। छोटे बच्चे थे इसलिए उसका उनमें अधिक स्नेह था। सुनने से उसे अधिक क्लेश हुआ।

श्लोकस्थ "घोरम्" पद से रात्रि में यह काण्ड हुआ यह बताया। इससे महाभारत की सौषुप्तिक पर्व की कथा सूचित हुई।

"यदा" यह ऊपर से आक्षिप्त करके "यदा असदत् तदा तां सान्त्वयन्" ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये। क्योंकि यत्तदोर्नित्य सम्बन्धः के अनुसार जब तक यदा नहीं आवे तब तक तदा नहीं आ सकता अर्थात् जब वह रोई तब उसको सान्त्वना देते हुए "किरीटमाली" अर्जुन ने।

श्लोकस्थ 'किरीटमाली" का तात्पर्य यह है कि उसके इस एक मुकुट में बहुत से मुकुटों का आभास होता था। वह एक होते हुए भी बहुत पुरुषों की तरह युद्ध करता था इसलिए अथवा वेग से युद्ध करता था। इसलिए भी एक मुकुट में अनेक मुकुटों का आभास होता था। अतएव अर्जुन को मुकुटों की माला वाला कहा गया है।

स्त्री के वश में रहने वाले भक्तों का भगवान् परिपालन करते हैं। प्रकृत में इस वाक्य का समन्वय इस प्रकार है। अर्जुन द्रोपदी के वश था तो भी भगवान् ने उसकी चारों ओर से रक्षा की इसी बात को सूचित करने के लिए अर्जुन की प्रतिज्ञा को कहते हैं। अथवा "तां सान्त्वयन्" के कहने से अर्जुन ने उसे सान्त्वना देने के लिए ही प्रतिज्ञा की यथार्थरूप से नहीं। जैसे कोई झूठी बात कहकर भी कदाचित् सान्त्वना दे देता है। इसलिए आगे की कथा से विरोध नहीं हुआ। अर्थात् मस्तक काटने की प्रतिज्ञा को यथार्थन कर सका ।।१५।।

**आभास**—शोकापनोदनं स्त्रिया भर्त्रा करणीयम् । तत्र तूष्णीमश्रुप्रोञ्छनमशक्तविषयम् । अप्रतीकार्ये च । तत्र मृतानां जीवनमशक्यं मारकवधस्तु शक्य इति तत्कृत्वा तत्राऽश्रुप्रोञ्छनं कर्तव्यमित्याह—

**आभासार्थ**—स्त्री का शोक पति को मिटाना चाहिये । चुपचाप आँसू पोंछ लेना असमर्थ का काम है जो असमर्थ होता है उससे किसी का प्रतिकार नहीं होता । अत: वह काम ही समझा लेता है । बाहर किसी से झगड़ा नहीं करता और जिसका प्रतिकार नहीं होता वहां भी चुप रहा जाता ऐसी स्थिति में भी झगड़ा मोल न लेकर घर में ही समझा जाता है । तो इस जगह मरे हुए सुतों का (पुत्रों का) जीवित होना तो अशक्य है, मारने वाले को मारा जा सकता है इसलिए उसे मार कर तेरे आँसू पोछूंगा इसो बात को कहते हैं—

श्लोक—**तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः ।**
**गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाक्रम्य यत्स्नास्यसि दग्धपुत्रा ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**—हे शुभ लक्षणे द्रौपदी ! जब गाण्डीव धनुष से छोड़े गये बाणों से जिसमें कि ब्राह्मण्य आता जाता रहता है ऐसे ब्राह्मणाधम आततायी अश्वत्थामा के सिर को काटकर तेरे पास लाऊंगा और उसको नीचे रखकर जिसके पुत्रों का दाह संस्कार हो गया ऐसी तू जब स्नान करेगी तब तेरे शोकाश्रु पोछूंगा ।।१६।।

**सुबोधिनी**– **तदेति** । क्रूरे हि क्रूरमश्रु प्रोञ्छयते । **शुच इति** । शोकाश्रूणि । पुनरनुद्गमाय हेतुशब्दवाच्यता । ननु विपरीते किमुत्तरम् ? तत्राऽऽह— **भद्रे इति** । तव वैधव्यलक्षणाभावान्न तथा भविष्यतीति **भाव:** । **ब्रह्मबन्धोरिति** । ब्रह्म ब्राह्मणजाति: । बन्धुरेव कदाचिदागच्छति कदाचिन्नेति न सदा तस्य ब्राह्मण्यं तिष्ठति । देवविरोधित्वादसुरावेशाच्च । **"दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मण: । असुर्य: शूद्र"** इति श्रुते: । किञ्च । **आततायिन:** । **'अग्निदो गरदश्चे"** ति वाक्यात्—**"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेदि"**ति स्मृतेश्च न तद्वधे दोष: । बाणैरेव च्छित्वा समानयनं न स्पर्श: । दुष्टत्वात् । तथा करणे सामर्थ्यमाह—**गाण्डीवमुक्तैरिति** । शिर आक्रम्य स्नानं क्षत्रियधर्मत्वेन वैरनिर्यातन उक्तम् । **दग्धपुत्रेति** । सौषुप्तिक एव दाह: संस्कारदाहो वा । प्रथम: शोकाधिक्यहेतु: । द्वितीय: स्नानहेतु: । यदा स्नास्यसि तदा शुच: प्रमृजामीति सम्बन्ध: । क्षत्रियत्वान्नाऽन्यवत्स्वभावत: शोक: । कामपराणामेव तन्न क्रोधपराणाम् ।।१६।।

**व्याख्यार्थ**—क्रूर कार्य में क्रूर रूप से ही आँसू पोंछे जाते हैं । श्लोक में जो 'शुच.' पद है उसका अर्थ है शोकाश्रु । अर्थात् तब शोक के आँसू पोछूंगा जब बाणों से आश्वत्थामा का मस्तक लाकर उस पर तुम्हें बैठाकर स्नान कराऊंगा । अर्थात् उस हेतु बने अश्वत्थामा को ही नष्ट कर दूंगा तो उसके कारण तेरे फिर आँसू नहीं आयेंगे । यदि तू कहे कि तुम ही मर जाओगे तो क्या होगा तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि तू 'भद्रे' शुभ लक्षण वाली है । तेरे में विधवा होने के लक्षण नहीं हैं इसलिए मैं नहीं मरूंगा ।

वह अश्वत्थामा ब्रह्मबन्धु है । यहां ब्रह्म से ब्राह्मण जाति (ब्राह्मण्य) ली गई है। बन्धु शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे बन्धु कभी कार्यवश आता है और चला जाता है । इसी प्रकार ब्राह्मण जाति भी अश्वत्थामा में कभी आती थी और कभी चली जाती थी । इसमें सदा ब्राह्मण जाति नहीं रहती थी क्योंकि यह देवताओं का अथवा देवजीवों का विरोधी धर्म और आसुरावेशी था। ब्राह्मण देववर्ण और आसुरवर्णावेशी शूद्र हैं । जैसा कि श्रुति में 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्यः शूद्रः' यह कहा है । तात्पर्य यह है कि अश्वत्थामा कभी ब्राह्मण के जैसा कार्य और कभी अतिहीन शूद्र जैसा कार्य करता था और "अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः क्षेत्र दारापहारी च षडेतेह्याततायिनः।" अर्थात् आग लगाने वाला, विष देने वाला, मारने के लिए शस्त्र जिसके हाथ में हो, धन का अपहरण करने वाला और खेत व स्त्री को अपहरण करने वाला । ये छः आततायी हैं इस वाक्य के अनुसार यह अश्वत्थामा आततायी है । श्रुति में कहा है कि– 'आततायिन मायान्तमपि वेदान्त पारगम् । जिघांसन्तं जिघांसी यान्नतेन ब्रह्महा भवेत्" वेदान्त में पारङ्गत हो तो भी मारने की इच्छा रखने वाले आततायी ब्राह्मण को भी मार देना चाहिये । ऐसे आततायी ब्राह्मण को मारने पर भी वह ब्रह्महत्या करने वाला नहीं समझा जाता । इसलिए उस अश्वत्थामा के मारने में कोई दोष नहीं है । बाणों से ही काटकर मैं उसे लाऊंगा । बाणों से दूर से ही मारा जा सकता है । इसलिए बाणों से मारने के कारण मेरा उससे स्पर्श नहीं होगा । क्योंकि वह दुष्ट है । दुष्टों का स्पर्श नहीं करना चाहिये । दुष्ट के स्पर्श करने से स्वयं में भी दोष आते हैं । ऐसा कार्य करने में सामर्थ्य कहते हैं "गाण्डीवमुक्तैः" गाण्डीव से छूटे हुए बाण यह सब कर सकते हैं ।

शत्रु के सिर को आसक्त बनाकर स्नान करना वैर निकालने में क्षत्रियधर्म बताया गया है । श्लोक में 'दग्धपुत्रा' कहा है इसका अभिप्राय दो तरह से है । सोते हुए बच्चों को जला दिया गया अथवा दाह संस्कार कर दिया गया ।

यदि अश्वत्थामा ने सोते हुए बच्चों को जला दिया ऐसा अभिप्राय लेते हैं तो यह बात अधिक शोक होने में कारण है और यदि दाह संस्कार किया गया तो वह स्नान का कारण है । जब तू स्नान करेगी तब तेरे शोक के आँसू पोछूंगा ऐसा श्लोक का सम्बन्ध है ।

प्रायः क्षत्री क्रोधी होते हैं । क्षत्रिय होने से दूसरे की तरह स्वभावतः उन्हें शोक नहीं होता, क्योंकि शोक जो है वह काम परायणों को होता है क्रोध परायणों को नहीं । अर्थात् क्रोधी को शोक नहीं होता ।।१६।।

श्लोक—**इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः स सान्त्वयित्वाऽच्युतमित्रसूतः ।**

**अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ।।१७।।**

**श्लोकार्थ**—मित्र एवं सारथी श्रीकृष्ण से युक्त उग्र धनुष वाला कपिध्वज वह अर्जुन इस प्रकार मनोहर और विचित्र वाक्यों से प्रिया द्रोपदी को सांत्वना देकर कवच को बांधता हुआ रथ से गुरु पुत्र अश्वत्थामा के पीछे भागा ।।१७।।

**सुबोधिनी**—एवं कथने हेतुः—**प्रियामिति** । वल्गु मनोहरम्-आक्रम्य स्नास्यसीति । विचित्रम्—विशिखैरुपाहर इति । **जल्पैरिति** स्त्रैणवाक्यम् । ततस्या अपि क्षत्रियत्वात्सम्यक्सान्त्वनम् । एतादृशकार्यसिद्धौ हेतुः—**अच्युतमित्रसूत इति** । अच्युतस्य मित्रमप्यच्युतमेव । तेन स्वरक्षा । सूतत्वात्कार्यसिद्धिः । अनु पश्चादाद्रवण पलायनशङ्कया । पश्चादेव कवचपरिधानं धनुषश्च ग्रहणम् । धनुष उग्रत्वं वधपर्यवसायित्वात् । **कपिध्वज** इत्यतिसामर्थ्यं सूचितम् । अथवा । **दंशित इति** स्वरक्षा । उग्रत्वाद्धनुषः । कपिध्वजत्वाद्रथस्य । **गुरुपुत्रमित्यनर्थपर्यवसायित्वम्** । **रथेनेति** न स्वा शक्तिः ।।१७।।

**व्याख्यार्थ** - द्रोपदी प्यारी थी इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से अर्जुन ने उससे कहा । अश्वत्थामा का मस्तक नोचे रखकर तू स्नान करेगो उसके ऐसे वाक्य में मनोहरता थी । "बाणों से काटकर तेरे पास लाऊंगा" इस वाक्य में विचित्रता थी । विचित्र का तात्पर्य यह है कि बाण ही तेरे सामने उनके मस्तक को लाकर रखेंगे । इस विशेष प्रकार के स्त्रैण वाक्यों से स्त्री व भाट जैसे वाक्यों से जो कि क्षत्रिय होने से द्रौपदी को भी भलो प्रकार सांत्वना देने वाले थे उसे सांत्वना दी ।

अश्वत्थामा के सिर काटने के कार्य की सिद्धि में हेतु कहते हैं कि "अच्युतमित्रसूतः" अर्थात् भगवान् में अच्युत होने से किसी प्रकार को च्युति नहीं है उसी तरह अर्जुन में भी किसी प्रकार की च्युति नहीं थी । वह अर्जुन अच्युत का मित्र होने से अच्युत रूप ही था । इसलिए वो अपनी रक्षा कर सकता था । श्री सुबोधिनी में आये स्वरक्षा पद से अपनो धनुष की और रथ की रक्षा कही गई है । अच्युत भगवान् सारथो (मार्गदर्शक) है इसलिए कार्य सिद्धि होगी हो । अश्वत्थामा भाग न जाय इसलिए अर्जुन उसके पीछे-पीछे भागा । भागते हुए ही कवच पहिना और धनुष को लिया । वह धनुष उग्र इसलिए था कि उससे छूटे हुए बाणों से सामने वाले को मौत जरूर ही जाती थी । वह अर्जुन कपिध्वज था याने उसके रथ को ध्वजा में हनुमानजी थे इसलिए वह अतिसामर्थ्य वाला था । अथवा कवच धारण करने से अपनी रक्षा हुई । धनुष के उग्र होने से धनुष को रक्षा हुई और हनुमानजी के ध्वजा में होने से रथ की रक्षा हुई । गुरुपुत्रं पद से यह तात्पर्य मालूम होता है कि गुरु पुत्र गुरु के समान होता है उसको मारने से पर्यवासन में अनर्थ हो होगा अथवा गुरु पुत्र होने से वह धनुर्विद्या आदि में अर्जुन को अपेक्षा अधिक निपुण है इसलिए पयवासन में अनथ हो सकता है । श्लोक में रथेन् कहा है इसलिए अर्जुन की अपनी शक्ति उसके पोछे दौड़ने की न होने से रथ में बैठ कर उसके पोछे दौड़ा यह कहा गया ।।१७।।

श्लोक—**तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात्कुमारहोद्विग्नमना रथेन ।**
**पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावद्गमं रुद्रभयाद्यथाऽर्कः ।।१८।।**

**श्लोकार्थ**—उस अर्जुन को पीछे दौड़ते हुए दूर से देखकर अद्विग्नमन वाला जीने की इच्छा रखने वाला बालघाती वह अश्वत्थामा जहां तक जाया जा सकता है उतना पृथ्वी पर रथ से महादेवजी के भय से जैसे सूर्य दौड़ा था उसी तरह दौड़ा ।।१८।

**सुबोधिनी**—दृष्टेऽपि न गतिर्मन्दा जाता । ततो वधपर्यन्तपायित्वं ज्ञातम् । तदाह—**आपतन्तमिति** । सापराधत्वाद्दूरादेव दर्शनम् । क्षत्रियधर्माश्रितस्य युद्धोपस्थितौ प्रोत्साहो भवति । बालकवधात्तस्य पापेन मनस उद्वेगः। युद्धसाधनं रथः पलायनसाधन जात इति **रथेनेत्युक्तम्** । पलायने हेतुः-**प्राणपरीप्सुरिति** । येषां रक्षणार्थं नीचसेवा, पितृवधः, अन्यायकरणं चाऽङ्गीकृतं तेषां **रक्षार्थं** पलायनं किमाश्चर्यमिति । उर्व्यां यावद्गन्तुं शक्यते । यावन्नद्यादिकं न व्यवधायि । योग-मन्त्रादिना लोकान्तरगमनेऽपि निस्तारो न भविष्यतीति दृष्टान्तमाह-**रुद्रभयाद्यथाऽर्क इति** । यथाऽर्को-विद्युन्मालिनिराकरणे कृते स्वभक्तत्वाद्रुद्रस्य क्रोधो जातः । ततः शूलमुद्यम्य अर्कवधार्थं प्रवृत्तः । ततोऽर्कः पलायमानो भूमौ पतितः काश्यां लोलार्कसंज्ञो जातः । तथाऽयमपि लोकान्तरेऽपि परिभ्रमन् पतेत् । अतो भूमावेव यावद्गन्तुं शक्यते तावत्पलायितवानित्यर्थः ।।१८।।

**व्याख्यार्थ**—अश्वत्थामा को देखने पर भी अर्जुन की गति मन्द नहीं हुई । तब अश्वत्थामा ने समझ लिया कि यह मारने के लिए ही आ रहा है । यही बात "आपतन्तम्" से कही है ।

अश्वत्थामा अपराधी था इसलिए चौकन्ना होने के कारण उसने दूर से ही अर्जुन को देख लिया । जो क्षत्रियधर्म को स्वीकार करता है उसे युद्ध के उपस्थित होने पर प्रोत्साह होना है । परन्तु बालकों को मारने से पाप से उसके मन में उद्वेग हो गया । युद्ध का साधन जो रथ है वह भागने का साधन बन गया अर्थात् जिस रथ का उपयोग युद्ध के लिए किया जाता है उस रथ का उपयोग उसने भाग जाने के लिए किया । इसी बात को "रथेन" से कहा है ।

भागने में कारण कहते हैं कि "प्राणपरीप्सुः" वह प्राणों की रक्षा करना चाहता था । जिन प्राणों की रक्षा के लिए उसने नीच दुर्योधन की सेवा, पिता द्रोणाचार्य का वध और अन्याय करना अंगीकार किया था उनके प्राणों की रक्षा के लिए भागना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी ।

पृथ्वी पर जहाँ तक दौड़ा जा सकता था याने जहाँ तक नदी आदि बीच में नहीं पड़ी वहाँ तक वह भागा । "योग और मन्त्रादि के द्वारा दूसरे लोक में (स्वर्गादि में) जाने पर भी उसकी रक्षा नहीं हो सकती थी" इसमें द्रष्टान्त कहते हैं । जैसे रुद्र भक्त विद्युन्माली राक्षस के गिरा देने पर रुद्र महादेव को क्रोध हुआ तब त्रिशूल को उठाकर महादेवजी सूर्य को मारने के लिए प्रवृत्त हुए । सूर्य दौड़ता हुआ पृथ्वी पर गिरा और काशी में लोलार्क नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इस प्रसङ्ग की वामन पुराण में इस प्रकार की कथा है कि-"विद्युन्माली नाम का कोई राक्षस महादेवजी का भक्त था । महदेवजी ने उसे सोने का विमान दिया । उसके बाद उसने सूर्य के पीछे दौड़ते हुए अपने विमान की कान्ति से रात्रि को नहीं होने दिया । तब सूर्य ने अपने तेज से उस विमान को पिघलाकर गिरा दिया । यह बात सुनकर महादेवजी क्रुद्ध हुए और त्रिशूल उठाकर सूर्य के पीछे दौड़े । सूर्य दौड़ा और महादेवजी की क्रूर दृष्टि से दग्ध होता हुआ काशी में पड़ा और "लोलार्क" नाम से प्रसिद्ध हुआ ।"

इसी तरह अश्वत्थामा भी अर्जुन के भय से यदि दूसरे लोक में जाय तो उसी तरह गिर सकता था । अत. पृथ्वी पर जितना भागा जा सकता था उतना वह भाग गया ।।१८।।

श्लोक—**यदाऽशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् ।**
**अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेने आत्मत्राणं द्विजात्मजः ।।१६।।**

**अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः ।**
**अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—ब्राह्मणपुत्र अश्वत्थामा ने जब अपने आपको रक्षकहीन तथा रथ के घोड़ों के थक जाने से पलायन में असमर्थ पाया तब अपने रक्षण का उपाय ब्रह्मास्त्र को माना ।।१६।।

इसके बाद प्राणों पर कष्ट आने पर आचमन कर एकाग्र मन होता हुआ ब्रह्मास्त्र के उपसंहार को नहीं जानते हुए भी उसने उसे चढ़ाया ।।२०।।

**सुबोधिनी**—तदा भयाच्छरणान्वेषणे भगवद्विमुख्येन गच्छतीति कोऽपि महादेवादिर्न शरणम-भूत् । पलायनं च कर्त्तुमशक्तः । अश्वानां श्रान्तत्वात् । तदा ब्रह्मशिरः ब्रह्मास्त्रं आत्मनः शरणं भविष्यतीति ज्ञातवान् । न विद्यते शरणं यस्य सः अशरणः । श्रान्ता वाजिनो यस्य । **आध्यात्मिकं चाऽधिदैवं ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम् । निवर्त्यमनिवर्त्यं च मन्त्रयोः सुप्रतिष्ठितम्** । द्रोणाचार्येणाऽस्मै ब्रह्मास्त्रद्वयं दत्तम् । उपसंहारस्तु न शिक्षितः । शरीरे विद्यमान एव मृत्योः पालयिष्यतीति । इदानी-मस्य उपसंहारज्ञानाभावेऽपि प्रयोगेच्छा द्विजात्मजत्वेनाऽदीर्घदर्शनाज्जाता । ततः पलायनं त्यक्त्वा भिन्नप्रक्रमेण आचमनं विधाय, समाहितः सन् देवता सन्निध्यार्थम् । उपसंहाराज्ञाने सन्धाने लोक-क्षयात्स्वस्य महत्पापं भविष्यतीति ज्ञात्वाऽपि प्राणकृच्छ्र उपस्थिते अयुक्तमप्यापदि कर्त्तव्यमिति बुद्ध्या तत्सन्दधे ।।१६।।२०।।

**व्याख्यार्थ**—तब भय से वह अपना रक्षक ढूंढ रहा था किन्तु भगवद्विमुख होकर वह जा रहा था इसलिए महादेव आदि उसके आश्रय अथवा रक्षक नहीं हुए । वह अश्वत्थामा भागने में इसलिए असमर्थ हुआ कि उसके रथ के घोड़े थक गये थे । तब ब्रह्मास्त्र मेरा आश्रय अथवा रक्षक होगा ऐसा उसने जाना ।

"अशरणम्" का अर्थ है कि जिसका कोई रक्षक नहीं ।

"श्रान्तवाजिनम्" का अर्थ है कि जिसके घोड़े थक गये ।

ब्रह्मास्त्र "आध्यात्मिक" और "आधिदैविक" इस तरह दो प्रकार का है । आध्यात्मिक निवर्त्य (हटाया जा सकने वाला) है और आधिदैविक अनिवर्त्य (नहीं हटाया जा सकने वाला) है और वह दोनों ब्रह्मास्त्र मन्त्रों में सुप्रतिष्ठित हैं । मन्त्रों के द्वारा चलाये जाते हैं । द्रोणाचार्य ने इसे अश्वत्थामा को दोनों आध्यात्मिक व आधिदैविक ब्रह्मास्त्र दिये किन्तु इन दोनों का उपसंहार नहीं सिखाया । अश्वत्थामा ने समझा कि शरीर के रहते हुए ही यह ब्रह्मास्त्र मृत्यु से बचा देगा ।

इस समय इसे उपसंहार का ज्ञान नहीं था तो भी चलाने की इच्छा इसलिए हुई कि वह ब्राह्मण का पुत्र था। ब्राह्मण का पुत्र दूरदर्शी नहीं होता अर्थात् इसका क्या परिणाम होगा उसने यह नहीं सोचा। तब उसने भागना बन्द कर आचमन किया और देवता की सन्निधि हो इसके लिए सावधान हुआ। उपसंहार का ज्ञान न होने पर ब्रह्मास्त्र के चलाने से लोकों का क्षय होगा और उससे अपने को बड़ा भारी पाप लगेगा। इस बात को जानकर भी प्राणों पर कष्ट आने पर आपत्ति में अयुक्त भी करना चाहिये–इस बुद्धि से उस अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र को चढ़ाया ॥२०॥

**आभास**—ततो यज्जातं तदाह—

**आभासार्थ** – तब जो हुआ वह कहते हैं—

श्लोक—**ततः प्रादुरभूत्तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् ।**
**प्राणापहमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥**

**श्लोकार्थ**—उसके बाद अर्जुन के सब ओर प्रचण्ड तेज प्रादुर्भूत हुआ। अर्जुन ने उसे प्राणों को नष्ट करने वाला देख भगवान् कृष्ण से बोला ॥२१॥

**सुबोधिनी- तत प्रादुर्भूत्तेज इति** । प्रचण्डमप्रतिक्रियम् । प्रचण्डमित्यादि भिन्नं वाक्यम् । सर्वतो दिशमर्जुनस्य । अत एव प्राणापहम् । द्रौणेरिदमस्त्रमित्यज्ञात्वा किञ्चिदन्यदेव दैवयोगान्नाशकमुपस्थितमिति तदपनोदनार्थं तत्स्वरूपज्ञानार्थं च भगवन्तं प्रष्टुं प्रथमं स्तौति । रक्षको हि विष्णुः। ज्ञाते प्रतीकरणसमर्थो जिष्णुर्जुनः । हेत्याश्चर्यम् । तस्मिन्दृष्टे मूर्च्छया भाव्यम् । तत्राऽसम्भ्रान्तो भगवन्तं स्तौतीति ॥२१॥

**व्याख्यार्थ**—यहां श्लोकस्थ 'प्रचण्डं' का अर्थ जिसका प्रतीकार न हो सके ऐसा है। श्लोक में 'ततः प्रचण्डं तेजः सर्वतोदिशम् प्रादुरभूत' यह भिन्न वाक्य है अतः उसका वाक्यार्थ नीचे के श्लोक से भिन्न है। 'सर्वतोदिशम्' का अर्थ यह है कि वह तेज अर्जुन के सब ओर प्रकट हुआ अतएव उसे प्राणों का नष्ट करने वाला अस्त्र अश्वत्थामा का यह है ऐसा न जानकर दैवयोग से कुछ और ही नाश करने वाला उपस्थित हो गया है। इसलिए उसको हटाने के लिए तथा उसके स्वरूप ज्ञान के लिए भगवान् से प्रश्न करने के पूर्व अर्जुन उनको स्तुति करता है। भगवान् श्रीकृष्ण को विष्णु इसलिए कहा है कि वह सर्व व्यापक है अतएव सर्वतः रक्षक हो सकता है अथवा यहां श्रीकृष्ण में पालकत्व बताने के लिए विष्णु पद दिया है क्योंकि विष्णु पालक होता है। अर्जुन को जिष्णु इसलिए कहा है कि वह जयशील होने से तेज का स्वरूप ज्ञान होने पर प्रतीकार करने में समर्थ है। 'श्लोकस्थ 'ह' पद आश्चर्यबोधक है अर्थात् उस तेज के दीखने पर अर्जुन को मूर्च्छा होनी चाहिये सो न होकर बिना घबराये अर्जुन भगवान् की स्तुति कर रहा है यही आश्चर्य की बात है ॥२१॥

**आभास**—चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतुर्भिः श्लोकैः स्तौति **कृष्णकृष्णेत्यादिभिः**—

**आभासार्थ**—अर्जुन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों को सिद्धि के लिए 'कृष्णाकृष्ण' इत्यादि चार श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है यहां एक एक श्लोक एक एक पुरुषार्थ को देने वाला है यह सूचित होता है ।[1]

**अर्जुन उवाच**—श्लोक—**कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।**
**त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ।।२२।।**

**श्लोकार्थ**—अर्जुन बोला—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! भक्तों को अभय करने वाले तुम संसार से जलते हुए प्राणियों के लिए मोक्षरूप हो ।।२२।।

**सुबोधिनी**—आदरे वीप्सा । भयाद्वा द्विरुक्तिः । महान्तो बाहवो यस्य । इन्द्रादयो वा बाहवो यस्य । अनेन क्रियाशक्तेराधिक्यमुक्तम् । पालकत्वं वा । सामान्यतः सर्वेषां पालकत्वमुक्तम् । भक्तान् प्रति विशेषेण पालकत्वमाह—**भक्तानामभयङ्करेति** । अन्येषामुपस्थिते भये परिपालनं करोति । भक्तानां तु अभयमेवोपस्थापयति न भयम् । किञ्च । त्वत्तो दूरे स्थिता दह्यमाना भवन्ति । दाहेष्वपि महान् संसारदाहो जन्ममरणरूपः । तस्य त्वमपवर्गः । संसृतेर्हेतोर्दह्यमानानामेकस्त्वमेवाऽपवर्गः । "**आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्याऽथ कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते**" इति ।।२२।।

**व्याख्यार्थ**—आदर बताने के लिए श्लोक में कृष्ण कृष्ण दो बार कहा है । अथवा भय से दो बार कहा है । बड़े अर्थात् घुटनों पर्यन्त जिनकी भुजायें हैं अथवा बड़े जो इन्द्रादि देवता हैं वे भुजा हैं जिनकी यहां महाबाहो पद कहने से क्रिया शक्ति की अधिकता कही । बाहु से क्रिया होती है और वेदबाहु होने से वही क्रिया करने का सामर्थ्य है यह कहा गया । अर्थात् भगवान् बहुत बड़ी क्रिया करने वाले हैं । अथवा महाबाहु होने से रक्षक हैं । इस प्रकार सामान्य रूप से सबके पालक हैं यह महाबाहु पद से कहा गया । भक्तों का विशेष रूप से पालन करते हैं इस बात को भक्तानाम-भयङ्कर इससे कहते हैं । औरों का परितः पालन भय आने पर करते हैं और भक्तों के लिए तो अभय ही सदा रखते हैं । अर्थात् भय आने पर उसे दूर करते हैं यह बात नहीं है किन्तु भय आने ही नहीं देते और एक बात यह भी है कि आपसे (भगवान् से) दूर रहने वाले संसार में जलते हैं । सब दाहों में जन्म मरण रूप संसार दाह बड़ा है उसके लिए आप मुक्तिरूप हैं । अर्थात् संसार के कारण से जलने वाले प्राणियों के संताप को आप ही दूर करने वाले हैं । जैसा कि गीता में कहा है—"आ ब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोर्जुनः । मामुपेत्याथ कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" अर्थात् ब्रह्म-लोक को प्राप्त करने वाले जीव पीछे आते हैं और मुझे प्राप्त करने वाले पीछे नहीं आते । तात्पर्य यह है कि जन्म मरणादि की निवृत्ति भगवत्प्राप्ति से ही होती है ।।२२।।

श्लोक—**त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः ।**
**मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ।।२३।।**

---

१ यहां तात्पर्य यह है कि इन चार श्लोकों के बोलने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ मिल जाते हैं ।

**श्लोकार्थ**—आप सबके आदि साक्षात् ईश्वर एवं प्रकृति से पर पुरुष हैं। आप चैतन्य शक्ति के द्वारा माया को दूर हटाकर केवल अपने स्वरूप में ही स्थित हैं।२३।

**सुबोधिनी**—अत्रोपपत्तिं श्लोकद्वयेनाऽऽह। **स वै पतिः स्यादिति** न्यायेन प्रथमतः स्वस्य सर्वदोषाभावस्तदनु परस्य दोषदूरीकरणमिति। तत्र दोषाः पञ्चविधाः। कर्मजाः कालजाः स्वभावजा मायोद्भवा देशोद्भवाश्चेति। ते क्रमेण निवार्यन्ते। कर्मापेक्षयाऽप्याद्यत्वात्स्वतन्त्रत्वेन तदधीनत्वाभावाच्च न तस्मिन्कर्मजाः। किञ्च। सर्वेषामयं नियामकः। कालश्च। तत्र कालस्तु स्वोद्भवशरीरादिद्वारा तदध्यासे जाते नियामकः। भगवांस्तु साक्षादात्मनामपि। अतः कालस्याऽपि नियामक इत्युक्तं भवति। तेन न कालजाः। प्रकृतिनियामकत्वाच्च न प्राकृताः। भगवतस्तु बह्व्यः शक्तयः सन्त्यन्योन्यविरुद्धास्तत्तत्कार्यार्थं निर्मिताः। तत्र यस्यामेवाऽऽसक्त्या क्रीडायां क्रियमाणायां तद्दोषप्रादुर्भावः सम्भाव्यते तदैव तद्विरुद्धशक्तिप्रादुर्भावेनेन पूर्वान् (?) दूरीकरोति। तथा चिच्छक्त्या मायां व्युदस्य तिष्ठतीति न मायिकदोषसम्बन्धः। देशदोषस्तु न सम्भाव्य एव। सर्वधर्मास्पृष्टे केवल एवाऽऽत्मनि विद्यमानत्वात्। अतः स्वतः पञ्चविधदोषरहितः॥२३॥

**व्याख्यार्थ**—आप जन्ममरणरूप संसार से छुड़ाने वाले हैं। इसमें दो श्लोकों से उपपत्ति कहती है। "स वै पतिः स्यात्" अर्थात् वही पति होने योग्य है जो स्वयं सब भयों से मुक्त हो। इस न्याय से पहले अपने आप में (स्वामी में) दोषाभाव होना चाहिये। तदनन्तर दूसरे के दोष दूर करना युक्त होगा अर्थात् भगवान् जब निर्दोष होंगे तभी ब्रह्म सम्बन्ध लेने पर जीवों को निर्दोष बना सकते हैं। भगवान् निर्दोष हैं इस बात का प्रतिपादन करते हैं। दोष पांच प्रकार के हैं। कर्मजन्य कालजन्य स्वभावजन्य, मायाजन्य तथा देशजन्य। ये दोष भगवान् में नहीं हैं। इस बात को 'आद्यः ईश्वरः प्रकृतेः परः मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि' से क्रमशः कहा है। कर्मों की अपेक्षा भगवान् आद्य है इसलिए स्वतन्त्र होने से कर्माधीन नहीं है अतः उसमें कर्मजन्य दोष नहीं है। कर्मजन्य दोष उन्हीं में होते हैं जो कर्मों के बाद पैदा होते हैं और कर्मों के अधीन होते हैं। भगवान् ईश्वर होने से सबके नियामक हैं और काल रूप भी हैं। काल अपने में पैदा हुए शरीरादि में अध्यास होने पर ही नियामक होता है। भगवान् में शरीरादि का अध्यास नहीं है इसलिए कालजन्य दोष नहीं है। भगवान् तो आत्मा के भी नियामक है इसलिए काल के भी नियामक है यह स्वतः सिद्ध है। प्रकृति से परे होने से वह स्वभाव का नियामक है अतः उसमें स्वभावजन्य दोष भी नहीं है यहां प्रकृति से स्वभाव लिया गया है। भगवान् की परस्पर विरुद्ध शक्तियां उस उस कार्य के लिए निर्मित हुई हैं। जिस किसी एक शक्ति में आसक्ति से भगवान् की क्रीड़ा होगी तो उस शक्ति का दोष भगवान् में जभी सम्भावित होने लगता है तभी भगवान् उससे विरुद्ध शक्ति को प्रादुर्भूत करके पूर्व दोषों को दूर कर देते हैं। इसी प्रकार चिच्छक्ति से माया को दूर हटाकर वह स्थित है इसलिए मायिक दोष की सम्भावना नहीं है। देशजन्य दोषों की तो उसमें सम्भावना ही नहीं है क्योंकि सब धर्मों से अस्पृष्ट केवल अपने आप ही में वह विद्यमान है किसी देश विशेष में नहीं। यदि अपने से भिन्न में रहते तो देशजन्य दोष की सम्भावना हो सकती थी अतः आप (भगवान्) स्वतः उक्त पञ्चविध दोषों से रहित हैं॥२३॥

**आभास**—अन्येषां दोषदूरीकरणं कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—

**आभासार्थ** जो स्वयं निर्दोष है वह दूसरे के दोषों को दूर करे इसमें कोई बात नहीं इस बात को कहते हैं कि –

श्लोक—**स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः ।**
**विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**—वह ईश्वर ही आप अविद्या से मोहित चित्त वाले प्राणी समुदाय को अपने प्रभाव से उस-उस कर्म के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ को देते हैं ।।२४।।

**सुबोधिनी**—**स एवेति** । पूर्वोक्तगुणयुक्त एव । मायामोहितचेतसो जीवस्य भ्रान्तस्य । भ्रान्त्या यदेव प्रार्थयते तदेव प्रयच्छसि किमुत भ्रान्तिदोषं दूरीकरोषीति । अनेन वस्तुत उत्तममनुत्तमं वा यदेव यः प्रार्थयते तदेव तस्मै प्रयच्छसीति सर्वाभीष्टदातृत्वमुक्तम् । अन्यथा सर्वेषामभजनीयः स्यात् ।।२४।।

**व्याख्यार्थ**—वह पूर्वोक्त गुणयुक्त भगवान् ही माया से मोहित चित्त वाले भ्रान्त जीव को भ्रान्ति से जो भी वह चाहता है उसे भी दे देते हैं । अथवा भ्रान्ति दोष को मिटाते हैं । इससे यह कहा गया कि वास्तव में उत्तम अनुत्तम जो भी कुछ जीव चाहता है भगवान् उसे वही देते हैं। इसलिए वह सर्वाभीष्ट देने वाला है । यदि जो भी चाहे उसे न दे तो उसका सब लोग भजन नहीं करेंगे ।।२४ ।

**आभास**—किञ्च । सामान्यत एतत्तव स्वरूपमुक्तम् । विशेषतस्तव स्वरूपविचारे अस्मदादीनां न किञ्चित्कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—यह आपका सामान्यतः स्वरूप कहा । विशेष रूप से आपके स्वरूप के विचार करने पर हम लोगों का कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता । अर्थात् आप ही सब कुछ कर देते हो इस अभिप्राय से कहते हैं—

श्लोक—**तथाऽयञ्चाऽवतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया ।**
**स्वानाञ्चाऽनन्यभावानामनुध्यानाय चाऽसकृत् ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**—इसी प्रकार यह आपका अवतार पृथ्वी के भार को मिटाने के लिए है और अनन्य भाव वाले भक्तों के निरन्तर ध्यान के लिए भी है ।।२५।।

**सुबोधिनी**—**तथाऽयमिति । तथाऽयञ्चाऽवतारस्ते** । यथा भवान् सर्वदोषरहितः सर्वाभीष्टदस्तथाऽवतारोऽप्ययम् । येषां मते भगवानेव साकार आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः मायाजवनिकादूरीकरणेन प्रादुर्भूत इति तेषां न किञ्चिद्वक्तव्यम् । येषामपि मते स्वेच्छामये शरीरविशेषे भगवतो-

ऽनन्तसूर्यप्रकाशस्य अयोगोलके वन्हेरिवाऽऽगमनमवतार इति तन्मतेनैवं कथनम् । तस्याऽवतारस्य प्रयोजनद्वयं सर्वजनीनम् । भुवो भारदूरीकरणं, वैष्णवशास्त्रे तु स्वानामनन्यभावानां निरन्तरानुध्यानार्थम् । उभयमर्जुनस्याऽभिप्रेतमित्युभयथाऽप्यस्माकं हितकरणम् । भूभारहरणसहायाद्भक्तत्वाच्च ।।२५।।

**व्याख्यार्थ**—जैसे आप सब दोषों से रहित सम्पूर्ण अभीष्टों को देने वाले हैं उसी रूप में यह अवतार भी है जो यह मानते हैं कि साकार अर्थात् आनन्द मात्र करपादमुखोदरादियुक्त भगवान् ही मायारूपी परदे को दूर कर प्रादुर्भूत होते हैं। उनके लिए तो अवतार के विषय में कुछ कहना नहीं है परन्तु जो यह मानते हैं कि स्वेच्छामय शरीर विशेष में अनन्तसूर्य सदृश प्रकाश वाले भगवान् का लोह के गोले में अग्नि की तरह जो आना है वह अवतार कहलाता है। उस मत से यह कहा गया कि जैसे भगवान् सर्वदोष रहित सर्वाभीष्ट देने वाले है उसी प्रकार यह अवतार भी है। उस अवतार के दो प्रयोजन सर्वजन प्रसिद्ध हैं। प्रथम पृथ्वी के भार को दूर करना और द्वितीय वैष्णव शास्त्र के अनुसार अनन्य भाव वाले भक्तों के निरन्तर ध्यान करने के लिए पधारना। स्तुति करने वाले अर्जुन को दोनों प्रयोजन अभिप्रेत है। क्योंकि भगवान् ने दोनों प्रकार से अर्जुन का हित किया है। पृथ्वी का भार हटाने में सहायता की है तथा भक्त होने के नाते निरन्तर ध्यान भी हुआ है।।२५।।

श्लोक—**किमिदं स्वित्कुतो वेति देव देव न वेद्म्यहम् ।**
**सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ।।२६।।**

**श्लोकार्थ**—हे देवाधिदेव ! जो परमदारुण तेज सर्वतोमुख आ रहा है, यह वास्तव में क्या है और कहाँ से आ रहा है ? यह मैं नहीं जानता। इसे आप बताइये ।।२६।।

**सुबोधिनी**—एवं स्थिते किमिदम् कस्मादाविर्भूतमिति तत्कथयेत्याह। सर्वदिशत्वात्-**कुतो वेति**। न ज्ञायते कुत्र वा मूलमिति। अवतारेऽपि तव न किञ्चिदज्ञातम्। देवकार्यसाधकत्वात्। तदाह—**देवदेवेति**। तथा त्वमपीत्याशङ्क्य अब्रह्मत्वान्नाऽहं वेद। लौकिकी तूपपत्तिरत्र न सम्भवति। यतः सर्वतोमुखमायाति। सूर्यादितेजोव्यावृत्त्यर्थम्—**परमदारुणमिति** ।।२६।।

**व्याख्यार्थ**—यह तेज सब दिशाओं से आ रहा है इसलिए नहीं मालूम होता है कि इसका मूल उद्भव स्थान कहाँ है ? आप अवतार रूप में पधारे हैं तब भी आपसे कोई बात बिना जानी नहीं है। क्योंकि आप देवाधिदेव हैं अर्थात् देवताओं के भी कार्य को सिद्ध करने वाले हैं। अतः देवताओं से भी पूज्य हैं। इसी बात को 'देव देव' से कहा है। यदि आप कहें कि तू भी ऐसा ही है यह बात नहीं है। आप ब्रह्म हैं मैं ब्रह्म नहीं हूं। इसलिए मैं इसे नहीं जानता। लौकिकी युक्ति के द्वारा समझ लिया जाय यह बात यहां नहीं है। क्योंकि यह तेज सर्वतः (सब ओर से) आ रहा है। और यह सूर्य आदि का तेज नहीं हो सकता क्योंकि यह परमदारुण है। सूर्य आदि का तेज परमदारुण नहीं होता ।।२६।।

**आभास**—तत्रैतद्विषयकमज्ञानं द्विविधम् । स्वरूपतो धर्मतश्चेति । तत्र स्वरूपतस्तु त्वं वेदेति भगवानाह—

**आभासार्थ**—तेज विषयक अज्ञान दो प्रकार का है एक स्वरूपतः दूसरा धर्मतः अर्थात् इसका क्या स्वरूप है ? यह अज्ञान और दूसरा इसका क्या धर्म (कार्य) है यह अज्ञान इनमें से भगवान् कहते हैं कि इसके स्वरूप का तुझे ज्ञान है इसी बात को कहते हैं कि—

**श्री भगवानुवाच**— श्लोक—**वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् ।**
**नैवाऽसौ वेद संहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२७॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् आज्ञा करते हैं कि यह द्रोणाचार्य के पुत्र (अश्वत्थामा) का ब्रह्मास्त्र है इसे तू जानता है । यह अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का उपसंहार नहीं जानता । इसने इसे प्राणों पर आपत्ति आने पर बिना विचारे छोड़ दिया है ॥२७॥

**सुबोधिनी**—**वेत्थ त्वमिति** । गुरुपुत्रत्वाद्गुरुणा ब्रह्मास्त्रमस्मै दत्तं त्वत्समक्षम् । अतस्त्वं वेद । तदेवेदमिति तु जानीहि । ननु ब्रह्मास्त्राण्यपि बहूनि दृष्टानि प्रयुक्तानि च । कदाचिदपि नैवं दृष्टमिति चेत् ? तत्राऽऽह—**नैवाऽसौ वेद संहारमिति** । अतोऽनभिज्ञेन प्रयुक्तत्वात्सर्वतोमुखमायाति । तर्हि कथं प्रयुक्तवान् ? तत्राऽऽह—**प्राणकृच्छ्र उपस्थित इति** । पादद्वयमपि भिन्नं भिन्नं वाक्यम् । २७।

**व्याख्यार्थ**—गुरुपुत्र होने से इसे गुरु द्रोणाचार्य ने तेरे ही सामने ब्रह्मास्त्र की शिक्षा दी थी । इसलिए इसको तू जानता है अर्थात् वही यह ब्रह्मास्त्र है ऐसा तू जान । अर्जुन शङ्का करता है कि बहुत से ब्रह्मास्त्र मैंने देखे और उनका प्रयोग भी किया परन्तु ऐसा कोई भी ब्रह्मास्त्र कभी नहीं देखा जैसा कि यह ब्रह्मास्त्र है । इस पर कहते हैं कि "नैवासौ वेद संहारम्" यह अश्वत्थामा इसका उपसंहार नहीं जानता । अतः इसके प्रयोग को भली भाँति नहीं कर पाया है । यदि यह प्रयोग करना अच्छे रूप में जानता तो तेरे ही ऊपर यह तेज आता परन्तु इसके सम्यक् प्रयोग को नहीं जानने से सब ओर इसका तेज आ रहा है जिससे सबके नाश की सम्भावना हो गई है । इसमें यह शङ्का होती है कि जब इसे ब्रह्मास्त्र का चलाना नहीं आता तो इसने क्यों चलाया ? इसका उत्तर देते हैं कि 'प्राणकृच्छ्र उपस्थिते' प्राणों पर आपत्ति आने पर 'निषिद्धमप्याचरणीयमापदि' आपत्तिकाल में निषिद्ध कार्य भी करना चाहिये । इस न्याय के अनुसार इसका प्रयोग किया है । श्लोक के दोनों पादों का वाक्यार्थ भिन्न भिन्न है अर्थात् श्लोक के ऊपर के पाद का अर्थ नीचे के पाद के अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता ॥२७॥

**आभास**—तर्हि किं कर्तव्यम् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—अर्जुन कहता है कि-तब क्या करना चाहिये इस पर कहते हैं कि—

श्लोक- **न ह्यस्याऽन्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्षणम् ।**
**जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**—क्योंकि इस ब्रह्मास्त्र को हटाने वाला कोई दूसरा अस्त्र नहीं है इसलिए इस ब्रह्मास्त्र के बढ़े हुए तेज को अपने से प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र के तेज के द्वारा उपसंहार कर क्योंकि तू ब्रह्मास्त्र के प्रयोग और उपसंहार को जानने वाला है ।।२८।।

**सुबोधिनी—न ह्यस्येति** । ब्रह्मास्त्रे ब्रह्मास्त्रमेव प्रयोक्तव्यम् । नाऽन्यत्तत्प्रतीकारमर्हति । **अतोऽस्त्रज्ञो भवानुन्नद्ध ब्रह्मास्त्रतेजो** ब्रह्मास्त्रतेजसैव जहि । त्वयाऽपि प्रयुक्तमेतादृशमेव तेजो भविष्यति । तेनाऽस्य प्रतीकार इति ।।२८।।

**व्याख्यार्थ**— ब्रह्मास्त्र के प्रयोग के विरुद्ध ब्रह्मास्त्र का ही प्रयोग करना चाहिये । दूसरा उसका प्रतीकार नहीं है । अतः ब्रह्मास्त्र के प्रयोग एवं उपसंहार को जानने वाला तू बढ़े हुए ब्रह्मास्त्र तेज को अपने से चलाये गये ब्रह्मास्त्र तेज के द्वारा ही दूर कर । तू जिस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करेगा वह भी इसी प्रकार के तेज वाला होगा जिससे इसका प्रतीकार हो सकेगा ।।२८।।

**आभास**—एवं भगवतोक्ते यदासीत्तदाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवान् के कहने पर जो हुआ उसे कहते हैं—

**सूत उवाच—**श्लोक—**श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा ।**
**स्पृष्ट्वाऽपस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे ।२९।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी बोले कि–शत्रुओं के वीरों को मारने वाले अर्जुन ने भगवान् से कही हुई बात को सुनकर आचमन तथा भगवान् की परिक्रमा करके ब्रह्मास्त्र की निवृत्ति के लिए ब्रह्मास्त्र का संधान किया ।।२९।।

**सुबोधिनी—श्रुत्वेति । परवीरहेति** सामर्थ्यम् । **तं परिक्रम्येति** कार्यसिद्धिः । अस्य ब्रह्मास्त्रस्य पूर्वब्रह्मास्त्रनिवर्त्तकत्वमेव । न तु प्रयोक्तृघातकत्वम् । तदुक्तम्– **ब्राह्मं ब्राह्मायेति** ।।२९।।

**व्याख्यार्थ**—परवीरहा पद से अर्जुन का सामर्थ्य बताया । सामर्थ्य वाला ही शत्रुओं के वीरों को मारता है अथवा शत्रुरूप वीरों को मारता है । तं परिक्रम्य ऐसा कहने से अर्जुन की कार्यसिद्धि अवश्य होगी यह बताया । भगवान् की परिक्रमा कर जो कार्य को आरम्भ करता है उसका कार्य अवश्य सिद्ध होता है । अर्जुन का चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र पहले चलाये हुए अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र का निवर्त्तक ही है । प्रयोक्ता जो अश्वत्थामा है उसको मारने वाला नहीं है इसलिए श्लोक में कहा है कि [1]'ब्राह्मं ब्राह्माय' ब्राह्माय में जो चतुर्थी है निवृत्ति अर्थ मे है अर्थात् अश्वत्थामा के द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र की निवृत्ति के लिए अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा ।।२९।।

---

१ 'ब्राह्माऽजातौ' पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'ब्राह्मं ब्राह्माय' ऐसा पाठ युक्त मालूम होता है ।

**आभास**—ततो यज्जातं तदाह—

**आभासार्थ** अर्जुन के ब्रह्मास्त्र चलाने पर जो कुछ हुआ उसे कहते हैं—

श्लोक—**संहृत्याऽन्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते ।**
**आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ।।३०।।**

**श्लोकार्थ**—बाणों से वेष्टित दोनों ब्रह्मास्त्रों का तेज एक दूसरे से मिलकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं आकाश को घेरकर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षण मुख की अग्नि की भाँति बढ़ा ।।३०।।

**सुबोधिनी**—संहृत्येति । उभयोस्तेजसी अन्योन्यं संहृत्य मूलदार्ढ्याय शरयोः संवेष्टिते भूत्वा द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं चाऽऽवेष्ट्य संवर्तकसूर्यसङ्कर्षणमुखानलवत् सर्वनाशार्थं ववृधाते ।।३० ।

**व्याख्यार्थ**—दोनों ब्रह्मास्त्रों के तेज आपस में मिलकर मूल को दृढ़ करने के लिए बाणों से संवेष्टित होकर स्वर्ग, पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष को व्याप्त कर प्रलयकालीन सूर्य एवं संकर्षण के मुख से निकली हुई अग्नि की तरह सबका नाश करने के लिए बढ़े ।।३०।।

**आभास**—एतयोर्निवृत्तौ हेतुमाह—

**आभासार्थ**—दोनों ब्रह्मास्त्रों की निवृत्ति में कारण बताते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वाऽस्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान् प्रदहन्महत् ।**
**दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्त्तकममंसत ।।३१।।**
**प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् ।**
**मतं च वासुदेवस्य सञ्जहाराऽर्जुनो द्वयम् ।।३२।।**

**श्लोकार्थ**—उसके बाद तीनों लोकों को जलाते हुए उस महान् अश्वत्थामा एवं अर्जुन के अस्त्र के तेज को देखकर उससे जलती हुई सभी प्रजा ने प्रलयाग्नि को उपस्थित जाना । लोक आदि के विनाशक प्रजा के विनाशक उस तेज को देखकर और भगवान् कृष्ण के अभिप्राय को जानकर अर्जुन ने दोनों ब्रह्मास्त्रों का उपसंहार किया ।।३१–३२।।

**सुबोधिनी**—दृष्ट्वाऽस्त्रतेज इति । मिलितत्वादेकवचनम् । प्रजा दक्षादयः । अन्येऽपि । भगवत्सान्निध्यात् । अतः परमनुपसंहारे प्रलयो भविष्यतीति भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा । लोकानां नाशं भूरादीनां च । सर्वोपकारार्थमेकगुरुत्वाद्द्वयमात्मन्येवोपसंहृतमित्याह—**सञ्जहारेति** । **तमिति** पूर्वोक्तदाहलक्षणम् । चकारात्स्वस्याऽपि । तेजोलाभाद्भगवतः सम्बन्धादप्येतन्मतमित्याह—**वासुदेवस्येति** ।।३१।।३२।।

**व्याख्यार्थ**—दोनों अस्त्रों के तेज थे इसलिए द्विवचन होना चाहिये था सो श्लोक में एकवचन क्यों दिया इसका कारण यह है कि दोनों तेज मिलकर एक हो गये थे इसलिए श्लोक में 'अस्त्रतेज:' यह एकवचन दिया है। श्लोक में आये प्रजा पद से दक्ष आदि तथा अन्य भी लिये गये हैं। यदि इसका उपसंहार न किया जायगा तो प्रलय हो जायगा ऐसे भगवान् के अभिप्राय को भगवत्सान्निध्य से जानकर तथा भूवादिलोकों का नाश हो जायगा ऐसा जानकर सबके उपकार के लिए अर्जुन ने एक ही गुरु (द्रोणाचार्य) से प्राप्त होने वाले उन दोनों ब्रह्मास्त्रों का अपने में ही उपसंहार कर लिया। इसी बात को कहते हैं कि 'संजहारार्जुनोद्वयम्' श्लोक में जो 'तं' पद है उससे प्रजा आदि की लोक तथा स्वयं (अर्जुन) को जलाने वाला दाह लिया गया है। दोनों अस्त्रों के उपसंहार से अधिक तेज मिलेगा एवं भगवान् कृष्ण को भी यह अभिमत है इस बात को भगवान् के सम्बन्ध से जानकर अर्जुन ने दोनों अस्त्रों के तेज का उपसंहार किया इसी बात को 'मतं च वासुदेवस्य' पद से कहा है ।।३१।।३२।

श्लोक—**तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् ।**
**बबन्धाऽमर्षताम्राक्षः पशुं रशनया यथा ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—अस्त्र के उपसंहार के अनन्तर क्रोध से रक्त नेत्र वाले अर्जुन ने याज्ञिक पुरुष जैसे रस्सी से पशु को बाँधते हैं इस प्रकार उस क्रूर अश्वत्थामा को प्राप्तकर वेग से बाँध दिया ।।३३।।

**सुबोधिनी**—तत: स्वस्मिंस्तेजोद्वयसंक्रमणानन्तरम् । आसाद्य निकटे गत्वा । दूराद्वारुणपाशादिभिर्बन्धने महान्क्लेशो भवतीति । तरसा शीघ्रम् । प्रतिक्रियानवसराय । **दारुणमिति** बन्धने हेतु: । मरणं शापं मारणं वा ईश्वरभजनादि वा कुर्यादिति । ननु गुरुपुत्रं कथं बबन्ध ? तत्राऽऽह—**गौतमीसुतमिति** । नाऽयं गुरो: सम्मत: पुत्र: । गौतमी तस्य माता । गौतमवंशोत्पन्नत्वात् । अनेन पुत्रस्नेहसम्बद्धभार्याप्रार्थनया राजसम्बन्धो मरणं च सूचितम् । **अमर्षताम्राक्ष इति** । अनेन ब्राह्मण्यादयो न स्फुरिता: । अवश्यं बन्धनीय इति दृष्टान्तमाह—**पशुमिति** । न हि पराजित: शत्रुरबध्वा त्युक्तं शक्यते । अश्लक्ष्णया बन्धनं ध्वजस्तम्भे चेति । नीत्वा च परोक्षं मारणं तदभिप्रेतम् ।।३३।।

**व्याख्यार्थ**—अपने में दोनों तेजों का संक्रमण होने के अनन्तर अश्वत्थामा के पास जाकर दूर से वारुण पाश आदि से बांधता तो अर्जुन को महान् क्लेश होता इसलिए पास में जाकर उसे किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का अवसर न मिले इस प्रकार शीघ्र ही दारुण कर्मकारी उस अश्वत्थामा को बांधा। दारुण कर्म ही उसके बन्धन में कारण हुआ। यदि उसे नहीं बांधा जाता तो कदाचित् वह स्वयं ही मर जाता शाप दे देता अथवा स्वयं अर्जुन को मारता अथवा ईश्वर भजन आदि कर लेता तो आगे के दण्ड से वह मुक्त हो जाता इसलिए उसे शीघ्र ही बांधा। कदाचित् यह शंका हो कि गुरुपुत्र को कैसे बांधा इस पर कहते हैं कि 'गौतमीसुतम्' यह अश्वत्थामा गुरु का सम्मत पुत्र नहीं था। इसलिए 'द्रोण' के पुत्र का उल्लेख न कर गौतमी के पुत्र को बांधा ऐसा कहा अर्थात् वह अश्वत्थामा गौतमी सम्मत पुत्र था इसलिए उसे बांधने में अर्जुन को हिचकिचाहट नहीं हुई। गौतम वंश में उत्पन्न होने से उसकी माता गौतमी थी। इससे यह भी

सूचित हुआ। एक पुत्र अश्वत्थामा के स्नेह से बंधी गौतमी की प्रार्थना से द्रोणाचार्य का दुर्योधन से सम्बन्ध हुआ और उसी कारण से उनका मरण भी हुआ। अर्जुन क्रोध से लाल नेत्र वाला हो गया था अर्थात् अत्यन्त क्रोधयुक्त हो गया था इसलिए उसे 'क्रुद्धोहन्याद्गुरुनपि' इस न्याय से अर्जुन का अश्वत्थामा ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र है ऐसी स्फूर्ति नहीं हुई। इसे अवश्य ही बांधना चाहिये इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि 'पशुम्' जैसे पशु को बांधा जाता है। पराजित शत्रु को बिना बांधे नहीं छोड़ना चाहिये। ध्वज के दण्ड में अथवा अशोभन प्रकार से उसे बांधा। अर्जुन की यह अभिप्रेत था कि इसे एकान्त में ले जाकर मारा जाय ॥३३॥

**आभास**—तस्य शिबिरे नयनमनुचितमिति भगवान्निषेधति—

**आभासार्थ**- अश्वत्थामा को शिविर में ले जाना उचित नहीं है इसलिए भगवान् मना करते हैं—

श्लोक—**शिबिराय निनीषन्तं रज्ज्वा बद्धं रिपुं बलात् ।**
**प्राहाऽर्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥**

**श्लोकार्थ**—रस्सी से शत्रु अश्वत्थामा को बलपूर्वक बांधकर सेना निवेश स्थान में ले जाने की इच्छा वाले अर्जुन को प्रकुपित से होकर कमल नयन भगवान् ने कहा।३४।

**सुबोधिनी**—**शिबिरायेति**। सर्प इवाऽयं न स्प्रष्टव्यः। स्पृष्टश्चेन्मारणीय एव। अपकृतस्तु सर्वथा मारणीयः। तत्र गते च न मारणं भविष्यति। अतोऽत्रैव मारणीय इत्यभिप्रायेणाऽऽह। नीतिकार्यविचारे मारणीयः। धर्मविचारे बन्धनीयोऽपि न। रिपुश्च गृहे न नेयः। बलाच्च न नेयः। तत्र असावधाने किञ्चिदपकुर्यादिति। शिबिरं कटकोत्तरणस्थानम्। **भगवानिति** सर्वमारकत्वं सूचितम्। **अम्बुजेक्षण इति** भक्तरक्षकत्वं सूचितम्। तस्मादेतद्वधे सर्वं सुस्थमिति नो चेद्वहु कर्तव्यमित्यभिप्रायः॥३४॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् ने कहा कि सर्प की तरह यह अश्वत्थामा स्पर्श करने योग्य नहीं है। यदि तुमने इसे पकड़ लिया है तो इसे मारना ही चाहिये। सर्प की तरह जिस शत्रु को छेड़ दिया हो उस शत्रु को बिना मारे नहीं छोड़ना चाहिये। शिविर में ले जाने पर इसका वध कठिन है। क्योंकि द्रौपदी दयालु है इसलिए इसे छुड़ा देगी। अतः इसे यहीं मार देना चाहिये इस अभिप्राय से भगवान् ने यह कहा है। भगवान् का अभिप्राय है कि नीति के अनुसार कार्य करना चाहिये इस विचार से तो इसे मार देना चाहिये। धर्म के विचार से तो ब्राह्मण एवं गुरुपुत्र होने से इसका बन्धन भी अनुचित है। नीति यह कहती है कि शत्रु को घर पर नहीं ले जाना चाहिये और बलपूर्वक तो कदापि नहीं ले जाना चाहिये क्योंकि घर पर असावधान होने पर वह शत्रु कुछ बुरा कर सकता है। श्लोकस्थ शिबिर का अर्थ है सेना निवेश स्थान। श्लोक में भगवान् शब्द से यह सूचित किया गया है कि भगवान् कालरूप है इसलिए सबके संहारक हैं। 'अम्बुजेक्षण' पद से यह सूचित होता है कि भगवान् कमलनयन तभी बनते हैं जब भक्तों की रक्षा करनी होती है। इन

बातों से इसके मारने पर सब अच्छा होगा । यदि इसे इस समय न मारेंगे तो भविष्य में इससे बचने के लिए बहुत कार्य करना पड़ेगा यह भगवान् का अभिप्राय है ।।३४।।

**आभास**—तदेवाऽऽह—

**आभासार्थ**—भगवान् ने क्या कहा उसी बात को कहते हैं कि—

**श्री भगवानुवाच**—श्लोक—**नैनं पार्थाऽर्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि ।**
**योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ।३५।**

**श्लोकार्थ**—भगवान् बोले कि—हे पार्थ ! इस ब्रह्मबन्धु को मत छोड़ो मार डालो । क्योंकि इसने रात में निरपराध सोये हुए बच्चों को मार डाला है ।।३५।।

**सुबोधिनी**—**नैनमिति** । पृथा सम्बन्धिनी भक्ता चेति तथा वचनम् । मारणेऽपि दोषाभावे हेतुद्वयमाह—**ब्रह्मबन्धुमिति । अवधीदिति** । पित्रादिभिरपकृते अनपराधिनः पुत्रस्य बध्वा नयनमुचितम् । न मारणम् । सुप्तस्य कस्याऽपि मारणमनुचितम् । निशि चोर एव मारयति न साधुः । बालकास्तु सर्वेषामेव अवध्याः ।।३५।।

**व्याख्यार्थ**- श्लोक में पार्थ यह सम्बोधन पद तू मेरा सम्बन्धी और भक्त है इसको सूचित करता है क्योंकि कुन्ती भगवान् की भुवा एवं भक्त थी इसलिए अर्जुन को पार्थ शब्द से सम्बोधित किया । अश्वत्थामा को मारने में भी दोष नहीं है इसमें 'ब्रह्मबन्धुम्' और निशि सुप्तान् अनागस बालकान् अवधीत्' ये दो हेतु हैं । पिता आदि ने यदि कोई अपराध किया हो तो उनके निरपराध बालकों को बाँधकर ले जाना उचित है किन्तु उनको मारना उचित नहीं । सोते हुए किसी को भी मारना ठीक नहीं है । रात्रि में मारना भी अपराध है । रात्रि में चोर ही मारता है । भला आदमी नहीं मारता । बालक तो सभी के लिए अवध्य है ।।३५।।

**आभास**—विचारेणाऽस्य वध्यतां वक्तुं वध्यावध्यनिर्णयमाह—

**आभासार्थ**—विचार से यह वध्य है यह कहने के लिए वध्य और अवध्य का निर्णय कहते हैं कि—

श्लोक—**मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं जडं स्त्रियम् ।**
**प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—धर्मवेत्ता मानव मदिरा आदि से मत्त असावधान, पिशाच आदि से ग्रस्त सोते हुए बालक, स्वभावतः विवेकशून्य, स्त्री, शरणागत, रथहीन तथा डरे हुए शत्रु को नहीं मारता है ।।३६।।

**सुबोधिनी– मत्तमिति** । शत्रवोऽपि दशविधा अवध्याः । मत्तो मदिरादिना । प्रमत्तः असावधनः । उन्मत्तः पिशाचादिभिः । जडः स्वभावतः । अयं तु दशानां नाऽन्यतरः (?) । तस्माद्वध्यः । किञ्च । सुप्तबालयोर्वधादधर्मयोद्धा ॥३६॥

**व्याख्यार्थ**– शत्रु भी दश प्रकार के मारने योग्य नहीं होते । मदिरा आदि के पीने से मत्त हुए, असावधान पिशाच आदि से आविष्ट, स्वभावतः विवेकशून्य आदि को नहीं मारना चाहिये । यह अश्वत्थामा तो इन दश में से एक भी नहीं है । इसलिए यह मारने योग्य है । मारने में कारण और भी है कि सोते हुए तथा बालक को मारने से यह अश्वत्थामा अधर्म योद्धा है ॥३६॥

**आभास**—नन्वस्य भवत्वधर्मः । अयं तु कथं वध्यः । ब्राह्मणशरीरस्य पुरुषार्थसाधकत्वात् । तस्मादस्य सर्वपुरुषार्थवधे स्वस्याऽधर्म इति तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**– भले ही यह अधर्मी रहे परन्तु यह मारने के योग्य तो नहीं है । क्योंकि ब्राह्मण शरीर सब पुरुषार्थों का साधक है इसलिए इसे मारने से इसके सब पुरुषार्थ नष्ट होते हैं जिससे मुझे अधम होगा । इस प्रकार की अर्जुन की आशङ्का पर भगवान् आज्ञा करते हैं कि—

श्लोक—**स्वप्राणान्यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः ।**
**तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥३७॥**

**श्लोकार्थ**—जो दया रहित दुर्जन दूसरों के प्राणों के नाश से अपने प्राणों की रक्षा करता है उसे मारना उसी के लिए श्रेयस्कर है जिस दोष से वह पापी नरक में जाता है दण्ड दे देने पर उसे नरक नहीं मिलता ॥३७॥

**सुबोधिनी स्वप्राणानिति** । यदयं न वध्यते तत्र को हेतुः ? प्रमाणनिषेधस्तु नास्ति । **"जिघांसन्तं जिघांसीयादि"** ति । ब्राह्मणे धर्मः प्रतिष्ठित इति यद्यवध्यः ? तदाऽस्मिन्धर्मो नास्ति । दयया चेदवध्यः ? तदैतद्वधे बहूनां प्राणिनां जीवनं भवति । अवधे त्वस्यैव । कश्चन देहादिनोपकारो भविष्यतीति तदपि नास्ति । तदाह–**तद्वधस्तस्य हि श्रेय इति । प्राणाप्राणैः(?)**जीवनं यस्य । तत्र प्राणैः प्राणजीवनमयुक्तम् । धर्मे तु युक्तम् । उभयतारकत्वात् । अवश्यमेकस्य प्राणस्य संक्षये स्वस्यैव युक्तः (?) । धर्म्यात् । तत्रापि प्रकर्षेण पोषणमयुक्तम् । बालानपि यो हन्ति सः अघृणः । घृणा कृपा तद्रहितः । खलः सूचकः । पिशुन इति यावत् । तस्माद्दुष्टवधः स्वस्य धर्मः । तस्याऽपि दुष्टशरीरे गते शरीरान्तरेण धर्मो भवतीति । पूर्वजीवनस्याऽधर्मैकसाधनत्वात् ॥३७॥

**व्याख्यार्थ**– इसे नहीं मारना चाहिये इसमें क्या कारण है । प्रमाण का निषेध तो नहीं है क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' मारने की इच्छा रखने वाले को मार देना चाहिये । अत. प्रमाणानुसार यह मारने योग्य है । यदि कहें कि ब्राह्मण में धर्म की स्थिति है । इसलिए इसे नहीं मारना चाहिये सो भी बात नहीं है क्योंकि इसमें धर्म नहीं है । यदि कहो कि दया से इसे नहीं मारना चाहिये तो इसके मारने पर बहुत से प्राणियों का जीवन रहता है इसलिए दया का ठीक रूप रहता है । यदि इसे नहीं मारते हैं तो यही सुरक्षित रहता है और बहुत से प्राणी

इसके द्वारा मारे जाते हैं। इसके देह आदि के रहने पर इसका भी कोई उपकार नहीं है इसी बात को कहते हैं कि 'तद्वधस्तस्य हि श्रेयः' उसका मारना उसके लिए पापों से मुक्ति दिलाने के कारण श्रेयस्कर है। जो मनुष्य जीवन के रखने में कारण प्राण प्रधान हैं उनमें दूसरे के प्राणों से अपने प्राण की रक्षा करता है वह युक्त नहीं है। शङ्का करते हैं कि यज्ञादि में एक पशु प्राणी का वध कर अपनी रक्षा की जाती है तो यह बात युक्त क्यों नहीं तो कहते हैं कि यज्ञादि धर्म में तो यह युक्त है क्योंकि 'स गृहः स पशुः सुवर्गं लोकमेति' इस तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार यज्ञ में होने वाली हिंसा यज्ञकर्त्ता एवं वध्य पशु इन दोनों को तराने वाली है। दोनों में एक के प्राण नहीं रहने पर ही जहाँ प्राण की रक्षा हो वहाँ अपने ही प्राण का नाश करना धर्म है। ऐसी स्थिति में दूसरे के प्राणों से अपने प्राणों का विशेष रूप से पोषण करना युक्त नहीं हैं। श्लोक में अघृणः यह पद है। बालकों को भी जो मारता है वह अघृण है। यहाँ घृणा पद से कृपा ली गई है। कृपा से रहित अघृण कहलाता है। श्लोक में खल का अर्थ है सूचक इसलिए इस प्रकार के दुष्ट का मारना आना धर्म है और उसका भी उपकार होता है क्योंकि उसके दुष्ट शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर से उससे धर्म होगा और यह वर्तमान शरीर अधर्म का ही एक मात्र साधन है। ३७।।

**आभास**—किञ्च। महतां प्रतिज्ञापालनं महान् धर्मः। त्वया च प्रतिज्ञातमित्याह—

**आभासार्थ**—अश्वत्थामा का मारना इसलिए भी ठीक है कि महान् पुरुषों के लिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना महान् धर्म है और तुमने तो इसके मारने की प्रतिज्ञा की है इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम।**

**आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ।।३८।।**

**श्लोकार्थ**—हे मानिनि! जिसने तेरे पुत्रों को मारा है उसके सिर को तुझे लाकर दूंगा। इस प्रकार मेरे सुनते हुए तुमने द्रौपदी के सम्मुख प्रतिज्ञा की थी।३८।

**सुबोधिनी**—**प्रतिश्रुतमिति**। अर्थतोऽयमनुवादः—**आहरिष्य इति** ।।३८।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में अर्जुन ने जिन शब्दों में प्रतिज्ञा की थी वे शब्द यहाँ नहीं दिये गये हैं। किन्तु उनका आहरिष्ये इत्यादि से अर्थतः अनुवाद है ।।३८।।

**आभास**—तस्मात्सर्वथा अयं वध्य इत्युपसंहरति—

**आभासार्थ**—इसलिए यह सब प्रकार से मारने योग्य है इस प्रकार उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा।**

**भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ।।३९।।**

**श्लोकार्थ** हे वीर यह आततायी पुत्र और बान्धवों को मारने वाला है और इस कुल कलङ्क अश्वत्थामा ने स्वामी दुर्योधन का भी अप्रिय किया है इसलिए इसे मारा ॥३९॥

**सुबोधिनी—तदसाविति** । आत्मनः पुत्रान् बन्धूंश्च हन्तीति । स्वामिहिताचरणमपि न जातमित्याह—**भर्तुश्चेति** । वंशे विद्यमाने तस्याऽप्युपकारो भवेत् । कुलद्वयकलङ्कजननाच्च । तस्मादस्य वधे कस्याऽपि नाऽपकारः ॥३९॥

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में जो आत्म शब्द है उसका अर्थ यहाँ पुत्र है । यह अश्वत्थामा पुत्र और बान्धवों को मारने वाला है इसके इस कार्य से स्वामी दुर्योधन का भी हित नहीं हुआ । इस बात को 'भर्तुश्च विप्रियं' से कहा है । वंश यदि वर्तमान रहता तो पिण्डदान आदि से दुर्योधन का भी उपकार था । इसने इस घृणित कार्य से द्रोण एवं दुर्योधन के कुल को कलंक लगाया । इसलिए इसके मारने में किसी का बुरा नहीं है ॥३९॥

**आभास**—तत्रैतानि वचनानि धर्मपरीक्षकाणीति सूतज्ञानात्सूत आह—

**आभासार्थ**—ये भगवान् के वचन अर्जुन के धर्म परीक्षा के लिए कहे गये थे इसका सूतजी को ज्ञान हुआ इसलिए सूतजी कहते हैं कि—

**सूत उवाच—श्लोक—एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः ।**
**नैच्छद्गुरुसुतं हन्तुं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥**

**श्लोकार्थ**—सूतजी बोले–इस प्रकार धर्म के परीक्षण करते हुए कृष्ण ने यद्यपि मारने के लिए प्रेरित किया तो भी महान् धर्मज्ञ उस अर्जुन ने अपने पुत्रों को मारने वाले अश्वत्थामा को भी मारना नहीं चाहा ॥४०॥

**सुबोधिनी—एवमिति** । वस्तुतस्तु बन्धनमेवाऽयुक्तम् । धर्मं परित ईक्षिता वा । ईश्वरवचनोल्लङ्घनाभावाय वा । अर्जुनेन तथा ज्ञातमिति तदुक्तम् । **"कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते"** इति तु धर्मः । त्रयो ह्यत्र सन्ति । भगवानर्जुनोऽश्वत्थामा चेति । त्रिष्वप्येकैकोऽवध्यहेतुरस्ति । परीक्षा भगवति महत्त्वमर्जुने, शिष्टे गुरुपुत्रत्वमिति ॥४०॥

**व्याख्यार्थ**- वास्तव में गुरुपुत्र एवं ब्राह्मण होने से इसका बन्धन ही युक्त नहीं है परन्तु यह अर्जुन कितने धर्म का पालनकर्त्ता है इस परीक्षा के लिए यहां परीक्षिता इस पद से यह भी बताया गया है कि सभी ओर से धर्म का विचार करने वाले भगवान् ने अर्जुन को प्रेरणा की है सचमुच यदि मारने की ही आज्ञा करते और अर्जुन उसका पालन न करता तो ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन होता । परन्तु अर्जुन ने भी यही जाना कि भगवान् मेरी परीक्षा कर रहे हैं इसलिए भगवान् के कहने के अनुसार न करने पर भी ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन नहीं हुआ । धर्म यह कहता है कि कामतः इच्छापूर्वक ब्राह्मण को मारने पर प्रायश्चित्त से शुद्धि नहीं होती । इसलिए भी उसे मारना ठीक

नहीं। यहाँ भगवान्, अर्जुन एवं अश्वत्थामा ये तीनों हैं इन तीनों में एक-एक में नहीं मारने का कारण विद्यमान है। भगवान् तो परीक्षण कर रहे हैं, हृदय से मारने के लिए नहीं कह रहे हैं। अर्जुन में महत्ता है इसलिए महान् कभी ऐसा जघन्य कार्य नहीं करता। अश्वत्थामा गुरुपुत्र है। गुरुपुत्र कभी वध्य नहीं होता ।।४०।।

**आभास**—प्रकारान्तरेण शनैर्गृहे समागमनमाह—

**आभासार्थ**- प्रकारान्तर से धीरे-धीरे घर में अर्जुन का आगमन कहते हैं—

श्लोक—**अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः ।**
**न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ।।४१।।**

**श्लोकार्थ**—इसके बाद गोविन्द जिसके प्यारे एवं सारथी हैं उस अर्जुन ने अपने सेना निवेश स्थान में आकर मरे हुए पुत्रों का शोक करने वाली द्रौपदी के अर्थ उस अश्वत्थामा को अर्पित किया ।।४१।।

**सुबोधिनी—अथेति**। कार्यसिद्धौ हेतुपदं **गोविन्देत्युपसहारेऽप्युक्तम्**। अयं तु शत्रुहस्ते पतितो मृत एव। देहस्तु बाणस्थानीयः। प्रतिज्ञातं तु शिरः समानीतमिति न्यवेदयत्। शोकमध्य एव तस्या धर्मज्ञानमिति शोचन्त्या इत्युक्तम्। भार्याहितार्थं तु मारणम्। तत्तयाऽनुक्तत्वात्सन्देहादत्रैव समानीतः। आज्ञायां मारणीय इति निवेदनाभिप्रायः ।।४१।।

**व्याख्यार्थ**- कार्यसिद्धि में गोविन्द कारण है इसलिए श्लोक में गोविन्द यह हेतुभूत पद उपसंहार में भी कहा। शंका करते हैं कि इस प्रकार लाने से बाणों से अश्वत्थामा के सिर को मैं लाऊंगा। अर्जुन की इस प्रकार की प्रतिज्ञा की पूर्ति कैसे हुई। उत्तर देते हैं कि यह शत्रु के हाथ आ गया है इसलिए मृत ही है। ऐसी स्थिति में देह जो इसका विद्यमान हैं वह बाण की तरह इसको दुःख देने वाला है। सिर लाने की प्रतिज्ञा की थी इसलिए उस अश्वत्थामा को अर्पित कर दिया। तब द्रौपदी को शोक में ही धर्म का ज्ञान हो गया। इस बात को शोचनया से सूचित किया है। स्त्री के हित करने के लिए ही उसे मारना था परन्तु द्रौपदी ने मारने के लिए नहीं कहा था इसलिए द्रौपदी अश्वत्थामा के मारण को चाहती है या नहीं इस सन्देह से अर्जुन उसे पकड़कर वहां ले आया है। अश्वत्थामा को द्रौपदी के सम्मुख उपस्थित करने का अभिप्राय यह है कि द्रौपदी यदि आज्ञा दे तो इसे मार डालूं ।।४१।।

**आभास**—तस्यास्तु तथाऽऽहरणमेवाऽनभिप्रेतम्। दूरे मारणमित्याह—

**आभासार्थ**- द्रौपदी को तो उसका उस रूप में लाना ही अभिप्रेत नहीं था। मारना तो दूर रहा इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक— **तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।**
**निरीक्ष्य कृष्णाऽपकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम ह ।।४२।।**

**श्लोकार्थ**—अपमान से लाये गये पशु की तरह पाश से बन्धे बालकों के वध रूप निन्द्य कर्म से नीचा मुख किये हुए अपकार करने वाले गुरुपुत्र अश्वत्थामा को देखकर मनोहर स्वभाव वाली द्रौपदी ने कृपा से प्रणाम किया ।।४२।।

**सुबोधिनी**—**तथाऽऽहृतमिति** । कर्मणि जुगुप्सितं युद्धे बालकमारणम् । तेन मुखाप्रदर्शनादवाङ्मुखत्वम् । कृष्णा द्रौपदी । वामो मनोहरः स्वभावो यस्याः । सर्वहितभावनात् । महत्त्वबुद्ध्या नमनाभावेऽपि अहो कष्टं ब्राह्मण्यमेतादृशे स्थाने पतितमिति कृपया ननाम । तस्याऽपि तद्दुःखदूरीकरणेच्छा कृपा । आश्वासेनहतुत्वान्नमनस्य तथात्वम् ।४२।।

**व्याख्यार्थ**—युद्ध में बालकों को मारना निन्दित कर्म है । इसी निन्दित कर्म के कारण वह अश्वत्थामा अपना मुख नहीं दिखाना चाहता था इसलिए वह नीचा मुंह किये हुए था । श्लोक में कृष्णा का अर्थ द्रौपदी है । वह सब के हित की भावना करती थी इसलिए उसका स्वभाव मनोहर था । महत्त्व बुद्धि से अश्वत्थामा को नमन न करने पर भी उसे यह विचार हुआ कि बड़ा ही कष्ट है जो ब्राह्मणत्व ऐसे बुरे स्थान में आ गया है । इस प्रकार की कृपा से द्रौपदी ने प्रणाम किया । अश्वत्थामा के दुःख को दूर करने की इच्छा ही कृपा है । वह नमन आश्वासन का कारण है इसलिए वह कृपारूप है ।।४२।।

श्लोक — **उवाच चाऽसहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती ।**
**मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ।।४३।।**

**श्लोकार्थ**—इस गुरुपुत्र अश्वत्थामा को बांधकर लाया जाना नहीं सहती हुई वह सती द्रौपदी अर्जुन से बोली—छोड़ दो, छोड़ दो, क्योंकि यह ब्राह्मण सब प्रकार से गुरु है ।।४३।।

**सुबोधिनी**—बहिर्दुःखदूरीकरणार्थमुवाच च । **असहन्ती** परदुःखं दृष्ट्वा स्वयमपि दुःखिता । देहधर्माद्धर्मो महानिति तस्याः कृपाधिक्यमुक्तम् । **सतीति** धर्मस्वभावत्वम् । भर्तारमपि धर्मप्रमादे बोधयेदिति । षडङ्गसहितं धर्मवाक्यमाह—**मुच्यतामिति** । द्विरुक्तिः सन्देहाभावाय अविलम्बाय च । तत्र हेतुः—**एष ब्राह्मण इति** । एकस्मिन्धर्मिणि बहूनां धर्माणां स्थितावपि यो महान् धर्मः स आदरणीयः । धर्माङ्गं च देहो गौणः । धर्मश्च मुख्यः । देहविचारेण च शत्रुत्वम् धर्ममूलं च ब्राह्मणः तस्मात्तद्बलिष्ठमिति । किञ्च । धर्मे हि गुरुर्मूलम् । स च भगवान् । तन्मुखत्वाद्ब्राह्मणो गुरुः । लौकिकोपदेशकगुर्वपेक्षया भगवन्मुखस्याऽत्यन्तगुरुत्वान्नितरां गुरुः । ४३ ।।

**व्याख्यार्थ**—नमन से अश्वत्थामा के हृदय में विश्वास हो गया कि द्रौपदी मुझे नहीं मरवायेगी । बाहर के दुःख दूर करने के लिए बोली वह दूसरों के दुःख को देखकर स्वयं भी दुःखित हो गई । इसलिए अश्वत्थामा को बांधकर लाना उसे सहन नहीं हुआ । देह के धर्म से धर्म बड़ा है इसलिए द्रौपदी में कृपा का आधिक्य कहा । द्रौपदी सती होने से धर्मस्व भाव वाली है । सती स्त्री धर्म से प्रमाद करने पर अपने पति को भी समझावे । द्रौपदी धर्म न्याय एवं छः अङ्गों से युक्त धर्म-

वाक्य बोली कि 'मुच्यताम्' । श्लोक में मुच्यताम् को दो बार इसलिए कहा है कि अर्जुन को छोड़ने में संदेह न हो और विलम्ब भी न करे। छोड़ने में कारण यह है कि 'एष ब्राह्मण.' यह ब्राह्मण है। एक धर्मी में बहु तेरे धर्मों के रहने पर भी जो महान् धर्म होता है वह आदरणीय होता है । देह धर्म का अङ्ग होने से गौण है। धर्म मुख्य है । देह के विचार से तो यह अश्वत्थामा शत्रु है और इसमें जो ब्राह्मण्य है वह धर्म का मूल है इसलिए देह विचार की अपेक्षा धर्म विचार मुख्य है। अतः धर्म के विचार से इसे छोड़ देना चाहिये और एक बात यह भी है कि धर्म का मूल गुरु है और वह भगवान् का रूप है। भगवान् का मुख होने से ब्राह्मण गुरु है। लौकिक बातों के उपदेश देने वाले गुरु से धर्म का उपदेश देने वाले गुरु भगवन्मुखरूप होने से सर्वश्रेष्ठ हैं ।।४३।।

**आभास**—न्यायविरोधी धर्मो दुर्बल इति तदविरोधं वदन्ती लौकिकन्यायेनाऽपि गुरुत्वमाह—

**आभासार्थ** न्याय (नीति) विरुद्ध धर्म दुर्बल होता है इसलिए उसका अविरोध दिखाती हुई द्रौपदी लौकिक न्याय से भी अश्वत्थामा में गुरुत्व बताती है—

श्लोक—**सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः ।**
**अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ।।४४।।**

**श्लोकार्थ**—गोपनीय मंत्रों के सहित धनुर्वेद का एवं अस्त्रों के प्रयोग और उपसंहार सहित अस्त्र समुदाय का ज्ञान आपने द्रोणाचार्य की कृपा से सीखा है।४४।

**सुबोधिनी**—**सरहस्य इति** रहसि भवो रहस्यो मन्त्रः। विसर्गः अस्त्राणां मोचनप्रकारः। उपसंयम उपसंहारः। पुत्रादिष्वपि तथा अवचनात्। अस्त्रग्रामश्च ब्रह्मास्त्रादयः। न ह्येतत्पाठमात्रेण स्फुरति किन्तु कृपयेति तदाह—**यदनुग्रहादिति** ।।४४।।

**व्याख्यार्थ** एकान्त में प्राप्त होने वाले मन्त्र के सहित अस्त्रों के छोड़ने का प्रकार तथा अस्त्रों का उपसंहार जो कि पुत्रादिकों को भी नहीं बताया गया वह तु हमें बताया और ब्रह्मास्त्र आदि भी कृपा करके सिखाये। केवल सिखाने मात्र से ये नहीं आते किन्तु कृपा से ही आते हैं इसी बात को 'यदनुग्रहात्' से कहा है। अर्थात् अस्त्रों को छोड़ना और उनका उपसंहार करना कृपापूर्वक उन्होंने तुमको सिखाया ।४४।।

**आभास**—स द्रोणो नाऽयमित्यत आह—

**आभासार्थ**—शंका करते हैं कि जिससे मैंने अस्त्रविद्या सीखी है वह द्रोणाचार्य यह नहीं है तो कहते हैं कि—

श्लोक—**स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।**
**तस्याऽऽत्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते नाऽन्वगाद्वीरसूः कृपी ।।४५।।**

**श्लोकार्थ** – वे भगवान् द्रोणाचार्य ही सन्तान के रूप में वर्तमान हैं । इसलिए पुत्रवती उस द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी ने जो कि द्रोणाचार्य की अर्द्धाङ्गिनी है । वह अपने पति द्रोणाचार्य के साथ सती न हुई ।।४५।।

**सुबोधिनी – स एष इति** । तस्यैतद्रूपत्वे हेत्वन्तरमाह—**भगवानिति** । ब्रह्मविदो हि स्वेच्छया देहत्यागः । तत्र भवतामुपकाराय देहत्यागदशायां हतं पुत्रं श्रुत्वा तन्माभूदिति तद्रूपेणैवाऽहं जीविष्यामीति पितृशरीरं त्यक्तवान् । अतः स एवाऽयं द्रोणः । **"आत्मा वै पुत्रनामासी"**ति श्रुतेः । **प्रजारूपेण च** । निवृत्तिधर्मविरोधी च धर्मो न युक्त इति करुणामाह—**तस्याऽऽत्मनोऽर्द्धमिति** । मूलरूपेऽप्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते । पुत्ररूपेण भर्ता जीवतीति पुत्रवतीनां न सहगमनम् । ततः स्वपुत्रवधे तस्या वैधव्याद्वंशाऽभावाच्च महद्दुःखत्वात्तद्दर्शनेन करुणा । तदाह—**नाऽन्वगादिति** । कृपायाश्चाऽधिष्ठात्री देवता सा । अतस्तस्याः **कृपीति** नाम ।।४५।।

**व्याख्यार्थ**—द्रोणाचार्य अश्वत्थामा के रूप में है इसमें दूसरा हेतु कहते हैं 'भगवान् इति' द्रोणाचार्य ब्रह्मज्ञानी होने से भगवद्रूप थे । ब्रह्मज्ञानी अपनी इच्छा से देह त्याग करता है । द्रोणाचार्य ने तुम्हारा उपकार करने के लिए देह छोड़ने की दशा में अपने पुत्र को मरा हुआ सुनकर पुत्र मरण न हो और मैं अश्वत्थामा के रूप में ही जीवित रहूंगा इस विचार से पितृ शरीर छोड़ दिया अतः यह अश्वत्थामा वही द्रोणाचार्य है । श्रुति में कहा है कि 'आत्मा वै पुत्रनामासि' पिता ही पुत्र नाम से है और प्रजारूप से प्रसिद्ध होता है । निवृत्ति धर्म के विरुद्ध धर्म करना युक्त नहीं है इसलिए 'तस्यात्मनोर्द्धम्' इस पद से दया बताते हैं । मूल रूप जो द्रोणाचार्य है उसके अर्द्धाङ्ग रूप में पत्नी है । तो उस कृपी ने अपने पति का अनुगमन इसलिए नहीं किया कि अपना पति पुत्र के रूप में जीवित है इसलिए पुत्रवती सती स्त्रियां अपने पति का अनुगमन नहीं करतीं । उस कृपी का यदि द्रोणाचार्य रूप अश्वत्थामा मर जाता है तो वह विधवा हो जाती है और वंश नहीं रहता है इसलिए अत्यन्त दुःखी होने से द्रौपदी को दया हुई । इसी तात्पर्य को 'नान्वगात्' पद से कहा है । कृपा की अधिष्ठा भी देवता है इसलिए उसका नाम कृपी है ।।४५।

**आभास**—व्यलीकं कापट्यम् । तदपि धर्मे बाधकम् । तस्मादस्य मोचनं निर्व्यलीकमिति तदाह—

**आभासार्थ**– व्यलीक कहते हैं कापट्य को वह कापट्य धर्म में बाधक होता है । अर्थात् धर्म में कापट्य नहीं होना चाहिये । इसलिए इस अश्वत्थामा को निष्कपट रूप में छोड़ें इसी बात को कहते हैं कि—

श्लोक—**तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् ।**
**वृजिनं नाऽर्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ।।४६।।**

**श्लोकार्थ**—हे धर्मज्ञ ! हे महाभाग ! इसलिए अनुचित होने से गुरु सम्बन्धी कुल आपके द्वारा दुःख पाने योग्य नहीं है किन्तु सर्वदा पूजनीय एवं वन्दनीय है ।४६।

**सुबोधिनी—तद्धर्मज्ञेति** । यदि केनाऽपि प्रकारेण गुरुकुले दुःखप्रापणं तदा कृतो गुरुसेवालक्षणो धर्मः सकपटो भवति । तस्माद्धर्मे कापट्यं जानन्नपि यस्तथा करोति स न धर्मज्ञः । त्वं तु तद्विपरीतत्वाद्धर्मज्ञः । अतो—हे धर्मज्ञ ! किञ्च । महाभाग्येन गुरूणां सेवाकरणसामर्थ्यं भवति । तज्जातेऽपि सामर्थ्ये यदि सेवां न कुर्यात्तदा महदभाग्यम् । त्वं तु तद्विपरीतः । हे महाभाग ! किञ्च । अन्यैर्गुरुकुले वृजिने प्राप्ते भवद्भिस्तद्दूरीकर्तव्यम् । तत्र तद्विपरीतं दृश्यते । भवद्भिरेव गौरवं कुलं वृजिनं प्राप्नोति । तन्न युक्तम् । तत्तथा नाऽर्हति । तत्र हेतुः—**पूज्यं वन्द्यमिति** । सर्वथा महद्भिर्गौरवं कुलं पूजामेवाऽर्हति । तत्प्रसादादेव महत्त्वस्य जातत्वात् । किञ्च । अनम्रतया पूजामपि नाऽर्हति । किन्तु सर्वदा नमनमप्यर्हतीत्यर्थः ।।४६।।

**व्याख्यार्थ**—यदि किसी भी प्रकार से गुरुकुल को दुःख दिया जाय तो किया हुवा जो गुरु सेवा रूप धर्म है वह सकपट होता है इसलिए धर्म में कापट्य समझता हुआ भी जो ऐसा करता हैं वह धर्मज्ञ नहीं है । तुम तो कापट्य रहित हो इसलिए धर्मज्ञ हो । इसलिए द्रौपदी ने 'धर्मज्ञ' पद से सम्बोधित किया है और भी एक बात है कि बड़े ही भाग्य से गुरु सेवा करने का सामर्थ्य होता है । सामर्थ्य होने पर भी यदि गुरु सेवा नहीं करता तो उसका महान् अभाग्य समझना चाहिये । आपने सेवा की है इसलिए महाभाग है । यदि दूसरों के द्वारा गुरुकुल दुःखित किया जाय तो आपको गुरुकुल का दुःख दूर करना चाहिये परन्तु इस समय मैं विपरीत देख रही हूं । अर्थात् स्वयं तुम हो गुरुकुल को दुःख दे रहे हो । यह ठीक नहीं क्योंकि गुरुकुल इस प्रकार के दुःख प्राप्ति के योग्य नहीं है । इसमें हेतु देती है कि 'पूज्यं वन्द्यम्' महान् पुरुषों को चाहिये कि वह गुरुकुल को सब प्रकार से पूजा ही करे । क्योंकि गुरु कृपा से ही उसमें महत्व आया है बिना नम्रता के पूजन नहीं करना चाहिये इसलिए सर्वदा गुरुकुल नमनीय है ।।४६।।

**आभास**—किञ्च । धर्मे ज्ञानाभावोऽपि बाधकः । **"यदेव विद्यया करोती"**ति श्रुतेः । ततः स्वस्मिन्निवाऽन्यस्मिन्नपि यः सुखदुःखे समे पश्यति तत्कृतो धर्मः । अन्यस्तु **"विषमधिया रचितो य"**इति वाक्यादधर्मप्रायः । तत एकपुत्रमरणेन रुदतां प्राणिनां यथाऽन्यो विनश्येत्तद्वदिदमित्याह—

**आभासार्थ**—धर्म में ज्ञान का न रहना भी बाधक है । श्रुति में कहा है कि 'यदेव विद्यया करोति' जो भी कुछ ज्ञानपूर्वक किया जाता है वह श्रेष्ठ होता है । ज्ञान होने से दूसरों में भी अपने समान सुख दुःख जो देखता है उसीसे किया हुआ ही धर्म है । विषय बुद्धि से होने वाला धर्म अधर्म प्राय है । जैसा कि वेद स्तुति में विषमधिया रचितो य" इस वाक्य से कहा है । अश्वत्थामा को मार देने से गौतमी भी मर जायगी जैसे एक ही जिसके पुत्र हो और वह मर जाय तो उसके पीछे रोने वाले प्राणियों में जैसे कोई दूसरा भी मर जाय उसी प्रकार यह बात होगी इसी बात को कहते हैं कि -

श्लोक—**मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता ।**
**यथाऽहं मृतवत्साऽऽर्त्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ।।४७।।**

**श्लोकार्थ**—मरे हुए पुत्र वाली आर्त्त जिसके आँसू आ रहे हैं ऐसी मैं जैसे बार-बार रो रही हूं उसी प्रकार अश्वत्थामा की माता कृपी जो पति को देवता रूप में मानती है वह रुदन न करे ।।४७।।

**सुबोधिनी—मा रोदीदिति** । तद्दु:खेनाऽहमतिदु:खिता । अत एव मा रोदीदिति प्रार्थना । **गौतमीति** ऋषिवंशोद्भवत्वात्तद्रोदने महानर्थ इति सूचितम् । स्वरूपतोऽपि सा महती । तदाह—**पतिदेवतेति** । पतिव्रताया नयनजलं भूमौ पतेच्चेत्तदा निर्वीर्या भूमिर्भवतीति **प्रथा** । ननु पतिव्रता सर्वतत्त्वज्ञा । अतो न रोदनं करिष्यतीति तत्राऽऽह—**यथाऽहमिति** । विषय एव तादृशो न तत्त्वज्ञानेन निवर्त्तत इत्यर्थः यथा वह्नेर्दाहकत्वे ज्ञातेऽपि दाहे वेदना भवत्येवेति भावः ।।४७।।

**व्याख्यार्थ**—कृपी के दु:ख से मैं अत्यन्त दु:खी होऊंगी । इसलिए मैं प्रार्थना करती हूं कि वह न रोवे । क्योंकि वह गौतमी है । गौतम ऋषि के वंश में उत्पन्न हुई है इसलिए उसके रोने पर बड़ा अनर्थ हो सकता है । कृपी स्वरूपत: भी महान् है । क्योंकि वह पति को देवता मानती है । पतिव्रता के आँसू यदि पृथ्वी पर गिरे तो पृथ्वी निर्वीर्या (ऊसर) हो जाती है । ऐसी प्रथा है । शंका करते हैं कि पतिव्रता सब तत्त्वों को जानती है । इसलिए वह नहीं रोयेगी । इस पर कहते है कि जैसे मैं रो रही हूं वैसे ही वह रोयेगी क्योंकि पुत्र-मरण का दु:ख ही ऐसा विषय है जो तत्त्वज्ञान से निवृत्त नहीं होता । जैसे अग्नि जलाती है यह ज्ञान है । तब भी दाह होने पर वेदना होती ही है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञान होने पर भी पुत्र-मरण में दु:ख होता ही है ।।४७।।

श्लोक—**यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः ।**
**तत्कुलं प्रदहत्याशु साऽनुबन्धं शुचाऽर्पितम् ।।४८।।**

**श्लोकार्थ**—काम क्रोधादि के अधीन है अन्त:करण जिनका ऐसे राजाओं से ब्रह्मकुल कुपित किया जाय तो शोकयुक्त वह ब्रह्मकुल उन राजाओं के मृत्यु अमात्य परिवार सहित कुल को शीघ्र ही जला देता है ।।४८।।

**सुबोधिनी**—धर्मस्त्वीश्वराऽविरोधी भवति । तत्र धर्मप्रवर्तकत्वाद्ब्राह्मणा ईश्वरा एव । तच्चेदन्यैः क्षत्रियादिभिः कोपयुक्तं क्रियेत तदाऽन्येषां कुलं साऽनुबन्धं विनाशयतीति महतामुपदेशादिदं वाक्यं महत् । महद्वाक्याविरोधेन च धर्मः कर्तव्य इति । तस्माच्छीघ्रं मुच्यतामिति सिद्धम् ।।४८।।

**व्याख्यार्थ**- ईश्वर का अविरोधी ही धर्म होता है । जैसे भगवान् धर्मप्रवर्त्तक हैं उसी प्रकार ब्राह्मण भी धर्म प्रवर्त्तक होने से ईश्वर ही है । उस ब्राह्मण कुल को क्षत्रिय आदि अन्य कोपयुक्त कर दें तो उनके मृत्य अमात्यादि सहित कुल को वह ब्रह्मकुल विनष्ट कर देता है । यह उपदेश महत् पुरुषों का है । इसलिए उनके वाक्य होने से इन वाक्यों में भी महानता है । इस प्रकार के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार ही धर्म करना चाहिये इसलिए इस अश्वत्थामा को शीघ्र ही छोड़ दे यह बात उपर्युक्त कथन से सिद्ध होती है ।।४८।।

**आभास**—सूतस्तु द्रौपदीवाक्यमनूद्य सर्वसम्मत्या तत्तथेति स्थापयति **धर्म्यमिति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—सूतजी द्रौपदी के वाक्य का अनुवाद कर द्रौपदी के वाक्य ही सर्वसम्मत हुए इस बात को धर्म्यं न्याय्यं आदि दो श्लोकों से कहते हैं—

**सूत उवाच—श्लोक— धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत् ।**
**राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥४९॥**
**नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः ।**
**भगवान् देवकीपुत्रो ये चाऽन्ये याश्च योषितः ॥५०॥**

**श्लोकार्थ**—सूतजी ने कहा–हे ब्राह्मणों ! द्रौपदी के धर्म, न्याय, दयायुक्त, कपटरहित समबुद्धि (पक्षपात रहित) कहे गये श्रेष्ठ वचनों की राजा युधिष्ठिर नकुल, सहदेव, सात्यकि, अर्जुन, भगवान् कृष्ण और सर्वसाधारण स्त्री पुरुषों ने तथा अतिमूढ स्त्रियों ने भी प्रशंसा की ॥४९॥५०॥

**सुबोधिनी**—धर्मादनपेतं धर्म्यम् । एवं न्याय्यम् । निर्व्यलीकं निष्कपटम् । समं समबुद्ध्योक्तम् । महद्राजवदुक्तम् । एवं वाक्ये षड्गुणास्तत्र तत्रैव निरूपिताः। प्रथमतो राज्ञोऽभिनन्दने हेतु— **धर्मपुत्र इति ।** इयमपि तद्भार्येति तथाऽऽह । अत्र सम्मत्यर्थम्—**द्विजा** इति सम्बोधनम् । **नकुलः सहदेवश्चेति** चकारात्तथा । युयुधानः सात्यकिरर्जुनशिष्यः । अर्जुनश्च । गुरुशिष्ययोरेकत्र सम्मतिकथनं तथैव **धर्मनिर्णय** इति ख्यापनार्थम् । भगवतोऽत्राऽभिनन्दनं भक्तकृपया । तदाह— **देवकीनन्दन इति ।** सर्वत्र देवकीनन्दनपदं भक्तवश्यताज्ञापनार्थम् । सर्वजनीनोऽयं धर्म इति ख्यापयितुं सवस्त्रीपुरुषाणां सम्मतमित्याह - **ये चाऽन्य इति ।** योषित्पदमतिमूढत्वख्यापनार्थम् । अतो न पुनरुक्तिः ॥४९ ।५०॥

**व्याख्यार्थ**— द्रौपदी ने 'मुच्यतां मुच्यतामेष' इस प्रकार के धर्मयुक्त, 'स रहस्यो धनुर्वेद.' से नीति सम्मत, 'तस्यात्मनोऽर्द्धं पत्न्यास्ते' से दयायुक्त, 'तद्धर्म महाभागज्ञ' से कापट्य शून्य 'मारोदीदस्थजननी' से समबुद्धि से कहे गये तथा उस द्रौपदो से राजा की तरह कहे गये महान् वचनों का सभी ने समर्थन किया अभिनन्दन किया । इस प्रकार धर्म्यं न्याय्यं इस वाक्य में जो छः गुण निरूपित हुए हैं वे पूर्व के श्लोकों में कहे गये हैं । धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी के धर्मयुक्त वाक्यों का सर्वतः प्रथम अभिनन्दन इसलिए किया कि युधिष्ठिर धर्मपुत्र था । द्रौपदी ने भी धर्मयुक्त वाक्य इसलिए कहे कि वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर की पत्नी थी । 'द्विजाः' इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि जैसे आप लोग धार्मिक हैं इसलिए धर्म का ही समर्थन करते हैं वैसे ही युधिष्ठिर ने भी किया । द्विज पद से ऐसा अर्थ इसलिए निकला कि यज्ञोपवीत संस्कार होने के अनन्तर यज्ञादि धर्मों में अधिकार होता है । नकुल, सहदेव ने भी इन वाक्यों का अभिनन्दन किया । अर्जुन के शिष्य सात्यकि तथा अर्जुन ने प्रशंसा की थी । श्लोक में युयुधान

और धनञ्जय इन दोनों पदों को साथ कहना यह बताता है कि जिस विषय में गुरु शिष्य दोनों की सम्मति हो जाती है वहीं धर्म का ठीक निर्णय होता है। द्रौपदी भक्त थी इसलिए उस पर भगवान् की कृपा थी। अतः भगवान् ने उसके वाक्य का अभिनन्दन किया। भगवान् भक्तवश्य हैं इस बात को देवकीनन्दन पद कहता है। अर्थात् देवकी के पुत्र भक्ति के कारण ही बने। यह धर्म सबका हितकारी है इस बात को बताने के लिये 'ये चान्ये' कहा अर्थात् सभी स्त्री पुरुषों की इस वाक्य में सम्मति हुई। श्लोक में आये अन्य शब्द से सर्व साधारण स्त्री पुरुष लिये गये हैं। जब इस अन्य पद से स्त्रियां भी ले ली गई तब 'योषितः' यह पद पुनः क्यों कहा इसका उत्तर देते हैं कि यहां 'योषित' पद से अति मूर्ख स्त्रियां ली गई हैं वे अन्य शब्द से संगृहीत नहीं हुई अतएव योषित शब्द की पुनरुक्ति नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि द्रौपदी के वाक्यों का मूर्ख स्त्रियों ने भी समर्थन किया ॥४६॥५०॥

**आभास**—धर्मो द्विविधः। तत्त्वसहितः प्रमाणसहितश्चेति। तत्र प्रामाणिका व्यवहारे तत्त्वसहितं धर्मं न मन्यन्ते। तत्र प्रमाणे मूलमासन्यः। सूत्रात्मकत्वात्। अतः सूत्रभूतवाय्ववतारो भीमो द्रौपद्युक्तं तत्त्वसहितं धर्ममनङ्गीकृत्य स्वयं स्वतन्त्रधर्मनिरूपणेन तद्वधार्थं प्रवृत्त इत्याह—

**आभासार्थ**—धर्म दो प्रकार का है। एक तत्त्वसहित और दूसरा प्रमाणसहित।[1] जो प्रमाण को प्रधान मानने वाले हैं वे व्यवहार में तत्त्वसहित अर्थात् जो धर्म का वास्तविक रूप है उस रूप में धर्म को नहीं मानते। प्रमाण में मूल है आसन्यप्राण (मुख्य प्राण) क्योंकि वह सूत्रात्मक है।[2] अत सूत्रभूत वायु के अवतार भीमसेन ने द्रौपदी से कहे गये तत्त्वसहित धर्म को स्वीकार न कर स्वयं स्वतन्त्र धर्म का निरूपण करता हुआ अश्वत्थामा के वध के लिए प्रवृत्त हुआ।[3]

---

१ तत्त्वसहित धर्म वह है जो व्यवहार में मुख्य रूप में प्रचलित है जैसे व्यवहार इस प्रकार का है कि गुरुपुत्र का अनादर नहीं होना चाहिये। द्रौपदी ने इसी को कहा है और इसका दूसरों ने नकुल, सहदेव आदि में भी अनुमोदन किया है। अतः वह तत्त्वसहित धर्म है।
प्रमाणसहित धर्म वह है कि जो प्रमाण वाक्यों के अनुसार ही माना जाय जैसे प्रमाण यह है कि "आततायिनमायान्तं हत्यादेवाऽविचारयन् जिघांसन्तं जिघांसीयात्"

२ सूत्रात्मक धर्म का अर्थ है मूल कारणभूत कर्म। अर्थात् वायु (मुख्यप्राण) ही शब्द का मूल कारण है क्योंकि शब्द वायु के धक्के से ही शब्द निकलते हैं अतः मुख्य प्राण जिससे शब्दों का उच्चारण होता है, वही सूत्ररूप है।

३ तात्पर्य यह है कि व्यवहारिक धर्म की बात द्रौपदी ने कही इसलिए द्रौपदी ने जो धर्म बताया वह तत्त्वसहित है।
भीम वायु का अवतार है इसलिए वह प्रमाणों के अनुसार ही धर्म मानता है।
इसलिए द्रौपदी से कहे गये तत्त्वसहित धर्म को न मानकर स्वयं स्वतन्त्र रूप से जो व्यवहारानुसार नहीं है प्रमाणानुसार है ऐसे धर्म का निरूपण करता हुआ भीम अश्वत्थामा को मारने के लिए प्रवृत्त हुआ इसी बात को कहते है कि—

श्लोक—**तत्राऽऽहाऽमर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः ।**
**न भर्तुर्नाऽऽत्मनश्चाऽर्थे योऽहन् सुप्तान् शिशून् वृथा ।।५१।।**

**श्लोकार्थ**—इस प्रकार द्रौपदी के वचनों का सबके द्वारा अभिनन्दन होने पर उसे सहन नहीं करता हुआ भीमसेन बोला कि स्वामी दुर्योधन का अथवा अपना कुछ भी प्रयोजन न रहते हुए भी वृथा ही जिसने सोते हुए बच्चों को मार दिया है इसलिए इसको मारना ही अच्छा है ।।५१।।

**सुबोधिनी— तत्रेति** । अधर्मप्रतिपक्षत्वात्क्रोधः । दर्शनेनैव दैत्यभयं जनयतीति भीमः । तस्य रक्षणापेक्षया वध एव श्रेयान् । यतोऽयं निशि वृथैव सुप्तान् शिशूनहन् । एवमन्यदप्यविचारितं करिष्यतीति वधः श्रेयानित्यर्थः ।।५१।।

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि भीमसेन सूत्ररूप है इसलिए उसे क्रोध करना युक्त नहीं है परन्तु यह सूत्रात्मक भीमसेन अधर्म का शत्रु है इसलिए उसने क्रोध किया । भीम शब्द का तात्पर्य यह है कि जो दर्शन मात्र से ही जो दैत्यों को भय पैदा करे अथवा जिसके देखने मात्र से दैत्य जैसा भय लगे । भय पैदा कर दे । भीमसेन ने कहा कि इस अश्वत्थामा की रक्षा न कर मार देना ही ठीक है क्योंकि इसने रात्रि में सोते हुए बच्चों को व्यर्थ ही मार डाला । यदि यह जीवित रहेगा तो अन्य भी ऐसे अविचारित कार्य करेगा इसलिए इसको मारना ही ठीक है ।।५१।।

**आभास**—भगवांस्तूभयरूपं धर्ममुक्तवानिति द्रौपदीभीमयोः परस्परविरोधे उभय-समाधानार्थं क्रियाशक्तिद्वयाविर्भावाय भुजचतुष्टयाविर्भाव कृतवानित्याह—

**आभासार्थ**—भगवान् ने तत्त्वसहित धर्म का अभिनन्दन करके उसमें अपनी सम्मति प्रकट की और इसके पूर्व इसके मारने के लिए भी आज्ञा दी इस समय द्रौपदी और भीमसेन के वाक्यों में परस्पर विरोध है अतः दोनों को समझाने के लिए अधिक क्रियाशक्ति आवश्यक है इसलिए भगवान् ने चार भुजाएं प्रकट की । मतलब यह है कि हाथों से क्रिया होती है इसलिए वे क्रियाशक्ति प्रधान है । यहां द्रौपदी और भीम दोनों के विरोध को दूर करने के लिए दो क्रियाशक्तियां अपेक्षित थी इसलिए भगवान् ने चार भुजाएं प्रकट की । पूर्व की दो भुजाएं एक क्रियाशक्ति वाली और दूसरी प्रकट की गई दो भुजाए दूसरी क्रियाशक्ति वाली । इसी बात को कहते हैं—

श्लोक—**निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः ।**
**आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ।।५२।।**

**ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्यो ह्याततायी वधार्हणः ।**
**मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ।।५३।।**

**श्लोकार्थ**—भीम एवं द्रौपदी के वचनों को सुनकर भगवान् चतुर्भुज बने और अपने सखा अर्जुन के मुख की ओर देखकर हँसते हुए भगवान् ने इस प्रकार कहा। यद्यपि यह अश्वत्थामा आततायी वध के योग्य है तथापि किसी रूप में ब्राह्मण होने से मारने योग्य नहीं है। मैंने इसके मारने तथा न मारने के लिए जो दो बातें कही हैं उनका तू पालन कर ॥५२॥५३॥

**सुबोधिनी—निशम्येति** । चतुर्भुजो जात इति भिन्नं वाक्यम् । "**परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः । नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधत**" इति परस्परकार्यजननाय स्वयं तावेव स्तम्भितवान् । अर्जुनस्तु सख्यपर्यन्तमागत इति तं ज्ञापयितुं तन्मुखं विलोक्य स्वाभिप्रायमाह । अर्जुनोऽपि मोहिव इव जात इति हसन्निवो(?)क्तम् । अन्यथा द्रौपदीवाक्यस्याऽभिनन्दितत्वात्सन्मानं कृत्वैव तं विसृजेत् । तथाचाऽग्रिमानर्थो न भवेत् । भीमवाक्यं वा श्रुत्वा मारयेत् । तथापि नाऽनर्थो भवेत् । अत उभयाकरणाद्भगवान्मोहयन्निवाऽऽह । एकं चेन्न करोषि तर्हि उभयात्मकं कुरु । ननु विरुद्धं कथमुभयं कर्तुं शक्यमिति चेत् ? तत्राऽऽह—**मयैवोभयमाम्नातमिति** । भगवता ह्युभयात्मकं वस्तु दृष्ट्वोभयमाम्नातम् । अन्यथा अनाप्तत्वप्रसङ्गात् । तज्ज्ञात्वा मया समाम्नातम् । तज्ज्ञात्वा मत्सखित्वात्त्वयाऽपि कर्तव्यम् । अन्यथा सखित्वं न स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह-**परिपाह्यनुशासनमिति** । परिपालय मदाज्ञाम् ॥५२॥५३॥

**व्याख्यार्थ**—चतुर्भुज हुए यह 'आलोक्य वदनं' से भिन्न वाक्य है। अर्थात् 'भीमगदितं द्रौपद्याश्च गदित निशम्य चतुर्भुजो जातः' ऐसा वाक्य है। परस्पर विरोध होने पर एक बात का निर्णय नहीं हो सकता। वचनों में ही विरोध है इसके लिए विरुद्ध वाक्यों की एक वाक्यता नहीं हो सकती। इसलिए दोनों बातों के समन्वय के साथ दोनों कार्य भी हो जाय इसके लिए भगवान् ने दोनों वचनों के पालन के लिए कहा। अर्जुन सख्य भक्ति पर्यन्त पहुँच गया था इसके लिए उसे जताने के लिए उसके मुख को देखकर हँसते हुए भगवान् ने अपने अभिप्राय को कहा। भगवान् ने हँसते हुए की तरह अर्जुन से कहा इसलिए अर्जुन भी मोहित जैसा हुआ। अर्थात् पूरा मोहित नहीं हुआ। यदि पूरा मोहित होता तो द्रौपदी के वाक्य का अभिनन्दन कर दिया था तो उसका सम्मान करके ही उसे छोड़ देना था जिससे कि वह अश्वत्थामा परीक्षित को ब्रह्मास्त्र से मारने का प्रयत्न न करता। भीमसेन के वाक्य को सुनकर यदि मार देता तो भी भविष्य में होने वाला अनर्थ नहीं होता। भगवान् ने उसे मोहित जैसा बना दिया इसलिए दोनों में एक की भी बात नहीं मानी। तब भगवान् ने आज्ञा की कि इनमें से यदि एक की बात नहीं करता है तो दोनों की बात रह जाय ऐसा कार्य कर। कहते हैं कि विरुद्ध दोनों बातें कैसे की जाय तो भगवान् आज्ञा करते हैं कि मैंने ही दोनों बातें कही हैं। भगवान् ने दोनों बातें इसलिए कही कि दोनों ही प्रकार की बातें शास्त्र विहित हैं। ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये और आततायी को मार देना चाहिये ये दोनों बातें कही हैं। यदि भगवान् की एक बात भी प्रमाण विरुद्ध रहती है तो भगवान् में अनाप्तत्व हो जाता है। तो फिर भगवान् ने ऐसी दो परस्पर विरुद्ध बातें क्यों कही यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर देते हैं कि भीमसेन और द्रौपदी दोनों के हृदय की बात को जानकर ही भगवान् ने ऐसी दो बातें कही। जब मैंने दो बातें कही हैं तो तू मेरा मित्र है इसलिए तुझे भी मेरे कथन के अनुसार ही करना

चाहिये । यदि तू मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करता है तो तू मेरा मित्र नहीं हो सकता । अतः मेरी आज्ञा का पालन कर इसो बात को परिपाह्यनुशासनम् से कहा है ।।५२ ।५३।।

**आभास**—एतावता सर्वेषां सम्मतं भविष्यतीत्याह—

**आभासार्थ**—इतना होने पर वह सबको सम्मत होगा यह कहते हैं—

श्लोक—**कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम् ।**
**प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ।।५४।।**

**श्लोकार्थ**—प्यारी द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए जो तुमने प्रतिज्ञा की थी उसे सत्य करो । भीमसेन का, द्रौपदी का और मेरा भी प्रिय हो उसे करो ।।५४।।

**सुबोधिनी**—**कुरु प्रतिश्रुतमिति** । स्वप्रतिज्ञा शिरसः समाहरणे । तच्छिरोमणिहरणेन पालितं भविष्यति । भीमसेनस्य प्रियं वधेन । तद्वपनादिना पालितं भवति । द्रौपद्याश्च प्रियं मोचनेन । तदपि तेनैव पालितं भविष्यति । मह्यं च प्रियमुभयात्मककरणेन ।।५४।।

**व्याख्यार्थ**- सिर को लाने की अपनी (अर्जुन की) जो प्रतिज्ञा है वह उसके सिर की मणि के ले लेने से पूरी होगी । अश्वत्थामा को मारने से भीमसेन का प्रिय होता है वह इसके मुण्डन से पूरा हो जाता है और द्रौपदी को छुड़ाना प्रिय है वह इसको छोड़ देने से हो जायगा । दोनों बातों के पालन से मेरा (कृष्ण का) प्रिय होगा ।।५४।।

**आभास**—भगवत्कृपया अर्जुनः सर्वरूपमेकं ज्ञात्वा तथा कृतवानित्याह द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**- अर्जुन ने भगवान् की कृपा से सब बात जिसमें समाविष्ट हो जाय ऐसे एक उपाय को जानकर वैसा किया इसे दो श्लोकों से कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्द्दमथाऽसिना ।**
**मणिं जहार मूर्द्धन्यं द्विजस्य सह मूर्द्धजैः ।।५५।।**
**विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम् ।**
**तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ।।५६।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी बोले-अर्जुन ने भगवान् के हृदय के अभिप्राय को सहसा जानकर तलवार से मस्तक पर रही मणि को शिखा सहित ले ली और रस्सी से बंधे हुए बालकों की हत्या से हतप्रभ तेज और मणि से हीन अश्वत्थामा को शिबिर से निकाल दिया ।।५५।।५६।।

**सुबोधिनी** – **अर्जुन इति** । कृपाहेतुत्वात्—**सहसेति** । अथ तदनन्तरमेव । विमोचनात्पूर्वमसिना खड्गेन शिरसश्चूडामणिं शिखासहितं द्विजस्य हृतवान् । इदं ह्युभयात्मकम् । तदग्रे वक्ष्यते । त्र्यङ्गत्वादुभयात्मकस्य तृतीयमाह—**विमुच्येति** । पूर्वं रशनाबद्धम् । तस्य तूष्णीम्भावे हेतुः—**बालहत्याहतप्रभमिति** । **तेजसा मणिना हीनमिति** । तृतीयसमीपे द्वयोरनुवादः । शिबिरात् स्वकटकात् । **निरयापयदिति** सतां स्थानान्निर्यापणेन सर्वत्रैव सत्सु तस्य प्रवेशो न भविष्यतीति ज्ञापितम्।।५६।।५६।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् की कृपा के कारण ही अर्जुन ने सहसा भगवान् के अभिप्राय को समझ लिया । उसके अनन्तर ही छोड़ने के पहले तलवार से सिर की चूड़ामणि को शिखा सहित ले लिया । ऐसा करना पहले कही हुई दोनों बातों का पालन करना है । यह बात आगे कहेंगे । इस उभयात्मक उपाय के तीन अंग हैं । उनमें से तीसरे अङ्ग को विमुच्य' इस पद से कहते हैं । पहले वह रस्सी से बंधा था । उसे छोड़ दिया । अपमान होने पर भी अश्वत्थामा कुछ न बोला इसका कारण बताते हैं 'बालहत्याहतप्रभम्' बालकों की हत्या से हतप्रभ होने के कारण वह कुछ न कर पाया । पूर्व में 'तेजसा मणिना हीनं' के अर्थ को बता दिया है तो फिर 'तेजसा मणिना हीनम्' ऐसा क्यों कहा तो कहते हैं कि शिबिर से निकाल देने की जो तीसरी बात है उसके साथ पुनः इनका अनुवाद मात्र है । कुछ अपूर्व बात नहीं कहनी है । शिबिर से अर्थात् अपने सेना निवेश स्थान से निकाल दिया । सत्पुरुषों के स्थान से निकाल देने पर सर्वत्र सत्पुरुषों के यहां इसका प्रवेश न हो सकेगा यह शिबिरान्निरयापयत् से बताया ।।५५।।५६।।

**आभास**—कृतस्य सर्वरूपस्य तथात्वं विवृणोति—

**आभासार्थ**—अश्वत्थामा के साथ जो कुछ किया गया वह ठीक था इसका विवेचन करते हैं—

श्लोक—**वपनं द्रविणाऽऽदानं स्थानान्निर्यापणं तथा ।**
**एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नाऽन्योऽस्ति दैहिकः ।।५७।।**

**श्लोकार्थ**—मुण्डन, धन का अपहरण तथा निवास स्थान से निकालना ही आसुरी प्रकृति वाले ब्राह्मणों का वध है । अन्य दैहिक सिरश्छेद आदि रूप वध नहीं हैं ।।५७।।

**सुबोधिनी**– **वपनमिति हीति** पूर्वोक्तप्रमाणादयोऽनुसन्धेयाः । ब्रह्मबन्धूनां दैत्यांशब्राह्मणानाम् । दैहिको देहच्छेदनात्मकः ।।५७।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में 'हि' पद निश्चय अर्थ को बताता है अर्थात् 'मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः' आदि से तथा 'आततायी वधार्हणः' जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इन प्रमाण आदि के अनुसार यही निश्चय है कि ब्राह्मण का वपनादि ही वध रूप है । श्लोकस्थ ब्रह्मबन्धु का अर्थ है दैत्यांश ब्राह्मण । दैहिकः का अर्थ देहच्छेदनरूप वध । दैत्यांश ब्राह्मणों का वध यही है । मारना विहित नहीं है ।।५७।।

**आभास**—प्रासङ्गिके गते प्रस्तुतमुपसंहरति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार प्रसङ्ग प्राप्त बात कहकर प्रस्तुत बात का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**पुत्रशोकार्दिताः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया ।**
**स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ।।५८।।**

**श्लोकार्थ**—पुत्र-शोक से पीड़ित द्रौपदी सहित पाण्डवों ने मरे हुए अपने कुटुम्बियों का जलाने के लिए ले जाना आदि कृत्य किये ।।५८।।

**सुबोधिनी**—**पुत्रेति** ।।५८।।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मज श्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ।।७।।**

**व्याख्यार्थ** - इसका अर्थ स्पष्ट है ।।५८।।

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का सप्तम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

### प्रथम स्कन्ध–अधिकार लीला

### तृतीय प्रकरण–उत्तमाधिकार

*अध्याय—८*

### ब्रह्मास्त्र से रक्षा और भगवान् की स्तुति

कारिका—**एवं हि सर्वभक्तानां भगवद्वाक्यनिष्ठता ।**
**सर्वहेतुकथा यैव सप्तमे विनिरूपिता ॥१॥**

**अष्टमे यस्य वाक्यस्य करणाद्वृद्धि जायते ।**
**दोषश्चेत्तत्समाधानं गुणश्चेदाह पोषणम् ॥२॥**

**कारिकार्थ**—अब अष्टमाध्याय का विवरण करते हुए सप्तम एवं अष्टम अध्याय की सङ्गति बताने के लिए दोनों अध्यायों का "एव" इत्यादि कारिकाओं से अर्थ कहते हैं। इस प्रकार सबके मनोरथ पूर्ण करने में जो कारण भक्ति है उसके निरूपण करने के लिए सप्तम अध्याय में सब भक्तों ने भगवान् के वाक्य का पालन किया ऐसा बताया। कारिका में "सर्वहेतुकथायैच" ऐसा पाठ प्रकाशकार बताते हैं, ऐसी स्थिति में सूतजी के कहने में हेतु निरूपण करने से और श्री भागवत की स्थिति का कारणभूत जो परीक्षित का भगवदीयत्व, उसमें हेतु उसके पूर्वज पाण्डवों का वैष्णवत्व होगा इस बात को कहने के लिए भगवद्वाक्य का पालन करना सप्तम अध्याय में

निरूपित किया गया । पाण्डव पूरे वैष्णव थे इसलिए उनने भगवान् के वाक्यों का पालन किया । पालन से जो फल हुआ उसका निरूपण करते हैं । प्रकाशकार यहां यह कहते हैं कि चौथे अध्याय में शौनकादिकों ने श्री भागवत और उसके निर्माता, वक्ता तथा श्रोता इन चार विषयों को लेकर चार प्रश्न किये । उनमें श्री भागवत विषयक प्रश्न का उत्तर आगे के स्कन्धों से दिया जायगा । कर्तृ विषयक प्रश्न का उत्तर "द्वापरे समनु प्राप्ते" से लेकर "शुकमध्यापयामास निवृत्ति निरतं मुनि" से निरूपण किया और उसमें अवान्तर प्रश्न तथा उत्तर भी कहें । वक्तृ विषयक प्रश्न का उत्तर सप्तमाध्याय में कथन और अध्ययन का निरूपण करते हुए दिया । बाकी रहा जो श्रोतृ विषयक चतुर्थ प्रश्न वह चार प्रकार से कहा गया है । जैसे राजा परीक्षित का जन्म, कर्म, आमरण अनशन करने का कारण तथा प्राण त्याग । उसका जन्म महाश्चर्यरूप है । इसमें हेतु कहना चाहिये । महाश्चर्य में कारण भगवदीयत्व है । राजा परीक्षित के भगवदीय होने में उसके पूर्वजों का वैष्णव होना कारण है, इसी बात को सप्तम अध्याय में भगवद्वाक्य में निष्ठा से निरूपण किया गया है उसीका कारिका में अनुवाद किया है ।

"अष्टमे यस्य वाक्यस्य" इस कारिका का अर्थ यह है कि अष्टम अध्याय में भगवान् के वाक्य के पालन करने से जो कुछ दोष हुआ उसका समाधान कहा है । इस अध्याय में १६ श्लोकों से दोषों का निरूपण किया गया है और कुन्ती कृत स्तुति पर्यन्त गुणों का वर्णन किया है । भगवान् के वाक्य के पालन करने से जो गुण हुआ उसका पोषण कहते हैं ।

**आभास**— पूर्वाध्यायान्ते अश्वत्थाम्नोऽपमाननं निरूपितमनिवर्त्यब्रह्मास्त्रप्रक्षेपहेतुत्वेन । अष्टमे तु पदार्थचतुष्टयं निरूप्यते भगवतोऽद्भुतकर्मनिरूपणाय । ब्रह्मास्त्रदाहः । तस्य रक्षा । ततोऽद्भुतकर्मनिर्णयस्तोत्रम् । ततोऽद्भुतकर्म । तत्र प्रथमं ब्रह्मास्त्रप्रसङ्गमाह—

**आभासार्थ**—आगे कहे जाने वाला परीक्षित पर अनिवर्तनीय ब्रह्मास्त्र के चलाने का कारण अश्वत्थामा का अपमान है इसका निरूपण सप्तमाध्याय के अन्त में किया गया है । अष्टम अध्याय में भगवान् को अद्भुतकर्मा बताने के लिए चार पदार्थों का निरूपण किया जाता है जो इस प्रकार है पहला ब्रह्मास्त्र से परीक्षित का दग्ध होना । दूसरा उसकी रक्षा करना । तीसरा भगवान् अद्भुतकर्मा है इसके निर्णय के लिए स्तुति करना । चतुर्थ जो भगवान् ने अद्भुत कर्म किये उनका निरूपण करना है । उनमें पहले ब्रह्मास्त्र के प्रसङ्ग को कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् ।**
**दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ।।१।।**
**ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः ।**
**आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ।।२।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं कि–इसके बाद पाण्डव मरे हुए एवं जल चाहने वाले पुरुषों को जल देने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण सहित स्त्रियों को आगे करके गङ्गाजी के तट पर गये । उन सभी ने जलाञ्जलि देकर तथा बहुत विलाप कर भगवान् की चरणारविन्द की रज से पवित्र गङ्गा के जल में पुनः स्नान किया ।१।२।

**सुबोधिनी अथेति** । शुद्ध्यनन्तरं हि संस्कारः कर्तव्यः । सा च शुद्धिर्बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधेति प्रथमं बाह्यां शौचमाह द्वयेन । मृतानां प्रेतत्वविमोके हि जीवतां शौचम् । ततस्तेषां प्रथमं तद्विमोकहेतुक्रियामाह दाहं कुरुक्षेत्र एव कृत्वा हस्तिनापुरे जलदानार्थं सर्वे गताः । ब्रह्मदण्डहता अपि यज्जलस्पर्शमात्रेण विमुच्यन्ते तत्र धर्मयुद्धे हता मुच्यन्त इति किं वक्तव्यम् । **"प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य तापं प्रशमं करोति"**ति तापापनोदार्थं जलमपेक्ष्यते । तथाच मूलभूततापत्रय-निराकरणार्थमपि एवं हेतया जलं देयमिति निश्चित्य गङ्गायां गता इति निरूप्यते । **अथेत्यवैर-**भावेन । **सम्परेतानामिति** सामान्यतः सर्वेषाम् । तत्राऽपि स्वानां बहुपुरुषसम्बद्धानामपि । तत्राऽप्युदकदायिनां सप्तमपुरुषसम्बद्धानाम् । तेषां मुक्तिदानार्थं भगवता सहेति **सकृष्णा** इत्युक्तम् । स्त्रियः पुरस्कृत्येति लोकाचारः । उदकं निनीय प्रेतेभ्यो जलं दत्वा । **"रोदनप्रियाः पितर"** इति विलप्य । येषां न खेदस्तेऽपि विहितत्वात्सर्वेऽपि विलापनं (?) कृतवन्तः । **भृशमिति** पुनर्विलापा-भावाय । चकारादन्यदपि कर्तव्यं कृत्वा । पूर्वं जलदानार्थं कृतस्नाना अपि पुनः सर्वशुद्ध्यर्थं भक्त्यर्थं ज्ञानाधिकारार्थं च गङ्गायां स्नातवन्त इत्याह–**आप्लुता इति** । यद्यपि पूर्वमेव–**"तच्चरणपङ्कजाऽवने जनाऽरुणकिञ्जल्कोपरंजिते"**ति वचनात्—**"धातुः कमण्डलुजलमि"**ति वचनाच्च सर्वमेव गङ्गाजलं तादृशं भवति तथापि नदीत्वेन जलान्तरस्पर्शसम्भावनया पूर्वस्नातजलं तादृशं भवति न वेति सन्दिह्योपरिभागे भगवन्तं स्थापयित्वा तच्चरणोदकेन स्नातवन्त इत्यर्थः. अनेन ते तदीया इति सर्वथा ज्ञापितम् ।।१।।२।।

**व्याख्यार्थ**—शुद्धि के बाद ही मृतक का संस्कार किया जाता है, वह शुद्धि दो प्रकार की है, बाह्य एवं आन्तर । इनमें पहले दो श्लोकों से बाह्य शुद्धि का निरूपण करते हैं । मरे हुओं का जब प्रेतत्व छूट जाता है तब उसके सम्बन्धी शुद्ध होते हैं । इसलिए पहले प्रेतत्व छुड़ाने के लिए मरणो-त्तर होने वाली क्रिया का निरूपण करते हैं । मरे हुओं का कुरुक्षेत्र में ही दाह करके हस्तिनापुर में जल देने के लिए सब (पाण्डव) गये । पहले कपिलदेवजी के क्रोध से दग्ध हुए सगर के पुत्र भी जिस गङ्गा के जल के स्पर्श से मुक्त हो गये तो धर्मयुद्ध में मरने वालों की मुक्ति हो इसमें क्या संदेह हो सकता है । "प्रत्तं जलं त्र्यञ्जलमात्मजेन प्रेतस्य तापं प्रशमं करोति" पुत्र से दिया गया जो तीन अञ्जलि जल वह प्रेत के ताप को मिटाता है । इसलिए प्रेत के ताप को दूर करने के लिए जल की अपेक्षा है । मूलभूत जो आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक ताप है उनके दूर करने के लिए

एक ही साथ तीन अञ्जलि जल देना चाहिये ऐसा निश्चय कर गङ्गाजी में गये इस बात का निरूपण किया जाता है । श्लोक में 'अथ' का अभिप्राय यह है कि मरणोत्तर वैर भावना नहीं रखनी चाहिये इसलिए वैर भाव को छोड़कर पाण्डव उत्तर क्रिया करने गये । श्लोक में 'स्वानाम्' का अभिप्राय यह है कि जो बहुत पीढ़ियों में हैं तथा सपिण्ड जो पुरुष मरे हैं उनको मुक्ति देने के लिए भगवान् के सहित गङ्गाजी पर गये । स्त्रियों को उस समय आगे किया क्योंकि ऐसा ही लोकाचार है । प्रेतों को जल देकर 'रोदनप्रियाः पितरः' पितरों को रोना अच्छा लगता है इसलिए वे रोये जिनको दुःख नहीं था वे भी शास्त्रोय विधि होने से रोये । सभी अत्यधिक रोये जिससे फिर न रोना पड़े । श्लोकस्थ चकार का अभिप्राय यह है कि इसके अतिरिक्त जो भी कर्तव्य था उसे भी किया । पहले जल देने के लिए स्नान किया था तो भी पुनः सब प्रकार की शुद्धि, भक्ति एवं ज्ञानाधिकार को प्राप्त करने के लिए गङ्गा में स्नान किया । इसी बात को आप्लुताः' से कहा है । यद्यपि गङ्गाजल भगवच्चरणारविन्द के धोने से अरुण पराग से युक्त है । जैसा कि 'तच्चरण-पङ्कजावनेजनारुण किञ्जल्कोपरञ्जिता' से कहा है 'धातुः कमण्डलजलम्' ब्रह्माजी ने भगवान् के चरणारविन्द को धोया । इस वचन से सभी गङ्गाजल अति पवित्र करने वाला है तथापि नदी रूप होने से जलान्तर के सम्बन्ध की सम्भावना है इसलिए पहले जिस जल में स्नान किया था वह शुद्ध गङ्गाजल (भगवच्चरणारविन्द का जल) था या नहीं, इस सन्देह से दूसरी बार जहाँ वे (पाण्डव) नहीं रहे थे उसके ऊपर के प्रदेश में भगवान् को खड़े किये और उनके चरणारविन्द के जल से स्नान किया । इस बात के कहने से यह मालूम हुआ कि भगवत्सम्बन्धी वस्तु का ही विनियोग करने का उनका आग्रह था इसलिए वे भगवदीय थे ॥१॥२॥

**आभास**—एवं सर्वकर्त्तव्ये कृते तादृशेषु भगवता यत्कर्त्तव्यं तदाह **तत्राऽऽसीन-मिति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**– इस प्रकार सब कार्य के करने पर वैसे भक्तों के लिए जो भगवान् ने किया उसे 'तत्रासीनम्' इत्यादि दो श्लोकों से कहते हैं –

श्लोक—**तत्राऽऽसीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहाऽनुजम् ।**
**गान्धारीं पुत्रशोकार्त्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥३॥**
**सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धून् शुचाऽर्पितान् ।**
**भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ॥४॥**

**श्लोकार्थ**—गङ्गातट पर बैठे अपने छोटे भाई भीमसेन आदि के सहित युधिष्ठिर को अथवा अपने छोटे भाई विदुरजी सहित धृतराष्ट्र को और पुत्र-शोक से व्याकुल गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी को जो बालकों के मर जाने से शोकाकुल थे उनको मुनियों के साथ जाकर लक्ष्मीपति भगवान् ने काल में पैदा हुए प्राणियों में काल की प्रवृत्ति अनिवार्य है इसलिए तत्वज्ञान देकर सान्त्वना दी ॥३॥४॥

**सुबोधिनी**—आसीनमित्यव्यग्रत्वाय । कुरुपतिं युधिष्ठिरम् । सहाऽनुजं विदुरसहितं भीमादिसहितं वा । तीर्थाटन कथा कल्पान्तरीया । स्त्रियः सर्वा एव पुत्रशोकार्त्ताः । अत **पुत्रशोकार्त्तामिति** विशेषणं सर्वत्र । कृष्णा द्रौपदी । चकारात्सुभद्रादयः । स्त्रोणां सान्त्वने हेतुः—**माधव इति** । माया धवः । सर्वासामेव लक्ष्म्यंशत्वात् । सान्त्वनं वस्तुयाथात्म्यज्ञापनेन । **मुनिभिरिति** संवादार्थम् । हता बान्धवा येषाम् । शोकापनोदनं तत्त्वज्ञानाद्भवति । नन्वीश्वरेण सान्त्वनमनुचितम् । सर्वकर्तृत्वादित्याशङ्क्य– स्थापितकालरूपाधिकारिणस्तद्गृह जातेषु दण्डादिकमीश्वरस्साऽप्रतीकार्यम् । न हि स्त्रीपुत्रादिताडने राजदण्डो भवति । कालस्याऽपि भक्तत्वात्कदाचिद्भक्तानप्युपेक्षते इति सिद्धान्तमाह—**भूतेष्विति** । काले जातेषु । कलयीति कालः । गतिं प्रवृत्तिम् । न विद्यते प्रतिक्रिया यस्याः ॥३॥४॥

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्थ 'आसीनम्' का अर्थ है बैठे हुए, जो व्यक्ति बैठ जाता है वह व्यग्र नहीं होता । युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र के लिये बैठे हुए कहने से वे व्यग्र नहीं थे । यह कहा गया । श्लोकस्थ 'कुरुपतिम्' का अर्थ है युधिष्ठिर । 'सहानुजम्' का अर्थ है भीम आदि सहित । जब 'सहानुजम्' को धृतराष्ट्र का विशेषण रखते है तो विदुर सहित धृतराष्ट्र यह अर्थ होता है । विदुरजी तीर्थ यात्रा के लिये चले गये थे तो यहां इस समय उनका निर्देश करना कैसे युक्त है तो कहते है कि तीर्थाटन की कथा दूसरे कल्प की है । इस कल्प की नहीं । इसलिये विदुर के सहित धृतराष्ट्र की स्थिति बताना असंगत नहीं है । वहां उपस्थित सभी स्त्रियां अपने-अपने पुत्रों के शोक से पीड़ित थी । इसलिये 'पुत्रशोकार्त्ताम्' यह कहा । यह विशेषण गान्धारी, कुन्ती तथा द्रौपदी सुभद्रा आदि सबका है । स्त्रियों को तो स्त्रियां समझाती है तो फिर भगवान् ने उन्हें क्यों समझाया इसलिये श्लोक में 'माधवः' पद दिया गया है । भगवान् लक्ष्मी के पति है । और स्त्रियां सब लक्ष्मी की अंश भूता है । पति का स्त्रियों को समझाना कर्त्तव्य हो जाता है इसलिये भगवान् का उनको समझाना ठीक था । देह नश्वर है । आत्मा नश्वर नहीं है । आदि आदि बातों से वस्तु का याथार्थ्य बताते हुए उन्हें समझाया । समझाने के समय मुनियों को भी साथ रक्खा क्योंकि वे भी अपनी (भगवान् की) बात का अनुमोदन करें । 'हतबन्धूनाम्' का अर्थ यह है कि जिनके बान्धव मर गये हैं । उनका तत्वज्ञान से शोक मिटाया जाता है । शंका करते हैं कि ईश्वर सर्वकर्त्ता होने से सब तरह से सब कुछ कर सकते हैं तो इस प्रकार सान्त्वना देना उचित नहीं । क्योंकि भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं तो वे काल का भी प्रतीकार कर सकते हैं । इस आशंका का उत्तर देते हैं—कि काल को भगवान् ने अधिकार दे दिया है इसलिये काल के घर में पैदा हुओं को काल दण्ड दे सकता है । उसका प्रतिकार भगवान् भी नहीं करते क्योंकि भगवान् उसे अधिकार दे चुके हैं । अधिकार दे देने के अनन्तर उसमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं । जैसे घर में रहे स्त्री पुत्र आदि के ताड़न करने पर राजा दण्ड नहीं देता क्योंकि यह उनके घर की बात होने से घर के स्वामी को ताड़न का अधिकार है इसी प्रकार काल के घर में पैदा हुओं को अर्थात् जिन पर काल का अधिकार है—उनको काल दण्ड दे सकता है । काल भी भक्त है इसलिये उसके सम्मान के लिये कदाचित् भगवान् काल से पैदा की गई भक्तों की आपत्ति की उपेक्षा करते हैं इसी सिद्धान्त को कहते है कि 'भूतेषु' अर्थात् काल में पैदा होने वाले प्राणियों में काल जो परिवर्तन आदि करता है उसकी प्रवृत्ति को प्रतिक्रिया रहित दिखाकर समझाया । श्लोकस्थ 'गति' का अर्थ प्रवृत्ति है अर्थात् काल की प्रवृत्ति को । "अप्रतिक्रियाम्" का अर्थ है कि जिस काल की प्रवृत्ति का उपाय नहीं हो सकता । ३-४॥

**आभास**—एवमपि तदानीमक्रियमाणमपि भक्तानां हितमेव करोतीति ज्ञापयितुं लौकिकप्रतीत्याऽपि यद्धितं तत्करिष्यमाणमपि भगवदिच्छायां जातायां कृतमेव लोके नाऽभिव्यक्तमिति सिद्धान्तज्ञापनार्थं तन्निरूपयति साधयित्वेति द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**– इस प्रकार उस समय नहीं किया गया भो भक्तों का हित भगवान् करते हैं इस बात को बताने के लिये लौकिक प्रतोति से भी जो हित है वह यद्यपि भविष्य में किया जायगा किन्तु भगवदिच्छा होने के कारण भगवान् की इच्छा के साथ ही कार्य हो जाता है भगवान् ने पाण्डवों के हित के लिये विचार किया तो एक प्रकार से वह कार्य हो हो चुका किन्तु लोक में वह प्रकट रूप में नहीं आया इसी सिद्धांत को बताने के लिये उसका निरूपण साधयित्वा इत्यादि दो श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—**साधयित्वाऽजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् ।**
**घातयित्वाऽसतो राज्ञः कचस्पर्शक्षताऽऽयुषः ।।५।।**
**याजयित्वाऽश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः ।**
**तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवाऽतनोत् ।।६।।**

**श्लोकार्थ**—भगवान् श्री कृष्ण ने कपटियों से छल के द्वारा हरे गये युधिष्ठर के राज्य को पुनः उन्हें दिलाकर द्रोपदी के केशों के स्पर्श से जिनकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे दुष्ट राजाओं को मरवाकर उत्तम साधनों से तीन अश्वमेघों के द्वारा यजन करा कर इन्द्र की तरह उस युधिष्ठर का पवित्र यश दिशाओं में फैलाया ।५-६।।

**सुबोधिनी**–न जाताः शत्रवो यस्येति भक्तावुत्तमाधिकारो द्योतितः । दाने हेतुः–**स्वं राज्यमिति** । तत्रापि हेतुः– **कितवैर्हृतमिति** । कपटद्यूते दुर्योधनादिभिर्हृतम् । हस्तिनापुरराज्यमपि तथा । पाण्डोरेव राजत्वात् । अत एव **कितवैरिति** बहुवचनम् । ननु कालस्याऽप्रतिक्रियत्वे तेषाम सुषो विद्यमानत्वात्कथं तद्घातनम् ? तत्राऽऽह—**घातयित्वेति** । सर्वे ह्यासन्तो राजानः । दुःशासनेन सहैक्यभावात् । कचस्पर्शो द्रौपद्याः । तेनैव क्षतमायुः सर्वेषाम् । निरपराधाया भक्तायाः प्राणानामुत्तमत्वादायुषः शिरसि विद्यमानत्वाब्दलिष्ठप्राणेन दुर्बलानां क्षतकरण युक्तमेव ।"**तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यामि**" ति श्रुतेः हारपृथक्त्वपक्षेणाऽश्वमेधत्रयकरणम् । उत्तमकल्पकैः उत्कृष्टसाधनसहितैः उत्तमं वा कल्पयन्तीति प्रायश्चितरूपैः । स्वसान्निध्यात्त्रिभिरेव (?) शताश्वमेधसमानयशोजनकत्वम् । त्रैलोक्येऽपि तस्य यशः । अनेनैकोपक्रमेण अश्वमेधत्रयं कृतमिति ज्ञातव्यम् ।।५।।६।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्थ अजातशत्रु शब्द का अर्थ यह है कि बाह्य एवं आन्तर काम क्रोधादि शत्रु जिसके उत्पन्न ही नहीं हुए है वही भक्ति का उत्तमाधिकारी है । अर्थात् जो काम क्रोध से रहित होता है वही भक्ति का उत्तमाधिकारो होता है भगवान् ने युधिष्ठर को राज्य इसलिये दिलाया कि वह उसी का था । राज्य दिलाने का कारण यह है कि दुर्योधन आदि ने धर्म युद्ध के

द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया किन्तु कपट युक्त द्यूत (जूआ) में उसके राज्य को ले लिया था। इसलिये भगवान् ने उन्हें मरवाकर पीछा युधिष्ठिर को दिलाया। हस्तिनापुर का राज्य भी इसी प्रकार दिलाया। क्योंकि हस्तिनापुर का राजा भी पाण्डु ही था। राज्य के हरण करने में अनेक कपटी इकट्ठे थे इसलिये 'कितवैः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया। शंका होती है कि काल का प्रतीकार नहीं हो सकता। यदि उन दुर्योधनादि की आयु शेष थी तो भगवान् ने उन्हें कैसे मरवा दिया। इस पर कहते है कि 'घातयित्वाऽसतोराज्ञः' सब राजा दुष्ट थे क्योंकि दुष्ट दुःशासन के साथ वे मिल गये थे। उनने द्रौपदी के बालों को स्पर्श किया उसीसे उन सब की आयु नष्ट हो गई। वह द्रौपदी निरपराध एवं भक्त थी इसलिये उसके प्राण उत्तम थे। उनका तथा आयु का स्थान सिर है परन्तु प्राणों के बलिष्ठ होने से आयु प्राणाधीन थी इसलिये उनके प्राणों को द्रौपदी के प्राणों ने नहीं रहने दिया। अश्वमेघ यज्ञ का फल बताते हुए कहा है कि तरति मृत्यु तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्' एक अश्व मेघ से मृत्यु को पार करता है दूसरे से पाप मुक्त होता है और तीसरे से ब्रह्म हत्या से मुक्त होता है। शंका करते है कि 'सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्' इस अधिकरण में दर्श, पौर्णमास एवं ज्योतिष्टोम आदि को सम्पूर्ण कामना देने वाले बताये है। काम नैमित्तिक है और ज्योतिष्टोम आदि उनके निमित्त है। इसलिये एक बार ज्योतिष्टोम आदि का अनुष्ठान करने पर युगपत् सत्व फल की सिद्धि हो ही जायगी तो फिर अलग-अलग कामना के लिये पृथक्-पृथक् अश्वमेघ यज्ञ करने की क्या आवश्यकता है। इस पर कहते है कि यहां काम विधेय नहीं है किन्तु स्वतः प्राप्त हुए कामों का उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम आदि का विधान है इन यागों से परस्पर निरपेक्ष स्वर्ग एवं पशु आदि पृथक्-पृथक् फल बताया गया है इसलिये तदर्थ पृथक् पृथक् कामना के लिये ज्योतिष्टोम आदि का भी पृथक्-पृथक् प्रयोग होता है। इसी न्याय से मृत्यु, पाप और ब्रह्महत्या से मुक्त होने के लिये राजा युधिष्ठिर ने पृथक्-पृथक् तीन अश्वमेघ यज्ञ किये। इसी बात को 'अश्वमेघैः' यह बहुवचनान्त पाठ देकर कहा है। वे अश्वमेघ उत्तम साधन सहित थे। अथवा 'उत्तम कल्पकैः' का अर्थ है उत्तम बनाने वाले। अर्थात् इन अश्व मेघ यज्ञों को प्रायश्चित रूप में कराके राजा को उत्तम बनाना है। क्योंकि युधिष्ठिर ने गुरु हनन आदि पाप किये है उनकी शुद्धि के लिये ये यज्ञ प्रायश्चित रूप में कराये। यज्ञ करते समय भगवान् का सान्निध्य था इसलिये तीन अश्वमेघ यज्ञों के करने मात्र से ही सौ अश्वमेध यज्ञ के समान राजा का यश हो गया। तात्पर्य यह है कि भगवान् की सन्निधि में किया हुआ थोड़ा भी यागादि कर्म अत्यधिक फल देने वाला होता है। जिससे राजा का तीन लोक में यश हो गया। इस एक के उपक्रम से राजा ने लगातार तीन अश्व मेघ यज्ञ किये ॥५॥६॥

**आभास**— एवं भगवतोऽत्रत्यलौकिकसर्वधर्मसमाप्तिसूचनाऽभ्यनुज्ञामाह सार्द्धेन—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवान् ने यहां लौकिक सब धर्मों की समाप्ति बताने के लिये जाने की आज्ञा ली, अर्थात् भगवान् जाने के लिये पूछ रहे है, इससे मालूम पड़ता है कि यहां के उनके द्वारा होने वाले पाण्डवों के लौकिक सभी कार्य समाप्त हो गये इसी को डैढ श्लोक से कहते है कि -

श्लोक—**आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः ।**
**द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ।**

**गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः ।।७।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्रह्मन् ! महर्षि व्यास आदि ब्राह्मणों की आज्ञाली तथा उनका पूजन किया और उनसे पूजित हुए भगवान् पांचों पाण्डवों से पूछकर सात्यकि एवं उद्धव के साथ द्वारका जाने के विचार से रथ में विराजे । ।।७।।

**सुबोधिनी**—**आमन्त्र्येति** । बान्धवा ऋषयश्चाऽभ्यनुज्ञाकर्त्तारः पृथगुक्ताः । चकरादन्ये सर्वे । शैनेयः सात्यकिः । द्वैपायनादीनां स्वस्थत्वादभ्यनुज्ञातुल्ये(?)ऽपि पूजनमधिकम् । **ब्रह्मन्निति** ब्राह्मणस्य महाक्रोध इति सूचितम् । रथारोहणपर्यन्तं स्वक्रिया । अग्रे यन्तुरश्वानां च ।।७।।

**व्याख्यार्थ** - बान्धव और ऋषि जाने की आज्ञा देने वाले है इसलिये बान्धव और ऋषियों को पृथक् रूप से कहा । श्लोकस्थ चकार से और सभी जो उपस्थित थे वे लिये गये । अर्थात् जो इनके अतिरिक्त दूसरे उपस्थित थे उनसे भी आज्ञा ली । श्लोकस्थ शैनेय का अर्थ है सात्यकि । वेद व्यास आदि से दूसरों की तरह आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया । अर्थात् और से तो केवल आज्ञा ही ली । और वेद व्यास आदि से आज्ञा भी ली और उनका पूजन भी किया । सूतजी शौनक के लिये 'ब्रह्मन्' ऐसा सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि आप ब्राह्मण है आपकी अनुभूति है कि ब्राह्मण को क्रोध अधिक आता है इसीलिये ब्राह्मण वेद व्यास आदि से आज्ञा ली और पूजन भी किया अन्यथा उनके क्रोध करने की संभावना थी जैसे अपमान होने से अश्वत्थामा को महा क्रोध हुआ । भगवान् द्वारका जाने के लिये रथ में विराजे । आगे की क्रिया सारथि एवं घोड़ों के अधीन है । ७।।

**आभास**—भक्तस्य कार्ये उपस्थिते प्रारब्धमपि स्वकार्यं त्यजतीति ज्ञापयितुं तस्मिन्समये उत्तरां दृष्टवानित्याह—

**आभासार्थ**—जब भक्त का कोई कार्य उपस्थित हो जाता है तो भगवान् उसके कार्य के लिये अपने आरम्भ किये हुए कार्य को भी छोड़ देते हैं । अर्थात् भगवान् जाने को उद्यत हो गये थे किन्तु भक्त के कार्य के लिये अपने गमन रूप कार्य को छोड़ दिया इस बात को बताने के लिये कहते हैं कि जाने के समय उत्तरा को देखा ।

श्लोक—**उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ।**
**पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।**
**नाऽन्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ।।८।।**

**श्लोकार्थ**—जब भगवान् रथ में विराजे इतने ही में देखा कि भय से विह्वल उत्तरा दौड़ी चली आ रही है । उत्तरा ने कहा कि—हे महायोगिन् ! हे देवताओं

के देवता ! हे जगत् के स्वामिन् ! रक्षा करो रक्षा करो आपके अतिरिक्त कोई मुझे अभय देने वाला नहीं है क्योंकि सभी एक दूसरे को मारने वाले है । ८।।

**सुबोधिनी—उपलेभ इति** । सा हि भक्तोत्तरा । अत एव ब्रह्मास्त्रदर्शनं तस्याः प्रथमम् । मुख्यमेवाऽस्त्रमायसशरेण सम्बद्धमुत्तरां प्रति गच्छति । तदनु तस्मादुद्गताः पञ्च शराः पाण्डवान् प्रतिगच्छन्ति । मूलोच्छेदेऽधिकव्यापारात् । अकौरववदपाण्डवमपि करिष्यामीति तस्याऽभीष्टत्वात् । आभिमुख्येन धावन्तीम् । भयविह्वलां वस्त्रादिष्वसावधानाम् । प्रारम्भाद्यभावादागच्छन्त्येव(?)पाहीति वचनाद हेत्याद्यनुक्ति । तस्या भयोद्विग्नाया वाक्यमाह – **पाहि पाहीति** । कायवाग्भ्यामेकार्थप्रतिपादनाय न कर्मनिरूपणं शब्दत ! किन्त्वात्मानं प्रदर्शयन्(?)पाहीति वचनादात्मानं पाहीत्युक्तं भवति । **महायोगिन्निति** सामर्थ्यं प्रकारं च बोधयन्निव(?)सम्बोधयति । सर्वात्मकत्वेन शरपक्षपातेऽपि साम्प्रत देवहितकर्तृत्वेन तन्निराकरणं युक्तमित्याह– **देवदेवेति** । रक्षकाभावाच्चाऽराजकराज्ये सर्वरक्षार्थं च गर्भो रक्षणीय इति सम्बोधयति—**जगत्पत इति** । कथं श्वशुरादिषु विद्यमानेषु मामेव प्रार्थयसे ? इत्यत आह—**नाऽन्यमिति** । जगति त्वत्तोऽन्यमभयं भयरहितमेव न पश्ये । मृत्युव्याप्तत्वात् । अभीतो हि शरण्योग्यः । किञ्च । समानशीलव्यसनानां सख्यमपेक्ष्यते । तत्र परस्परघातकत्वमत्याश्चर्य्यम् । ततो ज्ञायते कश्चित्सर्वत्राऽऽविष्टो मारयतीति न तेषां शरणगमनं प्रयोजनायेत्याह – **यत्र मृत्युरिति** । अतस्त्वमेव शरणार्ह इति भावः ।।८।।

**व्याख्यार्थ**—वह उत्तरा भक्त थी । भक्त को भली बुरी पहले ही मालूम हो जाती है इसलिये उत्तरा को ही पहले ब्रह्मास्त्र दीखा । वह लोह के बाण से युक्त मुख्य ब्रह्मास्त्र उत्तरा की ओर आ रहा है उसके बाद उस मुख्य ब्रह्मास्त्र से निकले हुए पांच बाण पाण्डवों की ओर जा रहे हैं । उत्तरा की ओर मुख्य अस्त्र को अश्वत्थामा ने इसलिये चलाया कि परीक्षित् पाण्डवों का मूलरूप है इसलिये जैसे वृक्ष के मूल के काटने में अधिक व्यापार अपेक्षित है उसी प्रकार यहां भी उच्छेद (नाश) के लिये मुख्य ब्रह्मास्त्र चलाया । अश्वत्थामा को यह अभीष्ट था कि कौरव जैसे निर्वंश हो गये उसी प्रकार पाण्डवों को भी मैं निर्वंश बना दूंगा । उस समय उत्तरा भगवान् के सम्मुख दौड़ रही थी और भय से विह्वल थी । इसलिये वस्त्र इत्यादि का भी उसे भान न था । उत्तरा को जिस प्रकार कहना आरम्भ करना चाहिये उस प्रकार से उसने कहना आरम्भ नहीं किया इसलिये श्लोक मे आह ऐसा नहीं कहा । आती हुई उस उत्तरा ने 'पाहि' रक्षा करो ऐसा ही कहा । भय से घबराई हुई उस उत्तरा के पाहि पाहि' रक्षा करो रक्षा करो ऐसे वाक्य थे । यहां 'पाहि' का कर्मरूप 'आत्मानम्' कहना आवश्यक था किन्तु काया और वाणी से एक ही बात उसे कहनी है इसलिये उसने अपने को दिखाते हुए 'पाहि' ऐसा ही कहा । उत्तरा ने भगवान् को 'महायोगिन्' पद से सम्बोधित कर यह बताया कि आपमें सर्व सामर्थ्य है और सब प्रकार को भी आप जानते हैं । क्योंकि आप महायोगी है । एक साधारण योगी में भी ये सब बातें होती है तो महायोगी में ये सब बाते हो इसमें क्या आश्चर्य है । उत्तरा कहती है कि आप सब रूप है इसलिये बाण रूप भी आप है अतः उसका भी पक्ष पात आपको होना चाहिये अर्थात् बाण भी निष्फल न जाय ऐसा कार्य करना चाहिये किन्तु इस समय देवताओं के हित के लिये पधारे हैं अतः उनके हित के लिये इस बाण का निराकरण करना ठीक है । पाण्डव दैव जीव थे अथवा देवताओं के अंश रूप थे और आप देवताओं के भी देव है अर्थात् रक्षक है इसलिये पाण्डवों का कार्य करना ठीक है । इस समय

किसी रक्षक के न होने से अराजक राज्य हो गया है अतः सबकी रक्षा के लिये मेरे गर्भ की रक्षा करे। क्योंकि आप सम्पूर्ण जगत् के पति है। पति रक्षक होता है। यदि आप यह आशङ्का करें कि तेरे श्वसुर आदि के विद्यमान रहते मुझे ही रक्षा के लिए क्यों कहती है तो कहती है कि 'नान्यम्' जगत् में आपके अतिरिक्त किसी को भय रहित नहीं देखती हूँ। क्योंकि सभी मृत्यु के भय से ग्रस्त हैं। जो भय रहित होता है वही शरण के योग्य होता है। मेरे श्वसुर आदि मृत्यु वश होने से भय रहित नहीं है। अतः वे शरण योग्य नहीं हैं। एक बात यह भी है कि समान स्वभाव समान व्यसन वालों का सख्य होता है। ऐसी स्थिति में कौरव एवं पाण्डवों का सख्य होना चाहिये था परन्तु ऐसा न होकर उनका परस्पर घातक बनना अति आश्चर्यजनक है। सख्य की जगह विरोध है इससे ज्ञात होता है कि कोई सर्वत्र आविष्ट होकर के मरवाता है। तो जिसका आवेश है उसके शरण जाना चाहिये। और वे हैं आप। इसलिए आपका ही शरण ग्रहण करना चाहिये। उनके शरण ग्रहण करने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसी तात्पर्य से श्लोक में 'यत्र मृत्युः' ऐसा कहा है। प्रकाशकार कहते हैं कि श्री सुबोधिनी में उत्तरा के विशेषण आगच्छन् प्रदर्शयन् बोधयन्निव की जगह आगच्छन्त्या एवं प्रदर्शयन्त्या बोधयन्तीव ऐसा स्त्रीलिङ्ग पाठ रहा है। पुल्लिङ्गों का प्रयोग लेखक की भूल से हो गया है ऐसा स्पष्ट है। ८।

**आभास**—प्रस्तुतमाह—

**आभासार्थ**— प्रस्तुत बात कहती है—

श्लोक—**अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।**
**कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥९॥**

**श्लोकार्थ**—हे ईश! हे व्यापक! हे स्वामिन्! यह तपे हुए लोहे का बाण मेरे सम्मुख आ रहा है। मुझे यह यथेष्ट जलावे, किन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे ॥९॥

**सुबोधिनी**— **अभिद्रवतीति। ईशेति** प्रतिक्रियायां, मूलज्ञाने च **विभो इति** सम्बोधनद्वयम्। मृत्योरप्रतीकार्यपक्षे स मृत्युर्मां दहतु। मे गर्भो मा निपात्यताम्। योगबलाद्गर्भं पालय। अनेन भक्तरक्षा गर्भरक्षैव मुख्या न मद्रक्षेति ज्ञापितम् ॥९॥

**व्याख्यार्थ**— श्लोक में 'ईश' यह सम्बोधन यह बताता है कि आप ऐश्वर्य युक्त हैं इसलिए प्रतीकार कर सकते हैं। 'विभो' और 'नाथ' इन दो सम्बोधन से उत्तरा ने यह बताया कि आप व्यापक और सबके स्वामी हैं इस बात को मैं जानती हूं। आप सबके मूल हैं। यदि आप यह समझते हो कि मृत्यु का प्रतीकार नहीं हो सकता तो मृत्यु रूप (ब्रह्मास्त्र) मुझे जला दे किन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे। यदि आप ऐसा विचार करें कि तेरी रक्षा के बिना गर्भ की रक्षा कैसे हो सकती है तो मैं आपसे प्रार्थना करती हूं कि योग बल से मेरे गर्भ की रक्षा करें। अर्थात् योगी में सर्व सामर्थ्य होता है। आप योगेश्वर हैं इसलिए मेरी रक्षा न होने पर भी गर्भ की रक्षा कर सकते

हैं। इस प्रकार उत्तरा ने यह बताया कि भक्त जो गर्भ में है उसकी रक्षा मुख्य है मेरी रक्षा मुख्य नहीं है ।।९।।

**सूत उवाच—**श्लोक—**उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः ।**
**अपाण्डवमिदं कर्त्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ।।१०।।**

**श्लोकार्थ—**सूतजी ने कहा—भक्तवत्सल भगवान् ने उस उत्तरा के वचनों का निश्चित अर्थ समझ विश्व को पाण्डव रहित ही कर देने के लिए यह अस्त्र चलाया है यह समझा ।।१०।।

**सुबोधिनी**—तप्तायसः शरः सत्यमागत इति तस्या वच उपधार्य निश्चित्य । उपधारणे हेतुः—**भगवानिति** । प्रतिक्रियायां हेतुः—**भक्तवत्सल इति** । अपमानितोऽश्वत्थामा तथा कृतवानित्याह—**अपाण्डवमिति** इद जगदपाण्डवं कर्त्तुं द्रोणाज्जातस्य अस्त्रमबुद्धचतेत्यर्थः । अथवा । **एतस्य** ब्रह्मशिरसो यदस्त्रत्वं क्षेपणधर्मत्वमपाण्डवं कर्त्तुमित्युभयथाऽपि पाण्डवनाशार्थमस्त्रं प्रयुक्तमिति ज्ञातवानित्यर्थः ।।१०।।

**व्याख्यार्थ** - सूतजी कहते हैं कि भगवान् ने निश्चय किया कि तपे हुए लोहे का बाण इसकी ओर आ रहा है। यह सत्य है कि निश्चय करने में 'भगवान्' यह हेतु है । अर्थात् भगवान् षडैश्वर्यादि युक्त हैं इसलिए वे निश्चय कर सकते हैं। प्रतीकार करने में हेतु बताते हैं कि 'भक्तवत्सलः' भगवान भक्तप्रिय हैं। भगवान् ने समझा कि अपमानित अश्वत्थामा ने यह कार्य किया है इसी को 'अपाण्डवम्' पद से कह रहे हैं अर्थात् जगत् को पाण्डवों से रहित बनाने के लिए अश्वत्थामा ने अस्त्र चलाया है। अथवा यह ब्रह्मास्त्र ब्रह्मा का सिर है यह अस्त्र है। चलाया जाना इसका धर्म है। अर्थात् क्षेपणार्थक 'असु' धातु से अस्त्र बनता है अतः क्षेपण धर्मत्व इसमें है इसलिए इसका अस्त्रत्व रखने के लिए तथा जगत् को पाण्डव रहित करने के लिए अश्वत्थामा ने इसे चलाया है ऐसा भगवान् ने जाना ।।१०।।

**आभास** – तस्मिन्नेव समये व्यसनान्तरमप्यागतमित्याह—

**आभासार्थ**—उसी समय दूसरा भी दुःख आया यह कहते हैं—

श्लोक—**तर्ह्येव च मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् ।**
**आत्मनोऽभिमुखान् दीप्तानालक्ष्याऽस्त्राण्युपाददुः ।।११।।**

**श्लोकार्थ**—हे मनन करने वालों में श्रेष्ठ ! बड़ा ही आश्चर्य है कि पाँचों पाण्डवों ने अपने सम्मुख आते हुए प्रज्वलित पाँच बाणों को देख ब्रह्मास्त्र आदि उठाये ।।११।।

**सुबोधिनी—तह्येवेति** । तर्ह्येव चेत्यव्ययसमुदाय: परमाश्चर्यबोधक: । **मुनिश्रेष्ठेति** सम्बोधनं विश्वासात्संवादहेतु: । **पञ्चेत्युभयत्र** सम्बद्धम् । तथा सत्येकैक: सायक एकैकस्य स्थाने समागत इत्युक्त भवति । आलक्ष्य दृष्ट्वा । द्रौणेरिति बुद्ध्वा वा । **अस्त्राण्युपाददुरिति** परलोकशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रियार्थं वा । अस्त्राणि ब्रह्मास्त्रादीनि । ११ ।।

**व्याख्यार्थ**—'तर्ह्येव च' यह अव्यय समुदाय परम आश्चर्य को बताने वाला है । श्लोक में सूतजी ने शौनक को मुनिश्रेष्ठ इसलिए कहा है कि आप मनन करने वालों में श्रेष्ठ हैं इसलिए आप इस बात का विश्वास कर सकेंगे । श्लोकस्थ 'पञ्च' यह पद सायकान् एवं पाण्डवा: इन दोनों का विशेषण है । क्योंकि पञ्च शब्द की प्रथमा एवं द्वितीया में पञ्च ऐसा ही रूप होता है । पञ्च का दोनों में अन्वय होने से यह अर्थ हुआ कि एक-एक पाण्डव के ऊपर एक एक बाण आया । क्योंकि बाणों की और पाण्डवों की संख्या पाँच है । श्लोकस्थ 'आलक्ष्य' का अर्थ है देखकर अथवा अश्वत्थामा से चलाये गये ये बाण हैं ऐसा समझकर पाण्डवों ने सोचा कि यदि हम अस्त्र के सामने अस्त्र का उपयोग न कर वैसे ही मर जायेंगे तो परलोक बिगड़ेगा इसलिए पाण्डवों ने अस्त्र लिये । अथवा अश्वत्थामा के अस्त्र प्रतीकार के लिए उनने भी अस्त्र लिये । श्लोक में आये 'अस्त्राणि' का अर्थ है ब्रह्मास्त्र आदि । अर्थात् पाण्डवों ने परलोक बुद्धि के लिए अथवा प्रतीकार के लिए ब्रह्मास्त्र आदि लिये ।।११।।

**आभास**— अत्र भगवतोऽपि प्रतिक्रियाऽसामर्थ्याद्दूरापास्तं पाण्डवानामिति वक्तुं भगवान्स्वभक्तानां रक्षामेव कृतवान्नाऽस्त्रस्य प्रतिक्रियामित्याह—

**आभासार्थ**— इस ब्रह्मास्त्र को हटाने का भगवान् का भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर पाण्डव कैसे हटा सकते हैं ऐसा कहने के लिए भगवान् ने अपने भक्तों की रक्षा ही की, ब्रह्मास्त्र का प्रतीकार नहीं किया यह बात कहते हैं कि—

श्लोक—**व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् ।**
**सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ।।१२।।**

**श्लोकार्थ**—जिनका चित्त अन्य विषयों में नहीं है अर्थात् जिनका चित्त केवल भगवद्विषयक है ऐसे उन अपने भक्तों का दुःख देखकर भगवान् ने अपने सुदर्शन अस्त्र से उनकी रक्षा की ।।१२।।

**सुबोधिनी— व्यसनमिति** । न अन्यो विषय आत्मनि येषाम् । स्वभावेन सर्वे विषया भवन्तु नाम । चित्ते तु भगवल्लक्षण एव विषयस्तेषामस्ति । अत: **"तद्धैतान्भूत्वाऽवती"** ति विषयार्थमेव ते रक्षिता: । तत्र सुदर्शनचक्रमलातचक्रवत् शरपाण्डवानां मध्ये परिभ्रमति । अतस्तेन तेषां रक्षां कृतवान् । **स्वानामिति** तेषां रक्षायां हेतु: । **विभुरिति** सामर्थ्यं । स्वास्त्रपदेन बुद्धिपूर्वकरक्षात्रणत्वं सुदर्शनस्य सूचितम् ।।१२।।

**व्याख्यार्थ**—जिन पाण्डवों के चित्त में भगवान् के अतिरिक्त कोई विषय ही नहीं आता है। यद्यपि स्वभावतः सब विषय प्राप्त होते हैं किन्तु चित्त में तो उनके भगवद्रूप ही विषय हैं। अर्थात् उनके चित्त का विषय भगवान् है इसलिए 'तद्वैतान् भूत्वावति' वह भगवान् चिन्तन के अनुसार तत्तद् रूप होकर रक्षा करता है। भगवान् को उनने विषय रूप से लिया। इसलिए भगवान् ने भी विषयों के लिए ही उनकी रक्षा की। पाण्डवों की रक्षा के लिए चलाया गया सुदर्शन चक्र जलती हुई घुमाई हुई लकड़ी के समान पाण्डव और ब्रह्मास्त्र के बीच में घूम रहा है अतः उस सुदर्शन चक्र से उनकी रक्षा की। रक्षा करने में कारण यह था कि वे अपने थे। भगवान् विभु है इसलिए उनमें इस प्रकार से रक्षा करने का सामर्थ्य है। श्लोक में 'स्वास्त्र' पद है इससे यह सूचित हुआ कि वह सुदर्शन अस्त्र भगवान् का है यह जो रक्षा करेगा बुद्धिपूर्वक ही करेगा। इसलिए भगवान् ने सुदर्शन से उनकी रक्षा की। १२॥

**आभास**— प्रधान उत्तरागर्भे प्रकारान्तरेण रक्षामाह—

**आभासार्थ** प्रधान जो उत्तरा का गर्भ है उसकी प्रकारान्तर से रक्षा की यह कहते हैं—

श्लोक— **अन्तःस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः।**
**स्वमाययाऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**— सब प्राणियों के भीतर रहने वाले आत्मारूप योगेश्वर हरि ने कुरुवश की रक्षा के लिए अपने अधीन माया से उत्तरा के गर्भ को ढक लिया ॥१३॥

**सुबोधिनी—अन्त स्थ इति**। गर्भं प्रविष्टस्याऽर्थस्य गर्भस्य रक्षार्थं **"ओषधे त्रायस्वैनमि"** तिवन्मायया गर्भशरीरमावृतवान्। तत्र बहिः स्थितस्याऽऽवरणं न सम्भवतीति तदर्थं चत्वारि विशेषणानि चतुर्विधमायाव्याप्तिप्रतिपादकानि। तत्र मध्य एव भगवान् स्थितः सुवर्णतेजोवत्तं पालयतीत्याह— **अन्तःस्थ इति**। सर्वभूतानां मध्ये स्थितः। किञ्च। अन्यस्याऽन्यपालनं सर्वथा न सम्भवतीति गर्भरूपो भूत्वा पालितवानित्याह—**सर्वभूतानामात्मेति**। किञ्च। बहिरपि तच्छरीर-रक्षार्थमाह— **योगेश्वर इति**। योगबलेन स्वयं तत्र प्रविश्य शरीरास्त्रयोर्मध्ये स्थित्वा पालयतीत्यर्थः। अन्यथा ब्रह्मास्त्रशरीरसम्बन्धे दोषो वा संक्रमेदिति। ननु किमित्येवंप्रकारैः पालयतीति चेत्? तत्राऽऽह - **हरिरिति**। सर्वेषां दुःखहरणस्वभावत्वात्समुदायरक्षा त्वेतत्साध्या। स्वमायया स्वाधीन-मायया ब्रह्माण्डकोटिभ्रमनिवर्त्तकज्ञानाग्न्यावरकरूपत्वान्मायायास्तयाऽऽवरणं युक्तम्। **वैराट्या इति** सम्बन्धात्तस्या उदरदाहोऽपि यथा न भवति तथा कृतवानिति लक्ष्यते। उभयवंशयोर्भक्तत्वादेषा रक्षितेत्याह—**वैराट्याः कुरुतन्तव इति**। तन्तुः परम्परा पालको वा ॥१३॥

**व्याख्यार्थ**—अर्थ्यते इति अर्थः जो चाहा जाता है वह अर्थ है। भगवान् भक्त को चाहते हैं इसलिए भगवान् का अर्थ भक्त है। गर्भ के भीतर प्रविष्ट अर्थ की रक्षा के लिए अर्थात् गर्भ की रक्षा के लिये गर्भ शरीर को आवृत किया। दीक्षा के अङ्गरूप में केश और श्मश्रु का वपन करते समय क्षुर (उस्तरा) को तिरछा नहीं रक्खा जाता। सीधा रक्खा जाता है जिससे चमड़ी कटने का उस समय डर रहता है इसलिये 'औषधेत्राय स्वैनम्' ऐसा कहा जाता है तो इस प्रकार

औषधि से प्रार्थना कर उस्तरे से तिरछा रखने के लिये यजमान की रक्षा की जाती है यहां औषधे का अर्थ दाह निदान किया है क्योंकि उस धातु से ओष बनने से इसका अर्थ दाह है और धा का अर्थ निधान। अर्थात् हे औषधि इस यजमान की त्वचा का छेदन न होने दे। अर्थात् उस्तरे से जो दोष पैदा होना चाहिये वह दोष पैदा नहीं होने दिया जाता। उसी प्रकार माया का सम्बन्ध होने पर भी माया इसमें दोष पैदा नहीं कर सकती। इस लिये भगवान् ने माया से उस गर्भ शरीर को उसी तरह आवृत किया जिससे उसमें दोष भी पैदा न हो और आवरण भी रहे। बाहर रहा हुआ भगवान् आवरण रूप नहीं बन सकता। इसलिये चतुर्विध माया के व्याप्ति बताने के लिये चार विशेषण दिये है। भगवान् सब प्राणियों के अन्तः स्थित है इसीलिये गर्भ के मध्य में भी वह स्थित होकर रक्षा कर रहे है। सुवर्ण स्थित तेज जैसे सुवर्ण की रक्षा करता है इसी प्रकार भगवान् ने गर्भ की रक्षा की। इस बात को 'अन्तःस्थ सर्व भूतानाम्' से कहा है। तात्पर्य यह है कि भगवान् जब भीतर प्रविष्ट हुए तो उनके तेज से गर्भ का दाह होना चाहिये था, परन्तु यहां ऐसा नहीं हुआ। इसी बात को सुवर्ण तेज का उदाहरण देकर समझाया है कि सुवर्ण और तैजस् पदार्थ है इसलिये तेज (आग) सुवर्ण को नहीं जला सकता। उसी प्रकार भक्त भगवान् का ही रूप है इसलिये भगवान् का तेज उसे नहीं जला सका। और एक बात यह भी है कि दूसरे का पालन नहीं कर सकता, अतः भगवान् ने गर्भ रूप ही बनकर रक्षा की। क्योंकि वह सब प्राणियों की आत्मा है। आत्मा होने से रक्षा करता ही है इस प्रकार भीतर तो रक्षा की ही और बाहर भी उसके शरीर की रक्षा की। इस बात को 'योगेश्वर' पद से सूचित किया है। योग बल से गर्भ और ब्रह्मास्त्र के बीच में भगवान् स्वयं स्थित होकर पालन कर रहे है। यदि ऐसा न करते तो ब्रह्मास्त्र का शरीर से सम्बन्ध होने पर शिवजी में जैसे ब्रह्म शिर का सम्बन्ध होने से पिशाचत्व दोष आ गया। इसी रूप में इसमें भी आ जाता। इसलिये भगवान् ब्रह्मास्त्र और गर्भ के बीच स्थित हो गये और उस अस्त्र के दोष का संक्रमण गर्भ में नहीं होने दिया। शंका होती है कि भगवान् इस प्रकार क्यों पालन करते हैं तो उत्तर देते है कि भगवान् हरि है अर्थात् सब दुःख का मिटाने वाले हैं सबका दुःख मिटाने का स्वभाव होने से समुदाय की रक्षा भगवान् ही कर सकते हैं इसलिये उन्होंने गर्भ की रक्षा की तथा उत्तरा के पेट में दाह नहीं होने दिया। श्लोकस्थ 'स्वमायया' का अर्थ है अपने अधीन रही माया से कोटि ब्रह्माण्ड के भ्रम को निवृत करने वाली जो ज्ञानाग्नि है उसका आवरण रूप माया है इसलिये उस माया से उस गर्भ का आवरण करना युक्त है। श्लोकस्थ 'वैराट्याः' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है अर्थात् उत्तरा भी भगवत्सम्बन्धिनी है अतः भक्त है। इसलिये उसके उदर में दाह न हो ऐसा कार्य भगवान् ने किया। विराट् वंश एवं कुरुवंश दोनों ही भगवान् के भक्त थे इसलिये भगवान् ने उत्तरा और गर्भ दोनों की रक्षा की। 'कुरुतन्तवे' में तन्तु शब्द का अर्थ परम्परा अथवा पालक दोनों हैं। अर्थात् कुरुवंश की परम्परा रखने के लिये अथवा कुरुवंश के पालन के लिये भगवान् ने गर्भ की रक्षा की ॥ १३॥

**आभास**—ननु ब्रह्मास्त्र गर्भे प्रयुक्तं दाहकैकस्वभावत्वात्तत्राऽसमर्थमन्यत्कुतो न दहति ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ** शंका होती है कि गर्भ के नाश के लिये चलाये गये ब्रह्मास्त्र का दाह करना ही एक स्वभाव है तो फिर गर्भ को दग्ध करने में असमर्थ रहा वह ब्रह्मास्त्र, दूसरे किसी को जलाना चाहिये सो क्यों न जलाया इस पर कहते है कि—

श्लोक—**यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरः अमोघं चाऽप्रतिक्रियम् ।**
**वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद्भृगूद्वह ॥१४॥**

**श्लोकार्थ**—हे भृगुनन्दन ! यद्यपि ब्रह्मास्त्र ब्रह्मा का शिर रूप होने से अव्यर्थ तथा प्रतिक्रिया रहित था तथापि सुदर्शन रूप **वैष्णव** तेज को प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गया ॥१४॥

**सुबोधिनी-यद्यप्यस्त्रमिति ।** सत्यमुक्तं सर्वदाहकमेतत् । महादेवस्याऽपि पिशाचत्वं यतो जातम् । तत् ब्रह्मशिरः ब्रह्मणः पञ्चमं शिरः । तस्य गुणद्वयं सहजम्। **अमोघम्** । सर्वदा कार्यं करोतीत्यर्थः । **अप्रतिक्रियं च** । न विद्यते प्रतिक्रिया प्रतिकूलक्रिया व्यावर्तकक्रिया वा यस्येति । तथापि किञ्चिदद्भुतं जातमित्याह—**वैष्णवं तेज आसाद्येति** । यथा व्याघ्रो मन्त्रबलेन गौर्भवति तथा परमसात्त्विकं वैष्णवं तेज आसाद्य प्राप्य सम्यगशाम्यत शान्तमभूत् प्राकृतदेहं प्रज्वाल्य भगवद्भावापन्नं वैष्णव देहं ज्वालयितुं प्रवृत्तं सन्मध्ये वैष्णवं तेज आसाद्य तद्रूपं सत् तदैक्यं प्राप्तवदित्यर्थः । तत्र विश्वासार्थमाह—**हे भृगूद्वहेति** । भृगुणा हि पूर्वं वैष्णवनिर्णयः कृतः । अन्यथा राजसास्तामसाश्च भक्त्या भगवत्सम्बन्धं प्राप्य सात्त्विका भूत्वा कथं भगवत्सायुज्यं प्राप्नुयुः । १४॥

**व्याख्यार्थ**—ब्रह्मास्त्र सबको जलाने वाला है यह सत्य कहा है क्योंकि महादेव को भी इसके सम्बन्ध से पिशाचत्व प्राप्त हुआ । वह ब्रह्मास्त्र ब्रह्माजी का पांचवा शिररूप है । उसमें सहज दो गुण है । एक तो यह है कि वह कभी भी निष्फल नहीं होता अर्थात् सर्वदा कार्य करता है उसका नाश नहीं हो सकता । और उसका स्तम्भन नहीं हो सकता । ऐसा होने पर भी इस समय कुछ अद्भुत बात हो गई । इस बात को ही 'वैष्णवं तेज आसाद्य' से कहा है । जैसे व्याघ्र मन्त्र के बल से गाय की तरह शान्त हो जाता है वैसे ही परम सात्विक वैष्णव तेज को प्राप्तकर वह ब्रह्मास्त्र एकदम शान्त हो गया अर्थात् परीक्षित् के प्राकृत देह को जलाकर भगवद् भाव को प्राप्त हुए उसके वैष्णव देह को जलाने के लिये जब वह ब्रह्मास्त्र प्रवृत्त हुआ तो मध्य में रहे हुए वैष्णव तेज को प्राप्तकर तद्रूप होता हुआ उससे एक हो गया । इस आश्चर्य जनक घटना का विश्वास हो इसके लिये सूतजी 'भृगूद्वह' यह सम्बोधन देते है । आप भृगु वंश में पैदा हुए हो और भृगु ने पहले देवताओं की परीक्षा में वैष्णव तेज का निर्णय किया था । भगवत् सम्बन्ध में यदि ऐसा सामर्थ्य न होता तो राजस एवं तामस व्यक्ति भक्ति से भगवत्सम्बन्ध को प्राप्तकर सात्विक होते हुए भगवत् सायुज्य भगवदैक्य को कैसे प्राप्त करते । १४॥

**आभास**—नन्वस्तु जीवानां मुक्तियोग्यानां शास्त्रसिद्धत्वात्तथात्वम् । ब्रह्मतेजस्त्वचेतनं देवताधिष्ठितं मन्त्राधिकारिरूपं कथमन्यथा भवेत् । तथा सति भगवता युद्धे प्रयुज्यमानानां ब्रह्मास्त्रादीनां तथात्वं न स्यात् । अत्र च परीक्षितः पाण्डवानां च रक्षणान्महदाश्चर्यमिद वृत्तमित्याशङ्क्याऽऽह—

**आभासार्थ**—शंका करते है कि मुक्ति योग्य जीवों का सात्विकत्व होना शास्त्र सिद्ध है इसलिये वे सात्विक हो सकते हैं । किन्तु ब्रह्म तेज (ब्रह्मास्त्र) अचेतन है और देवता से अधिष्ठित है

और मन्त्र से वह अधिकार रूप हो जाता है तो वह वैष्णव तेजो रूप बनकर कैसे शान्त हो गया। यदि इसी प्रकार वह शान्त होता रहे तो युद्ध में भगवान् से चलाये गये ब्रह्मास्त्र आदि भी अपने कार्य करने में समर्थ नहीं होंगे। अत: ब्रह्मास्त्र वैष्णव तेजो रूप होकर शान्त हो गया यह बताना ठीक नहीं है। ऐसी स्थिति में परीक्षित एवं पाण्डवों की रक्षा होना महान् आश्चर्य का कार्य है इस आशंका पर कहते है कि—

**श्लोक—मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते।**
**य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१५॥**

**श्लोकार्थ**—जो भगवान् अपनी सामर्थ्य रूप माया से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करते हैं उस च्युति रहित अलौकिक सब पदार्थ मय भगवान् में यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥१५॥

**सुबोधिनी**—**मा मंस्था इति**। एतदाश्चर्यं मा मंस्था:। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्त्तुमर्हत्वात्। न हि दृष्टान्तव्याप्त्यादिना भगवति पदार्थनिर्णय: कर्त्तुं शक्यते। "**अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि**"ति वाक्यात्। किञ्च। **सर्वाश्चर्यमये**। विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रये भगवति अलौकिकसर्वपदार्थमये किमाश्चर्यम्? न ह्येतदन्यस्योच्यते। किञ्च। **च्युतिरहित:**। स्वयमात्मन एवाऽऽत्मानं सर्वंच्युतं करोति। तत्र किमेतदाश्चर्यमित्यर्थ:। किञ्च। माया नाम काचिच्छक्ति: पूर्वं निरूपिता। सा च देवतामयी स्वरूपभूता। तया किल विश्वं सृजति अवति हन्ति च। एकं वस्त्वसहायमेकस्यैवाऽनेकभावं सम्पादयतीत्यर्थ:। किञ्च। अज एव स्वयं जायते। विरुद्धधर्मसम्बन्धे पि न पूर्वधर्मनिवृत्ति: ॥१५॥

**व्याख्यार्थ**—यह आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। क्योंकि भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्नि: यथा महानसम्' इत्यादिकी तरह भगवान् में दृष्टान्त व्याप्ति आदि से पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। जैसा कि 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' अलौकिक पदार्थों को तर्क के द्वारा समझने का प्रयास नहीं करना चाहिये। क्योंकि वहां दृष्टान्त व्याप्ति आदि से पदार्थ का निर्णय नहीं हो सकता। भगवान् सर्वाश्चर्यमय है। विरुद्ध सर्व धर्मों के आश्रय रूप तथा अलौकिक सम्पूर्ण पदार्थ रूप भगवान् में क्या आश्चर्य है। यह बात दूसरे के लिये न कहकर भगवान् के लिये ही कही गई है। उन (भगवान्) में सब कुछ संभव है। स्वयं भगवान् च्युति रहित है किन्तु अपने से ही अपने को सर्वच्युत कर लेते हैं अर्थात् सब रूप बन जाते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है भगवान् की माया नाम की कोई शक्ति है जिसका कि पहले निरूपण किया गया है। वह माया देवतामयी एवं भगवत्स्वरूपभूता है। उसी से भगवान् विश्व को उत्पन्न करते है, रक्षा करते हैं तथा लय करते हैं। एक ही वस्तु बिना सहायता के एक की अनेकता कर देती है। अजन्मा भगवान् ही स्वयं जन्म लेते हैं। जन्म लेना आदि विरुद्ध धर्मों का सम्बन्ध होने पर भी उस (भगवान्) में अजत्व (अजन्मा) आदि पूर्व धर्मों की निवृत्ति नहीं होती ॥१५॥

**आभास**—एवं भगवता सर्वे रक्षिताः। तत्र कुन्त्यादीनामेवं भ्रम उत्पन्नो वयं सर्वे विषयार्थं रक्षिता इति। तथा सति व्यर्थं रक्षणमिति मत्वा भक्त्युपयोगार्थमेतद्भवत्विति प्रार्थयितुं भगवन्तं स्तोतुमुपक्रमत इत्याह—

**आभासार्थ** इस प्रकार भगवान ने सबकी रक्षा की, उस समय कुन्ती आदि को ऐसा भ्रम हुआ कि विषयों का भोग हमको मिला है। हम सब इसके लिये ही बचाये गये है। ऐसी स्थिति में विषयार्थ रक्षा करना व्यर्थ है ऐसा मानकर यह हमारा जोवन भक्ति के उपयोगी बने ऐसी प्रार्थना करने के लिये कुन्ती ने भगवान् की स्तुति आरम्भ की यही कहते हैं—

श्लोक—**ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया।**
**प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१६॥**

**श्लोकार्थ**—ब्रह्मास्त्र से छुटकारा पाये हुए अपने पुत्र युधिष्ठिर आदि के तथा द्रौपदी के साथ विद्यमान सती कुन्ती जाते हुए भगवान् कृष्ण को आगे कही जाने वाली बात कही ॥१६॥

**सुबोधिनी**—**ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरिति**। स्वभगिनीं तु स्वयमेव कृतार्थीकरिष्यति। उत्तरां च। अतो द्रौपद्या सह पुत्रैश्च सह प्रयाणाभिमुखमर्द्धं कार्यं कृत्वा गच्छन्तं वक्ष्यमाणमाह। तत्र हेतुः-**सतीति**। संतामयं धर्मो यद्भक्त्यर्थमेव सर्वं जीवनादि ॥१६॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् अपनी बहिन सुभद्रा को तथा उत्तरा को तो स्वयमेव कृतार्थ कर देंगे परन्तु कुछ कार्य शेष रहने से अपना पूरा कार्य न कर जाते हुए भगवान् को द्रौपदी एवं अपने पुत्र युधिष्ठिर आदि के साथ रही कुन्ती ने इस प्रकार कहा। कुन्ती सती थी। और सन्तों का यह धर्म है कि सम्पूर्ण जीवन भगवान् की भक्ति करते हुए बितावें। अत. कुन्ती ने आगे की स्तुति की ॥१६॥

**आभास**—**स्वरूपगुणलीलादिदुष्टदुर्ज्ञत्वलक्षणैः। जन्मकारणनिर्द्धारफलदैन्यनिजार्थनैः। हृषीकेशं पृथाऽस्तौषीन्नमस्कारपुरस्सरम्। सम्बन्धात्कृतहेलाऽज्ञा स्वरूपाप्त्यै भवच्छिदम्।** तत्र स्वरूपमाह त्रिभिः—

**आभासार्थ** भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण भगवान् की अवहेलना का ज्ञान रखने वाली कुन्ती ने स्वरूप प्राप्ति के लिए संसार बन्धन से मुक्त करने वाले भगवान् को नमस्कार पुरस्सर स्वरूप, गुण, लीलादि, दुष्टदुर्ज्ञेयत्व लक्षण, जन्म के कारण का निर्णय, फल, दैन्य तथा अपनी कामनाओं को व्यक्त कर स्तुति की। इनमें प्रथम 'नमस्ये' से 'पश्येमहि स्त्रियः' तक स्वरूप का वर्णन करते हैं, इससे आगे 'कृष्णाय' से लेकर 'पङ्कजाङ्घ्रये' इन दो श्लोकों से गुण का 'यथा हृषीकेश' से अपुनभवदर्शनम्' तक लीला का 'जन्मैश्वर्य' से लेकर 'विषया मतिर्नृणाम्' तक दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का 'जन्मकर्म' से लेकर 'भीरपियद्बिभेति' तक लक्षण का निरूपण है। 'केचिदाहु' से लेकर

'करिष्यन्तीति केचन' तक भगवान् के जन्म के कारण का 'शृण्वन्ति गायन्ति' से फल का 'अप्यद्यनस्त्वम्' से लेकर 'तवावीक्षितैः' तक दर्शन का निरूपण है और 'अथ विश्वेश' से लेकर 'भगवन्नमस्ते' तक कामनाओं का व्यक्तिकरण है—

**कुन्त्युवाच**— श्लोक—**नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।**
**अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ।।१७।।**
**मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाऽधोक्षजमव्ययम् ।**
**न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ।।१८।।**
**तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।**
**भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ।।१९।।**

**श्लोकार्थ**—कुन्ती कहती है कि–प्रकृति से परे आद्य पुरुष ईश्वर मायारूपी पर्दे से ढके होने से सब प्राणियों के बाहर भीतर रहते हुए भी अलक्षित इन्द्रियातीत अविनाशी नाट्य करने वाले नट का जैसे अज्ञानी पुरुष असली स्वरूप नहीं समझ पाते उसी तरह नहीं समझ में आने वाले आपको मैं अबोध नमस्कार करती हूं तथा शुद्धान्तःकरण वाले परमहंस मुनियों के हृदय में भक्तियोग स्थापित करने के लिए अवतीर्ण हुए आपको हम स्त्रियाँ कैसे जान सकती हैं ।।१७।।१८।।१९।।

**सुबोधिनी**—**नमस्य इति** । त्वा त्वाम् । भ्रातृेयनमस्कारस्याऽनुचितत्वमाशङ्क्य स्वरूपमाह—**पुरुषमिति** नवभिर्विशेषणैः । एतादृशस्य ममाऽऽत्मत्वादभेदबोधकनमस्कारानौचित्यमाशङ्क्याऽऽह—**अज्ञेति** । एवमज्ञा त्वामात्मत्वेन ज्ञातुमेव नमामीत्यर्थः । दृश्यमानापेक्षयाऽनुचितत्वे शङ्किते परमार्थकथनानुपपत्तिमाशङ्क्य दृश्यमानं परमानन्दरूपं वदन्ती नमस्यतीति भाव । **आद्य** मूलभूतम् । बिम्बमिति यावत् । जडव्युदासार्थम्—**पुरुषमिति** । जीवव्युदासार्थम् **आद्यमिति** । एतादृशस्य सर्वकारणत्वात्पितृरूपत्वमुक्तम् । स्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं रूपद्वयमाह—**ईश्वरं प्रकृतेः परमिति** । **ईश्वरमिति** बहिःफलदातृत्वम् । **प्रकृतेः परमि**त्यन्तःफलदातृत्वम् । एतादृशस्य सर्वजनीनत्वे सर्वमुक्तिप्रसङ्गो वेदानां वैयर्थ्यं च स्यादिति तदर्थमाह—**अलक्ष्यं सर्वभूतानामिति** । प्रत्यक्षतो न दृश्यत एव । कार्यद्वाराऽपि लक्षितुं न शक्यते । कार्यकारणयोरेकत्र क्वाऽप्यनुपलम्भात् । अत एव **सर्वभूतानां** ब्रह्मादीनामपि । अः कृष्णस्तेन वा लक्ष्यत इति स्वप्रकाशम् । गुरुणा वा लक्ष्यत इति । "**आचार्यवान् पुरुषो वेद**"इति श्रुतेः । ततश्च न वेदवैयर्थ्यं न वा सर्वमुक्तिरित्यर्थः । वस्तुत एवाऽयं दुर्ज्ञेयो न साधनान्तराभावादिति । "**यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता**"मिति श्रुतेः । '**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः**' इति च । तस्माद्दुर्ज्ञेय एव भगवान् । किं तज्ज्ञानप्रार्थनयेति । तत्राऽऽह—"**सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थित**मिति । भगवान् सर्वत्र वर्तते । ज्ञानं च तस्य सुलभम् । ज्ञापक एव दुर्लभः । सर्वत्रस्फूर्ति वस्तुस्वरूपत्वात् । अज्ञत्वकथनं तु विरुद्धधर्मबोधाय । तस्मात्सर्वत्र विद्यमानत्वाद्भगवज्ज्ञानं सुलभमिति । ननु तथा सति कथं न सर्वैः प्रत्यक्षीक्रियते, घटादिवत् ? तत्राऽऽह—

**मायाजवनिकाच्छन्नमिति** । मायैव जवनिका तिरस्करिणी । अन्तःपट इत्यर्थः । तया आच्छन्नम् । सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वेऽपि माययाऽन्यथाभासमानत्वान्न प्रत्यक्षीक्रियत इत्यर्थः । अत एव ममाऽपि बहिर्मुखत्वान्न ज्ञानमित्यज्ञा । ननु न सर्वः सर्वत्र भ्रान्तः किन्तु क्वचिदेव कश्चित् । दोषमदकृतेन्द्रियजन्यत्वाद्भ्रमस्य । अतः कदाचिन्निर्दुष्टैरिन्द्रियैर्घटवद्गृह्येतेति चेत् ? तत्राऽऽह—**अधोक्षजमिति** । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् । इन्द्रियजन्यं ज्ञानं भगवन्त न विषयीकरोति । **"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्नि"**ति श्रुतेः । **अतो वस्तुस्वरूपत्वेऽपि** नेन्द्रियप्रत्यक्षत्वं भगवतः । ननु सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपत्वमनुपपन्नम् । सर्ववस्तूनां नाशप्रतियोगित्वात् । कारणत्वेऽपि कारणत्वं गच्छेत् । आधारत्वेऽप्याधारत्वम् । आधेयत्वेऽप्याधेयत्वमिति । अतो धर्मरूपेण धर्मिरूपेण वा व्ययसम्भवात्कथं ब्रह्मत्वम् ? अत आह—**अव्ययमिति** । सर्वरूपत्वेऽपि न विनाशित्वम् । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । तस्मान्निर्दुष्टपूर्णगुणविग्रहं त्वां नमस्य इति । ननु तादृश एव स एवाऽहं चेदवतीर्णस्तदा **सर्वप्रत्यक्षं** मां कथं न जानीयु ? धर्मिणामपि स्वप्रकाशत्वात । तत्राऽऽह— **न लक्ष्यस इति** मूढदृशा न लक्ष्यसे । ननु प्रत्यक्षः **कथं न लक्ष्यसे** ? तत्राऽऽह—**नटो नाट्यधरो यथेति** । यथा नटः स्त्रीरूपं प्रकटयन्बहिर्मुखैर्न **ज्ञायते पुरुष इति तथा नरभावं प्रकटयन्नाविर्भूतो** भगवान्भगवत्त्वेन न ज्ञायत इत्यर्थः । **नन्वाविर्भावान्यथानुपपत्त्या सर्वेषां ज्ञापनार्थमेवाऽऽविर्भूत इति कथमुच्यते न ज्ञायस** इति । न हि भगवान् वञ्चनार्थमाविर्भूतो रसजननाय वेत्याशङ्क्याऽऽह—**तथा परमहंसानामिति** । भगवान् **भक्तियोगार्थमाविर्भूतो** वेदानृषींश्चाऽवतार्य्य तैः ससाधने ज्ञाने उत्पन्ने यदग्रिमं **कार्यं तदर्थमवतीर्ण**। तत्र ज्ञाने संन्यासोऽङ्गम् । अन्तःकरणशोधकत्वात् । **"संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वा"** इति श्रुतेः । अन्नादेर्दोषाजननाच्च । तदनु मननमङ्गम् । श्रवणस्य पूर्वमेव निष्पन्नत्वात् । तदनु निदिध्यासनयुक्तानां च । निदिध्यासनं हि चित्तैकाग्र्यम् । तत्र भगवन्निर्धारो वा । तत्राऽन्तरङ्गमङ्गं शुद्धान्तःकरणम् । तेषां ज्ञानाधिकारिणां जातज्ञानानां वा भक्तियोगव्यतिरेकेण भगवज्ज्ञान सायुज्य वा न भवतीति तथा अवतीर्णमित्यर्थः । हंसास्तु विविक्तज्ञानवन्तः । केवलमात्मानमेव ये पश्यन्ति ते परमहंसाः । यद्यपि सर्वे नृत्यं पश्यन्ति तथापि रसिकानामेव रसोत्पत्तिः । न हि नपुंसकानां स्त्रीणां वा स्त्रीरूपेण नृत्ये क्रियमाणे शृङ्गाररस उत्पद्यते । प्रत्युत स्वसमानधर्माविष्कारं कृत्वा विडम्बयतीति खेद उत्पद्यते । तथा साधारणस्त्रीपुरुषाणां दैत्यांशानां च न रसो न ज्ञानं न वा भक्तिरिति । तद्वञ्चनार्थं नटवल्लोलां करोतीति स्त्रियो वयं कथं जानीमः । प्रत्युत लज्जाकामाद्यस्मद्दोषहेतुरूपप्राकट्याद्दोषयुक्ताः परं भविष्याम इत्यर्थः ।।१७।।१८।।१९ ।

**व्याख्यार्थ**- कुन्ती कहती है कि तुमको नमस्कार करती हूँ । यदि आप यह आशङ्का करें कि मैं तेरा भतीजा हूं । भतीजे को नमस्कार करना उचित नहीं है तो वह कुन्ती 'पुरुष आद्यम्' आदि नौ विशेषणों से भगवान् के स्वरूप का निर्देश करती है । आप सब पुर अर्थात् शरीरों में रहने के कारण पुरुष हैं और आद्य (सर्वप्रथम) हैं ईश्वर हैं प्रकृति से परे हैं सब प्राणियों को प्रत्यक्ष नहीं होने वाले हैं । सब प्राणियों के बाहर भीतर वर्तमान हैं । मायारूपो यवनिका (परदे) से ढके हुए हैं । आप इन्द्रियातीत और अव्यय हैं । ऐसे भगवान् का वर्णन करती हुई कुन्ती कहती है कि यद्यपि इस प्रकार के आप मेरी आत्मारूप हैं तो आत्मारूप होने से नमस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि नमस्कार अपने से भिन्न को होता है तो कुन्ती कहती है कि मैं आपको आत्मत्वेन नहीं जानती इसलिए आत्मत्वेन ज्ञान हो इसलिए ही प्रणाम करती हूं । व्यावहारिक दशा में कुन्ती एवं भगवान्

का भूआ एवं भतीजे का सम्बन्ध है। इसलिए प्रणाम करना ठीक नहीं है और दृश्यमान स्वरूप जो मनुष्यत्व क्षत्रियत्व आदि के विचार से नमस्कार करना उचित नहीं है और परमार्थ रूप से कहना भी इसलिए ठीक नहीं है कि परमार्थरूपता का दर्शन नहीं हो रहा है। इस आशङ्का पर कुन्ती जो वर्तमान दृश्य स्वरूप है वह परमानन्दरूप है यह कहती हुई नमस्कार करती है। कुन्ती कहती है कि आप आद्य सबके मूलभूत हैं। अर्थात् बिम्बरूप हैं। जेसे प्रतिबिम्ब बिम्ब का ही स्वरूप होता है उसी प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड आप ही का स्वरूप है। यद्यपि अमुक अमुक मत में प्रकृति एवं आकाश आदि को भी आद्य माना है किन्तु उनका ग्रहण यहां नहीं हो इसलिए 'पुरुषम्' पद दिया है। जड़ पदार्थ प्रकृति आदि पुरुष नहीं कहे जाते। अतः वे यहां नहीं लिये गये। पुर शरीर में शयन करने वाला जीव भी हो सकता है। वह न लिया जाय इसके लिए 'आद्यम्' कहा है। जीव मूलभूत पुरुष नहीं है। भगवान् ही मूलभूत है। इस प्रकार का मूलभूत पुरुष सबका कारण है। इसलिए कुन्ती ने भगवान् को पितृरूप बताया। कुन्ती अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए दो रूपों को कहती है। 'ईश्वरम्' 'प्रकृतेः परम्' आप ईश्वर एवं प्रकृति से परे हैं। ऐश्वर्य युक्त होने से बाहर फल देने वाले हैं और प्रकृति से परे होने से अन्तःफल देने वाले हैं। ऐसे भगवान् को जब सब जान जायेंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी। ऐसी स्थिति में वेदोक्त साधनों के काम न आने से वेद व्यर्थ होंगे। इस लिए कहते हैं कि 'अलक्ष्यं सर्वभूतानाम्' वह भगवान् सब प्राणियों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता यदि प्रत्यक्ष दिखाई देता तो सबकी मुक्ति हो जाती। और वेदों का वैयर्थ्य रहता। परन्तु वह प्रत्यक्ष दृश्य नहीं है इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो पाती और वेदोक्त साधन करना भी सार्थक रहता है। जगद्रूप कार्य के द्वारा भी उसका अनुमान नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य जगत् एवं कारण ब्रह्म की अग्नि धूम की तरह एकत्र कहीं भी साहचर्य नहीं दीखता। अतएव ब्रह्मादि देवताओं के लिए भी वह अदृश्य है। यहां ब्रह्मादि देवता 'सर्वभूतानाम्' पद से लिये गये हैं। अथवा 'अलक्ष्यम्' का यह अर्थ है कि 'अ' कृष्ण को कहने वाला है अर्थात् भगवान् अपने आप ही जाने जाते हैं। दूसरे से नहीं। तात्पर्य यह है कि वह परत प्रकाश्य न होकर सूर्य की तरह स्वप्रकाश है। जब 'अलक्ष्यम्' में रहे 'अ' का अर्थ गुरु करते हैं तो यह अर्थ होता है कि वह भगवान् गुरु से जाना जाता है। जैसा कि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' से कहा है। आचार्य बनाने वाला ही पुरुष भगवान् को जानता है। और जो आचार्य बनायेगा वही मुक्त होगा। आचार्य वेदों के द्वारा समझा जायेगा। इसलिए वेद की व्यर्थता एव सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। अथवा यहां यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'वेदोनारायणः साक्षात्' वेद भगवान् का हो रूप है उससे ज्ञात होना स्वप्रकाश्य होना हो है। इसलिए उसके ज्ञानार्थ वेद अपेक्षित होने से वेद व्यर्थ नहीं है और जो आचार्य बनायेगा उसकी ही मुक्ति होगी। सबकी नहीं इसलिए सबकी मुक्ति नहीं हो सकती। जैसा कि 'यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम विजानताम्' 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योप सेचनं क इत्था वेद यत्र सः' साधनान्तर के नहीं होने से दुर्ज्ञेय है यह बात नहीं है किन्तु वास्तव में वह दुर्ज्ञेय ही हैं। इससे भगवान् दुर्ज्ञेय ही हैं तो उसके ज्ञान की प्रार्थना करना व्यर्थ है इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम्' भगवान् सब प्राणियों के भीतर बाहर विद्यमान है। वह सर्वत्र है और इसका ज्ञान सुलभ है। परन्तु उस भगवान् को बताने वाला ही दुर्लभ है। क्योंकि सब वस्तु मे वस्तु स्वरूप वही है। भगवान् का ज्ञान सुलभ है फिर भी वह नहीं जाना जा सकता ऐसा जो कहा गया है 'अविज्ञातं विजानताम्' 'क इत्था वेद यत्र सः' वह भगवान् विरुद्धधर्मा है यह बताने के लिए है। इसलिए सर्वत्र विद्यमान होने से उसका ज्ञान सुलभ

है। शङ्का होती है कि ऐसी स्थिति में घट आदि की तरह उसका प्रत्यक्ष सबको क्यों नहीं होता इसका उत्तर देते हैं कि 'माया जवनिकाच्छन्नम्' माया ही परदा है उससे वह भगवान् ढका हुआ है अर्थात् सब वस्तु में वस्तु स्वरूप वही है तो भी माया से उसका अन्यथा भान होता है अतः प्रत्यक्ष नहीं होता। कुन्ती कहती है कि मैं भी माया से आवृत होने के कारण भगवद्बहिर्मुख हूँ इसलिए मुझे आपका ज्ञान नहीं है। इसी बात को श्लोकस्थ 'अज्ञा' पद से कहा है। आशङ्का होती है कि सभी लोग सवत्र भ्रान्त नहीं हो सकते कोई कहीं भ्रान्त हो सकता है। दोषयुक्त इन्द्रियों से ही भ्रम की उत्पत्ति होती है अतः कदाचित् निर्दुष्ट इन्द्रियों से घट की तरह उसे ग्रहण किया जा सकता है। इसका उत्तर देते हैं कि 'अधोक्षजम्' इन्द्रिय जन्य ज्ञान भगवान् को विषय नहीं बना सकता। जैसा कि 'पराञ्चि खानिव्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यन्ति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' से कहा है। अतः भगवान् के वस्तु स्वरूप होने पर भी वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आशङ्का होती है कि वह भगवान् सब वस्तु में वस्तु स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि सब वस्तु नाश वाली है। यदि वस्तु स्वरूप मान लिया जाता है तो उसका भी नाश मानना होगा और उस भगवान् का नाश तो होता नहीं। अतः उसे वस्तु स्वरूप मानना ठीक नहीं। यदि उसमें कारण पन मान लेते हैं तो कारणत्व आदि स्वरूप सम्बन्ध विशेष है और वह सम्बन्ध स्वरूप द्वय रूप है इसलिए एक के नाश होने पर कारणत्व भी नहीं रह सकता। इसी प्रकार आधारत्व मानने पर आधारत्व नहीं रहता और आधेयत्व मानने पर भी आधेयत्व नहीं रहता इसलिए कहीं उस ब्रह्म का धर्मरूप से और कहीं धर्मीरूप से नाश सम्भव है तो ब्रह्मत्व कैसा ? इसका समाधान करते हैं कि 'अव्ययम्' भगवान् सर्वरूप हैं तो भी उसका विनाश नहीं होता। सर्वरूप तथा विनाशी न होना परस्पर विरुद्ध है। परन्तु भगवान् विरुद्ध सर्वधर्म के आश्रय हैं इसलिए सब संगत हो सकता है। अतः निर्दुष्ट पूर्ण गुण श्री अङ्ग वाले आपको नमस्कार करती हूं यदि आप यह शका करें कि मूलरूप ही मैं जैसा था तैसा अवतीर्ण हुआ हूं तो मैं तो सर्व प्रत्यक्ष हूँ ऐसी स्थिति में मुझे क्यों नहीं जान सकते। क्योंकि जैसे मैं स्व प्रकाश हूं उसी प्रकार मेरे धर्म भी स्वप्रकाश है तो मेरा धर्म रूप से और धर्मीरूप से अवतार दशा में क्यों नहीं ज्ञान हो सकता इस पर कुन्ती कहती है कि मूढ दृष्टि वालों से आप नहीं देखे जाते। यदि कहें कि मैं प्रत्यक्ष हूँ तो मेरा यथार्थ ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस पर कहती है कि 'नटो नाट्यधरो यथा' जैसे नट स्त्री रूप को दिखाता है उसके आन्तर रूप को नहीं जानने वाले उसे स्त्री ही समझते हैं पुरुष नहीं जानते। इसी प्रकार नररूप को प्रकट करते हुए आविर्भूत आप भगवद्रूप से नहीं जाने जाते। तात्पर्य यह है कि अवतीर्ण भगवान् को भगवान् है ऐसा नहीं जानते। भगवान् का आविर्भाव सबको अपना स्वरूप समझाने के लिए ही है। यदि स्वरूप समझाना अभीष्ट न हो तो आविर्भाव ही व्यर्थ होता है। अतः आविर्भाव से यह निश्चय है कि भगवान् अपने स्वरूप को समझाना चाहते हैं तो फिर नट की तरह उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता यह कैसे कहा। नट की तरह भगवान् प्रतारणा के लिए तथा उनमें रस पैदा करने के लिए प्रकट नहीं होते तो उसका ज्ञान सुलभ है। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि 'तथा परमहंसानाम्' भक्तियोग के लिए प्रकट हुए भगवान् अपने पहले वेद और ऋषियों को प्रकट करते हैं उनसे जब साधन सहित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब आगे के कार्य करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। वेद और ऋषियों से होने वाले ज्ञान में सन्यास अङ्ग है क्योंकि वह अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है जैसा कि श्रुति में कहा है कि 'सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' अर्थात् सन्यास योग से यति शुद्ध सत्त्व वाले बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में अन्न आदि जनित

दोष भी नहीं होते। अन्तःकरण शुद्धि होने के अनन्तर मनन होना अङ्ग है। यद्यपि श्रवण के बाद मनन होता है परन्तु श्रवण तो पहले ही हो चुका है। मननोत्तर होने वाले निदिध्यासन से युक्त जो परमहंस है अर्थात् जो एकाग्र चित्त है अथवा भगवान् के निर्धार वाले है ऐसे परमहंसों में शुद्धान्तःकरण होना परमावश्यक है। उन्हीं ज्ञान के अधिकारियों को अथवा जिनको ज्ञान हो गया है उनको ज्ञानार्थ भक्तियोग आवश्यक है। भक्तियोग के बिना न भगवद् ज्ञान ही हो सकता है और न सायुज्य मुक्ति ही। अतः भक्तियोग प्रकट करने के लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं। श्लोकस्थ 'परमहंसानाम्' में आये हुए हंस शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे हंस नीर क्षीर विवेकी है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ को विवेचन के साथ समझने वाले हैं। परम हंस वे हैं जो केवल आत्मा का ही दर्शन करते है। जैसे अभिनय करने वालों के नृत्य को सब देखते हैं किन्तु जो सहृदय है उन्हीं को आनन्दानुभव होता है। नपुंसक एव स्त्रियों को नट के स्त्री रूप में आकर नृत्य करने पर शृंगार रस उत्पन्न नहीं होता। उन्हें उल्टा खेद होता है। वे नपुंसक एवं स्त्रियां यह समझती हैं कि हमारे समान धर्म को प्रकट करके यह हमारी नकल करता है। उसी प्रकार साधारण स्त्री पुरुषों को तथा दैत्यांशों को रस ज्ञान एवं भक्ति उत्पन्न न हो इसलिए वञ्चनार्थ नट की तरह भगवान् लीला करते हैं तो ऐसी स्थिति में हम स्त्रियां आपको कैसे जान सकती हैं। प्रत्युत हम स्त्रियां तो आपके प्राकट्य से लज्जा काम आदि दोषों से युक्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में दोषयुक्त होने पर हम आपको जान ही कैसे सकती हैं ।।१७।।१८।।१९।।

**आभास** एवं स्वरूपमुक्त्वा गुणान् वदन्ती सर्वसम्बन्धेन नमस्यति—

**आभासार्थ**— इस प्रकार कुन्ती स्वरूप का वर्णन कर गुणों को कहती हुई अपने से सब तरह के सम्बन्ध बताती हुई नमस्कार करती है—

श्लोक—**कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।**

**नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमोनमः ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकी पुत्र, नन्दगोपकुमार और गोविन्द आदि नामों से कहे जाने वाले आपको बार-बार प्रणाम है ।।२०।।

**सुबोधिनी**— **कृष्णायेति** । नाम्ना भ्रातृपुत्रत्वम् । यान्येवाऽनमस्करणीयानि रूपाणि तान्येव भगवान् स्वोद्धारार्थं स्वस्य सर्वसम्बन्धान् पुरस्कृत्याऽवतीर्ण इति ज्ञाते नमस्करणीयानि भवन्ति । यथा महतः प्रक्षीणदशायां सेवकत्वेन लज्जया नमस्कारं करोति लोकः । न तु सेवकं मन्यते । **कृष्णायेति** वा मूलरूपस्याऽनुवादः । मूलमनूद्य हि सम्बन्धनिरूपणे नमस्करणीयो भवति । **वासुदेवायेति** भ्रातृपुत्रत्वम् । भ्रातृनिरूपणेन भ्रातरं मोचयन् तद्भगिनीमपि मोचयेदिति । तथा **देवकीनन्दनायेति** देवकीं मोचयन् तन्ननान्दरमपि मोचयेदिति । चकारात्पितृभामकं मोचयन् तत्पत्नीमपि मोचयेदिति । पाण्डवप्रियायेति नमस्करणीयं रूपम् । तथा दूरसम्बन्धेऽपि मोचयेदिति वसुदेवमित्रसम्बन्धमाह— **नन्दगोपकुमारायेति** । कुमारः पालकपुत्रः । स्कान्दे तथोपलब्धेः । गोपसम्बन्धेनाऽपि मोचयेदिति गोपपदम् । सन्मार्गवर्त्तिनां सर्वेषामेव सर्वाभीष्टप्रद इति गवामिन्द्राय । "**इन्द्रं नस्त्वाऽ-**

**भिषेक्ष्याम**"इति वचनात् । **गोविन्दायेति** । निगमादस्य पदस्य सिद्धिः । निगमनिरुक्तव्याकरणेभ्यो धा पदसिद्धिः । **"गोविन्द इति चाऽभ्यधादि"**ति निगमस्थानीयम् । वसतीवरीवत् । नमनद्विरुक्तिराद-रात् । अनेन सम्बन्धमोचकत्वं गुणोऽप्युक्तः । २०॥

**व्याख्यार्थ**—कृष्ण नाम से कुन्ती अपने भाई का पुत्र बता रही है । भगवान तथा कुन्ती का सम्बन्ध ऐसा है जिससे श्लोक में बताये गये रूप नमस्करणीय नहीं हैं क्योंकि श्लोक के पदों से भगवान् को भतीजा बताया गया है परन्तु जब भगवान् अपने निज जनों के उद्धार के लिए सब सम्बन्धों को रख कर अवतीर्ण होते हैं । ऐसा ज्ञान होने पर श्लोक में बताये गये स्वरूप भी नमस्करणीय हो जाते हैं । अज्ञान दशा में नमस्करणीय नहीं होता इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे पहले महान रहा हो फिर क्षीण दशा में आ गया हो तो पूर्व में सेवक रहा व्यक्ति उसकी क्षीण दशा में भी लज्जा से नमस्कार करता है किन्तु अपने आपको सेवक नहीं मानता । वैसे ही मूल रूप भगवान् जब अवतीर्ण होते हैं । वैसी क्षीण दशा में लोग अपने को अवतीर्ण हुए भगवान् का सेवक नहीं मानता किन्तु नमस्कार करता है क्योंकि मूल रूप का अवतार लेना क्षीण दशा को बताता है ऐसा मानने पर सत्वोपाधिक वासुदेव मूलरूप माना जाता है किन्तु सगुण होने से वह मूलरूप नहीं हो सकता । इस अरुचि से कृष्ण को पहले मूलरूप बताती है । मूल कहकर उसी के सम्बन्ध का जब निरूपण किया जाता है तो नमस्करणीय होता है क्योंकि मूलरूप नमस्करणीय है और वही अवतार दशा में सम्बन्धी होता हुआ भी नमस्करणीय हो सकता है कुन्ती ने 'वासुदेवाय' यह कह-कर वसुदेव जो मेरा भाई है उसके आप पुत्र हैं इस पद से यह संकेत करती है कि जैसे आपने भाई वसुदेवजी को विपत्ति से छुड़ाया वैसे ही उनकी बहिन मुझको भी छुड़ावे इसी प्रकार 'देवकीनन्द-नाय' यह कहकर कुन्ती यह सूचित करती है कि जैसे देवकी को दुःखों से मुक्त किया वैसे ही देवकी की ननद मुझको भी दुःखों से मुक्त करेंगे । श्लोक में 'च' पद है उससे फूफा पाण्डु लिया गया अर्थात् पाण्डु को जैसे विपत्ति से छुड़ाया इस प्रकार मैं जो उसकी पत्नी हूं उसे भी छुड़ायेंगे । पाण्डव प्रिय होना नमस्करणीय रूप है आप यदि अपने को नन्द तनय समझ दूर का सम्बन्ध माने अर्थात् मैं वसुदेव की बहिन हूँ और नन्द वसुदेवजी के मित्र हैं ऐसी स्थिति में दूर सम्बन्ध होने पर भी मेरी आप रक्षा कर सकते हैं इसी बात को 'नन्दगोपकुमाराय' पद से कहा । यहां कुमार का अर्थ आत्मज नहीं है किन्तु पालन करने वाले जो नन्द हैं उनके पुत्र ऐसा अर्थ है । तात्पर्य यह है कि नन्द आपके पालक पिता हैं जनक नहीं, कुमार पद से ऐसा अर्थ लेने में स्कन्द पुराण प्रमाण है । जैसे कार्तिकेय स्वामी महादेव से पैदा नहीं हुए हैं तो भी वे महादेव के कुमार कहलाते हैं उसी प्रकार आप भी पालक पुत्र होने से नन्द के कुमार कहलाते हैं । मेरा नन्द गोप स परम्परा सम्बन्ध है इसलिए भी आप मेरी रक्षा कर सकते है, इसी बात को बताने के लिए गोप पद दिया है । जो सन्मार्ग में चलने वाले सभी को सम्पूर्ण अभीष्ट देते है इसलिए आप गाय आदि के इन्द्र हैं । इसी बात को इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामः' हम आपको इन्द्र बनाना चाहते हैं । ये कामधेनु के वाक्य हैं । गायों का इन्द्र इस अर्थ वाला गोविन्द शब्द श्लोक में दिया गया है । यद्यपि इस अर्थ वाला यह शब्द व्याकरण से नहीं बनता । परन्तु निगम से इसकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । निगम, निरुक्त और व्याकरण इन तीनों से पद की सिद्धि होती है । 'गोविन्द इति चाभ्यधात्' यहां का गोविन्द पद भी निगम से सिद्ध हुआ है । जैसे जलवाची 'वसतीवरी' शब्द निगम से सिद्ध किया गया है वैसे ही यहां समझना । आदर बताने के लिए 'नमोनमः' से दो बार नमन किया है । कुन्ती कहती है कि

जिसके आप सम्बन्धी होते हैं उसको आप संसार से मुक्त कर देते हैं यह आप में गुण है यह कहा ॥२०॥

**आभास—**गुणान्तरमाह—

**आभासार्थ**- अब दूसरे गुणों को कहते हैं—

श्लोक—**नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।**
**नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२१॥**

**श्लोकार्थ—**जिनके नाभि में कमल है, जो कमल की माला धारण किये हुए हैं और जो कमल नेत्र हैं तथा कमल के समान जिनके चरणारविन्द हैं ऐसे भगवान् को नमस्कार करती हूं ॥२१॥

**सुबोधिनी—नमः पङ्कजनाभायेति** । जगत्कारणत्वभूषितत्वकृपाश्रयत्वसुखसेव्यत्वगुणैर्नमस्यति । नमनं हि स्वरूपे गुणे वा । न लीलादौ । रसावेशात् । पङ्कजं नाभौ यस्येति ब्रह्मपितृत्वम् । **पङ्कजमालिन** इति लक्ष्मीपतित्वम् । सा हि विवाहे नवपङ्कजमालां प्रक्षिप्तवती । **पङ्कजनेत्रायेति** सर्वपतित्वम् । वश्यतासम्पादकत्वेनाऽमृतवर्षणाद्वा **पङ्कजाङ्घ्रय** इति भक्तिप्रवर्तकाय । सर्वजनकत्वेन सर्वमुत्पाद्याऽपि प्रयच्छेत् । ऐहिकामुष्मिकं प्रयच्छति भक्ति चेति गुणाः । २१॥

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्थ 'पङ्कजनाभाय' पद से भगवान् को जगत् का कारण बताया । 'पङ्कजमालिने' पद से भूषित बताया । 'पङ्कजनेत्राय' से कृपा का आश्रय बताता । 'पङ्कजाङ्घ्रये' से सुख सेव्य बताया । अर्थात् जगत्कारणत्व भूषितत्व कृपाश्रयत्व सुख सेव्यत्व गुणों से कुन्ती भगवान् को नमस्कार करती है । नमस्कार स्वरूप को अथवा उसके गुणों को किया है । लीला आदि को नहीं । लीला आदि के अनुभव में रसावेश होने से देहानुसन्धान आदि के न रहने के कारण नमन नहीं बन सकता । 'पङ्कजनाभाय' का अर्थ यह है कि कमल है नाभि में जिसके अर्थात् ब्रह्मा के पिता रूप आपको नमस्कार है । 'पङ्कजमालिने' का अर्थ है कमल की माला है जिसके अर्थात् आप लक्ष्मी के पति हैं । लक्ष्मी ने विवाह के समय नवीन कमलों की माला को भगवान् के गले में डाला था इसलिए 'पङ्कजमालिने' पद से लक्ष्मीपति सूचित हुआ । 'पङ्कजनेत्राय' का अर्थ है कमल के समान जिनके नेत्र हैं । भगवान् जब प्रसन्न होते हैं तब उनके नेत्र कमल के समान विकसित होते हैं । इससे यह भी सूचित हुआ कि भगवान् सबके पति हैं जैसा कि विष्णु को पुण्डरीकाक्ष कहकर लौगाक्षिगृह्य में 'विष्णवे सर्वाधिपतये स्वाहा' से सबके अधिपति बताये हैं । इसलिए भगवान् को पति बताना ठीक है परन्तु ऐसे अर्थ करने में कल्पना करनी पड़ती है इससे क्लेश होता है अतः 'वश्यतासम्पादकत्वेनामृतवर्षणाद्वा' के द्वारा प्रकारान्तर से भगवान् को सबका पति बताया है । आप सबके पति हैं पति वश में करता है और अमृत की वर्षा करता है । आप जब-जब भी पङ्कजनेत्र वाले दिखाई देते हैं तब भक्तों को वश में करते हैं और अमृत की वर्षा करते हैं । इस तरह आप पति के कार्य को करते हैं इसलिए आप सबके पति हैं 'पङ्कजाङ्घ्रये' का अर्थ है कमल के समान जिनके चरणारविन्द हैं । चरणारविन्द कमल की तरह सुख सेव्य होने से अथवा आपके

चरणारविन्द की सेवा में सुखानुभूति होती है इसलिए आप भक्ति के प्रवर्तक हैं 'पङ्कजनाभाय' से बताया कि आप सबके जनक हैं इसलिए सभी वस्तु का नवीन रूप से उत्पन्न करके भी दे सकते हैं। अर्थात् ऐहिक लक्ष्मी प्राप्ति आदि और पारलौकिक फल तथा भक्ति आप दे सकते हैं ये आपके गुण है ।।२१।।

**आभास** लीलामाह त्रिभिः—

**आभासार्थ**—तीन श्लोकों से भगवान् की लीला का वर्णन करती है—

श्लोक—**यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धाऽतिचिरं शुचार्पिता ।**
**विमोचिताऽहं च सहाऽऽत्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ।२२।**

**श्लोकार्थ**—हे हृषीकेश ! हे इन्द्रियों के नियामक ! दुर्जन कंस से जेल में रोकी गई बहुत काल से शोकयुक्त अपनी माता देवकी को शोक से तथा बन्धन से छुड़ाया । हे विभो ! पुत्र सहित मुझे तो स्वयं नाथ बनकर आपने विपत्तियों के समुदाय से बार-बार मुक्त किया ।।२२।।

**सुबोधिनी**—**यथेति** । मुख्या लीला **हृषीकेशेति** । सर्वेषामिन्द्रियाणां नियामकत्वेन भर्तृवद्रमणात्त्वत्तः सर्वेन्द्रियप्रीतिमनुभूय तद्रसाभिनिविष्टाः के वा न नमेयुरित्यर्थः । किञ्च । तवैषा महती लीला मातरं पितरं च खलेन बन्धनं कारयित्वा बहुकालं दुःखानुभवं च कारयित्वा पश्चान्मोचयसीति । अतस्तदपेक्षया वयमेव कृतार्था इति तवैषा लीला वक्तुमप्यशक्या । भक्तमोचकत्वस्य गुणत्वेऽपि लीलां गुप्तां कृत्वा गुण एव तथात्वेन वक्तव्यः । यथा—**खलेन** कंसेन देवकी रुद्धा सती त्वया विमोचिता । अतिचिरं शुचार्पिताऽपि विमोचिता । शोकमपि दूरीकृतवान् । तथाऽहञ्च । चकाराद्यशोदादयोऽपि । मयि पुनर्विशेषोऽप्यस्तीत्याह । **सहाऽऽत्मजा** । अनेन ममाऽऽत्मजा अपि मोचिताः । तस्यास्तु भवानेवाऽऽत्मज इति नाऽऽत्मजान्तरापेक्षा । अथवा । तस्या बहवः पुत्रा मारिता मम त्वेक एवेति तद्विपरीतत्वं मयि । कथमेवं करणम् ? तत्राऽऽह—**विभो इति** । हे सर्वकरणसमर्थ । किञ्च **त्वयैव नाथेन** । त्वमेव नाथो भूत्वा मोचयसि । अथवा । **नाथेन** सह सा मोचिता । अत्र तु तदभावात्त्वमेव नाथ इत्यर्थः । तव नाथभवननाथमोचनयोगाद्य एव श्रेयानित्यहमुत्तमा । लीलायां विपरीतकथनमप्युत्तमम् । किञ्च । मुहुः सा न मोचिता । किन्तु वारद्वयमेव । अहं तु बाल्यादारभ्य वारं वारं मोचितेति । किञ्च । **विपद्गणात्** । विपदां समूहात् । एकस्यामापदि गणशो ह्यन्या आपदः समायान्ति । ता भारते प्रसिद्धाः ।।२२।।

**व्याख्यार्थ**—'हृषीकेश' पद से मुख्य लीला कही । यहां ऋषीक पद से इन्द्रियां और ईश पद से नियामक लिया गया है । अर्थात् आप सब इन्द्रियों के नियामक होने से भर्ता की तरह इन्द्रियों को आनन्द देते हैं । आपके दर्शन आदि से सम्पूर्ण इन्द्रियों की प्रीति का अनुभव कर उस रस में अभिनिविष्ट हुए कौन आपको नमस्कार न करे । आपकी कौतुक पैदा करने वाली लीला होने से वह दुर्ज्ञेय है । जैसे कि माता और पिता का दुर्जन कंस के द्वारा बन्धन कराकर और बहुत समय

तक दुःखानुभव कराकर पीछे उन्हें मुक्त कराया । अतः देवकी वसुदेवजी की अपेक्षा हम ही कृतार्थ हैं । इस प्रकार की आपकी लीला का कथन भी अशक्य है । ऊपर श्लोक में तीन श्लोकों से लीला का वर्णन करती है ऐसा कहा है तो श्लोक में 'विमोचिता' से भक्त मोचकत्व जो बताया गया है वह तो गुण है लीला नहीं फिर इस श्लोक से लीला का वर्णन कैसे हुआ तो कहते हैं कि भगवान् में भक्त मोचकत्व गुण है तो भी लीला को गुप्त रखकर गुण ही उस रूप में कहे गये हैं । अर्थात् गुणों से गुप्त रूप में लीला का ही वर्णन किया है । जैसे खल कंस से जेल में बन्द रही देवकी को आपने छुड़ाया और बहुत काल तक शोकयुक्त थी उसे बन्धन एवं शोक से भी मुक्त किया । कुन्ती कहती है कि इसी प्रकार मुझे भी शोकमुक्त किया । श्लोकस्थ 'च' से यशोदा आदि भी ली गई अर्थात् उन्हें भी दुःख से मुक्त किया । मेरे में उनकी अपेक्षा विशेषता है । मैं अपने पुत्रों सहित विपत्तियों से मुक्त की गई अर्थात् मुझे और मेरे पुत्रों को भी आपने बचाया । देवकीजी के तो आप ही ऐसे पुत्र हैं जिससे उसे दूसरे पुत्रों की अपेक्षा नहीं है इसलिए आत्मज सहित देवकी को छुड़ाया इस आशय से 'सहात्मजा' देवकी का विशेषण नहीं हो सकता । क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई पुत्र उनके नहीं था । जिसको कि आप दुःखों से मुक्त करते । अथवा कुन्ती के कहने का तात्पर्य यह है कि उस देवकी के बहुत से पुत्र मरवा डाले और मेरे एक ही पुत्र कर्ण को मरवाया । अतः देवकी से मेरे में विपरीतता है अर्थात् देवकी के एक ही पुत्र आप रहे और मेरे एक ही पुत्र को मरवाया । इस पर कहते हैं कि इस प्रकार क्यों किया ? इसका उत्तर कुन्ती देती है कि आप विभु हैं अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ हैं । इसलिए इस रूप में भी कार्य कर सकते हैं । जिनका स्वामी नहीं है उसके आप ही स्वामी बनकर दुःखों से छुड़ाते हैं । देवकी के पक्ष में 'नाथेन' पद के आगे सह लगाकर अपने पति (वसुदेवजी) के साथ देवकी को बन्धन एवं शोक से मुक्त किया । कुन्ती के पक्ष में यह अर्थ है कि आप ही ने नाथ होकर मुझे बचाया । देवकी के तो वसुदेवजी नाथ (स्वामी) थे और मेरे पति पाण्डु के न रहने से मैं अनाथ थी । इसलिए आपने मेरे नाथ बनकर मुझे मुक्त किया । नाथ (स्वामी) वसुदेवजी को छुड़ाने की अपेक्षा भगवान् का नाथ (स्वामी) होना ही अच्छा है । तात्पर्य यह है कि देवकी के पति वसुदेवजी को बन्धन से मुक्त किया किन्तु स्वयं पर आपने इतनी जुम्मेवारी नहीं ली और मेरे तो नाथ बनकर मेरी सभी जुम्मेवारी आपने ले ली । इससे देवकी की अपेक्षा मैं उत्तम हूँ । यह भगवल्लीला है । लीला में विपरीत कहना भी अच्छा होता है । एक बात यह भी है कि वह देवकी बार-बार नहीं छुड़ाई गई किन्तु दो बार ही छुड़ाई गई । मुझे तो बाल्यकाल से लेकर बार-बार मुक्त किया । एक आपत्ति में अनेक आपत्तियां आई उन सब आपत्तियों से आपने मुझे बचाया । एक आपत्ति से नहीं किन्तु आपत्तियों के समुदाय से मेरी रक्षा की । आपत्तियां क्या आई यह महाभारत में प्रसिद्ध हैं ॥२२॥

**आभास**—ता आपदो गणयति—

**आभासार्थ**—उन आपत्तियों को गिनाती है—

श्लोक—**विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः ।**

**मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चाऽऽस्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२३॥**

**श्लोकार्थ**—भीमसेन को दिये गये विष के लड्डुओं से तथा सर्प के जहर से लाक्षागृह की महान् अग्नि से हिडिम्ब आदि राक्षसों के सामने आने पर उनसे दुष्ट दुर्योधन आदि की सभा से वनवास में होने वाले दुर्वासा आदि के कष्टों से प्रत्येक युद्ध में अनेक महारथियों के अस्त्रों से तथा अश्वत्थामा से चलाये गये ब्रह्मास्त्र से हे हरे! आपने चारों ओर से रक्षा की ।।२३।।

**सुबोधिनी** - **विषादित्यादि** । भगवत्त्वेन सर्वकर्तृत्वाद्विषादावपि मोचकत्वमुक्तम् । **विषात्** । विषमोदकात्सर्पविषाच्च । **महाऽग्निर्लाक्षागृहे** । हिडिम्बादयः **पुरुषादाः** । तेषां दर्शने जातेऽपि रक्षिताः । **असत्सभायाः** । द्रौपदीनिग्रहेऽम्बरकेशाकर्षणादौ । **वनवासकृच्छ्रतः** । द्रौपदीहरणदुर्वासः-प्रभृतीनां कृच्छ्रत इति (?) वनेऽपि राज्यैश्वर्यदानात् । तदनु **मृधे मृधे** गोग्रहणमारभ्याऽद्यावधि यावन्तः संग्रामा जाताः । अनेके महारथा भीष्मादयः । तेषां ब्रह्मास्त्रादिभ्यः । भगदत्तकर्णादीनां त्वप्रतीकार्यता । भगवद्रक्षा च तत्रैव सिद्धा । सा रक्षा न प्रार्थनया । बाधकस्वरूपाज्ञानात् । अत आह—**हरे इति** । हे हरे ! अभितोऽरक्षिताः स्मः ।।२३।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् सब कुछ कर सकते हैं इसलिए कुन्ती ने विष देना आदि से हमें मुक्त किया ऐसा कहा । श्लोकस्थ 'विषाद्' पद का विष के लड्डुओं से (जो भीमसेन को दिये गये थे) और सर्प के विष से छुड़ाना अभिप्रेत है लाक्षागृह में लगी महा अग्नि से हिडिम्बादि राक्षसों से उनके सामने आने पर भी रक्षा की । द्रौपदी को वश में लाने के लिए वस्त्र और केश को खींचने आदि दुष्कृत्य जिसमें हो रहे थे ऐसी असत्सभा से द्रौपदी के हरण से तथा दुर्वासा के आने से जो वनवास में दुःख उत्पन्न हुआ उससे वन में भी राज्य का ऐश्वर्य देकर रक्षा की । अनेक बार हुए युद्ध में गायों के चुराने से लेकर आज तक जितने भी संग्राम हुए हैं उनमें महारथी भीष्म आदि से चलाये गये ब्रह्मास्त्र आदि से भगदत्त कर्ण आदि ऐसे वीर थे जिनका प्रतीकार नहीं हो सकता था उनसे आपने रक्षा की । वह रक्षा भी हमारी प्रार्थना पर नहीं । क्योंकि बाधक जो थे उनका स्वरूप ज्ञान हमें नहीं था इसलिए हमने कोई प्रार्थना नहीं की । आप स्वयं हरि हैं अर्थात् सब दुःखों को हरण करने वाले हैं इसलिए चारों ओर से आने वाली आपत्तियों से हमें बचाया ।।२३।।

**आभास**—एवं नानाविधलीलया भगवत्कृतां रक्षां प्रतिपाद्य लीलयाऽद्भुतकर्मत्वं वक्तुं रक्षापेक्षया आपद एव समीचीना इति क्षुधितस्याऽन्नभोजनजन्यसुखवद्विपत्पीडितानां भगवद्दर्शनानन्दो दुर्लभ इति लोकानां विपदामनिष्टत्वेऽपि भक्तानामिष्टसाधनत्वात्ताः प्रार्थयते—

**आभासार्थ**—इस प्रकार नाना प्रकार की लीला से भगवान् से की गई रक्षा का वर्णन कर लीला से वह अद्भुत कर्म करता है ऐसा कहने के लिए सुरक्षित रहने की अपेक्षा आपत्तियां ही अच्छी हैं यह कहने के लिए भूखे को अन्न भोजन से होने वाले सुख की तरह विपत्ति से पीड़ितों को भगवान् के दर्शन का आनन्द दुर्लभ है अतः लोगों को विपत्तियां अनिष्ट हैं तो भी भक्तों के लिए वे विपत्तियां इष्ट साधन करने वाली हैं इसलिए कुन्ती उन विपत्तियों को चाहती है—

श्लोक—**विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।**
**भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**–हे जगद्गुरो! जहाँ-जहाँ मैं रहूं या जाऊ वहाँ-वहाँ मेरे पर विपत्तियाँ आती रहें जिससे कि पुनर्जन्म को मिटाने वाले आपके दर्शन होते रहें ।।२४।।

**सुबोधिनी** - **विपद इति** । एषा भगवतो विपरीतलीला । आपत्सु परमानन्दं प्रयच्छति तदभावे परमानन्दतिरोभावं करोतीति । **तत्र तत्र** यत्रैव स्थीयते गम्यते च । ननु कथमेवं निर्द्धारः क्रियते विपद एव सन्त्विति । कुतः शिक्षितमेतत् ? तत्राऽऽह—**जगद्गुरो इति** । त्वत्त एवैतच्छिक्षितं यद्विपदः समीचीना इति । अन्तर्यामितया प्रेरणाद्बहिरप्युपपत्तिदर्शनाच्च । यथा सर्वप्राणिनाम् । शिक्षितप्रकारमाह - **भवतो दर्शनं यत्स्यादिति ।** याभ्यो विपद्भ्यो दर्शनं यस्य ?/स्यात् । तत्रैव फलरूपदर्शनान्वयव्यतिरेकाभ्यामिदमवगतम् । **न** विद्यते पुनभवस्य दर्शनं यस्मात् । पुनः शरीरं **न** पश्येदित्यर्थः । **अथवा** । अपुनर्भवानां जीवन्मुक्तानां दर्शनं यस्मात् ।।२४।।

**व्याख्यार्थ**– यह भगवान् की विपरीत लीला है कि आपत्तियों में वह परमानन्द को देती है और आपत्ति के न होने पर परमानन्द रूप आपको तिरोहित कर देती है । कुन्ती कहती है कि जहां मैं ठहरू' और चलू' वहां वहां मेरे पर विपत्तियां हों । यदि आप (भगवान्) यह आशङ्का करें कि यह निर्णय तुमने कैसे किया कि विपत्तियों का होना ही ठीक है और ऐसी यह शिक्षा कहां से ली इस पर कुन्ती कहती है कि आप जगद्गुरु हैं आपसे ही यह सीखा है कि विपत्तियां अच्छी होती हैं । आपने अन्तर्यामी रूप से ऐसी ही प्रेरणा दी है कि विपत्तियां ठीक हैं । और बाहर भी युक्तियों से हम जानती हैं कि विपत्तियां अच्छी हैं जैसा कि सब प्राणियों में देखा जाता है । आपने किस रूप में विपत्तियां अच्छी हैं यह शिक्षा दी इस प्रकार कहती है कि जिन विपत्तियों से आपके दर्शन होते हैं । जब विपत्तियां होती हैं तब फलरूप दर्शन होते हैं और जब विपत्तियां नहीं होती तब दर्शन नहीं होते इस रूप के अन्वय व्यतिरेक से मैंने ऐसा समझा है । आपके दर्शन से पुन जन्म नहीं होता अर्थात् वह दूसरे शरीर को नहीं देखता । अथवा जब आप दर्शन देते हैं तब आपके साथ आये जीवन्मुक्तों के भी दर्शन हो जाते है इसलिए विपत्तियां अच्छी हैं और वे मेरे ऊपर होवें ।२४।

**आभास**—एवमद्भुतलीलामुपपाद्य दुष्टदुर्ज्ञेयत्वमाह चतुर्भिः—

**आभासार्थ**—आप आपत्ति में परमानन्द देते हैं और आपत्ति नहीं होने पर परमानन्द का तिरोभाव कर देते हैं यही आपकी अद्भुत लीला है इस प्रकार अद्भुत लीला का उपपादन कर भगवान् दुष्टों से दुर्ज्ञेय हैं यह बात चार श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।**
**नैवाऽर्हत्यभिधातु' वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**— सत्कुल में जन्म, राज्यादि का ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी से जिसका मद बढ़ गया है ऐसा व्यक्ति अकिञ्चनों को प्रत्यक्ष होने वाले आपके नामों का उच्चारण नहीं कर सकता ।।२५।।

**सुबोधिनी—जन्मैश्वर्येति** । भगवतो हि नवप्रकारा धर्मा ज्ञेया नवविधभक्तिहेतव स्वरूप-गुणादिप्रकारेण भिन्नाः । तत्र स्वरूपे ज्ञाते श्रवणं भवति । गुणेषु ज्ञातेषु कीर्तनं भवति । लीलायां ज्ञातायां स्मरणम् । एवमेकः खण्डः । द्वितीयखण्डे समीपगमने पादसेवनपूजनवन्दनदास्यानि । तृतीये सख्याऽऽत्मनिवेदने । तत्र दुष्टदुर्ज्ञेयत्वादीनां तत्र तत्र कारणतामुपपादयिष्यामः । तत्र प्रथमं यावद्दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं न ज्ञायते तावद्दुष्टानां बाधककायवाङ्मनोव्यापाराणां दर्शनाद्भगवत्समीपं न गच्छेत् । ज्ञाते तु पुनरन्धो न पश्यतीति चक्षुष्मताऽपि न द्रष्टव्यमितिवदस्मद्बुद्धीनां बाधप्रतीतिरिति द्वितीये खण्डे प्रवर्त्तेत । अतः पादसेवनार्थं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्यते । तत्र जन्म सत्कुले । ऐश्वर्यं राज्यादौ । श्रुतं शास्त्रादौ । श्रीः सम्पत् । एताभिरेधमानो मदो यस्य । अयमर्थः । यथा ताण्डुलादेरोदनद्वारा पितृदेवमनुष्यादीनां तृप्तिजनकत्वेनाऽमृतत्वेऽपि मदापेक्षिणां स्वमलत्वेन पर्यवसानान्मदजनकत्वं भवति । न हि तावता अन्नोद्भवमिति पेयं भवति । तथा दैत्यांशानां गर्वाकांक्षिणां सत्कुलोत्पत्तौ तत्कुलस्य मलत्वेन पर्यवसानान्मादकत्वम् । तथा सति सत्कुलोत्पन्न इति न तस्य संग्रहः कर्तव्यः । एवमुत्तरत्राऽपि । इममेवाऽवान्तरभेदं पुरस्कृत्य "**विद्यामदो धनमद**" इति वाक्यं प्रवृत्तम् । **पुमानिति स्वातन्त्र्येण गुरुभिरनियम्य इत्युक्तम्** । अत एव त्वामभिधातुं नाऽर्हति । यथा पूर्वं ब्राह्मणोऽपि जात्यन्तरमापन्नो मदिरामत्तो वेद पठितुं नाऽर्हति । पठनेऽप्युन्मत्तप्रलपितमेव तन्न श्रोतव्यम् । यद्यपि भक्तौ सर्वेऽधिकारिणस्तथापि कृत्रिममदिरादिसम्बन्धे वेदाधिकाराभाववन्मादकस्य (?) न भगवच्छब्दोच्चारणाधिकारः । अतस्तदाचारान्न काचिद्व्यवस्था । ननु "**जन्मकर्मवदातानामि**"ति वेदाधिकारोक्तेस्तादृशस्य वेदानधिकारो भवतु नाम । भगवतः पुनः सर्वात्मकत्वात्—"**चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेदि**"ति स्मृतेश्च "**पतितः स्खलित**"इति वाक्याच्च महापातकिनोऽपि प्रायश्चित्तत्वेनोक्तत्वाच्च कथं मत्तस्य नाऽधिकार इति चेत्? तत्राऽऽह—**अकिञ्चनगोचरमिति** । अकिञ्चनाः पूर्वोक्तधर्मरहितास्तेषां गोचरो गम्यः । अयमर्थः । न तादृशस्याऽधिकार इति न स्वरूपतोऽधिकारो निवार्यते । किन्तु फलतः । भगवानेव हृदये नाऽऽयाति । भगवद्गुणाश्च मुखे आगच्छन्तोऽपि व्यवहारत्वेनाऽऽगच्छन्ति । शौचे गङ्गाजलवत् । अकिञ्चनगोचरस्वभावत्वात् । अद्याऽपि लोके सर्वे सम्भाष्यन्ते न मत्ताः । अतस्तेषु कदाचिदपि भगवत्सान्निध्याभावादनधिकार इत्युक्तम् ।।२५।।

**व्याख्यार्थ**—स्वरूप गुण लीला आदि दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व लक्षणैः इस कारिका में भगवान के नौ प्रकार के धर्म बताये है वे नौ प्रकार के धर्म श्रवण कीर्तन आदि नौ प्रकार की भक्ति के कारण है । भगवान् का स्वरूप ज्ञान होने पर श्रवण होता है । गुणों के जानने पर कीर्तन होता है । लीलाओं के जानने पर स्मरण होता है । इस प्रकार स्वरूप, गुण, लीला के भेद से श्रवण कीर्तन, स्मरण से एक खण्ड हुआ । पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य यह दूसरा विभाग है । पाद सेवन आदि भगवान् के समीप जाने पर होते है । तीसरे खण्ड में सख्य और आत्म निवेदन है सख्य और आत्म निवेदन में दीनता जाती रहती है इसलिये यह तीसरा खण्ड है । अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण यह नवधा भक्ति का एक खण्ड है । पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य ये चार भक्ति का द्वितीय खण्ड है । तीसरे खण्ड में सख्य और आत्म निवेदन है । पाद सेवन आदि में दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व आदि जो उक्त कारिका में कहे गये हैं वे कारण है यह बात उन उन श्लोकों में कही जायेगी । पहले वहां जब तक दुष्ट दुर्ज्ञेयता न जानी जाय तब तक दुष्टों के( दोष युक्तों के ) भक्ति में बाधक जो काय, वाणी, मनो व्यापार है उनके दीखने से भगवान् के पास वे नहीं जाय । जब उनका दुष्ट

दुर्ज्ञेयत्व जान लिया जाय तो यदि अन्धा नहीं देखता है तो क्या नेत्रवाले को भी उसे नहीं देखना चाहिये इसकी तरह हमारी बुद्धि में बाधक की प्रतीति होगी तो हम उसे हटाकर समीप जायेंगे और पाद सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य में प्रवृत्त होंगे। इसलिये पाद सेवन के लिये दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का निर्णय करते है। अर्थात् नीचे बताये हुए जन्म, राज्यादि का ऐश्वर्य, शास्त्र आदि का सुनना तथा लक्ष्मी के मादक होने पर भगवान् नहीं जाने जाते। सत्कुल में जन्म, राज्यादिका ऐश्वर्य, शास्त्र आदि का सुनना तथा सम्पत्ति से जिसका मद बढ गया है वह श्रवण कीर्तन आदि का अधिकारी नहीं है। अभिप्राय यह है कि जैसे चावल आदि के ओदन रूप में परिणत हो जाने पर पितृदेव और मनुष्य आदि के तृप्ति जनक होने से उस ओदन में अमृत रूपता है किन्तु जो उससे मद ( नशा ) चाहते है वे उसे मल रूप में परिणत करते है तो वह चावल मद जनक बन जाते है। इससे यह नहीं होता कि वह आसव हविज्यान्व से उत्पन्न है इसलिये पीने योग्य हो। उसी तरह मदाभिलासी दैत्य के अंश से उत्पन्न होने पर भी मद होने से वह कुल मदरूप (आसवरूप) बनने से मादक हो गया। ऐसी स्थिति में सत्कुल से उत्पन्न हुआ भी संग्राह्य नहीं होता। क्योंकि वह मद युक्त है। जैसे चावलों का आसव ( इसी प्रकार ऐश्वर्य शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी में भी समझना ) अर्थात् इनसे यदि मद हो जाय तो भगवन्नाम लेने का अधिकारी नहीं होता। इसी अवान्तर भेद को लेकर अर्थात् मादक होने पर ( विद्यामदो धनमदः)इत्यादि वाक्य प्रवृत्त होते है। श्लोकस्थ (प्रमान्)का तात्पर्य स्वतंत्र होने से अर्थात् पुरुष होने से स्वतंत्र होने के कारण गुरु आदि से भी नियम्य नहीं है अर्थात् गुरु भी उसे अच्छे मार्ग पर नहीं ला सकता। मदवाला है इसलिये हे भगवन्! यह आपका नामोच्चारण करने का अधिकारी नहीं रहता जैसे पहले ब्राह्मण होते हुए भी म्लेच्छ आदि के रूप में हो जाने पर मदिरा आदि के सेवन से मत्त हुआ वह वेद नहीं पढ़ सकता। पढ़ता भी तो उन्मत्त प्रलाप की तरह व्यर्थ होने से सुनने योग्य नहीं है। यद्यपि वेद पढ़ने में अमुक अमुक का ही अधिकार है किन्तु भक्ति में सबका अधिकार है तथापि उक्त कृत्रिम मदिरा आदि के सेवन में वेद पढ़ने का अधिकार नहीं होता इसी तरह जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्रश्रवण तथा लक्ष्मी से मत्त होने पर भगवत्संबन्धी नाम आदि के उच्चारण का अधिकार नहीं रहता अतः मत्त के आचरण को कोई प्रमाणिक समझकर तदनुसार आचरण नहीं करता। शंका करते है कि जन्म एवं कर्म से जो शुद्ध है उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार कहा गया है। इसलिये मत्त को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं किन्तु भगवान् तो सर्व रूप है इसलिये कहा है कि 'चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्' भगवान् के नामों का उच्चारण सदा सब जगह करे। इस स्मृति के कथन से तथा 'पतितः स्खलितः' इत्यादि वाक्य से महापापी के लिये भी भगवन्नाम को प्रायश्चित रूप बताया गया है। तो मत्त को भगवन्नाम लेने का अधिकार क्यों नहीं इसका उत्तर देते है कि 'अकिञ्चन गोचरम्' आप जन्ममद, ऐश्वर्यमद, शास्त्र श्रवणमद तथा लक्ष्मी मद इनसे जो मुक्त रहता है वही आपको प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि मत्त व्यक्ति स्वरूपतः भगवन्नाम लेने का अधिकारी नहीं है। ऐसी बात नहीं है। किन्तु मत्त को भगवन्नामोच्चारण का कोई फल नहीं होता। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के हृदय में भगवान् प्रवेश ही नहीं करते नामोच्चारण करने से तो हृदय में भगवान् का प्रवेश होता है। मत्त अपने मुख से भगवान् के गुणों को कहता भी है। किन्तु वह गुणाख्यान केवल कहने के लिये ही है किन्तु उससे कोई फल नहीं होता। जैसे शौच में उपयुक्त गङ्गाजल से कोई लाभ नहीं। अर्थात् उससे कोई पारलौकिक फल नहीं होता क्योंकि उपर्युक्त मद से जो रहित है उनसे ही मिलने का भगवान् का स्वभाव है। इस समय भी हम देखते है कि लोग जो मत्त (नशेबाज) नहीं है उन्हीं से बात करते है। मत्तों से नहीं।

उपर्युक्त बातों से यह कहा गया कि जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण एवं लक्ष्मी के मद वालों के हृदय में कभी भी भगवत्सान्निध्य नहीं होता इस अभिप्राय से उनको अनाधिकारी बताया है। ॥२५॥

**आभास**—ननु शिष्टैरपि न ज्ञायते ? भगवतोऽचिन्त्यमहिमत्वात्। सत्यम्। तथापि न ज्ञायत इति ज्ञायते। तदाह—

**आभासार्थ**- शंका होती है कि केवल मत्त ही भगवान् को नहीं जानते यह कहना ठीक नहीं। भगवान अचिन्त्य महिमा वाले है। अतः शिष्ट लोग भी भगवान् को नहीं जान सकते इसका उत्तर देते है कि यद्यपि शिष्ट लोगों को भी भगवान् का ज्ञान नहीं होता। किन्तु वे शिष्ट लोग यह तो जानते है कि हम भगवान् को नहीं जानते मत्त लोगों को तो इसका भी ज्ञान नहीं। अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि 'विज्ञातमवि जानताम् के अनुसार जो हम नहीं जानते ऐसा मानते है उनके लिये वह ज्ञात हो जाता है इस बात को कहते है कि—

श्लोक— **नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।**
**आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२६॥**

**श्लोकार्थ**—जिस भगवान् के निष्किञ्चन भक्त धन है अथवा जो निष्किञ्चन जनों का धन है और निर्गुणों के साथ व्यवहार रखने वाले अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले शान्त, मोक्ष के पति भगवान् को नमस्कार करती हूं ॥२६॥

**सुबोधिनी** - **नमोऽकिञ्चनवित्तायेति**। अकिञ्चना वित्तं यस्य। अकिञ्चनानां वा वित्तम्। वित्तं हृदि बहिरपि तिष्ठति वित्तवताम्। तथा तेषु भगवान्भगवति च ते। अतस्त एव जानन्ति नाऽन्य इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—**निवृत्तगुणवृत्तय इति**। निवृत्ता गुणा येषां ते निवृत्तगुणाः। तैर्वर्तनं यस्य, तेषु वृत्तिर्यस्येति वा। **"हरिर्हि निर्गुण"**। **"मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि"**ति च भगवद्वाक्यात्। अतो निर्गुणगम्ये न सगुणगम्यत्वम्। यथा चक्षुर्गम्ये न रसनागम्यत्वम्। तत्राऽपि हेतुः—**आत्मारामायेति**। आत्मन्येवाऽऽरामो यस्य। अनेन स्वापेक्षाभाव उक्तः। परापेक्षायामपि—**शान्ताय**। शान्तरूपत्वान्न क्रूरैरपेक्ष्यत इत्यर्थः। किञ्च। यैरपेक्ष्यते तैर्मोक्षार्थमपेक्ष्यते। नियतफलत्वात्तस्य। अन्यत्तु काकतालीयं कथञ्चिद्भवति। अतो मोक्षपतित्वान्मुक्त्यधिकारिभिरेव सेव्यो नाऽन्यैरित्यर्थः।।२६।

**व्याख्यार्थ**—श्लोकस्य 'अकिञ्चन वित्ताय' में अकिञ्चन वित्त के दो अर्थ है। पहला अकिञ्चन निर्धन ही जिनका धन है ऐसे भगवान् हैं। द्वितीय अकिञ्चनों (निर्धनों) के धन भगवान् है। धनिक लोग हृदय में धन का ही चिन्तन करते है और उनको बाह्य क्रिया भी धन सम्बन्धिनी होती है। इसी प्रकार भगवान् के हृदय में भक्तों का ही चिन्तन रहता है तथा बाह्यक्रिया भी भक्तों के लिये ही होती है। ऐसे ही भक्त भी हृदय में भगवान् का ही चिन्तन करते है। और भक्तों की बाह्य क्रिया भी भगवत्सम्बन्धिनी ही होती है। अतः ऐसे भक्त ही उसे जानते है दूसरे नहीं इसमें हेतु कहते हैं कि 'निवृत्त गुण वृत्तये' जिनके गुण निवृत्त हो गये है। अर्थात् जो निर्गुण हैं उनके

साथ ही भगवान् का व्यवहार होता है। अथवा भगवान् उन्हीं में रहते है। 'हरिर्हिनिर्गुणः साक्षात्' इस वाक्य के अनुसार भगवान् निर्गुण है। और 'मन्निष्ठ निर्गुण स्मृतम्' इस भगवद् वाक्य के अनुसार भक्त भी निर्गुण है। अतः वह भगवान् निर्गुण होने से निर्गुण से प्राप्त है। सगुण गम्य नहीं है। जैसे चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण की जाने वाली वस्तु का रसना (जीभ) से ग्रहण नहीं होता। वैसे ही वह निर्गुण से ही प्राप्त होता है। दूसरों से प्राप्त नहीं होता इसमें हेतु कहते है कि 'आत्मारामाय' आत्मा (अपने) में ही जिसका सब ओर से रमण है, जब वह अपने में ही रमण करता है तो दूसरे की उसको अपेक्षा ही नहीं है यदि दूसरे को अपेक्षा हो तो कदाचित् सगुण गम्य भी हो सकता है। यदि दूसरे उसकी अपेक्षा करते हों तो भी क्रूर प्रकृति वालों से वह प्राप्त नहीं है क्योंकि वे भगवान् शान्त है। अर्थात जो क्रूर प्रकृति के है वे भी भगवान् का शान्त रूप होने से उन्हें नहीं चाहते है। इससे कहा गया कि उसकी दूसरे (क्रूर) भी अपेक्षा नहीं करते। जो अपेक्षा करते है वे मोक्ष के लिये। क्योंकि वह फल नियत है। अर्थात् भगवान् सेवा करने वालों को मोक्ष रूप फल निश्चित रूप से देते है। अन्य फल तो काकतालीय न्याय से अनायास ही प्राप्त हो जाता है। भगवान् मोक्ष के स्वामी है। इसलिये मुक्ति के अधिकारियों से ही वह सेव्य है अन्य से नहीं ।।२६।।

**आभास**—एवं प्रसङ्गात्स्वरूपं कथयन्ती नमस्कारमुक्त्वा पुनः प्रकृत दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार प्रसंग से भगवान् के स्वरूप का वर्णन करती हुई कुन्ती नमस्कार कर फिर से प्रस्तुत जो दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व है उसे दूसरे प्रकार से कहती है--

श्लोक—**मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् ।**
**समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ।।२७।।**

**श्लोकार्थ**—मैं सर्वसमर्थ, अनादि, अनन्त, व्यापक, सर्वत्र समान रूप से विचरण करने वाले आपको कालरूप मानती हूं। जिस काल से प्राणियों में परस्पर कलह होता है। तात्पर्य यह है कि समय पाकर भाई-भाइयों में भी कलह होता है ।।२७।।

**सुबोधिनी**—**मन्य इति** । दुष्टा द्विविधाः। विषयपराः पूर्वोक्ताश्च। तत्र पूर्वोक्तानामगम्यता निरूपिता। विषयपराणां चाऽगम्यतामाह सम्भावनया। एव हि सम्भाव्यते—यदि विषयपरा भगवन्तं जानीयुस्तदा कालग्रस्ता न भवेयुरिति। भगवत एव कालत्वात्। ज्ञाते पुनः **"ज्ञानी प्रियतमो मत"** इति वाक्यात्स्वप्रियं न भक्षयेत्कालः। अतः कालव्याप्तैर्न भगवन्तं जानन्तीति मन्ये। ननु कालस्य कथं भगवत्त्वम्? तत्राऽऽह—**ईशानमिति**। सर्वत्र तस्यैश्वर्यात्। न ह्येतदभगवत्त्वे सम्भवति। किञ्च। **"सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"** त्यत्र—**"नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीमि"**त्यत्र च अग्रेतदानीम्पदवाच्यः कालः। तस्याऽभगवत्त्वे वाक्यार्थो बाध्येत। अत एव अनादिनिधनत्वात्कालो भगवान्। किञ्च। कालवशात्सर्वं भवति। अन्यथा शीतादिषु किं निमित्तं स्यात्। अतः

**सर्वभवनस**मर्थत्वात्कालो भगवान् । किञ्च । "**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**" ति वचनात्समत्वं भगवद्धर्मः । स च काले वर्तत इति कालो भगवानित्याह—**समं चरन्तं सवत्रेति** । सर्वत्र कालः समानेनैव ब्रह्म-रूपेण प्रविशति । तत्रोपपत्तिः—**यत्** यस्मात् कालात् । **मिथः** परस्परं भ्रात्रादीनामपि कलहः । पूर्वमेकप्राणभूता अपि कालमेव निमित्तमासाद्य कलहेन म्रियन्त इत्यर्थः । एवं त्वमेव काल इति कालग्रासादवगम्यते । न कोऽपि त्वां जानातीति ॥२७॥

**व्याख्यार्थ**—दुष्ट दो प्रकार के हैं । एक विषयों में परायण । दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण लक्ष्मी मद से मत्त । इनमें दूसरे जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र श्रवण और श्रीमद् वाले भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । यह पहले निरूपण कर आये हैं । विषय परायण भी भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकते । यह सम्भावना से कहती है । यहां यह संभावना होती है कि यदि विषय परायण (विषयों में रत) भगवान् को जान लें तो काल के ग्रास ही न बनें । क्योंकि भगवान् ही कालरूप हैं । भगवान् को जान लेने पर 'ज्ञानी प्रियतमो मतः' इस गीतावाक्य के अनुसार अपने अत्यन्त प्रिय ज्ञानी भक्त को कालरूप भगवान् नहीं खाते । तात्पर्य यह है कि विषय परायण यदि भगवान् को जान लें तो वह ज्ञानी प्रियतमो मतः के अनुसार अत्यन्त प्यारे हो जायेंगे तो कालरूप भगवान् उन्हें नहीं खायगा क्योंकि अत्यन्त प्रिय को कोई नष्ट नहीं करना चाहता । विषयों में रत कालग्रस्त होते हैं । इससे ज्ञात होता है कि वे भगवान् को नहीं जानते । यदि कहें कि काल भगवद्रूप कैसे हो सकता है तो कहते हैं कि 'ईशानम्' सर्वत्र भगवान् की तरह काल का ऐश्वर्य है । ऐसा ऐश्वर्य काल में भगवद्रूपता हुए बिना नहीं हो सकता । इससे ज्ञात होता है कि काल भगवद्रूप ही है । यदि काल भगवद्रूप न हो तो 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' अर्थात् यह विश्व पहले भगवद्रूप ही था । उस समय न सत् था न असत् था । यहां के अग्रे और तदानीम् पद काल के बोधक हैं । यदि काल भगवान् का रूप न हो तो उसकी पूर्व स्थिति न होने से इन श्रुतियों का वाक्यार्थ संगत न होगा । भगवान् की तरह काल अनादि अनन्त है इसलिए काल भगवान् का रूप है । काल वश ही शीतोष्ण आदि समय आते हैं । अन्यथा उनके होने में दूसरा कौन कारण हो सकता है । अतः वह काल भगवान् की तरह सब कुछ होने का सामर्थ्य रखता है । इसलिए वह भगवान् है । गीता में 'निर्दोष हि समं ब्रह्म' इस वाक्य से समत्व रूप भगवान् का धर्म बताया । अर्थात् वह समान रूप से सर्वत्र है । यही समानता काल में भी है इसलिए काल भी भगवद्रूप है । इसी बात को 'समं चरन्तं सर्वत्र' इससे बताया । काल ब्रह्मरूप होने से सर्वत्र समान रूप से प्रविष्ट होता है इसमें युक्ति कहते हैं कि 'भूतानां यन्मिथः कलिः' इस काल के प्रविष्ट होने से पहले एक प्राण के रूप में रहने वाले भाई आदि भी समय पाकर आपस में झगड़कर मर जाते हैं । सभी के कालग्रस्त होने से यह ज्ञात होता है कि आप ही काल हैं आपको कोई भी नहीं जानता ॥२७॥

**आभास**—इदानीमवतीर्णं तु सुतरां भक्ता अपि न जानन्तीत्याह—

**आभासार्थ**—इस समय अवतीर्ण हुए आपको भक्त भी सर्वथा नहीं जानते इस बात को कहते हैं—

श्लोक—**न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं**
**तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।**
**न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्-**
**द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**—हे भगवन् ! आप जब मनुष्यों की सी लीला करते हैं तब आप क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता । आपका कभी न कोई प्रिय है और न शत्रु है । आपके सम्बन्ध में लोगों की बुद्धि ही विषम हुआ करती है ।।२८।।

**सुबोधिनी**—**न वेद कश्चिदिति** । किं कर्तुं भगवान् विचारयतीति न कोऽपि वेद । ननु कार्यदर्शनेन ज्योतिश्शास्त्रेण वा, यदेव जायते तदेव भगवच्चिकीर्षितमिति कुतो न वेद ? तत्राऽऽह—**तवेहमानस्येति** । नृणां विडम्बनमनुकरणमीहमानस्य चिकीर्षित न वेदेत्यर्थः । सामान्यव्यापारेणैव कार्यस्य सिद्धत्वाद्विशेषरूपमनुकरणं किं कार्यायेति भवति सन्देहः । नन्वस्याऽनुकरणस्य कार्यं स्पष्टमेव पाण्डवरक्षा कौरववधश्चेति । भूभारहरणमर्जुनादीनां यशोदानं च ? तदपि नेत्याह—**न यस्य कश्चिदिति** । पाण्डवरक्षादिकं तदा विशेषकार्यं स्याद्यदि भगवतो मित्रोदासीनविद्विषो भवेयुः । तथा सति भगवत्त्वमेव न स्यात् । कश्चिदपि दयितो न क्वचिदपि दयितो न । एवं द्वेष्यश्च कश्चिदपि क्वचिदपि । चकारादुदासीनः । तर्हि कथं कार्यं दृश्यते पाण्डवरक्षादि ? न च कालादिति वक्तव्यम् । कदाचिदपि कौरवरक्षाऽश्रवणात् । तत्राऽऽह—**यस्मिन् विषमा मतिर्नृणामिति** । यस्मिंस्त्वयि नृणां पाण्डवादीनां विषमा मतिर्भवति अयमस्माकं मित्रमयं शत्रुरिति । न हि कलशादिषु वस्तुषु गृहे नीयमानेषु दर्शनाच्छकुनादिसम्पत्तौ न(?) तेषां स्वरूपं भिद्यते । शुक्तिकायां वा रजतादिप्रतीतौ तस्य स्वाभाविकधर्मव्यतिरेकेण कश्चिदस्ति भ्रमहेतुः । स्वाभाविकस्यैव भ्रमहेतुत्वे सर्वेषामेव भ्रमः स्यात् । तस्मात्स्वगतदोषेणैव रागादिना त्वयि मित्रत्वादिप्रतीतिः । न तु त्वयि तादृशो धर्मः कश्चिदस्तीत्यर्थः । ननु तदनुसरणं धर्मो भगवत्यस्ति । यतः सर्वभावित इव भवति । तदपि नास्तीत्याह चकारेण । मित्रत्ववदनुसारित्वमपि भ्रान्तमित्यर्थः ।।२८ ।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् क्या करने का विचार करते हैं इस बात को कोई नहीं जानता । यदि कहें कि कार्य के देखने से अथवा ज्योतिः शास्त्र से जो कुछ बात ज्ञात होती है वही भगवान् की करने की इच्छा है यह ज्ञात हो ही जाता है । तो भगवान् का विचार जाना नहीं जा सकता यह कैसे कहा ? समाधान करते हैं कि जो मनुष्य के सदृश चेष्टा करता है उसके करने की इच्छा को कैसे जानी जाय । सामान्य प्रयत्न से ही कार्य सिद्ध होता है तो भगवान् विशेष रूप का अनुकरण किस कार्य के लिए करते हैं यह सन्देह होता है । तात्पर्य यह है कि भगवान् मनुष्य के आकार को ग्रहण न करके भी कार्य कर सकते हैं तो मनुष्याकार एवं तदनुरूप कार्य किसलिए करते हैं यह सन्देह होता है । यदि कहें कि मनुष्य का अनुकरण कर जो पाण्डव रक्षा कौरव वध पृथ्वी भार हरण अर्जुन आदि को यश दिलाना कार्य किया वह स्पष्ट है । तो फिर भगवान् ने मानव का अनुकरण क्यों किया यह शङ्का करना ठीक नहीं है । इस पर कहते है कि भगवान् के पाण्डव रक्षा आदि विशेष कार्य तब हो सकते हैं जब भगवान् के मित्र उदासीन एवं शत्रु हों । पाण्डवों की रक्षा करना

एवं कौरवों का वध करना यह बताता है कि भगवान् के भी मित्र और शत्रु हैं। यदि मित्र शत्रु हों तो वह भगवान् ही नहीं है। कोई कहीं भी उसका प्रिय नहीं है। इसी प्रकार कोई कहीं द्वेष्य (शत्रु) भी नहीं है। श्लोकस्थ 'च' से उदासीन भी लिया गया। अर्थात् भगवान् का उदासीन भी कोई नहीं है। तो फिर पाण्डव रक्षा कौरव वध आदि कार्य भगवान् में कैसे दीखते हैं। यदि कहें कि काल के प्रतिकूल एवं अनुकूल होने पर यह सब कुछ कार्य होता है ऐसा मानते हैं तो कदाचित् कौरवों के लिए भी काल अनुकूल हो सकता है और उनकी भी रक्षा हो सकती है तो उनकी रक्षा होनी चाहिये किन्तु कौरवों की रक्षा नहीं सुनी गई है। अर्थात् कौरवों को रक्षा नहीं हुई है। जिस भगवान् में पाण्डव आदि की यह विषम बुद्धि हुई कि भगवान् हमारे मित्र हैं और कौरवों के शत्रु हैं। अर्थात् यह हमारा मित्र है और यह हमारा शत्रु है ऐसा मानते हैं। कलश आदि वस्तु के घर में ले जाते हुए दीखने पर वह घड़ा आदि शकुन रूप माना जाता है। किन्तु शकुन रूप में माने जाने वाले घड़े आदि एवं शकुन रूप में नहीं माने जाने वाले घड़े के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूप में शत्रु, मित्र उदासीनता आदि से भिन्नता नहीं हो सकती। शुक्ति (सीप) में रजत आदि की प्रतीति में उसके स्वाभाविक धर्म से भिन्न कोई भ्रम का कारण है। यदि उसी का स्वाभाविक धर्म भ्रम का कारण हो तो सभी को भ्रम होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शुक्तिका में जो रजत भ्रम होता है वह अपने में रहे किसी विशेष दोष के कारण होता है। इसी प्रकार अपने में रहे रागादि दोष से ही आप (भगवान्) में मित्र शत्रु उदासीन की प्रतीति होती है। आप में ऐसा कोई धर्म नहीं है कि जो मित्र, शत्रु उदासीन की प्रतीति करावें। यदि यहां यह कहा जाय कि जैसी भावना मानव करता है उसकी भावना का अनुसरण कर भगवान् अपने में उस धर्म को रखते हैं जिससे भगवान् सर्व भावित की तरह हो जाते हैं। अर्थात् भगवान् मानव की भावना के अनुसार प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् मनुष्य जैसी भावना करता है भगवान् को वैसा बनना पड़ता है। यदि किसी ने भगवान् में मित्र की भावना की तो भगवान् मित्र होंगे और शत्रु की भावना करने पर भगवान् शत्रु होंगे तो यह कैसे कहते हैं कि भगवान् शत्रु, मित्र, उदासीन नहीं बनते इस पर कहते है कि ऐसा नहीं है। इसी बात को श्लोकस्थ 'च' से कहा है। तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान् में मित्रत्व न होते हुए भी उसकी भ्रान्ति होती है उसी प्रकार भावनानुसारी धर्म भगवान् में है यह भी भ्रान्ति है ॥२८॥

**आभास** - एवं दुष्टदुर्ज्ञेयत्वं निरूप्य लक्षणं निरूपयति द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—इस प्रकार दुष्ट दुर्ज्ञेयत्व का निरूपण कर दो श्लोकों से कुन्ती भगवान् के लक्षण का निरूपण करती है—

श्लोक—**जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याऽकर्तुरात्मनः ।**
**तिर्यङ्नृषिषु यादस्सु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥२९॥**

**श्लोकार्थ**—हे विश्वरूप ! न आप जन्म लेते हैं और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदि में आप जन्म लेते हैं और उन योनियों के अनुसार कर्म भी करते हैं यह अत्यन्त विडम्बना है ॥२९॥

**सुबोधिनी** - **जन्म कर्म चेति** । भगवत: सर्वानुकरणरूपो धर्मो लक्षणमसाधारणो **धर्म:** । नटादिरपि किञ्चिद्द्रव्यान्तरसम्बन्धेन तथा स्वाऽऽत्मानं प्रकाशयति । भगवांस्तु **केवल** एवाऽविक्रियमाण एव परमानन्दरूप एव नरदेहेन्द्रियरूपेण दृश्यरूपेण स्वाऽऽत्मानं **ख्यापयति** । एतद्भगवतोऽसाधारणं लक्षणम् एतदज्ञाने कोऽपि भगवन्तं न पूजयेत् । न चाऽस्य **मोहकत्वम्** । लक्षणत्वात् । अन्यथा सर्वेषामपि मोहो भवेत् । तस्मादनुकरणं भगवल्लक्षणमिति ज्ञेयम् । तत्र चेद्भ्रम: ? पूर्ववत्स्वदोषेणैव दुष्यति, न भगवत: कश्चिद्दोष इत्यर्थ: । ननु युक्तिबाधितं न वेदोऽपि बोधयतीति कथं भगवतोऽनुकरणं सम्भवति? तत्राऽऽह - **विश्वात्मन्निति** । यथा भगवानविक्रियमाण एव विश्वरूपो जात: । तस्याऽनुकरणे क: प्रयास इति भाव: । अजस्य जन्म । अकर्तु: कर्म । पुरुषोत्तमस्याऽऽत्मनो व्यापकस्य **तिर्यक्षु** वराहादौ **नृषु** रामादौ **ऋषिषु** वामनादौ **यादस्सु** मत्स्यादौ तत्तद्रूपेण स्फुरणमत्यन्तमनुकरणम् । पुरुषोत्तमत्वमपि ज्ञापयन्मनुष्यत्वादिकमपि ज्ञापयति । विश्वस्मिंस्तु ब्रह्मत्वे ज्ञाते न जगत्त्वेन ज्ञायते । तस्मादनुकरणलक्षणोऽसाधारणो भगवद्धर्म: । अतो नाऽनेनाऽपि **भगवति** सन्देहो युक्त इति सिद्धम् ।।२९।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् का सब रूप बनना लक्षण है अर्थात् वह उसका असाधारण धर्म है । तात्पर्य यह है कि जो सब रूप दिखा सकता है वह भगवान् है । नट आदि भी कुछ दूसरे द्रव्यों की सहायता से अपने को उस-उस रूप में दिखाता है परन्तु भगवान् तो दूसरे किसी को नहीं लेता हुआ स्वयं अविकृत एवं परमानन्द रूप रहता हुआ ही मनुष्य देह तथा इन्द्रिय रूप से अर्थात् दृश्य रूप से अपने आपको प्रसिद्ध करता है । यही भगवान् का असाधारण लक्षण है । इस प्रकार भगवान् की असाधारणता का ज्ञान न हो और मनुष्यता का ज्ञान हो ये मनुष्य है ऐसा ज्ञान हो तो उसका कोई पूजन न करे । अत: भगवान् अविकृत एवं परमानन्द रूप ही नर देह इन्द्रियों से अपने आपको प्रसिद्ध करता है । दिखाया गया रूप मोहक नहीं होता । क्योंकि वह उसका लक्षण है । जो लक्षण रूप धर्म होता है उसकी स्थिति वास्तविक होती है । यदि उस सब रूप बनने को मोहक मान लेते हैं तो सबको मोह होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता । इससे ज्ञात होता है कि वह भगवान् का अनुकरण मोहक न होकर भगवल्लक्षण होने से गौ के सास्नादि की तरह वास्तविक है । वहां यदि किसी को भ्रम हो तो वह पहले कहे गये के अनुसार अपने स्वगत दोष से ही कुछ अन्यथा रूप में देखता है । भगवान् में कोई दोष नहीं है । शङ्का होती है कि एक वस्तु ही अनेक रूप में नहीं दीख सकती तो इस युक्ति के विरुद्ध वेद भी भगवान् को सर्वरूप कैसे बता सकता है इससे भगवान् सब रूप का अनुकरण कर लेते हैं यह कैसे हो सकता है इस पर कहती है कि 'विश्वात्मन्' जैसे भगवान् (आप) बिना विकार के ही विश्वरूप हो सकता है तो उसको नट की तरह मानव देह का अनुकरण करने मे क्या प्रयास है । आप अजन्मा हैं तथापि जन्म लेते हैं । अकर्ता होने पर भी कर्म करते हैं । व्यापक रूप जो आप पुरुषोत्तम हैं आपका पशु पक्षी रूप वराह हंस आदि में मनुष्य रूप राम आदि में ऋषि रूप वामन आदि में जलचर रूप मत्स्य आदि में तत्तद् रूप आप जो स्फुरित होते हैं वह अत्यन्त दूसरे का अनुकरण है । अवतार की स्थिति में पुरुषोत्तमत्व को बताते हुए भी मनुष्यत्व आदि को भी उसी मे बताते हैं । विश्व में यदि ब्रह्मत्व का ज्ञान हो जाता है तो जगत् ब्रह्मत्वेन ज्ञात होता है जगद्रूप से नहीं । अवतार दशा में इससे भेद है । अर्थात् अवतार दशा में विरोधी प्रतीति होती रहती है और ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की प्रतीति न होकर विशुद्ध ब्रह्म की ही प्रतीति होती है । यही अवतार रूप में प्रकट होने पर तथा जगद्रूप बनने में भेद है इसलिए अमुक अमुक रूप में

आना भगवान् का असाधारण धर्म है। इससे यह सिद्ध हुआ कि युक्ति बाधित भी भगवान् अनुकरण कर सकते हैं। अर्थात् एक ही समय में पुरुषोत्तमत्व एवं मनुष्यत्व दोनों दिखा सकते हैं। अत: भगवान् अनुकरण नहीं करते यह संदेह करना युक्त नहीं है ॥२६॥

**आभास**—ननु विशेषदर्शनात्सन्देहो गमिष्यति। किं तद्धर्मवत्त्वेन ज्ञापनेन? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—यहां यह शङ्का होती है कि विशेष प्रकार का भगवत्कार्य देखने से संदेह निवृत्त हो जायगा तो फिर वैसे धर्म वाले भगवान् को बताने से क्या प्रयोजन है इस पर कहती है कि—

श्लोक—**गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम ताव-**
**द्याते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।**
**वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य**
**सा मां विमोहयति भीरपि तद्बिभेति ॥३०॥**

**श्लोकार्थ**—दधिभाण्ड के फोड़ने के अपराध करने पर यशोदाजी ने आपको बांधने के लिए जब डोरी ली उसी क्षण आँसुओं से मिले अतएव बहते हुए अञ्जन से संभ्रमयुक्त नेत्र वाले मुखारविन्द को नीचा कर भय की भावना से स्थित जिससे कि मृत्यु भी डरती है ऐसे आपकी वह दशा मुझे मोहित कर रही है ॥३०॥

**सुबोधिनी** - **गोप्याददे इति**। एतादृशमनुकरणं भगवतो यद्विशेषदर्शनेऽपि जाते भ्रममुत्पादयति। तत्राऽहमेव दृष्टान्तः। कदाचिदहं गता गोकुले त्वां द्रष्टुम्। तस्मिन्समये गोपी यशोदा शिलापुत्रेण भाण्डभेदने कृते कृतागसि त्वयि दाम आददे। तदा तावत्तदानीमेव या ते दशा जाता। ननु सा स्वभावत एव तव दशा भविष्यति? तत्राऽऽह - **अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षमिति**। अश्रुभिः कलिलं यदञ्जनं तेन सम्यक् भ्रमयुक्ते अक्षिणी यस्येति। तादृशं मुखं नीचतया स्थापयित्वा स्थितस्य तवेति पूर्वेण सम्बन्धः। एवं सर्वैर्ज्ञातमयं सर्वथा भीत इति। नन्वेवमस्तु को दोष इति चेत्? तत्राऽऽह—**भीरपि यद्बिभेतीति** यद्भय मृत्युरूपं तस्याऽपि भयं यतो भगवतो भवति। भीतत्वं भयहेतोर्व्याधिको धर्मः। न हि तस्मिन् विद्यमाने कस्यचिद्भय सम्भवति ॥३०॥

**व्याख्यार्थ**—कुन्ती कहती है कि आपके विशेष विश्व दर्शन कराना आदि कार्यों के दीखने पर भी इस प्रकार का अनुकरण भ्रम उत्पन्न करता है। इसमें मैं ही दृष्टान्त हूं। मैं आपके दर्शन के लिए कभी गोकुल में गई थी। उस समय गोपी यशोदा ने आपके द्वारा पत्थर से दधिभाण्ड के भेदन करने पर अपराधी आपको बांधने के लिए डोरी ली। उस समय ही जो आपकी दशा हुई उसे मैंने देखी थी। वह दशा आपकी स्वाभाविक नहीं थी। क्योंकि 'अश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्' आँसुओं से परीभूत जो कज्जल उससे प्रतीत हुई सम्भ्रमयुक्त जिसकी आँखें हैं ऐसे अपने मुख को नीचा कर खड़े हुए आपको देखा। सबने यही समझा कि आप सर्वथा डरे हुए हैं। शङ्का होती है कि भगवान्

डरे हुए हों तो भी क्या दोष है इस पर कहती है कि 'भीरपि यद्बिभेति' मृत्युरूप भय आपसे डरता है उसको भय कैसे हो सकता है मृत्यु को भय उत्पन्न करने वाले आपका भीत होना बाधक धर्म है। अर्थात् जो मृत्यु को भी डरा सकता है। वह अन्य से डर कैसे सकता है। आपके हृदय में तथा बाहर सन्निधान में रहने पर अन्य किसी को भी भय की संभावना नहीं है। तो आपका डरना अत्यन्त आश्चर्यजनक है ॥३०॥

**आभास**—एवं भगवति विरुद्धधर्मत्वं तत्सम्बन्धादन्यत्राऽपि विरुद्धधर्मत्वमिति लक्षणमुक्तम्। जन्मकारणनिर्द्धारमाह **केचिदाहुरिति** चतुर्भिः। नमनार्थं जन्मनिर्द्धारः कर्तव्यः। देहान्तःकरणाऽऽत्मनामुत्तरमुत्तरं श्रेयः। ततो देहत्वेनाऽनमनीयत्वेऽपि भगवदवतारत्वे ज्ञाते नमनीयत्वं सिद्धचति। तत्र तादृशस्य कथमनमनीयदेह इति शङ्का। तत्र ऋषिभेदेन स्वयोगजधर्मभेदात्परमार्थतो भगवदिच्छाऽज्ञानाच्च चतुर्विधा ऋषयः स्वस्वबुद्धचनुसारेण देहसम्बन्धप्रयोजनं कथयन्ति। **वंशकर्त्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरूपकौ। दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ।** अर्थद्रव्यविरोधे अर्थो बलीयानिति तदर्थं मतभेदाः। अर्थस्य गुणभावे देहमुख्यतया मतद्वयम्। अर्थप्राधान्ये च मतद्वयमस्ति। तत्र वंशकर्तुर्मुख्यत्वान्महत्त्वाच्च तदीयत्वख्यापनेन तस्य कीर्तिर्भवतीति धर्मप्राधान्येन यदुवंशेऽवतीर्ण इत्याह—

**आभासार्थ**— इस प्रकार अजन्मा का जन्म आदि तथा जिससे काल भी डरे उसे डरते हुए आदि भगवान् में विरुद्ध धर्मों का दीखना तथा भगवत्सम्बन्ध से और जगह भी विरुद्ध धर्मों का दीखना विरुद्ध धर्माश्रयता रूप भगवान् का लक्षण कहा। भगवान् के जन्म लेने के कारण का निर्णय 'केचिदाहु' इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं। नमन के लिए जन्म का निर्धार बताना चाहिये। देह अन्तःकरण एवं आत्मा में आगे-आगे का उत्तम माना गया है अर्थात् देह से अन्तःकरण प्रधान है। अन्तःकरण से आत्मा उत्तम है। केवल देह मानकर भगवान् नमनीय न भी हो किन्तु भगवान् का अवतार लेना जान लेने पर भगवान् नमस्करणीय होते हैं। यदि कहें कि भगवान् ने ऐसे अनमनीय देह को क्यों धारण किया इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि ऋषि अनेक हैं। उनके योगज धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं और वास्तव में भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं होने से चार प्रकार के ऋषियों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के देह धारण का प्रयोजन कहा है—

वंशकर्त्ता पिता चैव मुख्यौ देहनिरूपकौ।
दुःखाभावश्च मोक्षश्च द्वावर्थाविह सम्मतौ।

वंशकर्त्ता यदु तथा पिता मुख्य रूप से भगवान् के देह धारण करने के कारण हैं। देह धारण करने के दुःखाभाव एवं मोक्ष दो प्रयोजन यहां माने गये हैं। अर्थ और द्रव्य का परस्पर में विरोध होने पर अर्थ बलवान् है। इस न्याय से यहां अर्थ को लेकर ऋषियों का मतभेद है। अर्थ जब गौण रहता है तब देह को मुख्य मानकर वंशकर्त्ता एवं पिता ये दो मत यहां कहे गये हैं। द्रव्य देह को गौण मानकर और अर्थ (प्रयोजन) को मुख्य मानकर कारिका में दुःखाभाव एवं मोक्ष ये दो मत

कहे गये हैं। अर्थात् अर्थ को गौण तथा देह को मुख्य मानने पर वंशकर्त्ता एवं पिता देह सम्बन्ध के कारण हैं। यह बताया गया। अर्थ (प्रयोजन) को प्रधान मानने पर दुःखाभाव और मोक्ष ये दो मत हैं इन चार मतों में वंशकर्त्ता यदु के मुख्य एवं महान् होने से भगवान् यदि उस वंश में अवतार लेते हैं तो यदु की कीर्ति होती है। इसलिए धर्म प्राधान्य से (अर्थात् विरुद्ध धर्मों का आश्रय बनते हुए भगवान्) यदुवंश में अवतीर्ण हुए हैं यह कहती है—

श्लोक—**केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये ।**
**यदोः प्रियस्याऽन्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ।।३१।।**

**श्लोकार्थ**—पुण्य श्लोक अपने प्रिय यदु की कीर्ति बढ़ाने के लिए उसके वंश में जैसे मलय पर्वत की कीर्ति बढ़ाने के लिए चन्दन होता है वैसे ही अजन्मा ने जन्म ग्रहण किया है यह कोई कहते हैं ।।३१।।

**सुबोधिनी**— **केचिदाहुरिति । अजं जातमिति** पूर्ववद्विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । पुण्यश्लोकस्य यदोः । अत एव तथैव शास्त्रार्थो निर्द्धारित इति—"**तत्रांऽशेनाऽवतीर्णस्ये**" त्युक्तम् । **प्रियस्येति** । पुष्टिमार्गभक्तत्वात् । **मलयस्येव चन्दनमिति** । यथा— '**वन्दामहे मलयमेवे**' त्यादि मलयस्य यश एवं यदोरपि । तद्वंश्यानां भगवत्सन्निधानेन भगवत्सारूप्यात् ।।३१।।

**व्याख्यार्थ**— अजं जातम् से अजन्मा ने जन्म लिया है यह कहकर पहले की तरह भगवान् को विरुद्ध धर्माश्रय बताया है। पुण्य कीर्ति वाले यदु के वंश में प्रकट हुए अतएव 'तत्रांशेनावतीर्णस्य' इससे वैसा ही शास्त्र का अर्थ बताया गया। अर्थात् 'यदोश्च धर्मशीलस्य' से यदु धर्मशील होने से ही उस वंश में भगवान् का अवतार हुआ यह शास्त्रार्थ निर्धारित हुआ। श्लोक में यदु का विशेषण 'प्रिय' है। प्रिय वही होता है जो पुष्टिमार्गीय होता है। यदु पुष्टिमार्गीय भक्त है इसलिए इसे प्रिय कहा है। श्लोक में 'मलयस्येव चन्दनम्' कहा है। अर्थात् जैसे 'वन्दामहे मलयमेव' से मलयाचल को प्रणाम करते है जिसके सम्बन्ध से निम्ब आदि भी चन्दन बन जाते हैं। इस प्रकार जैसे मलयाचल का यश बताया उसी प्रकार यदु का भी बताया। क्योंकि उसके वंश में उत्पन्न होने वालों में भगवान् का सन्निधान होने से उन्हें भगवत्सारूप्य मिला है ।।३१।।

**आभास**— अपरे पुनर्दूरसम्बन्धमसहमानाः प्रसङ्गादपि कीर्त्तिसम्भवात्कृतप्रयत्नत्वाच्च वसुदेवस्य निर्दुष्टत्वाच्च अर्थपुरस्सरं प्रवर्तमाना ऋषयो वसुदेवस्य सम्बन्धिन्यां देवक्यां पुत्रत्वेन याचितः सन्नज एव जात इत्याहुः । तदाह—

**आभासार्थ**—दूसरे लोग यदु के दूर सम्बन्ध को बताना ठीक न मानकर यदु की कीर्ति तो प्रसङ्ग से भी हो सकती है तो यदु का सम्बन्ध बताना उतना ठीक नहीं है जितना तप आदि के लिए प्रयत्न करने वाले वसुदेवजी के यहां प्राकट्य बताना ठीक है। वसुदेवजी निर्दोष हैं और ऋषि लोग अर्थ (प्रयोजन) को प्रधान मानकर वसुदेवजी और उनकी पत्नी देवकी सुतपा और पृश्नि रूप से प्रार्थित हुए अजन्मा भगवान् ही देवकी में पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। ऐसा कहते हैं इसी बात को कुन्ती कहती है कि—

**श्लोक—अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् ।**
**अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ।।३२।।**

**श्लोकार्थ**—दूसरे यह कहते हैं कि अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए तथा दैत्यों को मारने के लिए वसुदेव और देवकी जो जन्मान्तर में सुतपा और पृश्नि रूप में थे उनसे प्रार्थित हुए आप वसुदेवजी की पत्नी देवकी में प्रादुर्भूत हुए ।।३२।।

**सुबोधिनी— अपर इति ।** सोऽजस्त्वमेवेति पृथग्योजना । **"पित्रोः सम्पश्यतोः सद्य"** इति प्राकृतरूपप्रदर्शनाद्भिन्नशङ्का स्यात् । साऽप्यनेन निवारिता । तत्र हेतुः- **अस्य क्षेमायेति** । जगतो युधिष्ठिरस्य वा । अत एव—**"जातः कंसवधार्थाय"** इत्यादि वाक्यानि । **अनेन द्वयं प्रयोजनं भिन्न-**मिति ज्ञापितम् । देवानां भिन्नतया हितकरणात् । चकारात्तेषामपि कृतार्थत्वाय सुरद्वेषित्वेन स्वतो मुक्त्यभावात् । अनेन भगवतो दोषाभावो निरूपितः । अत एवोभयोः कार्यता । अन्यथा वैषम्यं स्यात् ।।३२।।

**व्याख्यार्थ**—प्रार्थना करने पर भक्तों के कल्याण के लिए तथा दैत्यों के वध के लिए जो वसुदेव की पत्नी देवकी में पधारे वह अजन्मा आप ही हैं । इस अर्थ में वह अजन्मा आप ही है ऐसी पृथक् योजना हुई । 'पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यः' इस श्लोक में भगवान् का प्राकृत रूप में होना दिखाया गया है इससे प्राकृत रूप भिन्न है । ऐसी शङ्का न हो इसके लिए जो अजन्मा है वही आप हैं ऐसा कहा गया । प्राकट्य में कारण यह है कि इस जगत् के अथवा युधिष्ठिर के कल्याण के लिए और देवताओं के शत्रु दैत्यों को मारने के लिए जैसा कि 'जातः कंस वधार्थाय' से कहा है । आप प्रकट हुए । दैत्यों को मारकर आप मुक्ति देते हैं । इसलिए जगत् के हित के लिए तथा दैत्यों को मारने के लिए आपका प्राकट्य है इससे अवतार के दो प्रयोजन भिन्न-भिन्न बताये । क्योंकि देवताओं का भिन्न रूप से आपने हित किया है । श्लोकस्थ चकार से यह भी कहा गया कि दैत्यों को कृतार्थ करने के लिए भी आपका प्राकट्य है । दैत्य देवताओं से द्वेष करने वाले हैं इसलिए उनकी स्वतः मुक्ति नहीं हो सकती । भगवान् मारकर उन्हें मुक्त करते हैं । इसलिए दैत्यों के हित चिन्तक होने से भगवान् में वैषम्य दोष नहीं आया । दैत्यों को मुक्ति देते हैं और विश्व का कल्याण करते हैं इसलिए दैत्यों को मुक्ति देना एवं विश्व का कल्याण करना ये दोनों भगवान् के कार्य हैं । दैत्य वध में उन्हें मुक्ति देना अभिप्रेत है । इसलिए भगवान् में वैषम्य दोष न आया अन्यथा दैत्यों का बुरा करने से भगवान् में वैषम्य दोष आता है ।।३२।।

**आभास**—अन्ये पुनः कालान्तरीयत्वाद्वसुदेवस्याऽपि **"अर्थो बलीयानि"** ति न्यायं पुरस्कृत्य कामप्रधाना भूमिभारहरणार्थं भगवानागत इत्याहुः । तदाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार 'किञ्चिदाहुरजं जातम्' 'अपरे वसुदेवस्य' इन दो श्लोकों से देह की मुख्यता मानकर वंशकर्त्ता एवं पिता को लेते हुए निरूपण किया गया । यहां बहुत से यह भी कहते हैं कि वसुदेवजी एवं देवकी का बीते दो जन्मों में भगवान् से सम्बन्ध रहा है । यदि कहे गये

**प्रयोजनों** को मान लिया जाता है तो भगवान् को वसुदेवजी के यहां पूर्वजन्म की तरह अंशरूप से ही प्रादुर्भूत होना चाहिये था। तो फिर पूर्ण रूप से क्यों प्रकट हुए इससे ज्ञात होता है कि भगवान् का अवतार लेने का पूर्वोक्त प्रयोजन नहीं है। अतः 'अर्थ द्रव्य विरोधे अर्थो बलीयान्' इस न्याय को मानकर जो धर्म, अर्थ, काम को प्रधान मानते हैं ऐसे लोग कहते हैं कि भगवान् पृथ्वी का भार हटाने के लिए आये हैं इसी बात को कहते हैं कि—

**श्लोक—भारावतारणायाऽन्ये भुवो नाव इवोदधौ ।**
**सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवाऽर्थितः ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—कोई यह कहते हैं कि समुद्र में डूबती हुई नाव की तरह अधिक भार से पीड़ित पृथ्वी का भार उतारने के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना किये गये भगवान् प्रकट हुए ।।३३।।

**सुबोधिनी—भारेति**। ननु भगवति सपरिकरे समागते परमधिको भारो भवति। न तु भारावतरणम्। भारकर्तृषु भूमौ वा बलत्वेन प्रविष्टे भारनाश एव न तु भारोत्तारणम्। भारकर्तृणामधः पातने वैषम्यम्। मुक्तिदाने पूर्वोक्तपक्षाऽविशेषः। स्वतन्त्रफलता च स्यादिति चेत्? न। अयं भारो न दैहिकः किन्तूद्वृत्तचेष्टाहेतुको मानसः। सोऽप्यतिभावनया दैहिक इव भवति। तत्र भूमौ भगवति समागते तत्र चित्ते जाते उद्वेजकविस्मरणाद्भारोत्तारणम्। बुद्ध्या हि भार आरोपितः। शीघ्रं प्रतीकारकरणायाऽऽह—**नाव इवोदधाविति**। अनेन वैषम्यात्कालस्याऽपि मज्जनहेतुत्वं सूचितम्। यथा तरङ्गादिराधारदोषस्तथा धर्मक्षयादिरपि कालदोषः। तस्मात्कालाधारायाः पृथिव्या आधाराधेयोभयदोषसम्भवाच्छीघ्रं प्रतीकारः कर्तव्य इत्यर्थः। अन्यथा पुनर्भूमेरुद्धारः कर्तव्यः पतति सृष्टिश्च। अत एव ब्रह्मणः प्रार्थनेत्याह—**आत्मभुवाऽर्थित इति। आत्मभुवेति**। स्वस्याऽपि ब्रह्मजननं पततीति भावः। स्त्रीपुत्रप्रार्थनया कृतमिति कामत्वाद्भगवतोऽनभिप्रेतत्वं सूचितम्। अवसादनेन विशीर्णतायां पुनर्निर्माणञ्च कर्तव्यं स्यात्। तथा च देशनिर्माणासम्भवान्नूतनब्रह्माण्डनिर्माणमप्यापतेत्। अतो भगवतैवं कृतमिति। एकपक्षे इतरप्रयोजनं प्रासङ्गिकमिति द्रष्टव्यम्। अन्यथा अर्थभेदादवतारभेदो भवेत् ।।३३।।

**व्याख्यार्थ**—शङ्का करते हैं कि अपने परिकर सहित भगवान् के पृथ्वी पर पधारने पर अधिक भार बढ़ेगा। भार उतरेगा नहीं। यदि भार करने वालों में अथवा भूमि में भगवान् का बल रूप से प्रवेश होने पर भार नाश समझा जायगा। भार का उतरना नहीं समझा जायगा। तो श्लोक में 'भारावतरणाय' कहना असंगत होगा। भार बढ़ाने वालों को नीचे गिरा देने पर भगवान् में वैषम्य दोष आयगा। उस वैषम्य दोष को मिटाने के लिए यदि कहें कि उन्हें मुक्ति देना है तो पहले कहे गये पक्ष में एवं इस पक्ष में कोई विशेषता न होगी। अर्थात् पहले कहे गये श्लोक के प्रयोजन में और इस प्रयोजन में एकता होने से दूसरे ऐसा प्रयोजन कहते हैं यह कहना ठीक नहीं होगा और भार का उतारना स्वतन्त्र फल रूप माना जायगा और सुख साधन को स्वतन्त्र फल मानने पर विरोध होगा। इस पर उत्तर देते हैं कि यह पृथ्वी का भार दैहिक नहीं होता है किन्तु असुरों के उद्वृत्ताचरण (असद् आचरण) से होने वाला पृथ्वी का मानस भार है। जहां अत्यधिक

ऐसी मानस भावना बढ़ती है उससे वह मानस भार दैहिक भार की तरह हो जाता है। भगवान् के पृथ्वी पर आने पर चित्त भगवान् में लग जाता है जिससे उद्वेग कराने वालों का विस्मरण हो जाता है तो भार उतरा हुआ माना जाता है। अर्थात् भगवान् में चित्त लग जाने से उपद्रव करने वाले का पृथ्वी को भान नहीं रहता। इससे भार उतरना माना जाता है। बुद्धि से ही भार माना जाता है और वह बुद्धि यदि भार नहीं मानती है तो भार उतरा हुआ माना जाता है। शीघ्र प्रतीकार आवश्यक है इस बात को दृष्टान्त से कहते हैं कि 'नाव इवोदधौ' समुद्र में डूबती हुई नौका का शीघ्र भार उतारना आवश्यक होता है। इसी प्रकार यहां भी शीघ्र पृथ्वी का भार उतारना आवश्यक है। नाव और समुद्र के उदाहरण से यह बताया है कि काल विषम है वह भी पृथ्वी को डुबाने का कारण है। जैसे तरङ्ग आदि समुद्र आदि का (आधार का) दोष रूप है वैसे ही धर्मक्षय आदि होना काल का दोष है। पृथ्वी का काल आधार है। अतः काल के सम्बन्ध से पृथ्वी का भी सदोष होना सम्भव है। अतः शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये। यदि शीघ्र प्रतीकार न किया गया तो पृथ्वी के मग्न हो जाने से उसका पुनः उद्धार करना पड़ेगा और ब्रह्मा को सृष्टि भी फिर से करनी होगी। इसी आशय से श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा की प्रार्थना से आप पधारे हैं। अर्थात् ब्रह्मा को पुनः सृष्टि करने का आयास होगा। इससे ब्रह्मा ने प्रार्थना की और आप पधारे। 'आत्मभुवा' इस पद का तात्पर्य यह भी है कि भगवान् से ब्रह्मा पैदा होते हैं। यदि सृष्टि नहीं रहती है तो अपने से उत्पन्न होने वाला ब्रह्मा भी नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में भगवान् को भी ब्रह्मा को पैदा करना पड़ेगा। पृथ्वी स्त्री एवं ब्रह्मा पुत्र की प्रार्थना से पृथ्वी का भार उतारा है। इससे यह सिद्ध है कि भार को उतारने के लिए भगवान् को स्वयं अवतार लेना अभिप्रेत नहीं था। भार के दुःख से यदि पृथ्वी विशीर्ण हो जाती है तो पुनः इसका निर्माण करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में एक देश पृथ्वी का निर्माण होना असम्भव होने से पूर्ण रूप से नूतन ब्रह्माण्ड का निर्माण भी करना पड़ेगा। अतः भगवान् ने पृथ्वी का भार उतारा। शंका करते हैं कि पृथ्वी का भार उतारना ही भगवान् के पधारने का प्रयोजन नहीं है किन्तु देवताओं का हित करना आदि भी प्रयोजन है तो एक भूभारहरण ही प्रयोजन बताना कैसे संगत हो सकता है तो कहते हैं कि यह एक प्रधान प्रयोजन है और इतर प्रयोजन प्रासङ्गिक है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के होने से प्रयोजनानुसार भिन्न भिन्न अवतार माने जायेंगे। ३३।

**आभास**—एतेषां पक्षाणां पूर्वपक्षत्वान्न पर्यवसानकथनम्। केचन पुनर्भगवद्विचारेण त्रैवर्गिकार्थस्य हीनत्वं विचार्य भगवत्क्रियमाणेनैव हेतुना सर्वमुक्त्यर्थं भगवदवतार इत्याहुः। तदाह—

**आभासार्थ**—ऊपर के श्लोकों से बताये गये जो अवतार लेने के पक्ष हैं वे सब पूर्वपक्ष हैं इसलिए उनमें अन्तिम प्रयोजन नहीं कहा गया। कितने ही कहते हैं कि भगवान् के स्वरूप का विचार किया जाय तो भगवत्स्वरूप की अपेक्षा धर्म, अर्थ, काम जो हीन हैं उनके सम्पादन के लिए भगवान् अवतार लेते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। इस विचार से भगवान् के किये गये कर्म उन से होने वाले ही श्रवण कीर्तन आदि हेतु से सबकी मुक्ति के लिए भगवान् का अवतार होता है कोई ऐसा कहते हैं इसी बात को कहते हैं। आशय यह है कि भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं उनसे श्रवण कीर्तन आदि प्रारम्भ होते हैं। जिनसे सबकी मुक्ति होती है। यदि भगवान् अवतार

न लें तो श्रवण कीर्तन का कोई अवलम्बन न होने से सबकी मुक्ति नहीं होगी । अतः भगवान् अवतार लेकर सबकी मुक्ति के लिए लीला के द्वारा श्रवण कीर्तन आदि का प्रचार करते हैं यही कहते हैं—

श्लोक—**भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।**
**श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ।।३४।।**

**श्लोकार्थ**—कोई ऐसा कहते हैं कि स्वरूपाज्ञान विषयेच्छा एवं कर्मों से जिसमें उत्पत्ति आदि होते रहते हैं ऐसे जगत् में दुःख पा रहे जीवों के श्रवण स्मरण के योग्य चरित्र करने के लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं ।।३४।।

**सुबोधिनी** - **भवेऽस्मिन्निति** । स्वाभिप्रेतत्वं तु स्वरूपनिरूपण एवोक्तम् । **मुक्तिप्रकरणे** श्रवणादीनां धर्मत्वं न भक्तित्वमिति विशेषः । **भव इति** निरन्तरोत्पत्तिमार्गाद्गमनेन । **अस्मिन्निति** । **अनेकदुःखप्रदर्शनास्थित्या च क्लेशस्याऽसह्यता निरूपिता** । अविद्या स्वरूपाऽज्ञानम् । ततः कामो विषयेच्छा । न हि **परमानन्दे स्फुरति विषयेच्छा भवति** । ततस्तदर्थं त्रिविधानि कर्माणि । श्रवणादेः कर्मणोऽविद्याकामकर्मनिवर्तकत्वं पञ्चमाध्याये निरूपितम् । **श्रवणस्मरणयोर्भगवद्धम**-परत्वे प्राकृतबाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्न जन्मक्लेशः । अर्थविवक्षया च स्थितौ सर्वस्य भगवत्त्वेन ज्ञानान्न दुःखदर्शनक्लेशोऽपि । अन्यथा परमकारुणिको भगवान् कूपेऽन्धपातनन्यायेन लोकानां त्रैवर्गिकसिद्धये न ऽवतरेत् । दृढमूलत्वज्ञापनाय त्रिविधतापपदं परित्यज्याऽविद्यादिपदप्रयोगः कृतः । अहेतुकक्लेशप्रदर्शने तु निर्मूलकत्वात्स्वत एव दुःखनाशो भवेदिति श्रवणादीनां वैयर्थ्यं स्यात् । अतो भगवान्मुक्त्यर्थमेवाऽवतीर्ण इति सिद्धम् । अवतीर्ण एव भगवत्यर्हता भवति श्रवणादिविषयस्य ।३४।

**व्याख्यार्थ**—कुन्ती को जो प्रयोजन अभिप्रेत है वह 'तथा परमहंसानाम्' श्लोक से कहे गये भगवान् के स्वरूप के निरूपण में ही कह दिया । अर्थात् आप भक्तियोग के प्रचारार्थ पधारते हैं । ऐसा उस श्लोक में प्रयोजन बताया गया है । वह कुन्ती को अभिप्रेत है । तथा 'परमहंसानाम्' श्लोक में आये हुए भक्तियोग पद से श्रवण कीर्तन आदि ही विवक्षित है और यहां भी श्रवण कीर्तन आदि कहे गये हैं तो यहां भी कहे गये श्रवण कीर्तन आदि को पूर्वपक्ष में कैसे मान लिया ? इस आशंका पर कहते हैं कि यहां निरूपित हुए श्रवण स्मरण आदि मुक्ति के अङ्गभूत है अर्थात् यहां श्रवण स्मरण मुक्ति के लिए ही कहे गये हैं इसलिए धर्मरूप है । वे निष्काम न होने से भक्तिरूप नहीं कहे जाते । 'तथा परमहंसानाम्' में श्रवण स्मरण आदि को भक्तिरूप में कहा गया है और यहां धर्मरूप में उन्हें कहा है इसलिए यहां कहे गये श्रवण स्मरण आदि का पूर्वपक्ष कोटि में प्रवेश होता है । श्लोक में भवे पद दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि 'जायस्वम्रियस्व' इत्यादि से कहा गया जो निरन्तर उत्पत्ति का मार्ग है उसको प्राप्तकर निरन्तर जन्म लेने से दुःखी । श्लोक में 'अस्मिन्' पद देकर यह बताया कि यह जिसमें कि अनेक दुःखों की अनुभूति हो रही है 'क्लिश्यमानानाम्' में वर्तमानार्थक शानच् प्रत्यय है इसलिए उन दुःखों में उनको वर्तमान में रहना बताया । ऐसा कहने से क्लेश असह्य है ऐसा निरूपण किया गया । श्लोक में 'अविद्या' पद से स्वरूप का अज्ञान कहा गया है । स्वरूप भूल जाने पर विषयों की इच्छा होती है । जिसे श्लोक में काम पद से कहा गया

है। परमानन्द प्रभु की स्फूर्ति होने पर जिनमें साधारण एवं क्षणिक आनन्द है ऐसे विषयों की इच्छा नहीं होती। उन विषयों की इच्छा के लिए सात्त्विक राजस तामस कर्म किये जाते हैं। भगवान् के लिए होने वाले श्रवण स्मरण आदि कर्म अविद्या विषयेच्छा एवं कर्म की निवृत्ति करने वाले है। यह पञ्चमाध्याय 'एवं नृणां क्रियायोगाः' श्लोक में निरूपण किया गया है। श्रवण और स्मरण यदि भगवत्सम्बन्धी होते हैं तो श्रवण से प्राकृत बाह्य संग नहीं होता और स्मरण से भीतरी संग नहीं होता। जिसके न होने से जन्म लेने का क्लेश भी नहीं होता। भगवान् के अर्थ प्रयोजन) की विवक्षा से भगवान् के अवतीर्ण होने पर सभी को यह भगवान् है ऐसा ज्ञान हो जाता है जिससे दुःख देखने का क्लेश नहीं होता। अवतार का प्रयोजन यह न होकर लोगों को धर्म अर्थ काम प्राप्ति कराना प्रयोजन हो तो कुए में अन्धे को गिराने की तरह धर्म, अर्थ, काम में फँसाने से भगवान् का भी उसी प्रकार का कार्य होगा। किन्तु वह परमदयालु है इसलिए धर्म, अर्थ, काम में फँसाने (आसक्ति कराने) के लिए अवतीर्ण नहीं होता। श्लोक में त्रिविध ताप न देकर 'अविद्या काम कर्मभिः' ऐसा कहा है इसलिए क्लेश दृढ़ मूल है क्योंकि वे दुःख अविद्या काम कर्म से होते हैं। यदि बिना कारण के ही वे क्लेश होवे तो उनका कोई मूल न होने से उन दुःखों का स्वतः नाश हो जायगा। तो उस दुःख नाश के लिए श्रवण आदि करना व्यर्थ होगा। अतः भगवान् मुक्ति के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं यह बात सिद्ध हुई। अर्थात् अवतार लेकर लीला करता है तो उसके श्रवण स्मरण सम्भव हो जाते हैं ॥३४॥

**आभास**—एवं जन्मकारणनिर्द्धारमुक्त्वा फलनिर्द्धारमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवान् के जन्म के कारण का निर्धार कर फल का निर्धार कहती है—

श्लोक—**शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।**
**त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥३५॥**

**श्लोकार्थ**—जो मनुष्य आपके चेष्टित को बार-बार सुनते हैं, उपदेश देते हैं गाते हैं, स्मरण करते हैं तथा आनन्दित होते हैं वे ही जन्म परम्परा के निवर्तक आपके चरणारविन्द का जल्दी ही दर्शन करते हैं ॥३५॥

**सुबोधिनी—शृण्वन्तीति**। दास्ये हि फलनिर्णयः कर्तव्यः। धर्मादिवद्व्यभिचारिफलत्वे परम्पराफलत्वे अन्यफलत्वे वा स्वतः सेवां कः कुर्यात्? यद्यपि स्वरूपनिरूपणेनैवैतत्सिद्ध्यति परब्रह्मत्वे भगवतः स्वस्य च जीवत्वे दासत्वाद्दास्यसिद्धिरिति। तथापि योग्यतामात्रं सिद्ध्येन्न फलमुखतया। अतः श्रवणादिभिर्यदि पदं पश्येत्तदैव दास्यं कुर्यादिति युक्तं फलनिरूपणम्। ईहितं चेष्टितम्। भगवत्प्रयत्नेन अनिष्पन्नमित्यर्थः। तवेत्यवतीर्णस्य। यथा सर्वे पदार्था जगति तत्र तत्र सिद्धास्तथा सन्तो भगवत्कथा च गङ्गावद्देशविशेषे नियताः। तथा च गङ्गायां स्नायादित्यत्र न गङ्गायामागतायां स्नायादिति किन्तु स्वयमुद्यम्य तीर्थमुद्धृत्य महता प्रयत्नेनाऽन्तः प्रविश्य स्नायादिति। एवमत्राऽपि वक्तरि सति शृण्वन्तीति न किन्तु सतां स्थाने गत्वा यथा वदन्ति तथोपायं

विधाय समनस्केन्द्रियैः सम्यक्शक्तितात्पर्यनिर्णयः कर्तव्य इत्यर्थः । कृते च निर्णये तदानन्दे हृद्याविर्भूते रसेन गायन्ति । ततो रसपरवशाः सन्तोऽन्यान्कांश्चित्पुरस्कृत्य गृणन्ति उपदिशन्ति । एतेषां हेतुहेतुमद्भावोऽग्रे वक्तव्यः । ततः सर्वेषां पदार्थानां भगवत्सम्बन्धित्वेन श्रुतत्वाद्यं कञ्चन पदार्थं दृष्ट्वा ईहितमेव स्मरन्ति । ततः स्वतन्त्रफलत्वादानन्दहेतुत्वाच्च स्वत एव नन्दन्ति । अन्तरानन्दयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । एवं श्रवणकीर्तनानि सावान्तरफलानि निरूपितानि । अतो महाफल-निरूपणाय अवान्तरफलवतामेव महाफलमिति निरूपयति—त एव पश्यन्तीति । अचिरेणेति पदादेवाऽयोगो व्यवच्छिन्नः । कालस्याऽहेतुत्वादेव न कालविलम्बो बाधकः । यथा कश्चित्समुद्रे मज्जन् तीरं पश्येत्तथा भवप्रवाहस्योपरमो यत्र तादृशं तीरभूतं पदाम्बुजं पश्येत् ॥३५॥

**व्याख्यार्थ**—दास्य भक्ति का क्या फल होता है । इसका निर्णय करना है । जैसे धर्म आदि का फल कदाचित् होता है । कदाचित् नहीं । ऐसे हो दास्य भक्ति का फल कदाचित् हो कदाचित् न हो तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा को कौन करेगा । इसी प्रकार दास्य भक्ति का धर्मादि की तरह परम्परया फल होना माना जाय तथा भगवान् से अलग फल माना जाय तो स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा कौन करे । 'नमस्ये पुरुषं त्वाद्यम्' आदि से यद्यपि भगवान् के स्वरूप का निरूपण हुआ है उससे ही स्वतः दास्य भक्ति हो सकती है । क्योंकि स्वरूप ज्ञान करने पर यह ज्ञान हो जायगा कि भगवान् परब्रह्म हैं और मैं जीव होने से दास हूं तो इससे दास्य भक्ति सिद्ध हो सकती है । तो उसके लिए फल निरूपण करने की क्या आवश्यकता है । तो कहते हैं कि भगवान् को परब्रह्म एवं अपने को जीव समझने पर दास्य भक्ति की योग्यता मात्र होती है । किन्तु फल अवश्य मिल जाय ऐसी दास्य भक्ति नहीं होती । अत श्रवण आदि से यह मानना चाहिये कि जब भगवान् के चरणारविन्द के दर्शन कर लेता है तभी दास्य भक्ति करता है । अत. यहां चरणारविन्द का दर्शन रूप फल कहा । श्लोकस्थ 'ईहितम्' का अर्थ है चेष्टित । अर्थात् भगवान् के प्रयत्न मात्र से होने वाली चेष्टा । श्लोक में आये हुए 'तव' का अर्थ है अवतीर्ण हुए आपका जो श्रवण गान आदि करते हैं वे ही आपके चरणारविन्द को देखते हैं । जैसे जगत् में सभो पदार्थ उस उस स्थान पर मिलते हैं इसी प्रकार संत (साधु पुरुष) और भगवत्कथा गङ्गा की तरह देश विशेष में मिलती है । तो 'गङ्गायां स्नायात्' गङ्गा में स्नान करे इसका अभिप्राय यह नहीं है कि गङ्गा स्वयं अपने पास आवे तब स्नान करे । किन्तु स्वयं प्रयत्न कर वहां जावे और बड़े प्रयत्न से उसमें प्रविष्ट होकर स्नान करे । ऐसे ही यहां यह नहीं होना चाहिये कि वक्ता मिले तब सुने नहीं तो नहीं सुने । श्रोता को स्वयं सत्पुरुषों के स्थान में जाना चाहिये और जैसे वे कहे वैसा उपाय कर मन सम्बद्ध इन्द्रियों से उन कथा आदि का भलो प्रकार शक्ति तात्पर्य निर्णय करे । वाक्यों के शक्ति तात्पर्य के निर्णय के होने पर सुनी हुई लीलाओं का आनन्द हृदय में आविर्भूत होता है । तदनन्तर रस (आनन्द) के साथ गाने लगते हैं । उन लीलाओं के आनन्द से परवश हुए किन्हीं दूसरे श्रोताओं को आगे कर उन कथा आदि का उपदेश देते हैं वे ही भगवच्चरणारविन्द को देखते हैं । इन श्रवण आदि के हेतुहेतुमद्भाव को आगे कहेंगे । अर्थात् श्रवण होगा तब गान करेगा और गान होगा तब उपदेश होगा यह आगे कहेंगे । सब पदार्थों को भगवत्सम्बन्धी रूप में सुनने से जिस किसी पदार्थों को देखकर भगवान् के चेष्टित का ही स्मरण करते हैं । तदनन्तर स्वतन्त्र फल रूप होने से तथा आनन्द का कारण होने से स्वतः एव भीतर आनन्द युक्त होते हैं । इस प्रकार स्मरण आनन्द रूप जो अवान्तर फल है उनके सहित श्रवण, कीर्तन और गान आदि का निरूपण किया । श्रवणादि से बड़ा फल मिलता है इसका निरूपण

करने के लिए स्मरण एवं आनन्द रूप अवान्तर फल वालों को ही बड़ा फल मिलता है यह कहती है। 'त एव पश्यन्ति' वे ही भगवच्चरणारविन्द के दर्शन करते हैं। श्लोकस्थ 'अचिरेण' पद से उस महाफल का सम्बन्ध नहीं होता यह बात नहीं है किन्तु महाफल मिलता ही है। इसमें काल कारण नहीं है। इसलिए काल विलम्ब भी बाधक नहीं है। इस बात को भी अचिरेण यह पद सूचित करता है। जैसे कोई समुद्र में डूबता हुआ तीर को देखे इसी प्रकार जन्म प्रवाह का जहां उपरम (विश्रान्ति) होता है ऐसे तीर रूप भगवच्चरणारविन्द देखता है तात्पर्य यह है कि समुद्र में डूबते हुए को जब तीर दीख जाता है तब उसे जैसे शांति होती है उसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द को देखने से भव प्रवाह का उपरम होने से शान्ति मिलती है ।।३५।।

**आभास**—एवं फलं निरूप्य दैन्यं निरूपयति **अप्यद्येति** चतुर्भिः—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भगवच्चरणारविन्द को देखता है इस फल का निरूपण कर 'अप्यद्य' आदि चार श्लोकों से दीनता का निरूपण करती है—

श्लोक—**अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।**
**येषां न चाऽन्यद्भवतः पदाम्बुजात्परायणं राजसु योजितांहसाम् ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—हे भक्तों के कार्य करने वाले भगवन् ! क्या आप हमें आज ही छोड़ना चाहते हैं ? हे सर्वसमर्थ ! आप समर्थ होने से छोड़े बिना भी कार्य कर सकते हैं। हम जो शुद्ध हृदय और दास हो गये हैं और हमने राजाओं का अपराध भी किया है इसके लिए आपके चरणारविन्द के सिवाय हमारा कोई आश्रय नहीं है ।।३६।।

**सुबोधिनी**—सख्ये हि दैन्यनिवृत्तिः। दैन्यं ह्यन्तःकरणधर्मः। स यदा स्फुरति स दीनः। स च त्वयि सति विषयाभावे न स्फुरितः। इदानीं पुनः प्राप्ते विषये त्वद्गमनं भावयन्नेव स्फुरितः। तस्मादस्मान्दीनात्मा त्यजेति प्रार्थयते। अन्यदा हि भगवान् कार्यं सशेषं कृत्वा गच्छति। इदानीं कार्यस्य निःशेषत्वात्पुनर्नाऽऽगमिष्यतीति प्रायेणाऽस्मांस्त्यक्त्वा गच्छति। **हे स्वकृतेहित!** स्वानामेव कृतं कार्यं तस्मिन्नेव ईहितं यस्य। भक्तकार्यकर्त्तेत्यर्थः। त्वदपरित्याग एवाऽस्मत्कार्यं तत्रैव तवेहितं भवत्विति भावः। **अपीति** सम्भावनायाम्। **अद्येति**। किमस्मत्त्यागदिनमित्यर्थः। नः अस्मान्। अथवा। नस्त्वमिति। परित्यागः सर्वथा भाव्य इति न वक्तव्यम्। अन्यथाऽपि त्वया कर्त्तुं शक्यत इति। **प्रभो! जिहाससि स्वित्? स्विदिति** किमित्यर्थे। एतावता कालेन वयं शुद्धहृदया जाताः। परिग्रहदशायां च कथं त्यागः। किञ्च। दासाश्च जाताः। अनु पश्चाज्जीवोऽस्याऽस्तीत्यनुजीवी। दूरे गते जीवनमेव न भविष्यतीत्यर्थः। किञ्च। येषामस्माकं तव पदाम्बुजव्यतिरेकेण न ऽन्यत्परायणमस्ति। तत्र हेतुः—राजसु सर्वेषु योजितांहसां योजितापराधानाम्। इदानीं वयं सर्वविरोधिनो जाताः। अतस्त्वद्रक्षाव्यतिरेकेण न जीवाम इत्यर्थः ।।३६।।

**व्याख्यार्थ**—सख्य भक्ति होने पर समानता होने के कारण दीनता नहीं रहती। दीनता अन्तःकरण का धर्म है। वह धर्म जब प्रकट होता है तब वह दीन कहलाता है। वह दीनता रूप

धर्म आपके पास रहने पर और दुःखों के नहीं होने पर स्फुरित नहीं हुआ । इस समय पुनः दुःखों के प्राप्त होने पर और आपके पधारने की भावना करने पर वह दैन्य धर्म स्फुरित हुआ । इसलिए हम दीनों को आप न छोड़ें यह प्रार्थना है । अन्य समय में आप कुछ कार्य को शेष रखकर जाते थे और इस समय कार्य को सम्पूर्ण करके जा रहे हैं इसलिए पुनः नहीं पधारेंगे । अतः प्रायः हमें छोड़कर जा रहे है । श्लोक में 'स्वकृतेहितः' यह भगवान् का सम्बोधन है । इसका अर्थ यह है कि अपने भक्तों के ही कार्य करने के लिए जिसकी चेष्टा है अर्थात् कुन्ती कहती है कि आप भक्तों के कार्य करने वाले हैं । आपके नहीं छोड़ने पर ही हमारा कार्य होता है । इसलिए आपकी भी चेष्टा इसी प्रकार की होनी चाहिये । श्लोकस्थ 'अपि' का अर्थ है सम्भावना । क्या मैं ऐसी सम्भावना करूं कि आप हमें छोड़ना चाहते हैं । 'अद्य' का अर्थ है क्या हमको छोड़ने का दिन आज है । श्लोकस्थ 'नः' का अर्थ है हमें जब त्वम् का अन्वय 'जिहाससि' में होता है तो क्या हमें तुम छोड़कर जाना चाहते हो । अथवा 'नस्त्वम्' का साथ में अन्वय रखते हैं तो आप हमारे हो तो क्या हमें छोड़ना चाहते हो ? यह अर्थ होता है । आप कहें कि किसी काम के लिए परित्याग तो सर्वथा होगा ही तो अभी परित्याग क्यो न किया जाय ? इस पर कुन्ती कहती है कि बिना परित्याग के भी तो आप सब कुछ कार्य कर सकते हैं । इसी बात को 'प्रभो' यह सम्बोधन कहता है । श्लोक में 'स्वित्' का अर्थ है क्या । श्लोकस्थ 'सुहृदः' का विग्रह यह है कि 'सुष्ठु हृदयानि येषां ते सुहृदः तान् सुहृदः' उक्त विग्रह से सुहृद का अर्थ है शुद्ध हृदय अर्थात् इतने समय बीतने पर अब हम शुद्ध हृदय बने हैं । शुद्ध हृदयों का परितः ग्रहण किया जाता है और स्वीकार किया जाता है तो ऐसी स्थिति में हमारा त्याग क्यों कर रहे हैं । श्लोकस्थ 'अनुजीविनः' का अर्थ है दास । अनुजीवी शब्द का तात्पर्य यह है कि जो अनुजीवी होते हैं उनका जीवन स्वामी के पीछे ही रहता है । अर्थात् स्वामी के रहने पर ही उनका जीवन रहता है और स्वामी के नहीं रहने पर उनका जीवन नहीं रहता । ऐसी स्थिति में आपके दूर पधार जाने पर हमारा जीवन ही नहीं रहेगा । क्योंकि हम आपके अनुजीवी हैं । आपके चरणारविन्द के अतिरिक्त हमारा कोई आश्रय नहीं है । इसमें कारण यह है कि सब राजाओं का हमने अपराध किया है इसलिए इस समय वे सब विरोधी हो गये हैं । अतः आपसे अरक्षित हम जीवित नहीं रह सकते ।।३६।।

श्लोक—**के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः ।**
**भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ।।३७।।**
**नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर ।**
**त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ।।३८।।**

**श्लोकार्थ**—हे भगवन् ! आपके दर्शन के बिना यादवों सहित पाण्डवों का महत्व न रहने से उनकी कोई ख्याति नहीं रहती । जैसे प्राणों के नहीं रहने पर इन्द्रियों की कोई सत्ता नहीं रहती वैसे ही आपके दर्शनों के बिना हमारी कोई सत्ता नहीं है ।।३७।।

**श्लोकार्थ**—हे गदाधर ! जिस प्रकार वज्रादि चिन्हों से चिन्हित आपके चरणारविन्द से अङ्कित यह पृथ्वी इस समय जैसी शोभित हो रही है वैसी आपके पधारने पर शोभित नहीं होगी ।।३८।।

**सुबोधिनी**—न च वयं स्वभावत एव महान्त इति शङ्कनीयम् । त्वद्दर्शनेनैव हि महत्त्वम् । अन्यथा के वयं नाम्ना रूपेण च विख्याता यदुभिः सहिताः पाण्डवाः । यर्हि-भवतः अदर्शनम् । नाम च रूपं च गमिष्यतीत्यर्थः । यदुत्वं पाण्डवत्वं च । तत्र हेतुभूतं दृष्टान्तमाह । हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशितुः प्राणस्याऽदर्शने । एकैकेन्द्रियव्यतिरेकेणाऽन्धा बधिरा इव जीवन्ति । प्राणे तु गते सर्वमेव गच्छेदित्यर्थः । किञ्च । अयं देशोऽपि न सुखदो भविष्यति । यथेदानीं त्वत्पदैरङ्किताऽतिशोभायुक्ता भाति । इयमेवाऽग्रे न शोभिष्यते । स्वानि असाधारणानि लक्षणानि ध्वजादीनि तैर्विशेषेण लक्षितैः । शोभा हि सर्वा त्वत्सम्बन्धाधीना । **गदाधरेति** भूमेः पादस्पर्शे सात्त्विकभावस्वेदोद्गमे कर्दमत्वं भवति । कर्दमे च क्षेत्रे सर्वोऽपि साधारो गच्छतीति गदाधरत्वमुक्तम् । इदमलौकिकं मया दृश्यत इति तथा सम्बोधनम् ।।३७।।३८।।

**व्याख्यार्थ**— आप यह विचार न रखें कि हम स्वभावतः महान् हैं । जिससे हम स्वतः अपनी रक्षा कर सकें । हम आपके दर्शन कर रहे हैं इसलिए महान् हैं । अन्यथा यादव और पाण्डव जो नाम तथा रूप से प्रसिद्ध हैं वे आपके दर्शनों के बिना कुछ भी नहीं हैं । अर्थात् आपके दर्शन नहीं होने पर हमारे नाम और रूप दोनों नहीं रहेंगे । यादवों का यदुत्व और हमारा पाण्डवत्व भी चला जायगा । उसमें हेतुभूत दृष्टान्त कहते हैं कि 'हृषीकाणामिवेशितुः' इन्द्रियों के स्वामी प्राणों के नहीं दीखने (नहीं रहने) पर किसी भी इन्द्रिय का सत्ता नहीं रहती । एक-एक इन्द्रिय के नहीं रहने पर अन्ध और बधिर की तरह जीवित रहते हैं । प्राणों के चले जाने पर तो सब कुछ चला जाता है । अर्थात् जीवन भी नहीं रहता । एक बात यह भी है कि आपके परित्याग के अनन्तर यह देश भी सुखद नहीं होगा । यह पृथ्वी जैसे इस समय आपके चरणारविन्दों से अति शोभायुक्त प्रतीत हो रही है । पीछे आपके परित्याग करने पर यह शोभित नहीं होगी । आपके असाधारण चिन्ह जो ध्वजा आदि हैं उनसे मालूम पड़ने वाले जो आपके चरणारविन्द उनसे अति शोभित यह पृथ्वी आपके सम्बन्ध से शोभायुक्त है । अर्थात् आपके सम्बन्ध से ही सब शोभा है । कुन्ती ने जो गदाधर सम्बोधन दिया है उसका अभिप्राय यह है कि हे भगवन् ! आपके चरणारविन्द का स्पर्श जब भूमि को होता है तो उसमें आपके पति होने के कारण पृथ्वी में सात्त्विक भाव का उदय होने से स्वेद (पसीना) होता है जिससे कीचड़ हो जाता है । कीचड़ वाले प्रदेश में सभी लोग किसी लकड़ी आदि सहारे को लेकर ही चलते हैं । आपके चरणारविन्द के सम्बन्ध से पृथ्वी में कीचड़ हो गया है इसलिए आपको गदा का सहारा आवश्यक है यह बात मैं अलौकिक देख रही हूँ । अर्थात् आपके चरणारविन्द का जहां-जहां स्पर्श हो रहा है वहां वहां कीचड़ हो रहा है और उसमें चलने के लिए आपने गदा धारण की है ।।३७।।३८।।

**आभास**— किञ्च । सर्वेऽपि शत्रुजयेन प्राप्ता देशा नाऽस्माकं सुखकरा भविष्यन्ति । अग्रे सस्याद्यभावात् । इदानीं तु सस्यादिसम्पत्तिर्भवद्दर्शनाधीनेत्याह—

**आभासार्थ**— और एक बात यह भी है कि शत्रुओं को जीतने से प्राप्त हुए सभी देश हमें सुखकर नहीं होगे । क्योंकि आपके नहीं विराजने पर सस्य (धान्य) आदि उत्पन्न नहीं होंगे । इस समय सस्यादि सम्पत्ति आपकी दृष्टि पड़ने से है इसी बात को कहती है—

**श्लोक—इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः ।**
**वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ।।३९।।**

**श्लोकार्थ**— आपके देखने से अच्छे पके हुए चावल आदि तथा द्राक्षादि से युक्त ये देश सुसमृद्ध हैं और वन, पर्वत, नदियाँ तथा समुद्र बढ़ रहे हैं ।।३९।।

**सुबोधिनी**—**इमे जनपदा इति** । इमे जनपदा देशाः सुष्ठु ऋद्धाः । सुष्ठु पक्वा ओषधयो व्रीह्यादयो वीरुधो द्राक्षादयश्च येषाम् । वनानि अद्रयो नद्य उदन्वन्तश्च तवैव वीक्षितैरेधन्ते । तस्मात्त्वत्परित्यागे न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः ।।३९।।

**व्याख्यार्थ**—आपके सम्बन्ध से देश अच्छे समृद्ध हैं । चावल आदि ओषधियां तथा द्राक्षा आदि अच्छे पके हुए हैं । वन, पर्वत, नदियां तथा समुद्र आपकी दृष्टि पड़ने से बढ़ रहे हैं इसलिए आपके परित्याग करने पर ऊपर कही हुई ये बातें नहीं रहेगी ।।३९।।

**आभास**— एवं बहिर्मुखतया दैन्यं प्रतिपाद्य अन्तर्मुखतया भिन्नप्रक्रमेण द्वयं प्रार्थयते **अथेति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—इस प्रकार बाहरी बातों का चिन्तन करने से बहिर्मुख रूप से दीनता का प्रतिपादन कर अन्तर्मुख से भिन्न प्रकार से 'अथ' इत्यादि दो श्लोकों से दो बातों की प्रार्थना करती है—

श्लोक— **अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्तो स्वकेषु मे ।**
**स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ।।४०।।**

**श्लोकार्थ**—हे विश्व के स्वामी ! हे विश्वरूप ! हे विश्व के आधार ! अपने आत्मीय पाण्डवों में तथा यादवों में जो मेरा दृढ़ स्नेह पाश है उसे काटिये ।।४०।।

**सुबोधिनी**—द्वयमेव हि साध्यम् । असङ्ग आत्मव्यतिरिक्ते, भगवति रतिश्च । तत्राऽऽत्मव्यतिरिक्तेऽसङ्गो विचार्यते । किमात्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति न वेति ? अस्तित्वे भगवतः सर्वात्मत्वं भज्येत । नास्ति चेत् ? केन सहाऽसङ्गः । ननु प्रतीतेनेति चेत् ? तत्प्रतीतं भगवानन्या वा ? उभयथाऽपि पूर्वोक्त एव दोषः । अन्यथात्वेन प्रतीतेनेति चेत् ? यद्यपि तत्रापि पूर्ववद्विकल्पः सम्भवति तथाऽपि ज्ञानिनोऽसङ्गो न कर्तव्यः स्यात् । तस्मादेवमेकं रूपं वक्तव्यं, यथा शास्त्रार्थपरित्यागौ सङ्गतौ भवतः । तदाह—**विश्वेश विश्वात्मन्निति** । विश्वं कार्यम् । स्वयं सर्वकारणम् । अत ईशः । अनेन स्वार्थं सर्वं सृजतीति मुख्यसिद्धान्तो ज्ञापितो भवति । ततो भगवदर्थे कृते जगति

स्वस्याऽहन्तामम‍तायां भगवद्वि ।धेन बन्धः स्यात् । "क्रीडार्थमात्मन" इति वाक्यात् । अतो यथा अक्ष्णोरिन्द्रेन्द्राण्योर्लक्ष्मीनारायणयो रमणार्थं निद्रा सृष्टा तथैव परित्यागः सृष्ट इत्यर्थः । इदानीं सर्वात्मत्वं साधयति **विश्वात्मन्निति** । विश्वस्याऽऽत्मा स्वरूपम् । यदेव आत्मत्वेन यदेव न स्फुरति तस्यैव परित्यागः । ननु वस्तुत आत्मत्वे किं स्फुरणेनेति चेत् ? न, यतोऽयमात्मा । उद्देश्यविधेयभावस्योक्तत्वादुद्देश्यस्फुरणे त्यागः । बोधतारतम्य एव सर्वसाधनानामुपयोगात् । न च विश्वात्मत्वमौपचारिकम् । भद्रसेनो ममाऽऽत्मेतिवत् । तत्राऽऽह—**विश्वमूर्त्ते इति** । विश्वं मूर्तौ यस्य । विश्वस्मिन्वा मूर्तिर्यस्य । विश्वं मूर्तिर्यस्य । त्रेधाऽपि नोपचरितं सर्वात्मत्वम् । अत उद्देश्यत्वेन पुत्रादेः स्फुरणात् । स्वच्छन्दतया च स्नेह उत्पादितः । विधेयदशायां शास्त्रेण स्नेहः क्रियते । तद्विरुद्धशास्त्रैर्नाश्यते । मायाकृतस्तु स्नेहो न भगवद्व्यतिरेकेण अन्यस्मादपगच्छति । "मामेव ये प्रपद्यन्त" इति वाक्यात् छेदने पुनर्योजनाभावः । **दृढमिति** । ग्रन्थित्वादविमोकः ।।४०।।

**व्याख्यार्थ**—आत्म निवेदन में कही जाने वाली दोनों ही बातें हेतु हैं । अतः दोनों ही सिद्ध करने योग्य हैं । इनमें एक भगवदतिरिक्त में संग न होना । दूसरा भगवान् में प्रीति होना है । इनमें भगवान् से अतिरिक्त में संग न होने का विचार किया जाता है । यहां यह शङ्का होती है कि भगवान् से अतिरिक्त कोई है या नहीं । यदि भगवान् से अतिरिक्त कोई वस्तु हो तो भगवान् सर्वात्मा नहीं कहला सकते । यदि सब भगवद्रूप है तो कुन्ती किसके साथ संग न होने की प्रार्थना कर रही है । भगवद्रूप मानने पर तो किसी का संग दूषित नहीं है । यदि कहें कि यह जो भगवान् से अतिरिक्त रूप में प्रतीत हो रहा है उससे संग नहीं चाहती । परन्तु यह कहना भी युक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि प्रतीत होने वाला भगवद्रूप है या नहीं । यदि प्रतीत होने वाला यह भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा नहीं हो सकते । यदि प्रतीत भगवद्रूप है तो फिर उससे संग नहीं करने की प्रार्थना संगत नहीं हो सकती । इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष आता है । इस पर दोष के निराकरण के लिए यदि यह कहा जाय कि जो अन्यथा रूप (जगद्रूप) में प्रतीत हो रहा है उसके साथ संग न होना कुन्ती चाहती है तो ऐसी स्थिति में भी पूर्ववत् विकल्प का सम्भव है । अर्थात् अन्यथा रूप में प्रतीत होने वाला विश्व भगवद्रूप है या नहीं । यदि भगवद्रूप है तो उसका असंग क्यों चाहा जा रहा है । यदि भगवद्रूप नहीं है तो भगवान् सर्वात्मा कैसे होंगे । ऐसा विकल्प इस पक्ष में भी सम्भव है ऐसी दशा में सबके भगवद्रूप होने से ज्ञानी के लिए बताया गया असंग भी नहीं होगा । क्योंकि उसके सम्मुख भी सब भगवद्रूप रहेगा । तो शास्त्रों में ज्ञानी को वैराग्य युक्त होना चाहिये इस कथन का विरोध होगा । इसलिए कोई ऐसी बात कहनी चाहिये कि जिससे शास्त्र का अर्थ अर्थात् सब भगवद्रूप है यह कहना तथा इसका परित्याग करना ये दोनों संगत हो सकें । इसी बात की सिद्धि के लिए कहती है कि 'विश्वेश विश्वात्मन्' विश्वकार्य है स्वयं भगवान् सबके कारण हैं । अतएव वे इस विश्व के स्वामी हैं । स्वामी भगवान् अपनी क्रीड़ा के लिए इस सब विश्व को उत्पन्न करते हैं । यह इस विश्वेश पद से बताया गया । जब भगवान् ने अपने लिए जगत् को उत्पन्न किया है तो मानव यदि उसमें अपनी अहंता ममता करता है अर्थात् अपना अधिकार स्थापित करता है तो भगवान् के साथ विरोध होने से जीव को बन्धन होगा क्योंकि भगवान् ने अपनी क्रीड़ा के लिए इसका निर्माण किया है । जैसा कि 'क्रीडार्थमात्मनमिदम्' इससे कहा है । दूसरे की वस्तु पर दूसरा यदि अधिकार स्थापित करता है तो विरोध होता ही है । अतः इन्द्र एवं इन्द्राणी के तथा लक्ष्मी एवं नारायण के रमण के लिए जैसे आँखों में निद्रा उत्पन्न की वैसे ही जीव अपना अधिकार

न करें इसलिए भगवान् ने परित्याग (वैराग्य) को भी उत्पन्न किया है इसलिए कुन्ती कहती है कि मैं पाण्डवों के स्नेह का परित्याग हो ऐसी प्रार्थना करती हूँ । अब कुन्ती भगवान् सर्वरूप हैं 'विश्वात्मन्' से यह सिद्ध करती है । कहती है कि आप विश्व के स्वरूप हैं । जिस किसी का भगवद्रूप से स्फुरण न हो उसी का परित्याग कर देना चाहिये । इस पर शङ्का होती है कि जब विश्व वस्तुतः भगवद्रूप है तो अन्यथा स्फुरण से क्या हो सकता है । वह तो भगवद्रूप ही रहेगा । क्योंकि 'इद सर्वं यदयमात्मा' इस श्रुति से सबको भगवद्रूप बताया है । इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि पुत्र आदि भगवान् हैं ऐसे कहने में पुत्र आदि उद्देश्य होते हैं और इनको भगवद्रूप कहना विधेय है। उद्देश्य तक ही अर्थात् पुत्र हैं ऐसी भावना रहने पर उसका परित्याग कहा है । जितने भी साधन हैं वे ज्ञान तारतम्य के लिए हो हैं । यदि कहें कि भगवान् का विश्वरूप होना औपचारिक (काल्पनिक) है । जैसे लोक में कहा जाता है कि यह भद्रसेन व्यक्ति मेरी आत्मा है । अर्थात् भद्रसेन के पृथक् रहते हुए भी अति स्नेह से अपना आत्मा कहा जाता है जैसे यह लाक्षणिक प्रयोग है । वैसे ही यह विश्व भगवान् है ऐसा प्रयोग लक्षणा से हो सकता है । इसका उत्तर देती है कि 'विश्वमूर्ते' विश्वमूर्ति पद का तीन रूप में विग्रह हो सकता है । 'विश्व मूर्तिर्यस्य' विश्व है स्वरूप में जिसके । 'विश्वस्मिन् मूर्तिर्यस्य' विश्व में है स्वरूप जिसका । 'विश्वं मूर्तिर्यस्य' विश्व है मूर्ति जिसकी । इन तीनों विग्रहों में भगवान् का सर्वात्मत्व लाक्षणिक ही आरोपित नहीं है परन्तु मुझे आपके रूप में (भगवद्रूप में पुत्र आदि की स्फूर्ति न होकर उद्देश्य रूप से पुत्र आदि की स्फूर्ति है इसलिए स्नेह पाश के छेदन की प्रार्थना करता हूं । यदि आप कहें कि यदि तुझे इस प्रकार का परिज्ञान है तो स्वतः परित्याग क्यों नहीं कर देती । मुझसे प्रार्थना करने की क्या आवश्यकता है । इस पर कुन्ती कहती है कि आपकी माया ने पुत्रादि में स्नेह उत्पन्न किया है वह मेरे सामर्थ्य से नहीं मिट सकता अतः आपसे मिटाने की प्रार्थना करती हूं । विश्व भगवद्रूप है ऐसा ज्ञान हो जाने पर शास्त्र से विश्व को भगवद्रूप मानकर उससे स्नेह किया जाता है और पुत्रादि भावना होने पर पूर्व शास्त्रों से विरुद्ध शास्त्र उनमें प्रेम नहीं रखना चाहिये यह कहते हैं । माया से होने वाला स्नेह भगवान् के अतिरिक्त किसी से दूर नहीं हो सकता । मायाकृत दोष तो 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इस वाक्य के अनुसार भगवच्छरण लेने वालों के ही दूर होते हैं । श्लोक में 'छिन्धि' पद इस तात्पर्य से दिया गया है कि मेरी स्नेह पाश उस रूप में काट दीजिये जिससे पुनः वह जुड़े नहीं । श्लोक में स्नेह पाश का 'दृढम्' यह विशेषण दिया गया है । स्नेह पाश की ग्रंथि इतनी दृढ़ है कि वह खुल नहीं सकती । इसलिए उससे छुटकारा पाने की मैं आपसे प्रार्थना करती हूं ।।४०।।

**आभास—** एवमुद्देश्ये वैराग्यमुक्त्वा विधेये भगवति साक्षादवतीर्णे स्नेहं प्रार्थयते—

**आभासार्थ**—इस प्रकार उद्देश्य रूप में माने गये पुत्रादि में वैराग्य होना चाहिये ऐसा कहकर विधेय रूप भगवान् के साक्षात् अवतीर्ण होने पर आत्म निवेदन का कारण जो स्नेह है उसकी प्रार्थना करती है—

श्लोक—**त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।**

**रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ।।४१।।**

**श्लोकार्थ**—हे मधुपते ! जैसे गङ्गा अपने प्रवाह का सम्बन्ध समुद्र में अविच्छिन्न रूप से कराती रहती है वैसे ही अन्य ओर न जाने वाली मेरी बुद्धि साक्षात् परमात्मा रूप आपसे अविच्छिन्न रूप से प्रेम करती रहे ।।४१।।

**सुबोधिनी**—त्वयि मेऽनन्यविषयेति । यद्यपि भ्रातृपुत्रत्वेन रक्षकत्वेन च स्नेहोऽस्त्येव । तथापि स देहसम्बन्धेनाऽन्यविषयकः । आत्मसम्बन्धी हि त्वनन्यविषयः । परमात्माऽयमात्माधिष्ठात्री देवतेति मतिः परमां प्रीतिमुद्वहतात् । ज्ञानेन भक्तिर्भवत्वित्यर्थः । प्रतिबन्धकागणनायां रतेर्भगवदभेदे च दृष्टान्तः परम्परासम्बन्धाभावे च । ओघं प्रवाहम् । उदन्वति समुद्रे ।।४१।।

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि आप भाई के पुत्र हैं तथा रक्षक होने से आप में स्नेह तो है ही तो भी वह स्नेह देह सम्बन्ध से है इसलिए अन्य विषयक है । अर्थात् देह जीवात्मा से भिन्न है । जो देह के सम्बन्धी हैं वे आत्म सम्बन्धी नहीं हैं । भाई बहिन का नाता देह से सम्बन्ध रखता है और रक्षक भी देह का ही होता है इसलिए भाई के पुत्र मानकर स्नेह करना अथवा रक्षक मानकर स्नेह करना देह विषयक होने से अन्य विषयक है । मैं आपको आत्मसम्बन्धो मानकर स्नेह करूं तो वह स्नेह अन्य विषयक न होगा । मैं यह मानूं कि यह परमात्मा आत्मा का अधिष्ठात्री देवता है ऐसा मान कर मेरी बुद्धि आपसे परम स्नेह करे । अर्थात् मैं आपको परमात्मा समझकर भक्ति करूं । मेरी माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भक्ति हो । गङ्गा का प्रवाह जसे समुद्र में मिलता रहता है उसी प्रकार मेरी बुद्धि आपसे सदा सम्बन्ध रखें । गङ्गाजी अनेक प्रतिबन्ध आने पर भी समुद्र में मिले बिना नहीं रहती वैसे ही अनेक बाधायें आने पर भी मेरी बुद्धि आपसे स्नेह विच्छेद न करें । जैसे गङ्गा और उसका प्रवाह एक है इसी तरह भगवान् और भगवान् का स्नेह अभिन्न है । यहां अभेद बताने के लिए गङ्गा और प्रवाह का दृष्टान्त रूप से उल्लेख किया है । गङ्गाजी के प्रवाह का दूसरी नदियों से सम्बन्ध न होकर सीधा समुद्र से ही सम्बन्ध होता है । वैसे ही मेरा सम्बन्ध परम्परया न होकर सीधा आपसे हो हों । इसलिए भी श्लोक में गङ्गा का दृष्टान्त दिया गया है । श्लोकस्थ ओघ का अर्थ है प्रवाह और उदन्वति का अर्थ है समुद्र में ।।४१।।

**आभास**—एवं नवधा भगवन्तं स्तुत्वा शास्त्रार्थत्वेन नवविधभक्त्यनन्तरं स्नेहे सञ्जाते माहात्म्ये च ज्ञाते पुनः पुनर्भगवदाविर्भावे किं कर्त्तव्यमित्याकांक्षायां माहात्म्यस्मरणपूर्वकं नमनं कर्त्तव्यमिति सिद्धान्तः । तदत्र सर्वं स्तुत्वा उपसंहारे माहात्म्यस्मरणाय बहुधा सम्बोधयन्ती नमस्यति—

**आभासार्थ**—इस प्रकार नौ प्रकार से भगवान् की स्तुति कर शास्त्र में बताई गई नवविध भक्ति के अनन्तर स्नेह होने पर और माहात्म्य ज्ञान होने पर पुनः पुनः भगवान् का आविर्भाव होता है तो फिर वैसी स्थिति में क्या करना चाहिये इस आकांक्षा पर माहात्म्य स्मरण पूर्वक नमन करना चाहिये । यह सिद्धान्त है । इसलिए भगवान् की स्तुति कर उपसंहार में माहात्म्य स्मरण के लिए अनेक प्रकार से सम्बोधित करती हुई कुन्ती भगवान् को नमस्कार करती है—

श्लोक—**श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभाऽवनिध्रुग्राजन्यवंशदहनाऽनपवर्गवीर्य ।**
**गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार योगेश्वराऽखिलगुरो भगवन्नमस्ते ।४२।**

**श्लोकार्थ**—हे श्रीकृष्ण ! अर्थात् सुन्दर सदानन्द रूप ! हे अर्जुन के सखा ! हे यादवों में श्रेष्ठ ! हे पृथ्वी के द्वेषी राजाओं के वंश को दग्ध करने के लिए अग्नि रूप ! हे अक्षय वीर्य ! हे गाय आदि निःसाधनों के स्वामी ! हे गाय द्विज तथा देवताओं की पीड़ा को मिटाने के लिए अवतार लेने वाले ! हे योग के स्वामी ! हे सम्पूर्ण के गुरु ! हे भगवन् ! आपको नमस्कार हो ।।४२।।

**सुबोधिनी**—**श्रीकृष्णेति** नव विशेषणानि । **भगवन्निति** विशेष्यम् । तत्र **श्रीकृष्णेति** स्वरूपम् । "**कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**" । "**साकारत्वात्तु सौन्दर्यं श्रीशब्देनाऽभिधीयते**" । कृष्णसखेति गुणाः । कृष्णो र्जुनः । तस्य सखा । समानशीलव्यसनकथनाद्गाम्भीर्यादयो गुणाः सूचिताः । लीलामाह—**वृष्ण्यृषभेति** । कपटमानुषलीला सूचिता । दुष्टदुर्ज्ञेयत्वमाह—**अवनिध्रुग्राजन्यवंशदहनेति** । न हि भगवज्ज्ञाने इयमवस्था भवेत् । असाधारणं धर्ममाह—**अनपवर्गवीर्येति** । न विद्यते अपवर्गो यस्य तादृशं वीर्यं यस्य । इदं हि पुरुषोत्तमस्याऽसाधारणं चिन्हम् । जन्मकारणनिर्द्धारमाह—**गोविन्देति** । सद्रक्षा अवतारप्रयोजनम् । फलमाह—**गोद्विजसुरार्त्तिहरावतारेति** । गावो द्विजाः सुराश्च तेषामार्त्तिहरोऽवतारो यस्य । अनेन धर्मग्लानिनिवृत्तिरुक्ता भवति । देवतोद्देशेन मन्त्रकरणको हविस्त्याग इति त्रयाणां निरूपणम् । धर्ममूलकत्वादन्येषां न पृथङ् निरूपणम् । दैन्यनिवृत्त्यर्थमाह—**योगेश्वरेति** । एतदतिदैन्यं यद्योगेन सर्वं क्रियते न स्वत इति । निजप्रार्थनामाह—**अखिलगुरो इति** । प्रमाणसिद्धं मह्यं देयमिति । पूर्वोक्तधर्मत्वान्न सगुणः किन्तु भगवन्निति । "**नमो नम एतावत्सदुपशिक्षितमि**"ति नमस्कारः ।४२।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में 'भगवन्' यह विशेष्य है और श्री कृष्ण आदि नौ विशेषण हैं। श्री कृष्ण विशेषण से भगवान् का स्वरूप कहा। उपनिषद् में कहा है कि कृष्ण में जो कृष् है वह सत् अर्थ को बताता है और ण आनन्द अर्थ को बताता है। अर्थात् कृष्ण शब्द का अर्थ है सदानन्द। वह सदानन्द कृष्ण साकार है इसलिए उसके सौन्दर्य को बताने वाला श्री शब्द उसके साथ लगाया गया है। श्लोकस्थ 'कृष्णसख' पद से गुणों का निर्देश किया गया है। कृष्णसख शब्द में जो कृष्ण शब्द है उसका अर्थ अर्जुन है। उसके आप सखा (मित्र) हैं। सखा वही होता है जिसका समान स्वभाव एवं समान व्यसन हो। इसलिए आप दोनों में गाम्भीर्य आदि गुण है। कुन्ती लीला का वर्णन करती है कि 'वृष्ण्यृषभ' यादव वंश में आप श्रेष्ट हैं इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि यादवों में श्रेष्ठ तभी कहलायेंगे जब उनमें आप प्रकट होंगे बिना यादवों में पैदा हुए यादवों में श्रेष्ठ यह व्यवहार नहीं हो सकता है इसलिए यादवों में प्रकट होना आपकी कपटयुक्त मनुष्य लीला है। आप दुष्ट दुर्ज्ञेय हैं। यह 'अवनिध्रुग्राजन्यवंशदहम्' से कहती है। आप पृथ्वी से द्रोह करने वाले राजाओं के वंश को दग्ध (नष्ट) करने वाले हैं। यदि उन राजाओं को भगवान् का ज्ञान होता तो उनकी यह दशा न होती। परन्तु वे दुष्ट थे। इसलिए भगवान् का वे ज्ञान न कर सके। भगवान् के

असाधारण धर्म को 'अनपवर्गवीर्य' से कहती है। अर्थात् आपके पराक्रम की समाप्ति नहीं है। आप अनन्तवीर्य हैं। अनन्तवीर्य होना ही पुरुषोत्तम का असाधारण लक्षण है। जन्म के कारण को गोविन्द पद से बताती है। अर्थात् आप गो के स्वामी हैं इसलिए उनके रक्षक हैं। इस गोविन्द पद से यह सूचित हुआ कि सन्तों की रक्षा के लिए आपका अवतार है। अवतार का फल कहती है कि 'गोद्विजसुरार्त्तिहरावतार' गाय, ब्राह्मण और देवता इनकी पीड़ा मिटाने के लिए आपका अवतार है। इससे यह कहा गया कि जब-जब भी धर्म में ग्लानि होती है तब उसकी निवृत्ति के लिए आप अवतार लेते हैं। यज्ञरूप धर्म में देवता के उद्देश्य से मन्त्रों के द्वारा हवि दी जाती है। धर्मरूप यज्ञ में ये तीन ही प्रधान है। तात्पर्य यह है कि श्लोक में गाय ब्राह्मण और देवता इन तीनों का निर्देश इसलिए किया है कि गायें हवि देती है। ब्राह्मण मन्त्र बोलते हैं और देवता आकर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इन तीनों से यज्ञ सम्पन्न होता है। यदि इन तीनों की रक्षा न हो तो यज्ञरूप धर्म नहीं हो सकता इसलिए इनकी रक्षा के लिए अवतार लेते हैं। ये तीनों धर्म के मूल हैं। इसलिए इनसे अतिरिक्त फलों का पृथक् से निरूपण नहीं किया गया है। आपमें दीनता है यह बात नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर हैं। योग के द्वारा चित्तवृत्ति रोकने पर उसमें प्रसन्नता नहीं होती। अतः अति दीनता होती है। भगवान् योग के नियामक हैं इसलिए उन्हें योग से चित्तवृत्ति का निरोध नहीं करना पड़ता है। इसलिए चित्त प्रसन्न रहने से दीनता नहीं रहती। यह यहां के योगेश्वर पद का अभिप्राय है। ऐसा प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी मानते हैं। भगवान् योग के द्वारा सब कार्य करे स्वतः न करे तो भगवान् की अति दीनता होगी। यह श्री सुबोधिनीजी का भाव मालूम पड़ता है। कुन्ती अपने लिए प्रार्थना करती है कि 'हे अखिलगुरो !' आप सभी के गुरु हैं और गुरु प्रमाणसिद्ध वस्तु ही देता है। अतः मुझे भी प्रमाणसिद्ध वस्तु ही दें। पूर्व में कहे गये धर्मों से युक्त लौकिक गुणों वाला नहीं हो सकता। किन्तु वह भगवान् है इसलिए भगवन् सम्बोधन कहा। जीव नमस्कार ही कर सकता है। यह सत्पुरुषों ने शिक्षा दी है इसलिए मैं आपको नमस्कार करती हूं ।।४२।।

**सूत उवाच**— श्लोक—**पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताऽखिलोदयः ।**
**मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ।।४३।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं कि कुन्ती के द्वारा इस प्रकार अव्यक्त मधुर शब्दों से सब ओर से स्फुरित हुई है महिमा जिसकी ऐसे भगवान् माया से मोहित करते हुए से मुस्कराये ।।४३।।

**सुबोधिनी**—एवं वस्तुते भगवत्कर्त्तव्यमाह । विषयभोगार्थमेव ह्येतावत्कृतम् । न तु वैराग्यभक्त्यर्थम् । अन्यथाऽरण्यादेव तथा कुर्यात् । तस्माद्यः कश्चिद्यत्किञ्चित्प्रार्थयतां नाम । भगवांस्तु प्रकृत स्वविचारितमेव प्रयच्छति । अतोऽद्भुतकर्मनिरूपणे मोहं दत्तवानित्युच्यते । कलपदैर्गद्गदकण्ठेनोच्चारितैरव्यक्तमधुरैः पदैः । परिणूताः परितः स्फुरिताः सर्वे उदया यस्य । गुणानामन्योन्यमिश्रणेन त्रेधा । तदभावादेकधेति । **"एकधा दशधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि"**ति श्रुतिरप्येवमभिप्राया । तथा लीलाश्च । णु स्तुताविति धातुरूकारान्तः कविकल्पद्रुमे निरूपितः । अतो न दीर्घश्छान्दसः । **मन्दं जहास** । मोहनस्याऽप्यज्ञानार्थम् । **वैकुण्ठ इति** । साम्प्रतं रक्षायां स्थितः । जयविजयपातनाद्वा— **मोहयन्निवेति** । अद्भुतकर्मत्वात्- **इवेति** । **स्वरूपेण कृतार्थत्वं मायया च विमोहनम्** ।।४३।।

**व्याख्यार्थ**—सूतजी कहते हैं कि कुन्ती के इस प्रकार स्तुति करने पर भगवान् ने क्या किया यह कहते हैं। विषयों का भोग कराने के लिए ही भगवान् ने पाण्डवों के लिए इतना सब कुछ किया है। वैराग्य और भक्ति उत्पन्न हो इसके लिए यह नहीं किया। वैराग्य और भक्ति के लिए ही भगवान् को कुछ करना होता तो वन में रहते हुए ही कर देते। भक्त जो कुछ मांगे परन्तु भगवान् तो अन्ततः अपना विचारित ही फल देते हैं। भक्त वैराग्य, भक्ति भी चाहे किन्तु भगवान् की इच्छा विषय भोग देने की हो तो वे विषय भोग ही देते हैं। इसलिए यहां कुन्ती ने भगवान् के अद्भुत कर्मों का निरूपण किया है तो भगवान् ने उसे और कुछ न देकर मोह उत्पन्न किया। क्योंकि भगवान् अपना विचारित ही फल देते हैं। गद्गद् कण्ठ से उच्चारित अस्पष्ट और मधुर शब्दों से परितः स्फुरित हुए हैं सब[1] गुणों का उदय जिसके ऐसे भगवान् मन्द मन्द हंसे। गुणों को परस्पर मिला देने से नौ भेद हो जाते हैं और नहीं मिलाने पर एक भेद रहता है 'एकधा दशधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्' एक ही चन्द्रमा जल भेद से नाना प्रतीत होता है इसी प्रकार भगवान् एवं भगवान् के गुण अनेक प्रकार के ज्ञात होते हैं। उक्त श्रुति का अभिप्राय यह है कि एक ही भगवान् नाना बनता है। उसकी लीला भी ऐसी ही है। यद्यपि 'गुस्तुतौ' धातु के ह्रस्व उकारान्त होने से परिगूत यह नहीं बन सकता। परन्तु कवि कल्पद्रुम में इसे दीर्घान्त भी बताया है। वह स्वतः दीर्घ है। इसलिए इसे छान्दस दीर्घ नहीं मानना। भगवान् मुझे मोहित कर रहे हैं। ऐसा भी ज्ञान कुन्ती को नहीं हो इसके लिए 'मन्दं जहास' कहा है। यद्यपि भगवान् वैकुण्ठ निवासी हैं तो भी सम्प्रति रक्षार्थ पृथ्वी पर पधारे हैं अथवा 'मोहयन्निव' का तात्पर्य यह है कि जय विजय की कुछ भी इच्छा रही हो। परन्तु भगवान् ने तो उन्हें स्वविचारित ही फल दिया। अर्थात् भगवान् को उनका गिराना अभीष्ट था वही किया। इसी प्रकार यहां कुन्ती ने भगवान् के अद्भुत कर्म निरूपण किये परन्तु उसे भगवान् ने ज्ञान न देकर मोह उत्पन्न किया। प्रभु अपने स्वरूप से भक्तों को कृतार्थ करते हैं और अपनी माया से मोहित करते हैं ॥४३॥

**आभास**—अन्तःकृतिमुक्त्वा बहिःकृतिमाह—

**आभासार्थ**—भगवान् ने भीतर मोह पैदा कर आन्तर कार्य किया यह कहकर बाहर का कार्य क्या किया सो कहते हैं—

श्लोक—**तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् ।**
**स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन्प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥४४॥**

---

१ प्रकाश भगवान् के गुण इतने ही हैं यह बात न होने से उनकी सम्पूर्ण गुणों की स्तुति कैसे कर सकती है तो ऐसी स्थिति में अखिल पद व्यर्थ होता है इस पर कहते हैं कि 'खिल' अर्थात् न्यून। अखिल अर्थात् अन्यून। तात्पर्य यह है कि भगवद्गुणों में स्वतः न्यूनता नहीं है। केवल उनके स्फुरण न होने से न्यूनता की प्रतीति होती है और स्फुरण होने पर न्यूनता की प्रतीति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि कुन्ती को जितने भगवान् के गुण स्फुरित हुए उन सबको उसने कहा। इसलिए कुन्ती की बुद्धि से अखिलत्व कहा गया।

**श्लोकार्थ**— कुन्ती ने 'त्वयि मेऽनन्य विषया' से जो प्रार्थना की वह सिद्ध होगी। ऐसा भगवान् ने कहा और रथ के स्थान से पुनः हस्तिनापुर में प्रवेश किया और कुन्ती सुभद्रा प्रमुख स्त्रियों से पूछकर द्वारका की ओर जाने वाले भगवान् को युधिष्ठिर ने कुछ काल यहीं विराजिये ऐसा प्रेमपूर्वक कहकर जाने से रोका ।।४४।।

**सुबोधिनी—तां बाढमिति** । तां कुन्तीं प्रार्थनां वा । बाढमित्यङ्गीकारे वचनम् । यत्त्वया कर्त्तव्यं वक्तव्यं वा तन्ममाऽपि सम्मतम् । न तु मया अपूर्वं किञ्चित्कर्त्तव्यमित्यर्थः । इत्येवं प्रकारेणोपामन्त्र्य, पूर्वगमने शकुनाभावमिव लक्षयित्वा पुनर्हस्तिनापुरं प्रविश्य, तत्रत्याः स्त्रिय आमन्त्र्य, चकारादन्यान्, द्वारकां यास्यन् भगवदिच्छया प्राकृतप्रेमोद्गमाद्विस्मृत्य माहात्म्यं, सम्बन्धस्नेहाद्युधिष्ठिरेण गमनान्निवारितः ।।४४।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में 'ताम्' पद से कुन्ती अथवा उसकी प्रार्थना ली गई है। अर्थात् भगवान् ने कुन्ती से कहा कि ठीक है। अथवा प्रार्थना ठीक है ऐसा कहा। जो तू करती है अथवा कहती है वह मुझे भी सम्मत है। मुझे अपूर्व कुछ नहीं करना है। इस प्रकार कहकर पहले जाने में कुन्ती के रुकावट करने से भगवान् ने समझा कि शकुन ठीक नहीं है। अतः पुनः हस्तिनापुर में प्रवेश किया। अब जब द्वारका जाने लगे तो वहां की स्त्रियों से तथा औरों से अनुमति प्राप्त कर द्वारका पधारने वाले भगवान् को भगवान् की इच्छा से लौकिक प्रेम के उद्गत होने से भगवान् के माहात्म्य को भूलकर सम्बन्ध के स्नेह से युधिष्ठिर ने जाने से रोका। ४४।।

**आभास**—इयं ह्यद्भुतलीला भगवतो, मुक्तस्य बन्धो बद्धस्य मोक्ष इति । अतो युधिष्ठिरस्य मोहं प्रपञ्चयति सप्तभिः । व्यसनानां तथात्वात् । **स्वस्मिन्यदेव करण-मुत्तमस्याऽधमस्य वा । तदेव मोहः कृष्णे तु ज्ञानमित्येष निश्चयः ।**

**आभासार्थ**—यह भगवान् की अद्भुत लीला है कि जुआ आदि व्यसन से मुक्त हुए युधिष्ठिर को शोक रूप बन्धन करा रहे हैं और बद्ध का मोक्ष कर रहे हैं। मुक्त हुए युधिष्ठिर का सात श्लोकों से मोह का निरूपण कर रहे हैं। द्यूत (जूआ), मांस, मदिरा, वेश्या, पाप से कमाई हुई सम्पत्ति, चोरी, परस्त्री सेवन ये सात व्यसन हैं। इसलिए सात श्लोकों से युधिष्ठिर का मोह कहते हैं। जब ही उत्तम अथवा अधम कार्य अपने लिए करता है तभी उसे मोह होता है। कृष्ण के लिए करने पर ज्ञान होता है मोह नहीं होता। यह निश्चय है। युधिष्ठिर के लिए कहा है कि 'यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञाति द्रोह जिहासया अर्थात् ज्ञाति द्रोह मिटाने की इच्छा से वह अश्वमेघ यज्ञ करना चाहता था। यहां युधिष्ठिर का अपना प्रयोजन बताया गया है इसलिए उसे मोह हुआ।

श्लोक —**व्यासाद्यै रीश्वरेहाऽज्ञैः कृष्णेनाऽद्भुतकर्मणा ।**
**प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाऽबुध्यत शुचार्ऽपितः ।।४५।।**

**श्लोकार्थ**—ईश्वर की चेष्टा न जानने वाले व्यास आदि ने तथा अद्भुतकर्मा कृष्ण ने इतिहास के द्वारा युधिष्ठिर को समझाया तो भी वह नहीं समझा। प्रत्युत अधिक शोकग्रस्त हुआ ।।४५।।

**सुबोधिनी**— **व्यासाद्यै** रिति । ननु मोहोऽधिकारिणः प्रमाणं निवर्तते । तत्र युधिष्ठिरोऽधिकारी **अ यथा अग्रेऽपि ज्ञानानुदयः** स्यात् । प्रमाणं वेदाः । वक्तारो व्यासनारदादयः । **तैर्बोध्यमान**स्यापि ज्ञानं नोदेत । भीष्ममुखादेवायं बोधनीय इति भगवदिच्छा । अतो योगजधर्मेण ज्ञानशक्त्या वा न भगवदिच्छा ज्ञायते । इच्छाजिज्ञासायां तु चित्तस्य भगवत्परत्वे विषयविस्मरणान्निमित्ताभावे जिज्ञासा नश्येदतः सर्वज्ञा अपि सत्त्वव्यवधानभगवदवताराश्च भगवदिच्छां न जानन्तीत्याह— **ईश्वरेहाऽज्ञै**रिति । भगवतापि बोधितो नाऽबुद्धचत । तत्र हेतुः- **अद्भुतकर्मणेति** । यथा सन्ध्यर्थं गतः सर्वसमर्थो विग्रहं कृत्वा आगत एवं बोधनार्थं वाक्यानि वदन्नबोधं सम्पादितवानित्यर्थः । इतिहासै पुरावृत्तकथनैः । न च तेषां वाक्यानामबोधकत्वम् । तत्राऽऽह - **प्रबोधितोऽपीति** । प्रबोधो दूरे प्रत्युत शोकेनार्पितः समर्पितः । भक्षित इत्यर्थः ।।४५।।

**व्याख्यार्थ**— शङ्का करते हैं कि अधिकारी का मोह प्रमाण से निवृत्त हो सकता है। युधिष्ठिर अधिकारी है। यदि अधिकारी न होता तो आगे भी ज्ञान न होता। प्रमाण वेद है। वक्ता व्यास, नारद आदि है। उनके समझाने पर भी युधिष्ठिर को ज्ञान न हुआ। भगवान् की इच्छा थी कि भीष्मजी के मुख से ही इसे समझना है इसलिए व्यास नारदादि के समझाने पर भी वह न समझा। यदि कहें कि व्यास नारद आदि यह जानते थे कि भीष्मजी से ही यह समझेगा ऐसी भगवदिच्छा है तो स्वयं उनने समझाने का प्रयत्न क्यों किया इस आशंका का उत्तर देते हैं कि योग से उत्पन्न होने वाले धर्म से अथवा ज्ञान शक्ति से भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए व्यास नारद आदि को भगवदिच्छा का ज्ञान नहीं हुआ। भगवान् की इच्छा को जानने के लिए जब हो चित्त भगवत्परायण होता है तो लौकिक विषयों का विस्मरण होने से कि विषयक भगवान् की इच्छा है यह जिज्ञासा नहीं रहती। अतः सर्वज्ञ ऋषि भी तथा सत्त्व गुण का व्यवधान रख भगवदवतार रूप में आये। व्यास आदि भगवान् की इच्छा को नहीं जानते इसी बात को 'ईश्वरेहाज्ञैः' से कहा है अर्थात् वे भगवान् की चेष्टा को नहीं जानते। युधिष्ठिर को भगवान् ने समझाया। परन्तु वह न समझा। उसमें कारण यह है कि भगवान् अद्भुतकर्मा है। जैसे कौरव पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए गये और सर्वसमर्थ होने से उस कार्य को कर भी सकते थे परन्तु अद्भुतकर्मा होने से विग्रह करा करके आये। इसी प्रकार युधिष्ठिर को समझाने के वाक्य कह रहे हैं किन्तु मोह (अज्ञान) पैदा कर रहे हैं। इतिहास के द्वारा उसे समझाया भी तो भी न समझा। उनके वाक्य से ज्ञान न हो यह बात नहीं थी क्योंकि उसे अच्छे रूप में समझाया। उसका समझना तो दूर रहा। किन्तु जैसे-जैसे उसे समझाया गया वैसे-वैसे उसका शोक बढ़ता गया। अर्थात् वह समझाने पर अधिक शोक मग्न हुआ। ४५।।

**आभास**—अत एव शोकव्याप्तस्य वाक्यमाह—

**आभासार्थ**—इसलिए शोक व्याप्त युधिष्ठिर के वाक्य कहते हैं—

श्लोक—**आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन्सुहृदां वधम् ।**
**प्राकृतेनाऽऽत्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ।।४६।।**

**श्लोकार्थ**—हे ब्राह्मणों ! देहात्म बुद्धि से धर्मपुत्र राजा **युधिष्ठिर अपने** सम्बन्धियों के वध का चिन्तन करता हुआ स्नेह **और** मोह से अधीन होकर **बोला** ।।४६।।

**सुबोधिनी** - **आहेति** । **राजा** रजोगुणव्याप्तः । **धर्मसुतः** प्रार्थनया धर्माज्जातः । बहिर्मुखं धर्ममुररीकृतवान् । अत एव सुहृदां वधं चिन्तयन् पूर्वकृतं शोचति । अन्तःकरणमपि समोचीनं भगवता अपहृतमित्यभिप्रायेणाऽऽह –**प्राकृतेनेति** । देहात्मबुद्ध्या । **विप्रा इति सम्बोधनं भगवतो-**ऽद्भुतकर्मत्वभावनार्थम् । स्नेहो मृतेषु । मोहो जोवत्सु ।।४६।।

**व्याख्यार्थ**—राजा पद का यहां तात्पर्य यह है कि राजा रजोगुण व्याप्त होता है । 'धर्मसुत' का अर्थ है प्रार्थना से धर्म से उत्पन्न हुए । लौकिक शोक रखना बहिर्मुख धर्म है । उसे युधिष्ठिर ने स्वीकार किया । अतएव अपने सम्बन्धियों के वध का विचार करता हुआ पूर्व में किये हुए कार्य का शोक करता है । उसकी अन्तःकरण की समीचीनता को भी भगवान् ने अपहरण की । यही कहते हैं कि 'प्राकृतेन' अर्थात् देह में आत्म बुद्धि करने से उसका अन्तःकरण ठीक नहीं रहा । 'विप्राः' यह सम्बोधन यह बताता है कि जैसे तुम विशेष रूप से मनोरथ पूर्ति करते हो ऐसे ही भगवान् भी नहीं होने के कार्य कर देते हैं । अतः भगवान् अद्भुतकर्मा हैं । ऐसी भावना करनी चाहिये । अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सूतजी ने कहा कि हे शौनक आदि ऋषियों ! तुम ब्राह्मण हो इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा हैं यह जानते हो अतः ऐसी भावना करनी चाहिये । युधिष्ठिर का मरे हुओं में स्नेह है और जीवित रहे हुए व्यक्तियों में मोह है । यह 'स्नेहमोहवशंगतः' की व्याख्या है । तात्पर्य यह है कि स्नेह और मोह के परवश हुआ युधिष्ठिर इस प्रकार बोला ।।४६।।

**आभास**—विपरीतबुद्धिं विस्तारयति—

**आभासार्थ**—राजा युधिष्ठिर की विपरीत बुद्धि हुई इसे विस्तार से कहते हैं—

श्लोक—**अहो मे पश्यताऽज्ञानं हृत्प्ररूढं दुरात्मनः ।**
**पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ।।४७।।**

**श्लोकार्थ**—आश्चर्य की बात है कि दुष्ट चित्त वाले मेरे हृदय में अंकुरित हुए अज्ञान को देखो । मैंने पराये (कुत्ते, सियार आदि के) भक्ष्य इस देह के लिए मेरी बहुत सी अक्षौहिणी सेनाएं मार दी ।।४७।।

**सुबोधिनी** - **अहो इति** देहोपभोगार्थं महतोऽन्यायस्य करणमज्ञानजन्यम् । हृदि प्ररूढम् । नाऽस्य प्रतिघातः शक्यो जातः । तत्र हेतुरन्तःकरणाशुद्धिः । तदेवाऽज्ञ नमाह –**पारक्यस्येति** ।

श्वसृगालभक्ष्यस्य । **अक्षौहिणी**: । अक्षौहिण्यः । मे मदीया हता इत्यज्ञानम् । वस्तुतस्तु भगवता भूभारहरणार्थं लोलया वा हता ।।४७।।

**व्याख्यार्थ**—देह के उपभोग के लिए बड़ा अन्याय करना अज्ञान है । जो मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ है । इसका प्रतीकार नहीं हो सकता । इसका कारण मेरी अन्तःकरण की अशुद्धि है । युधिष्ठिर अपने में पैदा हुए अज्ञान को कहता है कि श्व (कुत्ते) श्रृगाल से खाने योग्य परकीय इस मेरे शरीर के लिए मैंने अपनी अनेक अक्षौहिणी सेनाएं मार डालो । यह युधिष्ठिर का अज्ञान है । वास्तव में तो भगवान् ने पृथ्वी भार मिटाने के लिए लोला से हो उन्हें मार दिया है ।।४७।।

**आभास**—अनेन इहलोको गत इत्युक्तम् । परलोकोऽपि नास्तीत्याह—

**आभासार्थ**—इससे यह कहा कि यह लोक मेरा बिगड़ गया है और परलोक भी बिगड़ गया यही अब कहता है—

श्लोक—**बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः ।**
**न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ।।४८।।**

**श्लोकार्थ**—मैं बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, पिता, भाई और गुरुओं से द्रोह करने वाला हूँ । इसलिए लाखों करोड़ों वर्ष तक भी मेरा नरक से छुटकारा नहीं होगा ।।४८।।

**सुबोधिनी**—**बालेति** । **बाला** अभिमन्युप्रभृतयः । **द्विजा** द्रोणादयः । **सुहृदः** शल्यादयः । **मित्रं** कर्णादयः । **पितरो** भीष्मादयः । **भ्रातरो** दुर्योधनादयः । त एव वा गुरवः । अन्ये च । एकस्याऽपि महापातकस्य बुद्धिपूर्वकं कृतस्य न प्रायश्चित्तम् । तस्मान्नरके वासो यावदाभूतसम्प्लवमित्यर्थः।४८।

**व्याख्यार्थ**—बालक अभिमन्यु आदि, द्विज द्रोणाचार्य आदि । सम्बन्धी शल्य आदि मित्र कर्ण आदि, पितर भीष्म आदि, भाई दुर्योधन आदि, ये ही गुरुरूप में समझने लायक थे । और भी अन्य बहुत से थे जिनका मुझे सम्मान करना चाहिये था उन सबके साथ मैंने द्रोह किया । बताये गये इनमें यदि ज्ञानपूर्वक एक को भी मार डालें तो महापातक होता है और उसका प्रायश्चित्त नहीं है । मैंने तो इन्हें मारकर अनेक महापातक किये हैं इसलिए प्रायश्चित्त से मेरी शुद्धि हो ही नहीं सकती । इसलिए प्रलय पर्यन्त मुझे नरक में ही रहना पड़ेगा ।।४८।।

श्लोक—**नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् ।**
**इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ।।४९।।**

**श्लोकार्थ**—प्रजा पालन करने वाले राजा को धर्मयुद्ध में शत्रुओं को मारना पाप नहीं है यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता ।।४९।।

**सुबोधिनी**- ननु युध्यमानानां वधः को वा दोषाय? सत्यम्। "**श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञामि**" ति प्रजारक्षार्थं शत्रुवधश्चेत्तदा न दोषः। प्रकृते तु दुर्योधनेन प्रजापालने क्रियमाण एव मया स्वलोभार्थमेव सर्वे हताः। अतो राज्ञो धर्मयुद्धे द्विषां वधः प्रजाभर्त्तुर्नैनः न दोष इति नीति-वचनं मां बोधयितुं न शक्नोतीत्यर्थः। ४६॥

**व्याख्यार्थ**—शंका होती है कि जो लड़ने वाले हैं इनके मारने में कोई दोष नहीं है तो कहते हैं कि ठीक है किन्तु 'श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञाम्' प्रजा का पालन करना ही राजाओं के लिए श्रेय रूप है इस कथन से प्रजा की रक्षा के लिए कौरवों का वध होता तो कोई दोष नहीं था। परन्तु प्रकृत में तो दुर्योधन प्रजा का पालन कर रहा था और मैंने अपने लोभ के लिए ही उन सबको मारा अतः प्रजा के पालन करने वाले राजा को धर्मयुद्ध में शत्रुओं को मारना पाप नहीं है। यह नीति वचन मुझे नहीं समझा सकता। ४६॥

**आभास**— ननु प्रायश्चित्तं क्रियतां किं शोकेन? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**– शंका करते हैं कि इस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित कर लिया जाय शोक करने की क्या आवश्यकता है इसके समाधान में कहता है कि –

श्लोक— **स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः।**
**कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाऽहं कल्पो व्यपोहितुम्॥५०॥**

**श्लोकार्थ**—मेरे द्वारा जिनके पति मारे गये वे स्त्रियां प्रतिदिन मर रही हैं। यह द्रोह जो हो रहा है वह गृहस्थाश्रम से होने वाले यज्ञादि से नहीं मिटाया जा सकता॥५०॥

**सुबोधिनी-स्त्रीणामिति**। पापस्य हि रोगवत्प्रतीकारः। स च प्रत्यग्रोत्पन्नस्य प्रथमं कर्त्तव्यः। पश्चात्पुरातनानाम्। प्रत्यहं च सहस्रं स्त्रियो मद्धतान् भर्तॄन् गृहीत्वा शोचन्त्यो म्रियन्ते। स द्रोह इहैव महानुपस्थितः। नन्वस्यैव तर्हि प्रायश्चित्तं क्रियताम्? तत्राऽऽह **कर्मभिरिति**। अस्त्यत्र प्रायश्चित्त सर्वपरित्यागः शरीरपरित्यागो वा। न तु गृहमेधीयैः कर्मभिर्द्रव्यमयैर्भूतहिंसात्मकैः।५०।

**व्याख्यार्थ**- रोग की तरह पाप का प्रतीकार किया जाता है। वह प्रतीकार नवीन उत्पन्न हुए का प्रथम करना चाहिये। तदनन्तर पुराने पापों का प्रतीकार करना चाहिये। प्रतिदिन हजारों स्त्रियां मेरे से मारे गये अपने पतियों को लेकर शोक करती हुई मर रही हैं। वह द्रोह यहां ही बड़े रूप में उपस्थित हो गया है। यदि कहें कि इस द्रोह का प्रायश्चित्त कर लिया जाय तो कहते हैं कि इसका प्रायश्चित्त सर्व परित्याग एवं शरीर परित्याग ही है। गृहस्थ में होने वाले जिनमें प्राणियों की हिंसा होती है। ऐसे यज्ञ प्रायश्चित्त रूप नहीं हो सकते। अतः यज्ञादि द्वारा मैं इस पाप से मुक्त नहीं हो सकता। इसका प्रायश्चित्त तो उपर्युक्त ही है। ५०॥

**आभास**—यद्यपि प्रायश्चित्तत्वेन वेदेन बोध्यते तथापि मम नाऽधिकारः। तथा-

विघसाधनाऽभावात् । अयथाविधसाधनैस्त्वजीर्णे भोजनवत्सर्वनाशक इति न तादृशयज्ञेन निस्तार इति सदृष्टान्तमाह—

**आभासार्थ**—यद्यपि ऐसे दोषों का वेद ने प्रायश्चित्त बताया है परन्तु उसमें मेरा अधिकार नहीं है। क्योंकि ठीक यज्ञ के उपयोगी साधन नहीं है। साधनों के ठीक न होने पर अजीर्ण में भोजन की तरह वह यज्ञ सर्वनाशक हो जाता है। इसलिए वैसे यज्ञ से मेरा निस्तार नहीं है। यह दृष्टान्त-पूर्वक कहता है—

श्लोक—**यथा पंकेन पंकाम्भः सुरया वा सुराकृतम् ।**
**भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥५१॥**

**श्लोकार्थ**—जैसे कीचड़ से गंदला जल साफ नहीं होता और मदिरा का बिन्दु मदिरा से पवित्र नहीं हो सकता वैसे ही हिंसा प्रधान यज्ञों से एक भी प्राणी की हत्या का मार्जन नहीं हो सकता ॥५१॥

**सुबोधिनी**—**यथेति** । कर्दमजलक्षालनार्थं यथा पङ्कलेपो भित्त्यादिलेपनवदधिकमृत्सम्पादको भवति । अस्य दृष्टान्तस्य न परलोकनाशकत्वमित्याशङ्क्य दृष्टान्तान्तरमाह— **सुरया वेति** । यथा सुराबिन्दुस्पर्शे महत्या सुरया प्रक्षालनं परलोकनाशकं भवति । एवमेवैकामपि स्त्रीहत्यां बहुभिरपि यज्ञैः पशुमारकैर्दूरीकर्तुं कोऽपि नाऽर्हतीत्यर्थः । वस्तुतः पूर्वकाण्डविचारकैर्निर्मथितं ज्ञानं मोहज्ञान-मिति निरूपितम् । एवं भगवतोऽद्भुतकर्मत्वं सिद्धम् ॥५१॥

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥**

**व्याख्यार्थ**—कीचड़ के जल के धोने के लिए जैसे कीचड़ का लेप हो तो भीत आदि पर लेपन की तरह अधिक मिट्टी बढ़ाने वाला ही होगा। यह दृष्टान्त परलोक नाशक रूप में नहीं दिया गया। इसलिए युधिष्ठिर परलोक को नाश करने वाला दूसरा दृष्टान्त कहता है 'सुरया वा' जैसे मदिरा के बिन्दु के स्पर्श होने पर अधिक मदिरा से धोना परलोक का नाश करने वाला है। इसी प्रकार एक भी स्त्री हत्या जिनमें पशु मारे जाते हैं ऐसे अनेक यज्ञों से दूर नहीं की जा सकती। वास्तव में वेद के पूर्वकाण्ड के विचार करने वालों ने जो ज्ञान बताया है वह मोह करने वाला ज्ञान है यह निरूपण किया गया है। इस प्रकार भगवान् का अद्भुत कर्मत्व सिद्ध हुआ। अर्थात् भगवान् जैसे जैसे उसे समझा रहे हैं वैसे वैसे उसका शोक बढ़ ही रहा है। प्रत्यक्ष में यह दीख रहा है कि समझा रहे हैं परन्तु उसका फल विपरीत ही हो रहा है। इसलिए भगवान् अद्भुतकर्मा हैं यह सिद्ध हुआ ॥५१॥

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का अष्टम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# ● श्रीमद् भागवत संहिता ●

## श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका

हिन्दी अनुवादात्मक व्याख्या सहित

### प्रथम स्कन्ध–अधिकार लीला

### तृतीय प्रकरण–उत्तमाधिकार

*अध्याय—९*

### ❀ भक्तराज भीष्म पितामह को दर्शन और उनकी स्तुति ❀

कारिका—लोकप्रतीत्या कृष्णस्य यदा कार्यसमापनम् ।
तदा भागवतश्रोतुर्देहरक्षा निरूप्यते ॥१॥
ऐहिकाऽऽमुष्मिकफले भक्तानां स्थानभार्ययोः ।
सर्वेष्टापूरणं चैव भगवत्कार्यसंग्रहः ॥२॥
श्रीमद्भागवतश्रोतृ रक्षापूर्वक्रियाऽखिला ।
निरूपिता ततो मध्ये भगवत्कार्यवर्णनम् ॥३॥

कारिकार्थ—अष्टम अध्याय से लेकर एकादश अध्याय तक परीक्षित राजा की रक्षा नहीं करने में तथा बारहवें अध्याय में उस परीक्षित राजा की रक्षा के निरूपण करने में हेतु कहते हैं। लोक प्रतीति से जब कृष्ण का कार्य समाप्त हुआ अर्थात् भगवान् का कार्य तो नित्य है सदा होता रहता है किन्तु लोगों को यह प्रतीति हुई कि भगवत्कार्य समाप्त हुआ। तब भागवत श्रोता परीक्षित की देह रक्षा का निरूपण किया गया। अर्थात् हस्तिनापुर में भगवान् के सब कार्य समाप्त होने पर बारहवें अध्याय में परीक्षित की देहरक्षा का निरूपण किया गया है। बीच में भक्तों को ऐहिक

पारलौकिक फल दिया है और स्थान एव स्त्रियों की सम्पूर्ण इष्ट पूर्ति की । यह भगवान् ने जो कार्य किये उनका संग्रह है । अष्टम अध्याय में श्रीमद्भागवत के श्रोता परीक्षित की रक्षा के पूर्व में जो सम्पूर्ण क्रिया होनी चाहिये उसका निरूपण हुआ । बीच में अर्थात् नवम से लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त भगवान् के कार्य का निरूपण है ।।१—३।।

**आभास**—एवं परीक्षितः शरीररक्षाप्रस्तावे रक्षापूर्वकार्यं मायावेष्टनमुक्त्वा इतरकार्यानिरूपणे ऐकाग्र्येण रक्षाऽसम्भवान्मध्ये भगवत्कार्यं निरूपणीयम्। तच्च कार्यं चतुर्विधम्। सर्वभक्तानामैहिकसर्वफलदानपूर्वकं भक्तिदानमैहिकाऽऽमुष्मिकयोरेकसम्बन्धाय निर्वेदश्च प्रथमम्। ज्ञानसन्देशपूर्वकपरमभक्तिप्रादुर्भावेन मुक्तिर्द्वितोयम्। सर्वभक्तचित्तसमाधानपूर्वकस्वस्थानप्राप्तिस्तृतीयम्। तत्रत्यानां सर्वसुखदानोपसंहारश्चतुर्थम्। तत्र मुक्तिदानमेवोत्तमतत्कार्यमैहिकफलदानादि तत्पूर्वाङ्गमिति निश्चित्य रक्षापूर्वाङ्गेन सहैकस्मिन्नध्यायेऽष्टमे निरूपितम्। नवमे द्वितीयं कार्यं निरूप्यते।

**आभासार्थ**—इस प्रकार परीक्षित की शरीर रक्षा के प्रसङ्ग में रक्षा का पूर्वकार्य परीक्षित को माया से वेष्टित करना कहकर भगवान् के दूसरे कार्य यदि निरूपित न हों तो एकान्ततः उस परीक्षित की रक्षा नहीं हो सकती इसलिए अष्टम अध्याय में और द्वादश अध्याय के बीच के नवम से एकादश तक तीन अध्याय हैं उनमें भगवान् के कार्य का निरूपण है । भगवान् का कार्य चार प्रकार का है । सब भक्तों को ऐहिक सम्पूर्ण फल देते हुए भक्ति देना और ऐहिक और पारलौकिक कार्यों का एक सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रथम युधिष्ठिर के निर्वेद (वैराग्य) का वर्णन अष्टम अध्याय में है । नवम अध्याय मे भीष्म द्वारा ज्ञान का सन्देश देना तथा उससे भीष्मजी में परमभक्ति प्रादुर्भूत होने से मुक्ति देना भगवान का द्वितीय कार्य है। सब भक्तों के चित्त का समाधान कर अपने स्थान द्वारका में पहुँचना यह भगवान् का तृतीय कार्य है । जो कि दशम अध्याय में निरूपित है । द्वारका वासियों को सब सुख देना भगवान् का चतुर्थ कार्य है । यह एकादश अध्याय में निरूपित है । भीष्मजी को मुक्ति देना ही उत्तम कार्य है और ऐहिक फल देना उसका पूर्वाङ्गभूत है । ऐसा निश्चय कर रक्षा पूर्वक ऐहिक फल दान देना अष्टम अध्याय में ही निरूपित हुआ है। नवम अध्याय में दूसरा कार्य जो युधिष्ठिर को भीष्मजी के द्वारा ज्ञान दिलाना और भीष्मजी को परमभक्ति देकर उन्हें मुक्ति देना इस कार्य का निरूपण किया जाता है ।

कारिका—**नवमे स्वस्य भिन्नत्वं प्राप्तस्याऽभावसंशये ।**
**स्वच्छन्दमृत्योस्तच्छान्त्यै मुक्तिर्भीष्मस्य वर्ण्यते ।।**
**पुरस्कृतोऽघमुत्सृज्य जह्याद्देहमितीरितः ।**
**राज्ञो मोहप्रसङ्गाय निवृत्तिश्चोपदेशतः ।।**

**भक्तोऽपि भगवद्द्रोहमाचरन्नरकं व्रजेत् ।**
**इति दर्शयितुं भीष्मशरपञ्जरसंस्थितिः ।।**
**तस्याऽप्युद्धारकः कृष्णो निजदत्तधिया स्तुतः ।**
**इति स्तुतिस्तथाऽप्यस्य तादृग्रूपेण वर्ण्यते ।।**

**कारिकार्थ**—शंका करते हैं कि ऐहिक पारलौकिक फलों के एक सम्बन्ध के लिए पाण्डवों की मुक्ति का ही निरूपण करना चाहिये था सो न कर भीष्मजी की मुक्ति के कहने का कौनसा प्रसङ्ग है इस पर कहते हैं कि 'नवमे स्वस्य भिन्नत्वम्' अर्थात् उद्योग पर्व में भगवान् के वाक्य हैं कि **'यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि' मेरे भक्त जो** पाण्डव हैं उनसे जो द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है । इस वाक्य के अनुसार पाण्डवों से द्वेष करने से स्वकीय से भिन्न हुए अर्थात् अभगवदीय हुए भीष्म को मुक्ति न होगी यह भगवान् को संशय था । उस संशय को मिटाने के लिए अपने अधीन मृत्यु वाले भीष्मजी की मुक्ति का वर्णन किया जाता है । कारिका गत स्वशब्द से स्वकीय अर्थ लिया गया है । अतएव उपर्युक्त अर्थ हुआ । भीष्मजी के पास भगवान् इसलिए गये कि भीष्मजी के भक्त द्रोह रूप पाप तथा भगवदपराध दूर हो जाय इसलिए भगवान् उनके पास पधारे । राजा युधिष्ठिर को जो मोह हो गया है उसकी निवृत्ति भीष्मजी के उपदेश से करनी है । यदि युधिष्ठिर का क्लेश नहीं मिटाते हैं तो यह क्लेश मरण पर्यन्त रहेगा जिससे राजा की भी 'अन्ते मतिः सागतिः' इस न्याय से उसकी भी मुक्ति नहीं होती । इसलिए भी भीष्मजी के पास जाना आवश्यक था ।

भक्त भी भगवद्द्रोह करता है तो नरकगामी होता है इसी बात को बताने के लिए भीष्मजी का बाण-शय्या पर मरण कहा गया । तात्पर्य यह है कि पृथ्वी पर मरने पर मुक्ति होती है और भूमि का स्पर्श नहीं करते हुए मरने पर मुक्ति नहीं होती । इसलिए भगवान् से दी गई बुद्धि से स्तुत हुए श्रीकृष्ण भीष्म के भी उद्धारक बने । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण मुझ जैसे आततायी के भी उद्धारक हैं इस रूप में भीष्मजी ने भगवान् की स्तुति की है ।

**आभास**—सङ्गतिमाह—

**आभासार्थ** अब सङ्गति कहते हैं—

**सूत उवाच—**श्लोक—**इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया ।**
**ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत् ।।१।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी बोले—इस प्रकार प्रजाद्रोह से डरे हुए युधिष्ठिर भीष्मजी से सम्पूर्ण धर्मों को जानने की इच्छा से कुरुक्षेत्र में गये । जहां बाण-शय्या पर भीष्मजी पड़े हुए थे ।।१।।

**सुबोधिनी—इति भीत इति ।** जातेऽपि प्रजाद्रोहे किमस्मत्कृतं न वा, अधर्मजनकत्वमस्ति न वेति सन्देहात्प्रजाद्रोहस्य भयहेतुत्वम् । अत एव सर्वज्ञस्यैव सर्वसन्देहनिवृत्तिरिति सर्वतत्त्वज्ञानार्थं सर्वेषां धर्माणां वेदितुमिच्छया । **ततो** हस्तिनापुरात् । **विनशनं** कुरुक्षेत्रं **प्रागात्** । **तत्रापि यत्र देवव्रतोऽपतत्** । देववद्व्रतं यस्य । भगवतो यथा प्रतिज्ञा ब्रह्मचर्यादि । सोऽपि भगवतोऽद्भुतचरित्रत्वाद-पतत् ।।१।।

**व्याख्यार्थ**—सूतजी कहते हैं कि प्रजाद्रोह होने पर भी वास्तव में वह प्रजाद्रोह हमसे हुआ या नहीं और वह प्रजाद्रोह अधर्मजनक है या नहीं इस सन्देह से प्रजाद्रोह भय का कारण है ऐसा युधिष्ठिर मानता है । अतएव सब कुछ जान लेने पर ही सब सन्देह की निवृत्ति होती है । इससे सम्पूर्ण तत्वों के ज्ञान के लिए सर्व धर्मों के जानने की इच्छा से हस्तिनापुर से युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र गया । जहां देवव्रत (भीष्मजी) बाण-शय्या पर पड़े हुए थे । भीष्मजी देवव्रत इसलिए थे कि भगवान् की ब्रह्मचर्यादि के पालन की जैसी प्रतिज्ञा है, भीष्मजी की भी वैसी ही प्रतिज्ञा थी । क्योंकि वे देव (भगवान्) की तरह व्रत (नियम) वाले थे । ऐसे वे इस स्थिति में कभी नहीं गिर सकते । किन्तु भगवान् अद्भुत चरित्र हैं इसलिए भीष्मजी गिर गये ।।१।।

**आभास**—तदा भीष्मपुरस्कारार्थं सर्वे गता इत्याह—

**आभासार्थ**—तब भीष्मजी के पुरस्कार के लिए सब गये यह कहते हैं—

श्लोक—**तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः ।**
**अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ।।२।।**

**श्लोकार्थ**—हे विप्रो ! उस समय युधिष्ठिर के सब भाई अच्छे घोड़ों से युक्त स्वर्ण जटित रथों में बैठकर चले तथा व्यास धौम्य आदि ब्राह्मण भी उनके साथ हो लिये ।।२।।

**सुबोधिनी—तदा त इति ।** ये भ्रातरः प्रजाद्रोहादि कृतवन्तस्त इति । **सर्वे** अन्येऽपि । **विप्रा** अपि गताः । ते वेदव्यासपाण्डवकृतपुरोहितधौम्यादयः ।।२।।

**व्याख्यार्थ**—युधिष्ठिर के जो भाई थे। जिनने यह समझ रखा था कि हमने प्रजाद्रोह आदि पाप किये हैं। वे सब और दूसरे भी सभी तथा ब्राह्मण भी गये ब्राह्मणों में वेदव्यास और पाण्डवों के बनाये हुए पुरोहित धौम्य आदि मुख्य थे ।।२।।

**आभास**—भगवानपि मुक्तिदानार्थमवश्यगमनेऽपि युधिष्ठिरप्रियार्थं सहैव गत इत्याह—

**आभासार्थ**—भगवान् को भी भीष्मजी को मुक्ति देने के लिए वहां जाना आवश्यक था तो भी युधिष्ठिर को भी प्रिय लगे इसलिए उसके साथ ही गये यह कहते हैं—

श्लोक—**भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः ।**
**स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ।।३।।**

**श्लोकार्थ**—हे विप्रर्षे ! अर्जुन के सहित भगवान् भी एक रथ पर चढ़कर चले। उन सबसे परिवेष्टित युधिष्ठिर ऐसे शोभित हुए जैसे यक्षों से युक्त कुबेर ।।३।।

**सुबोधिनी—भगवानपीति । विप्रर्षे इति** सम्बोधनं भगवतोऽनुवृत्तिर्लीलात्वान्न दोषायेति ज्ञापनार्थम् । **रथेन सधनञ्जय इति** । गरुडध्वजमारुह्याऽर्जुनेन सारथिनाऽन्वगच्छदिति लक्ष्यते । तेषां भ्रात्रादीनां गमनेऽपि राज्ञो बहिरेव सुखं नाऽन्तरित्याह—**स तैरिति** । नृपत्वात्परं तैः रोचनम् । वस्तुतस्त्वन्तररोचनं सदृष्टान्तमाह । यथा गुह्यकैः सह कुबेरः । कुत्सितं वेरमक्षि यस्य । अनेन बहिः प्रकाशो महान् । अन्तस्त्वन्धतुल्यः । तथाऽयमपि शोकग्रस्त इत्यर्थः ।।३।।

**व्याख्यार्थ**—सूतजी ने शौनक के लिए विप्रर्ष सम्बोधन देकर यह बताया कि तुम ब्राह्मणों में ऋषि हो अतः तुम मेरी अपेक्षा महान् हो परन्तु महान् होते हुए भी आपने जैसे मेरा अनुसरण कर रहे हो उसी तरह भगवान् ने युधिष्ठिर का अनुवर्तन किया यह उनकी लीला थी। लीला में सब कुछ हो सकता है इसलिए भगवान् के बड़े होने पर भी युधिष्ठिर का अनुसरण करना दोष वह नहीं है। गरुड़ के चिन्ह वाली जिसकी ध्वजा है। ऐसे रथ पर बैठकर उस समय सारथि का कार्य करने वाले अर्जुन के साथ युधिष्ठिर पीछे गये। यह बात 'रथेन सधनञ्जयः' पदों से ज्ञात होती है क्योंकि सधनञ्जयः की व्युत्पत्ति यह है कि 'धनञ्जयेन सहितः स धनञ्जयः' धनञ्जयेन यह तृतीया अप्रधान में है। अर्जुन अप्रधान तभी कहा जायगा कि जब वह सारथि का काम करे। रथी प्रधान होता है और सारथि गौण होता है। युधिष्ठिर भाई आदि के साथ गया तो भी उसे बाहरी सुख है आन्तर सुख नहीं है। बाहरी सुख को लेकर ही राजा होने से उनके साथ वह शोभित हुआ यह कहा गया है। वास्तव में भीतर सुखी नहीं था यह दृष्टान्त सहित कहते हैं। जैसे गुह्यकों के साथ कुबेर शोभित होता है। कुबेर शब्द की व्युत्पत्ति यह है कि 'कुत्सितं वेरं यस्य स कुबेरः।' वेर का अर्थ है चक्षु अर्थात् ज्ञान चक्षु जिसके ठीक नहीं हैं। कुबेर के बाहर तो बहुत प्रकाश है अर्थात् बाह्य शोभा अधिक है भीतर अन्धे के समान है वैसे ही यह युधिष्ठिर भी बाह्य शोभा वाला है और भीतर शोकग्रस्त है ।।३।।

**आभास**—एवं सर्वैः सह गमनमुपपाद्य सम्भाषणव्यतिरेकेणैव दर्शनमात्रेण नमस्कारं कृतवन्त इत्याह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार सबके साथ युधिष्ठिर का जाना बताकर बिना बातचीत के ही दर्शन मात्र से ही पाण्डवों ने भीष्मजी को नमस्कार किया यही बात कहते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवाऽमरम् ।**
**प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥४॥**

**श्लोकार्थ**—पाण्डवों ने स्वर्ग से गिरे हुए देवता के समान पृथ्वी पर पड़े हुए भीष्मजी को देखकर अपने अनुगामियों और कृष्ण के सहित उन्हें प्रणाम किया ।४।

**सुबोधिनी**—**दृष्ट्वेति** । पतितस्याऽपि महती कान्तिरिति सदृष्टान्तमाह । भूमौ तस्य स्पर्श एवाऽयुक्तः किं पुनः पातः । तथा भीष्मस्य पराजय एवाऽशक्यः किं पुनरेवम्भावः । तादृशोऽपि देवो मनुष्याणां नमस्करणीयः । तथा भीष्मोऽपि भगवद्विरोधाचरणेऽपि नमस्करणीयः । यथा देवः स्वपदच्युतोऽपि अन्येषां भजनीयः । बुद्धयादीनां विद्यमानत्वात् । तथा भीष्मोऽपगतदेहोऽपि ज्ञानपूर्णत्वान्नमस्करणीय इत्यर्थः । **पाण्डवा इति** । भ्रात्रेयपुत्रत्वान्नमस्कारयोग्यता सूचिता । भीष्मोपदिश्यमानधर्मस्य सर्वेषां ग्रहणसिद्धयै समागतानां सर्वेषां नमनमिति—**सानुगा इति** । **आगत्य नमनं यत्तु लोकाद्भक्तस्तथा न चेत्** । **विपरीतत्वमापन्नः कथमेवं भवेदिति । सर्वैः सह नमस्कारस्ततो भगवता कृतः । चक्रिणेति पदं** घातकरूपज्ञापनार्थमद्भुतकर्मत्वाय ॥४॥

**व्याख्यार्थ**—पृथ्वी पर गिरे हुए भीष्मजी की बड़ी कान्ति है यह दृष्टान्त सहित कहते हैं। जैसे स्वर्ग से गिरे हुए देवता की महती कान्ति रहती है वैसे ही भीष्मजी की कान्ति थी । देवता को भूमि का स्पर्श करना ही युक्त नहीं है । क्योंकि देवता पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते तो उसका गिरना कैसे हो सकता है । वैसे ही भीष्मजी का पराजित करना हो अशक्य है तो फिर उनकी यह स्थिति कैसे हो सकती है । स्वर्ग से गिरा हुआ भी देवता मनुष्यों के लिए नमस्करणीय होता है वैसे ही भीष्मजी भी भगवान् से विरोध करने पर भी नमस्करणीय हुए । जैसे देवता अपने पद से च्युत होने पर भी दूसरों से सेव्य होता है क्योंकि उसमें देवता जैसी बुद्धि आदि विद्यमान होती है । वैसे ही देह की स्थिति बिगड़ने पर भी ज्ञानपूर्ण होने के कारण भीष्मजी नमस्करणीय हैं । पाण्डव भीष्मजी के भाई के पौत्र हैं इसलिए वे भीष्मजी को नमस्कार कर सकते हैं । भीष्मजी से उपदिष्ट होने वाला धर्म सबको समझने में आवे इसके लिये आये हुए सभी ने भीष्मजी को प्रणाम किया । यही बात 'सानुगाः' पद से कही है । भगवान् सहित सबने आकर भीष्मजी को प्रणाम किया । वह प्रणाम "भक्त प्रणम्य होता है ।" इस प्रकार की लोगों को शिक्षा देने के लिए किया है । यदि भक्त न हो, द्रोह करने वाला हो तो वह नमन करने योग्य नहीं होता । भक्त कैसा भी हो नमन योग्य होता है । यहां व्याख्यान में दी गई कारिका में जो 'लोकात्' यह पञ्चमी है । वह ल्यप् लोप में है अर्थात् लोकात् का अर्थ है लोक का आश्रय करके । तात्पर्य यह है कि लोग भी भक्त को प्रणाम करे इस लोक संग्रह के लिए भगवान् ने भीष्म को प्रणाम किया । श्लोक में 'चक्रिणः' पद है यह इस

बात को सूचित करता है कि चक्र लेकर आये हैं इसलिए भगवान् अवश्य मारेंगे यही भगवान् की अद्भुतकर्मता है कि प्रणाम भी करते हैं और भीष्मजी को मारना भी चाहते हैं ।।४।।

**आभास**—सर्वज्ञा ऋषयो भीष्मो गूढं तत्त्वं वक्ष्यतीति **समागता इत्याह**—

**आभासार्थ**—सर्वज्ञ ऋषियों ने सोचा कि भीष्मजी गूढ तत्त्व कहेंगे अतः वे आये यही कहते हैं—

श्लोक—**तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तमाः ।**
**राजर्षयश्च तत्राऽऽसन्द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ।।५।।**

**श्लोकार्थ**—उस समय वहां सभी ब्रह्मर्षि एवं अन्त्यन्त श्रेष्ठ देवर्षि और राजर्षि भरतवंश में श्रेष्ठ भीष्मजी को देखने के लिये आये ।।५।।

**सुबोधिनी**—**तत्रेति** । ब्रह्मर्षयो भृग्वादयः । देवर्षयो नारदादयः । राजर्षयो मन्वादयः । ते हि त्रिविधधर्ममन्त्रद्रष्टारः । सर्वथा देहेन्द्रियादिस्वास्थ्ये शुद्धो धर्मादिः स्फुरति नान्यथेति धर्मतत्त्वं ज्ञात्वा भीष्मे धर्मः परिनिष्ठितो न वेति द्रष्टुमागताः । "**दौष्यन्तिरत्यगान्मायामि**"ति भरतस्य मायापगमनाद्देहदृष्ट्या धर्मं न वक्ष्यति । तद्वंशोद्भवश्रेष्ठत्वात् । स्वार्थदर्शनाच्च भवति सन्देहः । अत एव ऋषीणां मतेषु बाधकविषयत्वम् ।।५।।

**व्याख्यार्थ**—ब्रह्मर्षि भृगु आदि हैं । देवर्षि नारद आदि हैं और राजर्षि मनु आदि हैं । वे तीन प्रकार के धर्म एवं तीन प्रकार के मन्त्रों के द्रष्टा हैं । क्योंकि वे ऋषि हैं । देह इन्द्रियादिकों के सर्वथा स्वस्थ होने पर शुद्ध धर्म आदि की स्फूर्ति होती है । अन्यथा नहीं । ऐसा धर्मतत्त्व है यह जानकर भीष्मजी के देहेन्द्रियादि स्वस्थ प्रतीत नहों होते हैं तो उनमें धर्म की स्थिति है या नहीं यह जानने के लिए ऋषिगण आये । 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' अर्थात् दुष्यन्त के पुत्र भरत ने माया का अतिक्रमण किया तो भीष्मजी भी उसी वंश में हैं । इसलिए माया सम्बन्ध का गन्ध न होने से देह को लेते हुए किसी धर्म को नहीं कहेंगे अर्थात् आत्म धर्म कह सकते हैं । दैहिक धर्म नहीं कहेंगे । क्योंकि भरतवंश में ये श्रेष्ठ हैं । ऋषियों को भीष्मजी में इसलिए सन्देह हुआ कि मृत्यु के समय में भगवान् में उनने मन लगाया इसलिए स्वार्थी है । यदि माया सम्बन्ध नहीं होता तो स्वार्थ भावना नहीं होती । स्वार्थ भावना उनमें देखी गई । इसलिए सन्देह हुआ । अतएव ऋषियों के मतों में दैहिक धर्म की मुख्यता बताने वाली युक्ति आदि भीष्मजी में रहेगी यह उन्होंने समझा ।।५।।

**आभास**—राजसादिविभेदेन एते भेदाः । तान् गणयति त्रिभिः । **सात्त्विकाः प्रथमं प्रोक्ता राजसास्तदनन्तरम् । तामसा दोषनिर्हारात्तुल्यास्ते राजभिर्मताः ।।**

**आभासार्थ**—नीचे गिनाये जाने वाले ऋषियों का जो भेद है वह राजस तामस एवं सात्त्विकता से है । उन भेदों को तीन श्लोकों से गिनाते हैं । निम्न श्लोकों में सात्त्विक ऋषियों को प्रथम कहा । तदनन्तर राजसों को कहा । दोषों के नहीं रहने से राजाओं के समान माने गये तामसों का पश्चात् निरूपण है ।

श्लोक—**पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः ।**
**बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ।।६।।**

**वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः ।**
**कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ।।७।।**

**अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः ।**
**शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ।।८।।**

**श्लोकार्थ**- पर्वत मुनि, नारदजी, महर्षि धौम्य, भगवान् व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज शिष्यों के सहित परशुराम, वसिष्ठ, इन्द्र प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन तथा और भी शुकदेव आदि शुद्ध चित्त महात्मा गण एवं शिष्यों के सहित कश्यप, बृहस्पति आदि मुनिगण वहां आये ।।६।।७।।८।।

**सुबोधिनी— पर्वत इति ।** न देवर्षित्वमात्रं भगवानित्युक्तम् । रेणुकासुत: परशुराम: । सोऽपि सशिष्य: । एते सप्त सात्विका देवर्षय: । वसिष्ठादयो दश राजसा ब्रह्मर्षयः । वस्तुतस्तु नवैव । अथेति भिन्नक्रमेण । सुदर्शनस्याऽग्रे कथनात् । सुदर्शनः । अन्ये च राजर्षिभेदा: ब्राह्मणा अपि तत्त्वेन निर्दिष्टाः । ब्रह्मरात: शुक: । तेषां तामसत्वादिदोषाभावमाह—**अमला इति** । बहिरेव ते तामसा अन्तस्तु निर्गुणा इति । तन्मध्ये ब्रह्मरातादय: श्रेष्ठाः । कश्यपादयो मध्यमा: । आङ्गिरसो बृहस्पतिः । ६ ।। ७ ।। ८ ।।

**व्याख्यार्थ**—व्यास केवल देवर्षि नहीं हैं किन्तु भगवान् भी हैं इसलिए व्यास के लिए भगवान् यह विशेषण दिया । श्लोक में 'रेणुकासुतः' का अर्थ रेणुका के पुत्र परशुराम है । परशुरामजी शिष्यों सहित आये । पर्वत, नारद, धौम्य, वेदव्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, परशुराम ये सात सात्विक देवर्षि हैं । वसिष्ठ, इन्द्र प्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, सुदर्शन ये दस राजस हैं और ब्रह्मर्षि है/। वास्तव में राजस ब्रह्मर्षि नौ ही हैं । क्योंकि सुदर्शन के पहले 'अथ' यह पद आया है । वह भिन्न क्रम को बताता है । अर्थात् इन नौ ऋषियों में सुदर्शन नहीं है । श्लोक में आये 'अन्य' पद से राजर्षि लिये गये और ऊपर गिनाये गये ब्रह्मर्षियों के अलावा जितने भी ब्राह्मण आये उन्हें भी लिये गये हैं जिनका समावेश ब्रह्मर्षि में किया गया है । श्लोक में आये हुए ब्रह्मरात पद का अर्थ शुकदेवजी है । उनमें तामस आदि दोष नहीं है । क्योंकि वे अमल हैं । अर्थात् दोषरहित हैं । इनमें बाहर ही तामसत्व भासित होता है । भीतर तो निर्गुण है । इनमें शुकदेव आदि श्रेष्ठ है । कश्यप आदि मध्यम है । श्लोकस्थ 'आङ्गिरस' पद का अर्थ बृहस्पति है । अर्थात् शुकदेव, कश्यप, बृहस्पति आदि भी वहां आये ।।६।।७।।८।।

**आभास**—अत्रोत्तमाधिकारे धर्मनिर्णये तदुक्तेषु तरतमभावज्ञानार्थं गणना । एवं त्रयः समागताः । पाण्डवा भगवानृषयश्चेति । तत्र ऋषिषु कृतमाह—

**आभासार्थ**—यहां उत्तमाधिकारक धर्म का निर्णय करना है इसलिए सात्त्विक राजस तामस बताये । अर्थात् सबका ज्ञान समान नहीं है । किन्तु ज्ञान में तारतम्य है, । क्योंकि कई सात्त्विक हैं कई राजस एवं कई तामस हैं । इस प्रकार पाण्डव भगवान् और ऋषि लोग ये तीनों आये । ऋषियों के लिए भीष्मजी ने जो कुछ किया उसे कहते हैं—

श्लोक—**तान्समेतान्महाभाग उपलभ्य वसूत्तमः ।**
**पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ।।९।।**

**श्लोकार्थ**—धर्मज्ञ देशकाल के विभाग को जानने वाले वसु श्रेष्ठ (वसु देवताओं में श्रेष्ठ) महाभाग भीष्म ने उन आये हुए मुनीश्वरों और राजाओं को देखकर मन वाणी से यथा योग्य सत्कार किया ।।९।।

**सुबोधिनी**—तान्समेतानिति । महान् भागो यस्येति । धर्मज्ञानादिसमूहो भागः । वसूत्तमो भीष्मः । भूमौ हि वसवो मोच्यन्ते । तथाऽन्येऽन्यत्र तद्गृहे । पुष्टिभक्तत्वव्यावृत्यर्थमाह । देशकालयोर्विभागः । देशकालविभागा वा । प्राकृतत्वादृषीणामनुत्तमस्याऽपि पूर्वस्य प्रथमं पूजनमित्यादि । **विधानविदिति** पाठेऽपि स एवाऽर्थः ।। ९ ।।

**व्याख्यार्थ**—बड़ा है भाग जिसका । भाग का अर्थ है धर्म ज्ञानादि समूह । अर्थात् भीष्मजी धर्म ज्ञानादि समूह युक्त थे । श्लोकस्थ 'वसूत्तमः' का अर्थ है भीष्म । क्योंकि वे वसु देवताओं में उत्तम है । पृथ्वी पर वसु मुक्त किये जाते हैं । दूसरे अन्यत्र उनके घर में मुक्त किये जाते हैं । भीष्मजी पुष्टि भक्त नहीं थे । क्योंकि देश काल का विभाग जानते थे । अर्थात् देश काल का अनुसरण करके जो कुछ करता है वह पुष्टि भक्त नहीं होता । पुष्टि भक्त देश काल की अपेक्षा नहीं रखता । भीष्मजी प्राकृत है इसलिए ऋषियों में जो उत्तम नहीं है और प्रथम गिनाये गये हैं उन पर्वत ऋषि का प्रथम पूजन किया । देश काल विभागवित् की जगह देश काल विधानवित् ऐसा पाठ यदि रखते हैं तो भी पूर्वोक्त ही अर्थ है । ९।।

**आभास**—एवं मुनीन् मनसा वचसा धर्मोपयोगित्वेन पूजयित्वा भगवन्तमपि तथैव पूजितवानित्याह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार मुनियों के धर्मोपयोगी होने से भीष्मजी ने उन ऋषियों का मन वाणी से पूजन किया और भगवान् का भी उसी रूप में पूजन किया यह कहते हैं—

श्लोक—**कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् ।**
**हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ।।१०।।**

**श्लोकार्थ**—और जगदीश्वर जो हृदय स्थित है तथा जिनने अपनी शक्ति से देह धारण किया है ऐसे बैठे हुए श्रीकृष्ण का उनके प्रभाव को जानकर भीष्मजी ने मन वाणी से पूजन किया ।।१०।।

**सुबोधिनी—कृष्णं चेति** । ननु भगवन्तं कथं पूजितवानित्याकांक्षायामाह—**तत्प्रभावज्ञ इति** पूर्वोक्तानुत्थितानेव दर्शनमात्रेण पूजितवान् । **भगवन्तं** तु आसीनम् । पूजायां भावनया सर्वोत्तमत्वप्रकारं ज्ञापयितुं **जगदीश्वरमित्युक्तम्** । **हृदिस्थमित्य**न्तर्यामिणम् । तस्य बहिर्भाने हेतुः- **माययोपात्तविग्रहमिति** । मायया शक्त्या स्वीकृतो विग्रहो येन । प्राकृतगणेनेन्द्रियादिना अहङ्कारेण च जीवानां देहग्रहणम् । भगवतस्तु स्वशक्त्यैव देहनिर्माणमपि । मायात्वादन्यथा भासयति । बीजसम्बन्धित्वेन पुत्रत्वादिना केचिद्बीजमेव मायया गृहीतमित्याहुः एवं लोकानुसारेण भीष्मबुद्धयनुसारेण स भगवान्निरूपितः वस्तुतस्तु यथा भगवान् तदुत्तरत्र निरूपयिष्यते ।। १० ।।

**व्याख्यार्थ**—शका होती है कि भीष्मजी ने भगवान् की किस भावना से पूजा की । अर्थात् भीष्मजी ने सम्बन्धी समझ के अथवा ज्ञाति के मानकर अथवा ईश्वर मानकर पूजन किया । इस आकांक्षा पर कहते हैं कि तत्प्रभावज्ञ:' अर्थात् भगवान् के प्रभाव को जानकर उनका पूजन किया। पहले के श्लोक में कहे गये जो ऋषि हैं उनका खड़े हुओं का ही देखने मात्र से ही पूजन किया और भगवान् का पूजन बैठे हुए का किया । भगवान् की पूजा में भावना से सर्वोत्तम प्रकार रहा । इस बात को बताने के लिए 'जगदीश्वरम्' कहा । अर्थात् जगदीश्वर मानकर भगवान् का पूजन किया और हृदिस्थम्' अर्थात् अन्तर्यामी रूप में मानकर भी पूजन किया । हृदय में स्थित अन्तर्यामी का बाहर भान होने में कारण कहते हैं कि 'माययोपात्तविग्रहम्' बाहर इसलिए भान हो रहा है कि अपनी शक्तिरूपा माया से श्री विग्रह धारण किया है । जीव प्राकृत समुदाय रूप जो इन्द्रियादि हैं उनसे तथा अहङ्कार से देह ग्रहण करता है । भगवान् में प्राकृत इन्द्रियां एवं अहङ्कार नहीं है । इसलिए वे जीव की तरह देह ग्रहण नहीं करते । वे तो अपनी शक्ति से ही अपने देह का निर्माण भी करते हैं । बीज सम्बन्धी होने से माया वहीं भगवान् को पुत्ररूप में पितृरूप आदि में अन्यथा भान कराती है । कोई कहते हैं कि माया ने बीज को ही ग्रहण कर लिया । इस प्रकार लोकानुसार एवं भीष्म बुद्धि के अनुसार सूतजी ने भगवान् का निरूपण किया । वास्तव में जैसे भगवान् हैं उनका निरूपण कौरवेन्द्रपुर की स्त्रियों के वाक्यों में होगा ।।१०।।

**आभास**—एवमुभयोः पूजनमुक्त्वा प्रथमोक्तान् पाण्डवानपूजयित्यैव स्वोक्तार्थ-ग्रहणसिद्धये, शोकापनोदनपूर्वकस्वदोषाभावकथनेन सह भगवन्तं निरूप्य फलं प्रार्थयते **पाण्डुपुत्रानि**त्यादिचतुर्दशभिः—

**आभासार्थ**—इस प्रकार ऋषि एवं भगवान् का पूजन कहकर प्रथम कहे गये पाण्डवों का पूजन छोटे होने से न कर भीष्मजी ने समझा कि मेरी कही गई बात को ये (पाण्डव) ग्रहण करें। अर्थात् मेरे में दूषित भावना होने पर मेरे कहे अर्थ का ग्रहण नहीं करेंगे । इसलिए उनका शोक दूर करते हुए और अपने को निर्दोष कहते हुए भगवान् का निरूपण कर फल की प्रार्थना करते हैं। यह बात पाण्डुपुत्रान् इत्यादि चतुर्दश (चौदह) श्लोकों से कही है ।

श्लोक—**पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् ।
अभ्याचष्टाऽनुरागास्रै रन्धीभूतेन चक्षुषा ।।११।।**

**श्लोकार्थ**—प्रेम के आंसुओं से नहीं देखने वाले नेत्रों से प्रेमी मालूम होने वाले भीष्मजी ने विनय एवं प्रेम से युक्त अपने पास बैठे पाण्डवों को कहा ।।११।।

**सुबोधिनी**—भ्रातृ (?) पुत्रत्वेन स्नेहशिक्षायोग्यता । **उपासीनानिति** । धर्मयुक्तान् । **प्रश्रयप्रेमसङ्गतानिति** ज्ञानोपदेशे हेतुः । विनीतेषु स्निग्धेषु हि ज्ञानमुपदिश्यते भगवद्दर्शनात्क्रूरभावेऽपगते । स्निग्धभावेन वदतीत्याह—**अनुरागास्रै रिति** । **अन्धीभूतेन चक्षुषा** सहितो, लक्षितो वा स्निग्ध इति । स्वक्लेशेन सहितं परदुःखं रोदने हेतुः । **सर्वे हि भगवता व्यामोहिताः** । एतेऽपि क्लेशं प्राप्तवन्तो वयमपीति भावः ।।११।।

**व्याख्यार्थ**—पाण्डव भीष्मजी के भतीजे के पुत्र हैं इसलिए उनमें भीष्मजी का स्नेह है। अतः स्नेह से शिक्षा देने योग्य है । पास में बैठने से वे धर्मयुक्त हैं । अर्थात् उपदेश ग्रहण करने वाले को पास में बैठना चाहिये इस धर्म को पाण्डव समझते हैं इसलिए वे भीष्मजी के पास बैठे हैं । वे विनयी एवं प्रेम करने वाले हैं इसलिए उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया जा सकता है । विनीत एवं प्रेमी को ही ज्ञान का उपदेश दिया जाता है । भगवान् के दर्शन होने से पाण्डवों के प्रति होने वाला भीष्मजी का क्रूर भाव नहीं रहा और वे प्रेमभाव से बोले । यह बात 'अनुरागास्रै' से कही है । अनुराग के आंसुओं से अन्धीभूत नेत्रों से युक्त है । अर्थात् आंखों में अनुराग के आंसू भर जाने से वे देख नहीं रहे हैं । अथवा अनुराग के आंसू आने से भीष्मजी हमसे प्रेम करने वाले हैं यह मालूम पड़ा । भीष्मजी को अपना क्लेश तथा पाण्डवों का जो दुःख याद आया वह रोने का कारण है । भीष्मजी विचार रहे हैं कि भगवान् ने सबको व्यामोहित कर लिया जिससे इनने भी क्लेश पाया और हमने भी क्लेश पाया । ११।।

**आभास**—तेषां क्लेशमनुवदति द्वयेन—

**आभासार्थ**—पाण्डवों के क्लेश का दो श्लोकों से भीष्मजी अनुवाद कर रहे हैं—

**भीष्म उवाच**—श्लोक—**अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः ।
जीवितुं नाऽर्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ।।१२।।**

**श्लोकार्थ**—भीष्मजी बोले—आश्चर्य की बात है कि ब्राह्मण, धर्म एवं भगवान् के आश्रित रहने वाले तुम लोग ऐसे दुःखमय जीवन के योग्य नहीं थे । क्योंकि तुम धर्मराज के पुत्र हो । तो भी तुम्हें इतने क्लेश सहन करने पड़े यह बड़े कष्ट और अन्याय की बात है ।।१२।।

**सुबोधिनी – अहो कष्टमिति** । अहो इत्याश्चर्ये । तेषां वनवासक्लेशं स्मृत्वा निरन्वयमेतत्प्राप्तमित्यहो कष्टम् हेलनकचग्रहणादिकं स्मृत्वा अहो अन्याय्यमिति पूर्ववत् । **बीजस्वभावक्षेत्राणां धर्माधर्मैस्तथा पुमान् । सुखं दुःखं च लभते कर्ममार्गेण नान्यथा** । तत्र यद्बुद्धिः प्राप्तं दुःखं क्लेशाच्छारीरमन्यायान्मानसं, तत्कर्मजन्यं न भवति । यस्मात् यूयं धर्मनन्दनाः । यद्यपि युधिष्ठिर एव धर्मपुत्रस्तथापि तत्प्राधान्येन स्थिता इति सर्वे तत्त्वेन व्यपदिश्यन्ते । अतो बीजदोषाभावाद्दुःखं न युज्यते । किञ्च । **विप्रधर्माच्युताश्रयाः** । भवत्सु स्वाभाविको दोषो नास्ति । स्वभावदुष्टा हि त्रेधा धर्मं नाऽऽश्रयन्ते । धर्मो हि त्रिविधः । नीत्यविरुद्धः, स्वभावशुद्धः, ईश्वरसम्बन्धी च । तत्र विप्राश्रितानां सर्वनीतिज्ञानान्नीतिविरोधाभावः । धर्मश्च स्वाश्रितं शुद्धं स्थापयति । अच्युताश्रयत्वाच्चेश्वरसम्बन्धी धर्मः स्फुरति । एकैकाश्रितोऽपि न क्लेशं प्राप्नोति । किमुत त्रितयाश्रितः । त्रयाणामेकभावात् । धर्ममार्गे चेयं व्यवस्था । कालमार्गेण भिन्नतया वक्ष्यति, भगवन्मार्गेण च ॥१२॥

**व्याख्यार्थ**— श्लोक में अहो पद का अर्थ आश्चर्य है । पाण्डवों के वनवास के क्लेश को याद कर बिना प्रसिद्ध कारण के यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ । इसीका आश्चर्य है और दुःख भी है । अपमान एवं द्रौपदी के क्लेश ग्रहण आदि को याद करके भीष्मजी कहते हैं कि आश्चर्य है कि तुम्हारे साथ अन्याय हुआ । बीज स्वभाव एवं क्षेत्रों के धर्म अधर्म से मनुष्य कर्म मार्ग के द्वारा सुख दुःख प्राप्त करता है । अन्यथा नहीं । तुम्हें क्लेश से जो शारीर दुःख हुआ और अन्याय से मानस दुःख हुआ । वह बीज स्वभाव तथा क्षेत्रों के कर्म से नहीं हुआ । क्योंकि तुम धर्म के पुत्र हो । यद्यपि युधिष्ठिर ही धर्म का पुत्र है तथापि उसे ही सब भाई प्रधान रूप से मानते थे इसलिए सभी धर्मनन्दन पद से कहे गये । धर्म पिता है । इसलिए बीजगत दोष न होने से तुम्हें बीज के कारण दुःख होना युक्त नहीं है । और तुममें स्वाभाविक दोष भी नहीं है । स्वाभाविक दोष होता तो वह तुम्हारे दुःख का कारण बनता । जो स्वभाव दुष्ट होते हैं । वे तीन प्रकार के धर्म का पालन नहीं करते । पहला नीति के अविरुद्ध । दूसरा भाव शुद्ध । तीसरा ईश्वर सम्बन्धी । तुम ब्राह्मणों के आश्रित हो । इसलिए सब नीति का ज्ञान होने से तुममें नीति के अविरुद्ध धर्म है । तुमने धर्म का आश्रय लिया है । इसलिए धर्म अपने आश्रित को शुद्ध रखता है । अतः आप स्वभाव शुद्ध भी हैं । आप लोग भगवान् के आश्रय में हैं इसलिए आप लोगों को ईश्वर सम्बन्धी धर्म की स्फूर्ति है । इनमें से एक एक का भी आश्रय लेने वाला क्लेश नहीं पाता । तो तीनों धर्मों का पालन करने वाला कैसे क्लेश पायगा । क्योंकि तीनों धर्मों की एकत्र सत्ता है । यह व्यवस्था धर्म मार्ग में है । काल मार्ग से तथा भगवन्मार्ग से तुम्हें क्लेश मिला यह भिन्न रूप से भीष्मजी कहेंगे ॥१२॥

**आभास**—एवं स्वभावबीजदोषौ परिहृत्य क्षेत्रदोषाभावायाऽऽह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार पाण्डवों में स्वभाव एवं वीर्यगत दोषों का परिहार कर उनमें क्षात्रज दोष भी नहीं है यह कहते हैं—

श्लोक—**संस्थितेऽधिरथे पाण्डौ वृथा बालप्रजा वधूः ।**
**युष्मत्कृते बहून्क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥१३॥**

**श्लोकार्थ**—महाबली पाण्डु के देह त्याग करने पर छोटे बालक वाली कुन्ती ने तुम्हारी तथा माद्री के अत्यन्त छोटे पुत्र नकुल सहदेव की रक्षा के लिए बार-बार कष्ट उठाये ।।१३।।

**सुबोधिनी—संस्थित इति** । संस्थितिः शरीरत्यागः । **अधिरथ इति** शौर्यं क्षत्रियधर्मः । **पाण्डुरिति** राजत्वम् । बालाः प्रजा यस्याः । अनेन रक्षकान्तराभावः सूचितः । **वधूरिति** स्वधर्म-परिपालनं सूचितम् । अत एव **युष्मत्कृते** धर्ममार्गेण **भवद्रक्षार्थं** बहून् क्लेशान् प्राप्तवती । **माद्रीपुत्रौ तोकौ** यमलजातावतिबालकौ पदचलनेऽप्यशक्तौ । अत एव मुहुः । तस्मात्सर्वथा स्वधर्मपरिपालनान्न क्षेत्रदोषः । दृष्टं त्वदृष्टसापेक्षमित्यदृष्टाभावे दृष्टमप्यस्मदादिरूपं न हेतुरिति ज्ञापितम् ।।१३।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में संस्थिति पद से शरीर त्याग अर्थ लिया गया है । अधिरथ पद से शौर्य रूप क्षत्रिय का धर्म कहा है । अर्थात शौर्य वाले पाण्डु राजा के शरीर त्याग करने पर इससे यह सूचित हुआ कि पाण्डु के मर जाने से पाण्डवों का रक्षक दूसरा नहीं था । छोटी है सन्तान जिसकी ऐसी वह कुन्ती वधू थी । वधू पद से कुन्ती अपने धर्म का परिपालन करने वाली थी । यह सूचित हुआ । स्वधर्म पालन करने वाली थी । इसीलिए धर्ममार्ग से तुम्हारी रक्षार्थ बहुत क्लेश पाई । माद्री के पुत्र जो दोनों साथ उत्पन्न हुए थे और बहुत छोटे बालक थे । पैरों से नहीं चल सकते थे । उनके पालन करने से कुन्ती को बार-बार दुःख हुआ । कुन्ती सर्वथा अपने धर्म का पालन करने वाली थी । इससे क्षेत्र दोष से पाण्डव दुःख पाये यह भी बात नहीं है । देखी गई बात अदृष्ट को लेकर ही होती है । तुम्हारा अदृष्ट यदि ऐसा नहीं होता तो दृष्ट हम लोग भी दुःख के कारण नहीं होते । इसलिए दुःख में तुम्हारा अदृष्ट (भाग्य) ही कारण है यह भीष्मजी ने पाण्डवों को कहा ।।१३।।

**आभास**—अकारणककार्योत्पत्त्यभावात्किं कारणमित्याकांक्षायामाह—

**आभासार्थ**—बिना कारण के कार्य नहीं होता तो तुम्हारे दुःख में क्या कारण है ऐसी आकांक्षा पर कहते हैं कि—

श्लोक—**सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां यद्यदप्रियम् ।**
**सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ।।१४।।**

**श्लोकार्थ**—तुम्हें जो-जो भी दुःख हुए हैं उन सबको मैं काल से किये हुए मानता हूं । जैसे मेघ पक्ति वायु के अधीन होती है । वैसे ही इन्द्रादि सहित लोक काल के वश में है ।।१४।।

**सुबोधिनी—सर्वं कालकृतमिति** । सर्वमाध्यात्मिकादि । अस्मत्कृतमन्यकृतं वा सर्वं कालकृतं कालकर्तृकम् । न तु निमित्तमात्रत्वं कालस्य । ज्योतिःशास्त्रे तथैव प्रतिपादनात् । ननु बहूनां हेतुत्वेन प्रतिपादनात्कालकर्मस्वभावेश्वराणां मध्ये कथं कालस्यैव हेतुत्वम् ? तत्राऽऽह—**मन्य**

इति । ममैवं प्रतिभाति । "प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तय" इति वाक्यात्स्वमनसि निश्चितं यदेतेषां काल एव दुःखहेतुः । ज्योतिश्शास्त्रसंवादाल्लोककर्मणोर्निराकरणाच्च । ज्ञानिनोऽपि क्लेशात्स्वभावान्तःपाति न मायादि हेतुः । ईश्वरस्य च सहवृत्त्या भक्तत्वाच्च नेश्वरकृतं दुःखम् । अतः पारिशेष्यात्कालकृतमेव मन्ये । यद्यदिति प्रसिद्धया नैतादृश कर्म भवतां जन्मान्तरेऽपीति सूचितम् । प्रकृतोपयोगाय कालस्य सामर्थ्यमाह—सपाल इति । स्वाधारवश्यत्वाल्लोकानां वयसा च व्याप्तत्वात्कालाधीनत्वम् । कालमित्या भोगाच्च । ब्रह्माण्डस्थितिरपि कालमिता । सपालो लोकः इन्द्रादिसहितो लोकः । न केवलमुत्पत्तौ कालवशत्वम् । किन्तु स्थितिकार्यकरणनाशेऽपीति दृष्टान्तमाह—वायोरिति । यथा वायोर्वशे घनपक्तिः । सर्वमासेषु समागच्छन्तोऽपि मेघा वायुनैव भवन्ति न भवन्ति च ।।१४।।

**व्याख्यार्थ**—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप हमसे किया गया अथवा दूसरे से किया गया । वह सब काल का किया हुआ है । अर्थात् काल ने ही तुम्हारे ऊपर विपत्ति आदि उत्पन्न की । ऐसा मैं मानता हूँ । काल केवल निमित्त ही नहीं है क्योंकि ज्योतिष शास्त्र में काल से ही सब कुछ होता है ऐसा प्रतिपादन किया गया है इसलिए काल से ही तुम्हारे ऊपर क्लेश आये । शङ्का होती है कि दुःखादि के कारण बहुत से बताये गये हैं । जैसे लोक, काल, कर्म, स्वभाव एवं ईश्वर है तो इनमें काल को ही दुःखादि का कारण कैसे बताया इसका उत्तर देते हैं कि मुझे ऐसा मालूम पड़ता है इसमें 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही प्रमाण हैं । इसके अनुसार मैंने अपने मन में निश्चय किया है कि पाण्डवों में दुःख में काल ही कारण है । ऐसा मानने पर ज्योतिष शास्त्र से अनुकूलता हो जाती है । 'अहो कष्टम्' इस पूर्व में आये हुए श्लोक में 'धर्मनन्दनाः' 'विप्रधर्माच्युताश्रयाः' ये दो पद बताते हैं कि युधिष्ठिर के धर्मपुत्र होने से वह धार्मिक ही कार्य कर सकता है । अधार्मिक नहीं । तो कर्म के कारण तुम्हें दुःख हुआ यह मैं नहीं मान सकता । धर्माश्रय होने से लोक भी तुम्हारे दुःख के कारण नहीं हो सकते । माया से मुक्त ज्ञानी जो क्लेश पाते हैं इसलिए स्वभाव के भीतर आई हुई माया आदि भी तुम्हारे दुःख के कारण नहीं हो सकते । ईश्वर तुम्हारे साथ थे और तुम भक्त थे इसलिए ईश्वर कृत दुःख भी तुम्हें नहीं हो सकता । अतः शेष रहा काल ही तुम्हें दुःख देने वाला रहा यह मैं मानता हूं । जो-जो प्रसिद्ध बड़े-बड़े दुःख आये उनका कारण तुम्हारे जन्मान्तर के कर्म भी नहीं हो सकते । यह 'यद्यत्' पद से सूचित हुआ । प्रकृत में उपयोगी काल का सामर्थ्य कहते हैं । 'सपालो यद्वशेलोकः' काल सबका आधार है और आधार के वश में सभी होते हैं । अवस्था भी काल से होती है इसलिए काल के अधीन सब है । काल मान से ही सुख-दुःखों का भोग प्राप्त होता है । अर्थात् अमुक अमुक समय तक ही सुख-दुःखादि होता है । ब्रह्माण्ड की स्थिति भी अमुक काल तक ही रहती है । इन्द्रादि सहित लोक की उत्पत्ति स्थिति नाश काल के कारण ही होते हैं । इसमें दृष्टान्त कहते हैं कि 'वायोरिव घनावलिः' जैसे मेघ पंक्ति वायु के अधीन होती है । सब महिनों में आते हुए भी मेघ वायु से ही रह पाते हैं और वायु के कारण ही नहीं रह पाते । ऐसे ही सब कुछ कालकृत है । ऐसा मानना चाहिये ।।१४।।

**आभास**—कालकृते पूर्वोक्तकर्मादिनिराकरणे च तर्कमाह—

**आभासार्थ**—काल ने ही सब कुछ किया है लोक, कर्म, स्वभाव और ईश्वर तुम्हारे दुःख में कारण नहीं है । इसमें भीष्म जो तर्क कहते हैं—

श्लोक—**यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः ।**
**कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥१५॥**

**श्लोकार्थ**—जहां धर्मराज का पुत्र युधिष्ठिर राजा हो । गदा धारण किये हुए भीमसेन हो । अस्त्रों को जानने वाला गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हो और हित चाहने वाले भगवान् कृष्ण हो वहां भी विपत्ति रहे यह कालकृत ही मानता हूं ॥१५॥

**सुबोधिनी—यत्रेति** । सर्वा दृष्टसामग्री वर्तते दुःखाभावहेतुः । धर्मः पुत्रं पालयति । स च राजा । स्वयं पालितोऽन्यान् पालयेत् । वृको दशविधः प्राण उदरे यस्य । स च बलाधिष्ठात्री देवता । **गदापाणिः** ससाधनः । **कृष्णोऽर्जुनः** । नाम्ना समानधर्मत्वं प्राप्तः । **अस्त्री** । गाण्डीवधनुषा ब्रह्मास्त्रादिप्रयोगसमर्थः । चापस्याऽक्षयत्वं नाम्ना सूचयति । अन्यत्तु नाशयोग्यम् । भगवांश्च **सुहृत्** हितान्वेषी । एत एव विचार्यमाणे दुःखहेतवो जाताः । तथाहि । पाण्डुना पूर्वमेव पुत्रं पार्श्वे स्थापयित्वा राज्यत्यागः कृतश्चेत्तदा न दुःखशङ्का । भीमस्य वा महाबलत्वाभावे न दुःखं भवेत् । अर्जुनस्य वा राधावेधाद्याचरणे मात्सर्याभावान्न दुःखं भवेत् । अग्निना वा साधनानि न दत्तानि चेदिन्द्रेण सह कलहाभावाद्देवद्रोहो न भवेत् । भगवता साहाय्यं न कृतं स्यात्तदा दीनदयया दुःखदातृभिर्दुःख न दत्तं स्यात् । तस्मात्सुखसाधनत्वेन ये गृहीतास्तैश्चेद्दुःखं तदा कालकृतमित्येव निश्चयः ॥१५॥

**व्याख्यार्थ**—देखी गई सब सामग्री पाण्डवों को दुःख न होने का कारण है अर्थात् पाण्डवों के पास ऐसी सामग्री थी । जिससे उन्हें कभी दुःख नहीं हो सकता था क्योंकि युधिष्ठिर धर्म का पुत्र है इसलिए अपने पुत्र का पालन धर्म करता है और वह धर्मपुत्र युधिष्ठिर राजा है । राजा होने से स्वयं धर्म से पालित हुआ अन्य की रक्षा करता है । भीमसेन वृकोदर है । वृकोद का अर्थ यह है कि दस प्रकार के प्राण जिसके उदर में हो । वह दस प्रकार का प्राण जो वृक शब्द से कहा गया है वह बल की अधिष्ठात्री देवता है । भीमसेन के गदा हाथ में है अतः वह गद रूप साधन सहित है । श्लोक में पहले के कृष्ण पद से यहां अर्जुन लिया गया है । अर्जुन को कृष्ण पद से बोधित कर यह बताया है कि भगवान् के समान धर्म उसमें भी है । वह अर्जुन अस्त्र वाला है अर्थात् गाण्डीव धनुष से ब्रह्मास्त्र आदि चलाने में समर्थ है । धनुष का नाम गाण्डीव है इसलिए यह अक्षय है । अन्य धनुष नाश योग्य है । पाण्डवों के हित के चाहने वाले भगवान् हैं । ऐसी स्थिति में पाण्डवों को दुःख होना ही नहीं चाहिये परन्तु दुःख हुआ तो विचार करने पर श्लोक में जिनका उल्लेख है वे ही दुःख के कारण बने हैं । यदि पाण्डु राजा ने अपने पुत्र को युवराज बनाकर राज्य त्याग कर दिया होता तो दुःख की शंका नहीं रहती । राज्य में भीमसेन यदि महाबलो न होता तो दुर्योधन को ईर्ष्या न होने से पाण्डवों को दुःख न होता । अर्जुन यदि राधावेध आदि कार्य न करता तो दुर्योधन को अर्जुन के शौर्य से मात्सर्य नहीं होता और वह पाण्डवों को दुःख नहीं देता । अग्नि यदि गाण्डोव धनुष आदि साधन न देता तो इन्द्र के साथ कलह न होने से देवताओं के साथ द्रोह नहीं होता । भगवान् सहायता न करते तो पाण्डवों को दीन समझकर दुःख देने वालों को दया रहती और वे दुःख न देते । इसलिए जो सुख के साधन रूप श्लोक में बताये गये भीमसेन आदि से दुःख हुआ वह सब कालकृत ही था । अर्थात् जिनसे सुख मिलना चाहिये उनसे ही दुःख हुआ । तो यह निश्चय है कि यह सब कुछ काल ने हो किया था । १५॥

**आभास**—नन्वेवं सति कालस्य बलिष्ठता सूचिता । तथाच कथं भगवन्तं कालोऽतिक्रामेत् ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि इस प्रकार मानने पर काल की बलिष्ठता सूचित होती है। परन्तु काल भगवान् का अतिक्रमण कैसे कर सकता है । अर्थात् यदि भगवान् दुःख देना न चाहे तो काल दुःख कैसे दे सकता है इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**नह्यस्य कर्हिचिद्राजन्पुमान्वेद विधित्सितम् ।**
**यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि ।।१६।।**

**श्लोकार्थ**—हे राजन् ! इन भगवान् को क्या करना इष्ट है यह कभी कोई नहीं जानता । भगवान् क्या करना चाहते हैं इसकी जानने की इच्छा वाले ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं ।।१६।।

**सुबोधिनी**—**नह्यस्येति** । अस्य भगवतो विधित्सितं कोऽपि न वेद । यद्यपि कालो भगवदाज्ञाकारित्वाद्भगवदिच्छायां सत्यां न प्रवर्तते । परं भगवदिच्छैव ज्ञातुमशक्या । भगवान्न सुखदुःखहेतुः । तथा सति सर्वत्र सर्वस्य स्यात् । किन्तु भगवदिच्छा सा कार्यैकोन्नेया न कार्यात्पूर्वमवगन्तुं शक्या । नन्वेवं सति भगवान् कथं विश्वसनीयः ? तत्राऽऽह—**यद्विजिज्ञासयेति** । भगवान् पाण्डवेभ्यः किं दुःखं दत्तवान्, निर्वेदार्थं वा सुखं दत्तवान्, भगवत्परिपालितत्वज्ञानेन भक्तिं वा दत्तवान्, कौरवाणां वा हितं कृतवानिति विचारे क्रियमाणे सर्वत्र युक्तिसम्भवात् । अत एव कवयोऽपि मुह्यन्ति । अवाङ्मनोगोचरे युक्तिर्न प्रवर्तत इति **हि**शब्दार्थः ।।१६।।

**व्याख्यार्थ**—ये भगवान् क्या करना चाहते हैं यह कोई नहीं जानता । यद्यपि काल भगवान् का आज्ञाकारी है तो पाण्डवों को दुःख देने की भगवान् की इच्छा न हो तो काल दुःख नहीं दे सकता । परन्तु भगवान् की इच्छा क्या है यह ही ज्ञात नहीं हो सकता । भगवान् सुख-दुःख देने के कारण नहीं हैं । यदि वे कारण हों तो सबको सब जगह सुख-दुःख मिलना चाहिये । इसलिए सुख दुःख का कारण भगवदिच्छा है । उसका कार्य के द्वारा ही ज्ञान हो सकता है । कार्य के प्रथम नहीं अर्थात् अमुक कार्य के होने पर भगवान् की इच्छा ऐसे कार्य करने की थी यह ज्ञात हो सकता है । शङ्का करते हैं कि ऐसी स्थिति में भगवान् का कैसे विश्वास किया जाय । अर्थात् पाण्डवों के भक्त होने पर भी भगवान् की इच्छा उनको दुःख देने की रहे तो भगवान् का कौन विश्वास करेगा । इस पर कहते हैं कि "यद्विजिज्ञासया" भगवान् ने पाण्डवों को दुःख दिया । अथवा वैराग्य के लिए सुख दिया । भगवान् ने हमारा पालन किया ऐसा पाण्डवों को ज्ञान होने से उनको भक्ति दी । यदि पाण्डवों पर विपत्ति न आती तो भगवान् विपत्ति से नहीं बचाते ऐसी स्थिति में पाण्डवों को माहात्म्य ज्ञान नहीं होता तो भक्ति भी नहीं होती । अथवा कौरवों को मोक्ष देकर उनका हित किया । ऐसे विचार करने पर ऊपर कही गई सब बातों में युक्ति हो सकती है । अतएव भगवान् के कार्य में कवि ब्रह्मादि ज्ञानी भी मोहित हो जाते हैं । वाणी एवं मन के अविषय भगवान् में युक्ति काम नहीं देती इसी बात को श्लोक में आया हुआ 'हि' शब्द कहता है ।।१६।।

**आभास**—तर्ह्य तः परं कः प्रतीकार इत्यत आह—

**आभासार्थ**—तो आगे अब कौनसा प्रतीकार हो सकता है इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ ।**
**तस्याऽनुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥१७॥**

**श्लोकार्थ**—हे भरत श्रेष्ठ ! इसलिए यह सब कुछ कालरूप भगवान् के अधीन है ऐसा निश्चय कर हे नाथ ! हे प्रभो ! उन भगवान् के आज्ञाकारी होते हुए अनाथ प्रजा की रक्षा करिये ॥१७॥

**सुबोधिनी—तस्मादिति** । यस्मात्सर्वं कालाधीनम् । स च कालो भगवान् । तदेव च दैवशब्दवाच्यम् । कालातिक्रमश्च प्रकारान्तरेण न सम्भावनीयः । तस्मादेतदनुविहितः एतदाज्ञाकारी सन् अनाथाः प्रजाः पाहि । आज्ञाकरणेन स्वधर्मेण च भगवान्परितुष्यतीति मर्यादा । यद्यपि विशेषतः प्रमेयबलविचारेण भगवान् केन तुष्यतीति न ज्ञायते तथापि प्रमाणबलविचारेणैतदुक्तम् । पूर्वं दुर्योधनादयो नाथाः स्थिताः । इदानीमनाथाः प्रजाः । अथवा । त्वयि नाथेऽपि नाथत्वाभिमानाभावाद्दयया केवलं ताः प्रजाः पालनीयाः । समर्थत्वात् ॥१७॥

**व्याख्यार्थ**—सब काल के अधीन है । वह काल भगवान् है । उसे ही दैव शब्द से कहा जाता है । काल का अतिक्रमण दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता । अतः भगवान् का आज्ञाकारी होता हुआ तू अनाथ प्रजा की रक्षा कर । आज्ञा पालन से तथा प्रजा पालन रूप स्वधर्म से भगवान् राजी होते हैं । यह मर्यादा है । यद्यपि विशेष रूप से प्रमेय बल का विचार किया जाय तो भगवान् किससे सन्तुष्ट होते हैं यह नहीं ज्ञात होता । तथापि प्रमाण बल के विचार से यह सिद्ध होता है कि भगवदाज्ञा पालन से एवं स्वधर्म पालन से भगवान् प्रसन्न होते हैं । पहले इस प्रजा के दुर्योधन आदि स्वामी थे । इस समय यह प्रजा अनाथ है । इसका पालन मुझे करना चाहिये । अथवा तुम्हारे स्वामी होते हुए भी तुममें स्वामित्व का अभिमान नहीं है । इसलिए अनाथ इस प्रजा का केवल दया से पालन करो । क्योंकि तुम समर्थ हो ॥१७॥

**आभास**—ननु "**तस्याऽनुविहित**" इति पूर्वपरामर्शात्पूर्वं कालस्य निरूपितत्वात् "**दैवतन्त्रमि**" त्यनेन ततोऽपि पूर्वं कृष्णस्य निरूपितत्वात्कस्याऽनुविहितो भवेदिति सन्देहे, कालस्य सर्वाधीनत्वकथनात्तदधीनत्वमनूद्य प्रजापालनं विधीयत इत्यायाति । "**न ह्यस्येति**" वाक्ये च पूर्वं कृष्णस्य निरूपणात्कालाधीनत्वे निरूपिते तन्निवारणार्थं तद्विधित्सितसन्देहो निरूपितः । तत्र किं कृष्णः कालाधीनो न भवतीति निरूप्यते ? कालकारणत्वं वा निवार्यते ? कालकृष्णयोर्वा सहभावेन दुःखकारणत्वं निरूप्यते ? त्रिष्वपि पक्षेषु कालात्कृष्णस्य भेदः समायाति । ततश्च कालपक्षः पूर्वापरविरुद्ध

इत्येशङ्क्य तन्निराकरणार्थं काल एव कृष्णः स च भगवानिति कृष्णस्य भगवत्त्वं विस्तरेण निरूपयति—

**आभासार्थ**—शङ्का होती है कि 'तस्यानुविहित' यहां तत्पद पहले कहे को बताता है। पहले 'दैवतन्त्रम्' से काल का निरूपण है। उससे पूर्व 'न ह्यस्य कर्हिचिद् राजन्' से कृष्ण का निरूपण किया गया है। तो संदेह होता है कि काल का आज्ञाकारी हो अथवा भगवान् का। काल के अधीन सब है इसलिए उसके अधीन रहता हुआ प्रजा पालन कर यह काल की अधीनता में अर्थ होना है। 'न ह्यस्य' इस वाक्य में कृष्ण का निरूपण कालाधीन बताने पर उस काल का निवारण हो इसलिए भगवान् के कैसे कार्य करने की इच्छा है यह सन्देह निरूपित हुआ है। वहां यह सन्देह होता है कि क्या कृष्ण कालाधीन नहीं होता यह निरूपण करना है। अथवा काल दुःख सुख का कारण नहीं होता यह कहना है। अथवा काल और कृष्ण दोनों मिलकर दुःख के कारण होते हैं। यह कहना है इन तीनों पक्षों में काल से कृष्ण का भेद है यही सिद्ध होता है। तो काल पक्ष पूर्वा पर विरुद्ध है ऐसी आशङ्का के निराकरण के लिये कहते हैं कि काल ही कृष्ण है और वह भगवान् है, कृष्ण भगवान् हैं इनका विस्तार से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।**
**मोहयन् मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥१८॥**

**श्लोकार्थ**—ये भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् आदि पुरुष नारायण ही हैं। जो कि अपनी माया से लोक को मोहित करते हुए वृष्णि वंश में गूढ भाव से विचर रहे हैं ॥१८॥

**सुबोधिनी**—**एष वै भगवानिति**। एषः कालरूपः कृष्णः; **वै** निश्चयेन, उपचाराभावेन ज्ञानद्वाराभावेन च **साक्षाद्भगवान्**। ननु किमस्य कृष्णस्य कालरूपस्य भगवत्त्वे ? तत्राऽऽह—**आद्यो नारायणः पुमानिति**। य **आद्यः** पुरुषोत्तमः स एव **नारायणो** ब्रह्माण्डविग्रहः। स **पुमान्** स्वराट्। अनेन कालस्य कृष्णत्वं कृष्णस्य भगवत्त्वं भगवतः पुरुषोत्तमत्वं पुरुषोत्तमस्य नारायणत्वं नारायणस्य स्वराट्पुरुषत्वमिति। स च स्वशरीरे भारप्रतिभाने तन्निवारणार्थं समागतो यदुषु प्रविष्टो वर्त्तते। यथाऽऽत्मानं कोऽपि न जानाति तथा **मायया** नरचेष्टाभिर्लोकं व्यामोहयन् सर्वथा भगवत्त्वं सङ्गोप्य सर्वान् भक्षयितुं चरतीत्यर्थः ॥१८॥

**व्याख्यार्थ**—यह जो कालरूप कृष्ण है यह निश्चय ही भगवान् है। कालरूप इस कृष्ण में भगवत्त्व औपचारिक (आरोपित) नहीं है और ज्ञान द्वारा भावना करने पर यह सिद्ध है कि साक्षात् भगवान् है। शङ्का होती है कि कालरूप कृष्ण भगवान् है यह कैसे समझा जाय तो कहते हैं कि 'आद्यो नारायणः पुमान्' पहले होने वाला जो पुरुषोत्तम है वही ब्रह्माण्ड देह वाला नारायण है। उसे ही स्वराट् भी कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि काल कृष्णरूप है। कृष्ण भगवान् है और भगवान् पुरुषोत्तम है और पुरुषोत्तम नारायण है और नारायण स्वराट् पुरुष है। अर्थात्

स्वयं प्रकाश होने वाला पुरुष है । उस भगवान् को अपने शरीर में भार मालूम होने पर उसे दूर करने के लिए यादवों में आये हैं। जैसे अपने को कोई न जाने उस रूप में भगवान् मनुष्य की चेष्टाओं से लोकों को व्यामोहित करते हुए अपने में रहे भगवत्व को सर्वथा छिपाते हुए सबको खाने के लिए भ्रमण कर रहे हैं ।।१८।।

**आभास**—ननु कथमयमेवम् ? कथं वा कोऽपि न जानाति ? इत्यत आह **अस्याऽनुभावमिति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि ये भगवान् इस प्रकार के कैसे हैं इन्हें कोई भी क्यों नहीं जानता। इसका उत्तर 'अस्यानुभावम्' इन दो श्लोकों से देते हैं—

श्लोक—**अस्याऽनुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः ।**
**देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान्कपिलो नृप ।।१९।।**

**श्लोकार्थ**—हे राजन् ! इन भगवान् के अत्यन्त गुप्त प्रभाव को भगवान् शिव, देवर्षि नारद तथा साक्षात् भगवान् कपिलदेवजी जानते हैं ।।१९।।

**सुबोधिनी**—अयमेवमेव । एतस्यैवंविधस्यैवमनुभावः सर्वमारणलक्षणः सर्वगोप्यः । तं शिव एव जानाति । यस्तं स्मरन्सर्वान्भक्षयन्नपि शिवः कल्याणरूपो भवति । तथा देवर्षिर्नारदः सर्वत्र प्रविश्य सर्वान्मारयन्सर्वहितत्वेन प्रतिभातः । तथा साक्षाद्भगवान् कपिलो यः प्रकृतेरेव कारणत्वं निरूप्य पुरुषकारणत्वं निवार्य सर्वहेतुः सन् सर्वहेतुत्वं निवारयति । अतः सात्त्विकेषु राजसेषु तामसेषु गुणातीतत्वेनोक्तास्त्रय एव जानन्ति ।।१९।।

**व्याख्यार्थ**—यह भगवान् इस प्रकार का ही है। इस प्रकार के इसका सबके मारने का प्रभाव सर्व गोप्य है। उसके प्रभाव को शिवजी ही जानते हैं। जो उन भगवान् का स्मरण करते हुए सबको भक्षण करते हुए भी कल्याण रूप है। वैसे ही नारदजी सर्वत्र प्रविष्ट होकर सबको मारते हुए भी स्मरण करने के कारण सबके हितैषी ज्ञात होते हैं तथा साक्षात् भगवान् कपिल देवजी जिनने प्रकृति को ही विश्व का कारण बताकर पुरुष की कारणता को निराकृत किया है। वे कपिलदेवजी पुरुष रूप होने से सबके कारण रूप होते हुए भी अपने आप को पुरुष रूप से किसी का कारण नहीं मानते अतः सात्त्विक राजस तामसों में जो निर्गुण शिव नारद कपिल हैं ये तीन ही भगवान् के प्रभाव को जानते हैं। शिवजी तामस होते हुए भी गुणातीत कहे गये हैं । इसी प्रकार नारदजी राजस होते हुए कपिलजी सात्त्विक होते हुए गुणातीत कहे गये हैं ।।१९।।

**आभास**—अन्ये तु बहुधा श्रुत्वाऽपि न जानन्ति, यथा भवन्त इत्याह—

**आभासार्थ**—दूसरे तो अनेक प्रकार से उनके प्रभाव को सुनकर भी नहीं जानते हैं । जैसे तुम लोग (पाण्डव) नहीं जानते हो यही कहते हैं—

श्लोक—**यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ।।२०।।**

**श्लोकार्थ**—जिस कृष्ण को मामा का पुत्र, प्रीति का विषय, मित्र, अत्यन्त हितैषी मानता है। जिसको तू ने मंत्री बनाया कभी दूत कभी सौहृद से रथ का सारथि बनाया था ।।२०।।

**सुबोधिनी**—**यं मन्यस इति** । वसुदेवगृहेऽवतारान्मातुलपुत्रं मन्यसे । किञ्च । **प्रियं** प्रीतिविषयं मन्यसे सम्बन्धेनाऽऽत्मीयत्वेन । **मित्र**मुपकारित्वेन । गुह्यनिरन्तरोपकारित्वेन द्रौपद्यादिदानात्सुहृत्तमं च । **सुहृत्** सद्भावयुक्तः कदाऽप्यकपटः परोक्षे प्रत्यक्षे च साक्षात्परम्परया च तद्धितमेव विचारयति । न केवलं ज्ञानमात्रं, किं त्वयुक्तानि बहून्येव कृतवान् । तदाह । **अकरोः सचिवम्** । सचिवो मन्त्री । दूतो हीनतया कार्यसाधकः । व्यवहारे समस्याऽपि हीनत्वकरणं सौहार्द्दात् अत एव रथस्य सारथिं कृतवान् । रथस्य रक्षकः सारथिर्नियतः केवलसारथ्यव्यावृत्त्यर्थः ।।२०।।

**व्याख्यार्थ**—वसुदेवजी के घर में अवतीर्ण हुए हैं इसलिए तुम इनको मामा के पुत्र मानते हो सम्बन्ध से और आत्मीयता से इन्हें प्रिय मानते हो । द्रौपदी आदि के दिलाने से गुप्त रूप से निरन्तर उपकारी होने के कारण मित्र मानते हो और सुहृत्तम मानते हो । जो सद्भावना युक्त हो कभी कपट नहीं करता हो परोक्ष और प्रत्यक्ष में साक्षात् एवं परम्परया अपने का हित ही विचारता हो वह सुहृद है । तुमने भगवान् को इस रूप में समझा ही हो यह नहीं किन्तु ऐसा समझकर इनसे अनेक अयुक्त कार्य भी कराये हैं । यही कहते है कि 'अकरोः सचिवम्' आदि तुमने इन्हें मन्त्री बनाया हीन होकर कार्य सिद्ध करने वाला दूत बनाया व्यवहार में समान भी व्यक्ति सौहार्द से हीन कार्य करता है इसलिए यह देखा गया है भगवान् ने सौहार्द से दूत कार्य भी कर दिया । तुमने इन्हें रथ का सारथि बनाया । श्लोक में सारथि न देकर रथ सारथि देने का तात्पर्य यह है कि भगवान् केवल सारथ्य ही नहीं करते थे किन्तु रथ के रक्षक होते हुए सारथि थे ।।२०।।

**आभास**—नन्वन्ये भगवन्तं मा जानन्तु । भगवांस्त्वात्मानं जानन् कथं हीने कर्मणि प्रवर्तते ? तत्राऽऽह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि दूसरे (पाण्डवादि) भगवान् के स्वरूप को न जाने किन्तु भगवान् तो अपने आपको जानते हैं तो फिर हीन कर्म में कैसे प्रवृत्त हुए इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्याऽनहंकृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ।।२१।।**

**श्लोकार्थ**—जिस भगवान् का स्वरूप सब में है । जिसकी शत्रु, मित्र, उदासीन में समबुद्धि है जो अपने से भिन्न को देखता ही नहीं और अहङ्कार रहित है तथा जो

सर्वत्र सदा पाप रहित है उसकी ऊँच-नीच कर्म से होने वाली वैषम्य बुद्धि नहीं हो सकती ।।२१।।

**सुबोधिनी—सर्वात्मन इति** । सर्वस्मिन्नात्मा यस्य । अनेन स्वार्थमेव करोति । **कथं वैषम्यं** स्यात् । वेदादिप्रणेतृत्वाच्च शत्रुमित्रोदासीनेषु समबुद्धिः । अतोऽपि न वैषम्यम् । किञ्च । भेददर्शने सत्येव भवति । तस्य तु सर्वत्राऽऽत्मैव भासते । अतो न विद्यते द्वैतं यस्य । तादृशस्य कथं वैषम्यम् । **स्वरूपेण प्रमाणेन प्रमेयेण निराकृतम्** । **वैषम्यमवतारे तु निरहंक्रियया तनौ** । न विद्यते अहंकृतिर्यस्य । **तत्कृतमुच्च**नीचकर्मकृतम् । सर्वमेव किञ्चित्कर्तव्यमिति करोति । न तूत्कृष्टमिति । ननु हीनकर्मणा कथं न दोषः स्यात् ? अत आह—**निरवद्यस्येति** । अपहतपाप्मन इत्यर्थः । अपहतपाप्मत्वं न देशकालावच्छिन्नमित्याह—**न क्वचिदिति** ।।२१।।

**व्याख्यार्थ**—जिसका स्वरूप सब में है । अतः वह जो कुछ कार्य करता है वह अपने हो लिए करता है । तो उसमें वैषम्य (हीन उच्च) कैसे हो सकता है । वेद आदि के निर्माता होने से शत्रु मित्र उदासीन में उनकी समान बुद्धि है इसलिए इनमें वैषम्य नहीं है । विषमता भेद देखने में होता है । भगवान् तो सर्वत्र अपने आपको ही देखते हैं । अतः वे अपने से भिन्न किसी को नहीं देखते । तो इस प्रकार के भगवान् में वैषम्य कैसे रह सकता है । श्लोक में आये हुए 'सर्वात्मनः' पद से स्वरूप कृत वैषम्य नहीं है यह कहा । 'समदृशः' पद से प्रमाणतः 'अद्वयस्य' पद से प्रमेयतः भगवान् में वैषम्य नहीं है । अवतार दशा में अपने श्री अङ्ग में अहङ्कार न होने से वैषम्य नहीं है । उच्च-नीच कर्म से इनमें वैषम्य नहीं है । कुछ करना चाहिये इसलिए ये सब कुछ करते रहते हैं । उत्कृष्ट है इसलिए करना चाहिये ये बात इनमें नहीं है । यदि कहें कि हीन कर्म के कारण भगवान् में दोष क्यों नहीं लगेगा तो कहते हैं कि 'निरवद्यस्य' वह पाप रहित है । इसलिए उन्हें किसी प्रकार का दोष नहीं लगता । अमुक स्थल में अथवा अमुक काल में ही थे अपहतपाप्मा है यह बात नहीं किन्तु सर्वत्र सर्वदा ये पापमुक्त हैं यही बात श्लोक में आये हुए 'न क्वचित्' पद से कही गई है ।२१।।

**आभास**—तस्मादयमेव सर्वभक्षकोऽज्ञानादुपचरित एवं कृतवानित्युक्ते भयमसेव्यता च प्रतिभाता । तन्निराकरणार्थमाह—

**आभासार्थ**—इसलिए यही भगवान् सर्वभक्षक हैं यह अज्ञान से भगवान् में आरोप है । इस प्रकार यदि भगवान् ने किया ऐसा कहते हैं तो भगवान् से भय होगा और ऐसा प्रभु सेव्य नहीं होगा । इस शङ्का के निराकरण के लिए कहते हैं कि—

श्लोक—**तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपाऽनुकम्पितम् ।**
**यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ।।२२।।**

**श्लोकार्थ**— यद्यपि यह भगवान् सम है अथवा सर्वभक्षक है । तथापि हे राजन् ! अनन्य भक्तों पर इनकी अनुकम्पा को देखो जो कि स्तुति करने वाला मैं हूं । उसका

भक्त्याभास मानकर अर्थात् हृदय की भक्ति न समझ मेरे प्राण त्याग करने के समय मुझे मुक्ति देने के लिए इन कृष्ण ने साक्षात् दर्शन दिये हैं ।।२२।।

**सुबोधिनी—तथापीति** । यद्यप्येवमेव तथाप्येकस्तस्मिन्नसाधारणो गुणोऽस्ति यद्भक्तकृपा भजनीयत्वे हेतुरभये कारणं च । स चाऽव्यभिचारी नित्यफलश्च । **भूपेति** सम्बोधनं राज्ञामप्येवं कदाचिद्भवतीति संवादार्थम् । कृपाया अव्यभिचारित्वं स्वदृष्टान्तेनाऽऽह—**यन्म इति** । न हि मत्सदृशोऽपराधी कश्चिदस्त्यवहेलनकर्त्ता भक्तद्रोही द्विष्टपक्षपाती च । तथापि कदाचिन्नाम-ग्रहणाद्भक्त्याभास पुरस्कृत्य प्राणत्यागसमये भक्तो न मुक्तो भवेद्दुष्ट इति शङ्कया स्वयमागत्याऽऽत्मसाक्षात्कारं कारयित्वा कृतार्थं कृतवानित्यर्थः । तस्मादन्ये भक्ताः कृतार्था भविष्यन्तीति किं वक्तव्यमिति भावः ।।२२।।

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि ये सर्व भक्षक ही हैं तो भी इनमें एक साधारण गुण है कि भक्त पर कृपा रखना । भक्त पर कृपा रहती है इसलिए ये भजनीय भी होते हैं और भगवान् से भक्त को किसी प्रकार का भय नहीं होता । इसमें भक्त पर भगवान् की कृपा होना कारण है । भक्त कृपा रूप गुण सदा रहता है और सदा फल देने वाला है । भीष्मजी ने युधिष्ठिर को भूप इस रूप में सम्बोधित इसलिए किया है कि राजाओं की भी कृपा उसकी सेवा में एवं उससे नहीं डरने में कारण बनती है और वह फल वाली भी होती है । यह राजा में कदाचित् होता है । अर्थात् तुम्हारे में जैसे ये बातें होती हैं उसी प्रकार भगवान् में भी यह बात है । भगवान् की कृपा सदा रहती है । इस बात को अपने दृष्टान्त से भीष्मजी कहते हैं 'यन्मे' भीष्मजी कहते हैं कि भगवान् की अवहेलना करने वाला भक्तों का द्रोह करने वाला भक्तों के शत्रुओं का पक्षपात करने वाला होने से मेरे समान अपराधी कोई नहीं है । तथापि मेरे भगवन्नामोच्चारण करते हुए भी यह कार्य हृदय से न होकर प्रेम से न होकर भक्त्याभास के रूप में होता होगा । तो प्राण त्याग के समय यह मेरा भक्त भीष्म मुक्त नहीं होगा । इस शंका से भगवान् ने स्वयं आकर भक्तों पर सदा कृपा रहती है इनसे मुझे अपना साक्षात्कार कराकर कृतार्थ किया जब मेरे जैसे अपराधी भी कृतार्थ हो जाते हैं तो अन्य भक्त कृतार्थ हो इसमें क्या कहना ।।२२।।

**आभास**—ननु दूरे भगवत्साक्षात्कारान्मुक्तिरिति । भगवदाविर्भावव्यतिरेकेणाऽपि भगवदङ्गं मानसरूपनामभिर्मुक्तिर्भवतीत्याह—

**आभासार्थ**—भगवान् के साक्षात्कार से मुक्ति हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु भगवान् के प्रकट हुए बिना भी भगवदङ्गभूत मानस रूप से तथा नाम से भी मुक्ति होती है इसे कहते हैं—

श्लोक—**भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन्वाचा यन्नाम कीर्त्तयन् ।**
**त्यजन्कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ।।२३।।**

**श्लोकार्थ**—जिस श्रीकृष्ण में मन लगाकर और वाणी से भगवान् का नामोच्चारण कर देह त्याग करता हुआ भक्तियोग वाला पुरुष नाना कामनाओं से होने वाले कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है तब यदि अन्त समय में भगवान् के दर्शन हो जाय तो क्या नहीं हो सकता ।।२३।।

**सुबोधिनी**—**भक्त्याऽऽवेश्येति । भक्त्येति** विहितभक्त्यधिकारिणः प्रत्युक्तम् । वस्तुतस्तु यथा कथञ्चिन्मनोनिवेशनमेव मुक्तिहेतुः । इन्द्रियव्यापारमपि भगवन्नाम्ना कुर्वन्पूर्वं योगाभ्यासरतोऽपि इदानीं भक्तिमार्गेण शरीरं त्यजन्कायवाङ्मनोभिस्तामसराजससात्त्विकमपि कर्म कुर्वन्पूर्वं कामकर्मभिः कृतैर्मुच्यते । एभिः कर्मभिस्तानि कर्माणि स्वभावं प्रापितानि मुक्तिहेतवो भवन्तीति वाऽर्थः ।।२३।।

**व्याख्यार्थ**—जिन भगवान् में भक्ति से मन को लगाकर यह जो कहा है वह मर्यादा भक्ति के अधिकारी के विचार से कहा है । वास्तव में किसी प्रकार के भी भगवान् में मन का लग जाना भी मुक्ति का कारण होता है । पहले योगाभ्यास में लगा हुआ भी इस समय इन्द्रियों से जो भी कार्य करता है वह भगवन्नाम के साथ करता है तो भक्तिमार्ग से शरीर को छोड़ता हुआ कायवाङ् मन से तामस राजस सात्त्विक कर्म करता हुआ भी विषयों के लिए किये गये कर्मों से मुक्त हो जाता है । अथवा भगवत्सम्बन्ध में होने वाले इन कर्मों से पूर्व में किये गये जो कर्म हैं वे भगवत्सम्बन्धी बना दिये जाते हैं और वे मुक्ति के कारण बन जाते हैं ।।२३।।

**आभास**—एवं भजनीयभगवद्गुणानुक्त्वा स्वस्य मानसीमूर्तिकल्पनाशक्तेरन्तिमोच्छ्वासपर्यन्तं भगवत्स्थितिमेव प्रार्थयते—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भजनीय भगवान् के गुणों को कहकर भीष्मजी भगवान् की मानसी मूर्ति की कल्पना करने में अशक्त हैं इसलिए अन्तिम श्वास तक मेरे पास रहें यही प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**स देवदेवो भगवान्प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।**
**प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ।।२४।।**

**श्लोकार्थ**—अपने प्रसन्न हास्य एव अरुण नेत्रों से शोभित मुखारविन्द वाले देवताओं के पूज्य जो कि दूसरों के लिए ध्यानगम्य है वे चतुर्भुज भगवान् जब तक मैं शरीर न छोड़ूं तब तक मेरे सम्मुख ही विराजे ।।२४।।

**सुबोधिनी**—**स देवदेव इति ।** अस्मत्कृपायामन्योऽपि हेतुरस्ति । न केवलमिदानीन्तना भक्तिः । यतो देवानां वस्वादीनां देवः सर्वदा पूज्यः । किञ्च । स्वतश्च पूर्णः । भगवानिति । स यावदिदं शरीरं मया त्याज्यं तावत्तिष्ठतु । न तु मध्ये शरीरं गृह्णातु मारयतु वा । **इदमिति** जीर्णम् । **अहमिति** सामर्थ्यम् । **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'** इति वाक्यानुसारेण मा तिष्ठतु किन्तु प्रसन्नहासः

अरुणे च लोचने ताभ्यामुल्लसन्मुखाम्बुजं यस्य । हासस्य प्रसन्नत्वान्न मायामोहः । लोचनयोररुणत्वान्मत्पापदूरीकरणम् । तयोरपि प्रसादे विशेषणे मयि सर्वगुणनिधानम् । मुखाम्बुजस्य तादृशत्वेन स्वपदप्राप्तिः । ध्यानपथत्वेनाऽणिमादयः । चतुर्भुजत्वेन पुरुषार्थचतुष्टयसिद्धिः । एवं सर्वपुरुषार्थदानाय सर्वाभिव्यक्तिं कुर्वन् विषयान्तरसञ्चाराभावाय प्रकटस्तिष्ठत्विति प्रार्थना ।।२४।।

**व्याख्यार्थ**—हमारे ऊपर भगवान् की कृपा होने में अन्य भी कारण है। केवल इस समय की भक्ति ही कारण नहीं है। अन्य कारण यह है कि वसु आदि देवताओं के आप देव हैं। अर्थात् सर्वदा पूज्य है। इसलिए मैंने पहले भी पूजन किया है। और भगवान् होने से स्वतः पूर्ण है। वह भगवान् जब तक मैं इस शरीर को न छोड़ूं तब तक यहीं विराजे। मैं जब तक अपनी इच्छा से प्राणों का परित्याग करूं तब तक मेरे सम्मुख स्थित रहे मुझे बीच में ही सशरीर मुझे अपने में लीन न करें अथवा न मारें। 'इदम्' पद से भीष्मजी अपने शरीर की ओर इङ्गित करके कहते हैं कि यह जीर्ण शरीर 'अहम्' पद देकर भीष्मजी ने अमुक काल में ही अपने शरीर छोड़ने का सामर्थ्य मेरे में है वह कहा। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' अर्थात् जो जिस प्रकार से मुझे प्राप्त होता है मैं भी उसी प्रकार उसे प्राप्त होता हूं। इस वाक्य के अनुसार मैं जिस प्रकार दुःखी हूं इस प्रकार दुःख के साथ मेरे सामने न रहे किन्तु प्रसन्न हास्य वाले रक्त नेत्रों से शोभित मुखारविन्द से युक्त रहे। आपका हास्य मायामोह करने वाला है। परन्तु वह आपका हास्य प्रसन्न होने के कारण मुझे माया मोह नहीं करेगा। इसीलिए हास्य का प्रसन्न यह विशेषण दिया है। नेत्रों में रक्तिमा होने से मेरे पापों को आप दूर करेंगे। नेत्र की रक्तिमा दो रूप से होती है। क्रोध से एवं अनुराग से परन्तु यहां रक्तिमा पापों को दूर करने के लिए क्रोध को लिए हुए होनी चाहिये। जिससे कि पापों को दूर कर सके इसी आशय से लोचन का अरुण विशेषण दिया है। प्रसन्न पद को हास्य एवं अरुण लोचन की ओर लगाते हैं तो यह अर्थ होता है कि प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न अरुण लोचन से शोभित मुखारविन्द वाले। अर्थात् आपने प्रसन्न हास्य एवं प्रसन्न लोचनों से देखकर मेरे में सब गुणों को स्थापित कर दिया। आपका मुख कमल प्रसन्न हास्य एवं अरुण लोचन युक्त होने से मुझे आप अपना पद (मोक्ष) देंगे। योगी के ध्यान में स्थित रहने पर अणिमादि सिद्धि मिलती है इसलिए मेरे ध्यान स्थित होने से अणिमा आदि सिद्धि मिलेगी। 'चतुर्भुजः' यह कहकर भीष्मजी ने बताया कि चार भुजाएं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को देने वाली है। इसलिए चतुर्भुज रूप में आप मेरे सम्मुख विराजे। इस प्रकार सब पुरुषार्थों के देने के लिए कही हुई सभी बातों को अभिव्यक्त कर दूसरा विषय मेरे में स्थिति न करले इसके लिए आप प्रकट होकर रहें जिससे आप में ही मेरा मन रहे और विषयान्तर में न जावे यही प्रार्थना है। २४।।

**आभास**—मध्ये सावकाशं ज्ञात्वा युधिष्ठिरः स्वसन्देहं वारयितुं पृष्टवानित्याह—

**आभासार्थ**—बीच में भीष्मजी को अवकाश है ऐसा जानकर युधिष्ठिर ने अपने सन्देह को दूर करने के लिए पूछा यही कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे ।**
**अपृच्छद्विविधान्धर्मानृषीणामनुशृण्वताम् ।।२५।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं कि युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त बात सुनकर बाणशय्या पर सोते हुए भीष्मजी को ऋषियों के सुनते हुए नाना प्रकार के धर्म पूछे ।।२५।।

**सुबोधिनी - युधिष्ठिर इति** । ननु युधिष्ठिरः पूर्वोक्तं ज्ञात्वा सर्वं भगवता कृतमित्यवगत्य स्वस्य कारणत्वाभावाद्वधादिदोषाभावं विनिश्चित्यापि कथं पृच्छति ? इत्यत आह—**तदाकर्ण्येति शरपञ्जरे शयानमिति** । यदि भगवानेव करोति किमिति भीष्मः शरपञ्जरे पतितस्तिष्ठति ? न ह्यकृतं भोजयति भगवान् । तथा सत्यतिप्रसङ्गः स्यात् । दुःखस्य च सार्वजनीनत्वाद्भगवतः सर्वकर्तृत्वस्य च श्रौतत्वात्सर्वेषामेव ऋषीणां सन्देहः । अतस्तेषामपि सन्देहनिवृत्त्यर्थमृषीणामेवमनुशृण्वतां पृष्टवानित्यर्थः । धर्माणामेव नानाविधत्वात्प्रबलदुर्बलभावोऽस्ति राजसेवकवन्न वेति सन्देहादपि प्रश्नः । तदाह - **विविधानिति** ।।२५ ।

**व्याख्यार्थ**—शङ्का करते है कि युधिष्ठिर ने सब कुछ भगवान् ने किया है ऐसा समझकर मेरे इसमें कारण न होने से मुझे वध आदि का दोष नहीं है । ऐसा निश्चय होने पर भी क्यों पूछा जा रहा है इसका समाधान करते हैं कि 'शरपञ्जरे शयानम्' यदि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो अपने भक्त भीष्मजी बाणशय्या पर कैसे पड़े हुए हैं क्योंकि भगवान् तो अपने भक्त के लिए ऐसा करना नहीं चाहते अतः यह सिद्ध होता है कि कर्म के अनुसार भगवान् फल देते हैं । यदि भगवान् ही स्वतन्त्र रूप से सुख-दुःख के कारण बन जाय तो या तो सभी सर्वदा सुखी या सभी सर्वदा दुःखी होने चाहिये परन्तु ऐसा नहीं देखा गया है । इससे ज्ञात होता है कि भगवान् कर्मों के अनुसार फल देते हैं । यहां भीष्मजी को दुःख है यह प्रसिद्ध है और भगवान् सब कुछ करने वाले हैं । यह वेद सिद्ध है तो सभी ऋषियों को इस विषय में सन्देह था । अतः उनके सन्देह की निवृत्ति के लिए उनके सुनते हुए युधिष्ठिर ने भीष्मजी से पूछा । अथवा धर्म नाना प्रकार के हैं तो उन धर्मों में राजा और सेवक की तरह प्रबल दुर्बल भाव है अथवा नहीं इस सन्देह से भी युधिष्ठिर ने पूछा । अथवा जिस प्रकार राजा के सेवकों में कोई बड़ा होता है कोई छोटा होता है इसी तरह कोई धर्म प्रबल है अथवा कोई धर्म उसकी अपेक्षा दुर्बल है यह बात है या नहीं इस सन्देह से भी युधिष्ठिर ने पूछा इसी बात को 'विविधान्' पद से सूचित किया है ।।२५।।

**आभास**— धर्मास्त्रिविधाः । श्रौताः पौराणिकाः पुरुषार्थसाधनत्वेनाऽन्वयव्यतिरेकसिद्धा लौकिकाश्च । तान्सर्वान् भीष्मः क्रमेणाऽऽहेत्याह **पुरुषस्वभावेति** त्रिभिः—

**आभासार्थ**—धर्म तीन प्रकार के हैं एक श्रौत (वैदिक) दूसरा पौराणिक धर्म जिन धर्मों के करने से पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) मिलते हैं और उनके न करने से नहीं मिलते । ऐसे लौकिक धर्म उन सबको भीष्मजी 'पुरुषस्वभाव' इत्यादि तीन श्लोकों से क्रमशः कहते हैं—

श्लोक—**पुरुषस्वभावविहितान्यथावर्णं यथाऽऽश्रमम् ।**
**वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ।।२६।।**
**दानधर्मान्राजधर्मान्मोक्षधर्मान्विभागशः ।**
**स्त्रीधर्मान्भगवद्धर्मान्समासव्यासयोगतः ।।२७।।**

**धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने ।**
**नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्ववित् ।।२८।।**

**श्लोकार्थ**—पुरुष स्वभाव से कहे गये धर्म, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों के धर्म, अध्ययन आदि आश्रम धर्म, वेद में पूर्वकाण्ड में कहे गये अनुराग से होने वाले प्रवृत्ति धर्म तथा उत्तरकाण्ड में कहे गये वैराग्य से होने वाले निवृत्ति धर्म पौराणिक दानधर्म, राजधर्म, मौन आदि मोक्षधर्म, पाति व्रत्यादि स्त्रीधर्म कार्तिक व्रत इत्यादि भगवद्धर्म पुरुषार्थ का स्वरूप तथा उनके साधन प्रकार आख्यान इतिहास यथावत् हे मुने ! तत्ववेत्ता भीष्मजी ने कहे ।।२६।।२७।।२८।।

**सुबोधिनी**– तत्र वैदिकास्त्रिविधाः । शरीराधिकारेण प्रवृत्ता वर्णाश्रमरूपेण बाह्यधर्मेण च प्रवृत्ता वैराग्याद्यान्तरधर्मेण च । तत्र **पुरुषस्वभावविहिताः** स्वतन्त्रा रक्षादय. । **वर्णधर्मा** ज्ञानादयः। **आश्रमधर्मा** अध्ययनादयः । **रागोपाधय**: पूर्वकाण्डोक्ताः । **वैराग्योपाधय** उत्तरकाण्डोक्ताः । **दानधर्माः** पौराणिकाः गोदानादयस्तुलापुरुषादयो वा । **राजधर्मा**श्चारादिभिर्हेत्वादिदर्शनादयः । **मोक्षधर्मा** मौनानीहादयः । तेष.मवान्तरभेदाश्च । **स्त्रीधर्माः** पातिव्रत्यादयः । **भगवद्धर्माः** कार्त्तिकव्रतादयः । **समासव्यासकथनाद्बुद्धिर्भवति वै स्थिरा** । अतः सक्षेपविस्ताराभ्यामाह—**समासेति** । पुरुषार्थचतुष्टयसाधनीभूतधर्मानाह—**धर्मेति** । पुरुषार्थानां स्वरूपं साधनानि प्रकाराश्च **यथा** यथावत् । **मुने इति** सम्बोधनं.न विस्तरेणोच्यते । मननविघ्नत्वादिति । **आख्यानं** शब्दप्रधानम्—तैरेवमुक्तमित्यादि । **इतिहासः** पुरावृत्तम्—तैरेव कृतमेवं जातमिति । पुराणार्थवादसिद्धं लौकिकं न केवलभ्रान्तप्रतिपन्नमित्यर्थः । सर्वेषां तत्त्वं जानातीति तथा निःशङ्ककथने हेतुः । एतावता सर्वे सन्देहा निवारिता इत्युक्तं भवति । सगुणकर्मणा बन्धः । निर्गुणकर्मणा मोक्षः । लोके कर्मण एव फलसाधकत्वं ज्ञातं भवत्विति यमधः उपरि वा निनीषति तमसाधु साधु वा कर्म कारयतीति ईश्वरस्य सर्वकर्तृत्वं जीवस्य दुःखाद्यनुभवश्चोक्तो भवति ।।२६।।२७।।२८।।

**व्याख्यार्थ**–त्रिविध धर्मों में वैदिक धर्म तीन प्रकार के हैं शरीराधिकार से प्रवृत्त वर्णाश्रम रूप बाह्य धर्म से प्रवृत्त तथा वैराग्य आदि आन्तर धर्मों से प्रवृत्त ये तीन प्रकार के वैदिक धर्म हैं । पुरुष के स्वाभाविक स्वतन्त्र धर्म रक्षा करना आदि है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र वर्णों के धर्म ज्ञान आदि है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रम के धर्म अध्ययनादि है । किसी कार्य में अनुराग रखकर किये जाने वाले धर्म पूर्वकाण्ड में कहे गये हैं । जिनको प्रवृत्ति धर्म कहा है । वैराग्य से होने वाले धर्म उत्तरकाण्ड में कहे गये हैं । गोदानादि तुला पुरुषादि दान धर्म पौराणिक हैं । दूतों के द्वारा हेतु आदि जानना राजधर्म है । मौन लौकिक निष्क्रियता आदि मोक्षधर्म हैं और उनके अवान्तर धम । पातिव्रत्य आदि स्त्रीधर्म । कार्त्तिक व्रत आदि भगवद्धर्म । इनका संक्षिप्त रूप से तथा विस्तृत रूप से भीष्मजी ने वर्णन किया । सक्षिप्त एवं विस्तृत रूप में कहने से बुद्धि स्थिर हो जाती है । इसी बात को 'समासव्यासयोगतः' से कहा है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय के साधनरूप धर्मों का वर्णन किया । अर्थात् पुरुषार्थों के स्वरूप को साधनों को तथा प्रकार को

यथावत् कहा। ये बात 'धर्मार्थं काममोक्षांश्च' से कही है। सूतजी शौनक को 'मुने' यह सम्बोधन देकर यह सूचित करते है कि आप मनन करने वाले हो इसलिए मैं पूर्वोक्त धर्मों को विस्तार से नहीं कह रहा हूं। विस्तार से कहने पर तुम्हारे मनन में विघ्न होगा। अतः केवल उनका निर्देश मात्र किया है। इन सबको आख्यान और इतिहासों में वर्णित किया है। उनने ऐसा कहा इत्यादि रूप जो शब्द प्रधान वाक्य है वह आख्यान शब्द से लिया जाता है। उनने इस प्रकार किया एवं इस प्रकार हुआ इस रूप का पुरावृत्त इतिहास कहा जाता है। अर्थात् पुराण एवं अर्थवाद से सिद्ध लौकिक बात ही केवल भ्रान्ति से स्वीकृत लौकिक धर्म नहीं कहा। भीष्मजी सभी तत्वों को जानते थे इसलिए उनने निःशङ्क होकर धर्मों का वर्णन किया। यही 'तत्ववित्' पद कहता है। इन सबसे यह कहा गया कि युधिष्ठिर के सब सन्देह को भीष्मजी ने निवृत्त किये। भीष्मजी ने समझा हो कि सगुण कर्मों से बन्धन होता है और निर्गुण कर्मों से मोक्ष होता है। कर्म ही सब फल देने वाले हैं। यह बात लोक समझे इसके लिए जिसको नीचे की ओर भगवान् ले जाना चाहते हैं। अर्थात् जिसका पतन करना चाहते हैं उससे बुरे कर्म कराते हैं और जिसे उच्च बनाना होता है उससे अच्छे कर्म कराते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही सब कुछ करता है और जीव को अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखों का अनुभव होता है अर्थात् भगवान् की प्रेरणा से हीन कर्म एवं उत्तम कर्म बनते हैं और उन कर्मों के अनुसार जीव को सुख-दुःखादि मिलते हैं ॥२६॥२७॥२८॥

**आभास**—धर्मप्रवचनादिकं कालविलम्बादेव न त्वनेन पुरुषार्थसिद्धिरिति समागते काले सर्वमुपसंहृतवानित्याह **धर्मं प्रवदत इति** द्वाभ्याम्—

**आभासार्थ**—धर्म के प्रवचन आदि जो भीष्मजी कर रहे हैं वह उत्तरायण काल में विलम्ब होने से कर रहे हैं। धर्म प्रवचन आदि से पुरुषार्थ सिद्धि होती है। यह बात नहीं है। इसलिए उत्तरायण काल के आने पर भीष्मजी जो धर्म का प्रवचन कर रहे थे। उसका उन्होंने उपसंहार कर दिया यह बात 'धर्मं प्रवदतस्तस्य' इन दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः।**
**यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥२९॥**

**श्लोकार्थ**—धर्म का प्रवचन करते हुए भीष्मजी का वह उत्तरायण काल उपस्थित हो गया। जो कि स्वाधीन मृत्यु वाले योगी के लिए वांछित होता है।२९।

**सुबोधिनी**—उत्तरायणकालस्योत्तमत्वेऽपि पूर्वकालस्य निकृष्टत्वात्तद्दोषसम्बन्धे निर्दुष्टता न भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **धर्मं प्रवदत** इत्युक्तम्। योगिनामुत्तरगतेर्नियतत्वात्सूर्यमण्डलमध्यस्थमार्गत्वादुत्तरायण एव सूर्यं गन्तुं शक्यते। **छन्दमृत्योरिति**। योगजधर्मेण कालस्यापि वशीकृतत्वात्स्वच्छन्दमृत्युत्वम् ॥२९।

**व्याख्यार्थ**—उत्तरायण काल यद्यपि उत्तम है। तथापि दक्षिणायन काल के निकृष्ट होने से उसके दोषों का सम्बन्ध होने से अपने में निर्दुष्टता नहीं रहेगी इसलिए दक्षिणायन काल को धर्म प्रवचन करते बिताया। यही बात 'धर्मं प्रवदतः' से कही है। योगियों का परलोक मार्ग नियत है।

वे सूर्य-मण्डल के मध्य मार्ग से जाते हैं और वह जाना उत्तरायण सूर्य में ही उनका हो सकता है। इसलिए भीष्मजी ने उत्तरायण की प्रतीक्षा की। भीष्मजी ने योग से उत्पन्न होने वाले धर्म से काल को भी वश में कर लिया। इसलिए वे स्वच्छन्द मृत्यु (स्वाधीन मृत्यु) थे ॥२९॥

**आभास**—तस्मिन् काले यत्कर्त्तव्यं तदाह—

**आभासार्थ**—मृत्यु के समय जो करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणीर्विमुक्तसंगं (?) मन आदिपूरुषे ।**
**कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥३०॥**

**श्लोकार्थ**—जो भीष्मजी हजारों योद्धाओं को वश में करते हैं वे वाणी का नियमन कर आसक्ति को छोड़ आदि पुरुष पीताम्बर से शोभित चतुर्भुज जो कि सामने खड़े हैं ऐसे कृष्ण में निर्निमेष दृष्टि से अपने मन को लगाया ॥३०॥

**सुबोधिनी**—**तदोपसंहृत्येति**। सर्वपरित्यागेन भगवच्चिन्तनं कर्त्तव्यम्। तन्मौनेन मनसश्चाञ्चल्यपरिहारेण अक्रियया च भवति। तत्र शरीरक्रियाऽभावः पूर्वमेव सिद्धः। वाङ्नियमनमाह—**गिर उपसंहृत्येति**। **सहस्रणीः**। सहस्रं योधान् युद्धेन वचनेन वा नयति स्वाधीनान् करोतीति स्वधर्मोत्कर्ष उक्तः। मनसो विनियोगमाह—**विमुक्तसङ्ग इति**। विशेषेण मुक्ता अन्तर्बहिःसङ्गा येन। आदिपुरुषे व्यधारयदित्युक्ते मानस्यां प्रतिमायां व्यवधारणमुक्तं भवति। तन्निराकरणायाऽलौकिकप्रकारमाह—**कृष्णे पुरः स्थित इति**। "**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्**"ति चक्षुरन्तर्नीत्वा तेन द्रष्टव्यं पश्यति। इह तु विपरीतम्। मनश्चक्षुर्द्वारा बहिरानीय तेन भगवन्तं पश्यतीति। कृष्ण आविर्भूतो भगवान्। बहिःस्थितत्वज्ञापनार्थं वस्त्रादिपरिकरमाकारं चाऽऽह—**लसत्पीतपटे चतुर्भुज इति**। लसत्पीतता दाहोत्तीर्णसुवर्णरूपता। देवकीप्रार्थनया यत्प्राकृतं रूपं कृतं तत्परित्यागेन सहजमेव रूपं प्रदर्शितवानित्यर्थः। **पुरः स्थित इति** कल्पनाक्लेशाभावः। **अमीलितदृगिति** निमेषादिना व्यवधानं निराकृतम्। ३०॥

**व्याख्यार्थ**—मृत्यु के समय सब छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। वह भगवच्चिन्तन मौन से मन की चञ्चलता को नहीं रखने से तथा कुछ भी क्रिया न करने से हो सकता है। बाणशय्या पर सोने से भीष्मजी के शरीर की क्रिया तो पहले ही नहीं हो रही है। वाणी का नियमन नहीं था वह भी कर लिया। इसी बात को 'गिर उपसंहृत्य' से कहा है। श्लोक में आये हुए 'सहस्रणीः' पद का अर्थ यह है कि जो युद्ध से अथवा अपने वचन से हजारों योद्धाओं को अपने अधीन कर लेता है वह 'सहस्रणीः' है। इससे भीष्मजी के धर्म का उत्कर्ष बताया। भीष्मजी के मन का विनियोग कहते हैं। 'विमुक्तसङ्गः' बाहर और भीतर जिसने मन से आसक्ति का परित्याग कर दिया है। इससे भीष्मजी का त्रिदण्ड संन्यास कहा गया। श्लोक में 'आदिपूरुषेऽव्यधारयत्' ऐसा ही कहते तो मन में बनाई गई प्रतिमा में भीष्मजी ने अपने चित्त को लगाया यह कहा जाता। ऐसा न समझ जाय इसके लिए अलौकिक प्रकार कहते हैं। 'कृष्णे पुरः स्थिते' अर्थात् सामने खड़े

श्रीकृष्ण में चित्त लगाया। 'कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' कोई धीर पुरुष अपने भीतर रहे हुए भगवान् को देखता है। अर्थात् चक्षु के व्यापार को भीतर ले जाकर उससे भीतर रही हुई मानसी मूर्ति को देखता है। यहां तो उससे विपरीत है। मन को चक्षु के द्वारा बाहर लाकर उससे भगवान् को देखता है। श्लोकस्थ कृष्ण पद आविर्भूत (प्रकट) हुए भगवान् को कहता है। क्योंकि प्रकट हुए भगवान् का नाम ही कृष्ण है। भगवान् अन्तःकरण में स्थित न होकर बाहर स्थित है इस बात को बताने के लिए भगवान् के वस्त्रादि परिकर को तथा आकार को कहते हैं। 'लसत्पीतपटे चतुर्भुजे' अग्नि में स्वच्छ किये सुवर्ण की तरह से भगवान् के पीताम्बर हैं। यह लसत् शब्द कहता है। देवकी की प्रार्थना से जो प्राकृत रूप धारण किया था उसे अभी छोड़कर भगवान् ने अपना सहज ही चतुर्भुज रूप भीष्मजी को दिखाया। भगवान् सामने स्थित थे। इसलिए भीष्मजी को मन में भगवान् की कल्पना करने का क्लेश नहीं हुआ, भीष्मजी 'अमीलितदृक्' थे अर्थात् पलक आदि से भगवान् के दर्शन मे बाधा होगी इसलिए निर्निमेष थे ॥३०॥

श्लोक—**विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाऽऽशु गताऽऽयुधव्यथः।**
**निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टाव जन्यं विसृजन् जनार्दनम् ॥३१॥**

**श्लोकार्थ**—भगवान् के सर्वावयवों की विशुद्ध धारणा से जिनके सम्पूर्ण पाप क्षय हो गये हैं और भगवान् के देखने मात्र से ही जिनके आयुधों की व्यथा शीघ्र दूर हो गई है और सब इन्द्रियों के व्यापार में जिनके अनेक प्रकार के भ्रम थे वे सब दूर हो गये हैं ऐसे भीष्मजी ने प्राकृत शरीर को छोड़ते हुए जनार्दन भगवान् की स्तुति की ॥३१॥

**सुबोधिनी**—सा मनसो धारणा सर्वावयवस्थिता। अत एव विशुद्धा। अपहतपाप्मविषयत्वात्। तयैव सर्वपापक्षयः। भगवदपराधजनकमपि पापमपराधेन जनितं प्रतीकाराकरणेनोपेक्षाजनितं च। तत्सर्वं शुद्धसेवकभावेन निवारितम्। भगवति च शुद्धभावे भगवानपि कृपया वेदनां दूरीकृतवानित्याह—**तदीक्षयेति**। तस्य भगवतो दोषनिवर्तकदृष्ट्यैव गता आयुधव्यथा यस्य। निवृत्ताः सर्वेन्द्रियवृत्तिषु विभ्रमा यस्य। अनेनाऽन्तर्बहिर्दोषाभाव उक्तः। **जन्यं** प्राकृतसमूहम्। **जनां** प्रकृतिमर्दयतीति **जनार्दनः**। यावत्प्रकृतिन पीडिता स्यात्तावत्स्वकार्यं न निवर्तयेदिति ॥३१॥

**व्याख्यार्थ**—भीष्मजी भगवान् में होने वाली मानस धारणा भगवान् के सर्वावयव में थी। अर्थात् धारणा सब अङ्गों की होती है और ध्यान एक-एक अङ्ग का होता है। यहां धारणा पद है। इसलिए भीष्मजी ने भगवान् के सब अङ्गों की धारणा की यह अर्थ हुआ। अपहत पाप्मारूप भगवान् की धारणा थी इसलिए वह शुद्ध थी। ऐसी धारणा से सम्पूर्ण पापों का क्षय हो गया। द्रौपदी के वस्त्र केशादि खींचने पर प्रतीकार न करने से तथा उपेक्षा जनित जो भीष्मजी का पाप उसने भगवान् के अपराध को पैदा किया वह सब पाप शुद्ध सेवक भाव होने से निवृत्त हो गया। भगवान् में भीष्मजी का शुद्ध भाव हो गया इसलिए भगवान् ने भी कृपा से उनकी पीड़ा को दूर कर दिया। यही बात तदीक्षया' आदि से कही है। उन भगवान् की दोष निवर्तक दृष्टि से ही भीष्मजी को जो आयुधों की व्यथा थी वह निवृत्त हो गई। मन आदि सब इन्द्रियों के व्यापार में भ्रम न

रहा। ऐसा कहने से भीष्मजी में बाह्य एवं आन्तर दोष न रहा। ऐसा कहा गया। श्लोकस्थ अन्यम् का अर्थ प्रकृति से बना हुआ देहादि समुदाय उसे छोड़ते हुए भीष्मजी ने जनार्दन की स्तुति की। जो प्रकृति को पीड़ित करता है वह जनार्दन है। जब तक प्रकृति पीड़ित नहीं होती तब तक अपने देहादि कार्य को हटाती नहीं। इसलिए भीष्मजी ने प्रकृति को पीड़ित करने वाले भगवान् जनार्दन की स्तुति की ॥३१॥

**आभास**—मर्यादानुसारेण अन्ते भगवति यत्कर्त्तव्यं तदत्र विनिरूप्यते। तत्र प्रथमं सर्वसमर्पणम्। ततो माहात्म्यज्ञानपूर्विका भगवति रतिः। तत आत्मसमर्पण-मिति। आद्यन्तयोरेकैकम्। मध्ये माहात्म्यभक्तौ नव। तत्र प्रथमं सर्वसमर्पणं निरूपयति—

**आभासार्थ**—मर्यादा के अनुसार अन्त में भगवान् के विषय में जो कर्त्तव्य होता है उसका यहां निरूपण करते हैं। उनमें सबसे पहला भगवान् को सर्व समर्पण करना है। तदनन्तर माहात्म्य ज्ञानपूर्वक भगवान् में प्रेम होता है। तत्पश्चात् आत्म समर्पण करना है। सर्व समर्पण में तथा आत्म समर्पण में आदि और अन्त में एक-एक श्लोक है। अर्थात् 'इतिमतिरुपकल्पिता' से सर्व समर्पण है और 'तमिहमजम्' जो अन्त का श्लोक है उसमें आत्म समर्पण है। मध्य में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक भक्ति के विषय में नौ श्लोक हैं। भक्ति नौ प्रकार की है अतः वहां पहले सर्व समर्पण का एक श्लोक से निरूपण करते हैं—

**भीष्म उवाच—**

श्लोक—**इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।**
**स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥३२॥**

**श्लोकार्थ**—भीष्मजी कहते हैं कि अन्य बातों को समाप्त कर स्वानन्द को प्राप्त हुए कहीं विहार करने के लिए जिससे विश्व का प्रवाह चलता रहता है ऐसी प्रकृति को स्वीकार करने वाले यादवों में श्रेष्ठ जिनसे कोई बड़ा नहीं है ऐसे पुरुषोत्तम भगवान् में कामना रहित बुद्धि को अर्पण करता हूं ॥३२॥

**सुबोधिनी—इतीति**। इतिशब्दः समाप्तिवाचकः। परमेश्वराद्विभक्तस्याऽनन्तकोटिजन्मभिर्य-त्कृतं यदस्ति वा तद्विचार्यमाणे मतिरेवाऽस्मदीया तावद्विषयिणी। मया कृतं मदीयमिति। पदार्थास्तु भगवदीयासर्वे। अतोऽस्मदीया बुद्धिरेव भगवति समर्पणीया। तदाह—**इति मतिरिति**। अन्तिमोच्छ्वासपर्यन्त याऽस्माभिः सम्पादिता बुद्धिः सा भगवति उपकल्पिता। फलार्थत्वं निवारयति— **वितृष्णेति**। यद्यप्येवं मतिसमर्पणे न किञ्चित्फलं शास्त्रसिद्धं तथाप्यहमेतत्समर्पयामि ममैतत्फलं भविष्यतीति स्वयमेव तृष्णा भवति। अतस्तामेव निषेधति। **भगवति** ब्रह्मणि। **सात्व -पुङ्गवे** यादवश्रेष्ठत्वेनाऽऽविर्भूते। विगतो भूमा यस्मात्। अक्षरात्परस्मिन् पुरुषोत्तमे। ननु पुरुषोत्तमस्य भगवतः कथं सात्वतपुङ्गवत्वम्। तत्राऽऽह। **स्वसुखमुपगते**। स्वपरमानन्दं प्राप्त एव

क्वचित्कदाचित्स्थानविशेषे **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यमि"** ति न्यायेन विहर्तुं स्वस्यैव स्वभावरूपां प्रकृतिं साङ्ख्यादिन्यायेन विश्वजननीं स्वयं पिता उपगच्छति । तादृशे । ननु तदपि कुतः? तत्राऽऽह—**यद्भवप्रवाह इति** । यस्माद्भगवतः प्रकृतिसम्बन्धात् भवस्य विश्वस्य प्रवाहः **बीजांकुरवत्परम्परा** । **"न घटत उद्भव"** इत्यस्य विवरणम् । तथासृष्ट्यर्थं यथा करोति तथा अस्मन्मुक्त्यर्थमप्येवं कृतवानित्यर्थः ।।३२ ।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में आया इति शब्द भीष्मजी के अन्य सब कर्तव्यों की समाप्ति का बोधक है । परमेश्वर से पृथक् हुए अनन्त कोटि जन्म से जो कुछ किया जो कुछ है विचार करने पर उन-उन विषयों में ले जाने वाली बुद्धि ही हमारी है । जिसके द्वारा मैंने यह किया यह मेरा है ऐसा विचार होता है । सभी पदार्थ तो भगवान् के हैं । अतः जो बुद्धि हमारी है उसे ही भगवान् को समर्पित करना चाहिये । यही बात 'इति मति' से कहते हैं । अर्थात् अन्तिम उच्छ्वास पर्यन्त जो बुद्धि हमने सम्पादित की है वह भगवान् के अर्पित कर दी । क्योंकि पदार्थ तो भगवान् के हैं और बुद्धि ही अपनी है । तात्पर्य यह है कि बुद्धि को भगवान् के अर्पण कर दिया । क्योंकि अपनी चीज ही अर्पित की जाती है । किसी फल कामना के लिए अर्पित नहीं किया । इसी बात को 'वितृष्णा' पद से कहते हैं । यद्यपि इस प्रकार बुद्धि के समर्पित करने पर शास्त्रसिद्ध कोई फल नहीं है । तथापि मैं यह समर्पित करता हूं । मुझे यह फल मिलेगा । इस प्रकार स्वयं ही फल को तृष्णा होती है अतः उसीका वितृष्णा से निषेध किया है । श्लोक में आये 'भगवति' पद का अर्थ है ब्रह्म में । 'सात्वत पुङ्गवे' का तात्पर्य यह है कि यादवों में श्रेष्ठ रूप से प्रकट हुए । विभूति का अर्थ है भूमारूप जो अक्षर ब्रह्म है उससे परे होने वाले पुरुषोत्तम में शङ्का होती है कि पुरुषोत्तम भगवान् यादवों में श्रेष्ठ रूप से कैसे कहलाये तब कहते हैं कि 'स्वसुखमुपगते' अपने परमानन्द को लिये हुए ही कदाचित् किसी स्थान विशेष में 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' अर्थात् जैसे लोक में राजा विनोद के लिए मृगया के लिए जाता है मांस आदि तो दूसरों से भी मंगवा सकता है वैसे ही भगवान् भी लीला करते हैं और वह लीला उसके गान करने वालों को मोक्ष रूप हो जाती है एतदर्थक इस न्याय से विहार करने के लिए अपनी ही स्वभाव रूपा प्रकृति को जो कि सांख्यादि न्याय से विश्व को उत्पन्न करने वाली मानी जाती है । उसे स्वयं पिता रूप भगवान् स्वीकार करते हैं । ऐसे भगवान् में मेरी मति समर्पित हो । भगवान् अपनी स्वभावरूपा प्रकृति को क्यों स्वीकार करते हैं तो कहते हैं कि 'यद्भव प्रवाहः' जिस प्रकृति के सम्बन्ध होने से विश्व की बीजांकुर की तरह परम्परा चलती है । वह प्रकृति शक्तिरूप होने से भगवान् से अभिन्न है । तो भी प्रकृति के स्वरूप को भिन्न अभिन्न रूप में कहने पर यह कहा जा सकता है । यदि अभिन्न है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि वह नित्य है । भिन्न होने पर भी अनादि होने से उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतः उसके संयोग से दूसरे की ही उत्पत्ति हो सकती है । इसी आशय से कहते हैं कि ये ऊपर का विवरण 'न घटत उद्भव' इस श्लोक के तात्पर्य को लेकर है । जैसे सृष्टि बनाकर क्रीड़ा के लिए अपनी स्वभाव रूपा प्रकृति का सम्बन्ध करते हैं उसी प्रकार हमको मुक्ति देने के लिए यादवों में श्रेष्ठ बनते हैं ।।३२।।

**आभास**—इदानीं रतिं प्रार्थयते—

**आभासार्थ**—अब मेरा भगवान् में प्रेम हो यह भीष्मजी प्रार्थना करते हैं—

**श्लोक—त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।**
**वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ।।३३।।**

**श्लोकार्थ**—त्रिलोक में एक ही सुन्दर तमालवृक्ष के समान नीलवर्ण सूर्य की किरणों के समान लालवर्ण से मिले श्रेष्ठ पीताम्बर को धारण करने वाले और अलकावली से शोभित मुखारविन्दयुक्त श्रीअंग को धारण करने वाले अर्जुन के सखा भगवान् में मेरी अलौकिकी प्रीति हो ।।३३।।

**सुबोधिनी—त्रिभुवनकमनमिति** । कदाचिदभेदादन्तर्यामिणि स्वरूपे वा रतिं प्रार्थयेदित्याशङ्क्याऽऽह—**वपुर्दधान इति** । यत्र प्राकृतानामपि प्रतीतिः शरीरिति तादृश एव मम रतिरस्तु । प्रमाणबलमनपेक्ष्य केवलं प्रमेयबलेनैव मम यत्कार्यं भवति तदेव भवत्विति केवलं प्रतीत्या यन्मतं तदेवाऽनुवदति—**वपुर्दधान इति** । विषयसौन्दर्येणैव चित्त प्रविशत्विति रूपवर्णनम् । त्रिभुवने **त्रैलोक्ये तदेव कमन** लोकदृष्ट्यैव सुन्दरं न तु शास्त्रसंस्कारेण प्रतीत्या तथाविधम् । तथा सति बुद्ध्या फल तदल्पम् । लौकिके तु वस्तुनः शक्त्या फलम् । **तमालवर्णमिति** । तमालवद्वर्णो यस्य । औत्पत्तिको निरतिशयः सदैवविधस्तमालवृक्षेषु नीलवर्णः । अनेन वर्णेनैतज्ज्ञापितम्—सर्वथा परहितजनकमिति । **रविकरगौरवराम्बरमिति** । रविकरवत् गौरं वरमम्बरं यस्य । भगवतः सर्वमुक्त्यर्थं प्रादुर्भूतस्य पीताम्बरमाच्छादकमिति दुष्टत्वमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाह—**रविकरेति** । सूर्यरश्मयो घटादौ पतिताः प्रकाशयन्त्येव न त्वाच्छादका भवन्ति तथा पोताम्बरं परमानन्दं प्रकाशयत्येव न त्वाच्छादयति । तथा वेदोऽर्थं प्रकाशयत्येव । गौरमीषद्रक्तपीतम् । नीलो वर्णो वर्णान्तरेण प्रकाश्यत इति । वेदानां प्रार्थना या अस्मदावेष्टितो भगवान् तिष्ठत्विति । अस्तित्वत्युक्ते पीताम्बरत्वमापन्ना भगवन्तमाच्छाद्य तिष्ठन्तीति वेदरूपमम्बरम् । अनेन व्यापकताऽप्युक्ता । अप्राकृतत्वं च । रविकरैर्वा गौरवरमम्बरमाकाशः **वपुरिति** । आकाशशरीरं ब्रह्मेत्युक्तं भवति । पूर्वविशेषणद्वयमाकाशपक्षेऽपि स्पष्टमेव । **अलककुलावृताननाब्जमिति** । अलकाश्चूर्णकुन्तलाः । तेषां कुलैरावृतमाननाब्जं मुखकमलं यस्य । **अलमत्यर्थं कं** कुलैरानन्दसमूहैः **आवृतं** आ समन्ताद्वेष्टितं करचरणादिरूपेण **स्थितमाननं** आ समन्तात् **ननं** सद्रूपं **अब्जं** सूर्यचन्द्रनक्षत्रलक्ष्मीविद्युन्मेघादिरूपम् । आनन्दावयवे आकाशशरीरे ब्रह्मणि दन्तनेत्रभावापन्नानि सूर्यादीन्यस्ये(?)त्युक्तं भवति । **वं** अमृतं पुष्णाति सर्वेभ्यः प्रयच्छतीति **वपुः** परमानन्दस्वरूपम् । **अलमत्यर्थं कं** येषां ते ब्रह्मविदस्तेषां कुलैर्वा । त एव वा ते । तैरावृतमग्निब्राह्मणरूपमाननमब्जमासनकमलं यस्य । सनकादिभिर्ब्राह्मणैर्देवर्ज्ञानादिभिश्च पत्रेषु स्थितैरावृतं कर्णिकारूपमासनमित्युक्तं भवति । अब्जपदेन च सूर्यादिवेष्टनसहितत्वं लक्ष्यते । एतादृशं वपुर्दधाने । तादृशोऽपि भक्तवत्सल इति—**विजयसखे** । सख्यपर्यन्तं दत्तवानिति । विजयोऽर्जुनः । विशिष्टो जयो येषाम् । अन्तःकरणादिजेतारः । ते सखायो यस्य । तेषां वा सखा । तत्र रतिः प्रीतिः । अनवद्या अलौकिकी । परमा प्रीतिरलौकिकी सर्वदुर्लभा भगवदेकनिष्ठा तत्त्व एव भवतीति नोत्तरत्र विरोधः ।।३३।।

**व्याख्यार्थ** - कदाचित् अन्तर्यामी के साथ अभेद होने से उसमें अथवा जीवात्मा में रति की प्रार्थना भीष्मजी ने की यह बात नहीं है किन्तु जिनने शरीर धारण किया है और जिनमें प्राकृत

(साधारण) व्यक्ति भी यह शरीर वाला है ऐसी प्रतीति करते हैं ऐसे मेरे सामने उपस्थित आप में मेरा प्रेम हो। शास्त्र के द्वारा आपके स्वरूप का ज्ञान होने पर मेरा कार्य हो इसकी मुझे अपेक्षा नहीं है। मैं तो यह चाहता हूँ कि जिसमें प्राकृत व्यक्तियों को यह शरीरी है ऐसी प्रतीति होती है उसमें प्रेम चाहता हूं। अर्थात् आपके इस स्वरूप बल से ही जो कार्य होता हो वही होवे। इसी बात का 'वपुर्दधानम्' से अनुवाद करते हैं। स्वरूप सौन्दर्य से ही भगवान में मेरा चित्त लगे इसलिए भीष्मजी भगवान् के रूप का वर्णन करते हैं। तीन लोक में जो लोक दृष्टि से सुन्दर माने जाने वाले हैं उनमें मेरी प्रीति हो। शास्त्र संस्कार के द्वारा जिसको प्रतीति होती है उसमें नहीं। शास्त्रों के द्वारा समझे जाने वाले भगवान् से जो फल होगा वह बुद्धि के द्वारा होने से अल्प होगा क्योंकि बुद्धि कल्पना करेगी तो बुद्धिगत भगवान् का मनन होगा। लौकिक रूप में शरीरी प्रतीत होने वाले इन भगवान् में प्रेम किया जाय तो इस वस्तु के सामर्थ्य से महान् फल होता है। भगवान् तमालवृक्ष के समान श्यामवर्ण हैं। तमालवृक्ष में नैसर्गिक सर्वाधिक सदा एकसा रहने वाला नीलवर्ण है। तमाल वर्ण पद देकर के यह बताया कि वृक्ष सर्वथा परहित करने वाला है। इसी तरह भगवान् भी परहित करने वाले हैं। भगवान् रविकर गौरवराम्बर हैं। अर्थात् सूर्य किरणों की तरह गौर और श्रेष्ठ है वस्त्र जिसका। सबकी मुक्ति के लिए प्रकट हुए भगवान् का पीताम्बर स्वरूपावरण करने के कारण दुष्ट है ऐसी आशङ्का पर कहते हैं कि 'रविकर' सूर्य की किरणें घट आदि पर पड़ती हैं तो उसे बताती ही है आवृत्त नहीं करती। ढकती नहीं। वैसे ही पीताम्बर भी परमानन्द का प्रकाश ही करता है। उसे छिपाता नहीं। पीताम्बर को वेदरूप भी माना है। वेद, अर्थ का प्रकाश ही करता है। छिपाता नहीं। गौर शब्द का अर्थ यह है कि जिसमें कुछ ललाई के साथ पीलापन हो ऐसा भगवान् का पीताम्बर है। नीलवर्ण कुछ दूसरे वर्ण वाले के सम्बन्ध से प्रकाशित होता है। यहां भगवान् का श्यामवर्ण पीताम्बर से शोभित है। वेदों की प्रार्थना थी कि भगवान् हमसे आवेष्टित होकर रहें। भगवान् ने उन्हें कहा कि ठीक है तो पीताम्बर रूप में बने वेद भगवान् को ढककर के रहते हैं। इसलिए पीताम्बर को वेदरूप कहा। पीताम्बर यदि मायारूप होता तो वह प्रकाशक नहीं होता इसलिए पीताम्बर को वेदरूप बताया। वेदत्रयी रूप सूय अपने स्वरूप से घटादि को प्रकाशित करता है वैसे ही यहां भी समझना चाहिये। 'वासश्छन्दोमयं पीतम्' के अनुसार पीताम्बर को वेदरूप बताया है। तात्पर्य यह है कि क्रिया बाहुल्य एवं उसके नाना फल बताकर भगवान् से जीवों को पृथक् किया और अपनी क्रियाओं में मानवों को लगाया। जिससे केवल भगवद्भक्ति करने वाले जीव न रहें। इस प्रकार वेद भगवान् के स्वरूप को ढकने वाला है। किन्तु वेदरूप पीताम्बर माया की तरह भगवान् का आवरक नहीं है। यहां वस्त्र के लिए अम्बर पद इसलिए दिया है कि उससे आकाश का भी बोध हो जैसे आकाश व्यापक है वैसे ही वेदरूप वस्त्र भी व्यापक है ऐसा अम्बर पद से कहा गया। अथवा ब्रह्म व्यापक है तो उसका वस्त्र भी व्यापक है और वस्त्र की अप्राकृतता भी बताई। अथवा रवि किरणों से गौर श्रेष्ठ जो आकाश वह ब्रह्म का शरीर है। अर्थात् ब्रह्म आकाश शरीर वाला है। यह कहा गया। 'त्रिभुवनकमनं तमालवर्णम्' ये जो दो विशेषण हैं वे आकाश पक्ष में भी स्पष्ट हैं। क्योंकि आकाश त्रिभुवन को अवकाश देता है। इसलिए सुन्दर है और आकाश की प्रतीति तमालवृक्ष के जैसी श्याम है। अब 'अलककुलावृताननम्' का अर्थ कहते हैं कि अलकावलि से आवृत्त है मुखारविन्द जिसका। अथवा अल का अर्थ है अधिक। 'क' का अर्थ है आनन्द और 'कुल' का अर्थ है समूह अर्थात् अधिक आनन्द के समूह से चारों ओर से वेष्टित अर्थात् आनन्दरूप कर चरणादि रूप से स्थित। आनन का अर्थ है जिसका चारों ओर से

अमात्र नहीं ऐसा सद्रूप सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, बिजली, मेघादि रूप अब्ज है जिसके अर्थात् आनन्द रूप हैं अतएव जिसके ऐसे प्राकृत शरीर वाले ब्रह्म के दन्त नेत्र रूप है सूर्य चन्द्रमा आदि जिसके। वपु का अर्थ यह है कि 'व' अर्थात् अमृत उसका 'पुष्' पोषण करने वाला अर्थात् सबको आनन्द देने वाला जिसका परमानन्द स्वरूप है। अथवा 'अलककुलावृताननाब्जम्' का यह अर्थ है कि विशेष रूप में जिनको मुख है ऐसे ब्रह्मज्ञानी है। उनके समुदाय से व्याप्त। अथवा संस्कृत जो पृथ्वी आदि तद्रूप शरीर को ग्रहण करने वाले ब्रह्मज्ञानी उनसे परिवेष्टित। अथवा ब्रह्मज्ञानी ही अलकावलि रूप में है जिसके उससे आवृत। अग्नि ब्राह्मण रूप जो मुख वह जिसका आसन कमल है अर्थात् कमल पत्रों में स्थित सनकादि ब्राह्मण देवता और ज्ञानियों से आवृत्त कर्णिका रूप आसन है। सूर्य चन्द्रमा आदि जल से पैदा होते हैं अतः अब्ज पद से लिये गये जो सूर्य चन्द्रमा आदि हैं उनसे भी आवेष्टित है। भगवान् इस प्रकार के शरीर का धारण करने वाले होते हुए भी वे भक्तवत्सल हैं इस बात को 'विजयसखे' से कहा है। अर्थात् भगवान् ऐसे भक्तवत्सल हैं कि अर्जुन को सख्य पर्यन्त भक्ति दे दी है। विजयसखे में जो विजय पद है उससे अर्जुन लिया गया है। अथवा जिनका विशिष्ट जय हो वे भी विजय पद से लिये गये हैं। क्योंकि शत्रुओं को जीतना विशिष्ट जय नहीं है। अन्तःकरण आदि को जीतना विशिष्ट जय है। अर्थात् अन्तःकरण आदि को जीतने वाला भक्त है, सखा (मित्र) जिसके। अथवा ऐसे अन्तःकरण को जीतने वालों के आप सखा हैं। ऐसे भगवान् में मेरी अलौकिकी प्रीति होवे। अलौकिकी सबको दुर्लभ भगवान् में ही एक निष्ठा कराने वाली परमा प्रीति अन्तःकरण आदि जीतने वाले में हो हो सकती है। इसलिए आगे के श्लोक से विरोध नहीं हुआ। अर्थात् भीष्मजी ने अलौकिकी प्रीति की प्रार्थना की है। वह प्रीति उत्तमाधिकारी में ही सम्भव है। भीष्मजी ने 'ममनिशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणों से जिनकी त्वचा छेदी जा रही थी इस रूप में युद्ध के सामयिक रूप का वर्णन किया है। उत्तम अधिकारी इस प्रकार भगवान् के लिए नहीं कह सकता तो उत्तर देते हैं कि उस समय भीष्मजी अन्तःकरण आदि को जीतने वाले नहीं थे और इस समय अन्तःकरणादि को जीतने वाले हैं इसलिए अलौकिक रति की प्रार्थना युक्त है ॥३३॥

**आभास**—एवं सत्त्वमिश्रसत्त्वावस्था उक्ता। रजोमिश्ररजोऽवस्थामाह—

**आभासार्थ**—शङ्का करते हैं कि युद्ध समय में भीष्मजी में उत्तमाधिकारी के भाव नहीं रहे तो इस समय भीष्मजी में उत्तमाधिकारी के भाव कैसे उत्पन्न हुए इसका उत्तर देते हैं कि भगवान् की अवस्था के भेद से भीष्मजी के भाव में भिन्नता हुई पूर्व श्लोक में को जाने वाली स्तुति में भगवान् में सर्वतोऽधिक सुन्दरता होने से वे सुखजनक हैं एवं प्रकाशक हैं। सत्त्वगुण से सुखरूप प्रकाश होता है अतः सत्त्वगुण का कार्य होने से सत्त्वयुक्त सत्त्व की अवस्था का भीष्मजी ने वर्णन किया है भीष्मजी को भगवान् के दर्शन हुए। अब भगवान् को रजोमिश्रित राजस अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्य्यलंकृतास्ये।**
**मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ।३४।**

**श्लोकार्थ—युद्ध** में घोड़ों के खुर की रज से धूसर वर्ण चारों ओर फैले हुए केशों से मिले हुए **श्रम बिन्दुओं से शोभित** मुखारविन्द वाले मेरे तीक्ष्ण बाणों **से** जिनकी त्वचा छेदी जा रही है जो कवच से शोभित है ऐसे श्रीकृष्ण में मेरा अन्तःकरण हो ।।३४।।

**सुबोधिनी—युधीति** । सर्वावस्थासु रतिः प्रार्थ्यते । **युधि** युद्धे । तुरगाणामश्वानां खुराग्रविक्षतरजोभिः विशेषेण धूमाः धूसरवर्णाः विष्वक् परितो ये कचास्तैर्लुलितं यच्छ्रमवारि तेनाऽलंकृतमास्यं यस्य । नीले मुखाब्जे मुक्ताफलसदृशा बिन्दवः शोभातिशयं कुर्वन्ति । **मम** भीष्मस्य । त्वक् चर्मादि । युद्धविशेषणं वा । राजसराजसावस्थायाः शोभैव सा । **अथवा** । युद्धार्थमिन्द्रियादिभिः सह **तुरगाणां** वेदानां सूर्यादीनां वा यत् **रजः** कामो रजोगुणो वा तेन **विधूम्रा** विशेषेण **धूसरा ये** सकामाः । कालवशाद्वा वेदवशाद्वा सकामाः । कालपरिच्छेदका ह्यग्न्यादयः । **"अग्निर्वा अर्वे"** त्यादिश्रुतिभिस्तेषां तुरगत्वम् । वेदानां **च** त्रिपुरदाहादौ । ते च ते **विश्वक्काश्च** ब्रह्मविदः सूर्यादिमार्गगामिनो भिन्ना वा । तदा तेषां **च** समुच्चयः । इतरेतरयोगो वा । तेन लुलिता मिलिता **ऐक्य**भाव वा प्राप्ताः । ते च ते **श्रमवार्य्यलंकृताश्च** गङ्गाजलपूता ब्रह्मशिवादयः । तेऽपि आनने यस्येति । **आ** समन्तात्सद्रूपे (?) वा । अनेन महासामर्थ्यं सूचितम् । कालरूपत्वं **च** । किञ्च । **मम** अहङ्कारविशेषः । तेन या **निश्** निशा तामिताः । अहङ्कारेणाऽज्ञानं प्राप्ता इति यावत् । **ते च ते शराश्च** परभेदकाः । तैर्विशेषेण भिद्यमानास्त्वचः छन्दांसि यस्येति । यस्माद्वा । **पाषण्डप्रवृत्तौ कलौ** वा सञ्जाते गत्यन्तराभावात् । भगवतश्च तद्दोषाभावे हेतुः । विशेषेण लसत्कवचं धर्मादिरूपं यस्य । एतादृशे कृष्णे आत्मा अन्तःकरणमस्तु । भक्तिर्हि अन्तःकरणसाध्या । आत्मसाध्या वा । तदुभयं भगवति चेत्तदा भक्तिस्तत्र भवति । अतः पूर्वश्लोकार्थे अयं हेतुः ।।३४।।

**व्याख्यार्थ**—भगवान् की सत्त्वमिश्र अवस्था तथा रजोमिश्र रजोऽवस्था आदि जितनी भी अवस्था है उनमें रहे हुए भगवान् में प्रीति हो ऐसी प्रार्थना करते हैं । युद्ध में घोड़ों के खुरों के अग्र भाग से खुदी हुई रज से विशेष रूप से परितः धूमरवर्ण वाले जो बाल उनसे सम्बन्ध रखने वाला युद्ध से होने वाले श्रमवारि (पसीना) से अलंकृत है मुख जिनका । नील मुख कमल पर मोतियों के सदृश श्रम बिन्दु अधिक शोभा बढ़ा रहे हैं । श्लोकस्थ 'मम' पद से भीष्मजी लिये गये हैं । 'त्वक्' शब्द से चर्म आदि लिये गये हैं । अर्थात् भीष्मजी कहते हैं कि मेरे तीक्ष्ण बाणों से छेदी जाती हुई त्वचा वाले श्रीकृष्ण में मेरा अन्तःकरण हो । अथवा 'निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि' यह युद्ध का विशेषण है । अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणों से छेदी जाती हुई है त्वचा जिस युद्ध में । तीक्ष्ण बाणों से शरीर का भेदन होना राजस अवस्था की शोभा ही है । अथवा इन्द्रियादिकों से युद्ध करने के लिए तुरग अर्थात् वेद अथवा सूर्य आदि उनका रज अर्थात् काम अथवा रजोगुण उनसे विशेष रूप से धूसर जो सकाम मनुष्य । तात्पर्य यह है कि काल के वश में होने से तथा वेदोक्त क्रियाओं के वश में होने से मनुष्य सकाम है । काल एवं वेद उन्हें सकाम बनाते हैं । अग्नि सूर्य आदि अमुक अमुक काल के बताने वाले हैं । सूर्य आदि घोड़े हैं । इसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं । 'अग्निर्वा अर्वा वायुः सप्तिः आदित्यो वाजी एताभिरेवास्मैदेवताभिर्देवरथं युनक्ति' तात्पर्य यह है कि अग्नि वायु सूर्य घोड़े हैं इनसे देवरथ जोड़ा जाता है । इस श्रुति में सूर्य आदि को घोड़ा बताया है । त्रिपुर को जलाने में

वेदों का घोड़ा बनाया गया था। इसलिए वे भी घोड़े कहे जाते हैं। ऐसे सकाम क्रममुक्ति के अधिकारी चारों ओर से ब्रह्म को जानने वाले जो सूर्यादि मार्ग गामी है। अथवा अश्व समुच्चय अर्थ वाले च से सकामों से भिन्न ब्रह्मज्ञानी लिये गये हैं। इन सबका समाहार द्वन्द्व मानने पर एक वचन होगा। इतरेतर द्वन्द्व मानने पर विग्रह यह होगा कि 'तुरगरजोविधूम्राश्च ते विष्वक् काश्चाश्च' श्लोक में कहे गये सकाम ब्रह्मज्ञानी के समुदाय से एकता को प्राप्त हुए अर्थात् उनके समान जो 'श्रमवार्यलकृत' अर्थात् भगवान् का श्रमवारि रूप जो गङ्गाजल उससे अलंकृत अर्थात् पवित्र। जो पवित्र होगा वही अलंकृत होगा। ऐसे जो ब्रह्मा शिव आदि जिसके मुख में है। अर्थात् ब्रह्मा शिव भी जिन भगवान् के भक्ष्य है। अथवा आस्ये का अर्थ है आसमन्तात् सद्रूप ब्रह्म में। श्लोक में आये हुए 'आस्ये' के स्य का सद्रूप अर्थ कैसे होगा इस पर प्रकाशकार लिखते हैं कि यहां सत् से स्य बना है। सत् में आये हुए त् को और स में अ है उसको पर निपात बहुल छन्दसि से हुआ है। इसलिए आस्य का अर्थ ऐसा है। उपर्युक्त बात से भगवान् का बड़ा सामर्थ्य सूचित हुआ तथा कालरूपता भी सूचित हुई। भीष्मजी से कहे गये मम से अहङ्कार लेना अर्थात् मेरे पेने बाणों से ऐसा कहने से अहङ्कार सूचित होता है। उस अहङ्कार से निश् अर्थात् रात्रि उसके प्राप्त होने वाले अर्थात् अहङ्कार से जो अज्ञान को प्राप्त हो गये हैं। यहां निशा शब्द से अज्ञान लिया गया है। अहङ्कार से जो अज्ञानी होते हैं वे दूसरों के मर्म भेदन करने वाले होते हैं जैसे कि बाण भेदन करता है। पर भेदन (दूसरे को छेदने वाले ऐसे) अर्थ को लेकर मर्म भेदन करने वाले शर पद से कहे गये हैं। इस प्रकार के पाषण्डियों से विशेष रूप से नष्ट किये गये हैं त्वचा रूप वेदों को जिसके अथवा पाखण्डियों से वेद दूषित हुए हैं जहां, इस पक्ष में त्वच् शब्द से वेद अर्थ लिया गया है। पाषण्ड की प्रवृत्ति होने पर अथवा कलियुग में दूसरी कोई गति न होने के कारण पाषण्डी वेद को दूषित कर देते हैं। भगवान् बुद्ध ने जब इस प्रकार वेदों को दूषित किया तो भगवान् को दोष लगाना चाहिये इस पर कहते हैं कि 'विलसत्कवचे' विशेष रूप से शोभित है धर्मादि रूप कवच जिसके इसलिए वह भगवान् निर्दोष है। धर्मादि रूप कवच धारण किये हुए होने पर दोष नहीं लगता। ऐसे कृष्ण भगवान् में मेरा अन्तःकरण एवं आत्मा हो। यहां आत्मा शब्द से अन्तःकरण एव आत्मा दोनों लिये गये हैं। निश्चय करके भक्ति अन्तःकरण एवं आत्मा से होती है। आत्मा एवं अन्तःकरण ये दोनों यदि भगवान् में होते हैं तो उसमें अनवद्य भक्ति होती है। रति अन्तःकरण एवं आत्मा साध्य है। यदि अन्तःकरण एवं आत्मा का सम्बन्ध भगवान् में कर लिया जाता है तो अनवद्य रति होना माना जाता है। इस श्लोक में अन्तःकरण का भगवान् से सम्बन्ध चाहा गया है। इसलिए पूर्व श्लोक के अर्थ में हेतु है। इस श्लोक का अर्थ हेतु है। भीष्मजी ने भगवान् में निर्दोष परमा प्रीति की पूर्व श्लोक में कामना की है तो 'मम निशितशरर्विभिद्य मानत्वचि' ऐसा भीष्मजी का कहना इस प्रकार की प्रीति चाहने वाले का युक्त नहीं होता परन्तु जब इसका अर्थ दूसरा कर दिया गया तो पूर्वापर विरोध नहीं हुआ ॥३४॥

**आभास**—तृतीयावस्थामाह—

**आभासार्थ**—तमोमिश्रित तमो अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।**
**स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे मतिर्ममाऽस्तु ॥३५॥**

**श्लोकार्थ**— दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को स्थापित करो ऐसे अपने सखा अर्जुन के वचनों को सुनकर जल्दी ही अपनी और शत्रुओं की सेना के बीच में रथ को ले जाकर स्थित हुए और नेत्रों से शत्रुओं के सैनिकों की आयु को हरण करने वाले अर्जुन के सखा भगवान् में मेरी बुद्धि हो ।।३५।।

**सुबोधिनी—सपदीति** । सपदि तत्क्षणमेव । सखिवचोऽर्जुनस्य वचः । "**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युते**"ति । **निजपरयोः** सेनयोर्मध्ये । पक्षपातोऽन्यार्थेऽन्यघातनञ्च तृतीयो गुणः । परसैनिकानामायुश्च **अक्ष्णा कालदृष्ट्या** । पृथायाः पुत्रस्य च सखा । पूर्ववन्मतिरस्तु ।।३५।।

**व्याख्यार्थ**—तत्क्षण ही अर्जुन के '**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत**' इस वचन को सुनकर अपनी एवं शत्रु की सेना के बीच में रथ को स्थापित कर दिया । यहां भगवान् में पाण्डवों का पक्ष करना और पाण्डवों के लिए कौरवों को मारना यह तीसरा गुण तमोगुण है । शत्रुओं के सैनिकों की आयु को काल दृष्टि से हरण करने वाले कुन्ती के पुत्र अर्जुन के मित्र में जो पाण्डवों का पक्ष लेने वाले तथा कौरवों के विनाश करने वाले होने से तमोगुण वाले होने पर भी भक्त-वत्सलता गुण होने से ऐसे भगवान् में मेरी बुद्धि हो ।।३५।।

**आभास**— सत्त्वमिश्ररजोऽवस्थामाह—

**आभासार्थ**—सत्त्वमिश्रित रजोऽवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।**
**कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ।।३६।।**

**श्लोकार्थ**—दूर-दूर स्थित सेनाओं के अग्रिम भाग को देखकर दोष बुद्धि से अपने आत्मीय जनों को नहीं मारने वाले अर्जुन की कुमति को जिसने आत्मविद्या (गीतोपदेश) से दूर किया उस परम भगवान् में मेरी भक्ति बनी रहे ।।३६।।

**सुबोधिनी**—**व्यवहितेति** । व्यवहिते दूरे स्थिते ये पृतने । विशेषेण अवहिता यत्रेति वा । अवेति वा निषेधार्थः । अहिता इति यावत् । विहिता अवहिताश्चेति वा । मुखमग्रिमभागः । तत्र बान्धवा एव तिष्ठन्ति । तद्वधव्यतिरेकेण न साधारणवधोऽपि सम्भवति । अतः स्वजनवधमकृत्वा निवृत्तः । परहिंसादोष इति । नापितेन क्षौरवदत्र समाधानम् । भारायमाणाः क्षत्रियाः श्मश्र्वादि-रूपाः । अर्जुनश्च नापितरूपः । आत्मविद्या स्वस्य विद्या । मयैव क्रियते । मम च हितम् । तेषामपि जडांश एव दूरी क्रियते मुक्तिदानार्थमिति । तस्मादेवंविधे न दोषः । अत एव गुरुत्वाच्चरणरतिं प्रार्थयते । परो मीयतेऽनेनेति परमः । **तस्येति** । स एव परः । तदवस्थां प्राप्तस्येति वा ।।३६।।

**व्याख्यार्थ**—दूर-दूर स्थित जो सेनाएं उनके अग्रिम भाग को देखकर अथवा व्यवहित का अर्थ है जिसमें विशेष रूप से लोग सावधान हैं । तीसरा अर्थ व्यवहित का यह भी है कि जो अहित

(शत्रु) है। यह अर्थ इसलिए कहा गया कि व्यवहित में जो अव उपसर्ग है वह निषेधार्थक है। अर्थात् विशेषण जो अहित है अर्थात् शत्रुओं की सेना के अग्रिम भाग को देखकर। अथवा व्यवहित का वि के साथ हित का सम्बन्ध करने पर अर्थ यह है कि जो विशेष रूप से हित है। निषेधार्थक अव के साथ हित का सम्बन्ध होने पर यह अर्थ हुआ कि जो अहित है उनकी सेना के अग्रभाग को देखकर जिस अग्रिम भाग में बान्धव हो खड़े हैं उन बान्धवों के मारने के बिना सेना में रहे हुए साधारणों को मारना भी सम्भव नहीं है। अतः स्वजन को न मारकर निवृत्त हुए अर्थात् परहिंसा दोष से निवृत्त हुए अर्जुन के द्वारा नापित से जैसे क्षौर कराया जाता है ऐसे ही यहां सेना को साफ कर दिया यह समझना। भारभूत जो क्षत्रिय है वे श्मश्रू (दाढी मूंछ) आदि रूप है। और अर्जुन नापित रूप है। नापित से जैसे केश दूर किये जाते हैं ऐसे श्मश्रू आदि रूप जो शत्रु सैनिक हैं। उन्हें भगवान् ने अर्जुन के द्वारा नष्ट करा दिया। अर्जुन ने स्वजनों को देखकर जब मारना न चाहा तो भगवान् ने गीता से अपनी विद्या का अर्थात् यह सब कुछ मुझसे ही किया जा रहा है और मेरा इसमें हित है। इस रूप की आत्मविद्या का उपदेश देकर अर्जुन के मोह को जिसने हटाया और भगवान् ने शत्रु सैनिकों को मुक्ति देने के लिए उनमें रहे जडांश को दूर किया। इस प्रकार के भगवान् में सर्वथा दोष की कल्पना नहीं हो सकती। भीष्मजी ने भगवान् को आत्मविद्या के उपदेष्टा के रूप में वर्णन करने से भगवान् को गुरु बताया क्योंकि जो विद्या का उपदेश देता है वह गुरु होता है अतः भीष्मजी ने गुरु भावना से यहां चरणारविन्दों में प्रेम चाहा। पूर्व श्लोकों में चरण रति पद न देकर इसीमें चरण रति पद दिया। गुरु इतना सम्मान्य होता है कि उसके चरणारविन्द में ही प्रेम चाहना चाहिये। श्लोक में परमस्य आया है इसका अर्थ यह है कि जिससे पर पुरुष ज्ञात होवे। श्लोक में जो परम पद से कहा गया है वही तत् पद से कहा गया है। अर्थात् 'मत्तः परतरं नान्यत्' से भगवान् ने अपने आपको सबसे पर बताया। और 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' इत्यादि से अपना ज्ञान अपने ही से होना बताया। इसलिए वही भगवान् परम भी हो सकता है और पर भी हो सकता है अर्थात् वही भगवान् पर को समझाने वाला हो सकता है। अथवा गीता के द्वारा आत्मविद्या का उपदेश देने से सात्विकता बताई और युद्ध से संहार कराने के कारण इस अवस्था को रजोअवस्था बतायी और उस भगवान् के चरणारविन्द में रति चाही है।।३६।।

**आभास**—तमोमिश्ररजोऽवस्थामाह—

**आभासार्थ**—तमोमिश्रित रजो अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुमवप्लुतो रथस्थः।**
**धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः।।३७।।**

**श्लोकार्थ**—अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर मेरी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए रथ से नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथी को मारने के लिए उस पर टूट पड़ता है वैसे ही रथ का पहिया लेकर मुझ पर टूट पड़े। उस समय उत्तरीय गिर गया और पृथ्वी कांपने लगी।।३७।।

**सुबोधिनी – स्वनिगममपहायेति** । स्वस्य निगमः प्रतिज्ञा शस्त्रसंन्यासः । दन्तवक्रे सभ्रातरि हते भगवता शस्त्रसंन्यासः कृतः । तत्पुनस्तृतीयदिनयुद्धे नवमे च भीष्मवधार्थं चक्रं गृहीतम् । युद्धागमनसमये च प्रतिज्ञा कृता अयुध्यमानोऽहमेकत इति । मया च प्रतिज्ञातम्–सर्वथा शस्त्रं ग्राहयिष्यामीति । तत्र मत्प्रतिज्ञामृतं कर्तुं रथस्य एव सन्नवप्लुतः । अधिकं च प्रतिज्ञा कृता । शस्त्रमेव गृहीतं न तु मारितवानित्यर्थः । रथस्यैव चक्रे सुदर्शनस्याऽऽवेशः । भगवतः प्रतिज्ञात्यागे भूमेः कम्पो जातः । तदाह—चलद्गुरिति । चलन्ती गौर्भूमिर्यस्य । दृष्टान्तेन दोषाभावमाह । यथा हरिः सिंह इभमिव । "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन"इति श्रुतेः । सायुज्यदानार्थं भीष्ममन्तःप्रवेशयितुं भगवान् प्रवृत्तः । तावता उत्तरीयं पतितमुपर्याच्छादनार्थम् । अर्जुनो रक्षितः । स भूमावागत्य पतितः । ततो वधो न जात इति । उत्तरीयाभावे च भोजनं निषिद्धम् । तदा हि भीष्मोऽहङ्कारयुक्तः । अतस्तस्य ज्ञानस्फूर्त्यभावात्तदा न मारित इति भावः । अत्र रतिप्रार्थनाऽभावो भगवत एव रतिकार्यकर्तृत्वात् ।।३७।।

**व्याख्यार्थ**– श्लोक में आये निगम का अभिप्राय शस्त्र ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा । भगवान् ने शिशुपाल सहित दन्तवक्त्र के मरने पर शस्त्रों का सन्यास (त्याग) कर दिया था । पुनः तृतीय दिन के युद्ध में तथा नवम दिन के युद्ध में भीष्मजी को मारने के लिए भगवान् ने चक्र लिया युद्ध में आने से समय भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि युद्ध नहीं करता हुआ मैं एक ओर रहूंगा । दूसरी ओर मेरी नारायणी सेना रहेगी । भीष्मजी कहते हैं कि मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि सर्वथा भगवान् को शस्त्र ग्रहण कराऊंगा । उन दोनों प्रतिज्ञाओं में मेरी प्रतिज्ञा को सत्य बनाने के लिए रथ पर विराजे हुए भगवान् नीचे कूद पड़े और रथ का पहिया उठाया । जबकि भगवान् ने शस्त्र ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा की । तो फिर शस्त्र ग्रहण क्यों किया तो कहते हैं कि 'अहं भक्तपराधीनः' इस वाक्य के अनुसार भगवान् की प्रतिज्ञा भक्ताधीन रहने की अधिक है इसलिए भगवान् ने उसी के अनुसार कार्य किया । भगवान् ने शस्त्र ही लिया भीष्मजी को मारा नहीं । भगवान् ने रथ के पहिये को जब उठाया तब उसमें सुदर्शनजी का आवेश हो गया । इसलिए महाभारत में रथ के चक्र के अग्रभाग को क्षुर के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण कहा है । भगवान् ने जब प्रतिज्ञा छोड़ दी तो पृथ्वी में कंप हुआ इसी बात को 'चलद्गु.' से कहा है । गो का अर्थ है पृथ्वी वह कम्पित हो गई । अर्थात् साधारण व्यक्ति का भी प्रतिज्ञा छोड़ना अच्छा नहीं होता तो अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् प्रभु के प्रतिज्ञा छोड़ने पर पृथ्वी ने समझा कि भगवान् जब नियमों का त्याग करने लगे हैं तो मेरा इस असमय में भी प्रलय कर सकते हैं अतः पृथ्वी में कम्प हुआ । जैसे सिंह हाथी को मारने के लिए दौड़ता है इसी प्रकार भगवान् भीष्मजी की ओर दौड़े । सिंह को जैसे मारने का दोष नहीं लगता । वैसे ही भगवान् को भी प्रतिज्ञा त्याग होने पर भी मारने का दोष नहीं लग सकता । क्योंकि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः' जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भात (भक्ष्य) बन जाते हैं । इस श्रुति के अनुसार भगवान् को भक्षक बताया । अपने में भीष्मजी को मिलाने के लिए ही भगवान् प्रवृत्त हुए । केवल मारण के नहीं । इसलिए भगवान् को मारने का दोष नहीं आया । उस समय भगवान् का उपरना नीचे गिर गया । महाभारत में 'व्यालम्बीपीतान्तपटः' पीतान्तपटः इस विशेषण से उत्तरीय छोर पीला बताया गया है इसलिए रवि किरणों के समान पीतरक्त न होने से उसकी वेदरूपता नहीं है किन्तु मायारूपता है । तात्पर्य यह है कि भगवान् भीष्मजी को मुक्ति देने के लिए उतरे किन्तु उस बात को तो छिपाया और अर्जुन की रक्षा के लिए नीचे उतरे यह प्रकट

किया यही भगवान् ने माया की। किसी अन्य उद्देश्य से प्रवृत्त हुए हैं और प्रकट में कुछ अन्य दिखा रहे हैं। यही माया करना है। वह उत्तरीय पट पृथ्वी पर आकर गिर गया इसीलिए भीष्म जी को नहीं मारा। उत्तरीय के न होने पर धर्मशास्त्र में भोजन निषेध है इसलिए भगवान् ने भीष्म जी का भोजन नहीं किया। भगवान् के चक्र हाथ में लेने पर भीष्मजी को मैं बड़ा वीर हूं ऐसा अहङ्कार हुआ जिससे भगवान् के ज्ञान की स्फूर्ति जाती रही। भगवान् ने सोचा कि अहंकार दशा में भीष्मजी को मार देने पर इनकी मुक्ति न होगी। इसलिए उस समय नहीं मारा। भगवान् ही प्रेम का कार्य जो मुक्ति है उसके देने वाले हैं। इसलिए इस श्लोक में भीष्मजी ने प्रीति की प्रार्थना नहीं की। क्योंकि जिस मोक्षफल के लिए भगवान् में प्रेम किया जाता है वह फल भगवान् स्वयं देने के लिए तैयार हैं श्लोक में प्रतिज्ञा त्याग तामस है। भीष्मजी की ओर दौड़ना राजस कार्य है। इसलिए यहां तामस राजसत्व की अवस्था समझना। ३७॥

**आभास**—रजोमिश्रतमोऽवस्थामाह —

**आभासार्थ**—रजोगुण मिश्रित तमोगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**शितविशिखहतो विशीर्णदंशक्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।**
**प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥**

**श्लोकार्थ**—तीक्ष्ण स्वभाव वाले बिना चोटी के पाषण्डियों को जिसने निवृत्त कर दिया है। मच्छरों के नहीं रहने का आठ महिने का समय है उसमें घूमने से क्षत हो गये हैं जिनके अर्थात् चातुर्मास में सन्यासी एवं क्षत्रिय नहीं घूमते हैं, न युद्ध करते हैं और अतिरिक्त आठ महिना ही घूमते हैं ऐसे सन्यासियों एवं उत्तम क्षत्रियों से चारों ओर से व्याप्त इसलिए भगवान् अधर्म के निवारक और धर्म के रक्षक हैं अतएव पापी मुझको मारकर मोक्ष देने के लिए अर्जुन के मना करने पर भी जो बलात् मेरी ओर दौड़े वे ही भगवान् मुझे प्राप्त हो ॥३८॥

**सुबोधिनी** **शितेति**। नवमदिनस्येदं रूपम्। पूर्वश्लोके तु तृतीयदिनस्येति न पुनरुक्तिः। शितास्तीक्ष्णाः विगतशिखाः पाषण्डिनो हता येन। **विशीर्णदंशक्षतजपरिप्लुतः**। विशीर्णा दंशा यस्मिन् काले वर्षाव्यतिरिक्तकाले, मासाष्टकम्। तत्र क्षता जाता येषां ते क्षतजाः। परिव्राजिनः क्षत्रियोत्तमा वा। तैः परितो व्याप्तः। अधर्मनिवारको धर्मरक्षक इत्युक्तं भवति। अत एव आततायिनं पापिष्ठं मां हन्तुं प्रसभमभिससार। अयुद्धचमानयुद्धात् पापिनमपि यो मोचयितुं प्रवृत्तः स भवतु मे भगवान् गतिः प्राप्यः। न हि स मां मारयितुं प्रवृत्तः। किन्तु मुक्तिदानार्थमित्याह—**मुकुन्द इति** ॥३८॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् ने रथचक्र को दो बार उठाया। एक युद्ध के तीसरे दिन दूसरा युद्ध के नवमे दिन। इस श्लोक में वर्णित भगवान् का रूप युद्ध के नवम दिन का है। पूर्व श्लोक जो 'स्व निगममपहाय' है उसमें युद्ध के तीसरे दिन के स्वरूप का वर्णन है। इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं

हुआ । श्री महाप्रभुजी ने भक्त भीष्म पर यह दोष न लग जाय कि भगवान् के युद्ध के स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं । इसलिए भगवान् के प्राप्ति को प्रार्थना करना कैसे युक्त हो सकता है इसी दोष के निवारण के लिए श्री महाप्रभुजी और भगवन्निन्दा की कोई भी बात कहना नहीं चाहते इसलिए भी इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार कर रहे हैं । शित का अर्थ है तीक्ष्ण विशिख का अर्थ है पाषण्डी केवल चोटी कटाकर दिखावटी सन्यासी जैसे उनको जिसने नष्ट किया है 'विशीर्णदंश' शब्द का अर्थ यह है कि जिस समय में मच्छर कम हो जाते हैं अर्थात् वर्षा के अतिरिक्त जो आठ मास उनमें फिरने से सन्यासियों को क्षत हो जाते हैं तथा जो वीर क्षत्रिय हैं युद्ध में उनके क्षत हो जाते हैं । यहां क्षतज का अर्थ यह किया गया है कि जिनके क्षत हो गये हैं ऐसे सच्चे सन्यासो एवं क्षत्रिय । उन सन्यासी और क्षत्रियों से चारों ओर से व्याप्त । इससे यह कहा गया कि भगवान् पाषण्डियों को नष्ट कर अधर्म का निवारण करते हैं और धर्म के पालन करने वाले सन्यासी एवं उत्तम क्षत्रियों से व्याप्त होने के कारण धर्मरक्षक हैं । अधर्म निवर्तक एवं धर्म रक्षक होने से ही आततायी मुझ पापिष्ठ को मारने के लिए अर्जुन के मना करने पर भी बलात् दौड़े । युद्ध न करने वाले भगवान् से मैं युद्ध करने के कारण पापी था तथापि मुक्ति देने के लिए जो प्रवृत्त हुए वे भगवान् मेरी गति (मेरे प्राप्य) हो । यहां 'मे' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी मानकर ऐसा भी अन्वय किया गया है कि ये भगवान् अर्थात् मत्सम्बन्धी भगवान् मेरे प्राप्य हो । वे भगवान् मुझे मारने के लिए प्रवृत्त नहीं हुए थे किन्तु मुक्ति देने के लिए प्रवृत्त हुए थे इसी बात को बताने के लिए श्लोक में मुकुन्द पद दिया है । मुकुन्द का अर्थ है मोक्ष देने वाला । तीक्ष्ण बाणों से मारे गये ऐसा वर्णन करना राजस है मुझे मारने को दौड़े यह तामस है इसलिए रजोमिश्रित तमोवस्था इस श्लोक में वर्णित है ॥३८॥

**आभास**—सत्त्वमिश्रतमोऽवस्थामाह—

**आभासार्थ**—सत्त्वगुण मिश्रित तमोगुण की अवस्था को कहते हैं । भगवान् के देखने से जो सुख होना सात्त्विक है और मारकर उनको अपने स्वरूप में लीन करना तामस है अर्थात् जीवित स्थिति में ब्रह्मरूप नहीं बने किन्तु मरने के बाद उनको भगवद् स्वरूप प्राप्त हुआ इस बात को कहते हैं-

श्लोक—**विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।**
**भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम् ॥३९॥**

**श्लोकार्थ**— जो अर्जुन के रथ की रक्षा करने वाले हैं, जिनने चाबुक लिया है और घोड़ों की लगाम पकड़ रखी है उस समय की शोभा से जो दर्शनीय है । जिनके दर्शन करते हुए यहां जो मरे वे सब स्वरूप को प्राप्त हुए ऐसे भगवान् में मुझ मरने की इच्छा रखने वाले का अनुराग हो ॥३९॥

**सुबोधिनी**—**विजयरथकुटुम्ब इति** । अर्जुनस्य रथः सर्वथा परिपाल्यः । अत एव तस्य रथः कुटुम्ब यस्य । विविधो जयो विगतो वा जयो यस्येति **विजयः** अर्जुनः । जयद्रथवधे हि युद्धे अशक्य इव जातः । तदा स्वयं तोत्रं गृहीत्वा अश्वानां रश्मींश्च गृहीत्वोत्थितः सन् कर्णादीनामस्त्राणि रथचालनेनैव दूरीकुर्वन् तदानीन्तनश्रिया **ईक्षणीयः** अतिसुन्दरः । तादृशे । मुमूर्षोरेव रतिरस्तु । न तु पूर्वजन्मरणानन्तरम् । रतेः कैमुतिकन्यायेन फलमाह—**यमिह निरीक्ष्येति** । इह अस्मिन्नवसरे अन्तकाले य दृष्ट्वैव मुक्ताः । तत्राऽन्तकाले स्नेहे सति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥३९॥

**व्याख्यार्थ**—अर्जुन का रथ सर्वथा परिपालनीय है। जैसे कुटुम्ब का पालन किया जाता है। अतएव अर्जुन के रथ को कुटुम्ब बताया। विजय शब्द का अर्थ है नाना प्रकार का जय जिसका अथवा जिसका जय नहीं रहा। अर्थात् जिसका जय संदिग्ध रहा ऐसा अर्जुन विजय पद से लिया गया है। क्योंकि जयद्रथ के मारने के समय अर्जुन का जय अशक्य हो गया था तब स्वयं भगवान् ने कशा (चाबुक) तथा घोड़ों को रस्सी लेकर खड़े होकर कर्ण इत्यादि के अस्त्रों को युक्ति से रथ के चलाने से ही निराकरण करते हुए उस समय की शोभा से अति सुन्दर दिखाई दिये ऐसे आप में मुझ मरने की इच्छा रखने वाले की प्रीति हो। ऐसा न हो कि पहले की तरह मरण के अनन्तर हो। मुझे प्रेम से उत्तम फल हो इसके लिए तो कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। इसी बात को कहते हैं कि 'यमिह निरीक्ष्य' जिस भगवान् को अन्तकाल के समय दर्शन कर युद्ध करने वाले मुक्त हो गये तो अन्त समय में स्नेह होने पर मुक्त होने में तो कोई बात ही नहीं ।।३९।।

**आभास**—तमोमिश्रसत्त्वावस्थामाह—

**आभासार्थ**—तमोगुण मिश्रित सत्त्वगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।**

**कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ।।४०।।**

**श्लोकार्थ**—हंस एवं हाथी की तरह सुन्दर चलने से मनोहर हास्य से एवं प्रेम पूर्वक देखने से जिनको अधिक मान हो गया है ऐसी गोपीजन भगवान् के चरित्र का अनुकरण करती हुई बहुत मदान्ध होती हुई भी निश्चय करके जिनके स्वरूप को प्राप्त हो गई उन भगवान् में मेरी प्रीति हो ।।४०।।

**सुबोधिनी ललितेति।** ललिता या गतिस्तत्र यो विलासः हंसगजगतिवत्पादचलनम्। मनोहरश्च हासः स्नेहपूर्वकं च निरीक्षणम्। तमोरजस्सत्त्वभावकार्याणि। तैः कल्पित उरु अधिको भगवन्माहात्म्यमप्यविचार्य प्रवृत्तो मानो यासाम्। किञ्च। न केवलमन्तःस्थित एव दोषः किन्तु त्रिदोषकार्यमपि बहिः कुर्वन्तीत्याह—**कृतमनुकृतवत्य इति।** कृतं भगवच्चरित्रं पूतनापयःपानादि तदनुकुर्वन्तीति। एवमपि सति लौकिकमपि ज्ञानं निवृत्तमित्याह—**उन्मदान्धा इति।** उद्गतेन मदेन भगवदारोहणार्थमपि यतन्त इत्यन्धाः। सर्वथाऽचिकित्स्यत्रिदोषाः। तत्राऽपि—**गोपवध्वः** जात्या स्वभावेन च दुष्टाः। ता अपि यस्य सम्बन्धात्प्रकृतिं स्वरूपमगमन् नाऽत्र सन्देहः कर्त्तव्यः। किलेति प्रसिद्धे ।।४०।।

**व्याख्यार्थ**—सुन्दर गमन में जो हंस एवं हाथी हैं उनकी तरह भगवान् का चलना मनोहर हास्य और स्नेहपूर्वक देखना ये क्रमशः तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणों के कार्य है। भगवान् की ऐसी चेष्टा से जिनको भगवन्माहात्म्य का ज्ञान न रहा और वे अधिक मान करने लगी ऐसी गोपवधू जिनमें मान केवल अन्त स्थित दोष ही नहीं था किन्तु त्रिदोष (सन्निपात) का कार्य भी बाहर कर रही थी इसी बात को कहते हैं कि 'कृतमनुकृतवत्य' पूतना के पयः पान आदि भगवच्चरित्र का

अनुकरण कर रही थी। यह एक प्रकार का दोष है। दूसरा उनमें यह दोष था कि लौकिक ज्ञान भी उनको नहीं रहा यही बात कहते हैं कि 'उन्मदान्धा:' बढ़े हुए मद से भगवान् के ऊपर बैठने के लिए भी यत्न किया इसलिए वे अन्ध थी। यह उनका द्वितीय दोष था। ऊपर कहा गया जो और मान करना उनका तृतीय दोष था। यह उनका त्रिदोष (सन्निपात) सर्वथा अचिकित्स्य था। और यह भी बात थी कि वे गायें चराने वालों की स्त्रियां थी जिससे जाति एवं स्वभाव से भी दुष्ट थी। ऐसी गोपियां भी जिस भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो गई। श्लोक में आया हुआ किल पद प्रसिद्धि अर्थ में है। अर्थात् यह बात सर्वविदित है इसलिए इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। यहां उन्मदान्ध पद से मोह होना तामस है और भगवान् का देखना सात्त्विक है इसलिए यहां तमोमिश्रित सत्त्व का वर्णन है ॥४०॥

**आभास**—रजोमिश्रसत्त्वावस्थामाह—

**आभासार्थ**—रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुण की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।**
**अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥**

**श्लोकार्थ**—मुनि समुदाय एव श्रेष्ठ राजाओं से व्याप्त सभा के बीच में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पूजन ग्रहण कर जो दर्शनीय हुए वे जगत् की आत्मा भगवान् मेरे दृष्टि के विषय होते हुए प्रकट हैं इसलिए मेरा अहोभाग्य है ॥४१॥

**सुबोधिनी**—**मुनिगणेति** । मुनीनां गणा नृपश्रेष्ठाश्च । सात्त्विका राजसाश्च न तु तामसाः । **अन्तःसदसि** सभामध्ये सर्वतो मध्यस्थाने । आभिषेचनिके अहनि सदस्यपूजायां यः सर्वोत्तमः स पूजनीय इत्यस्मदादिभिरुक्ते कृष्णं पुरुषोत्तमं मत्वा एषां सर्वेषामेवाऽर्हणम् । सर्वेषामेव सम्भावितत्वात् । अतः सर्वेषां पूजां स्वयमेव गृहीतवान् । तदा च सर्वेषामेव ईक्षणीयो जातः । स इदानीं मम **दृशिगोचरः** तत्सौन्दर्यं साम्प्रतं पश्यामि । तस्य प्रकटात्मत्वमाह **आविरात्मेति** । सोऽप्ययमेव, न त्वेतस्मिन् ॥४१॥

**व्याख्यार्थ**—मुनियों के समुदाय एवं श्रेष्ठ राजाओं से व्याप्त सभा मध्य में। जो सबके मध्य का स्थान था। यहां मुनि सात्त्विक है और राजा लोग राजस कहे गये हैं श्लोक में तामसों का निर्देश नहीं है। 'अन्तः सदसि' का अर्थ है सभा मध्य में। अभिषेक के दिन जब सदस्यों का पूजन होने लगा तो हमने कहा कि जो सर्वोत्तम है उसका पूजन होना चाहिये तब कृष्ण को सब पुरुषों में उत्तम माना। क्योंकि इन भगवान् के पूजन से सबका पूजन हो जाता है क्योंकि ये सबके सम्मानित हैं। ऐसे हम लोगों के कहने पर और इनके पूजन से सबका पूजन होने से पूजा को स्वयं ने ही ग्रहण किया। तब सबके दर्शनीय हुए। वही भगवान् मेरी दृष्टि के विषय हैं। अर्थात् इस समय इनके सौन्दर्य को देखता हूँ। यह जो प्रकट स्वरूप सामने दिखाई दे रहा है यही सर्वरूप भगवान् है। इसके अन्तः रहने वाला नहीं। कोई दूसरा सर्वरूप भगवान् नहीं है। यहां राजसूय राजा से

किया गया है ऐसा बताने से राजसूय यज्ञ राजस है। और तत्सम्बन्धी रूप में पूजनीय होने से भगवान् को भी राजस कहा है। ज्ञानान्तर इनका निश्चय होने से सात्त्विकत्व भी कहा। ४१॥

**आभास**—एवं स्वदृष्टया सर्वावस्था अनुवर्ण्य गुणातीतायामवस्थायां विद्यमाने भगवति स्वात्मसमर्पणमाह—

**आभासार्थ**—इस प्रकार भीष्मजी अपनी दृष्टि से भगवान् की सब अवस्थाओं का पूर्व श्लोकों से वर्णन कर गुणातीत अवस्था में विद्यमान भगवान् को मैं आत्म समर्पण करता हूँ यह कहते हैं—

**श्लोक—तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥**

**श्लोकार्थ**—उन इन भगवान् को जो अजन्मा है। देहधारी जोव जो अपनी अवस्था विशेष रूप है उनके हृदय में जो अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्थित है। जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दृष्टियों में अलग-अलग प्रतीत होता है। वैसे ही वह एक भगवान् अनेक प्राणियों के हृदय में अनेक रूप में प्रतीत-सा होता है उस भगवान् को भेद और मोह को छोड़कर अच्छे रूप में प्राप्त हो गया हूं ॥४२॥

**सुबोधिनी**—**तमिममिति** । पूर्वं यः सर्वोत्कृष्टधर्मवत्त्वेनोक्तः स एवाऽयं हृदयमारभ्य बहिःपर्यन्तमनुस्यूततया स्थितः स च न देहादिरूपः । तदाह—**अजमिति** । यथा ममाऽयमन्तर्बहिस्तिष्ठति तथैव सर्वप्राणिष्वित्याह—**शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमिति** शरीरं भजन्त इति शरीरभाजो जीवाः स्वस्य समानाऽऽकृतिं शरीरं पुरुषरूपं सम्पाद्य स्वसेवां त्याजयित्वा तत्सेवायां नियुक्ताः । तत्र चाऽन्यभजनं मा भवत्विति स्वयमेव हृदि हृदि प्रत्येकपर्यवसायित्वेन धिष्ठितमधिष्ठाय स्थितम् । अधिष्ठातृदेवतात्वेन न तु जीववत् । ननु के ते जोवाः ? तत्राऽऽह **आत्मकल्पितानामिति** । आत्मनैव कल्पिताः । "**अवस्थितेरिति काशकृत्स्न**" इति भगवतोऽवस्थाविशेषो जीवः । प्राकृतभोगार्थं तामवस्थां सम्पादितवानित्यर्थः । नन्वेक एव कथमनेकस्थानेष्वनुस्यूततया दृश्यते ? तत्राऽऽह—**प्रतिदृशमिव नैकधाऽर्कमेकमिति** । चक्षुषोऽधिष्ठात्री देवता सूर्य एक एव प्रतिदृशं तिष्ठति । अथवा । बहिः स्थित एवाऽयं सूर्यः सर्वेषां दृष्टौ अस्मदर्थं एवाऽयमुदित इति प्रतिभाति । "**तस्मात्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगादि**" ति श्रुतेः । तस्मान्महतामचिन्त्यसामर्थ्यान्नाऽत्र सन्देहः कर्तव्यः । तस्मादेवंविधं परमात्मानं सम्यगधिगतोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि । योगेनाऽऽत्मानं तत्र योजितवानित्यर्थः । सर्वोऽपि भगवन्निकटे तिष्ठति । तथापि मायायाः स्वतः कार्याच्च यौ धर्मावुद्गतौ मोहभेदौ तयोः प्रतिबन्धकत्वान्न भगवता सह मेलनमिति मया तौ निवारितावित्याह—**विधूतभेदमोह इति** । इदानीं वा समधिगमनानन्तरं भेदमोहावपगतौ ॥४२।

**व्याख्यार्थ**—पूर्व में जो सर्वोत्कृष्ट धर्म वाला कहा गया है वही यह हृदय से लेकर बाहर पर्यन्त अनुस्यूत (व्याप्त) है। यह देहादि रूप नहीं है किन्तु अजन्मा है। जैसे मेरे भीतर एवं बाहर है वैसे ही सब प्राणियों में भी है यही 'शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितम्' से कहा है। 'शरीर

भाजाम्' का यह अभिप्राय है कि शरीर की सेवा करने वाले जीव जिन्हें भगवान् ने अपने समान आकार पुरुष रूप देकर अपनी सेवा को छुड़ाकर देह को सेवा में लगा दिया । देहों में अन्य (देह) की सेवा न हो इसके लिये स्वयमेव प्रत्येक के हृदय में अधिष्ठात्री देवता के रूप में स्थित हो गये । जीव की तरह स्थित नहीं हुए । ऐसी स्थिति में जो भी सेवा होगी उनकी ही होगी । यदि कहें कि जीवों का स्वरूप क्या है तो कहते हैं कि 'आत्मकल्पितानाम्' अपने से (भगवान् से) ये जोव कल्पित हुए हैं । 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' अर्थात् भगवान् की अवस्था विशेष है । प्राकृत भोगों को भोगने के लिये ही भगवान् जीव रूप बने हैं । यदि कहें कि एक ही भगवान् अनेक स्थानों में किस प्रकार अनुस्यूत (व्याप्त) दीख रहे हैं । तो कहते हैं कि 'प्रति दृशमिव नैकधार्कमेकम्' चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठात्री देवता रूप सूर्य एक होते हुए भी प्रत्येक की दृष्टि के सामने पृथक् पृथक् रूप से दीखता है । अथवा बाहिः स्थित ही यह सूर्य सबकी दृष्टि में यही ज्ञात होता है कि इसका उदय मेरे ही लिये हुआ है । जैसा कि श्रुति में कहा है कि 'तस्मात्सर्व एव मन्यते मां प्रत्युगात्' अर्थात् सभी यह मानते हैं कि मेरे लिये इस सूर्य का उदय हुआ है । अतः जो भी महान् होते हैं उनमें अचिन्त्य, सामर्थ्य होता है इसलिये भगवान् के एक होने पर भी अनेकत्र स्थिति में संदेह नहीं करना चाहिये । इस प्रकार के परमात्मा को अच्छे रूप में प्राप्त हो गया हूं । अर्थात् योग के द्वारा अपनी आत्मा को (अपने आपको) इसे सम्बद्ध कर लिया है । सभी भगवान् के पास ही रहें तो भी माया से और विश्व के कार्यरूप होने से जो माया से मोह होता है तथा कार्य होने से कारण रूप भगवान् से भेद प्रतीति होती है उन दोनों (मोह एवं भेद) के बाधक होने से भगवान् के साथ जीव का सम्बन्ध नहीं होता इसलिये मैंने उस मोह एवं भेद को दूर कर दिया है यही बात विधूत भेद मोहः' से कही है । यहां यह भी भीष्मजी का आशय है कि भगवत्प्राप्ति के अनन्तर मेरे भेद और मोह दूर हो गये । ४२ ।

**आभास**—एवं स्वमनसि स्फुरितं प्रमेयमनूद्य अन्ते स्वकृतमात्मसमर्पणं चाऽनूद्य शरीरं त्यक्तवानित्याह—

**आभासार्थ**–इस प्रकार अपने मन में जो भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति हुई उसे कहकर अन्त में अपने से किये गये आत्म समर्पण का निरूपण कर भीष्मजी ने शरीर छोड़ दिया यह कहते हैं—

**सूत उवाच**—श्लोक—**कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्देहवृत्तिभिः ।**
**आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ।।४३।।**

**श्लोकार्थ**—सूतजी कहते हैं कि इस प्रकार मूलरूप श्रीकृष्ण में मन वाणी देह की वृत्तियों सहित अपनी आत्मा को भगवत्सम्बद्ध कर श्वास को रोककर भीष्मजी ने अपने देह को छोड़ दिया ।।४३।।

**सुबोधिनी**–**कृष्ण इति** । कृष्णे भगवति मूलाविर्भावरूपे एवं कायवाङ्मनोवृत्तयो योजिताः। तैः सह आत्माऽपि योजितः । तेषां तु भेदेन योजनम् । आत्मनस्त्वात्मन्येव योजनम् । **'इहैव समवनीयन्ते प्राणा"** इत्यर्थ उक्तो भवति । **अन्तःश्वासः** । अन्तरेव श्वासो यस्य सः । **उपारमत्** । देहं त्यक्तवान् ।।४३।।

**व्याख्यार्थ**— मूलरूप प्रकट हुए भगवान् कृष्ण में इस प्रकार देह वाणी एवं मन की वृत्तियों को भीष्मजी ने लगा दिया। उन वृत्तियों के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध भी भगवान् के साथ कर दिया। देह वाणी और मन का सम्बन्ध भिन्न रूप से किया क्योंकि देह मन इन्द्रियां भगवान् से भिन्न प्रतीत होती है और अपनी आत्मा का तो सम्बन्ध भगवान् में ही अभेदेन किया। क्योंकि दोनों आत्मत्वेन एक हैं जैसा कि श्रुति में कहा है 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' यहां ही भगवान् में प्राणों का सम्बन्ध कराया जाता है। 'अन्त:श्वास' का अर्थ यह है कि प्राणायाम द्वारा श्वास को भीतर ही रोककर 'उपारमत्' अर्थात् देह को छोड़ दिया ।।४३।।

**आभास**— तदा च सर्वेषामपि तथा प्रतीतिर्जातेत्याह—

**आभासार्थ**—तब सभी को जैसी प्रतीति हुई उसे कहते हैं—

श्लोक—**सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।**
**सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ।।४४।।**

**श्लोकार्थ**—जब भीष्मजी को व्यापकपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण में एकता को प्राप्त हुए जानकर वे सब चुप हो गये जैसे रात्रि में पक्षी चुप हो जाते हैं ।।४४।।

**सुबोधिनी**— **सम्पद्यमानमिति** अन्तःस्थितो भगवान् प्रकटीभूतः। तत्राऽस्य सायुज्यं वृत्तम्। तदा महती काचित्प्रभा निर्गता। तया सर्वैर्ज्ञातं भीष्मो ब्रह्मणि सङ्गत इति। तदा परमपुरुषार्थे विघ्नो माभूदिति सर्वे तूष्णीं भूताः। श्रोत्रेन्द्रियस्याऽनावृतत्वाद्विषयैरिन्द्रियद्वारा मनस आकर्षणसम्भवात्। तद्द्वारा च जीवस्य। यथा सुषुप्तौ। **वयांसीवेति** यथा सन्ध्यापगमे (?)तत्तत्स्थाने स्थिताः पक्षिणः श्वस्तनत्वाद्विचारशून्याः पूर्वानुसन्धानरहिताश्च निद्राभावेऽपि तूष्णीं भवन्ति तथा सर्वसन्देहाभावं श्रुत्वा दृष्टान्तं च दृष्ट्वा वक्तव्याभावाद्ब्रह्मभूता एव तुष्णीं जाता इत्यर्थः ।।४४।।

**व्याख्यार्थ**—उस समय भीष्मजी के अन्तःस्थित रहे भगवान् बाहर प्रकट हो गये। उन्हीं में भीष्मजी का सायुज्य (एकता) हो गया उस समय विलक्षण बड़ी कान्ति निकली। उस कान्ति से सबको ज्ञात हुआ कि भीष्मजी ब्रह्म में मिल गये। ऐसे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के समय किसी प्रकार का विघ्न (बाधा) न हो इसके लिए वहां रहे सब चुप हो गये क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय अनावृत (खुली) रहती है इसलिए उस इन्द्रिय द्वारा विषयों से मन का आकर्षण सम्भव है और उस मन के द्वारा जीव का आकर्षण भी हो सकता है। जैसे सुषुप्ति दशा में दूसरी इन्द्रियों के व्यापार के न होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द जीव तक पहुँचता है और उससे वह जग जाता है। तात्पर्य यह है कि भीष्मजी के देहत्याग के समय वहां बैठे लोग कुछ बोलते तो भीष्मजी की आत्मा का सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अन्य और हो सकता था। वह न हो इसके लिए सब चुप हो गये। रात्रि के आरंभ में उस-उस स्थान पर बैठे पक्षी जिनको कल हम रहेंगे या नहीं। जीवन के रहने का भी निश्चय नहीं होने से विचार शून्य पहले की बातों का अनुसन्धान नहीं रखने वाले वे निद्रा न आने पर भी चुप हो जाते हैं वैसे ही सब सन्देह मिटने से और दृष्टान्त को देखकर वक्तव्य दोष न रहा तथा ब्रह्मभूत को इस प्रकार की अन्तिम स्थिति होती है ऐसे विचार से वे सब ब्रह्मभूत होकर ही चुप हो गये ।।४४।

श्लोक—**तत्र दुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रचोदिताः ।**
**शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ।।४५।।**

**श्लोकार्थ**—उस समय आकाश में देवताओं से बजाये गये नगाड़ों का घोष होने लगा । उत्तम राजागण प्रशंसा करने लगे और आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी ।।४५।।

**सुबोधिनी**—देवानां सर्वज्ञत्वादस्मदीयो वसुर्मुक्त इति वाद्यवादनं चक्रुरित्याह । वादनप्रशंसा-पुष्पवृष्टयस्तामससात्त्विकराजसरूपा उत्तमाः । राज्ञां मध्ये ये साधवः । अनेन तत्राऽपि दुष्टाः सन्तीति ज्ञापितम् ।।४५।।

**व्याख्यार्थ**—देवता सर्वज्ञ हैं इसलिए उनने जाना कि वसु ही भीष्म बना है इसलिए हमारा वसु देवता मुक्त हो गया है इसलिए उन्होंने वाद्य बजाये । श्लोक में वादन (बजाना) प्रशंसा तथा पुष्पवृष्टि तीनों का वर्णन है । इनमें वादन तामस है, प्रशंसा सात्त्विक है और पुष्पवृष्टि राजस है और ये उत्तम है अर्थात् देवताओं ने वाद्य बजाये पुष्पवृष्टि को और राजाओं में जो साधु थे उन्होंने प्रशंसा की । यहां राज्ञाम् में निर्धारण में जो षष्ठी है इसलिए यह अर्थ हुआ कि राजाओं में जो साधु थे उन्होंने भीष्मजी की प्रशंसा की ऐसा कहने से वहां दुष्ट राजा भी थे ऐसा बताया गया है ।.४५।।

**आभास**—"**भस्मान्तं शरीरमि**"ति श्रुतेः शरीरप्रतिपत्तिं चक्रुरित्याह—

**आभसार्थ**—'भस्मान्तं शरीरम्' शरीर अन्त में भस्म रूप में परिणत होता है इस श्रुति के अनुसार शरीर की अन्तिम क्रियाएं की । यही कहते हैं—

श्लोक—**तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भारतः ।**
**युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्त्तं दुःखितोऽभवत् ।।४६।।**

**श्लोकार्थ**—भरत वंश में पैदा होने वाला युधिष्ठिर उन भीष्मजी के मृत शरीर की दाह आदि क्रिया कराकर मुहूर्त्त भर के लिए शोकाकुल हुआ ।।४६।।

**सुबोधिनी**—**तस्येति** । निर्हरणं ज्वालनम् । **सम्परेतस्य** शरीरस्य । भीष्मात्मानं गृहीत्वा भगवति तिरोहिते । भारतो युधिष्ठिरः । मोहाभावाय । **कारयित्वेति** । पट्टाभिषिक्तस्य स्वतःकरण-मनुचितम् । मुहूर्त्तखेदो वेधः ।।४६।।

**व्याख्यार्थ**—श्लोक में आये निर्हरण शब्द का अर्थ जलाना है । सम्परेत का अर्थ निष्प्राण शरीर है । भीतर से प्रकट हुए भगवान् के भीष्मजी की आत्मा को लेकर तिरोहित होने पर युधिष्ठिर ने उत्तर क्रिया करवाई । युधिष्ठिर के लिए भारत विशेषण इसलिए दिया गया है कि 'दौष्यन्तिरत्यगान् मायाम्' के अनुसार भरत को माया से मोह नहीं था । भरत वंश में उत्पन्न होने

[illegible] को माया से मोह नहीं होता है इसलिए युधिष्ठिर को भीष्मजी के मर जाने पर मोह नहीं हुआ। श्लोक में कृत्वा पद न कहकर कारयित्वा कहा है इसका तात्पर्य यह है कि राज्य पर अभिषिक्त होने पर स्वयं को उत्तर क्रिया नहीं करनी चाहिये इसलिए दूसरों से भीष्मजी की उत्तर क्रिया करवाई। श्लोक में 'मुहूर्तं दु खितोऽभवत्' अर्थात् युधिष्ठिर एक मुहूर्त तक खिन्न हुआ। एक मुहूर्त मरणोत्तर दुःखी रहना शास्त्र में कहा गया है। इसलिए युधिष्ठिर मुहूर्त तक दुःखी रहा ॥४६॥

**आभास**—भीष्मोक्तं कृतं च सर्वेषां हृदये समागतमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

**आभासार्थ**—भीष्मजी का कहना एवं करना सबके हृदय में आया इस अभिप्राय से कहते हैं कि—

श्लोक—**तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः ।**
**ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥४७॥**

**श्लोकार्थ**—प्रसन्न हुए मुनियों ने कृष्ण की अद्भुत् कर्मत्वादि से स्तुति की। उसके अनन्तर कृष्ण को हृदय में स्थापित कर सब अपने-अपने आश्रम में गये। कुछ मुनि लोग अपने आश्रम में जाकर भी भगवद्दर्शन के लिए लौटे और दर्शन करके पुनः अपने आश्रम में गये ॥४७॥

**सुबोधिनी**—तुष्टुवुरिति। तद्गुह्यनामभिः अद्भुतकर्मत्वादिभिः। कृष्णं हृदये निवेश्य सर्वे गता इत्याह—ततस्त इति। पुनरिति। केचन भगवद्दर्शनार्थं स्वाऽऽश्रमे गत्वाऽपि समागत्य कृष्णं दृष्ट्वा पुनर्गता इत्यर्थः ॥४७॥

**व्याख्यार्थ**—भगवान् अद्भुतकर्मा हैं आदि गुप्त नामों से मुनियों ने भगवान् की स्तुति की। कृष्ण को हृदय में धारण कर सब गये यह 'ततस्ते' से कहते हैं। श्लोक में पुनः पद आया है इसका भाव यह है कि कतिपय मुनि अपने आश्रम में जाकर भगवद्दर्शन के लिए पीछे आये और कृष्ण के दर्शन कर पुनः अपने-अपने आश्रमों में चले गये ॥४७॥

**आभास**—युधिष्ठिरस्य तु ज्ञानं वृत्तमित्याह—

**आभासार्थ**—युधिष्ठिर को तो ज्ञान हो गया यह कहते हैं—

श्लोक—**ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् ।**
**पितरं सान्त्वयामास गान्धारीञ्च तपस्विनीम् ॥४८॥**

**श्लोकार्थ**—उसके अनन्तर युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण के साथ हस्तिनापुर में जाकर धृतराष्ट्र एवं पुत्रशोक से संतप्त गान्धारी को तथा दूसरी स्त्रियों को सांत्वना दी ॥४८॥

**सुबोधिनी—तत इति** । स्वयं विशोक: शोकमन्येषां दूरीकरोति । पितरं धृतराष्ट्रम् । तपस्विनीं सन्तप्ताम् । चकारादन्याश्च ।।४८।।

**व्याख्यार्थ**—स्वयं शोक रहित ही दूसरों के शोक को दूर करता है। युधिष्ठिर भीष्मजी के उपदेश से शोक रहित हो गया इसलिए पिता धृतराष्ट्र को और संतप्ता गान्धारी को तथा चकार से ली गई अन्य स्त्रियों को भी सान्त्वना दी ।।४८।।

**आभास**— ततो भगवत्कृपया तस्य राज्यप्राप्तिरित्याह—

**आभासार्थ**—तदनन्तर भगवान् की कृपा से उस युधिष्ठिर को राज्य मिला यह कहते हैं—

**श्लोक—पित्रा चाऽनुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः ।**
**चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ।।४६।।**

**श्लोकार्थ**—समर्थ राजा युधिष्ठिर मंत्रियों की एवं धृतराष्ट्र की अनुमति प्राप्त कर भगवान् कृष्ण से अनुमोदित होता हुआ पितृ पितामह से चले आये अपने राज्य का धर्म से पालन किया ।।४६।।

**सुबोधिनी—पित्रा चेति** । अधिकृतैर्मन्त्रिभि: पित्रा च अनुमतः । स्वभावत एव राजा । मुख्यतया वासुदेवानुमोदितः । पितृपैतामहमावश्यकम् । विभु: समर्थः । अनेन सर्वे गुणाः सर्वदोषाभावश्चोक्तः ।।४६।।

**इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां प्रथमस्कन्धे नवमोऽध्यायः ।।६।।**

**व्याख्यार्थ**—अपने अपने अधिकारों पर नियुक्त मन्त्रियों से तथा पिता से अनुमति ले वह युधिष्ठिर स्वभावत: प्रजा का अनुरञ्जन करने से राजा था ही उसने मंत्री एवं पिता की अनुमति से और मुख्य रूप से भगवान् का अनुमोदन होने से पिता और पितामह का वह राज्य रहा इसलिए उसका पालन भी आवश्यक था । अथवा उसका मिलना भी आवश्यक था । युधिष्ठिर समर्थ था इसलिए धर्म से राज्य का पालन किया । श्लोक में पिता और वासुदेव की अनुमति बताई गई है इसलिए सब गुण कहे और पिता पितामह का राज्य कहने से तथा धर्म से राज्य का पालन करने से सब दोषों का अभाव रहा ।।४६।।

**इति श्रीमद्भागवत महापुराण प्रथम स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का नवम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण**

॥ श्री हरिः ॥

# अनुक्रमणिका

## श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध श्लोकानामकारादि वर्णानुक्रमः


| अ. | पृष्ठम् |
|---|---|
| अतः पर यदव्यक्त | १८० |
| अतः पुम्भिः | १०१ |
| अतो वै | ११७ |
| अथ तं सुखमासीनं | २३१ |
| अथ ते | ६६७ |
| अथ विश्वेश | ४१३ |
| अथाऽस्याहि | ६५ |
| अथाऽपि बत | २२५ |
| अथाऽसौ | १७४ |
| अथेह धन्या | १९१ |
| अथोपस्पृश्य | ३३७ |
| अथोपेत्य | ३५२ |
| अथो महाभाग | २४५ |
| अथर्वाङ्गिरसां | २१८ |
| अनर्थोपशमं | ३१९ |
| अन्तर्बहिश्च | ३०५ |
| अन्तःस्थः | ३७७ |
| अन्ये च मुनयो | ४३३ |
| अपरे वसुदेवस्य | ४०४ |
| अप्यद्य नस्त्वं | ४१० |
| अभिद्रवति मामीश | ३७४ |
| अभिमन्यु सुतं | २०७ |
| अर्जुनः सहसा | ३६२ |
| अवतारा ह्यसङ्ख्येया | १७५ |
| अवतारे षोडशमे | १७१ |
| अष्टमे मेरुदेव्यां | १६२ |
| असौ गुणमयं | १३५ |
| अस्त्येव मे | २३४ |
| अस्याऽनुभावं | ४४४ |
| अस्यां वै | ३२२ |
| अहो कष्टं | ४३६ |
| अहो देवर्षि | ३११ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| अहो मे | ४२२ |
| अहं च तद्ब्रह्मकुले | २८६ |
| अहं पुराऽतीतभवे | २६३ |
| आत्मारामाश्च | ३२५ |
| आपन्नः संसृतिं | ५७ |
| आमन्त्र्य | ३७१ |
| आमयो यश्च | २७५ |
| आह राजा | ४२२ |
| **इ.** | |
| इति प्रियां | ३३४ |
| इति ब्रुवाणं | १९९ |
| इति भीतः | ४२९ |
| इतिमतिरुप कल्पिता | ४५५ |
| इति मूर्त्यभि | २७९ |
| इति सम्प्रश्न | ७६ |
| इत्थं शरत् | २७१ |
| इदं भागवतं नाम | १९१ |
| इदं हि पुंसस्तपसः | २६३ |
| इदं हि विश्वं | २५९ |
| इमं स्वनिगमं | २८० |
| इमे जनपदाः | ४१३ |
| **उ.** | |
| उच्छिष्टलेपाननु | २६६ |
| उपधार्य | ३७५ |
| उपलेभेऽभिधावन्ती | ३७२ |
| उवाच चा | ३५३ |
| **ऋ.** | |
| ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या | २१८ |
| ऋषयो मनवो | १७५ |
| ऋषिभिर्याचितो | १६३ |
| **ए.** | |
| एकदा निर्यतः | २८७ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| एकात्मजा मे | २८६ |
| एकोनविंशे | १७२ |
| एतद्रूपं भगवतो | १७७ |
| एतद्भयातुर | ३०८ |
| एकन्नानावत्ताराणां | १५१ |
| एतत्सं सूचितं | २७४ |
| एतावदुक्त्वा | २६८ |
| एते चोऽशकलाः | १७५ |
| एवं कृष्णमतेः | ३०२ |
| एवं जन्मानि | १८३ |
| एवं निशम्य | २८३ |
| एवं नृणां | २७६ |
| एवं परीक्षता | ३५१ |
| एवं प्रवृत्तस्य | २२२ |
| एवं प्रसन्नमनसो | ११४ |
| एवं यतन्तं | २६५ |
| एवं सम्भाष्य | ३११ |
| एष वै भगवान् | ४४३ |
| **क.** | |
| कथमालक्षितः | २०४ |
| कथं वा | २०५ |
| कलिमागत माज्ञाय | ७० |
| कल्पान्त इदं | ३०४ |
| कस्मिन्युगे | २०१ |
| कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः | ६२ |
| किमिदं स्वित् | ३४२ |
| किं वा भागवता धर्मा | २२६ |
| कुरु प्रतिश्रुतं | ३६२ |
| कुर्वाणा यत्र | २७८ |
| कृतवान् किल | ६६ |
| कृष्ण कृष्ण | ३३६ |
| कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ | ४०४ |
| कृष्णाय वासुदेवाय | ३८६ |
| कृष्ण एवं भगवति | ४७० |
| कृष्णे स्वधामोपगते | १६४ |
| केचिदाहुरजं | ४०३ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| के वय नामरूपाभ्यां | ४११ |
| को वा भगवतस्तस्य | ६१ |
| **ग.** | |
| गोप्यादवे | ४०१ |
| **च.** | |
| चतुर्दशं नारसिंहं | १६६ |
| चातुर्होत्रं कर्म | २१६ |
| चित्रधातुविचित्राद्रीन् | २८६ |
| **ज.** | |
| जगृहे पौरुषं | १४३ |
| जन्म कर्म च | ३६६ |
| जन्म गुह्यं | १७७ |
| जन्माद्यस्य | ११ |
| जन्मैश्वर्य | ३६२ |
| जिज्ञासितमधीतं | २३३ |
| जिज्ञासितं सुस | २३२ |
| जुगुप्सितं धर्मकृते | २४६ |
| ज्ञानं गुह्यतमं | २७२ |
| **त.** | |
| त एकदा | ४२ |
| त एनमृषयो | २१६ |
| त एव वेदा | १२० |
| तत्स प्रासाद्य | ३४६ |
| ततः कलौ | १७३ |
| तत प्रादुरभूत | ३३८ |
| ततः सप्तदशे | १७१ |
| ततः सप्तम | १६१ |
| ततोऽन्यथा | २४७ |
| ततो युधिष्ठिरो | ४७३ |
| तद्धर्मज्ञ | ३२५ |
| तद्वाग्विसर्गो | २४२ |
| तच्छ्रद्दधाना | ६६ |
| तत्सर्वं नः | २११ |
| तथा परमहंसानां | ३८२ |
| तथाप्येकान्त | ४४६ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| तथाऽर्थं | ३४१ |
| तथाऽऽहूतं | ३५२ |
| तदसौ वध्यतां | ३५० |
| तदा तदहं | १८८ |
| तदा ते भ्रातरः | ४२९ |
| तदा रजस्तमोभावाः | ११३ |
| तया क्षुचःते | ३३३ |
| तदोपसंहृत्य | ४५१ |
| तन्नः शुश्रुष | ५५ |
| तमभिज्ञाय | २२९ |
| तमापतन्तं | २३५ |
| तमिमंमहमजं त्वेषु | ४६९ |
| तया विलसिते | १३२ |
| तह्येव च | ३७५ |
| तस्मादिदं | ४४२ |
| तस्मादेकेन | १०३ |
| तस्मिन्निर्मनुजे | २९१ |
| तस्मिंस्तदा | २६९ |
| तस्मिन्स्व | ३१७ |
| तस्य कर्म | ६१ |
| तस्य निर्हरणादीनि | ४७१ |
| तस्य पुत्री | २०२ |
| तस्यैवं खिलं | २२८ |
| तस्यैव मेऽनुक्तस्य | २७२ |
| तस्यैव हेतोः | २५१ |
| तान समेतान | ४३४ |
| तुर्यं धर्मकला | १५८ |
| तुष्टुवुर्मुनयो | ४७३ |
| तृतीयमृषिसर्गञ्च | १५७ |
| तेनिनी योदकं | ३६७ |
| तैमप्येपेता | २६५ |
| तां बाढं | ४१९ |
| तत्र कीर्तयतो | १९५ |
| तत्र तत्राऽञ्जसा | ४८ |
| तत्र दुन्दुभयो | ४७२ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| तत्र ब्रह्मर्षयः | ४३२ |
| तत्रर्ग्वेदधरः | २१८ |
| तत्राऽन्वहं | २६८ |
| तत्राऽऽसीनं | ३६८ |
| तत्राऽऽहाऽमर्षितो | ३६० |
| त्यक्त्वाऽस्वधर्मं | २५१ |
| त्रिभुवनकमनं | ४५७ |
| त्वमप्यदभ्रश्रुत | २८० |
| त्वमात्मना | २६१ |
| त्वमाद्यः पुरुषः | ३३९ |
| त्वया खलु | ४४ |
| त्वयि मे | ४१५ |
| त्वं नः | ७२ |
| त्वं पर्यटन् | २३६ |
| **द.** | |
| दानधर्मान् | ४५० |
| दिदृक्षुस्तदहं | २९४ |
| दुर्भगांश्च जनान् | २१५ |
| दृष्ट्वा निपतितं | ४३१ |
| दृष्टवाऽनुयान्तं | २०३ |
| दृष्टव ऽस्त्रतेजस्तु | ३४५ |
| तेवदत्तामिमां | ३०६ |
| द्वापरे समनु | २१३ |
| द्वितीयं तु | १५६ |
| **ध.** | |
| धर्मः प्रोज्झित | २८ |
| धर्म स्वनुष्ठितः | ८९ |
| धर्म प्रवदतः | ४५२ |
| धर्मस्य ह्यापं | ९२ |
| धर्मार्थकाम | ४५१ |
| धर्म्यं न्याय्यं | ३५८ |
| धान्वन्तरं द्वादशमं | १६७ |
| ध्यायत श्चरणाम्भोजं | २९१ |
| धृतव्रतेन हि | २२३ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| **न.** | |
| नकुलः सहदेवश्च | १५८ |
| न चास्य कश्चि | १८७ |
| नमोऽकिञ्चनवित्ताय | १६५ |
| नमन्ति यत्पाद | २०८ |
| नमः पङ्कजनाभाय | १८- |
| नमो भगवते | २७६ |
| नमस्ये पुरुषं | १८२ |
| न यद्वचश्चित्रपदं | २३१ |
| नरदेवत्वमापन्नः | १७२ |
| नलवेणुशर | २६० |
| न वेद कश्चिद् | १६८ |
| न वै जनो जातु | २५७ |
| नष्टप्रायेष्व | १११ |
| नह्यस्य कर्हिचित् | ४४१ |
| न ह्यस्याऽन्यतमं | ३४४ |
| नातिप्रसीदद्धृदयः | १२२ |
| नामान्यनन्तस्य | १०० |
| नारायणं नमस्कृत्य | ८३ |
| निगमं कल्पतरोः | ३४ |
| निर्गते नारदे | ११५ |
| निशम्य भीमगदितं | १६० |
| निः श्रेयसाय | १६२ |
| नेयं शोभिष्यते | ४११ |
| नैनं पार्थाऽर्हसि | १४८ |
| नैनो राज्ञः | ४२३ |
| नैमिशेऽनिमिषक्षेत्रे | ३६ |
| नैष्कर्म्यमप्यच्युत | २४३ |
| **प.** | |
| पञ्चदशं वामनकं | १७० |
| पञ्चमः कपिलो | १५६ |
| पराऽवरज्ञः | २१४ |
| परिश्रान्तेन्द्रियात्मा | २६१ |
| परीक्षितोऽथ | १२८ |
| पर्वतो नारदो | ४३३ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| पश्यन्त्यदो | १४६ |
| पाण्डुपुत्रान् | ४३६ |
| पाराशर्य महाभाग | २३२ |
| पार्थिवाद्दारुणो | १२२ |
| पित्रा चाऽनुमतो | ४७४ |
| पुत्रशोकातुराः | ३६४ |
| पुरुषस्वभाव | ४५० |
| पृथयेत्थं | ४१८ |
| प्रगायतः स्ववीर्याणि | ३०७ |
| प्रजोपप्लवं | १४५ |
| प्रतिश्रुतं च | १५० |
| प्रयुज्यमाने | ३०३ |
| प्राक्कल्पविषया | २८४ |
| प्रायेणाऽल्पायुषः | ४६ |
| प्रेमातिभर | २६२ |
| **ब.** | |
| बालद्विजसुहृत् | ४२३ |
| ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैः | ३८१ |
| ब्रह्मनद्यां | ३१६ |
| ब्रह्मबन्धुर्न | ३६० |
| ब्रूहि योगेश्वरे | ७३ |
| **भ.** | |
| भगवानपि विप्रर्षे | ४३० |
| भक्तियोगेन | ३१८ |
| भक्त्याऽऽवेश्य | ४४७ |
| भर्तुः प्रियं | ३३१ |
| भवताऽनुदितप्रायं | २३७ |
| भवेऽस्मिन् | ४०७ |
| भारतव्यपदेशेन | २२४ |
| भारावतारणाय | ४०५ |
| भावयत्येष | १३७ |
| भिद्यते हृदयग्रंथिः | ११५ |
| भिक्षुभिर्विप्रवसिते | २८३ |
| भिक्षुभिर्विप्र | २८५ |
| भूरीणि भूरिकर्माणि | ५१ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| भेजिरे मुनयो | १२४ |
| भौतिकानां तु | २१५ |
| **म.** | |
| मतिर्मयि | २६८ |
| मत्तं प्रमत्तं | २४८ |
| मन्ये त्वां | ३६६ |
| माता सुतानां | ३३२ |
| मा मंस्था | ३८० |
| मायाजवनि कच्छन्न | ३८२ |
| मा रोदीदस्य | ३५६ |
| मुनयः साधु | ८५ |
| मुनिगणानृपवर्य | ४६८ |
| मुमुक्षवो घोररूपान् | १२५ |
| **य.** | |
| यत्पादसंश्रयाः | ५६ |
| यत्र धर्मसुतो | ४४० |
| यत्रेमे सदसद्रूपे | १८२ |
| यथा धर्मादयः | २३६ |
| यथा नभसि | १७६ |
| यथा पङ्केन | ४२५ |
| यथा ह्यवहितो | १३३ |
| यथा हृषीकेश | ३८६ |
| यदत्र क्रियते | २७७ |
| यदनुध्याऽसिना | १०५ |
| यदामृधे | ३२६ |
| यदाऽशरणं | ३३७ |
| यद्यप्यस्त्रं | ३७६ |
| यद्येषोपरता | १८२ |
| यमादिभिः | ३०६ |
| ययासंमोहितो | ३१६ |
| यस्याऽम्भसि | १४५ |
| यस्याऽवयवसंस्थानैः | १४८ |
| यः स्वानुभावं | ८० |
| याजयित्वा | ३७० |
| यानि वेद | ४६ |
| युधि तुरगरजो | ४५६ |
| युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य | ४४६ |
| येनैवाऽहं भगवतो | २७३ |
| यं कोपितं | ३५७ |
| यं प्रव्रजन्तं | ७७ |
| यं मन्यसे | ४४५ |
| **र.** | |
| रजस्तमः प्रकृतयः | १२६ |
| रूपं भगवतो | २६२ |
| रूपं स जगृहे | १६५ |
| **ल.** | |
| ललितगतिविलास | ४६७ |
| **व.** | |
| वदन्ति तत्तत्व | ६८ |
| वपनं द्रविण | ३६३ |
| वयन्तु न | ६६ |
| वसिष्ठ इन्द्रप्रमद | ४३३ |
| वासुदेवपरा वेदा | १२८ |
| वासुदेवपरं ज्ञानं | १२८ |
| वासुदेवे भगवति | ८८ |
| विचक्षणो | २५० |
| विजयरथ कुटुम्ब | ४६६ |
| विपदः सन्तु | ३६३ |
| विमुच्य रशनाबद्धं | ३६२ |
| विशुद्धया धारणया | ४५४ |
| विषान्महाग्नेः | ३६० |
| वेत्थ त्वं | ४७ |
| वेत्थ त्वं द्रोणपुत्रस्य | ३४३ |
| व्यवहित पृतना | ४६२ |
| व्यसनं वीक्ष्य | ३७६ |
| व्यासाद्यैरीश्वरे | ४२० |
| **श.** | |
| शितविशिखहतो | ४६५ |
| शिबिराय निनीषन्तं | ३४७ |
| शिवाय लोकस्य | २१० |
| शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य | १०७ |

| | पृष्ठम् |
|---|---|
| श्री कृष्ण कृष्णसख | ४१७ |
| श्रुत्वा भगवता | ३४४ |
| शृण्वतां स्वकथाः | १०८ |
| शृण्वन्ति गायन्ति | ४०८ |
| **ष॰** | |
| षष्ठमत्रेरपत्यत्वं | १६० |
| **स॰** | |
| स एव जीवलोकस्य | ३४१ |
| स एव प्रथमं | १५२ |
| स एवेदं | १२६ |
| स एष भगवान् | ३५४ |
| स कदाचित | २१३ |
| सकृद्यद्दर्शितं | २१६ |
| सगोदोहनमात्रं | २०६ |
| सत्वं रजस्तम | ११८ |
| सत्सेवया | २६७ |
| स देवदेवो | ४४८ |
| सपदि सखिवचो | ४?१ |
| सम्पद्यमान | ४७१ |
| स रहस्यो | ३५४ |
| सर्वं कालकृतं | ४३८ |
| सर्वं तदिदं | ३१० |
| सर्ववेदेसिहासनां | १६३ |
| सर्वस्मिन: ममदृशो | ४४५ |
| स वा इदं | १८४ |
| स वेद धातुः | १८६ |
| स वै निवृत्ति | ३२४ |
| स वै पुंसां | ८६ |
| स वै भवान् | २३५ |
| स सम्राट | २०८ |
| स संहितां | ३२३ |
| सहस्रयुग | ३०४ |
| साधयित्वा | ३७० |
| सान्त्वयामास | ३६८ |
| साऽस्वतन्त्रा | २८६ |
| सुरासुराणां | १६६ |
| सूत जानासी | ५४ |
| सूत सूत | २०० |
| सस्थितेऽधिरथे | ४३७ |
| संहत्याऽन्योन्यं | ३६५ |
| स्फीताञ्जनपदान् | २८६ |
| स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां | ४२४ |
| स्त्रीशूद्रद्विज | २२१ |
| स्वनिगमं | ४६३ |
| स्वप्राणान्यः | ३४६ |
| स्वायम्भुव कथा | २८३ |
| **ह॰** | |
| हन्ताऽस्मिन् | २६६ |
| हरेर्गुणाक्षिप्तमति | ३२६ |

## आश्रय का पद

### राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जुग माँहि अँधेरो ॥
साधन और नाँहि या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहे दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥